



નમો અરિહંતાણં  
નમો સિદ્ધાણં  
નમો આયરિયાણં  
નમો ઉવજઝાયાણં  
નમો લોએ સવ્વ સાહૂણં  
એસો પંચ નમુકકારો  
સવ્વ પાવપ્પાણાસણો  
મંગલાણં ચ સવ્વેસિં  
પઢમં હવઈ મંગલં

# જિનાગમ પ્રકાશન યોજના

પ. પૂ. આચાર્યશ્રી ઘાંસીલાલજી મહારાજ સાહેબ  
કૃત વ્યાખ્યા સહિત

**DVD No. 1**  
(Full Edition)

**:: યોજનાના આયોજક ::**

શ્રી ચંદ્ર પી. દોશી - પીએચ.ડી.

website : [www.jainagam.com](http://www.jainagam.com)

# SHRI DASHAVAIKALIK SUTRA



PART : 01

श्री दशवैकालिक सूत्र : भाग-०१

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्रीघासीलालव्रति-विरचितया आचारमणि-  
मऊजूषाख्यया व्याख्यया समलङ्कृतं

# श्रीदशवैकालिकसूत्रम्

[प्रथमो भागः अध्ययन १-५]

नियोजकः-

संस्कृत-प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात प्रियव्याख्यानि-पं० मुनिश्री कन्हैयालालजी  
महाराजः ।

\*

प्रकाशकः

परमश्रद्धासंपन्न अ. सौ. पानकुंवरबाई धींगडमल्लजी कानुगा प्रदत्त  
द्रव्यसाहाय्येन श्रीअखिल-भारत-श्वेताम्बर-स्थानकवासि-  
जैनशास्त्रोद्धार समितिः

प्रमुख श्रेष्ठि-श्री. शान्तिलालमंगलदासभाई महोदयः

राजकोट.

\*

तृतीयं संस्करणम्-५००

मूल्यम् रु. २५

तृतीय-आवृत्तिः

वीर-संवत्

विक्रम संवत् इस्वीसन् १९७४

प्रति ५००

२५००

२०३१

प्रकाशक : प्राप्ति स्थान  
श्रीअ.भा.श्वे स्थानकवासी  
जैन शास्त्रोद्धार समिति  
श्रीन लोज पास, राजकोट.

Published by :  
Shri Akhil Bharat S. S.  
Jain Shastrodhara Samiti,  
Garedia Kuva Roaa, RAJKOT,  
(Saurash tra), W. Ry, India



ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,  
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।  
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,  
कालोह्वयं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१॥



हरिगीतच्छन्दः

करते अवज्ञा जो हमारी यत्न ना उनके लिये ।  
जो जानते हैं तत्त्व कुछ फिर यत्न ना उनके लिये ॥  
जनमेगा मुझसा व्यक्ति ओई तत्त्व इससे पायगा ।  
हैं काल निरवधि विपुलपृथ्वी ध्यान में यह लायगा ॥१॥



त्रीं आवृत्ति : प्रत ५००  
वीर संवत् : २५००  
विक्रम संवत् : २०३१  
धरवी सन : १९७४

मुद्रक :  
महन्त स्वामी श्रीत्रिभुवन दासजी शास्त्री  
रामानंद प्रिंटिंग प्रेस  
डांकिया रोड अहमदाबाद-२२

श्री वर्धमान श्रमण संघना आचार्यश्री  
पूज्य आत्मारामजी महाराजश्रीये  
श्री दशवैकालिक सूत्र भाटे

\*

आ पे ल

## सम्भतिपत्र

उपरंत

पूज्य श्रीधासीबालजी महाराजनां

अनावेलां जीण सूत्रो भाटे तेओश्रीनां मंतव्यो

\*

ते म ज

अन्य महात्माओ महासतीजीओ, अद्यतन पद्धतिवाणा केवेजना प्रोइसरे।  
ते म ज

शास्त्रज्ञ श्रावकेना अलिप्रायो

डॉ. श्रीन लोण पासे  
गरेडीया कुवा रोड  
रानकोट : सौराष्ट्र

श्रीअणिल भारत श्रवे. स्था. जैन  
शास्त्रोद्धार समिति

## प्रस्तावना.

कषायलिप्त कर्मबन्ध से बन्धे हुए संसारी प्राणियों के हितार्थ जगत हितैषी भगवान् श्री वर्धमान स्वामीने श्रुतचारित्ररूप दो प्रकार का धर्म कहा है। इन दोनों धर्म की आराधना करने वाला मोक्षगति को प्राप्त कर सकता है, इसलिये मुमुक्षु को दोनों धर्मों की आराधना अवश्य करनी चाहिए ! क्यों कि—“ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः” ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष होता है। यदि ज्ञान को ही विशेषता देकर क्रिया को गौण कर दिया जाय तो वीतरागकथित श्रुतचारित्र धर्म की आराधना अपूर्ण और अपंग मानी जायगी, और अपूर्ण कार्य से मोक्ष प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है, एतदर्थ वीतरागप्रणीत सरल और सुबोध मार्ग में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को मानना ही आवश्यक है। कहा भी है—

“व्यवहारं विना केचिद् भ्रष्टाः केवलनिश्चयात् ।

निश्चयेन विना केचित् , केवलं व्यवहारतः ॥१॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग् द्रव्यावलोकनम् ।

यथा तथा नयाभ्यां चे,त्युक्तं स्याद्वादादिभिः ॥२॥

स्याद्वादके स्वरूप को निरूपण करने वाले भगवानने निश्चय और व्यवहार इन दोनों को यथास्थान आवश्यक माना है। जैसे दोनों नेत्रों के बिना वस्तु का अवलोकन बराबर नहीं होता है वैसे ही दोनों नयों के बिना धर्म का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, और इसी कारण व्यवहार नय के बिना केवल निश्चयवादी मोक्ष मार्ग से पतित हो जाते हैं और हितनेक—व्यवहारवादी केवल व्यवहार को ही मानकर धर्म से च्युत हो जाते हैं।

आत्मा का ध्येय यही है कि सर्व कर्मसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना; परन्तु उसमें कर्मों से लुटकारा पानेके लिये व्यवहाररूप चारित्रिक्रिया का आश्रय जरूर लेना पडता है, क्यों कि विना व्यवहार के कर्मक्षय की कार्यसिद्धि नहीं हो सकती ! जो ज्ञानमात्रही को प्रधान मानकर व्यवहार क्रिया को उठाते हैं वे अपने जन्म को निष्फल करते हैं। जैसे पानी में पडा हुआ पुरुष तैरने का ज्ञान रखता हुआ भी अगर हाथ पैर हिलाने रूप क्रिया न करे तो वह अवश्य डूब ही जाता है, जिस प्रकार नाइट्रोजन और ओक्सीजन के मिश्रण विना विजली प्रगट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान के होते हुए भी क्रिया विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, इसीलिए भगवानने इस दशवैकालिक सूत्र में मुनिको ज्ञान-सहित आचार धर्म के पालन करनेका निरूपण किया है।

जैनाचार्य जैनधर्मदिवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज साहबने दशवैकालित सूत्र की आचारमणिमञ्जूषा नाम की टीका तैयार करके सर्व साधारण एवं विद्वान् मुनियों के अध्ययन के लिये पूर्ण सरलता कर दी है, पूज्यश्री के द्वारा जैनानुओं की लिखी हुई टीकाओं में श्री दशवैकालिक सूत्रका प्रथम स्थान है। इस के दश अध्ययन है -

(१) प्रथम अध्ययन में भगवानने धर्म के स्वरूप अहिंसा, संयम और तप बतलाया है। इसकी टीका में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और शब्दार्थ तथा अहिंसा, संयम और तप का विवेचन विशदरूपसे किया है। वायुकायसंयमके प्रसंग में, मुनि को सदोरकमुख-वस्त्रिका मुखपर बांधना चाहिए इस बात को भगवती सूत्र आदि अनेक शास्त्रों से तथा ग्रन्थों से सप्रमाण सिद्ध किया है। मुनि के लिए निरवद्य भिक्षा लेनेका विधान है। तथा भिक्षाके मधुकारी आदि छह भेदों का निरूपण किया है।

(२) दूसरे अध्ययन में संयम मार्ग में विचरते हुए नवदीक्षित का मन यदि संयम मार्गसे बाहर निकल जाय तो उसको स्थिर करनेके लिये रथनेमि और राजीमती के संवाद का वर्णन है एवं त्यागी अत्यागी कौन है वह भी समझाया है।

(३) तीसरे अध्ययन में संयमी मुनि को वाचन (५२) अनाचीणीका निवारण बतलाया गया है, क्यों कि वाचन अनाचीणी संयम के घातक है। इन अनाचीणी का त्याग करने के लिये आज्ञा निर्देश है।

(४) चौथे अध्ययन में—‘जो वाचन अनाचीणी का निवारण करता है वही छह काया का रक्षक हो सकता है’ इसलिए छहकाय के स्वरूप का निरूपण तथा उनकी रक्षा का विवरण है। मुनि अतना को त्यागे यतना को धारण करे। यतना मार्ग वही जान सकता है जिसे जीव अजीव का ज्ञान है। जो जीवादि का ज्ञाता है वह क्रम से मोक्षको प्राप्त करता है। पिछली अवस्था में भी चारित्र्य ग्रहण करनेवाला मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

(५) पांचवें अध्ययन में छहकाया का रक्षण निरवद्य भिक्षा ग्रहणसे होता है, अतः भिक्षा की बिधी कही गई है।

(६) छठवें अध्ययनमें ‘निरवद्य भिक्षा लेने से अठारह स्थानों का शास्त्रानुसार आराधना करता है, उन अठारह स्थानों का वर्णन है। उनमें सत्य और व्यवहार भाषा बोलनी चाहिये।

(७) सातवें अध्ययन में ‘अठारहस्थानों का आराधना करनेवाले मुनिको कौनसी भाषा बोलनी चाहिये’ इसके लिये ४ भाषाओंका स्वरूप कहा गया है। उनमें सत्य और व्यवहार भाषा बोलनी चाहिये।

आठवें अध्ययन में ‘निरवद्य भाषा बोलनेवाला पांच आचाररूप निधानको पाता है’ अतः उस आचाररूप निधान का वर्णन है।



(९)नववे' अध्ययन में 'पांच आचार का पालन करने वाला ही विनयशील होता है' अतः विनय के स्वरूप का निरूपण किया है।

(१०) दशवे' अध्ययन में—पहले कहे हुए नवों अध्ययनों में कही हुई विधिका पालन करने वाला ही भिक्षु हो सकता है' इसलिए भिक्षु के स्वरूप का वर्णन किया है।

निवेदक

समीर मुनि

\*

(श्री दशवैकालिकसूत्रका सम्मतिपत्र)

॥ श्रीवीरगौतमाय नमः ॥

सम्मति—पत्रम्.

मए पंडियमुणि-हेमचंदेण य पंडिय-मूलचन्दवासवारापत्ता पंडिय-रयण-मुणि-घासीलालेण विरइया सककय-हिंदी-भासाहिं जुत्ता सिरि-दसवेयालिय-नाम सुत्तस्स आया-रमणिमंजूसा वित्ती अवलोइया, इमा मणोहरा अत्थि, एत्थ सदाणं अइसयजुत्तो अत्थो वण्णिओ विउजणाणं पाययजणाण य परमोवयारिया इमा वित्ती दीसइ ! आयारविसए वित्तीकत्तारेण अइसयपुव्वं उल्लेहो कडो, तहा अहिंसाए सरूवं जे जहा तहा न जाणंति तेसिं इमाए वित्तीए परमलाहो भविस्सइ, कत्तुणा पत्तेयविसयाणं फुडरूवेण वण्णणं कडं, तहा मुणिणो अरहत्ता इमाए वित्तीए अवलोयणाओ अइसयजुत्ता सिज्झइ ! सक-यछाया सुत्तपयाणं पयच्छेओ य सुबोहदायगो अत्थि, पत्तेयजिण्णासुणो इमा वित्ती दट्ठवा । अम्हाणं समाजे एरिसविज्ज-मुणिरयणाणं सब्भाओ समाजस्स अहोभगं अत्थि, किं ? उत्तविज्जमुणिरयणाणं कारणाओ जो अम्हाणं समाजो सुत्तप्पाओ अम्हकेरं साहिच्चं च लुत्तप्पायं अत्थि तेसिं पुणोवि उदओ भविस्सइ जस्स कारणाओ भवियप्पा मोक्खस्स जोगो भवित्ता पुणो निव्वाणं पाविहिइ अओहं आयारमणि-मंजूसाए कत्तुणो पुणो पुणो धन्नवायं देमि— ॥

वि- सं १९९० फाल्गुन—  
शुक्रत्रयोदशी मङ्गले  
(अलवर स्टेट)

इइ—  
उवज्झाय-जइण-मुणी, आयारामो  
(पंचनईओ)

श्री दशवैकालिक सूत्रनुं सम्भति पत्र

श्रमणु संघना मड्डान आचार्य आगम वारिधि सर्वातन्त्र स्वतंत्र जैनाचार्य पूज्यश्री आत्मारामश्र मड्डारान्ते आपेला सम्भति पत्रने गुजराती अनुवाद.

\*

મેં તથા પંડિત મુનિ હેમચંદ્રજીએ પંડિત મૂલચંદ વ્યાસ (નાગૌરમારવાડ વાલા) દ્વારા મળેલી પંડિત રત્ન શ્રીધાસીલાલજી મુનિ વિરચિત સંસ્કૃત અને હિન્દી ભાષા સહિત શ્રીદશવૈકલિક સૂત્રની આચારમણિમંજૂષા ટીકાનું અવલોકન કર્યું. આ ટીકા સુંદર બની છે. તેમાં પ્રત્યેક શબ્દનો અર્થ સારી રીતે વિશેષ ભાવ લઇને સમજાવવામાં આવેલ છે.

તેથી વિદ્વાનો અને સાધારણ બુદ્ધિવાળાઓ માટે પરમ ઉપકાર કરવાવાળી છે. ટીકાકારે મુનિના આચાર વિષયનો સારો ઉલ્લેખ કરેલ છે. જે આધુનિક મતાવલંબી અહિંસાના સ્વરૂપ ને નથી જાણતા, દયામાં પાપ સમજે છે તેમને માટે 'અહિંસા શું વસ્તુ છે' તેનું સારી રીતે પ્રતિપાદન કરેલ છે. વૃત્તિકારે સૂત્રના પ્રત્યેક વિષયને સારી રીતે સમજાવેલ છે. આ વૃત્તિના અવલોકનથી વૃત્તિકારની અતિશય યોગ્યતા સિદ્ધ થાય છે.

આ વૃત્તિમાં એક ખીલ વિશેષના એ છે કે મૂલ સૂત્રની સંસ્કૃત છાયા હોવાથી સૂત્ર, સૂત્રનાં પદ અને પદચ્છેદ સુખોદ દાયક બનેલ છે.

પ્રત્યેક જ્ઞાસુએ આ ટીકાનું અવલોકન અવશ્ય કરવું જોઈએ. વધારે શું કહેવું. અમારા સમાજમાં આવા પ્રકારના વિદ્વાન મુનિ રત્નનું હોવું એ સમાજનું અહોભાગ્ય છે. આવા વિદ્વાન મુનિ રત્નોના કારણે સુખપ્રાય-સુતેલો સમાજ અને લુપ્તપ્રાય એટલે લોપ પામેલું સાહિત્ય એ બંનેનો ફરીથી ઉદય થશે. જેનાથી ભાવિતાત્મા મોક્ષયોગ્ય બનશે અને નિર્વાણ પદને પામશે આ માટે અમે વૃત્તિકારને વારંવાર ધન્યવાદ આપીએ છીએ.

વિક્રમ સંવત ૧૯૬૦ શકાબ્દ શુકલ } ધંધ  
તેરસ મંગળવાર (અલ્પવર સ્ટેટ) } ઉવજાયાજી ધુમુણીઆચારામો  
પંચનધએ

જૈનાગમવેત્તા જૈનધર્મદિવાકર ઉપાધ્યાય શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી આત્મારામજી  
મહારાજ તથા ન્યાય વ્યાકરણ કે જ્ઞાતા પરમ પण्डित મુનિ શ્રી ૧૦૦૭  
શ્રી હેમચંદ્રજી મહારાજ, इन दोनों महात्माओंका दिया हुआ  
श्री उपासकदशाङ्ग सूत्रका प्रमाण पत्र निम्न प्रकार है

### સમ્મદ્વત્તં

સિરિ-વીરનિઘ્વાણ-સંવચ્છર ૨૪૫૮ આસોઈ  
(પુણ્ણમાસી) ૧૫ સુક્કવારો હુહિયાણાઓ ।

મણ મુણિહેમચંદેણ ય પંડિયરયણમુણિસિરિ ઘાસીલાલવિણિમ્મિયા સિરિઉવાસગસુત્તસ્સ અગારધમ્મસંજીવણીનામિયા વિત્તી પંડિયમૂલચન્દવાસાઓ અજ્જોવંતં સુયા, સમોઈણં, ઇયં વિત્તી જહાણામં તહા ગુણેવિ ધારેઈ, સચ્ચં, અગારાણં તુ ઇમા જીવણ (સંજમજીવણ) દાર્ઠિ એવ અત્થિ । વિત્તિકત્તૂણા મૂલસુત્તસ્સ ભાવો ઉજ્જુસેલીઓ ફુડોકઓ, અહય ઉવાસયસ્સ સામણવિસેસધમ્મો, ણયસિયવાયવાઓ' કમ્મપુરિસટ્ટવાઓ સમણોવાસયસ્સ ધમ્મદહત્તા ય' ઇચ્છાઈવિસયા અર્સિસ ફુડરીઈઓવણિયા, જેણ કત્તુણો પહિહાપ સુટ્ટપ્પયારેણ પરિચઓ હોઈ, તહ ઇહાસદિટ્ઠિઓવિ સિરિસમણસ્સ ભગવઓ મહાવીરસ્સ

समए वट्टमाण—भरहवासस्स य कत्तुणा विसयप्पयारेण चित्तं चित्तितं, पुणो सकयपाढीणं, वट्टमाणकाले हिन्दीणामियाए भासाए भासीणं य परमोवयारो कडो, इमेण कत्तुणो अरिहता दीसइ कत्तुणो एयं कज्जं परमप्पसंसणज्जमत्थि । पत्तेयजणस्स मज्झत्थभावाओ अस्स सुत्तस्स अवलोयणमईव लाहप्पयं, अविउ सावयस्स तु (उ) इमं सत्थं सव्वस्समेव अत्थि, अओ कत्तुणो अणेगकोडिसो धण्णवाओ अत्थि जेहिं अच्चंतपरिसमेण जयिण जणतोवरि असिमोवयारो कडो, अहय सावयस्स बारस नियमा उ पत्तेयजणस्स पढ-णिज्जा अत्थि, जेसि पहावओ वा गहणाओ आया निव्वाणाहिगारी भवइ, तथा भवियव्वयावओ पुरिसकारपरकमवाओ य भवस्समेव दंसणज्जो, किं बहुणा इमीसे वित्तीए पत्तेयविसयस्स फुडसद्देहि वण्णणं कयं जइ अन्नोवि एवं अम्हाणं पसुत्तप्पाए समा जेबिज्जं भवेज्जा तथा नाणस्स चरित्तस्स तथा संघस्सय खिप्पं उदयो भविस्सइ' एवं हं मन्ने ॥

भवईओ—

उवज्झाय—जपणमुणि—आयाराम, पंचनईओ

卐

सम्मतिपत्र (भाषान्तर)

श्री वीर निर्वाण सं० २४५८ आसो  
शुक्ला (पूर्णिमा) १५ शुक्रवार लुधियाना

मैंने और पंडितमुनि हेमचन्द्रजीने पंडितरत्नमुनिश्री घासोलालजीकी रची हुई उपासक-दशांग सूत्रकी गृहस्थधर्मसंजीवनी नामक टीका पंडित मूलचन्द्रजी व्याससे आद्यो-पान्त सुनी है। यह वृत्ति यथानाम तथागुणवाली-अच्छी बनो-है। सच यह गृह-स्थोंके तो जीवनदात्रीसंयमरूप जीवनको देनेवाली-ही है। टीकाकारने मूलसूत्रके भावोंको सरल रीतिसे वर्णन किया है, तथा श्रावकका सामान्य धर्म क्या है ? और विशेष धर्म क्या है ? इसका खुलासा इस टीकामें अच्छे ढंगसे बतलाया है। स्याद्वादका स्वरूप कर्म-पुरुषार्थ वाद और श्रावकको धर्मके अन्दर दृढता किस प्रकार रखना, इत्यादि विषयोंका निरूपण इसमें भली भाँती किया है। इससे टीकाकारक प्रतिभा खूब झलकती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे श्रमण भगवान् महावीरके समय जैनधर्म किस जाहोजलाली पर था ! और वर्तमान समय जैनधर्म किस स्थितिमें पहुंचा है ? इस विषयका तो ठीक चित्र ही चित्रित कर दिया है। फिर संस्कृत जानने-वालोंको तथा हिन्दी भाषाके जाननेवालोंको भी पुग लाभ होगा, क्योंकि टीका संस्कृत है उसकी सरल हिन्दी करदी गई हैं। इसके पढ़ने से कर्त्ताकी योग्यताका पता लगता है कि वृत्तिकारने समझानेका कैसा अच्छा प्रयत्न किया है ?

टीकाकारका यह कार्य परम प्रशंसनीय हैं । इस सूत्रको मध्यस्थ भावसे पढ़ने वालोंको परम लाभकी प्राप्ति होगी । क्या कहे श्रावकों (गृहस्थों) का तो यह सूत्र सर्वस्व ही हैं, अतः टीकाकारको कोटिशः धन्यवाद दिया जाता है, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रमसे जैन जनताके ऊपर असीम उपकार किया है । इसमें श्रावकके बारह नियम प्रत्येक पुरुषके पढ़ने योग्य है जिनके प्रभावसे अथवा यथायोग्य ग्रहण करनेसे आत्मा मोक्षका अधिकारी होता है । तथा भवितव्यतावाद और पुरुषकार पराक्रमवाद हरएकको अवश्य देखना चाहिये । कहांतक कहे इस टीकामें प्रत्येक विषय सम्यक् प्रकारसे बताये गये हैं । हमारी सुप्तप्राय (सोई हुईसी) समाजमें अगर आप जैसे योग्य विद्वान् फिर भी कोई होंगे तो ज्ञान चारित्र तथा श्रोसंघका शीघ्र उदय होगा, ऐसा मैं मानताहूँ—

आपका

### उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम पंजाबी

इसी प्रकार लाहोरमें विराजते हुए पण्डितवर्य विद्वान् मुनिश्री १००८

श्री भागचन्दजी महाराज तथा पं. मुनिश्री त्रिलोकचन्दजी

महाराजके दिये हुए, श्री उपासकदशज्ञ सूत्रके

प्रमाणपत्रका हिन्दी सारांश निम्न प्रकार हैं

श्री श्री स्वामी घासीलालजी महाराज कृत श्री उपासकदशज्ञ सूत्रकी संस्कृत टीका व भाषाका अवलोकन किया, यह टीका अतिरमणीय व मनोरञ्जक है' इसे आपने बड़े परिश्रम व पुरुषार्थसे तैयार किया है सो आप धन्यवादके पात्र हैं । आप जैसे व्यक्तियोंकी समाजमें पूर्ण आवश्यकता है आपकी इस लेखनी से समाजके विद्वान् साधुवर्ग पढ़कर पूर्ण लाभ उठावेंगे, टीकाके पढ़नेसे हमको अत्यानन्द हुआ, और मनमें ऐसे विचार उत्पन्न हुए कि हमारी समाजमें भी ऐसे २ सुयोग्य रत्न उत्पन्न होने लगे—यह एक हमारे लिये बड़े गौरवकी बात है ।

वि. सं- १९८९ मा. आश्विन

कुष्णा १३ वार भौम लाहोर.

श्री ज्ञातार्धर्मकथाज्ञ सूत्र की 'अनगर धर्माऽमृतवर्षिणी' टीका पर

जैनदिवाकर साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर परमपूज्य श्रद्धेय

जैनाचार्य श्री आत्मारामजी महाराजका

### सम्मतिपत्र

लुधियाना, ता. ४-८-५१

मैंने आचार्यश्री घासीलालजी म. द्वारा निर्मित 'अनगर-धर्माऽमृत-वर्षिणी टीका वाले श्री ज्ञातार्धर्मकथाज्ञ सूत्रका मुनि श्री रत्नचन्द्रजीसे आद्योषान्त श्रवण किया ।

यह निःसन्देह कहना पड़ता है कि यह टीका आचार्यश्री घासीलालजी म. ने बड़े परिश्रम से लिखी है। इसमें प्रत्येक शब्दका प्रामाणिक अर्थ और कठिन स्थलों पर सार-पूर्ण विवेचन आदि कई एक विशेषताये हैं। मूल स्थलोंको सरल बनाने में काफी प्रयत्न किया गया है, इससे साधारण तथा असाधारण सभी संस्कृतज्ञ पाठकों को लाभ होगा ऐसा मेरा विचार है।

मैं स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों से यह आशा करूँगा कि वे वृत्तिकारके परिश्रमको सफल बनाकर शास्त्रमें दीर्घ अनमोल शिक्षाओं से अपने जीवनको शिक्षित करते हुए परम-साध्य मोक्षको प्राप्त करेंगे।

श्रीमान्जी जयवीर

आपकी सेवामें पोष्ट द्वारा पुस्तक भेज रहे हैं और इसपर आचार्यश्रीजी की जो सम्मति है वह इस पत्रके साथ भेज रहे हैं पहुंचने पर समाचार देवे।

श्री आचार्यश्री आत्मारामजी म. ठाने ६ सुख शान्तिसे विराजते हैं। पूज्य श्री घासीलालजी म. सा. ठाने ४ को हमारी ओरसे वन्दना अर्जकर सुखशाता पूछें।

पूज्य श्री घासीलालजी म. जी का लिखा हुआ (विपाकसूत्र) महाराजश्रीजी देखना चाहते हैं इसलिये १ कांपी आप भेजने की कृपा करें; फिर आपको वापिस भेज देंगे आपके पास नहीं हो तो जहाँसे मिले वहाँसे १ कांपी जरूर भिजवाने का कष्ट करे योग्य सेवा लिखते रहें।

निवेदक

लुधियाना ता. ४-८-५१

प्यारेलाल जैन

जैनगमवारिधि-जैनधर्मदिवाकर-उपाध्याय-पण्डित-मुनि

श्रीआत्मारामजी महाराज (पंजाब) का आचाराङ्गसूत्र की

आचारचिन्तामणि टीका पर

सम्मति-पत्र ।

मैंने पूज्यवर्य श्रीघासीलालजी (महाराज) की बनाई हुई श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन को आचारचिन्तामणि टीका सम्पूर्ण उपयोगपूर्वक सुनी।

यह टीका-न्याय सिद्धान्त से युक्त, व्याकरण के नियमसे निबद्ध है। तथा इसमें प्रसङ्ग २ पर क्रम से अन्य सिद्धान्त का संग्रह भी उचित रूप से मालूम होता है।

टीकाकारने अन्य सभी विषय सम्यक् प्रकार से स्पष्ट किये हैं, तथा प्रौढ विषयों का विशेषरूप से संस्कृत भाषा में स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादन अधिक मनोरंजक है, एतदर्थ आचार्य महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं आशा करता हूँ कि—जिज्ञासु महोदय इसका भली भाँति पठन द्वारा जैनागम सिद्धान्तरूप अमृत पी पी कर मन को हर्षित करेंगे, और इसके मनन से दक्ष जन चार अनुयोगों का स्वरूपज्ञान पावेंगे। तथा आचार्यवर्य इसी प्रकार दूसरे भी जैनागमों के विशद विवेचना द्वारा श्वेताम्बर—स्थानकवासी समाज पर महान उपकार कर यशस्वी बनेंगे।

वि. सं. २००२  
शुक्रवार सुदि १

जैनमुनि—उपाध्याय आत्माराम  
लुधियाना (पंजाब)

—: \* :—

शुभमस्तु ॥

बीकानेरवाला समाजभूषण शास्त्रज्ञ भेरुदानजी शेठिआनो अभिप्राय

\*

आप जो शास्त्रका कार्य कर रहे हैं यह बड़ा उपकारका कार्य है। इससे जैनजनता को काफी लाभ पहुँचेगा।

(ता. २८-३-५६ ना पत्रमांथी)

॥ श्री ॥

जैनागमवारिधि—जैनधर्मदिवाकर—जैनाचार्य—पूज्य—श्री आत्मारामजी—

महाराजानां पठचनद—( पंजाब ) स्थानमनुत्तरोपपातिकसूत्राणा—

मर्थबोधिनीनामकटीकायामिदम्—

सम्मतिपत्रम्.

आचार्यवर्यैः श्री घासीलालमुनिभिः सङ्कलिता अनुत्तरोपपातिकसूत्राणामर्थबोधिनी-नाम्नी संस्कृतवृत्तिरूपयोगपूर्वकं सकलाऽपि स्वशिष्यमुखेनाऽश्रावि मया, यं हि वृत्तिर्मु-निवरस्य वैदुष्यं प्रगटयति । श्रीमद्भिर्मुनिभिः सूत्राणामर्थान् स्पष्टयितुं यः प्रयत्नो व्यधा-यि तदर्थमनेकशो धन्यवादानर्हन्ति ते । यथा चेयं वृत्तिः सरला सुबोधिनी च तथा सारव-त्यपि । अस्याः स्वाध्यायेन निर्वाणपदमभीप्सुनिर्वाणपदमनुसरद्भिर्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्येषु प्रय-तमानैर्मुनिभिः श्रावकैश्च ज्ञान दर्शन-चारित्र्याणि सम्यक् सम्प्राप्यात्मानस्तत्र प्रवर्तयिष्यन्ते ।

आशासे श्रीमदाशुक्विर्मुनिवरो गीर्वाणवाणीजुषां विदुषां मनस्तोषाय जैनागमसूत्राणां साराविबोधाय च अन्येषामपि जैनागमानामित्थं सरलाः सुस्पष्टाश्च वृत्तीर्विधाय तांस्तान् सूत्रग्रन्थान् देवगिरा सुस्पष्टयिष्यति ।

अन्ते च “मुनिवरस्य परिश्रमं सफलयितुं सरलां सुबोधिनी चेमां सूत्रवृत्तिं स्वाध्या-येन सनाथयिष्यन्त्यवश्यं सुयोग्या हंसनिभाः पाठकाः ।” इत्याशास्ते—

विक्रमाब्द २००२  
श्रावणकृष्णा प्रतिपदा  
लुधियाना

उपाध्याय आत्मारामो जैनमुनिः ।

ऐसेही :—

मध्यभारत सैलाना—निवासी श्रीमान् रतनलालजी डोसी श्रमणोपासकजैन लिखते हैं कि:-

श्रीमान की की हुई टीकावाला उपासकदशांग सेवक के दृष्टि-गत हुवा, सेवक अभी उसका मनन कर रह है यह ग्रन्थ सर्वांग-सुन्दर एवम् उच्चकोटि का उपकारक है।

निरयावलिकासूत्रका सम्मतिपत्र  
आगमनवारिधि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-जैनाचार्य-पूज्यश्री  
आत्मारामजी महाराजकी तरफ का आया हुवा

सम्मतिपत्र

लुधियाना. ता. ११ नवम्बर ४८

श्रीयुत गुलाबचन्द्रजी पानाचंदजी । सादर जयजिनेन्द्र ।।

पत्र आपका मिला ! निरयावलिका विषय पूज्य श्रीजीका स्वास्थ्य ठीक न होनेसे उनके शिष्य पं. श्री हेमचन्द्रजी महाराजने सम्मति पत्र लिख दिया हैं आपको भेज रहे हैं ! कृपया एक कोपी निरयावलिका की ओर भेज दीजिये और कोई योग्य सेवा कार्य लिखते रहे !

भवदीय

गुजरमल-बलवंतराय जैन

सम्मति:

(लेखक जैनग्रुनि पं. श्री हेमचन्द्रजी महाराज)

सुन्दरबोधिनीटीकया समलङ्कृतं हिन्दी-गुर्जरभाषानुवादसहितं च श्रीनिरयावलिका-सूत्रं मेधाविनामल्पमेधसां चोपकारकं भविष्यतीति सुदृढं मेऽभिमतम्, संस्कृतटीकेयं सरला सुबोधा सुललिता चात एव अन्वर्थनाम्नी चाप्यस्ति । सुगमत्वात् प्रत्येकदुर्बोधपद व्याख्यायुतत्वाच्च टीकैषा संस्कृतसाधारणज्ञानवतामप्युपयोगिनी भाविनीत्यभिप्रैमि । हिन्दी-गुर्जरभाषानुवादावपि एतद्भाषाविज्ञानां महीयसे लाभाय भवेतामिति सम्यक् संभावयामि ।

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री घासीलालजी महाराजानां परि श्रमोऽयं प्रशंसनीयो धन्यवादाहार्हाश्च ते मुनिसत्तमाः । एवमेव श्रीसमीरमल्लजी-श्री कन्हैयालालजी मुनिवरेण्य-योर्नियोजनकार्यमपि श्लाध्यं, तावपि च मुनिवरौ धन्यवादाहौ स्तः ।

सुन्दरप्रस्तावनाविषयानुक्रमादिना समलङ्कृते सूत्ररत्नेऽस्मिन् यदि शब्दकोषोऽपि दत्तः स्यात्तर्हि वरतरं स्यात् । यतोऽस्यावश्यकतां सवऽप्यनेकषविद्वांसोऽनुभवन्ति ।

पाठकाः सूत्रस्याध्ययनाध्यापनेन लेखकनियोजकमहोदयानां परिश्रमं सफलयिष्यन्ती-त्याशास्महे । इति ।

श्री उपासकदशङ्ग सूत्र परत्वे जैन समाजना अग्रगण्य जैनधर्मभूषण  
महान विद्वान संतोए तेमज विद्वान श्रावकोए सम्मतिओ समर्पी छे  
तेमना नामो नीचे प्रमाणे छे

- (१) लुधियाना—सम्बत् १९८९, आश्विन पूर्णिमा का पत्र, श्रुतज्ञान के भंडार आगम-  
रत्नाकर जैनधर्मदिवार श्री १००८ श्री उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज,  
तथा न्यायव्याकरणवेत्ता श्री १००७ तच्छिष्य श्री मुनि हेमचन्दजी महाराज.
- (२) लाहौर—वि० सं० १९८९ आश्विन वदि १३ का पत्र, पण्डित रत्न श्री १००८  
भागचन्दजी महाराज तथा तच्छिष्य पण्डित रत्न श्री १००७ श्री त्रिलोकचंद जी  
महाराज.
- (३) खिचन से ता. ९-११-३६ का पत्र, क्रियापात्र स्थविर श्री १००८ श्री भारतरत्न  
श्री समरथमलजी महाराज.
- (४) वालाचोर-ता. १४-११-३६ का पत्र, परम प्रसिद्ध भारतरत्न श्री १००८ श्री  
शतावधानीजी श्री रत्नचन्दजी महाराज.
- (५) बम्बई-ता. १६-११-३६ का पत्र, प्रसिद्ध कवीन्द्र श्री १००८ श्री कि नानचन्द्रजी  
महाराज.
- (६) आगरा-ता. १८-११-३६, जगद् वल्लभ श्री १००८ श्री जैन दिवाकर श्री  
चौथमलजी महाराज, गुणवन्त गणीजी श्री १००७ श्री साहित्य प्रेमी श्री प्यार  
चन्दजी महाराज.
- (७) हैद्राबाद (दक्षिण) २५-११-३६ का पत्र स्थविरपदभूषित भाग्यवान पुरुष श्री तारा-  
चन्दजी महाराज तथा प्रसिद्ध वक्ता श्री १००७ श्री सोभागमलजी महाराज.
- (८) जयपुर-ता. २६-११-३६ का पत्र, संप्रदाय के गौरववर्धक शांतस्वभावी श्री १००८  
श्री पूज्य श्री खूबचन्दजी महाराज.
- (९) अम्बाला-ता. २९-११-३६ का पत्र, परम प्रतापी पंजाव केशरी श्री १००८  
श्री पूज्य श्री रामजी महाराज.
- (१०) सेलाना-ता. २९-११-३६ का पत्र, शास्त्रों के ज्ञाता श्रीमान् रत्नलालजी डोसी.
- (११) खीचन-ता. ९-११-३६ का पत्र, पंडितरत्न न्यायतीर्थ सुश्रावक श्रोयुत् माधव-  
लालजी

.....

ता. २५. ११-३६

सादर जय जिनेन्द्र

आपका भेजा हुआ उपासक दशांग सूत्र तथा पत्र मिला यहां विराजित प्रवर्तक



वयोवृद्ध श्री १००८ श्री ताराचंदजी महाराज पण्डित श्री किशनलालजी महाराज आदि ठाण १४ सुख शांती में विराजमान हैं आपके वहां विराजित जैनशास्त्राचार्य पूज्यपाद श्री १००८ श्रीघासीलाल जी महाराज आदि ठाणा नव से हमारी बन्दना अर्ज कर सुख शांति पूछे आपने उपासकदशांग सूत्र के विषय में यहां विराजित मुनिवरों की सम्मती मंगाई उसके विषय में वक्ता श्रीगोभागमलजी महाराज ने फरमाया है कि वर्तमान में स्थानकवासी समाज में अनेकानेक विद्वान मुनि महाराज मौजूद हैं। मगर जैनशास्त्र की वृत्ति रचनेका साहस जैसा घासीलालजी महाराज ने किया है वैसा अन्य ने किया हो ऐसा नजर नहीं आता दूसरा यह शास्त्र उपयोगी तो यों है संस्कृत प्राकृत हिन्दी और गुजराती भाषा होनेसे चारों भाषा वाले एक ही पुस्तक से लाभ उठा, सकते हैं जैन समाज में ऐसे विद्वानों का गौरव बढे यही शुभ कामना है आशा है कि स्थानकवासी संघ विद्वानों की कदर करना सीखेगा। योग्य लिखें शेष शुभ

भवदीय

जमनलाल रामलाल कीमती

\*

आगरा से:—

श्रीजैनदिवाकर प्रसिद्धवक्ता जगद्वल्लभ मुनि श्रीचोथमलजी महाराज व पंडित रत्न सुव्याख्यानी गणीजी श्री प्यारचन्द जी महाराज ने इस पुस्तक को अतीव पसन्द की है।

श्रीमान् न्यायतीर्थ पण्डित

माधवलालजी खीचन से लिखते हैं कि:—

उन पंडितरत्न महाभाग्यवंत पुरुषों के सामने उनकी अगाधतत्त्वगवेषणा के विषय में मैं नगण्य क्या सम्मति दे सकता हूँ।

परन्तु:—

मेरे दो मित्रों ने जिन्होंने इसको पढा है बहुत सराहना की है वास्तव में ऐसे उत्तम व सबके समझाने योग्य ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है और इस समाज का तो ऐसा ग्रन्थ ही गौरव बढा सकते हैं—ये दोनों ग्रन्थ वास्तव में अनुपम हैं ऐसे ग्रन्थरत्नोंके सुप्रकाशसे यह समाज अमावास्या के घोर अन्धकार में दीपावली का अनुभव करती हुई महावीर के अमूल्य वचनोंका पान करती हुई अपनी उन्नति में अग्रसर होती रहेगी।

—: \* :—

ता. २९-११-३६

अम्बाला (पंजाब)

पत्र आपका मिला श्री श्री १००८ पंजाब केशरी पूज्य श्री काशीरामजी महाराज की सेवा में पढ़कर सुना दिया। आपकी भेजी हुई उपासकदशाङ्ग सूत्र तथा गृहिधर्म-कल्पतरु की एक प्रति भी प्राप्त हुई हैं, ऐसे ग्रन्थरत्नों के प्रकाशित करवाने की बड़ी आवश्यकता है। यह पुरुषार्थसराहनीय है।

आपका

शशिभूषणशास्त्री

अध्यापक जैन हाई स्कूल

अम्बाला शहर.

शान्त स्वभावी वैराग्य मूर्ति तत्व वारिधि, धैर्यवान श्री जैनाचार्य पूज्यवर श्री श्री १००८ श्री खूबचन्दजी महाराज साहेबने सूत्र श्री उपासक दशाङ्गजी को देखा। आपने फरमाया कि पण्डित मुनी घासीलालजी महाराज ने उपासक दशाङ्ग सूत्रकी टीका लिखने में बड़ा ही परिश्रम किया है। इस समय इस प्रकार प्रत्येक सूत्रोंकी संशोधक पूर्वक सरल टीका और शुद्ध हिन्दी अनुवाद होनेसे भगवान निर्ग्रन्थों के प्रवचनों के अपूर्व रस का लाभ मिल सकता है.

\*

बालाचोर से भारतरत्न शतावधानी पंडित मुनि श्री १००८ श्री रतनचन्दजी फरमाते हैं कि :-

उत्तरोत्तर जोतां मूल सूत्रनी संस्कृतटीकाओ रचवामां टीकाकारे स्तुत्य प्रयास कर्यो छे, जे स्थानकवासी समाज माटे मगरूरी लेवा जेवुं छे, वली करांचीना श्री संवे सारा कागलमां अने सारा टाइपमां पुस्तक छपावी प्रगट कर्युं छे जे एक प्रकारनी साहित्य सेवा बजावी छे.

\*

बम्बई शहर में विराजमान कवि मुनि श्री नानचन्द जी महाराजने फरमाया है कि पुस्तक सुन्दर है प्रयास अच्छा है।

\*

खीचन से स्थविर क्रिया पात्र मुनि श्री रतनचन्दजी महाराज और पंडितरत्न मुनि सन्नथमलजी महाराज श्री फरमाते हैं कि-विद्वान महात्मा पुरुषोंका प्रयत्न सराहनीय है क्या जैनागम श्रीमद् उपासक दशाङ्ग सूत्र की टीका, एवं उसकी सरल सुबोधनीय शुद्ध हिन्दी भाषा बड़ी ही सुन्दरता से लिखी है।

\*

श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री श्री श्री १००८ जैनधर्म दिवाकर जैनागमरत्नाकर श्रीमज्जैनाचार्य श्री पूज्य

घासीलालजी महाराज चरणवन्दन स्वीकार हो ।

अपरञ्च समाचार यह है कि आपके भेजे हुए ९ शास्त्र मास्टर सोभालालजी के द्वारा प्राप्त हुए, एतदर्थ धन्यवाद ! आपश्रीजीने तो ऐसा कार्य किया है जो कि हजारों वर्षों से किसी भी स्थानकवासी जैनाचार्य ने नहीं किया ।

आपने स्थानकवासीजैनसमाज के ऊपर जो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नहीं जा सकता और नहीं भुलाया जा सकेगा ।

हम तीनों मुनि भगवान महावीर से अथवा शासनदेव से प्रार्थना करते हैं कि आपकी इस वज्रमयी लेखनी को उत्तरोत्तर शक्ति प्रदान करें ता कि आप जैन समाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे और आप चिरञ्जीव हों ।

हम हैं आप के मुनि तीन

उदेपुर.

मुनि सत्येन्द्रदेव—मुनि लखपतराय—मुनि पद्मसेन

\*

इतवारी बाजार

नागपुर ता. १९-१२-५६

प्रखर विद्वान जैनाचार्य मुनिराज श्री घासीलालजी महाराजद्वारा जो आगमोद्धार हुआ और हो रहा है सचमुच महाराजश्री का यह स्तुत्य कार्य है । हमने प्रचारकजी के द्वारा नौ सूत्रों का सेट देखा और कइ मार्मिक स्थलो को पढा, पढ कर विद्वान मुनिराज-श्री की शुद्ध श्रद्धा तथा लेखनीके प्रति हार्दिक प्रसन्नता फूट पडी ।

वास्तव में मुनिराज श्री जैन समाज पर ही नहीं इतर समाज पर भी महा उपकार कर रहे हैं । ज्ञान किसी एक समाज का नहीं होता वह सभी समाज की अन्नमोल निधि है जिसका एक एक सेट हर शहर गांव और घर घर में होना आवश्यक है ।

साहित्यरत्न

मोहनमुनिसोहनमुनि जैन.

श्रमण संघना प्रचार मंत्री पंढर केशरी महाराज श्री प्रेमचंद महाराज ज्योश्री राजकैटमां पधारैला डता त्यारे तेजोना तरक्षी शाखेने माटे जेमदो अबिप्राय.

\*

शाखेद्धार समिति तरक्षी पूज्यपाद शास्त्र वारिधि पंडितराज स्वामीश्री घासीलाल महाराजद्वारा शास्त्रोद्धारनुं जे कार्य थरुं रहुं छे ते कार्य जैन समाज तेमां भास करीने स्थानकवासी जैन समाजने माटे भूणभूत मौलिक संस्कृतिनी जडने मज्जुत करवा वाणुं छे.

जेदला भातर आ कार्य अति प्रशंसनीय छे माटे दरेक व्यक्तिजे तेमां यथाशक्ति लोग देवानी भास आवश्यकता छे अने तेथी जे लगीरथ कार्य जदहीथी जदही संपूर्ण पणुं पार पाडी शकय अने जनता श्रुतज्ञाननो लाभ भेणवी शके.

\*

દરીયાપુરી સંપ્રદાયના પૂજ્ય આચાર્ય શ્રી ઇશ્વરલાલજી મહારાજ સાહેબના  
સૂત્રો સંબંધે વિચારો  
નમામિ વીરં ગિરી સારધીરં

પૂજ્ય પાદ જ્ઞાન પ્રવરશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ તથા પંડિતશ્રી કનૈયાલાલજી મહારાજ આદિ થાણા છની સેવામાં-

અમદાવાદ શાહપુર ઉપાશ્રયથી મુનિ દયાનંદજીના ૧૦૮ પ્રણિપાત.

આપ સર્વે થાણાઓ સુખ સમાધિમાં હશેો નિરંતર ધર્મધ્યાન ધર્મારાધનમાં લીન હશેો.

સૂત્ર પ્રકાશન કાર્ય ત્વરીત થાય એવી ભાવના છે દશવૈકાલિક તથા આચારાંગના એક એક ભાગ અહીં છે ટીકા ખૂબ સુંદર, સરળ અને પંડિતજનોને સુપ્રિય થઈ પડે તેવી છે. સાથે સાથે ટીકા વીનાના મૂળ અને અર્થ સાથે પ્રકાશન થાય તો શ્રાવકગણુ તેનો વિશેષ લાભ લઈ શકે. અત્રે પૂજ્ય આચાર્ય ગુરૂદેવને આંખે મોતીયો ઉતરાવ્યો છે અને સાડું છે એજ.

આસો શુદ્ધ ૧૦, મંગળવાર ત. ૨૫-૧૦-૫૫

પુનઃ પુનઃ શાતા ઇચ્છતો,  
દયા મુનિના પ્રણિપાત.



દરીયાપુરી સંપ્રદાયના પંડિત રત્ન ભાઈચંદજી મહારાજનો અભિપ્રાય  
શ્રી

રાણપુર તા. ૧૬-૧૨-૧૯૫૫

પૂજ્યપાદ જ્ઞાનપ્રવર પંડિતરત્ન પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ આદિમુનિવરોની સેવામાં. આપ સર્વે સુખ સમાધિમાં હશેો.

સૂત્ર પ્રકાશનનું કામ સુંદર થઈ રહ્યું છે તે જાણી અત્યંત આનંદ. આપના પ્રકાશિત થયેલાં કેટલાંક સૂત્રો જોયાં સુંદર અને સરલ સિદ્ધાંતના ન્યાયને પુષ્ટિ કરતી ટીકા પંડિતરત્નોને સુપ્રિય થઈ પડે તેવી છે. સૂત્ર પ્રકાશનનું કામ ત્વરિત પૂર્ણ થાય અને ભાવિ આત્માઓને આત્મકલ્યાણ કરવામાં સાધનભૂત થાય એજ અભ્યર્થના

લી. પંડિતરત્ન બાળબ્રહ્મચારી

પૂ. શ્રી ભાઈચંદ મહારાજ ની

આજ્ઞાનુસાર શાન્તિમુનીના

પાયવંદન સ્વીકારશો.

તા. ૧૧-૫-૫૬

વીરમગામ

ગરુડાધિપતિ પૂજ્ય મહારાજ શ્રી જ્ઞાનચંદ્રજી મહારાજના સંપ્રદાયના આત્માથી, ક્રિયાપાત્ર, પંડિતરત્ન, મુનિશ્રી સમરથમલજી મહારાજનો અભિપ્રાય.

ખીચનથી આવલ તા. ૧૧-૨-૫૬ ના પત્રથી ઉદ્ધિત,

પૂજ્ય આચાર્ય ઘાસીલાલજી મહારાજના હસ્તક જે સૂત્રોનું લખાણ સુંદર અને સરળ ભાષામાં થાય છે. તે સાહિત્ય; પંડિત મુનિશ્રી સમરથમલજી મહારાજ, સમય એછો મળ-

વાને કારણે સંપૂર્ણ જોઈ શક્યા નથી, છતાં જેટલું સાહિત્ય જોયું છે, તે બહુ જ સારું અને મનન સાથે લખાયેલું છે. તે લખાણ શાસ્ત્ર આજ્ઞાને અનુરૂપ લાગે છે. આ સાહિત્ય દરેક શ્રદ્ધાળુ જીવોને વાંચવા યોગ્ય છે. આમાં સ્થાનકવાસી સમાજની શ્રદ્ધા, પ્રરૂપણા અને ફરસણાની દૃઢતા શાસ્ત્રાનુકૂળ છે. આચાર્ય શ્રી અર્પૂર્વ પરિશ્રમ લઈ સમાજ ઉપર મહાન ઉપકાર કરે છે.

ડી. કીશનલાલ પૃથ્વીરાજ માણ  
સુ. ખીચન.

\*

### ડી'બડી સંપ્રદાયના સદાનંદી સુનીશ્રી છોટાલાલજી મહારાજનો અભિપ્રાય

શ્રી-વીતરાગદેવે-જ્ઞાનપ્રચારને તીર્થ'કર નામ ગોત્ર ખાંધવાનું નિમિત્ત કહેલ છે. જ્ઞાન પ્રચાર કરનાર, કરવામાં સહાય કરનાર, અને તેને અનુમોદન આપનાર જ્ઞાનાવર્ણિય કર્મને ક્ષય કરી-કેવળ જ્ઞાનને પ્રાપ્ત કરી પરમપદનાં અધિકારી બને છે. શાસ્ત્રજ્ઞ-પરમ જ્ઞાન્ત, અને અપ્રમાદિ પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ પોતે અવિશ્રાન્તપણે જ્ઞાનની ઉપાસના અને તેની પ્રભાવના અનેક વિકટ પ્રસંગોમાં પણ કરી રહ્યા છે. તે માટે તેઓશ્રી અનેકશઃ ધન્યવાદના અધિકારી છે વંદનીય છે-તેમની જ્ઞાન પ્રભાવનાની ધગશ ઘણા પ્રમાદિઓને અનુકરણીય છે. જેમ પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ પોતે જ્ઞાનપ્રચાર માટે અવિશ્રાન્ત પ્રયત્ન કરે છે. તેમજ-શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિના કાર્યવાહકો પણ એમાં સહાય કરીને જે પવિત્ર સેવા કરી રહેલ છે. તે પણ ખરેખર ધન્યવાદના પૂર્ણ અધિકારી છે.

એ સમિતિના કાર્યકરોને મારી એક સૂચના છે કે:-

શાસ્ત્રોદ્ધારક પ્રવર પંડિત અપ્રમાદિ સંત ઘાસીલાલજી મહારાજ જે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ કરી રહેલ છે. તેમાં સહાય કરવા માટે-પંડિતો વિગેરેના માટે જે ખર્ચો થઈ રહેલ છે. તેને પહોંચી વળવા માટે સારું સરખું ફંડ જોઈએ. એના માટે મારી એ સૂચના છે કે:-શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિના મુખ્ય કાર્યવાહકો, -જો બની શકે તો પ્રમુખ પોતે અને બીજા બે ત્રણ જણાઓ ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, અને કચ્છમાં પ્રવાસ કરી મેમ્બરો બનાવે અને આર્થિક સહાય મેળવે.

જો કે અત્યારની પરિસ્થિતિ વિષમ છે. વ્યાપારીઓ, ધંધાદારીઓને પોતાના વ્યવહાર સાચવવા પણ મુશ્કેલ બન્યા છે. છતાં જો સંભાવિત ગૃહસ્થો પ્રવાસે નીકળે તો જરૂર કાર્ય સફળ કરે. એવી મને શ્રદ્ધા છે.

આર્થિક અનુકૂળતા થવાથી શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ પણ વધુ સરલતાથી થઈ શકે. પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ જ્યાં સુધી આ તરફ વિચરે છે ત્યાં સુધીમાં એમની જ્ઞાન શક્તિનો જેટલો લાલ લેવાય તેટલો લઈ લેવો. કદાચ સૌરાષ્ટ્રમાં વધુ વખત રહેવાથી તમને હવે બહાર વિહરવાની ઈચ્છા થતી હોય તો શાન્તિલાઈ શેઠ જેવાએ વિનંતી કરી અમદાવાદ પધરાવવા. અને ત્યાં-અનુકૂળતા મુજબ-જે ત્રણ વર્ષની સ્થિરતા કરાવીને તેમની પાસે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કામ પૂર્ણ કરાવી લેવું જોઈએ.

થોડા વખતમાં જામજેઘપુરમાં શાસ્ત્રોદ્ધાર કમીટી મળવાની છે. તે વખતે ઉપરની સૂચના વિચારાય તો ઠીક.

ફરી શાસ્ત્રોદ્ધારક પૂજ્ય શ્રીધાસીલાલજી મહારાજને એમની આ સેવા અને પરમ કલ્યાણ કારક પ્રવૃત્તિને માટે વારંવાર અભિનંદન છે. શાસનનાયક દેવ તેમના શરિરાદીને સશક્ત અને દીર્ઘાયુ રાખી સમાજ ધર્મની વધુ ને વધુ સેવા કરી શકે. ॐ અસ્તુ.

ચાતુર્માસ સ્થળ. લીંબડી } લિ.  
સાં. ૨૦૧૦ શ્રાવણ વદ ૧૩.શુક્ર. } સદાનંદી જૈનમુનિ છોટાલાલજી

\*

### શ્રીવર્ધમાન સંપ્રદાય પૂજ્ય શ્રીપુનમચંદ્રજી મહારાજનો અભિપ્રાય

શાસ્ત્ર વિશારદ પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીધાસીલાલજી મહારાજશ્રીએ જૈન આગમો ઉપર જે સંસ્કૃત ટીકા વગેરે રચેલ છે. તે માટે તેઓશ્રી ધન્યવાદને પાત્ર છે, તેમણે આગમો ઉપરની સ્વતંત્ર ટીકા રચીને સ્થાનકવાસી જૈન સમાજનું ગૌરવ વધાયું છે. આગમો ઉપરની તેમની સંસ્કૃત ટીકા ભાષા અને ભાવની દૃષ્ટિએ ઘણીજ સુંદર છે. સંસ્કૃત રચના માધુર્ય તેમજ અલંકાર વગેરે શુભેચ્છી યુક્ત છે. વિદ્વાનોએ તેમજ જૈન સમાજના આચાર્યો ઉપાધ્યાયો વગેરે એ શાસ્ત્રો ઉપર રચેલી આ સંસ્કૃત રચનાની કદર કરવી જોઈએ અને હરેક પ્રકારનો સહકાર આપવો જોઈએ.

આવા મહાન કાર્યમાં પંડિતરત્ન પૂજ્ય શ્રીધાસીલાલજી મહારાજ જે પ્રયત્ન કરી રહ્યા છે તે આલૌકિક છે. તેમનું આગમ ઉપરની સંસ્કૃત ટીકા વગેરે રચવાનું ભગીરથ કાર્ય શીઘ્ર સફળ થાય એજ શુભેચ્છા સાથે.

અમહાવાદ  
તા. ૨૧-૪-૫૬ રવિવાર }  
મહાવીર જ્યંતિ

મુનિપૂર્ણચંદ્રજી

\*

### ખંભાત સંપ્રદાયના મહાસતી શારદાબાઈ સ્વામીનો અભિપ્રાય

લખતર તા. ૨૫-૪-૫૬

શ્રીમાન શેક શાંતીલાલભાઈ મંગળદાસ ભાઈ  
પ્રમુખ સાહેબ અખિલ ભારત પ્રવે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ  
મુ. અમહાવાદ

અમો અત્રે દેવગુરૂની કૃપાએ મુખરૂપ છીએ. વિ, માં આપની સામતિ દ્વારા પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રી ધાસીલાલજી મહારાજ સાહેબ જે સૂત્રોનું કાર્ય કરે છે તે પૈકીનાં સૂત્રોમાંથી ઉપાસક દર્શાંગ સૂત્ર, અનુત્તરોપપાતિક સૂત્ર દશવૈકાલિક સૂત્ર વિગેરે સૂત્રો જોયાં તે સૂત્રો સંસ્કૃત હીન્દી અને ગુજરાતી ભાષાઓમાં હોવાને કારણે વિદ્વાન અને સામાન્ય જનોને ઘણુંજ લાભદાયિક છે. તે વાંચન ઘણુંજ સુંદર અને મનોરંજન છે. આ કાર્યમાં પૂજ્ય આચાર્ય શ્રી જે અથાગ પુરૂષાર્થે કાર્ય કરે છે તે માટે વારંવાર ધન્યવાદને પાત્ર છે. આ સૂત્રોથી સમાજને ઘણું લાભનું કારણ છે.

હંસ સમાન બુદ્ધિવાળા આત્માઓ સ્વપરના ભેદથી નિખાલસ ભાવનાએ અવલોકન કરશે તો આ સાહિત્ય સ્થાનકવાસી સમાજ માટે અપૂર્વ અને ગૌરવ લેવા જેવું છે. માટે દરેક ભવ્ય આત્માઓને સુચન કરું છું કે આ સૂત્રો પોતપોતાના ઘરમાં વસાવાની સુંદર તકને ચુકશે નહિ. કારણ આવા શુદ્ધ પવિત્ર અને સ્વપરંપરા ને પુષ્ટિરૂપ સૂત્રો મળતાં બહુ

મુશ્કેલ છે. આ કાર્યને આપશ્રી તથા સમિતિના અન્ય કાર્યકરો જે શ્રમ લઈ રહ્યા છે. તેમાં મહાન નિર્જરાનું કારણ જોવામાં આવે છે તે બદલ ધન્યવાદ. એજ

લી. શારદાબાઈ સ્વામી  
ખંભાત સંપ્રદાય.

\*

### ખરવાળાસંપ્રદાયના વિદુષીમહાસતીજી મોંઘીબાઈ સ્વામીનો અભિપ્રાય

ધંધુકા તા. ૨૭-૧-૫૬

શ્રીમાન શેઠ શાન્તીલાલ મંગળદાસભાઈ

પ્રમુખ અં ભ૦ સ્વેં સ્થા જૈનશાસ્ત્ર ઉદ્ધાર સમિતિ

મુ. રાજકોટ.

અત્રે ખીરાજતા ગું ગું ભંડાર મહાસતીજી વિદુષી મોંઘીબાઈ સ્વામી તથા હીરાબાઈ સ્વામી આદિદાણા બન્ને સુખશાતામાં ખીરાજે છે, આપને સુચન છે કે અપ્રમત અવસ્થામાં રહી નિવૃત્તિ લાવને મેળવી ધર્મધ્યાન કરશેજી એજ આશા છે.

વિશેષમાં અમને પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીઘાસીવાલજી મહારાજના રચેલાં સૂત્રો ભાઈ પોપટ ધનજીભાઈ તરફથી ભેટ તરીકે મળેલાં તે સૂત્રો તમામ આઘોપાંત વાંચ્યાં મનન કર્યાં અને વિચાર્યાં છે તે સૂત્રો સ્થાનકવાસી સમાજને અને વીતરાગ માર્ગને ખૂબજ ઉત્તમ બનાવનાર છે. તેમાં આપણી શ્રદ્ધા એટલી ન્યાય રૂપથી ભરેલી છે તે આપણા સમાજ માટે ગૌરવ લેવા જેવું છે. હંસ સમાન આત્માઓ જ્ઞાન ઝરણાઓથી આત્મરૂપ વાડીને વિકસીત કરશે. ધન્ય છે આપને અને સમિતિના :કાર્યકરોને જે સમાજ ઉત્થાન માટે કોઈની પણ પરવા કર્યા વગર જ્ઞાનનું દાન લવ્ય આત્માઓને આપવા નિમિત્તરૂપ થઈ રહ્યા છે. આવા સમર્થ વિદ્વાન પાસેથી સંપૂર્ણ કાર્ય પુરું કરાવશે તેવી આશા છે.

એજ લિ. ખરવાળા સંપ્રદાયના વિદુષી

મહાસતીજી મોંઘીબાઈ સ્વામી

ના ફરમાનથી લી. ખોડીદાસ ગણેશભાઈ-ધંધુકા

સ્થાનકવાસી જૈન સંઘના પ્રમુખ.

\*

### અદ્યતન પદ્ધતિને અપનાવનાર વડોદરા કોલેજના એક વિદ્વાન પ્રોફેસરનો અભિપ્રાય

સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના મુનિશ્રી ઘાસીજી મહારાજ જૈનશાસ્ત્રોના સંસ્કૃત ટીકાબદ્ધ, ગુજરાતીમાં અને હિન્દીમાં ભાષાંતરો કરવાના ઘણા વિકટ કાર્યમાં વ્યાસ થયેલા છે. શાસ્ત્રો પૈકી જે શાસ્ત્રો પસિદ્ધ થયાં છે તે હું જોઈ શક્યો છું, મુનિશ્રી પોતે સંસ્કૃત, અર્ધમાગધી હિન્દી ભાષાઓના નિષ્ણાત છે, એ એમનો ટુંકો પરિચય કરતાં સહજ જણાઈ આવે છે. શાસ્ત્રોનું સંપાદન કરવામાં તેમને પોતાના, શિષ્યવર્ગનો અને વિશેષમાં ત્રણ પંડિતોનો સહકાર મળ્યો છે, તે જોઈ મને આનંદ થયો. સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના અગ્રેસરોએ પંડિતોનો સહકાર મેળવી આપી મુનિશ્રીના કાર્યને સરળ અને શિષ્ટ બનાવ્યું છે. સ્થાનકવાસી સમાજમાં વિદ્વત્તા ઘણી ઓછી છે. તે દિગંબર, મૂર્તિપૂજક સ્વેતાંબર વગેરે જૈનદર્શનના પ્રતિનિધિઓના ઘણા સમયથી પરિચયમાં આવતાં હું વિરોધના ભય વગર, કહી શકું. પૂ. મહારાજનો આ પ્રયાસ

સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયમાં પ્રથમ છે એવી મારી માન્યતા છે. સંસ્કૃત સ્પષ્ટીકરણો સારાં આપવામાં આવ્યાં છે. ભાષા શુદ્ધ છે એમ હું ચોક્કસ કહી શકું છું. ગુજરાતી ભાષાંતરો પણ શુદ્ધ અને સરળ થયેલાં છે. મને વિશ્વાસ છે કે મહારાજશ્રીના આ સ્તુત્ય પ્રયાસને જૈનસમાજ ઉત્તેજન આપશે અને શાસ્ત્રોના ભાષાંતરોને વાચનાલયમાં અને કુટુંબોમાં વસાવી શકાય તે પ્રમાણે વ્યવસ્થા કરશે.

પ્રતાપગંજ, વડોદરા  
તા. ૨૭-૨-૧૯૫૬

કેશવલાલ હિંમતરામ  
એમ. એ.

\*

મુંબઈની બે કોલેજોના પ્રોફેસરોનો અભિપ્રાય.

મુંબઈ તા. ૩૧-૩-૫૬

શ્રીમાન શેઠ શાંતીલાલ મંગળદાસ

પ્રમુખ: શ્રી અખિલ ભારત શ્વેઠ સ્થાન જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ,  
રાજકોટ.

પૂજ્યાચાર્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજે તૈયાર કરેલા આચારંગ. દશવૈકાલીક આવશ્યક, ઉપાસકદશાંગ વગેરે સૂત્રો અમે જોયા. આ સૂત્રો ઉપર સંસ્કૃતમાં ટીકા આપવામાં આવી છે અને સાથે સાથે હિંદી અને ગુજરાતી ભાષાંતરો પણ આપવામાં આવ્યાં છે. સંસ્કૃત ટીકા અને ગુજરાતી તથા હિંદી ભાષાંતરો જોતાં આચાર્ય શ્રીના આ ત્રણે ભાષા પરના એકસરખા અસાધારણ પ્રભુત્વની સચોટ અને સુરેખ છાપ પડે છે. આ સૂત્ર ગ્રંથોમાં પાને પાને પ્રગટ થતી આચાર્યશ્રીની અપ્રતિમ વિદ્વતા મુગ્ધ કરી દે તેવી છે. ગુજરાતી તથા હિંદીમાં થયેલા ભાષાંતરમાં ભાષાની શુદ્ધિ અને સરળતા નોંધપાત્ર છે. એથી વિદ્વજન અને સાધારણ માણસ ઉભયને સંતોષ આપે એવી એમની લેખિનીની પ્રતીતિ થાય છે. ૩૨ સૂત્રોમાંથી હજુ ૧૩ સૂત્રો પ્રગટ થયાં છે. બીજાં ૭ સૂત્રો લખાઈને તૈયાર થઈ ગયાં છે. આ બધાં જ સૂત્રો જ્યારે એમને હાથે તૈયાર થઈને પ્રગટ થશે ત્યારે જૈન સૂત્ર-સાહિત્યમાં અમૂલ્ય સંપત્તિરૂપ ગણાશે એમાં સંશય નથી. આચાર્યશ્રીના આ મહાન કાર્યને જૈન સમાજનો-વશેષતઃ સ્થાનકવાસી સમાજનો સંપૂર્ણ સહકાર સાંપડી રહેશે એવી અમે આશા રાખીએ છીએ.

પ્રો. રમણલાલ ચીમનલાલ શાહ  
સેન્ટ ઝેવિયર્સ કોલેજ, મુંબઈ.

પ્રો. તારા રમણલાલ શાહ.  
સોફિયા કોલેજ, મુંબઈ.

\*

રાજકોટની ધર્મેન્દ્રસિંહજી કોલેજના પ્રોફેસર સાહબનો  
અભિપ્રાય.

જયમહાલ

બગનાથ પ્લોટ

રાજકોટ, તા. ૧૮-૪-૫૬

પૂજ્યાચાર્ય પં. શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ આજે જૈન સમાજ માટે એક એવા કાર્યમાં વ્યાસ થયેલા છે કે જે સમાજ માટે બહુ ઉપયોગી થઈ પડશે. મુનિશ્રીએ તૈયાર કરેલાં



આચારાંગ, દશવૈકલિક, શ્રી વિપાકશ્રુત વિ. મેં જોયા. આ સૂત્રો જોતાં પહેલીજ નજરે મહારાજશ્રીનો સંસ્કૃત, અર્ધભાગધી, હિન્દી તથા ગુજરાતી ભાષાઓ ઉપરનો અસાધારણ કાબુ જણાઈ આવે છે એક પણ ભાષા મહારાજશ્રીથી અજાણી નથી. આપણે જાણીએ છીએ કે એ સૂત્રો ઉચ્ચ અને પ્રથમ કોટિના છે. તેની વસ્તુ ગંભીર. વ્યાપક અને જીવનને તલસ્પર્શી છે. આટલા ગહન અને સર્વગ્રાહ્ય સૂત્રોનું ભાષાંતર પૂઠ ઘાસીલાલજી મહારાજ જેવા ઉચ્ચ કોટિના મુનિરાજને હાથે થાય છે તે આપણા અહોભાગ્ય છે. યંત્રવાદ અને ભૌતિકવાદનાં આ જમાનામાં જ્યારે ધર્મભાવના ઓસરતી જાય છે એવે વખતે આવા તત્ત્વજ્ઞાન આધ્યાત્મિકતાથી ભરેલાં સૂત્રોનું સરળ ભાષામાં ભાષાંતર દરેક જીવસાસુ, મુમુક્ષુ અને સાધકને માર્ગદર્શક થઈ પડે તેમ છે. જૈન અને જૈનેતર, વિદ્વાન અને સાધારણ માણસ, સાધુ અને શ્રાવક દરેકને સમજણ પડે તેવી સ્પષ્ટ, સરળ અને શુદ્ધ ભાષામાં સૂત્રો લખવામાં આવ્યા છે. મહારાજશ્રીને જ્યારે જોઈએ ત્યારે તેમના આ કાર્યમાં સંકળાયેલા જોઈએ છીએ. એ ઉપરથી મુનિશ્રીના પરિશ્રમ અને ધગશની કદવના કરી શકાય તેમ છે. તેમનું જીવન સૂત્રોમાં વણાઈ ગયું છે.

મુનિશ્રીના આ અસાધારણ કાર્યમાં પોતાના શિષ્યોનો તથા પંડિતોનો સહકાર મળ્યો છે. મને આશા છે કે જે દરેક મુમુક્ષુ આ પુસ્તકોને પોતાના ઘરમાં વસાવશે અને પોતાના જીવનને સાચા સુખને માર્ગે વાળશે તેો મહારાજશ્રીએ ઉઠાવેલો શ્રમ સંપૂર્ણપણે સફળ થશે.

પ્રો. રસિકલાલ કસ્તુરચંદ ગાંધી  
એમ. એ. એલ. એલ બી,  
ધર્મેન્દ્રસિંહજી કોલેજ  
રાજકોટ (સૌરાષ્ટ્ર)

\*

મુંબઈ અને ઘાટકોપરમાં મળેલી સભાએ લિનાસર કોન્ફરન્સ તથા સાધુ સંમેલનમાં મોકલાવેલ ઠરાવ.

હાલ જે વખતે શ્રી શ્વેતાંબર સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ માટે આગમ-સંશોધન અને સ્વતંત્ર ટીકાવાળા શાસ્ત્રોદ્ધારની અતિ આવશ્યકતા છે અને જે મહાનુભાવોએ આ વાત દીર્ઘ દ્રષ્ટિથી પહેલી પોતાના મગજમાં લઈ તે પાર પાડવા મહેનત લઈ રહ્યા છે તેવા મુનિ મહારાજ પંડિતરત્ન શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ કે જેઓને સાદહી અધિવેશનમાં સર્વાનુમતે સાહિત્ય મંત્રી નીમ્યા છે તેઓશ્રીની દેખરેખ નીચે અ. ભા. પ્રવે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ જે એક મોટી વગવાળી કમિટી છે તેની મારફતે કામ થઈ રહ્યું છે જેને પ્રધાનાચાર્યશ્રી તથા પ્રચાર મંત્રીશ્રી તથા અનેક અનુભવી મહાનુભાવોએ પોતાની પસંદગીની મહોર છાપ આપી છે અને છેલ્લામાં છેલ્લા વડોદરા યુનિવર્સિટીના પ્રોફેસર કેશવલાલ કામદાર એમ. એ. એ પોતાનું સવિસ્તર પ્રમાણપત્ર આપ્યું છે તે શાસ્ત્રોદ્ધાર કમિટીના કામને આ સંમેલન તથા કોન્ફરન્સ હાર્દિક અભિનંદન આપે છે. અને તેમના કામને જ્યાં જ્યાં અને જે જે જરૂર પડે-પંડિતની અને નાણાંની-પોતાની પાસેના ફંડમાંથી અને જાહેર જનતા પાસેથી મદદ મળે તેવી ઈચ્છા ધરાવે છે.

આ શાસ્ત્રો અને ટીકાઓને જ્યારે આટલી બધી પ્રશંસાપૂર્વક પસંદગી મળી છે ત્યારે તે કામને મદદ કરવાની આ કોન્ફરન્સ પોતાની ફરજ માને છે અને જે કાંઈ ત્રુટી હોય

ત પં. ૨. શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજની સાનિધ્યમાં જઈ, ખતાવીને સુધારવા પ્રયત્ન કરવો. આ કામને ટલે ચઢાવવા જેવું કોઈપણ કામ સત્તા ઉપરના અધીકારીઓના વાણી કે વર્તનથી ન થાય તે જેવા પ્રમુખ સાહેબને લલામાણુ કરે છે.

(સ્થા. જૈન પત્ર તા. ૪-૫-૫૬)

\*

### સ્વતંત્ર વિચારક અને નિહર લેખક 'જૈન સિદ્ધાંત' ના તંત્રીશ્રી શેઠ નગીનદાસ ઝીરધરલાલનો અભિપ્રાય

શ્રી સ્થાનકવાસી શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ સ્થાપીને પૂ. શ્રી. ઘાસીલાલજી મહારાજને સૌરાષ્ટ્રમાં ખોલાવી તેમની પાસે ખત્રીસે સૂત્ર તૈયાર કરવાના હિલચાલ ચાલતી હતી ત્યારે તે હિલચાલ કરનાર શાસ્ત્રજ્ઞ શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈ સાથે મારે પત્રવ્યવહાર ચાલેલો ત્યારે શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈએ તેમનાં એક પત્રમાં મને લખેલું કે—

“આપણા સૂત્રોના મૂળ પાઠ તપાસી શુદ્ધ કરી સંસ્કૃત સાથે તૈયાર કરી શકે તેવા સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયમાં મુનીશ્રી ઘાસીલાલજી મ. સિવાય મને કોઈ વિશેષ વિદ્વાન મુનિ જેવામાં આવતા નથી લાંબી તપાસને અંતે મેં મુનિ શ્રીઘાસીલાલજી મ ને પસંદ કરેલા છે.”

શેઠ શ્રી દામોદરદાસભાઈ પોતે વિદ્વાન હતા. શાસ્ત્રજ્ઞ હતા તેમ વિચારક પણ હતા. શ્રાવકો તેમજ મુનિઓ પણ તેમની પાસેથી શીક્ષા વાંચના લેતા, તેમ જ્ઞાન ચર્ચા પણ કરતા એવા વિદ્વાન શેઠશ્રીની પસંદગી યથાર્થ જ હોય એમાં નવાઈ નથી. અને પૂ. શ્રી. ઘાસીલાલજીમ. ના બનાવેલાં સૂત્રો જેતાં સૌ કોઈને ખાત્રી થાય તેમ છે કે દામોદરદાસભાઈએ તેમજ સ્થાનકવાસી સમાજે જેવી આશા શ્રી ઘાસીલાલજી મ. પાસેથી રાખેલી તે ખરાખર ફલી-ભૂત થયેલ છે.

શ્રી વર્ધમાન શ્રમણસંઘના આચાર્ય શ્રી આત્મારામજી મહારાજે શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજના સૂત્રો માટે ખાસ પ્રશંસા કરી અનુમતિ આપેલ છે, તે ઉપરથી જ શ્રી ઘાસીલાલજી મ. ના સૂત્રોની ઉપયોગિતાની ખાત્રી થશે.

આ સૂત્રો વિદ્યાર્થીને, અભ્યાસીને તેમજ સામાન્ય વચકને સર્વને એક સરખી રીતે ઉપયોગી થઈ પડે છે, વિદ્યાર્થીને તેમજ અભ્યાસીને મૂળ તથા સંસ્કૃત ટીકા વિશેષ કરીને ઉપયોગી થાય તેમ છે. ત્યારે સામાન્ય હિંદી વાંચકને હિંદી અનુવાદ અને ગુજરાતી વાંચકને ગુજરાતી અનુવાદથી આખું સૂત્ર સરળતાથી સમજાય જાય છે.

કેટલાકેને એવો ભ્રમ છે કે સૂત્ર વાંચવાનું આપણું કામ નહિ, સૂત્રો આપણને સમજાય નહિ. આ ભ્રમ તદ્દન ખોટો છે. બીજા કોઈપણ શાસ્ત્રીય પુસ્તક કરતાં સૂત્રો સામાન્ય વાંચકને પણ ઘણી સરળતાથી સમજાઈ જાય છે. સામાન્ય માણસ પણ સમજી શકે તેટલા માટે જ ભ. મહાવીરે તે વખતની ઢોક ભાષામાં (અર્થ માગધી ભાષામાં) સૂત્રો બનાવેલાં છે. એટલે સૂત્ર વાંચવાં તેમજ સમજવામાં ઘણું સરળ છે.

માટે કોઈ પણ વાંચકને એનો ભ્રમ હોય તો તે કાઢી નાંખવો. અને ધર્મનું તેમજ ધર્મના સિદ્ધાંતનું સાચું જ્ઞાન મેળવવા માટે સૂત્રો વાંચવાને ચૂકવું નહિ. એટલું જ નહિ પણ જરૂરથી પહેલાં સૂત્રોજ વાંચવા.

સ્થાનકવાસીઓમાં આ શ્રી સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિએ જે કામ કર્યું છે અને કરી રહી છે તેવું કોઈ પણ સંસ્થાએ આજ સુધી કર્યું નથી. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિ-

તિના છેલ્લા રિપોર્ટ પ્રમાણે બીજાં છ સૂત્રો લખાયેલ પડયાં છે, જે સૂત્રો-અનુયોગદ્વાર અને ઠાણાંગ સૂત્ર-લખાય છે તે પણ થોડા વખતમાં તૈયાર થઈ જશે. તે પછી બાકીના સૂત્રો હાથ ધરવામાં આવશે.

તૈયાર સૂત્રો જલ્દી છપાઈ જાય એમ ઇચ્છીએ છીએ અને સ્થા. બંધુઓ સમિતિને ઉત્તેજન અને સહાયતા આપીને તેમનાં સૂત્રો ઘરમાં વસાવે એમ ઇચ્છીએ.

‘જૈન સિદ્ધાન્ત’ પત્ર-મે ૧૯૫૫.

\*

## શ્રુત ભક્તિ

(પૂ. આચાર્ય શ્રી ઇશ્વરલાલજી મ. સા. ની આજ્ઞા અનુસાર લખનાર)  
દ. સં. ના જૈન મુનિ શ્રી દયાનંદજી મહારાજ

ત. ૨૩-૬-૫૬ શાહુપુર, અમદાવાદ,

આજે લગભગ ૨૦ વર્ષથી શ્રદ્ધેય પરમપૂજ્ય, જ્ઞાન દિવાકર પં. મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મ. ચરમ તીર્થંકર ભગવાન મહાવીરના અનુત્તર, અનુપમ ન્યાય યુક્ત, પૂર્વાપર અવિરોધ, સ્વપર કલ્યાણકારક, ચરમ શીતળ પાણીના ઘોતક એવા શ્રીજિનાગમ પર પ્રકાશ પાડે છે. તેઓશ્રી પ્રાચીન, પૌર્વાત્ય સંસ્કૃતાદિ અનેક ભાષાના પ્રખર પંડિત છે અને જિન વાણીનો પ્રકાશ સંસ્કૃત, ગુજરાતી અને હિંદીમાં મૂળ શબ્દાર્થ, ટીકા, વિસ્તૃત વિવરણ સાથે પ્રકાશમાં લાવે છે એ જૈન સમાજ માટે અતિ ગૌરવ અને આનંદનો વિષય છે.

ભ૦ મહાવીર અત્યારે આપણી પાસે વિદ્યમાન નથી. પરંતુ તેમની વાણી રૂપે અક્ષર દેહ ગણુધર મહારાજોએ શ્રુત પરંપરાએ સાચવી રાખ્યો. શ્રુત પરંપરાથી સચરાતું જ્ઞાન ન્યારે વિસ્મૃત થયાનો સમય ઉપસ્થિત થવા લાગ્યો ત્યારે શ્રી દેવદિગ્દિગ્ધિ ક્ષમાશ્રમણે વલ્લીપુર-વળામાં તે આગમોને પુસ્તકો રૂપે આરૂઠ કર્યો. આજે આ સિદ્ધાન્તે આપણી પાસે છે. તે અર્ધ માગધી પાલી ભાષામાં છે. અત્યારે આ ભાષા ભગવાનની, દેવોની તથા જનગણની ધર્મ ભાષા છે. તેને આપણા શ્રમણો અને શ્રમણીઓ તથા મુમુક્ષુ શ્રાવક શ્રાવિકાઓ મુખપાઠ કરે છે; પરન્તુ તેનો અર્થ અને ભાવ ઘણા થોડાઓ સમજે છે.

જિનાગમ એ આપણાં શ્રદ્ધેય પવિત્ર ધર્મસૂત્રો છે એ આપણી આંખો છે. તેનો અભ્યાસ કરવો એ આપણી સૌની-જૈન માત્રની ફરજ છે. તેને સત્ય સ્વરૂપે સમજાવવા માટે આપણાં સદ્ભાગ્યે જ્ઞાન દિવાકર શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજે સત્સંકલ્પ કર્યો છે અને તે લિખિત સૂત્રોને પ્રગટાવી શાસ્ત્રોદ્ધાર સમીતી દ્વારા જ્ઞાન પરબ વહેતી કરી છે. આવા અનુપમ કાર્યમાં સકળ જૈનોનો સહકાર અવશ્યક હોવો-ઘટે અને તેનો વધારેમાં વધારે પ્રચાર થાય તે માટે પ્રયત્નો કરવા ઘટે.

ભ૦ મહાવીરને ગણુધર ગૌતમ પૂછે છે કે હે ભગવાન; સૂત્રની આરાધના કરવાથી શું ફળ પ્રાપ્ત થાય છે? ભગવાન તેનો પ્રતિ ઉત્તર આપે છે કે શ્રુતની આરાધનાથી જીવોના અજ્ઞાનનો નાશ થાય છે. અને તેઓ સંસારના કલેશોથી નિવૃત્તિ મેળવે છે. અને સંસાર કલેશોથી નિવૃત્તિ અને અજ્ઞાનનો નાશ થતાં મોક્ષ ફળનો પ્રાપ્તિ થાય છે.

આવા જ્ઞાન કાર્યમાં મૂર્તિપૂજક જૈનો, દિગંજરો અને અન્ય ધર્મીઓ હબરો અને લાખો રૂપીયા ખર્ચે છે. હિંદુ ધર્મમાં પવિત્ર મનાતા ગ્રંથ ગીતાના સેંકડો નહિ પણ હબરો ટીકા

અથો દુનિયાની લગભગ સર્વ લાષાઓમાં પ્રગટ થયા છે. ઇસાઈ ધર્મના પ્રચારકો તેમના પવિત્ર ધર્મગ્રન્થ ખાબિલના પ્રચારાર્થે તેનું જગતની સર્વલાષાઓમાં લાષાંતર કરી, તેને પડતર કરતાં પણ ઘણી ઓછી કિંમતે વેચી ધર્મ સૂત્રોનો પ્રચાર કરે છે. મુસ્લીમ લોકો પણ તેમના પવિત્ર મનાતા ગ્રન્થ કુરાનનું પણ અનેક લાષાઓમાં લાષાંતર કરી સમાજમાં પ્રચાક કરે છે. આપણે પૈસા પરનો મોહ ઉતારી ભગવાનના સિદ્ધાંતોનો પ્રચાર કરવા માટે તન, મન, ધન સમર્પણ કરવાં જોઈએ. અને સૂત્ર પ્રકાશનના કાર્યને વધુ ને વધુ વેગ મળે તે માટે સક્રિય પ્રયત્નો કરવા જોઈએ આવા પવિત્ર કાર્યમાં સાંપ્રદાયિક મતભેદો સૌએ ભૂલી જવા જોઈએ અને શુદ્ધ આશયથી થતા શુદ્ધ કાર્યને અપનાવી લેવું જોઈએ. સમિતિના નિયમાનુસાર રકમ ભરી સમીતીના સભ્ય અવશ્ય બનવું જોઈએ. ધાર્મિક અનેક ખાતાઓના મુકાબલે સૂત્ર પ્રકાશનનું-જ્ઞાન પ્રચારનું આ ખાતું સર્વશ્રેષ્ઠ ગણાવું જોઈએ,

આ કાર્યને વેગ આપવાની સાથે સાથે એ આગમો-ભગવાનની એ મહાવાણીનું પાન કરવા પણ આપણે હરહંમેશ તત્પર રહેવું જોઈએ. જેથી પરમ શાન્તિ અને જીવન સિદ્ધિ મેળવી શકાય.  
સ્થા. જૈન. તા. ૫-૭-૫૬)

શ્રી. અ. ભા. શ્વે. સ્થા. જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિનાં પ્રમુખશ્રી વગેરે.

રાણપુર

પરમ પવિત્ર સૌરાષ્ટ્રની પુણ્ય ભૂમિ પર જ્યારથી શાન્ત-શાસ્ત્રવિશારદ અપ્રમાદિ પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજનાં પુનિત પગલાં થયા છે ત્યારથી ઘણા લાંબા કાળથી લાગુ પડેલ જ્ઞાનવરણિય કર્મનાં પડળ ઉતારવાનો શુભ પ્રયાસ થઈ રહ્યો છે. અને જે પ્રવચનની પ્રભાવના તેઓશ્રી કરી રહ્યા છે તે અનંત ઉપકારક કાર્યમાં તમે જે અપૂર્વ સહાય આપી રહ્યા છો તે માટે તમો સર્વને ધન્ય છે અને એ શુભ પ્રવૃત્તિના શુભ પરિણામોનો જનતા લાભ લ્યે છે. મને તો સમજાય છે કે સાધુજી છઠે ગુણસ્થાનકે હોય છે. પણ પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ તો બહુધા સાતમે અપ્રમત્ત ગુણસ્થાનકે જ રહે છે. એવા અપ્રમત્ત માત્ર પાંચ-સાત સાધુઓ. જે સ્થાનકવાસી જૈન સમાજમાં હોય તો સમાજનું શ્રેય થતાં જરાએ વાર ન લાગે. સમાજકાશમાં સ્થા. જૈન સંપ્રદાયનો દિવ્ય પ્રભાકર જળ-હળી નીકળે- ૫...ણ વેા દિન..

શ્રીશાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિને મહારી એક નમ્ર સૂચના છે કે-પૂજ્યશ્રીની વૃદ્ધાવસ્થા છે; અને કાર્યપ્રણાલિકા યુવાનોને શરમાવે તેવી છે. તેમને ગામોગામ વિહાર કરવા અને શાસ્ત્રોદ્ધારનું કાર્ય કરવું તેમાં ઘણી શારીરિક-માનસિક અને વ્યવહારિક મુશ્કેલી વેઠવી પડે છે. તો કોઈ યોગ્ય સ્થળ કે જ્યાંના શ્રાવકો ભક્તિવાળા હોય. વાડાના રાગના વિષથી અલીપ્ત હોય એવા કોઈ સ્થળે શાસ્ત્રોદ્ધારનું કાર્ય પૂર્ણ થાય ત્યાં સુધી સ્થીરતા કરી શકે એના માટે પ્રબંધ કરવો જોઈએ. બીજા કોઈ એવા સ્થળની અનુકુળતા ન મળે તો છેવટ અમદાવાદમાં યોગ્ય સ્થળે રહેવાની સગવડતા કરી અપાય તો વધુ સાડં. મહારી આ સૂચના પર ધ્યાન આપવા ફરી યાદ આપું છું. ફરીવાર પૂજ્ય આચાર્યશ્રી ને અને તેમના સત્કાર્યના સહાયકોને મારા અભિનંદન પાઠવું છું તે સ્વીકારશોજી.

લિ. સદાનંદી જૈનમુનિ છાટલાલજી.

### “ જૈન સિદ્ધાંતના ” તંત્રીશ્રીનો અભિપ્રાય.

સ્થાનકવાસીઓમાં પ્રમાણુમૂત સૂત્રો બહાર પાડનારી આ એકની એક સંસ્થા છે. અને એના આ છેલ્લા રિપોર્ટ ઉપરથી જણાય છે કે તેણે ઘણી સારી પ્રગતિ કરી છે તે બેઠક આનંદ થાઇ છે.

મૂળ પાઠ, ટીકા, હિંદી તથા ગુજરાતી અનુવાદ સહિત સૂત્રો બહાર પાડવાં એ કાંઈ સહેલું કામ નથી. એ એક મહાભારત કામ છે. અને તે કામ આ શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ ઘણી સફળતાથી પાર પાડી રહી છે તે સ્થાનકવાસી સમાજ માટે ઘણા ગૌરવનો વિષય છે અને સમિતિ ધન્યવાદને પાત્ર છે.

સમિતિ તરફથી નવસૂત્રો બહાર પડી ચૂક્યાં છે, હાલમાં ત્રણ સૂત્રો છપાય છે. નવ સૂત્રો લખાઈ ગયાં છે અને જંબુદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ તથા નંદીસૂત્ર તૈયાર થઈ રહ્યાં છે.

હાલમાં મંત્રી શ્રી સાકરચંદ લાઈચંદ સમિતિના કામમાં જ તેમનો આખો વખત ગાળે છે અને સમિતિના કામકાજને ઘણો વેગ આપી રહ્યા છે. તેમના ખર્ચ માટે ધન્યવાદ

અને આ મહાભારત કામના મુખ્ય કાર્યકર્તા તો છે વયોવૃદ્ધ પંડિત મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ. મૂળ પાઠનું સંશોધન તથા સંસ્કૃત ટીકા તેઓશ્રી જ તૈયાર કરે છે. મુનિશ્રીનો આ ઉપકાર આખાય સ્થા. જૈન સમાજ ઉપર ઘણો મહાન છે. એ ઉપકારનો બદલો તો વાળી શકાય તેમજ નથી.

પરંતુ આ સમિતિના મેમ્બર બની, તેના બહાર પડેલાં સૂત્રો ઘરમાં વસાવી તેનું અધ્યયન કરવામાં આવે તો જ મહારાજ શ્રીનું થોડું ઋણ અદા કર્યું જણાય.

ભગવાને કહ્યું છે કે પદ્મ જાળ તરંગો દયા પહેલું જ્ઞાન પછી દયા, દયા ધર્મને યથાર્થ સમજવો હોય તો ભગવાનની વાણીરૂપ આપણા સૂત્રો વાંચવાં જોઈએ તેનું અધ્યયન કરવું જોઈએ અને તેનો ભાવાર્થ યથાર્થ સમજવો જોઈએ.

એટલા માટે આ શાસ્ત્રોદ્ધારસમિતિના સર્વ સૂત્રા દરેક સ્થા. જૈને પોતાના ઘરમાં વસાવવાં જોઈએ સર્વ ધર્મજ્ઞાન આપણા સૂત્રામાંજ સમાયલું છે અને સૂત્રો સહેલાઈથી વાંચીને સમજી શકાય છે, માટે દરેક સ્થા. જૈન આ સૂત્રો વાંચે એ ખાસ જરૂરનું છે.

“ જૈન સિદ્ધાંત ” ડીસેમ્બર-૫૬

\*

### શ્રી ઉપાશક દશાંગ સૂત્રને માટે અભિપ્રાય.

મૂળ સૂત્ર તથા પૂ. મુનિશ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજે બનાવેલ સંસ્કૃત છાયા તથા ટીકા અને હિંદી તથા ગુજરાતી અનુવાદ સહિત.

પ્રકાશક-અ. ભા. શ્વે. સ્થાનકવાસી જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ, ગરેડીઆ કૂવા રોડ, ગ્રીન લોજ પાસે, રાજકોટ. (સૌરાષ્ટ્ર) પૃષ્ઠ ૬૧૬ ખીણ આવૃત્તિ બેવડું (મોટું) કદ. પાકું જેકેટ સાથે સને ૧૯૫૬ કિંમત રૂા. ૮-૮-૦

આપણા મૂળ ખાર અંગ સૂત્રોમાંનું ઉપાશકદશાંગ એ સાતમું અંગ સૂત્ર છે, એમાં ભગવાન મહાવીરના દશ ઉપાસકો શ્રાવકોનાં જીવનચરિત્રો આપેલા છે તેમાં પહેલું ચરિત્ર આનંદ શ્રાવકનું આવે છે.

આનંદ શ્રાવકે જૈન ધર્મ અંગીકાર કર્યો અને ખારવત ભગવાન મહાવીર પાસે અંગીકાર કરી પ્રતિજ્ઞા (પ્રત્યાખ્યાન) લીધાં તેનું સવિસ્તર વર્ણન આવે છે. તેની અંતગત અનેક

विषयो जेवा के, अलिगम, लोकादीकस्वइप, नवतत्त्व, नरक देवलोका वगेरेनुं वणुंन पणु आवे छे.

आनंद श्रावके भार व्रत लीधां ते भारे व्रतनी विगत अतिचारनी विगत वगेरे अंधु आपेळुं छे, ते न प्रमाणे भीज नव श्रावकेनी पणु विगत आपेळ छे.

आनंद श्रावकेनी प्रतिज्ञाभां अरिहंत चेइयाई शब्द आवे छे. भूर्तिपूजके। भूर्तिपूज सिद्ध करवा भाटे तेनो अर्थ अरिहंतनुं चैत्य (प्रतिमा) जेवा करे छे. षणु ते अर्थ तदन जोटे। छे. अने ते जग्याजे आगण पाछणना संबंध प्रमाणे तेनो जे जोटे। अर्थ अंध जेसतो न नथी ते मुनिश्री धासीलालज्जम.जे तेमनी टीकाभां अनेक रीते प्रमाणे आपी सांगित करेल छे अने अरिहंत चेइयाई नो अर्थ साधु थाय छे ते जतावी आपेळ छे.

आ प्रमाणे आ सूत्रभांथी श्रावकेना शुद्ध धर्मनी भाडिती भजे छे ते उपरांत ते श्रावकेनी ऋद्धि, रडेकाणु, नगरी वगेरेना वणुंनो उपरथी ते वपतनी सामाजिक स्थिति, रीत-रिवाज राजव्यवस्था वगेरे जायतानी भाडिती भजे छे.

जेटले आ सूत्र दरेक श्रावके अपश्य वांछ्युं जेधजे जेटलुं न नडि पणु वारंवार अध्ययन करवा भाटे धरमां वसावजुंजेधजे.

पुस्तकेनी शङ्खातमां वर्द्धमान श्रमणु संघना आचार्यश्री आत्मारामज्ज महाराजनुं संमति पत्र तथा भीज साधुजो तेमज्ज श्रावकेना संमति पत्रो आपेळा छे, ते सूत्रनी प्रमाणुभूततानी आत्री आपे छे.

“ जैन सिद्धान्त ” ज्ञान्युआरी, ५७

\*

॥ श्री ॥

दो शब्द

जैन सामज में श्री दशवैकालीक सूत्रका स्थान बहुत ऊँचा है यह सूत्र कदके प्रकार में भले छोटा है। किन्तु इस सूत्र का महत्व बहुत बड़ा है। श्रीदशवैकालीक सूत्र का अध्ययन करना मानो मुनिधर्म में प्रवेश करने की प्राथमिक पाठशाला में प्रवेश करना है। यदि मुनि अधिक प्रज्ञावान हो तो ज्ञानमें ग्यारह अंगसूत्र से लेकर चौदापूर्वतक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यदि मुनि कम प्रज्ञा वाला है। अधिक परिश्रम करने पर भी ज्ञानावरणीय कर्मोदय के कारण ज्ञान नहीं बढ़ता तो श्री दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन कर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है इस सूत्र में आत्मसाधन के सभी विषय मौजूद है। भले इस सूत्र का स्थान अंग या उपांग सूत्रों में नहीं है। फिरभी इस सूत्र का महत्व अधिक है। इससे जीवाजीवका ज्ञान पांच समिति तीन गुप्ति इर्या भाषा एषणा गौचरी की वीधो आदी सभी आवश्यक कार्यक्रम मौजूद है श्री दशवैकालिक सूत्र कंठस्थ यदि है तो मुनि अपनी संयम यात्रा का निर्दोषपालन कर सकता है। इसीलिये दिक्षार्थी भाई बहिनों को सब से पहिले इसका अध्ययन कराया जाता है। प्रतिक्रमण के बाद इसका नम्बर आता है कई श्रावक श्राविकाएं इसे कंठस्थ करलेते है। कई नित्य इसका खाध्याय करते हैं। इस सूत्र की विस्तृत टीका श्रीमद् जैनाचार्य श्रीघासीलालजी मा०

सा० ने कर समाज पर महान उपकार किया है। इससे समाज आचार्य श्री का सदा ऋणी रहेगी और आचार्य श्री के स्वर्गवास बाद शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री. श्री कनैयालालजी मा०सा० जो कार्य पूज्य श्री का अपूर्ण रहा था उसको पूर्ण करने का बीडा उठाया इससे समाज मुनिश्रीकनैयालालजी मा० का ऋणी रहेगी मुनिश्री के सदउपदेश से प्रभावित होकर सिवाना (मारवाड) निवासी सुश्राविका पानकुँवर बहन धर्म पत्नी श्रीधीगडमलजी सा० कानुगा इस सूत्रको छपवाने में अर्थ सहायक बनी

### श्री पानकुँवर बैन का संक्षिप्त परिचय

श्री पानकुँवर बहिन का जन्म सिवाना निवासी बागरेचा श्री मुलतानमलजी की भार्या बरजूबाई की कुक्षी से हुवा श्रीमुलतानमलजी धर्मप्रेमी श्रावक है। और अपनीपुत्री मे धर्मके सुसंस्कार डाले और विवाह के पश्चात् श्रीधीगड मलजी कनुगा की मातुश्रीग्यारीबाई की धर्म प्रेरणा अच्छी रही इससे आप दिनो दिन धर्म मे द्रढ़ बनती रही अपने प्रतिक्रमणा थोकडे बोल चाल का काफो अध्ययन किया और अत्यंत श्रद्धावान श्राविका बनगइ आप कई प्रकार की नित्य तपश्चर्या करती रहती है सादा जीवन शांत स्वभाव आपका खास गुणहै पुण्य व सामाजिक कार्यों मे अग्रणी रहती है। महिलाओ मे धर्मध्यान बोल चाल सीखाने का प्रयत्नशील रहती है शेठ श्री कानुगाजी समाज के उत्थान के कार्यमे सदैव भाग लेतेरहते है श्रीधीगडमलजी सिवाना श्रीवर्द्धमान स्थानकवासी श्रावक संघ के कोषाध्यक्ष पद पर सुशोभित हैं और समाज की सेवा कर रहे है मैं आपसे अनुरोध करता हूँ की आगे भी इसी प्रकार सामाजिक कार्यों मे भागलेते रहेगें और आप शाखोद्धार समिती के आद्यमुरब्बी है आप जहाँ भी दान पुण्य का कार्य आता है अगवानी रहते हैं—

निवेदेक

मुलतानमल राँका

सिवाना

मन्त्री श्री अमरजैन शोध संस्थान सिवाना

## સ્વાધ્યાય માટે ખાસ સૂચના

- (૧) આ સૂત્રના મૂલપાઠનો સ્વાધ્યાય દિવસ અને રાત્રિના પ્રથમ પ્રહરે તથા ચોથા પ્રહરે કરાય છે.
- (૨) પ્રાતઃઉષાકાળ, સન્ધ્યાકાળ, મધ્યાહ્ન, અને મધ્યરાત્રિમાં બે-બે ઘડી (૪૮ મિનિટ) વંચાય નહીં, સૂર્યોદયથી પહેલાં ૨૪ મિનિટ અને સૂર્યોદયથી પછી ૨૪ મિનિટ એમ બે ઘડી સર્વત્ર સમજવું.
- (૩) માસિક ધર્મવાળાં સ્ત્રીથી વંચાય નહીં તેમજ તેની સામે પણ વંચાય નહીં. જ્યાં આ સ્ત્રીઓ ન હોય તે ઓરડામાં બેસીને વાંચી શકાય.
- (૪) નીચે લખેલા ૩૨ અસ્વાધ્યાય પ્રસંગે વંચાય નહીં.
  - (૧) આકાશ સંબંધી ૧૦ અસ્વાધ્યાય કાલ.
    - (૧) ઉલ્કાપાત—મોટા તારા ખરે ત્યારે ૧ પ્રહર (ત્રણ કલાક સ્વાધ્યાય ન થાય.)
    - (૨) દિગ્દાહ—કોઈ દિશામાં અતિશય લાલવર્ણ હોય અથવા કોઈ દિશામાં મોટી આગ લગી હોય તો સ્વાધ્યાય ન થાય.
    - (૩) ગર્જરવ—વાદળાંનો ભયંકર ગર્જરવ સંભળાય. ગાજવીજ ઘણી જણાય તો ૨ પ્રહર ( ૯ કલાક) સ્વાધ્યાય ન થાય.
    - (૪) નિર્ધાત—આકાશમાં કોઈ વ્યંતરાદિ દેવકૃત ઘોરગર્જના થઈ હોય, અથવા વાદળો સાથે વીજળીના કડાકા બોલે ત્યારે આઠ પ્રહર સુધી સ્વાધ્યાય ન થાય.
    - (૫) વિદ્યુત—વિજળી ચમકવા પર એક પ્રહર સ્વાધ્યાય ન થા.
    - (૬) યૂપક—શુક્લપક્ષની એકમ, બીજ અને ત્રીજના દિવસે સંધ્યાની પ્રભા અને ચંદ્રપ્રભા મળે તો તેને યૂપક કહેવાય. આ પ્રમાણે યૂપક હોય ત્યારે રાત્રિમાં પ્રથમા ૧ પ્રહર સ્વાધ્યાય ન કરવો.
    - (૭) યક્ષાદીપ્ત—કોઈ દિશામાં વીજળી ચમકવા જેવો જે પ્રકાશ થાય તેને યક્ષાદીપ્ત કહેવાય. ત્યારે સ્વાધ્યાય ન કરવો.
    - (૮) દ્યુમિક કૃષ્ણ—કારતકથી મહા માસ સુધી ધૂમાડાના રંગની જે સૂક્ષ્મ જલ જેવી ધૂમ્મસ પડે છે તેને ધૂમિકાકૃષ્ણ કહેવાય છે. તેવી ધૂમ્મસ હોય ત્યારે સ્વાધ્યાય ન કરવો.
    - (૯) મહિકાશ્વેત—શીતકાળમાં શ્વેતવર્ણવાળી સૂક્ષ્મ જલરૂપી જે ધુમ્મસ પડે છે. તે મહિકાશ્વેત છે ત્યારે સ્વાધ્યાય ન કરવો.
    - (૧૦) રજઉદ્ઘાત—ચારે દિશામાં પવનથી બહુ ધૂળ ઉડે. અને સૂર્ય ઢંકાઈ જાય. તે રજઉદ્ઘાત કહેવાય. ત્યારે સ્વાધ્યાય ન કરવો.



(૨) ઔદારિક શરીર સંબંધી ૧૦ અસ્વાધ્યાય

(૧૧-૧૨-૧૩) હાડકાં-માંસ અને રૂધિર આ ત્રણ વસ્તુ અગ્નિથી સર્વથા બળી ન જાય, પાણીથી ધોવાઈ ન જાય અને સામે દેખાય તો ત્યારે સ્વાધ્યાય ન કરવો. ફૂટેલું ઈંડુ હોય તો અસ્વાધ્યાય.

(૧૪) મળ-મૂત્ર—સામે દેખાય, તેની દુર્ગન્ધ આવે ત્યાં સુધી અસ્વાધ્યાય.

(૧૫) સ્મશાન—આ ભૂમિની ચારે બાજુ ૧૦૦/૧૦૦ હાથ અસ્વાધ્યાય.

(૧૬) ચંદ્રગ્રહણ—જ્યારે ચંદ્રગ્રહણ થાય ત્યારે જઘન્યથી ૮ મુહૂર્ત અને ઉત્કૃષ્ટથી ૧૨ મુહૂર્ત અસ્વાધ્યાય જાણવો.

(૧૭) સૂર્યગ્રહણ—જ્યારે સૂર્યગ્રહણ થાય ત્યારે જઘન્યથી ૧૨ મુહૂર્ત અને ઉત્કૃષ્ટથી ૧૬ મુહૂર્ત અસ્વાધ્યાય જાણવો.

(૧૮) રાજવ્યુદ્ગત—નજીકની ભૂમિમાં રાજાઓની પરસ્પર લડાઈ થતી હોય ત્યારે, તથા લડાઈ શાન્ત થયા પછી ૧ દિવસ-રાત સુધી સ્વાધ્યાય ન કરવો.

(૧૯) પતન—કોઈ મોટા રાજાનું અથવા રાષ્ટ્રપુરુષનું મૃત્યુ થાય તો તેનો અગ્નિસંસ્કાર ન થાય ત્યાં સુધી સ્વાધ્યાય કરવો નહીં તથા નવાની નિમણુંક ન થાય ત્યાં સુધી ઊંચા અવાજે સ્વાધ્યાય ન કરવો.

(૨૦) ઔદારિક શરીર—ઉપાશ્રયની અંદર અથવા ૧૦૦-૧૦૦ હાથ સુધી ભૂમિ ઉપર બહાર પંચેન્દ્રિયજીવનું મૃતશરીર પડ્યું હોય તો તે નિર્જીવ શરીર હોય ત્યાં સુધી સ્વાધ્યાય ન કરવો.

(૨૧થી ૨૮) ચારે મહોત્સવ અને ચાર પ્રતિપદા—આષાઢ પૂર્ણિમા, (ભૂતમહોત્સવ), આસો પૂર્ણિમા (ઈન્દ્ર મહોત્સવ), કાર્તિક પૂર્ણિમા (સ્કંધ મહોત્સવ), ચૈત્ર પૂર્ણિમા (યક્ષમહોત્સવ, આ ચાર મહોત્સવની પૂર્ણિમાઓ તથા તે ચાર પછીની કૃષ્ણપક્ષની ચાર પ્રતિપદા (એકમ) એમ આઠ દિવસ સ્વાધ્યાય ન કરવો.

(૨૯થી ૩૦) પ્રાતઃકાલે અને સન્ધ્યાકાળે દિશાઓ લાલકલરની રહે ત્યાં સુધી અર્થાત્ સૂર્યોદય અને સૂર્યાસ્તની પૂર્વે અને પછી એક-એક ઘડી સ્વાધ્યાય ન કરવો.

(૩૧થી ૩૨) મધ્ય દિવસ અને મધ્ય રાત્રિએ આગળ-પાછળ એક-એક ઘડી એમ બે ઘડી સ્વાધ્યાય ન કરવો.

ઉપરોક્ત અસ્વાધ્યાય માટેના નિયમો મૂલપાઠના અસ્વાધ્યાય માટે છે. ગુજરાતી આદિ ભાષાંતર માટે આ નિયમો નથી. વિનય એ જ ધર્મનું મૂલ છે. તેથી આવા આવા વિકટ પ્રસંગોમાં ગુરુની અથવા વડીલની ઈચ્છાને આજ્ઞાને જ વધારે અનુસરવાનો ભાવ રાખવો.

# स्वाध्याय के प्रमुख नियम

- (१) इस सूत्र के मूल पाठ का स्वाध्याय दिन और रात्री के प्रथम प्रहर तथा चौथे प्रहर में किया जाता है ।
- (२) प्रातः ऊषा-काल, सन्ध्याकाल, मध्याह्न और मध्य रात्री में दो-दो घड़ी (४८ मिनट) स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, सूर्योदय से पहले २४ मिनट और सूर्योदय के बाद २४ मिनट, इस प्रकार दो घड़ी सभी जगह समझना चाहिए ।
- (३) मासिक धर्मवाली स्त्रियों को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार उनके सामने बैठकर भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, जहाँ ये स्त्रियाँ न हों उस स्थान या कक्ष में बैठकर स्वाध्याय किया जा सकता है ।
- (४) नीचे लिखे हुए ३२ अस्वाध्याय-प्रसंगों में वाँचना नहीं चाहिए—

(१) आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्यायकाल

- (१) **उल्कापात**—बड़ा तारा टूटे उस समय १ प्रहर (तीन घण्टे) तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (२) **दिग्दाह**—किसी दिशा में अधिक लाल रंग हो अथवा किसी दिशा में आग लगी हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (३) **गर्जांश्व**—बादलों की भयंकर गडगडाहट की आवाज सुनाई देती हो, बिजली अधिक होती हो तो २ प्रहर (छ घण्टे) तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (४) **निर्घात**—आकाश में कोई व्यन्तरादि देवकृत घोर गर्जना हुई हो अथवा बादलों के साथ बिजली के कडाके की आवाज हो तब आठ प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (५) **विद्युत्**—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (६) **यूपक**—शुक्ल-पक्ष की प्रथमा, द्वितीया और तृतीया के दिनों में सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा का मिलान हो तो उसे यूपक कहा जाता है । इस प्रकार यूपक हो उस समय रात्री में प्रथमा १ प्रहर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (७) **यक्षादीप्त**—यदि किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा प्रकाश हो तो उसे यक्षादीप्त कहते हैं, उस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (८) **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से माघ मास तक धूँए के रंग की तरह सूक्ष्म जल के जैसी धूमस (कोहरा) पड़ता है उसे धूमिका कृष्ण कहा जाता है इस प्रकार की धूमस हो उस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

- (९) **महिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्णवाली सूक्ष्म जलरूपी जो धूमस पड़ती है वह महिकाश्वेत कहलाती है, उस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (१०) **रजोद्घात**—चारों दिशाओं में तेज हवा के साथ बहुत धूल उड़ती हो और सूर्य ढँक गया हो तो रजोद्घात कहलाता है, उस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

(२) ऐतिहासिक शरीर सम्बन्धी १० अस्वाध्याय—

- (११,१२,१३) हाड-मांस और रुधिर ये तीन वस्तुएँ जब-तक अग्नि से सर्वथा जल न जाएँ, पानी से धुल न जाएँ और यदि सामने दिखाई दें तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए । फूट हुआ अण्डा भी हो तो भी अस्वाध्याय होता है ।
- (१४) **मल-मूत्र**—सामने दिखाई हेता हो, उसकी दुर्गन्ध आती हो तब-तक अस्वाध्याय होता है ।
- (१५) **श्मशान**—इस भूमि के चारों तरफ १००-१०० हाथ तक अस्वाध्याय होता है ।
- (१६) **चन्द्रग्रहण**—जब चन्द्रग्रहण होता है तब जघन्य से ८ मुहूर्त और उत्कृष्ट से १२ मुहूर्त तक अस्वाध्याय समझना चाहिए ।
- (१७) **सूर्यग्रहण**—जब सूर्यग्रहण हो तब जघन्य से १२ मुहूर्त और उत्कृष्ट से १६ मुहूर्त तक अस्वाध्याय समझना चाहिए ।
- (१८) **राजव्युद्गत**—नजदीक की भूमि पर राजाओं की परस्पर लड़ाई चलती हो, उस समय तथा लड़ाई शान्त होने के बाद एक दिन-रात तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (१९) **पतन**—कोई बड़े राजा का अथवा राष्ट्रपुरुष का देहान्त हुआ हो तो अग्निसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए तथा उसके स्थान पर जब तक दूसरे व्यक्ति की नई नियुक्ति न हो तब तक ऊंची आवाज में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (२०) **औदारिक शरीर**—उपाश्रय के अन्दर अथवा १००-१०० हाथ तक भूमि पर उपाश्रय के बाहर भी पञ्चेन्द्रिय जीव का मृत शरीर पड़ा हो तो जब तक वह निर्जीव शरीर वहाँ पड़ा रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।
- (२१ से २८) **चार महोत्सव और चार प्रतिपदा**—आषाढी पूर्णिमा (भूत महोत्सव), आसो पूर्णिमा (इन्द्रिय महोत्सव), कार्तिक पूर्णिमा (स्कन्ध महोत्सव), चैत्र पूर्णिमा (यक्ष महोत्सव) इन चार महोत्सवों की पूर्णिमाओं तथा उससे पीछे की चार, कृष्ण पक्ष की चार प्रतिपदा (ऐकम) इस प्रकार आठ दिनों तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

(२९ से ३०) प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में दिशाएँ लाल रंग की दिखाई दें तब तक अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त के पहले और बाद में एक-एक घड़ी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

(३१ से ३२) मध्य दिवस और मध्य रात्री के आगे-पीछे एक-एक घड़ी इस प्रकार दो घड़ी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

उपरोक्त अस्वाध्याय सम्बन्धी नियम मूल पाठ के अस्वाध्याय हेतु हैं, गुजराती आदि भाषान्तर हेतु ये नियम नहीं है । विनय ही धर्म का मूल है तथा ऐसे विकट प्रसंगों में गुरु की अथवा बड़ों की इच्छा एवं आज्ञाओं का अधिक पालन करने का भाव रखना चाहिए ।

# श्री दशवैकालिक सूत्रकी विषयानुक्रमणिका

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
	प्रथम अध्ययन	
१	मङ्गलाचरण धर्ममहिमा—	१-४
२	अहिंसा का स्वरूप—	५-८
३	संयमका स्वरूप एवं मुखवल्त्रिका संबन्धि विचार	९-५१
४	तपके भेदों का निरूपण	५२-६४
५	गोचरी विधिमें भ्रमर का दृष्टान्त	६५-७६
६	भिक्षागृहणवैषयक शिष्यकी प्रतिज्ञा	७७-७८
७	साधुओं का स्वरूप कथन—	७९-८१
	दूसरा अध्ययन	
८	श्रामण्य में अधिकारी का लक्षण—	८२-८६
९	त्यागी का स्वरूप कथन—	८७-८८
१०	कामरागके दोषों का विचार—	८९
११	कामराग निवारण का उपाय—	१०६
१२	छोड़े हुए भोगोंका पुनः, अंगीकार करनेमें सर्पका दृष्टान्त—	१०७-११२
१३	राजीमती के द्वारा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ रथनेमी का संयममें स्थिर- भाव रहने से पुरुषोत्तमत्व की सिद्धि—	११३-११६
	तीसरा अध्ययन	
१४	मुनियों के आचार का निरूपण में महर्षियों के स्वरूपनिरूपण—	११७-१२१
१५	(५२) अनाचीर्ण	१२२-१२८
१६	शय्यातर विचार—	१२९-१३०
१७	वसति याचन विधि—	१३१-१३२
१८	शय्यातर के घरमें कल्प्यकल्प्य की विधि—	१३३-१३८
१९	(५२) अनाचीर्ण—	१३९-१४४
२०	अनाचीर्ण त्यागी मुनिकास्वरूप—	१४५-१४६
२१	उपसंहार अध्ययन समाप्ति—	१४७-१५०
	चतुर्थ अध्ययन	

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
२२	प्रवचन संबन्धी आत्मीपदेश—	१५१—१५२
२३	भगवत् शब्द का अर्थ तथा षट् जीवनिकाय का स्वरूप	१५३—१७५
२४	षट् जीवनिकाय के दण्ड परित्याग का उपदेश	१७६—१८५
२५	प्राणातिपातादि पंचअप्रत एवं रात्री भोजन विरमण	१८६—२०४
२६	शिष्य का महाव्रत स्वीकार	२०५—
२७	पृथ्वीकायादि षट्काययतना का स्वरूप कथन	२०६—२२७
२८	अयतना से दुःख फल प्राप्ति का कथन एवं यतनावान को पापबन्धन- न होने का कथन	२२८—२३४
२९	ज्ञान प्राप्ति का उपाय	२३५
३०	संयमज्ञ का परिचय	२३६—२३७
३१	पुण्य का स्वरूप एवं जीवों के कर्मबन्ध के स्वरूप कथन	२३८—२५४
३२	मोक्ष का स्वरूप	२५५—२६२
३३	पुण्यादि ज्ञानसे भोग का विचार	२६३—२६४
३४	भोग के विचार से संयोगादि का त्याग एवं संवरधर्म तथा शुक्ल ध्यान व लोकस्वरूपका कथन	२६५—२६८
३५	शैश्वशीकरण का स्वरूप तथा अयोगी ध्यान की सिद्धि और स्विद्धों के उर्ध्व स्वरूपगमन का कथन	२६९—२८८
३६	सुगति धर्म फल किस को दुर्लभ एवं किस को सुलभ है उसका कथन	२८९—२९०
३७	चास्त्र का महत्व एवं अध्ययन का उपसंहार	२९१—२९३

### पांचवां अध्ययन

३८	पांचवां अध्ययन की अवतरणिका	२९४—२८५
३९	भक्तपान गवेषण की विधि	२९६
४०	गोचरी में चित्त की स्थिरता का उपदेश	२९७—२९८
४१	गोचरी गमन की विधि	२९९—३००
४२	विषममार्गसे जाने में संयमविराधनाका संभव	३०१—३०२
४३	गमनमें पृथ्वीकायकी यतना रखने का विचार	३०२—
४४	अपूकायादिकी यतनाका विचार	३०३—
४५	चतुर्थ महाव्रत-ब्रह्मचर्य यतनाका विचार	३०४—३०६

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
४६	मार्ग गमन में यतनाका विचार	३०७-३०८
४७	गोचरीमें कायचेष्टा का विचार	३०९-३१३
४८	गोचरीमें कुल (गृह) प्रवेशविधि का विचार	३१४-३१७
४९	भिक्षा के लिये स्थितमुनिकी कायचेष्टा का विचार	३१८-३१९
५०	गृहस्थके घर स्थित रहनेका विचार	३२०-३२२
५१	पाकादिकार्यमें स्त्रीकी उपस्थितिका विचार	३२३
५२	संहरणमें चतुर्भङ्गीका विचार	३२४-३३०
५३	पुरः कर्मका कथन	३३१-३३४
५४	पश्चात्कर्मका कथन	३३५-३३७
५५	आहार गृहणमें विवेक विचार	३३८-३४३
५६	शंकित-मुद्रित आहार गृहणका निषेध	३४४
५७	दानादि के लिये या पुण्यके लिये उपकल्पित आहार गृहणका निषेध	३४५-३५१
५८	औद्देशिक क्रीतकृतादि आहारका विचार	३५२-३५६
५९	निःशङ्कित आहार गृहणकी आज्ञा	३५७-३५८
६०	तेजोविराधनामें आहार गृहणका निषेध	३५९-६६१
६१	दुर्गममार्ग में गमन का निषेध	३६२-३६३
६२	मालाहृत भिक्षाका निषेध	३६४-३६६
६३	आहार गृहण विवेक विचार	३६७-३६८
६४	त्याज्य फलों के नामोल्लेख	३६९-३७०
६५	पान गृहण विधि	३७१-३७७
६६	कारणोपस्थितिमें गोचरीमें आहारविधि	३७८-३८१
६७	आहारमें आये बीजादिका परिठवनकी विधि	३८२
६८	उपाश्रय में आकरही आहार करने का कथन	३८३-३८४
६९	गोचरीमें अतिचारोंकी आलोचनविधि	३८५
७०	कायोत्सर्गमें चिन्तनप्रकार	३८६-३८७
७१	अन्यमुनियोंको आहार गृहणके लिये प्रार्थनाका विचार	३८८-३९०
७२	आहार का उपभोगकी विधि	३९१-३९४

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठ
७३	मुधा दाता एवं मुधा उपभोक्ताका मोक्षगमन का कथन पांचवें अध्ययन का दूसरा उद्देश	३९४-३९५
७४	अपर्याप्त आहार होने पर पुनर्गोचरी गमन की विधि	३९६-३९९
७५	समय की मर्यादानुसार गोचरी गमन का कथन	४००-४०१
७६	गोचरी में क्षेत्र यतना का कथन	४०२-४०३
७७	भिक्षाके लिये गृहप्रवेश विधि	४०३-४०६
७८	पुष्प संस्पर्शहस्तसे भिक्षालेनेका निषेध	४०७-४०८
७९	सचित्त हरितकाय गृहणका निषेध	४०९
८०	सचित्त आहार पान लेनेका निषेध	४१०-४११
८१	भिक्षाचरणमें विवेकशील होने का कथन	४१२-४१८
८२	भिक्षामें चोरी का निषेध एवं चोरी के दोष	४१९-४२२
८३	मद्यपान का निषेध	४२३-४२४
८४	मद्य सेवन करनेवाले के दोषका कथन	४२५-४२९
८५	मद्यपान के दोषोंका त्याग करनेवालेका गुण कथन	४३०-४३२
८६	तपचोर के दोष कथन	४३३-४३५
८७	तपचोर को अनिष्ट फल प्राप्तिका कथन	४३६-४३७
८८	उपसंहार	४३८-४४०

समाप्त



॥ श्रीबीतरागाय नमः ॥



जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य श्रीघासीलालव्रतिविरचितया

आचारमणिमञ्जूषारख्यया व्याख्यया समलङ्कृतं

## श्रीदशवैकालिकसूत्रम्

卐

मङ्गलाचरणम्.

नम्री भूतपुरन्दरादिमुकुट, भ्राजन्मणिच्छायया,  
चित्रानन्दकरी सदा भगवतो, यस्याङ्घ्रिलक्ष्मीः परा ।  
यद्विज्ञाननिस्तमिन्धुलहरी, मग्नाः स्वकर्मक्षयं,  
कृत्वाऽनन्तसुखस्य धाम भविनः, प्रापुः श्रये तं जिनम् ॥१॥  
विमलः केवलाऽऽलोक, -प्रभासंभारभोसुरः ।  
त्रिजगन्मुकरो धीरो, वीरो विजयतेतराम् ॥२॥  
श्रीसुधर्मा महावीर-लब्धरत्नोज्ज्वलो गणी ।  
निबबन्ध तदुक्तार्थं, नमस्तस्मै दयालवे ॥३॥  
अथैतत्करुणालब्ध, -विवेकामृतबिन्दुना ।  
दशवैकालिकव्याख्या, घासीलालेन तन्यते ॥४॥

अथ प्रथममध्यनयम्

मूलम्-धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो ॥१॥

छाया-धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टम्, अहिंसा संयमस्तपः ।

देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥१॥

सान्वयार्थः—अहिंसा=प्राणव्यपरोपणका त्याग करने तथा जीवोंकी रक्षा करनेरूप अहिंसा संजमो=संयम और तपो=तप ( यह ) धम्मो=धर्म उत्कृष्टं=उत्कृष्ट—सबसे श्रेष्ठ मंगलं=मङ्गल है—कल्याणकारी है । जस्स=जिसका मणो=मन सया=सदा—हमेशां धम्मो =धर्म में ( लगा रहता है ) तं=उसको देवावि=देवताभी नमंसंति=नमस्कार करते हैं, अर्थात् निरन्तर धर्ममें लीन प्राणी देवोंद्वारा भी पूज्य हो जाते हैं ॥१॥

टीका—‘धम्मो मंगल’—मित्यादि । धर्मः=धरति=प्राणीनो दुर्गतौ पतनाद् रक्षति शुभे स्थाने च स्थापयति यः स तथोक्तः । उक्तञ्च—

“दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुनः ।

धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥” इति ।

उत्कृष्टम्=उत्तमं, मङ्गलं=मङ्गलस्वरूपम्, कस्तादृशो धर्मः ? इत्यत आह—अहिंसा संयमस्तप इति । तत्राऽहिंसा नाम हिंसावर्जनं प्राणिप्राणरक्षणं तदिच्छा चेति । न हिंसा—अहिंसेति विग्रहे अहिंसाया अभावरूपत्वेनाऽवस्तुतया किमपि कार्यं प्रति कारण-

## हिन्दी-भाषानुवाद.

धम्मो मंगल मित्यादि । जो नरक आदिमें गीरते हुए प्राणियोंको बचावे और स्वर्ग—मोक्ष आदि शुभस्थानोंमें पहुंचावे उसे धर्म कहते हैं ।

कहा भी है—“दुर्गतिमें पड़ते हुए जीवोंकी रक्षा करता है और फिर उन्हें शुभगतिमें पहुंचाता है, इसीसे वह धर्म कहलाता है ” ॥ अर्थात् जो दुःखोंसे छुड़ाकर प्राणियोंको अनन्त सुखकी प्राप्ति कराता है वही धर्म है ।

धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है । अहिंसा, संयम और तप, ये तीनों उसके लक्षण हैं ।

अहिंसा—हिंसाका त्याग करना अर्थात् प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करना और उनके प्राणों के रक्षण की इच्छा रखना अहिंसा है । हिंसा के अभाव को अहिंसा कहा जाय

## गुजराती-भाषानुवाद.

‘धम्मो मंगल’ धित्यादि. जे नरक आदि दुर्गतिमां पडता प्राणीयोने भयावे अने स्वर्ग मोक्ष आदि शुभ स्थानोमां पहुँचावे तेने धर्म कहे छे.

कथुं पय्यु छे के—“दुर्गतिमां पडता लोकोनी रक्षा करे छे अने पछी तेमने शुभ गतिमां पहुँचावे छे, तेथी ते धर्म कहेवाय छे.” अर्थात् दुःखोथी छोडावीने प्राणीयोने अनन्त सुखनी प्राप्ति जे करावे छे, ते धर्म छे.

धर्म उत्कृष्ट मंगल छे, अहिंसा, संयम अने तप, जे त्रयु तेनां लक्षणो छे.

अहिंसा—हिंसानो त्याग करवे अर्थात् प्राणीयोना प्राणीनी रक्षा करवी अने तेमना प्राणीनी रक्षा करवानी इच्छा राखवी जे अहिंसा छे. हिंसाना अभावने अहिंसा कहेवामां

त्वाऽनापत्तिरतोऽहिंसाऽपि भावरूपैव, तेन प्राणरक्षणमप्यहिंसाशब्दार्थः सिध्यति । ये तु स्वतः परतो वा प्राणिप्राणरक्षणमहिंसेति न मन्यन्ते ते तु अहिंसाशब्दरहस्यानभिज्ञा एवेति बोध्यम् ।

उक्तं हि भगवता प्रश्नव्याकरणे प्रथमसंवरद्वारे—

“ इमं च णं सव्वजीवरक्खणदयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं ” इत्यादि । सकलजीवानां रक्षणं प्राणव्यपरोपणवारणं प्राणरक्षणोपयोगी व्यापार इति यावत् तदर्थं, दया=परदुःखप्रहाणेच्छा तदर्थं चेदं प्रवचनं भगवता सुकथितमित्यर्थः,

उक्तञ्च दयाशब्दार्थो वाचस्पत्याभिधाने—

“यत्नादपि परक्लेशं, हर्तुं या हृदि जायते ।

इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता ॥१॥ ” इति ।

तस्मात् सर्वप्राणिनां रक्षणं रक्षणेच्छा चेति द्वयमेवाहिंसातत्त्वं सकलधर्ममूलकचेति ।

उक्तञ्च संस्तारकप्रकीर्णकटीकायाम्—

तो अहिंसा अभावरूप हो जायगो । अभाव किसी कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकता, इस कारण अहिंसा से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, अतएव अहिंसा को भावरूप (वस्तुरूप) मानना उचित है, और जब कि वह वस्तुरूप है तो प्राणों की रक्षा करना अहिंसाशब्द का अर्थ सिद्ध हुआ । जो जीवों की रक्षा करने कराने को अहिंसा नहीं मानते वे अहिंसा के यथार्थ तत्त्वको नहीं जानते ।

भगवानने प्रश्नव्याकरणके प्रथम संवरद्वार में कहा है—“समस्त जीवों की रक्षा (मरते हुएको, अपने या दूसरोंके द्वारा बचाना) और दया (दुःखोंसे छुड़ानेकी इच्छा) के लिए इस प्रवचन का उपदेश दिया है ”।

वाचस्पत्य महाकोशमें कहा भी है—“हे भूमिसुरश्रेष्ठ ! प्रयत्नसे पर प्राणियोंके क्लेशको निवारण करनेके लिए हृदयमें जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे दया कहते हैं ” ॥१॥

आवे तो अहिंसा अभाव-रूप थई जशे. अभाव कैअं कायने प्रति कारण थई शकतुं नथी, तेथी करीने अहिंसाथी स्वर्ग मोक्षनी प्राप्ति नहिं थाय. अटवे अहिंसाने लावइय (वस्तुइय) मानवी ज उचित छे. अने जे ते वस्तुइय छे, ते प्राणोनी रक्षा करवी अवे. अहिंसा शब्दने अर्थ सिद्ध थयो. जेओओ वेनी रक्षा करवी-कराववी अने अहिंसा नथी मानता तेओ अहिंसाना यथार्थ तत्त्वने नजुता नथी.

लगवाने प्रश्नव्याकरणना प्रथम संवरद्वारमां कहुं छे के- “अधा ओवेनी रक्षा (मरता ओवेने पोते अथवा भीनओ द्वारा अभाववा) अने दया (दुःखी छोडाववानी इच्छा)ने माटे आ प्रवचनने उपदेश आये छे. ”

वाचस्पत्य महाकोशमां पणु कहुं छे के-“ हे भूमिसुरश्रेष्ठ ! प्रयत्न वडे पर प्राणीओना क्लेशतुं निवारणु करवाने माटे हृदयमां जे इच्छा उत्पन्न थाय छे तेने दया कहे छे. ” ॥१॥

“न तद्दानं न तद्ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः ।

न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥१॥ इति ।

तथा—“मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं ।

सिद्धं जिणिदसमए, मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥१॥” इति धर्मरत्नप्रकरणे ।  
भगवतीसूत्रेऽपि पञ्चदशे शतके प्रोक्तम्—

“तए णं अहं गोयमा ? गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणा तेयलेस्सा पडिहया” इति ।

हे गौतम ! मङ्गलिपुत्रस्य गोशालकस्यानुकम्पनार्थं बालतपस्विनो वैश्यायनस्य तेजःप्रतिसंहरणार्थं च मया शीतलां तेजोलेश्यामुद्भाव्य तदीयोष्णा तेजोलेश्या प्रति-  
हतेत्यर्थः तत्र ‘अणुकंपणट्ठयाए’ ‘तेयपडिसाहरणट्ठयाए’ इति पदद्वयेन गोशालकरक्षणार्थं  
भगवतस्तेजोलेश्यासमुद्भव इति स्पष्टो भवति ।

संथारगपइन्नाकी टीकामें कहा है—“वह दान दान नहीं, वह ध्यान ध्यान नहीं, वह ज्ञान ज्ञान नहीं, वह तप तप नहीं, वह दीक्षा दीक्षा नहीं और वह भिक्षा भिक्षा नहीं, जहाँ कि दया नहीं है । अर्थात् दयारहित सब क्रियाएँ मिथ्या यानी निष्फल हैं” ॥ २ ॥

धर्मरत्नप्रकरणमें भी कहा है—“धर्मका मूल दया है, दयापूर्वक की हुई समस्त क्रियाएँ मफल होती हैं, इसलिए जिनेन्द्रके मार्गमें दयावान् ही धर्मका अधिकारि हो सकता है” ॥ ३ ॥

उक्त कथनसे यह स्पष्ट हो गया कि मरते हुए प्राणीको बचाना भी अहिंसा है ।

भगवतीसूत्रके पन्द्रहवें शतकमें भगवान् श्रीगौतमसे कहते हैं—

“हे गौतम ! मङ्गलिपुत्र गोशालककी अनुकम्पा करनेके लिए मैंने शीतल तेजोलेश्यासे बाल-  
तपस्वी वैश्यायनके द्वारा निकाली हुई उष्ण तेजोलेश्याका तेज शान्त करके उसे बचाया” ।

यहां यह संदेह हो सकता है कि यदि बचाने में धर्म होता तो भगवान्ने अपने समवसरणमें स्थित सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक शिष्यों को क्यों न बचाया ?

संथारगपइन्नानी टीकाभां कल्लुं छे के— “अे दान दान नथी, अे ध्यान ध्यान नथी, अे ज्ञान ज्ञान नथी, अे तप तप नथी, अे दीक्षा दीक्षा नथी, अने अे लिक्षा लिक्षा नथी के अयां दया नथी; अर्थात् दयारहित अधी क्रियाओ मिथ्या अेटले निष्फल छे ।” ॥ २ ॥

धर्मरत्नप्रकरणभां पणु कल्लुं छे के—“ धर्मनुं मूल दया छे; दयापूर्वक करेदी अधी क्रियाओ सक्षण थाय छे, तेथी अनेन्द्रना मार्गभां दयावान् अ धर्मने अधिकारी थर्छ शके छे ।” ॥३॥

उक्त कथनथी अे स्पष्ट थर्छ अयुं के भरता प्राणीने अयाववे अे पणु अहिंसा छे। भगवतीसूत्रना पंद्रमा शतकभां भगवान् श्री गौतमने कहे छे के—“हे गौतम ! बालत-  
पस्वी वैश्यायन द्वारा काठवाभां आवेदी उष्ण तेजोलेश्याना तेजने शीतल तेजोलेश्याथी शांत करीने; भ'अलिपुत्र गोशालकनी उपर दया करवा माटे मे' तेने अयाववे ।”

न च रक्षणं यदि धर्मस्तर्हि स्वसमवसरणे वर्तमानौ सर्वानुभूतिसुनक्षत्रनामानौ शिष्यौ किं न भगवता रक्षितौ ? इति वाच्यम्, भगवतः सर्वज्ञतया तयोरायुःसमाप्ति-सन्दर्शनात् । ननु यथा समाप्तायुषं कोऽपि नैव रक्षितुं प्रभवति तथा विद्यमानायुषं न कोऽपि हन्तुं शक्नुयात् ? इति चेन्न, त्रिषष्टिशलाकापुरुषान् देवान् नारकांश्च विहायान्येषां प्राणिनामायुषः सत्त्वेऽपि विषशस्त्रादिभिरकालमरणसंभवात्, ईदृशस्याकालमरणस्य बहुशः शास्त्रे प्रतिपादितत्वाच्च, अत एवाऽऽयुषः सत्त्वेऽपि प्राणिनां प्राणव्यपरोपणं संभवतीति ग्रन्थविस्तरभिया विरमामः । एवञ्चाहिंसाशब्दस्योक्तार्थः सुस्पष्ट एव ।

इसका समाधान यह है कि—भगवान् सर्वज्ञ थे, इसलिए किसका आयुष्य कितना अवशेष है या समाप्त हो चुका है इसे वे अपने निर्मल केवल ज्ञानसे जानते थे । सर्वानुभूति और सुनक्षत्र शिष्योंका वर्तमान आयुष्य समाप्त हो चुका था ।

प्रश्न—जैसे वर्तमान आयुष्य समाप्त होने पर कोई किसीको बचा नहीं सकता वैसे ही आयुष्य रहते हुए कोई किसीको प्राणरहित भी नहीं कर सकता ?

उत्तर—ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है । क्योंकि त्रिषष्टिशलाकापुरुष, देवता और नारकोंके सिवाय समस्त प्राणियोंकी आयु रहते हुए भी विष शस्त्र आदि कारणोंसे अकालमृत्यु भी हो सकती है, यह बात शास्त्रसिद्ध है, अत एव आयुष्यके सद्भावमें भी प्राणोंका व्यपरोपण हो सकता है । विस्तार भयसे इस प्रकरणको यहाँ ही समाप्त करते हैं ।

प्राणिप्राणरक्षण और उसकी इच्छाको अहिंसा कहते हैं । यह सिद्धान्त हुआ ।

अहीं ओवो संहैड थर् शकै छे के—जे अयाववाभां धर्मं थाय छे तो लगवाने पोताना समवसरणुभां रहैला सर्वानुभूति अने सुनक्षत्र नामना शिष्येने केम न अयाव्या ?

येनुं समाधान ये छे के—लगवान् सर्वज्ञ हुता, तेथी केनुं आयुष्य केटहुं अवशेष रह्युं छे अथवा समाप्त थर् यूक्युं छे ते लगवान् पोताना निर्माण केवण ज्ञानथी ज्ञाणुता हुता. सर्वानुभूति अने सुनक्षत्र शिष्येनुं वर्तमान आयुष्य समाप्त थर् यूक्युं हुतुं.

प्रश्न—जेम वर्तमान आयुष्य समाप्त थनाथी केछि केछिने अयावी शक्तुं नथी; तेमज आयुष्य भाकी होय तो केछि केछिने प्राणुरहित पणु करी शक्तुं नथी.

उत्तर—येवी शंका करवी ज उचित नथी, केमके त्रिषष्टिशलाकापुरुष, देवता अने नारकीओ सिवाय भीज अथा प्राणुओनुं आयुष्य भाकी होय तो पणु विष, शस्त्र, आदि कारणुथी तेमनुं अकालमृत्यु पणु थर् शकै छे. ये वात शास्त्रसिद्ध छे. येटवे आयुष्येने सहभाव होवा छतां पणु प्राणुनुं व्यपरोपणु थर् शकै छे.

वधारे विस्तार नहि करवाना हेतुथीआ प्रकरणेने अहीं ज समाप्त करीये छीये.

प्राणुप्राणुरक्षाणु अने तेनी धम्छाने अहिंसा कहे छे येवो सिद्धान्त थयो.

अथ प्राणिप्राणरक्षणं तदिच्छा चेति द्वयम् 'अहिंसे'-ति सिद्धान्तितम् । अहिंसा-इत्यत्र का नाम हिंसेति चेदुच्यते—

हिंसा नाम प्रमादपारवश्यात् प्राणव्यपरोपणम् । प्रमादश्च मद्य-विषयकषाय-निद्रा-विकथाभेदात्पञ्चधा, यद्वा अज्ञान-संशय-विपर्यय-राग-द्वेष-स्मृतिभ्रंश-योगदुष्प्रणिधान-धर्मानादरभेदादष्टविधः । सा च हिंसा त्रिविधा द्रव्यतो भावत उभयतश्चेति तत्र—

द्रव्यतो हिंसा=आत्मनो विशुद्धपरिणामस्य सत्त्वेऽप्यकस्मादनिच्छया जन्तुविराधनं, यथा-भिक्षाचर्यादौ प्रवृत्तस्य समितिगुप्त्यादिधारकस्य चलनार्थं पादोत्थाने कृते एकेन चरणेन तिष्ठतः साधोरुत्थापितचरणतले तदानीं कुतश्चिद्भयाद् दुर्लक्ष्यकारणवशाद्वा वेगेन समागतस्य कस्यचिद् द्वीन्द्रियादिजन्तोरितस्ततः साधुना तद्रक्षणप्रयासे कृतेऽपि अकस्माच्चरणतलसंप्रतया विराधनम् ।

अहिंसा शब्द घटक जो हिंसा शब्द है उसका अभिप्राय क्या है ? इस पर कहते हैं—प्रमादके वश होकर प्राणका अतिपात करना हिंसा है ।

प्रमाद—(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथाके भेदसे पांच प्रकारका, अथवा (१) अज्ञान, (२) संशय, (३) विपर्यय, (४) राग, (५) द्वेष, (६) स्मृतिभ्रंश, (७) योगदुष्प्रणिधान, (८) धर्मानादर, के भेदसे आठ प्रकारका है ।

हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) द्रव्यहिंसा, (२) भावहिंसा और (३) उभयहिंसा ।

(१) द्रव्यहिंसा—आत्माके परिणाम विशुद्ध होने पर भी अकस्मात् इच्छाके विना ही जन्तुको पीडा हो जाना द्रव्यहिंसा है, जैसे—आहार विहार आदिमें प्रवृत्त समिति और गुप्तिके धारण करनेवाले मुनिने जब एक चरण उठाया तो उठाये हुए चरणके नीचे किसी भयसे या अन्य कारणसे कोई द्वीन्द्रिय आदि लघुकाय जीव अचानक नीचे आ जाय और साधु उनकी रक्षा करनेका प्रयत्न भी कर रहे हों, फिर भी अचानक दब जानेसे विराधना होना । इस

अहिंसा शब्दमां जे हिंसा शब्द छे ज्येना अलिप्राय शुं छे ? आ संधमां कडे छे—प्रमादने वश थधने प्राणनो अतिपात करवे। ते हिंसा छे।

(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा अने (५) विकथा, ज्ये लेहे करीने प्रमाद पांच प्रकारनो छे। अथवा (१) अज्ञान, (२) संशय, (३) विपर्यय, (४) राग (५) द्वेष, (६) स्मृतिभ्रंश, (७) योगदुष्प्रणिधान, (८) धर्मानो अनादर, ज्ये लेहे करीने प्रमाद आठ प्रकारनो छे।

हिंसा त्रय प्रकारनी छेः—(१) द्रव्यहिंसा, (२) भावहिंसा, अने (३) उभयहिंसा।

(१) द्रव्यहिंसा—आत्माना परिणाम विशुद्ध होवा छतां अकस्मात् इच्छा विना जन्तुज्योनी विराधना थध जय ते द्रव्यहिंसा छे। जेभके—आहार विहार आदिमां प्रवृत्त, समिति अने गुप्तिने धारण करवावाणा मुनिज्ये ज्यारे ज्येक पग उपाउथे त्यारे उपाउला पगनी नीचे कंध जयने लीधे अथवा जीव कोर करणथी कोर ज्येन्द्रिय आदि लघुकाय

एवंविधा च हिंसा काययोगस्य चपलतया सर्वथा परिहर्तुमशक्येति व्यवहारन-  
यमात्रगम्या ।

भावतो हिंसा=प्राणव्यपरोपणेच्छालक्षण आत्मनोऽशुद्धपरिणामः, यथा-मकरनाम्नो  
जलजन्तुविशेषस्य भूप्रदेशे लब्धजन्मा तण्डुलदन्तोऽन्तर्मुहूर्त्तार्थयुष्कोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रगर्भनिवा-  
सानन्तरमुत्पादशीलस्तण्डुलाभिधानो मत्स्यविशेषस्तत्र स्थित एवावलोकयति--

मकरोऽयं मत्स्यानशितुं तावत्तुण्डतस्तोयमाकर्षति, ततश्च जलवेगादाननान्तःस-  
मागतेषु प्रचुरतरेषु मीनेषु पश्चात्तानवरुध्याऽऽस्यगतं नीरं निस्सारयति तदा दशाना-  
न्तरावकाशनिर्गतोदकवेगतो बहुतरं मीना लघुतरा निस्सरन्त्येव । एवं बहिर्ब्रजस्ताम्बि-  
रीक्ष्यासौ तण्डुलमत्स्यो मनसि विभावयति--

प्रकारकी हिंसा, शरीरके योगकी चपलताको सर्वथा दूर करना अत्यन्त कठिन होनेके कारण  
व्यवहारनयमात्र है ।

(२) भावहिंसा—प्राणोंसे रहित करनेकी इच्छारूप आत्माका अविशुद्ध परिणाम,  
भावहिंसा कहलाती है ।

जैसे—मगर नामके जलचर-जीव-विशेषकी भोंह पर बारीक चाँवलके समान शरीरवाला  
एक तन्दुल नामका मत्स्य होता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त गर्भमें रहकर जन्म लेता है; उसकी आयु  
अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकी होती है । गर्भज न होनेके कारण उसको मन होता है । वह वहाँ (भोंह  
पर) बैठा हुआ मगरका कृत्य देखता है कि वह मगर जलजन्तुओंको खानेके लिए पहले अपने  
मुँहमें पानीको खींचता है, फिर पानीके वेगसे आईहुई मछलियों को मुँहमें रोककर जब पानीको  
निकालता है तब दाँतोंके छिद्रों द्वारा पानीके साथ-साथ बहुतसो छोटी २ मछलियां निकल  
जाती हैं, तब निकलतो हुई मछलियोंको देखकर तन्दुलमत्स्य विचारता है कि--

एव अयानक पग नीचे आवी जय, अने मुनि ऐनी रक्षा करवानो प्रयत्न पशु करी रक्षा  
डोय, तो पशु अयानक दबाई जवाथी विराधना थाय. आ प्रकारनी हिंसा, शरीरना  
योगनी चपलताने सर्वथा दूर करवी अत्यंत कठिन होवाने कारणे व्यवहारनयमात्र छे.

(२) भावहिंसा—प्राणुथी रहित करवानी इच्छारूप आत्मानुं अविशुद्ध परिणाम  
अे भावहिंसा कहलाय छे.

जैसे—मगर नामना अेक जलचर प्राणुनी लम्बर पर बांधा जेवा बारीक शरीर-  
वाणो अेक तण्डुल नामनो मत्स्य थाय छे. अे मत्स्य अंतर्मुहूर्त्त गर्भमां रक्षीने जन्म ले  
छे. तेनुं आयुष्य अंतर्मुहूर्त्त जेटकुं डोय छे. ते गर्भज एव होवाने लीधे तेने मन थाय  
छे. ते मगरनी लम्बर पर जेठोजेठो मगरनुं कृत्य लुअे छे के आ मगर जलमांनो लुवोने  
भावोने भाटे पडेकां पोताना भेडांमां पाणुनी जेअे छे, पछी पाणुना वेगथो आवेली भाछली  
अोने भेडांमां रोकनी ज्यारे पाणुने काढी नांजे छे, त्यारे दांतना छिद्रो द्वारा पाणुनी  
साथे साथे धलुय नानी नानी भाछलीअो अडार नीकनी जय छे. अे नीकनी जती भाछ

“યદિ મમ વપુરીદ્દશં બૃહત્ સ્યાત્ તર્હિ મમ મુખાન્નિર્ગન્તુમેકોઽપિ મત્સ્યો ન શક્તુયાત્, મયા સર્વેઽપિ ભક્ષિતા ભવેયુઃ” ઈતિ ।

इत्थं कलुषिताध्यवसायरूपया भावहिंसया स्वकीयमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमायुष्यं समाप्य त्रयस्त्रिंशत्सागरप्रमाणं नरकायुष्यं निबध्यासौ (तण्डुलमत्स्यः) तमस्तमाऽभिधायौ सप्तम्यां नरकपृथिव्यां नारकत्वेन समुत्पद्यते ।

यद्वा—अल्पीयसि प्रकाशे रज्जुमालोक्य ‘व्यालोऽयं’—मित्यालोचयतः शस्त्रादिना तत्प्रहरणं तदभिलाषमात्रं वा रज्जोरचेतनत्वेन प्राणव्यपरोपणाऽभावेऽपि आत्मन उक्तस्व-  
रूपाऽशुद्धपरिणामोदयाच्चतुर्गतिभ्रमणहेतुर्बन्धो नियतं भवति ।

उभयतो हिंसा=आत्मनोऽशुद्धपरिणामपूर्वकं प्राणव्यपरोपणं, यथा=केनचिद् व्याधेन मृगजिघांसया शरप्रक्षेपेण कृतं तद्धननम् ।

इस (मगर) के तो दांतोंके छिद्रों द्वारा बहुतसी मछलियां निकल जाती हैं, किन्तु, अगर मेरा शरीर मगरके बराबर होता तो मैं इनमेंसे एकको भी नहीं निकलने देता—सबको भक्षण कर जाता ।

इस प्रकार वह परम कलुषित अध्यवसायरूप भावहिंसासे तैंतीससागरप्रमाण नरकायुष्य बांधकर अन्तर्मुहूर्त्तकी अपनी आयुष्यको समाप्त करके तमतमा नामकी सातवीं नरकपृथिवीके अन्दर नारकीपनमें उत्पन्न होता है ।

अथवा जैसे—मन्द—मन्द प्रकाशमें किसी हिंसकने रस्सीको सर्प समझकर क्रूर परिणामसे मारा, या मारनेका प्रयास किया तो वहां रस्सीके अचेतन होनेके कारण यद्यपि प्राणोंका व्यपरोपण नहीं हुआ तथापि आत्मामें अशुद्ध परिणामके उदय होनेसे वह भी भावहिंसा है । उस हिंसासे निश्चय ही चतुर्गतिमें परिभ्रमण कराने वाले कर्मोंका बन्ध होता है ।

(३) उभयहिंसा—अशुद्ध परिणामोंसे जीवका घात करना उभयहिंसा है, क्योंकि इस हिंसामें आत्माके अशुद्ध परिणाम और प्राणोंका नाश दोनों पाये जाते हैं, जैसे—कोई व्याध

લીએને બેઠીને. તાંડુલ મત્સ્ય (વચારે છે કે આ મગરના દાંતનાં છિદ્રોની વાટે ઘણીય માછલીઓ બહાર નીકળી બાધ છે, પરન્તુ બે માઝું શરીર મગરના બેટલું મોટું હોત તો હું એમાંથી એક પણ માછલીને બહાર નીકળવા ન દેત બધીયતું ભક્ષણ કરી બાત.

આ પ્રમાણે એ પરમ કલુષિત અધ્યવસાયરૂપ ભાવહિંસાથી તેત્રીસ સગરતું નરકાયુષ્ય બાંધીને અંતર્મુહૂર્તનું આયુષ્ય સમાપ્ત કરે છે અને તમતમા નામની સાતમી નરકપૃથિવીની અંદર નારકીપણે ઉત્પન્ન થાય છે.

અથવા જેમ—મંદ મંદ પ્રકાશમાં કોઈ હિંસકે દોરડાને સર્પ સમજીને ક્રૂર પરિણામથી માર્યો, અથવા મારવાનો પ્રયાસ કર્યો, તો તેમાં દોરડું અચેતન હોવાથી બે કે ત્રણતું વ્યપરોપણ થયું નહીં, તો પણ આત્મામાં અશુદ્ધ પરિણામનો ઉદય હોવો એ પણ ભાવહિંસા છે. આ હિંસાથી નિશ્ચિતપણે ચતુર્ગતિમાં પરિભ્રમણ કરનારાં કર્મોનો બંધ થાય છે.

(૩) ઉભયહિંસા—અશુદ્ધ પરિણામોથી જીવનો ઘાત કરવો એ ઉભયહિંસા છે; કેમકે



**संयमः । संयमः=संयमनं=सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, स च सप्तदशविधः, तदुक्तं समवायाङ्गे—**

“सत्तरसविधे संजमे पणत्ते—(१) पृथ्वीकायसंजमे (२) आउकायसंजमे (३) तेउकायसंजमे (४) वाउकायसंजमे (५) वणस्सइकायसंजमे (६) वेइंदियसंजमे (७) तेइंदियसंजमे (८) चउरिंदियसंजमे (९) पंचिंदियसंजमे (१०) अजीवकायसंजमे (११) पेहांसंजमे (१२) उवेहासंजमे (१३) अवहट्टु(परिद्धावणा)संजमे (१४) पमज्जणासंजमे (१५) मणसंजमे (१६) वयसंजमे (१७) कायसंजमे” इति ।

छाया—सप्तदशविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—(१) पृथिवीकायसंयमः (२) अप्कायसंयमः (३) तेजस्कायसंयमः (४) वायुकायसंयमः (५) वनस्पतिहायसंयमः (६) द्वीन्द्रियसंयमः (७) त्रीन्द्रियसंयमः (८) चतुरिन्द्रियसंयमः (९) पञ्चेन्द्रियसंयमः (१०) अजीवकायसंयमः (११) प्रेक्षासंयमः (१२) उपेक्षासंयमः (१३) अपहृत्यसंयमः (१४) प्रमार्जनसंयमः (१५) मनःसंयमः (१६) वाक्संयमः (१७) कायसंयमः ।

तत्र (१) पृथिवीकायसंयमः=सचित्तपृथिव्या हस्तपादादिना संघट्टनादिविरतिः

हरिणको मारनेको इच्छासे बाण चलाता है और उससे उसके प्राणोंका नाश हो जाता है ।

**संयम**—सावद्ययोगसे सम्यक्प्रकारसे निवृत्त होनेको संयम कहते हैं । वह सतरह प्रकारका है । समवायाङ्गके सतरहवें समवायमें कहा है—(१) पृथिवीकायसंयम, (२) अप्कायसंयम, (३) तेजस्कायसंयम, (४) वायुकायसंयम, (५) वनस्पतिकायसंयम, (६) द्वीन्द्रियसंयम, (७) त्रीन्द्रियसंयम, (८) चतुरिन्द्रियसंयम, (९) पञ्चेन्द्रियसंयम, (१०) अजीवकायसंयम, (११) प्रेक्षासंयम, (१२) उपेक्षासंयम (१३) अपहृत्यसंयम (परिष्ठापनासंयम), (१४) प्रमार्जनासंयम, (१५) मनःसंयम, (१६) वाक्संयम, (१७) कायसंयम ।

(१) पृथिवीकायसंयम=हाथ पैर इत्यादिसे सचित्त पृथिवीका संघट्टन (संघटन) आदिका वर्जन करना ।

ये हिंसाभां आत्माना अशुद्ध परिष्ठाप तथा प्राणुना नाश अन्ने रहेला होय छे. जेमके-कोई पारधी हरणुने भारवानी धंछाथी आणु छोडे छे अने ये रीते हरणुना प्राणुना नाश थं जय छे.

**संयम**—सावद्ययोगथी सम्यक् प्रकारे निवृत्त थवुं तेने संयम कहे छे. संयम सत्तर प्रकारने छे. समवायांगना सत्तरभा समवायभां ते प्रकारे कहे छे. (१) पृथिवीकाय संयम, (२) अप्कासंयम, (३) तेजस्कायसंयम, (४) वायुकायसंयम, (५) वनस्पतिकायसंयम, (६) द्वीन्द्रियसंयम, (७) त्रीन्द्रियसंयम, (८) चतुरिन्द्रियसंयम, (९) पञ्चेन्द्रियसंयम, (१०) अजीवकायसंयम (११) प्रेक्षासंयम, (१२) उपेक्षासंयम, (१३) अपहृत्यसंयम (परिष्ठापनासंयम), (१४) प्रमार्जनासंयम, (१५) मनः संयम, (१६) वाक्संयम, (१७) कायसंयम.

(१) पृथिवीकायसंयम—हाथ पग इत्यादिथी सचित्त पृथिवीनुं संघटन (स्पष्ट) वगेरेने वर्जु.

(२) अप्कायसंयमः=सचित्तजलस्य संघटनाद्यकरणम्, (३) तेजस्कायसंयमः=पचनपाचनादिनिमित्तकाऽनलारम्भनिवर्तनम्; (४) वायुकायसंयमः=वस्त्रपात्रव्यजनवक्त्रादिसमुत्पन्नवायुजनितवायुकायोपमर्दननिवृत्तिः, तत्र वस्त्रपात्राणामयतनया निक्षेपणादानप्रक्षेपनिपातनादिकारणवशात्, तथा तेषां (वस्त्रपात्राणां) व्यजनपर्णशाखादीनां च विधूननेन वायुकायविराधनं भवति । अनावृतमुखेन संभाषणे च तन्निर्गतोष्णवायुना तद्विराधनं जायते । (५) वनस्पतिकायसंयमः,=तरुलतिकादिहरितकायमात्रस्य संघटनादिवर्जनम् । एवं (६) द्वीन्द्रियादि—(९) पञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां सर्वथाऽनुपमर्दनं तत्तत्संयमः (१०) अजी-

(२) अप्कायसंयम=सचित्त जलका संघटा (स्पर्श) आदि न करना ।

(३) तेजस्कायसंयम=पचन पाचन आदि किसी प्रयोजनके लिए अग्निके संघटा आदिका वर्जन करना ।

(४) वायुकायसंयम=वस्त्र, पात्र, पंखा, फूंक आदिसे उत्पन्न हुए वायुद्वारा वायुकायकी विराधनाका वर्जन करना ।

वस्त्र, पात्रोंको अयतनासे रखनेसे, अयतनासे लेनेसे, फेंकनेसे, गिरानेसे, तथा वस्त्र, पात्र, पंखा, आदिको हिलाकर वायुकायकी उदीरणा करनेसे तथा बोलते समय उष्णवायु निकलनेके द्वारा मुखसे वायुकायकी विराधना होती है ।

वनस्पतिकायसंयम—वृक्ष, लता आदि हरित कायके संघटा आदिसे निवृत्त होना ।

(६-७-८-९) द्वीन्द्रियादिसंयम=द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय, जीवोंका सर्वथा उपमर्दन न करना तत्तत्संयम, अर्थात् द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पञ्चेन्द्रियसंयम कहलाता है ।

(२) अप्कायसंयम—सचित्त जलनुं संघटन आदि न करवुं

(३) तेजस्कायसंयम—संघटुं, रंधावुं वगेरे इति प्रयोजनने माटे अग्निना संघटन आदिने वर्जवुं.

(४) वायुकायसंयम—वस्त्र, पात्र, पंखो, फूंक इत्यादिथी उत्पन्न थयेला वायुद्वारा वायुकायनी विराधना वर्जवी.

वस्त्र, पात्रो इत्यादिने अयतनापूर्वक राधवाथी, अयतनापूर्वक लेवाथी, इंकवाथी पाडवाथी, तथा वस्त्र-पात्र-पंखो वगेरेने डहावीने वायुकायनी उदीरणा करवाथी तथा गोलती पभते मुखना उना वायुथी वायुकायनी विराधना थाय छे.

(५) वनस्पतिकायसंयम—वृक्ष, लता आदि हरितकायना संघटन आदिथी निवृत्त थवुं.

(६-७-८-९) द्वीन्द्रियादिसंयम—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अने पञ्चेन्द्रिय एयेनुं सर्वथा उपमर्दन न करवुं, ते ते प्रकारनेा संयम, अर्थात् द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रियसंयम अने पञ्चेन्द्रियसंयम कहेवाय छे.

वकायसंयमः=बहुमूल्यवतां वस्त्रपात्रादीनामनुपादानाम्, उपादेयवस्त्रपात्रादीनां सयत्नमु-  
पादानं स्थापनं च, (११) प्रेक्षासंयमः=वसतिवस्त्रपात्रादीनां सयतनं सविधि प्रतिलेखनम्,  
(१२) उपेक्षासंयमः=संयममार्गे क्लेशमाकलयतोऽसंयममार्गे प्रवर्तमानस्य वा स्वात्मनः  
परस्य वा असंयमदोषान् संयमगुणांश्चावबोध्य संयमयोगेषु प्रवर्तनं संयमसमीपानयनल-  
क्षणं संयमसामीप्यदर्शनमित्यर्थः । यद्वा प्रेक्षासंयमः=सकृत्प्रतिलेखनम् । उपेक्षासंयमः=  
पुनः पुनः प्रतिलेखनम् । (१३) अपहृत्य(परिष्ठापना) संयमः=उच्चारणादीनां विधिना  
समुत्सर्गः परिष्ठापनमित्यर्थः । (१४) प्रमार्जनासंयमः=विधिना वसतिपात्रादेः परिशोध-  
नम् । (१५-१६-१७) मनोवाक्कायसंयमः=अकुशलानां मनोवाक्कायानां निरोधेन  
कुशलानामुदीरणम् । तत्राऽऽर्त्तरोद्घ्यानपरिहारपूर्वकधर्मशुक्लध्यानप्रवर्तनं मनःसंयमः ।

(१०) अजीवकायसंयम=बहुत मूल्यवाले वस्त्र पात्र आदिका प्रहण न करना, तथा कल्पनीय वस्त्र पात्र आदि को यतनाके साथ लेना और रक्षना ।

(११) प्रेक्षासंयम=वसती, वस्त्र, पात्र, पाट, पाटला, आदिका यतनापूर्वक सविधि प्रतिलेखन करना ।

(१२) उपेक्षासंयम-संयममार्गमें अनुकूल प्रतिकूल परीषर्होंसे क्लेशका अनुभव करनेवाले अथवा असंयममें प्रवृत्ति करनेवाले स्वपरकी आत्माको संयमके गुण और असंयमके दोष समझा-  
कर फिर संयममार्गमें प्रवृत्त करना । अथवा वस्त्र पात्र आदिके उपभोग करते समय एक बार प्रतिलेखन करना प्रेक्षासंयम है, और बारंबार चारों ओरसे प्रतिलेखन करना उपेक्षासंयम है ।

(१३) अपहृत्य(परिष्ठापना)संयम-यतनापूर्वक उच्चार-प्रस्रवणको त्यागना ।

(१४) प्रमार्जनासंयम-यतनाके साथ वसती वस्त्र पात्र आदिको पूँजना (प्रमार्जन करना)

(१०) अजीवकायसंयम—मूल्यवान वस्त्र पात्र आदिने अडिष्ट न करवां, तथा कल्पे-  
तेवां न वस्त्र पात्र आदिने यतनापूर्वक लेवां तथा राखवां।

(११) प्रेक्षासंयम—वसती, वस्त्र, पात्र, पाट, पाटला इत्यादिने यतनापूर्वक तथा  
विधिसर प्रतिलेखन करवां।

(१२) उपेक्षासंयम—संयममार्गमां अनुकूल-प्रतिकूल परीषर्होधी क्लेशनो अनुभव  
करनारा, अथवा असंयममां प्रवृत्ति करनारा, स्वपरना आत्माओने संयमना गुण तथा  
असंयमना दोष समझवीने पछी संयममार्गमां प्रवृत्त करवा अथवा वस्त्र-पात्र आदिने  
उपभोग करती पपते ओकवार प्रतिलेखन करवुं ओ प्रेक्षासंयम छे, अने वारंवार आरे  
आनुओधी प्रतिलेखन करवुं ओ उपेक्षासंयम छे।

(१३) अपहृत्य (परिष्ठापना) संयम—यतनापूर्वक उच्चार-प्रस्रवणने परठववां  
-त्यणवां।

(१४) प्रमार्जनासंयम—यतनापूर्वक वसती वस्त्र पात्र आदिने पूँजवां (प्रमार्जवां)।

(१५) मनः संयम—अकुशल मननो निरोध करीने कुशल मननी प्रवृत्ति करवी,

सावद्यपरिहारपूर्वकनिरवद्यभाषणं वाक्संयमः । अयतनापारिहारेण यतनापुरस्सरकायप्रवर्त्तनं कायसंयमः इति विवेकः ।

प्रकारान्तरेणापि संयमः सप्तदशविधः, यथा—

“पञ्चास्रवाद्विरमणं, पठ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः ।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥११॥” इति ।

तत्र पठ्चास्रवविरमणं=पठ्चास्रवाः प्राणातिपातादय एतेभ्यो विरमणं=निवृत्तिः (५), पठ्चेन्द्रियनिग्रहः=तत्तद्विषयेष्वप्रवर्त्तनम्, इष्टानिष्टेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमित्यर्थः (१०), कषायजयः=उदयभावमप्राप्तुवतां क्रोधादीनां चतुर्णां निरोधः, उदयभावं प्राप्तानां च तेषां निष्फलीकरणम् (१४) दण्डत्रयविरतिः=दण्डच्यते=रत्नत्रयैश्वर्यापहारादसारीक्रियते आत्मा यैरिति दण्डास्तेषां त्रयं दण्डत्रयं=मनोदण्ड-वचोदण्ड-कायदण्ड-लक्षणास्त्रयो दण्डा इत्यर्थः, तस्माद्विरतिः=निवृत्तिः (१७) ।

(१५) मनःसंयम-अकुशल मनका निरोध करके कुशल मनकी प्रवृत्ति करना, अर्थात् आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका त्याग करके धर्म और शुक्लध्यानमें मनको लगाना ।

(१६) वचनसंयम-अशुभ (सावद्य) वचनका त्यागकर शुभ (निरवद्य) वचन बोलना ।

(१७) कायसंयम-अयतनाको छोडकर यतना पूर्वक ही कायकी प्रवृत्ति करना ।

संयमके सत्तरह भेद दूसरे प्रकारसे भी होते हैं, जैसे-प्राणातिपात आदि पांच आस्रवोंका विरमण (५), पांच इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग न करना अनिष्ट विषयोंमें द्वेष न करना (१०) उदयमें न आये हुए क्रोध आदि चार कषायोंका निरोध करना और उदयमें आये हुएको निष्फल करना, जैसे-क्रोधका उदय होने पर क्षमा रखना, मानका उदय होने पर मार्दव भाव रखना, मायाका उदय होने पर सरलता रखना, और लोभकषायका उदय होने पर निर्लोभता धारण करना (१४) ज्ञान आदि गुणोंका अपहरण (नाश) करके आत्माको दरिद्र बनाने वाले मनदण्ड वचनदण्ड, और कायदण्डका त्याग करना (१७),

अर्थात् आर्त्तध्यान अने रौद्रध्यानको त्याग करीने धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यानमां मनने लगाउवुं ।

(१६) वचनसंयम-अशुभ वचनको त्याग करीने शुभ वचन बोलवां ।

(१७) कायसंयम-अयतनाने त्यज्जने यतनापूर्वकण कायानी प्रवृत्ति करवी ।

संयमना सत्तर भेद थीने प्रकारे पणु थाय छे. जेभके प्राणातिपात आदि पांच आस्रवोनुं विरमणु (५), पांच इन्द्रियोना इष्ट विषयोमां राग न करवो, अनिष्ट विषयोमां द्वेष न करवो (१०), उदयमां न आवेला क्रोध आदि चार कषायोना निरोध करवो अने उदयमां आवेलांने निष्फण करवा. जेभके क्रोधना उदय थतां क्षमा राखवी, मानना उदय थतां मार्दवभाव राखवो, मायाना उदय थतां सरलता राखवी, अने लोभकषायना उदय थतां निर्लोभता धारणु करवी (१४), ज्ञान आदि गुणोनुं अपहरणु (नाश) करीने आत्माने दरिद्र बनानारा मनदंड, वचनदंड अने कायदंडना त्याग करवो (१७).

पूर्व वायुकायसंयमविषये प्रोक्तं यत्—‘अनावृतमुखेन संभाषणे मुखनिर्गतोष्णवायुना वायुकायविराधनं जायते’ इति, तत्र केचिदेवं वदन्ति—आत्मा हि भाषणकाले चतुःस्पर्शवतो भाषावर्गणापुद्गलान् गृह्णाति तैर्वायुकायस्य विराधना न संभवति तस्यापि चतुःस्पर्शवत्त्वादिति ।

तेषामपर्याप्तमेतत्कथनम्, वस्तुतस्तु आत्मा पूर्वं चतुःस्पर्शकपुद्गलानेव गृह्णाति किन्तु संभाषणसमये तैजसशरीरं संगृह्यैव भाषापुद्गला निस्सरन्तीति तैजसशरीरसम्बन्धेन तेऽष्ट-स्पर्शवन्तो जायन्ते तस्मादनिवार्या वायुकायविराधना ।

### । मुखवस्त्रिकाविचारः ।

ननु मुखोष्णवायुनाऽपि यदि वायुकायविराधनं तर्हि मुनिना कथं वायुकायसंयमः ? इति चेत् न, यतो भगवता श्रीतीर्थङ्करेण मुनीनां वायुकायसंयमार्थं मुखवस्त्रिकाबन्धनं प्रतिपादितम् ।

पहले वायुकायसंयममें कहा है कि—बोलते समय मुखसे निकलनेवाली वायु गर्म होती है और इसी कारण उससे वायुकायके जीवोंकी विराधना होती है ।

यहाँ कुछ लोगोंका कहना है कि आत्मा चार स्पर्शवाले भाषावर्गणाके पुद्गलोंको ग्रहण करती है और चार स्पर्शवाले पुद्गलों से वायुकायकी विराधना नहीं हो सकती, क्योंकि वायुकायके जीवभी चार स्पर्शवाले होते हैं । उनका यह कथन अधूरा है । बात वास्तव में यह है कि आत्मा ग्रहण तो चार स्पर्शवाले पुद्गलो का ही करती है किन्तु भाषण करते समय तैजस शरीरको ग्रहण करके ही भाषा—पुद्गल निकलते हैं । तैजस शरीरके सम्बन्धसे भाषा—पुद्गल आठ स्पर्शवाले हो जाते हैं, और आठ स्पर्शवाले होने से उनसे वायुकाय आदि की विराधना अवश्य होती है ।

### मुखवस्त्रिकाविचार.

जब मुखसे निकलनेवाली वायुसे वायुकाय की विराधना होती है, तो मुनि वायुकायका

પૂર્વે વાયુકાય-સંયમમાં જે કહ્યું છે કે—ખુલ્લે મોઠે બોલવામાં મુખમાંથી નીકળતા ગરમ વાયુ વડે વાયુકાયના જીવોની વિરાધના થાય છે. ત્યાં કેટલાક લોકોનું કહેવું એવું છે કે આત્મા ચાર સ્પર્શવાળા ભાષાવર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે અને ચાર સ્પર્શવાળા પુદ્ગલોથી વાયુકાયની વિરાધના થઈ શકતી નથી. કેમકે વાયુકાયના જીવો પણ ચાર સ્પર્શવાળા હોય છે. એમનું એ કથન અધૂરું છે. વસ્તુતઃ વાત એવી છે કે આત્મા ગ્રહણ તો ચાર સ્પર્શવાળા પુદ્ગલોનું જ કરે છે, કિન્તુ બોલતી વખતે તૈજસ શરીરને ગ્રહણ કરીને જ ભાષાપુદ્ગલો નીકળે છે. તૈજસ શરીરના સંબંધથી ભાષા—પુદ્ગલ આઠ સ્પર્શવાળા થઈ જાય છે, અને આઠ સ્પર્શવાળા થવાથી, તેનાથી વાયુકાય આદિની વિરાધના અવશ્ય થાય છે.

### મુખવસ્ત્રિકાવિચાર

જે મુખમાંથી નીકળનારા વાયુથી વાયુકાયની વિરાધના થાય છે, તો મુનિ વાયુકાયને

तद्विना हि श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ षोडशतमशतकस्य द्वितीयोद्देशे भगवता शक्रेन्द्र-  
स्यापि भाषणं सावद्यत्वेन परिकथितं, तथाहि—

गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं भासं भासति  
ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ । जाहे णं सक्के देविंदे देवराया  
सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं  
भासइ' इत्यादि ।

'गौतम ! यदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः सूक्ष्मकायमपोह्य भाषां भाषते तदा शक्रो  
देवेन्द्रो देवराजः सावद्यां भाषां भाषते । यदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः सूक्ष्मकायं दत्त्वा  
भाषां भाषते तदा शक्रो देवेन्द्रो देवराजः असावद्यां भाषां भाषते' इति संस्कृतम् ।

अयमाशयः—मुखवस्त्रिकाधारणं विना भाषणे वायुकायादिविराधनस्य दुर्वारतया  
भाषा सावद्या भवतीति ।

एतद्व्याख्याने अभयदेवसूरिणाऽपि—“जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति, अन्या  
तु सावद्ये” त्युक्तम् । 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' इत्यस्य हि वस्त्रमपोह्य मुखोपरि  
वस्त्रमदत्त्वे (मबद्ध्वे) त्यर्थः । यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां भाषाया निरवद्यत्वं सावद्यत्वं च

संयम कैसे पाल सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वायुकायके संयमके लिए ही  
तीर्थंकर गणधर भगवान् ने मुखवस्त्रिका धारण करना बताया है । श्रीभगवतीसूत्र के सोलहवें  
शतक के दूसरे उद्देशमें भगवान् ने विना मुखवस्त्रिकाके इन्द्र महाराजके भाषणको भी सावद्य  
बताया है, यथा—“गोयमा !” इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि मुखवस्त्रिका धारण किये विना भाषण करने से वायुकायकी विराधना  
अनिवार्य है, अत एव वह भाषा सावद्य है । इसका व्याख्यान करते हुए अभयदेवसूरि लिखते  
हैं—“जीव संरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति अन्या तु सावद्या ।”—अर्थात् जीवों की रक्षा होनेसे  
भाषा निरवद्य होती है और इससे भिन्न (जीवों की घात करने वाली) भाषा सावद्य होती है ।  
मूल पाठके 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' इस पदका अर्थ यह है कि—'मुख पर वस्त्र न धारण

संयम डेवी रीते पाणी शके छे ? अे प्रश्नने उत्तर अे छे के वायुकायना संयमने माटे न  
तीर्थंकर गणधर भगवाने मुखवस्त्रिका धारण करवानुं अताव्युं छे. श्रीभगवती-सूत्रना  
सोणभा शतकना भील उद्देशाभां मुखवस्त्रिका विनाना इन्द्र महाराजना भाषणने पण  
भगवाने सावद्य अताव्युं छे :-'गोयमा' इत्यादि.

तात्पर्य अे छे के मुखवस्त्रिका धारण कर्या विना भाषण करवाथी वायुकायनी विराधना  
अनिवार्य छे, तेथी करीने अे भाषा सावद्य छे. अेनुं व्याख्यान करतां अलयदेव सूरि लखे  
छे के “ जीवसंरक्षणतोऽनवद्या भाषा भवति अन्या तु सावद्या ” अर्थात् अेवानी रक्ष  
थवाथी भाषा निरवद्य थाय छे अने अेथी लिन ( अेवानी घात करवावाणी ) भाषा  
सावद्य डेय छे. मूल पाठनां 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' पदने अर्थ अे छे के 'मुख पर

भवति, भाषाभिव्यक्तिश्च मुखाद्भवतीति मुखे ध्रियमाणं वस्त्रं मुखवस्त्रिका' शब्देन शास्त्रे व्यवह्रियते ।

'शक्र' इत्येव वक्तव्ये 'देवेन्द्रो देवराजः' इति विशेषणोक्त्या दिव्यशक्तिमत्त्वेऽपि तस्य मुखवस्त्रिकाधारणाभावे यदि सवद्या भाषा तर्हि औदारिकशरीरधारिणां का वार्त्ते ? ति ध्वनितम् ।

सा च मुखवस्त्रिका वायुकायादिप्राणिप्राणसंरक्षणोपयोगि-मुखोपरिवन्धनीयमुख-परिमित-सदोरकाऽष्टपुटवस्त्रखण्डविशेषः । अत्रायं सङ्ग्रहः—

“वाउकायाइरक्खट्टं, बज्झई जं सया मुहे ।

सदोरट्टपुडं वत्थं, वुत्ता सा मुहवत्थिया ॥ १ ॥

मुहमाणा जईलिंगं, सव्वसंजमकारणं ।

पसत्थभावणावुइढी-हेऊ य मुहवत्थिया ॥ २ ॥” इति ।

करके' जहाँ वस्त्र धारण नहीं वहाँ भाषा सावद्य होती है, और जहाँ वस्त्र धारण होता है वहाँ भाषा निरवद्य होती है । भाषा मुखसे निकलती है, इसलिए मुख पर धारण किया जानेवाला वस्त्र मुखवस्त्रिका कहलाता है ।

मूलमें 'शक्र' कहनेसे ही इन्द्रका बोध हो सकता था, किन्तु देवेन्द्र और देवराज विशेषणों का देना यह सिद्ध करता है कि जब दिव्य शक्तिमान् होने पर भी मुखवस्त्रिका न धारण करनेसे उसकी भाषा सावद्य होती है तो औदारिक-शरीर-धारियों की बात ही क्या है ? उनकी भाषा अवश्य ही सावद्य होगी ।

वह मुखवस्त्रिका वायुकाय आदिके प्राणियोंकी रक्षाके लिये उपयोगी, मुख पर बांधने योग्य, मुखके बराबर डोरा सहित आठ पुटवाला, वस्त्रका खण्डविशेष है । यहाँ संग्रहगाथाएँ हैं—वाउ इत्यादि,

वस्त्र न धारणु करीने' ज्यां वस्त्र धारणु नथी, त्यां भाषा सावद्य छे अने ज्यां वस्त्र धारणु थाय छे त्यां भाषा निरवद्य छे. भाषा मुअभांथी नीकणे छे तेथी मुअ पर धारणु करवाभां आवनाइं वस्त्र 'मुअवस्त्रिका' कडेवाय छे.

भूजभां 'शक्र' कडेवाथी इन्द्रनेो बोध थर्ध शकतेो हुतेो, परन्तु देवेन्द्र अने देवराज विशेषणुो अे सिद्ध करे छे के अे दिव्य शक्तिमान् होवा छतां पणु मुअवस्त्रिका न धारणु करवाथी अेनी भाषा सावद्य थाय छे तो औदारिक-शरीरधारिओनी वात न शी ? अेनी भाषा पणु नइर न सावद्य न थाय.

अे मुअवस्त्रिका वायुकाय आदिना प्राणीओनी रक्षाने माटे उपयोगी, मुअ पर बांधवा थोअ्य मुअनी अराअर, दोरासहित आठपुटाणो वस्त्रनेो अंउविशेष छे. अहीं संग्रह गाथाओ छे—'वाउ' इत्यादि

પુનરપિ—“મુખે બાંધી તે મુહપતી, હેઠે પાટો ધારી ।  
 અતિ હેઠી દાઢી થઈ, જોતર ગલે નિવારી ॥૧॥  
 “એક કાને ધજસમ કહી, ઁંધે પછેડી ઠામ ।  
 કેહે સ્વોસી કોથલી, નાવે પુણ્યને કામ ॥૨॥” ઇતિ ।  
 (શ્રાવક-ઋષભદાસકૃત હિતશિક્ષારાસ પૃ૦ ૩૮ પં ૧૬)  
 “મુલ્લમ બોધી જીવડા, માંડે નિજ ષટ્કર્મ ।  
 સાધુ જન મુખ મોંપતી, બાંધી હૈ જિન-ધર્મ ॥૧॥”  
 (હરિવલમચ્છીરાસે) મુનિલલ્લિધિવિજયકૃતે પૃ૦ ૭૩ દોહા ૫)

અર્થાત્—વાયુકાય આદિકો રક્ષાકે લિયે જો સદા મુખ પર બાંધી જાતી હૈ, વહ ડોરા-સહિત આઠ પુટવાલા વસ્ત્ર મુખવસ્ત્રિકા કહલાતી હૈ ॥૧॥ વહ મુખવસ્ત્રિકા મુખ-પ્રમાણ હોતી હૈ ‘યહ મુનિકા ચિહ્ન સર્વ સંયમકા કારણ તથા પ્રશસ્ત ભાવના કો વૃદ્ધિકા કારણ હૈ ॥૨॥ ઓર મો કહા હૈ—

“મુખે બાંધી તે મુહપતી, હેઠે પાટો ધારી ।  
 અતિ હેઠે દાઢી થઈ, જોતર ગલે નિવારી ॥૧॥  
 એક કાને ધજ સમ કહી, ઁંધે પછેડી ઠામ ।  
 કેહે સ્વોસી કોથલી, નાવે પુણ્યને કામ” ॥૨॥  
 (શ્રાવક-ઋષભદાસ-કૃત હિતશિક્ષારાસ પૃ૦ ૩૮ પં ૧૬)  
 “મુલ્લમ-બોધી જીવડા, માંડે નિજ ષટ્-કર્મ ।  
 સાધુજન મુખ મોંપતી બાંધી હૈ જિન-ધર્મ” ॥૧॥  
 (હરિવલમચ્છીરાસ-મુનિલલ્લિધિવિજયકૃત પૃ૦ ૭૩ દોહા ૫)

અર્થાત્—વાયુકાય આદિની રક્ષાને માટે જે સદા મુખ પર બાંધવામાં આવે છે, તે દોરાસહિત આઠપુટવાળું વસ્ત્ર ‘મુખવસ્ત્રિકા’ કહેવાય છે. (૧) એ મુખવસ્ત્રિકા મુખ-પ્રમાણ હોય છે. એ મુનિનું ચિહ્ન સર્વ સંયમનું કારણ તથા પ્રશસ્ત ભાવનાની વૃદ્ધિનું કારણ છે. (૨)  
 વળી કહ્યું છે કે—

“મુખે બાંધી તે મુહપતી હેઠે પાટો ધારી,  
 અતિ હેઠી દાઢી થઈ જોતર ગળે નિવારી. (૧)  
 એક કાને ધજ સમ કહી, ઁંધે પછેડી ઠામ,  
 કેહે જોસી કોથળી, નાવે પુણ્યને કામ.” (૨)  
 (શ્રાવક-ઋષભદાસ-કૃત ‘હિત-શિક્ષા-રાસ’ પૃષ્ઠ ૩૮ પં. ૧૬)  
 “મુલ્લમ બોધી જીવડા, માંડે નિજ ષટ્-કર્મ.  
 સાધુ જન મુખ મોંપતી બાંધી હૈ જિન-ધર્મ” (૧)  
 (હરિવલ-મચ્છી-રાસ-મુનિ લલ્લિધિવિજય કૃત પૃષ્ઠ ૭૩, દોહા ૫)



ननु भाषणसमये हस्तेनापि वस्त्रमादाय मुखाच्छादने उक्तजीवरक्षा निर्वहति किमन्यदापि मुखवस्त्रिकाबन्धनेन ? इति चेदुच्यते —

न केवलं भाषणसमय एव जीवविराधनासंभवः, यतो हस्तेन वस्त्रमादाय मुखाच्छादने जीवरक्षा संभवेत्, किन्तु दीर्घश्वासनिःश्वासाभ्यां, जृम्भातः, स्वभावादकस्मादपि च, तथा निद्रावस्थायां मुखव्यादानाच्च तत्सम्भव इति न हस्तेन मुखोपरि वस्त्रं धारयन्तः सम्यग् जीवरक्षां सर्वदा कर्तुं प्रभवन्ति, वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य प्रसुप्तस्यापि निद्रायां पार्श्वपरिवर्तनेन वस्त्रापसरणे सति क उपायस्तदानीं सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमजीवसचित्रजःप्रवेशवारणार्थं दीर्घोष्णनिःश्वासोच्छ्वासजनितवायुकायविराधनापरिहारार्थं च ।

तथा चोक्तं योगशास्त्रे तृतीयप्रकाशे सप्ताशीतितमश्लोकस्य स्वोपज्ञविवरणे हेमचन्द्राचार्येण—“मुखवस्त्रमपि सम्पातिमजीवरक्षणादुष्णमुखवातविराध्यमानबाह्यवायुकायजी-

यहाँ यह आशङ्का की जा सकती है कि जब बोलनेका काम पड़े तब हाथमें कपडा लेकर मुँह ढँक लेनेसे वायुकाय आदि जीवोंकी रक्षा हो सकती है, जब बोलते नहीं उस समय भी मुखवस्त्रिका बांध रखनेसे क्या लाभ है ?

इसका उत्तर यह है कि केवल बोलते समय ही मुखसे हवा नहीं निकलती जिससे हाथमें बख लेकर मुँह ढँक लेनेसे जीवोंकी रक्षा हो जाय । किन्तु दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेनेसे, जंभाई लेनेसे, स्वभावसे, अकस्मात्, तथा निद्रावस्था में मुख खुला रहनेसे भी हवा निकलती है । अतएव मुख पर हाथसे वस्त्र लगानेसे जीवोंकी सम्यक् प्रकार सर्वदा रक्षा नहीं हो सकती । वस्त्रसे मुँह ढाँक कर सोया हुआ व्यक्ति नींद में करवट (पसवाडा) बदलता है तब वस्त्र खिसक जाता है । उस समय सूक्ष्म, व्यापी और संपातिम जीव तथा सचित्त रज आदि मुखमें जानेसे कैसे रुक सकते हैं ?, तथा दीर्घश्वासोच्छ्वाससे होने वाली वायुकायकी विराधना का क्योकर परिहार हो सकता है ? इन्हें रोकने का उपाय ही क्या है ? हेमचन्द्राचार्य

अह्नीं ज्येवीं आशंकां कुरी शक्यं चे के ज्यारे भोक्षवानुं काम पडे त्यारे हाथमां कपडं लधने भेडां ढांकी देवाथी वायुकाय आदि ज्योनी रक्षा थधं शके छे. ज्यारे भोक्षया न होधजे, त्यारे पञ्च भुजवस्त्रका आंधी राभवथी शो लाल छे ?

ज्येनो उत्तर ज्ये छे के केवण भोक्षती वधते न भुजमांथी हवा नीकणती नथी के ज्येथी हाथमां वस्त्र लधने भेडां ढांकी देवाथी ज्योनी रक्षा थधं नय. किन्तु दीर्घ श्वासोच्छ्वास देवाथी, अगासुं भावाथी, स्वभावथी अकस्मात् तथा निद्रावस्थामां भेडां भुदुलं रडेवाथी पञ्च हवा नीकणे छे. तेथी भेडां पर हाथ वडे वस्त्र लगाउलाथी ज्योनी सम्यक् प्रकारे सर्वदा रक्षा थधं शकती नथी. वस्त्रथी भेडां ढांकीने सूतेवी व्यक्ति उधमां ज्यारे पासु भदलावे छे त्यारे वस्त्र भसी नय छे. ते समये सूक्ष्म, व्यापि अने संपातिम ज्यो व तथा सचित्त रज आदि भुजमां नवाथी केवी रीते रोकधं शके ? तथा दीर्घ श्वासोच्छ्वासाथी थनारी वायुकायनी विराधनानो केवी रीते परिहार थधं शके ? तेने रोकवानो उपाय न शो छे. ?

वरक्षणान्मुखे धूलिप्रवेशरक्षणाच्चोपयोगी”ति ।

तथा चोत्तराध्ययनसूत्रे तृतीयाध्ययने श्रीलक्ष्मीवल्लभीयायां नवमगाथाव्याख्यायां सप्तमनिह्वोदाहरणेऽपि—

“तथा सम्पातिमाः सत्त्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे ।

तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिका ॥१॥” इति ।

ओघनिर्युक्तौ द्वादशाधिकसप्तशततम (७१२)—गाथाऽप्येवमेव बोधयति—

“संपातिमरयरेणु,—पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं ।

नासं मुहं च बंधइ, तीए वसहिं पमज्जंतो ॥७१२॥”

“संपातिमरजोरेणुप्रमार्जनार्थं वदन्ति मुखपत्रीम् ।

नासिकां मुखं च बध्नाति, तथा वसतिं प्रमार्जयन् ॥७१२॥

इति संस्कृतम् ।

वसतिं प्रमार्जयता घ्राणे मुखे चैतद्वयेऽपि मुखवस्त्रिका बन्धनीया, अन्यदा मुख एवेत्याशयः, अन्यथा भगवतीसूत्राद्यनेकागमविरोधापत्तिर्दुर्वारा स्यात् ।

कहते हैं मुखवस्त्र,० इत्यादि—

अर्थात् “मुखवस्त्र, संपातिम जीवोंकी रक्षा करता है, मुख से निकलने वाले उष्ण वायु द्वारा विराधित होनेवाले बाह्य वायुकायके जीवोंकी रक्षा करता है, तथा मुँहमें धूली नहीं घुसने देता, इसलिये वह उपयोगी है ।”

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे उद्देशकी टीकामें कहा है—“तथा सम्पातिमाः” इत्यादि,

अर्थात् “संपातिम, सूक्ष्म और व्यापी जीवोंकी रक्षा के लिए मुखवस्त्रिका समझनी चाहिये” ॥१॥

ओघनिर्युक्ति ७१२ वीं गाथामें कहा है—“तथा संपातिमाः” इत्यादि ।

अर्थात् “संपातिम जीव, सचित्त रज तथा रेणुकी रक्षा करनेके लिये मुखवस्त्रिका का कथन करते हैं । और जब बसतिको प्रमार्जना करे तब नाक और मुख दोनों बांधे ।”

हेमचंद्राचार्य कहे छे के “मुखवस्त्र०” इत्यादि.

अर्थात्—मुखवस्त्र संपातिम जीवोंकी रक्षा करे छे, सुषुप्ती नीकणता उष्ण वायु द्वारा विराधित तथा वायुकायना जीवोंकी रक्षा करे छे, तथा सुषुप्तां धूण पेशवा हेतुं नथी, तेथी ते उपयोगी छे.

श्रीउत्तराध्ययन सूत्रना त्रीज उद्देशनी टीकांमां कछुं छे के ‘तथा सम्पातिमाः’ इत्यादि अर्थात्—“संपातिम, सूक्ष्म अने व्यापी जीवोंकी रक्षाने माटे मुखवस्त्रिका समझनी जेईये” (१)

ओघनिर्युक्ति ७१२ भी गाथामां कछुं छे के—संपातिम० इत्यादि. अर्थात्—“संपातिम जीव, सचित्त रज, तथा रेणुकी रक्षा करवाने माटे मुखवस्त्रिकातुं कथन करे छे. अने व्यापरे पक्षतिनी प्रमार्जन करे त्यारे नाक अने मुख जेउ बांध.”

एवमेव प्रवचनसारोद्गारे त्रयोविंशत्यधिकपञ्चशततमगाथायां विद्यते, तथा प्रकरण-  
रत्नाकरस्यापि तृतीय भागे, उत्तराध्ययनसूत्रस्य कमलसंयमोपाध्यायरचित-सर्वार्थसिद्धि-  
टीकायां तृतीयाध्ययनेऽप्येवमेव । एवं विशेषावश्यकबृहद्वृत्तावप्युक्तम् ।

किञ्चाऽऽगमविरोधोऽपि तेषां (अबद्धमुखवस्त्रिकाणां) दुर्वार एव, तथाहि—भगवती  
सूत्रे द्वितीयशतकस्य प्रथमोद्देशके स्कन्दकानगारस्यानशनकाले 'नमोत्थु णं' पाठविधौ—  
“पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए  
अंजलिं कददु एवं वयासी” इत्याद्युक्तम्,

तत्राञ्जलिबद्धस्य करद्वयस्य शिरसि स्थापने पद्मासनसंस्थः स्कन्दकोऽनगारः कथं  
तन्मते 'नमोत्थु णं' पाठमनावृतमुखेन व्यधात् । अनावृतमुखेन हि मुनयो न भाषन्ते,

अर्थात् अन्य समयमें सिर्फ मुखही बांधे, यह तात्पर्य हुआ, अन्यथा श्रीभगवतीसूत्र  
आदि अनेक आगमोका विरोध अनिवार्य होगा ।

इसीप्रकार प्रवचनसारोद्गारकी ५२३ वीं गाथामें कहा है । तथा प्रकरणरत्नाकारके  
तीसरे भागमें, फिर श्रीउत्तराध्ययनसूत्रकी कमलसंयमोपाध्यायरचित सर्वार्थसिद्धि नामकी तीसरे  
अध्ययनकी टीकामें भी इसी प्रकार कहाहै और ऐसेही विशेषावश्यक बृहद्वृत्तिमें भी कहा है ।

जो मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बांधते, उनके मतमें आगम—विरोध अनिवार्य है । श्री  
भगवती—सूत्र २श०, १उ० में स्कन्दक अनगारके अनशन समय में नमोत्थुणं के पाठकी  
विधिमें कहा है— पुरत्था० इत्यादि ।

इसमें विचारणी विषय यह है कि अञ्जलि बांध कर दोनों हाथ सिर पर धर कर  
पद्मासन लगाकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे हुवे स्कन्दक अनगारने 'नमोत्थुणं' पाठ  
खुले मुखसे कैसे उच्चारण किया, क्योंकि दोनों हाथ सिर पर रखे हुए थे । और खुले मुखसे

अर्थात्—अन्य समयमां सिर्फ मुखज् बांधे, ये तात्पर्यार्थ थये, अगर येवे अर्थ  
नहीं करवामां आवे तो श्रीभगवतीसूत्र आदि अनेक आगमोको विरोध अनिवार्य अनशे.

येवीज् रीते प्रवचनसारोद्गारनी परउ भी गाथामां कहुं छे तथा प्रकरणरत्नाकरना  
त्रीज् लागमां, अने श्रीउत्तराध्ययन सूत्रनी कमलसंयमोपाध्यायरचित सर्वार्थ—सिद्धि नामनी  
त्रीज् अध्ययनी टीकामां पण्णु येवुं ज् कहुं छे, येवीज् रीते विशेषावश्यक बृहद्वृत्तिमां  
पण्णु कहुं छे.

जेयो मुख पर मुखवस्त्रिका बांधता नथी, तेमना मतमां आगम—विरोध अनिवार्य  
छे. भगवतीसूत्र २ श. १ उ. मां स्कंदक अनगारना अनशन समयमां 'नमोत्थु णं' ना  
पाठनी विधिमां कहुं छे—“पुरत्था०” इत्यादि.

येमां विचारणीय विषय ये छे के अंजलि बांधीने, जेउ हाथ शिर पर धारण  
करीने, पद्मासन, लगावीने, पूर्व दिशा तरङ्ग मुख करीने जेठेला स्कंदक अनगारे 'नमोत्थु णं'  
पाठनुं खुलेला मुखे केवी रीते उच्चारण कथुं ? केभके जेउ हाथ माथा पर राखेला उता.

तथाविधभाषणस्याऽऽगमप्रतिषिद्धत्वात् ।

किञ्च—अन्तकृतदशाङ्गण्डे वर्गेऽतिमुक्ताख्ये पञ्चदशाध्ययने—

“तए णं अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं एवं वयासी—एह णं भंते ! तुब्भे जाणं अहं तुब्भं भिवखं दवावेमि त्ति कट्टु भगवं गोयमं अंगुलीए गेण्हइ, गिण्हित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागए” इत्यभिहितम् ।

तत्र भिक्षाचर्यां गतस्य गौतमस्वामिनो भिक्षापात्रधारणप्रतिबद्धैकहस्ताङ्गुलित्वं सुतरामेव सिद्धम् । इतरस्य तु करस्याङ्गुलौ अतिमुक्तकुमारेण गृहीतायां सत्यां तस्य भगवतो गौतमस्वामिनो हस्तेन मुखोपरि मुखवस्त्रिकाधारणं नोपपद्यते, सूक्ष्मव्यापि-सम्पातिमजीवसच्चिरजः प्रवेशादिवारणाय तदानीमपि मुखवस्त्रिकाधारणमावश्यकमेव ।

किञ्चावश्यक्ये ‘इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं’ इत्यादि—क्षमाश्रमणदानसूत्रस्य व्याख्यायां तट्टीकाकारेण हरिभद्रसूरिणाऽभिहितम्—

“अयं च प्रकृतसूत्रार्थः—अवग्रहाद्बहिःस्थितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृही-

तो मुनि बोलते नहीं, क्योंकि ऐसा बोलना तो शास्त्रसे निषिद्ध है ।

श्रीअन्तकृतदशाङ्गके ६ वर्गमें ‘अतिमुक्त’ शीर्षक पन्द्रहवें अध्ययनमें कहा है—“तएणं” इत्यादि ।

इस कथनसे भिक्षाचरी (गोचरी) के लिए गये हुवे श्रोतृगौतमस्वामीने हाथमें भिक्षाका पात्र लिया था, यह बात स्वयं सिद्ध है और दूसरे हाथ की अंगुली अतिमुक्त कुमारने पकड़ ली थी । इस प्रकार जब दोनों हाथ श्रोतृगौतमस्वामाके रुंधे हुए थे तो मुखवस्त्रिका नहीं रही होगी ? किन्तु सूक्ष्म, व्यापा, संपातिम जीव तथा सचित्त रजका प्रवेश रोकनेके लिए मुख-वास्त्रिकाकी उस समय भी आवश्यकता थी ।

आवश्यक सूत्रमें “इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं” इत्यादि क्षमा श्रमणदान सूत्रकी व्याख्यामें व्याख्याकार हरिभद्रसूरिने भी कहा है “अयं” इत्यादि,

अने पुढेले मुजे तो मुनि जोले नहि, कारण के अेभ जोलेपुं शास्त्रथी निषिद्ध छे.

अन्तकृतदशांगना ६ वर्गमां ‘अतिमुक्त’ शीर्षक पंद्रहमा अध्ययनमा कळुं छे ‘तए णं’ इत्यादि.

आ कथन मुज्ज्भ भिक्षाचरी (गोचरी) ने माटे गयेला श्री गौतम स्वामीअे अेक हाथमां भिक्षानुं पात्र लीधुं इतुं अे वात स्वयंसिद्ध छे अने जीज्ज हाथनी आंगणी अतिमुक्त कुमारे पकडी लीधी इती. अे प्रकारे जे श्री गौतम स्वामीना अेउ हाथ रोकाई गया इतां, ते ते पपते हाथपडे मुभवस्त्रिका मुज्ज पर केवी रीते राणी होय ? किन्तु सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम जेवो तथा सचित्त रज्जो प्रवेश रोकावने माटे अे समये पण्ण मुभवस्त्रिकानी आवश्यकता इती.

आवश्यक—सूत्रमां ‘इच्छामि खमासमणो वंदिउं’ इत्यादि क्षमाश्रमणदान सूत्रनी व्याख्यामां व्याख्याकार हरिभद्रसूरिअे पण्ण कळुं छे के—‘अयं’ इत्यादि.

तरजोहरणो वन्दनायोद्यत एवमाह-इच्छामि-अभिलषामि हे क्षमाश्रमण ! वन्दितुं नम-  
त्कारं कर्तुं भवन्तमिति गम्यते” इत्यादि ।

अत्र ‘करद्वयगृहीतरजोहरणः’ इति विशेषणं कथयता हरिभद्रसूरिणा ‘मुखोपरि  
मुखवस्त्रिकाबन्धनं भगवदभिप्रेत’ मिति प्रकटीकृतम्, अन्यथा क्षमाश्रमणसूत्रोच्चारणकाले  
करद्वयस्य रजोहरणग्रहणे प्रतिबद्धतया मुखोपरि मुखवस्त्रिकास्थापनस्योपायान्तरासम्भवात्  
क्षमाश्रमणदानमेव निर्विषयं स्यात् । अनावृतमुखेन तु मुनीनां भाषणमेवाऽऽगमप्रतिषि-  
द्धमिति नात्र केषाञ्चिद्विवादः ।

किञ्च क्षमाश्रमणदाने सम्बोधनशब्दप्रयोगे गुरोः स्वाभिमुखीकरणार्थं सविशेष-  
प्रयत्नपूर्वकोच्चैःस्वरेण सुस्पष्टोच्चारणं विधेयमस्ति न त्वव्यक्तध्वनिनेत्युपायान्तरेण  
मुखावरणस्य कर्तुमशक्यतयोक्तजीवविराधना परिहर्तुमशक्यैव ।

अन्यच्च तत्रैव क्षमाश्रमणदाने गुरुनिदेशानन्तरम्-“अहोकायं, कायसंफासं”  
इत्यस्य व्याख्यायां तेनैव हरिभद्रसूरिणा व्याख्यातं, तथाहि—

यहाँ “दोनों हाथोंमें रजोहरण लेकर” ऐसा कहने वाले हरिभद्रसूरिने यह प्रगट किया  
है कि मुख पर मुखवस्त्रिका बांधनेकी भगवानकी आज्ञा है । अन्यथा जब दोनों हाथोंमें रजोहरण  
ले लिया तब मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करनेके लिए अन्य उपाय असंभव है । और खुले मुख  
बोलनेसे क्षमाश्रमण देना हो व्यर्थ हो जायगा । साधुओंको खुले मुख से बोलना शास्त्रविरुद्ध है,  
इस विषयमें किसीको विवाद नहीं है । दूसरी बात यह है कि क्षमाश्रमणदानमें  
‘हे क्षमाश्रमण !’ इस सम्बोधनका प्रयोग किया है । इसलिए गुरुको अपनी ओर अभिमुख  
करने के लिए विशेषप्रयत्नपूर्वक स्पष्ट उच्चारण करनेकी आवश्यकता है । अव्यक्त भाषासे  
संबोधन करना संभव नहीं है । इस प्रकार जब दूसरे उपायसे मुख नहीं ढँका जा  
सका तो उल्लिखित जीवोंकी विराधना अनिवार्य है । इसके सिवाय इसी क्षमाश्रमण-  
दानमें गुरुकी आज्ञाके अनन्तर “अहोकायं कायसंफासं” इसका उच्चारण मुखवस्त्रिका

अर्ही ‘जेउ हाथमां रजेहरण लधने’ जेम कडेतां हरिभद्रसूरिजे जेम प्रकट कथुं” छे  
के मुण पर मुखवस्त्रिका बांधवानी लगवाननी आज्ञा छे. नहि तो जे जेउ हाथमां रजे-  
हरण लध लीधे. जेटले मुण पर मुखवस्त्रिका धारण करवाने माटे अन्य उपाय असंभवित  
छे, जने जुदले मुजे जेालवाथी क्षमाश्रमण आपवानुं ज व्यर्थ जना जय. साधुजेजे  
जुदले मुजे जेालपुं जे शास्त्रविरुद्ध छे, जे संभंधमां तो कडेने वाधे नगी. जीउ वात  
जे छे के क्षमाश्रमणदानमां ‘हे क्षमाश्रमण’ जेवे संभोधनने प्रयोग कडेले छे. तेथी  
करीने गुने पोतानी तरक्ष अभिमुख करवाने माटे विशेष-प्रयत्न-पूर्वक स्पष्ट उच्चारण  
करवानी जर छे. अव्यक्त भाषाथी संभोधन करवाने संभव नहीं. जे रीते जे जीउ  
उपायथी मुण न ढांकी शकय तो उपर लप्पा मुण जेवेनी विराधना थया विना रहे  
नहि. जे उपरांत क्षमाश्रमणदानमां गुनी आज्ञानी पछी ‘अहोकायं कायसंफासं’ जेपुं

“ततः शिष्यो नैषेधिक्यां प्रविश्य गुरुपादान्तिकम्, निधाय तत्र रजोहरणम्, तत् (रजोहरणं) ललाटं च कराभ्यां संस्पृशन्निदं भणति—अधस्तात्कायः अधःकायः=पाद-लक्षणस्तमधःकायं प्रति कायेन=निजदेहेन संस्पर्शः=कायसंस्पर्शस्तं करोमि, एतच्चा-नुजानीते—”ति ।

तत्र संमिलितकरद्वयेन रजोहरण-ललाटयोः संस्पर्शे सति ‘अहोकायं, कायसंफासं इत्यस्योच्चारणं मुखवस्त्रिकावन्धनं विना नोपपद्यते, हस्तेन मुखोपरि मुखवस्त्रिकास्थापनं तदानीं न संभवति, हस्तद्वयस्यापि रजोहरणललाटसंस्पर्शप्रतिबद्धत्वात् ।

अपि च—ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रे चतुर्दशाध्ययने—

“तएणं ताओ अज्जाओ पोट्टिल्लाए एवं वुत्ताओ समाणोओ दोवि कन्ने टाइंति, ठाइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी—अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ जाव गुत्तबं-भयारिणीओ, नो खलु कप्पइ अम्हं एयप्पयारं कन्नेहिवि निसामित्तए किमंग पुण उव-दिसित्तए वा” इत्याद्युक्तम् ।

पोट्टिलया भिक्षार्थं स्वगृहमनुप्रविष्टासु साध्वीषु काचित् पतिं वशीकर्तुं चूर्णयोग-मन्त्रयोगादिकानुपायान् पृष्ट्वा सती कर्णां पिधाय प्रोवाच—हे देवानुप्रिये ! वयं श्रमण्यो निर्ग्रन्थ्यो यावद् गुप्तब्रह्मचारिण्यः स्मः, नो खलु कल्पते अस्माकमेतत्प्रकारं कर्णाभ्यामपि निशामयितुं किमङ्ग पुनरुपदेष्टुमित्यर्थः ।

बांधे बिना नहीं हो सकता और हाथसे मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करना उस समय संभव नहीं है, क्योंकि दोनों हाथ रजोहरणको ग्रहण करके ललाटमें लगाये जाते हैं ।

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्रके चौदहवें अध्ययनमें कहा है—“तएणं ” इत्यादि ।

अर्थात्—“पोट्टिलाके घरमें साध्वीयाँ भिक्षाके लिये गईं । उसने अपने पतिको वश करनेके लिए एक साध्वीसे चूर्णयोग और मन्त्रयोग आदि उपाय पूछे । तब साध्वीने तत्काल दोनों कान मूंद कर कहा—हे देवानुप्रिये ! हम निर्ग्रन्थ आर्यिका हैं यावत् गुप्तब्रह्मचारिणी हैं । ऐसी बात सुनना भी हमें नहीं कल्पता तो उपदेश देने की बात ही क्या है ? ”

उच्चारण सुप्रवस्त्रिका बांध्या विना यथं शक्यं नथी. अने अे समये हाथथी सुप्रवस्त्रिका धारण करवानुं संभवित नथी, कारण के अेउ हाथ रजोहरणने ग्रहण करीने कपाणे अडाडवाना होय छे.

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्रना चौदहमा अध्ययनमां कहुं छे के—‘तए णं’ इत्यादि. अर्थात्—पोट्टिलानां घरमां साध्वीअे भिक्षाने भाटे गछ. तेणु पोताना पतिने वश करवाने भाटे अेक साध्वीने चूर्णयोग अने मन्त्रयोग आदि उपाये पूछ्या. त्तारे साध्वीअे तत्काल अेउ काने हाथ मूडीने कहुं—हे देवानुप्रिये ! अमे निर्ग्रन्थ आर्यिका छीअे. तेमज यावत् गुप्तब्रह्मचारिणी छीअे. यावी वात सांभगवी पणु अमने कल्पती नथी तो पछी उपदेश आपवानी तो वात न शी !”

लोके हि अनुचितवार्त्ताश्रवणसमये झटिति कर्णपिधानं हस्ताभ्यामेव विधीयमानं दृश्यते तस्मात् साध्या हस्ताभ्यां कर्णौ पिधाय प्रतिवचनदाने मुखवस्त्रिकाधारणं बन्धनं विना नोपपद्यते, तदभावे वायुकायादिजीवविराधनाऽवश्यम्भाविनी ।

किञ्च मुखवस्त्रिकाबन्धनमन्तरेण षट्कायविराधना दुष्परिहार्या, तथाहि—मुखे सूक्ष्मसचित्तरजःप्रवेशेन पृथिवीकायस्य, वृष्ट्यादिवशात्सचित्तजलकणानामाकस्मिकनिपातेन धूमिकायाः प्रवेशेन वाऽष्कायस्य, तथा यत्र कुत्रापि स्फुलिङ्गा उत्पतन्ति तत्राऽऽकस्मिकसूक्ष्मस्फुलिङ्गनिपातेन तेजस्कायस्य, मुखस्योष्णश्वासनिःश्वासाभ्यां बाह्यवायुकायस्य, 'जत्थ जलं तत्थ वणं', इतिप्रामाण्याज्जलनान्तरीयकतया मुखे सचित्तजलबिन्दुनिपातेनैव वनस्पतिकायस्यापि, तथा सम्पातिम-व्यापि-सूक्ष्म-जीवसम्पातेन त्रसकायस्य विराधना भवतीति ।

अनुचित वात सुनते समय लोकमें भी झटपट हाथोंसे कान मून्द लेने पर बिना मुखवस्त्रिका बाँधे उत्तर देना युक्त नहीं हो सकता । यदि मुखवस्त्रिका के बाँधे बिना उत्तर दिया तो वायुकाय आदि जीवोंकी विराधना अवश्य हुई ।

मुखवस्त्रिकाके बाँधे बिना षट्कायकी विराधनाका परिहार नहीं हो सकता । मुखमें सूक्ष्म सचित्त रजका प्रवेश होनेसे पृथ्वीकायकी विराधना होती है । बरसा होने पर सचित्त जलकणोंके अकस्मात् ही मुखमें चले जानेसे अथवा मुखमें घूँअर के चले जाने से अप्कायकी विराधना होती है । इधर-उधर उड़नेवाली अग्निकी चिनगारी कदाचित् मुखमें घुस जाय तो तेजस्कायकी हिंसा होती है । मुखसे निकलती हुई गर्म सांससे बाह्य वायुकायकी विराधना होती है । 'जहाँ अप्काय है वहाँ वनस्पतिकाय पी होता है' (जत्थ जलं तत्थ वणं ) इस प्रमाणसे मुखमें सचित्त जल गिरनेसे ही वनस्पति कायकी विराधना होती है । तथा संपातिम, व्यापी और सूक्ष्म जीवोंके घुसनेसे त्रसकायकी भी विराधना होती है ।

अनुचित वात सांलगती वपते लोकांमां पणु अटपट हाथथी कान ढांकवामां आवे अेदुं जेवामां आवे छे. अेवी हासतमां जेउ हाथथी जेउ कान ढांकी लेतां, सुभवस्त्रिका आंध्यां विना उत्तर आपवे युक्त नथी होतो जे सुभवस्त्रिका आंध्या विना उत्तर आपवामां आवे तो वायुकाय आदि जीवोंकी विराधना अवश्य थाय.

सुभवस्त्रिका आंध्या विना षट्कायकी विराधनानो परिहार थध शकतो नथी. सुभमां सूक्ष्म सचित्त रजको प्रवेश थवाथी पृथ्वीकायकी विराधना थाय छे. (१) वरसाह पउतां सचित्त जलकणो अकस्मात् सुभमां जवाथी अथवा मोढामां आकण जवाथी अप्कायकी विराधना थाय छे (२) अडां-तडीं उउती अग्निनी चिणुगारी कदाथ सुभमां पेसी जय तो तेजस्कायकी हिंसा थाय छे (३) सुभमांथी नीकणता गरम श्वासथी बाह्य वायुकायकी विराधना थाय छे (४) ज्यां अप्काय छे त्यां वनस्पति कायपणु डोय छे' (जत्थ जलं तत्थ वणं) अेप्रभाणुथी सुभमां सचित्त जल पडवाथी वनस्पतिकायकी पणु विराधना थाय छे. (५) तथा संपातिम, व्यापी अने सूक्ष्म जीवो पेसी जवाथी त्रसकायकी पणु विराधना थाय छे (६).

કિંચ મુખવલ્લિકાબન્ધને પ્રમાદવતઃ षટ્કાયવિરાધના દુર્વારા, યતઃ પ્રતિલેખનકા-  
લેઽન્યસ્મૈ તત્પ્રત્યાહ્યાનદાનેઽપિ પ્રતિલેખનોપયોગાભાવેન પ્રમાદદોષાવિષ્ટઃ સન્ ષટ્કા-  
યવિરાધકો ભવતીતિ ભગવતોત્તરાધ્યયનસૂત્રે પ્રતિપાદિતમ્, તથાહિ—

“પડિલેહણં કુણંતો, મિહો કહં-કુણં જણવયકહં વા ।

દેહ વ પચ્ચક્ષણં ઘાણં સયં પડિચ્છં વા ॥ ૧ ॥

પુઢ્ઢી-આઝકાણ, તેઝ-વાઝ-વણસ્સં-તસાણં ।

પડિલેહણાપમત્તો, છળંપિ વિરાહઓ હોઝ ॥ ૧ ” ઇતિ ।

તર્હિ કા વાર્તા યે મુખવલ્લિકાબન્ધનમન્તરેણ તિષ્ઠન્તિ તેષાં પ્રમાદદોષસ્તઞ્જનિત-  
ષટ્કાયવિરાધના નાપતેત્ ? આગમે હિ મુખવલ્લિકાબન્ધનપરિત્યાગે દોષબાહુલ્યં પ્રદર્શિતં  
તચ્ચ પ્રાગેવપ્રતિપાદિતમ્ ।

ઈત્યં ચ યથા નૌકાદૌ સૂક્ષ્મેઽપિ સુષિરે સતિ નઘાદૌ તન્નિમઞ્જનાન્મહતી હાનિઃ,  
અલ્પીયસ્યા અપિ હીરકકણિકાયા ભક્ષણે પ્રાણાનામેવ નાશઃ વૃશ્ચિકસ્યેષદંશનેઽપિ સક.  
લશરીરવ્યયનમ્, કણ્ટકાગ્રમાત્રે બાણાગ્રમાત્રે ચ ક્વચિદ્ગ્ને નિસ્વાતે સકલાઙ્ગપીઢા, નેત્રેઽ

મુખવલ્લિકાકે બાંધનેમેં જો સાધુ પ્રમાદી હોતા હૈં ઉસકો ષટ્કાયકી વિરાધના અવશ્ય  
લગેગો ક્યોંકિ ભગવાને ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રમેં કહા હૈં કિ—“પ્રતિલેખન કરનેમેં જો સાધુ પ્રમાદી હૈં  
તથા પ્રતિલેખનકે સમય સાધુ પરસ્પર બાતેં કરે, જનપદ આદિકી કથા કરે, પચક્ષણ દેવે,  
વાંચે અથવા વંચાવે તો વહ ષટ્કાયકા વિરાધક હોતા હૈં” તો જો મુખવલ્લિકા બાંધે વિના  
રહતે હૈં ઉનકો પ્રમાદ-દોષ તથા પ્રમાદજન્ય ષટ્કાયકી વિરાધનાકા દોષ કૈસે નહોં લગેગા ?  
અર્થાત્ જરૂર લગેગા । મુખવલ્લિકાકે નહોં બાંધનેમેં આગમોંમેં જો બહુતસે દોષ કહે ગયે હૈં વે  
તો પહેલે પ્રતિપાદિત કર હીં ચુકે હૈં ।

હસ પ્રકાર જૈસે નાવમેં છોટાસા છેદ હોનેપર નદી આદિમેં ડૂબ જાને સે મહાન્ હાનિ  
હોતી હૈં, છોટીસી હીરાકી કનીકા ભક્ષણ કરનેસે પ્રાણોંકા હીં નાશ હોતા હૈં, વિચ્છુકે થોડાસા  
કાટ સ્નાનેસે સારે શરીરમેં વ્યથા હોતી હૈં, કાંટે યા તીરકો જરાસી નોંક કિસી અંગમેં ઘુસ

મુખવલ્લિકા બાંધવામાં જે સાધુ પ્રમાદી હોય છે તેને ષટ્કાયની વિરાધના અવશ્ય થાય  
છે કેમકે ભગવાને ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રમાં કહ્યું છે કે—“પ્રતિલેખન કરતી વખતે જે સાધુ પરસ્પર  
વાર્તાલાપ કરે, દેશકથા આદિ કથા કરે, પચક્ષણ કરાવે, પોતે વાંચે અથવા વંચાવે તો તે ષટ્કા  
યનો વિરાધક થાય છે” જે એમ છે તો જે મુખવલ્લિકા બાંધ્યા વગર રહે છે તેને પ્રમાદદોષ  
અને પ્રમાદજન્ય ષટ્કાયની વિરાધનાનો દોષ કેમ નહીં લાગે ? અર્થાત્ અવશ્ય લાગે.  
મુખવલ્લિકા નહીં બાંધવામાં આગમોંમાં દોષ બતાવ્યા છે તે તો પહેલાં કહી ચુક્યા છીએ.

એ પ્રકારે જેમ નાવમાં નાનું છિદ્ર પડવાથી તે નદી આદિમાં ડૂબી જવાથી ભારે  
હાનિ થાય છે, નાની સરખી હીરા કણીનું ભક્ષણ કરવાથી પ્રાણનો નાશ થાય છે, વીંછી જરા  
કરડવાથી આખા શરીરમાં ભયંકર વ્યથા થાય છે, કાંટા યા તીરની નાની સરખી અણી કોઇ



णुतरस्यापि रजःकणस्य निपाते नेत्रोपघातः, नासिकाग्रमात्रे स्वल्पेऽपि देहभागे छिन्ने समग्रशरीरशोभोपघातः, स्वल्पेनाऽप्याधाकर्मादिसिक्थेन मिश्रितेऽन्नादौ पूतिकर्मदोषदूषितमाहारजातं भवति, स्वल्पेऽपि जिनवचनसन्देहे सर्वचारित्रनाशो जायते, तथैव स्वल्पेऽपि काले मुखवस्त्रिकाबन्धनोपेक्षया षट्कायविराधनायां सत्यां चातुर्मासिकप्रायश्चित्ताधिकारितापत्तिः । तथाचोक्तं निशीथसूत्रे द्वादशोद्देशकेऽष्टमसूत्रादारभ्य द्वादशसूत्रं यावत्—

“जे भिक्खू० पुढवीकायस्स कलमायमवि समारंभइ, समारंभंतं वा साइज्जइ । एवं जाव वणस्सइकायस्स आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठणं”

पुनरपि निशीथभाष्ये संयमघातद्वारे महिकाद्यप्यायतनार्थं प्रोक्तम्—

“वासत्ताणावरिया णिक्कारणे ढंति, कज्जे जतणाए ।

हत्थऽच्छिगुलिसण्णा, पोत्तंतरियावभासंति ॥१॥ इति ।

( नि. भाष्य उ. १९ गा. ५७ )

छाया—वर्षात्राणावृता निष्कारणे तिष्ठन्ति, कार्ये यतनया ।

हस्ताक्षयङ्गुलीसञ्ज्ञा, पोतान्त एव भाषन्ते ॥१॥ इति ।

चूर्णिकारेण “पोत्तंतरियावभासंति” इति पदस्य चूर्णो हस्तभ्रुवादिसङ्केतेन यदि

जाय तो सब अंगमें भयंकर पीड़ा होने लगती है, आँखमें छोटीसी किरकिली घुस जानेसे आँखमें तकलीफ होती है, जरासी नाक कट जानेसे सब शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, आधाकर्म आदि आहारका एक भी सीध मील जानेसे सब आहार पूतिकर्मदोष से दूषित हो जाता है, जिनवचनोंमें तनिक भी सन्देह करनेसे समस्त चारित्र का नाश हो जाता है, वैसे ही थोड़ी देर भी मुखवस्त्रिका बांधनेकी उपेक्षा करनेसे षट्कायकी विराधना होती है, अतः चातुर्मासिक प्रयश्चित्त लगता है । निशीथसूत्रके बारहवें उद्देशके आठवें सूत्रसे बारहवें सूत्रतकमें कहा है—“जे भिक्खू०”, इत्यादि, फिरभी निशीथ सूत्रके मध्यमें संयमघात नामक द्वारके अन्दर, धूँवर आदि अप्कायकी यतनाके लिए कहा है ‘वासत्ताणा०’ इत्यादि,

इस गाथामें आये हुए ‘पोत्तंतरियावभासंति’ इस पदकी चूर्णि करते समय चूर्णिकारने

अंगमां पेसी ज्वाथी अंगमां पीडा थवा लागे छे, आंभमां न.नुं सरभुं क्खुं पेसी ज्वाथी आंभमां तकलीइं थाय छे, नातुं सरभुं नाक कपाठ ज्वाथी आभा शरीरनी सुंदरता नष्ट थईं जय छे, आधाकर्म आदि आहारतुं अेक क्खुं पणु मणी ज्वाथी भये आहार पूतिकर्म दोषथी दूषित थईं जय छे. जिनवचनोमां लगार पणु सँदेह करवाथी समस्त चारित्रोना नाश थईं जय छे, तेम थोडो वधत पणु मुखवस्त्रिका बांधवानी उपेक्षा करवाथी षट्कायनी विराधना थाय छे. तेथी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लागे छे, निशीथसूत्रना आरमा उद्देशाना आठमा सूत्रथी आरमा सूत्र सुधीमां क्खुं छे के ‘जे भिक्खू०’ इत्यादि,

वणी निशीथसूत्रना भाष्यमां ‘संयमघात’ नामना द्वारमां आकण आदि अप्कायनी यतना करती वधते क्खुं छे के ‘वासत्ताणा०’ इत्यादि,

સાધવો નાવગચ્છન્તિ તદાઽવશ્યવક્તવ્યે સતિ “મુહપોત્તિયઅંતરિયા જયણાઽ ભાસંતિ”  
ઇતિ પ્રતિપાદિતમ્ ।

અનેન સ્પષ્ટં સિધ્યતિ—યત્ મુખવલ્લિકા સાધૂનાં મુખે પૂર્વં વદ્ધાઽઽસીદિતિ તેનૈવ  
કારણેન ‘મુખપોતાન્ત એવ યતનયા મન્દં—મન્દં ભાષન્તે’ ઇત્યુક્તમ્ ।

કિંચ્ચ વિધિપ્રપાગ્રન્થે ચારિત્રાતિચારપ્રાયશ્ચિત્તાધિકારે મુખવલ્લિકામન્તરેણ ભાષણનિ-  
ષેધઃ પ્રતિપાદિતઃ ।

કિંચ્ચ પૂર્વોક્તદિશા ષટ્કાયવિરાધકસ્ય તદ્વિરાધનાવર્જનપરકભગવદાજ્ઞામહદોષપસદ્ગઃ ।

તથા ચ સતિ અવિધિવિધાનં, તતો મિથ્યાત્વં, તસ્માચ્ચારિત્રવિરાધના તતશ્ચ દીર્ઘસં-  
સારિત્વં પ્રપદ્યેત, અત એવાઽઽજ્ઞામહ્નકર્તુર્ગુરુતરપ્રાયશ્ચિત્તં પ્રદર્શિતમ્ । ઉક્તં હિ વૃહત્કલ્પભાષ્યે—

“અવરાહે લહુગયરો, આણામંગમિ ગુરુતરો કિહણુ ? ।

આણાઽ ચિય ચરણં, તબ્મંગે કિં ન મંગં તુ ? ॥૧૧॥” ઇતિ ।

કહા હૈ—અગર સાધુ હાથ આંખ આદિકે ઇશારેસે નહીં સમજ સકે ઓર બોલના હી જરૂરી સમજે  
તો ‘મુખવલ્લિકાકે અંદર હી યતનાસે (ધીરે—ધીરે) બોલે ’ ઇસસે સ્પષ્ટ સિદ્ધ હોતા હૈ કિ સાધુઓ-  
કે મુખ પર મુખવલ્લિકા પહેલે બાંધી હુઈ થીં ઇસી કારણ કો લેકર હી મુખલ્લિકાકે અંદર હી યતનાસે  
(ધીરે ધીરે) બોલે ’ એસા કહા હૈ ।

ફિર ‘વિધિપ્રપા ’ નામકે ગ્રન્થમેં મી ચારિત્રકે અતિચારોંકા પ્રાયશ્ચિત્ત કહતે સમય મુખ-  
વલ્લિકાકે વિના બોલનેકા સ્પષ્ટ નિષેધ કિયા ગયા હૈ ।

તથા—પૂર્વોક્ત રીતિસે ષટ્કાયકી વિરાધના કરનેવાલેકો ભગવાન્કી “ષટ્કાયકી વિરાધનાકા ત્યાગ  
કરના” ઇસ આજ્ઞાકે મંગ કરનેકા દોષ લગતા હૈ, યહ દોષ લગનેસે અવિધિકા વિધાન, અવિધિકા  
વિધાન કરનેસે મિથ્યાત્વ, મિથ્યત્વસે ચારિત્રકી વિરાધના ઓર ચારિત્રકી વિરાધનાસે દીર્ઘસંસારિત્વકી  
પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । ઇસીસે આજ્ઞામંગકા ગુરુતર પ્રાયશ્ચિત્ત લગતા હૈ ।

વૃહત્કલ્પભાષ્યમેં કહા હૈ—“અવરાહે” ઇત્યાદિ,

આથી સિદ્ધ થાય છે કે સાધુઓના મુખ પર મુખવલ્લિકા બાંધેલી હતી. આ કારણને  
લીધે જ ‘પોત્તંતરિયાવભાસંતિ’ આ પદની ચૂલ્કિ કરતાં ચૂલ્કિકાકારે કહ્યું છે કે—“સાધુ  
ઈશારાથી ન સમજે અને બોલવું જ પડે તો તે મુખવલ્લિકાની અંદર જ યતનાથી બોલે”  
વળી ‘વિધિપ્રપા’ નામના ગ્રન્થમાં પણ ચારિત્રનાં અતિચારોની શુદ્ધિના પ્રકરણમાં  
મુખવલ્લિકા વગર બોલવાનો નિષેધ કર્યો છે !

તથા—પૂર્વોક્ત રીતથી ષટ્કાયની વિરાધના કરનારને ભગવાનની “ષટ્કાયની વિરાધનાનો  
ત્યાગ કરવો” આ આજ્ઞાનો ભંગ કરવાનો દોષ લાગે છે. આ દોષ લાગવાથી અવિધિનું  
વિધાન, અવિધિ—વિધાનથી મિથ્યાત્વ, મિથ્યાત્વથી ચારિત્રની વિરાધના અને ચારિત્રની  
વિરાધનાથી દીર્ઘસંસારિત્વની પ્રાપ્તિ થાય છે. એથી આજ્ઞાભંગનું ગુરુતર પ્રાયશ્ચિત્ત લાગે છે.

વૃહત્કલ્પભાષ્યમાં કહ્યું છે—‘અવરાહે’ ઇત્યાદિ.

सर्वमेव चारित्रं भगवदाज्ञायामेव व्यवस्थितम्, अतस्तद्भङ्गे मूलोत्तरगुणादिकं वस्तु किं न भग्नम् ? अपि तु सर्वमपि भग्नमिति हेतोस्तत्र गुरुतरप्रायश्चित्तं युक्तमेवेति भावः । तस्मात्—मुखोपरि मुखवस्त्रिकाबन्धनं सकलजैनागमप्रतिपाद्यमिति सिद्धम् । एवं च भगवतीसूत्रे 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' इति वाक्यस्य सूक्ष्मकायं=मुखवस्त्रिकाम् 'अणिज्जूहित्ता'—अपोह्य परित्यज्य=अबद्ध्वेत्यर्थो बोध्यः, एवमन्यत्राप्युहनीयम् ।

यत्तु आचारासूत्रे उच्छ्वासादिकाले मुखपिधानोपदेशेन मुखवस्त्रिका करणैव धारणीया न तु दोरकेणेति तत्तत्समये एव मुखवस्त्रिकया घ्राणमुखादिपिधानं विधेयमिति च प्रतीयते, दोरकावलम्बने मुखवस्त्रिकायाः सदा धारणीयत्वे तु पुनर्मुखपिधानोपदेशो व्यर्थः स्यादिति वदन्ति तदज्ञानमूलम् । आचाराङ्ग—सूत्रपाठो हि तावदेवं विद्यते—

“से भिक्खु वा २ उस्सासमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा

समस्त चारित्र भागवान्की आज्ञामें हो है । भगवान्की आज्ञाका भंग होने पर मूलगुण उत्तरगुण आदि सभी नष्ट हो जाते हैं । अतः आज्ञाभंगमें गुरुतर प्रायश्चित्त देना युक्त ही है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मुख पर मुखवस्त्रिका बांधना सब जैनशास्त्रोंमें प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार भगवती सूत्रके 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' वाक्यका अर्थ यह समझना चाहिये कि 'मुखवस्त्रिका त्याग करके अर्थात् न बांध करके' ऐसा सब जगह समझना चाहिए ।

प्रश्न—आचाराङ्गसूत्रमें उच्छ्वास आदि लेते समय मुख ढँकने का उपदेश दिया है । इससे यह प्रतीत होता है कि मुखवस्त्रिका हाथमें ही रखनी चाहिए, डोरेसे नहीं बांधनी चाहिए, अमुक—अमुक समय पर ही जब उच्छ्वास आदि आवे तब ही नाक या मुख ढँक लेना चाहिए । डोरेसे मुखवस्त्रिका धारण करना उचित हो तो पुनः मुख ढँकनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा ।

उत्तर—ऐसा प्रश्न करना अज्ञानता है । आचाराङ्ग सूत्रका पाठ ऐसा है ।

समस्त चारित्र भगवान्की आज्ञामें न रहेंगे । भगवान्की आज्ञानो भंग थावधी भूणगुण उत्तर गुण आदि अधुं नष्ट थधं नय छे. तेथो आज्ञाभंगमां गुरुतर प्रायश्चित्त आवे छे. अे रीते सिद्ध थयुं के मुख पर मुखवस्त्रिका बांधवी अेवुं अधां जैनशास्त्रोमां प्रतिपादन करेवुं छे. अेटला भाटे भगवती—सूत्रना 'सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं' अे वाक्यनो अर्थ अेम समजवेो न्नेधंअे के 'मुखवस्त्रिकानो त्याग करीने अर्थात् न बांधीने.' अेज प्रभाणे अधी नग्याअे समजवुं.

प्रश्न—आचाराङ्ग—सूत्रमां उच्छ्वास आदि लेती वथते मुख ढांकवानो उपदेश आपयो छे. अेथी अेम प्रतीत थाय छे के मुखवस्त्रिका हाथमां न राखवी न्नेधंअे, दोरथी बांधवी न्नेधंअे नहि. अमुक अमुक समये न न्यारे उच्छ्वास आदि आवे त्यारे न नाक या मुख ढांकी लेवुं न्नेधंअे, दोरथी मुखवस्त्रिका धारण करवी उचित होय तो पधी पुनः मुख ढांकवानो उपदेश व्यर्थ थधं नशे.

उत्तर—अेवो प्रश्न करवो अज्ञानता छे. आचाराङ्ग—सूत्रनो पाठ अेवो छे—

જંભાયમાણે વા ઉહ્નોષ વા વાયનિસગ્ગં વા કરેમાણે પુહ્વામેવ આસયં વા પોસયં વા પાણિના પરિપેહિત્તા તઓ સંજયામેવ ડસસિજ્જ વા જાવ વાયનિસગ્ગં વા કરેજ્જા” (સૂત્ર ૧૦૯) ઇતિ ।

છાયા—“સ ભિક્ષુર્વાર ઉચ્છ્વાસન્ વા, નિઃશ્વસન્ વા, કાસમાનઃ (કાસં કુર્વન્) વા શ્વવન્ (શ્વતં કુર્વન્) વા, ‘જમ્ભમાણો વા’, ઉદ્ધિરન્ વા, (અધિષ્ઠાનેન) વાતનિસર્ગં વા કુર્વન્ પૂર્વમેવ આસ્યકં વા પોષકં વા પાણિના પરિપિધાય તતઃ સંયત ઇવ ઉચ્છ્વાસેદ્ વા યાવદ્ વાતનિસર્ગં વા કુર્યાત્.” ઇતિ સંસ્કૃતમ્ ।

અત્ર “આસયં” ઇતિ લક્ષણાવૃત્ત્યા ઘ્રાણસ્યાપિ બોધકમ્, “ઉસ્સાસમાણે વા નીસાસમાણે વા છીયમાણે વા” ઇતિ પદાનિ લક્ષણાયાં તાત્પર્યગ્રાહકાણિ । ‘આસયં’ ઇત્યસ્ય મુખમાત્રપરત્વે તુ પાણિના તત્પરિવિધાનેઽપિ ઘ્રાણજન્યોચ્છ્વાંસાદિયતનાયા અનુપપત્તેઃ ।

અનેન સૂત્રેણ ‘ઉચ્છ્વાસાદિકાલે આસ્યકપોષકપરિપિધાનં પાણિના ત્રિવેય મિતિ બોધયતો ભગવતસ્તાત્પર્યં મુખવસ્ત્રિકયા પિધાને કલ્પયન્તઃ પઠિતાભિમાનિન ઇવમનુયોક્તવ્યાઃ—‘પાણિ’ શબ્દસ્ય મુખવસ્ત્રિકારૂપોઽર્થઃ કિં વાચ્યો લક્ષ્યો વ્યક્ત્યો વા ? । નાઘઃ,

“ભિક્ષુ શ્વાસોહ્ચ્વાસ લેતે સમય, શ્વાસતે સમય, છીંકતે સમય, જંભાતે સમય, ડકારતે સમય તથા અધોવાયુકા ત્યાગ કરતે સમય પહેલે મુખ અથવા મલદ્વારકો હાથસે ઢેંકકર ફિર યતનાપૂર્વક શ્વાસ લેવે યાવત્ અધોવાયુકા ત્યાગ કરે” ।

યહાં ‘આસયં (મુખ) પદ લક્ષણાકે દ્વારા ઘ્રાણકામી બોધ હૈ । ‘ઉસ્સાસમાણે વા નિસ્સાસમાણે વા છીયમાણે વા’ યે પદ લક્ષણામેં તાત્પર્યકે ગ્રાહી હૈ । ‘આસયં’ પદસે કેવલ મુખકા અર્થ લિયા જાય તો હાથસે મુખ ઢેંક લેનેપર મી નાકસે નિકલનેવાલે ઉચ્છ્વાસ આદિકી યતના નહીં હો સકતો ઇસ સૂત્રસે ઉચ્છ્વાસ લેતે સમય આસ્યક ઓર પોષક (મલદ્વાર) કો હાથસે ઢેંક લેના ચાહિયે,’ ઇસા ભગવાન્ બતાતે હૈ, ફિર મી નામધારી પંડિત ‘મુખવસ્ત્રિકાસે ઢેંકના ચાહિઈ’ ઇસા અર્થ નિકાલતે હૈ । ડનસે હમ પૂછતે હૈ કિ તુમ હાથકા અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કરતે હો સો વહ અર્થ વાચ્ય હૈ, યા લક્ષ્ય

“ભિક્ષુ શ્વાસોહ્ચ્વાસ લેતી વખતે, ઉધરસ ખાતી વખતે છીંકતી વખતે, ખગાસુ ખાતી વખતે, ઓડકાર ખાતી વખતે તથા અધોવાયુનો ત્યાગ કરતી વખતે, પહેલાં મુખ અથવા મળદ્વારને હાથથી ઢાંકીને પછી યતના પૂર્વક શ્વાસ યાવત્ અધોવાયુનો ત્યાગ કરે.”

અહીં ‘આસયં’ (મુખ) શબ્દ લક્ષણાદ્વારા ઘ્રાણનો પણ બોધક છે. ‘ઉસ્સાસમાણે વા નિસ્સાસમાણે વા છીયમાણે વા’ એ પદો લક્ષણામાં તાત્પર્યનાં ગ્રાહી છે. આસયં શબ્દથી કેવળ મુખનો અર્થ લેવામાં આવે તો હાથથી મુખ ઢાંકી લેવા છતાં પણ નાકથી નીકળનાર ઉચ્છ્વાસ આદિની યતના થઈ શકતી નથી.

આ સૂત્રથી ઉચ્છ્વાસ લેતી વખતે આસ્યક અને પોષક (મલદ્વાર) ને હાથથી ઢાંકી લેવું જોઈએ એમ ભગવાન ખતાવે છે, છતાં પણ નામધારી પંડિત મુખવસ્ત્રિકાથી ઢાંકવું જોઈએ એવો અર્થ કાઢે છે. એમને અમે પૂછીએ છીએ કે તમે હાથનો અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કરો છો, તો એ અર્થ વાચ્ય છે, યા લક્ષ્ય છે કે વ્યંગ્ય છે ? પહેલો પક્ષ તો ખરાખર નથી

अभिधाशक्तिग्राहकव्याकरणकोशादिभिरुक्तार्थाभावात्, 'पञ्चशास्त्रः शयः पाणि'—रित्यमर-  
कोशव्याख्यायां पञ्च शाखा इवाङ्गुलयोऽस्येति पञ्चशास्त्रः शेतेऽस्मिन् सर्वमिति शयः,  
( 'पुंसि' ३।३।१२१। ) घः । पणायन्त्यनेनेति पाणिः 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इत्य-  
स्मात् 'अशिपणाय्योरुडायलुकौ च' ( उ० ४।१३३ ) इतीण्, 'आयप्रत्ययस्य लुक् च'  
—ति व्युत्पादनेन तत्र करवाचकत्वस्यैव लाभाच्च ।

नापि द्वितीयः, मुख्यार्थकरकरणकपिधानतात्पर्यस्य निर्वाधेन तात्पर्यानुपपत्तिरु  
पलक्षणाबीजस्याभावात् ।

नापि तृतीयः, मुख्यार्थतात्पर्यकत्वेनैव करेण पायुपिधानस्यापरकरेण मुखघ्राण-  
पिधानस्य चोपपत्त्या व्यङ्ग्यार्थमुखवस्त्रिकातात्पर्यकत्वकल्पनाया अनावश्यकत्वात्, अनौ-

या व्यङ्ग्य है ?। पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अभिधाशक्तिके ग्राहक व्याकरण कोष  
आदिकोमें यह अर्थ नहीं मिलता। अमरकोषमें हाथके तीन नाम दिये हैं—(१) पञ्चशास्त्र (२)  
शय और (३) पानी। व्याख्यामें बताया है कि शाखा जैसे पाँच अंगुलियाँ होती हैं इसलिए इसे  
पञ्चशास्त्र कहते हैं उसमें सब वस्तुएँ सोती (रखी जाती) हैं इसलिए शय कहते हैं। उससे सब  
लेनदेन आदि व्यवहार होते हैं अतः उसे पाणि कहते हैं। "अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च" (उ०-  
४।१३३) इससूत्रसे 'इण्' होता है और 'आय' प्रत्ययका लुक् होता है। ऐसी व्युत्पत्ति करनेसे  
'कर' का वाचक ही होता है। दूसरा भी पक्ष (लक्ष्य अर्थ वहाँ माना जाता है जहाँ मुख्य (शा-  
ब्दिक) अर्थ लेनेमें किसी प्रकारकी बाधा आती हो। यहाँ पर 'हाथसे ढँक कर' ऐसा अर्थ करने  
में कोई बाधा नहीं आती, इसलिए लक्षणा नहीं हो सकती, अतः यह लक्ष्य अर्थ भी नहीं है।

तोसरा (व्यङ्ग्य अर्थ मानना) भी पक्ष बाधित है। जब प्रधान अर्थ लेनेसे एक हाथसे मल  
द्वार ढँकना और दूसरे हाथसे नाक-मुखका ढँकना युक्त है तो व्यङ्ग्य अर्थ (मुखवस्त्रिकाके तात्पर्यकी

कारण के अलिधा शक्तिना आहुक व्याकरण के अर्थ नथी भणतो. अमर-  
कोषमां हाथनां त्रयु नाम आभ्यां छे. (१) पञ्चशास्त्र, (२) शय अने (३) पाणि. तेनी  
व्याख्यामां अताव्युं छे के शाखा जेवी पांच आंगुलीयो होय छे तेथी तेने 'पञ्चशास्त्र' कहे  
छे. अनेमां अधी वस्तुयो सूत्रे (राभवामां आवे) छे तेथी तेने 'शय' कहे छे. ते वडे अधी  
लेणुहेणु वगेरेने वडेवार थाय छे तेथी अने 'पाणि' कहे छे अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च  
(उ० ४ १३३) अने सूत्रथी इण् शाय छे अने आय प्रत्ययने लुक् थाय छे. अनेनी व्युत्पत्ति  
करवाथी कर ने वाचक न अने छे.

धीजे पक्ष पणु (लक्ष्य अर्थ मानवो) अराअर नथी. लक्ष्य अर्थ त्यां मानवामां  
आवे छे के न्यां मुख्य (शाब्दिक) अर्थ लेवामां केअ प्रकारनी आधा आवे. अही 'हाथथी  
ढाँकने' अवे अर्थ करवामां केअ आधा आवती नथी, तेथी लक्षणा थध सकती नथी,  
अहे अने लक्ष्य अर्थ पणु नथी.

तीजे पक्ष (व्यङ्ग्य अर्थ मानवो) पणु आधित छे. न्यारे प्रधान अर्थ लेवथी अने

चित्याच्च । वायुनिसर्गानन्तरं क्षुते जायमाने पायुर्निर्गतवायुसंसृष्टया मुखवस्त्रिकया मुखघ्राणपिधानस्यानौचित्यमापामरप्रतीतमेव ।

पाणिशब्देऽजहल्लक्षणावृत्तिं स्वीकृत्य पाणिस्थितमुखवस्त्रिकये' त्यर्थकल्पनेऽपि नोक्तानौचित्यदोषनिस्तारः । अपिच—आस्यक-पोषकैतदुभयपरिपिधाने पाणिनेत्येकमेव साधनमुक्तं, तत्र पाणिस्थितमुखवस्त्रिकायेर्थाङ्गीकारे दीर्घोच्छ्वासादीनामधोवायुनिसर्ग-स्य च यौगपद्ये सति कथमेकयैव पाणिस्थितया मुखवस्त्रिकया युगपदेव घ्राणं मुखं पायुश्चाऽऽवरीतुं शक्यत इति “पाणिणा परिपेहिता” इति भगवद्वाक्यस्यानुपपत्तिः । न च ‘एकपाणिस्थितया मुखवस्त्रिकयाऽऽस्यकम्, अपरपाणिस्थितया पायुवस्त्रिकया पोषकं परिपिधायै’ त्यर्थाङ्गीकारेण समाधाने सुशकमिति वाच्यम्, सकृदुच्चरितन्यायविरोधेन तादृशार्थकल्पनायाः कर्तुमशक्यत्वात् ।

कल्पना करना) अनावश्यक और अनुचित है । अधोवायु निकलते ही किसीको छींक आने लगे तो उसी अधोवायुवासित मुखवस्त्रिकासे ‘मुख’ और नाक मूंदना बिलकुल अनुचित है और इस अनौचित्यको हरेक समझ सकता है ।

यदि ‘पाणि’ शब्दमें अजहल्लक्षणा वृत्ति मानकर ‘पाणि’ (हाथ) से पाणिमें स्थित मुख-वस्त्रिका अर्थ लगे तो भी अनौचित्य दोष नहीं हट सकता । दूसरी बात यह है कि मुख और मलद्वार ढँकनेका पाणिरूप एक ही साधन बताया है । यदि इसका अर्थ मुखवस्त्रिका किया जावे तो जब एक ही साथ अधोवायु और दीर्घ उच्छ्वास आवेगा तब एक ही मुखवस्त्रिका मलद्वार पर लगाई जावेगी या मुँहपर ? और यदि साथ ही छींक भी आयगी तो वही नाकमें कैसे लगाई जावेगी ? क्योंकि एक मुखवस्त्रिकासे एकसाथ ही सब द्वार नहीं ढँके जा सकते । अतः ‘पाणिणा परिपेहिता’ यह भगवान्का वचन ठीक नहीं बैठेगा । यदि ऐसा समाधान करना चाहो कि एक हाथ-

हाथथी मणद्वार ढांकवुं अने पील्ल हाथे नाक-मुभने ढांकवु युक्त छे तो व्यंग्यार्थ (मुभ-वस्त्रिकाना तात्पर्यनी कल्पना करवी) अनावश्यक अने अनुचित छे. अधोवायु नीकणती वभते न केईने छींक आववा लागे तो अे अधोवायुथी वासित मुभवस्त्रिकाथी मुभ अने नाक ढांकवां अे भिलकुल अनुचित छे. अने अे अनौचित्यने सौ केई समल शके छे.

ने ‘पाणि’ शब्दमां अजहल्लक्षणा वृत्ति मानीने, ‘पाणि’ (हाथ) थी पाणिमां स्थित मुभवस्त्रिकाना अर्थ लेशो तोपाणि अनौचित्य दोष हूर थर्क शकतो नथी. पील्ल वात अे छे के मुभ अने मणद्वार ढांकवानुं पाणिइप अेकन साधन भताव्युं छे. ने अेने अर्थ मुभ-वस्त्रिका करवामां आवे तो न्यारे अेकी साथे अधोवायु अने दीर्घ उच्छ्वास आवशे त्यारे अेक न मुभवस्त्रिका मणद्वार पर लगाडवामां आवशे के मुभ पर ? अने ने साथे न छींक पषु आवशे तो ते नाक पर केवी रीते लगाडवामां आवशे ? कारणु के अेक मुभवस्त्रिकाथी अेकी साथे अथां द्वार ढांकी शकतां नथी. तेथी ‘पाणिणा परिपेहिता’ अेवुं लगवाननुं वचन अराअर अंध अेसशे नहि. ने अेवुं समाधान करवा धरछे. के अेक

किञ्च तेषामयौगपद्येऽपि पायुपिधायकवस्त्रखण्डे मुखवस्त्रिकात्वकल्पनं परमभ्रान्तिमूलम्, मुखपाय्वोरैक्याभावात् । अनावृतस्यैव मुखादेवरावरणे तात्पर्यसत्त्वे परिपिधायेत्यत्र परीत्युपसर्गप्रयोगस्याऽऽनर्थक्यापत्तिश्च, अपिपूर्वकादपि ल्यप्प्रत्ययसिद्धेः ।

किञ्च—‘आवृतस्य पुनरावरणं व्यर्थमेवेति हेतोरनावृतस्यैवाऽऽवरणार्थमयमुपदेशः’ इति वदतस्तव हस्तवस्त्रिकाधारकस्य मते पोषकस्य परिधानवसनानावरणीयतापत्तिः, अन्यथा परिधानवस्त्रावृतपोषकावरणोपदेशस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्युभयथाऽपि न दोषनिस्तारः । तस्मात्—‘आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ इति भगवद्वाक्यस्य ‘मुखवस्त्रिका करेणैव धारणीया नतु दोरकेणे’—त्यर्थकल्पनं साहसमात्रम् ।

की मुँहपत्तोसे मुँह और दूसरे हाथके पायुवस्त्रसे मलद्वार ढक लेवेंगे, सो ठीक नहीं है। ‘सकृदुच्चरितन्याय’ से ऐसी कल्पना करना शक्य नहीं है।

अधोवायु और छींक आदि एक साथ न भी हों तो भी अधोवायुको यतना करनेवाले वस्त्रको मुखवस्त्रिका कहना भारी भूल है, क्योंकि मुख और मलद्वार एक चीज नहीं हैं—दोनों अलग अलग हैं। यदि खुले मुख बोलनेका तात्पर्य हो तो ‘परिपेहिता’ पदमें ‘परि’ उपसर्ग व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि ‘अपि’ उपसर्गपूर्वक धातुसे भी ल्यप् प्रत्यय होता है।

ढँके हुएको फिर ढाँकना वृथा ही है, वगैर ढँके हुए को ढँकनेके लिए यह उपदेश दिया है।—यदि हाथमें मुँहपत्ति रखने वाले ऐसा कहेंगे तो यह सिद्ध हो जायगा कि उनका मलद्वार सदा अनावृत (उघड़ा हुआ) रहता है। नहीं तो आवृतको फिर आवरण करनेका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। अतएव—‘आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ इस भगवद्वाक्य का यह अर्थ निकालना कि- मुखवस्त्रिका हाथ ही में रखनी चाहिए डोरेसे मुख पर नहीं बाँधना चाहिए ऐसी कल्पना करना साहसमात्र है।

हाथनी मुहपत्तिथी मुभ अने भीज हाथना पायुवस्त्रथी मणद्वार ढांकी देवाशे, तो ते भराभर नथी, कारणु के सकृदुच्चरितन्यायथी अेवी कल्पना करवी शक्य नथी.

अधोवायु अने छींक आदि अेकी-साथे न डोय तो पणु अधोवायुनी यतना करनार। वस्त्रने मुभवस्त्रिका कडेवी अे मोठी लूदु छे, कारणु के मुभ अने मणद्वार अेक थीज नथी. जेठि अलग अलग छे. जे मुदले मुभे जेदवानुं तात्पर्य डोय तो परिपेहिता शब्दमां परि उपसर्ग व्यर्थ थधु जशे कारणु के अपि उपसर्ग पूर्वक धातुथी पणु ल्यप् प्रत्यय थाय छे.

‘ढाँकेलाने इरीथी ढाँकवुं अे वृथा छे, तेथी ढाँकथा वगरनाने ढाँकवाने माटे आ उपदेश आप्ये छे.’—जे हाथमां मुहपत्ति राखनार अेम कडेशे तो अेम सिद्ध थशे के अेनुं मणद्वार सदा अनावृत ( उघाडुं ) रडे छे. नडि तो आवृतने इरी आवरणु करवाने। उपदेश व्यर्थ अनि जशे. तेथी इरी आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहिता’ अे लगवद्वाक्यने अेवो अर्थ काठवो के ‘मुखवस्त्रिका हाथमां ज राखवी जेधुअे, दोराथी मुभ पर बांधवी न जेधुअे’ अेवी कल्पना करवी अे साहसमात्र छे.

मम तु सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवविराधनापरिहारार्थं बद्धमुखवस्त्रिक-  
स्योच्छ्वासादिकाले मुखोद्गतवायुवेगेन मुखतो दोरकावल्म्बिततदपगमसम्भावनायाः  
सत्त्वेन तन्निवारणाय मुखवस्त्रिकाऽऽवृतस्यापि मुखस्य पाणिना परिपिधानमावश्यकमेव ।  
एवं परिधानवस्त्राऽऽवृतस्यापि पोषकस्य परिपिधानं विधेयमेव, उच्छ्वासादीनां यौगपद्ये-  
ऽयौगपद्य वा एकेन करेण घ्राणमुखपिधानम्, अपरेण पायुपिधानं विधेयमिति भावः ।

पाणिनेत्यत्रैकवचनमपि पाणित्वजातावन्वयविवक्षयेत्युभयपाणिबोधकत्वेऽप्यनुकूलमेव ।

किञ्च पाणिशब्दस्य मुख्यार्थबाधाऽभावेन मुख्यार्थबाधमूलिका लक्षणापि नाङ्गीक-  
रणीया भवति । तथा चोक्तसूक्ष्मव्यापिप्रभृतिविविधजीवर्हिसावारणाय सदैव सदोरकमु-  
खवस्त्रिकाधारणं नैतत्सूत्रतो विरुध्यते, किन्तु परिपिधायेत्यत्र परिशब्दप्रयोगेण भगवान्  
मुखवस्त्रिकापिहितस्यैव मुखस्य पिधानमावेदयतीत्यलं पल्लवितेन ।

हमारे मतेसे सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम तथा वायुकाय आदि जीवोंकी विराधनासे बचनेके  
लिए मुखवस्त्रिका बँधी हुई होने पर भी उच्छ्वास आदिके समय मुखसे निकलने वाले वायुके वेगसे  
मुखवस्त्रिकाके खिसक जानेकी संभावना रहती है, इसलिए उस संभावनाको दूर करनेके वास्ते  
मुखवस्त्रिकासे आवृत मुखको फिर हाथसे आवृत करना आवश्यक है। इसी प्रकार चोलपट्ट होने  
पर भी अधोवायुके विषयमें समझना चाहिए। उच्छ्वास आदि एक ही साथ हों तो एक हाथ  
से मुख और नाक ढँकले और दूसरे हाथसे अधोवायुकी यतना करे।

“पाणिणा” यद्यपि एक वचन है, इसलिए हमारे मतेके अनुकूल हो है।

यहाँ पाणि” शब्दके मुख्य अर्थमें बाधा नहीं है अतः लक्षणा भी मानना योग्य नहीं है,  
क्योंकि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ में बाधा आती हो। इसलिए उक्त सूक्ष्म व्यापी  
वगैरह विविध जीवोंकी विराधनासे बचने के वास्ते सदैव डोरा सहित मुखवस्त्रिका मुख पर बांधना

अमारे मते सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम तथा वायुकाय आदि जीवोंकी विराधनाथी  
अथवाने माटे मुखवस्त्रिका बांधी होवा छतां उच्छ्वास आदिने समये मुखथी नीकणता  
वायुना वेगथी मुखवस्त्रिका असी जवानी संलावना रहे छे. तेथी अ संलावनाने  
दूर करवाने माटे मुखवस्त्रिकाथी ढाँकेला मुखने पणु हाथथी ढाँकवानी आवश्यकता छे. अने  
रीछे चोलपट्ट होवा छतां पणु अधोवायुना विषयमां समजवुं. उच्छ्वात्र आदि जे अेकी  
साथे ज थाय तो अेक हाथथी मुख अने नाक ढाँकी लेवां अने थीज हाथथी अधोवायुनी  
यतना करवी.

पाणिणा जे के अेकवचन छे तोपणु पाणित्व अतिमां अन्वय थवाथी जेउ हाथने।  
आधक थाय छे तेथी अमारे मते ते शब्द अनुकूल छे.

अही पाणि शब्दना मुख्य अर्थमां आधा नथी तेथी लक्षणा पणु मानवा योज्य  
नथी, कारणु के लक्षणा त्यां थाय छे के ज्यां मुख्य अर्थमां आधा आवती होय तेथी  
करीने उक्त सूक्ष्म, व्यापी वगैरे विविध जीवोंकी विराधनाथी अथवाने माटे सदैव डोरा  
साथे मुखवस्त्रिका बांधवी अे सूत्रथी विरुद्ध नथी, परन्तु परिपेहित्त अही परि. उपसर्गना



केचित्तु—‘विपाकसूत्रे मृगापुत्राध्ययने—‘तए णं सा मिया देवी तं कट्टसगडियं अणुकड्डेमाणीर जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता चउत्पुडेणं वत्थेणं मुहं बंधमाणी भगवं गोयमं एवं वयासि—तुभेवि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधेह । तए णं से भगवं गोयमे मियाए देवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधइ’ इत्युक्तं, तस्यायमाशयः—मृगापुत्रं दर्शयितुं प्रवृत्ता मृगादेवी भूमिशृङ्खलारोद्धाटनकाले दुर्गन्धाघ्राण-वारणाय चतुष्पुटेन वस्त्रेण स्वमुखं बध्नती भगवन्तं गौतमं जगाद—हे भदन्त ! त्वमपि मुखपोतिकया मुखं बधान, ततः स भगवान् गौतमो मृगादेव्यैवमुक्तः सन् मुखपोतिकया मुखं बध्नाति (स्म) इति । इदमनेन सुस्पष्टं प्रतीयते—गौतमस्वामिनो मुखोपरि मुखवस्त्रिका बद्धा नासीत् किन्तु हस्त एव धृतेति, अत एव मृगादेवी दुर्गन्धाघ्राणप्रतिबन्धाय ‘तुभेवि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधेह’ इति प्रार्थितवतीत्याहुः’ तन्न सम्यक्—उष्णमुखवायुतः सम्पातिमसूक्ष्मव्यापिजीवानां रक्षणार्थं बाह्यवायुकायरक्षार्थं च मुखवस्त्रि-

इस सूत्रसे विरुद्ध नहीं है। परन्तु ‘परिपेहिता ‘परि’ उपसर्गके प्रयोगसे प्रगत है कि श्रीमहावीर प्रभुने मुहपत्ति से पिहित (ढँकेहुए) मुखको पुनः पिधान करना प्रतिपादित किया है।

कोई कोई ऐसा कहते हैं कि विपाकसूत्रमें मृगापुत्रके अध्ययनमें ऐसा लिखा है— ‘तए णं सा’ इत्यादि

इसका आशय यह है कि मृगादेवी जब मृगापुत्रको आहार देनेके लिए भोंयरेके किवाड़ खोलने लगी तब नाकमें दुर्गन्ध आनेका निवारण करनेके लिए चार पड़वाला वस्त्र मुख पर बांधकर भगवान् गौतमस्वामीसे कहने लगी— ‘हे भदन्त । आप भी मुखवस्त्रिकासे मुख बांध लीजिये’ । मृगादेवीका कथन सुनकर भगवान् श्री गौतम मुखवस्त्रिकासे मुख बांधते हैं (बांध लिया)। ‘इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि पहले श्रीगौतमस्वामीके मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बंधी हुई थी, किन्तु हाथमें थी, इसीसे मृगादेवीने मुखवस्त्रिका बांधनेकी प्रार्थना की थी । उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मुखको

प्रयोगथी स्पष्ट थाय छे के मडावीर प्रभुअे मुहपत्तिथी पिहित (ढाँकेला) मुअने पुनः ढाँकुवातुं प्रतिपादित क्युं छे.

कैथि कैथि अेम कडे छे के विपाकसूत्रमां मृगापुत्रना अध्ययनमां लण्णुं छेके—‘तए णं सा’ इत्यादि. अेना आशय अे छे के मृगादेवी अ्यारे मृगापुत्रने आहार देवाने माटे लोथरानां कमाड जोलवा लागी त्यारे नाकमां दुर्गन्ध आवती निवारवाने माटे चार पडवाणुं वस्त्र मुअ पर आंधीने लगवान गौतम स्वामीने कडेवा लागी के-डे लहन्त ! आप पणु मुअ-वस्त्रिकाथी मुअ आंधी ल्ये. मृगादेवीतुं कथन सांलणीने लगवान् गौतम मुअवस्त्रिकाथी मुअ आंधे छे (आंधी लीधुं.) आथी अे तदन स्पष्ट थाय छे के पडेलां गौतम स्वामीना मुअ पर मुअवस्त्रिका आंधेली नडोती, किन्तु हाथमां डती, तेथी मृगादेवीअे मुअवस्त्रिका आंधवानी प्रार्थना करी डती. अेमनुं अे कडेवुं अराअर नथी; कारणु के मुअना उष्ण वायुथी संपातिम, सूक्ष्म अने व्यापी श्रवानी रक्षा करवाने माटे तथा आह्य वायुकायनी

કાબંધનસ્ય સકલજૈનાગમતાત્પર્યવિષયતયા મુખવસ્ત્રિકા બદ્ધા નાસીદિતિ કલ્પનં તાવન્મિ-  
થ્યાત્વવિલસિતં સકલાગમવિરુદ્ધં ચ । इदमत्र तत्त्वम्—दुर्गन्धाघ्राणवारणाय ‘मुहं बंधेह’ इति  
પ્રાર્થનાડનુપપન્ના, મુખેન ગન્ધગ્રહણાનુપપત્તેઃ, તસ્માદત્ર ‘મુહ’ શબ્દો ન મુખમાત્રપરઃ કિન્તુ  
યથા ‘ગંગાયાં ઘોષઃ’ इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य प्रवाहरूपे शक्यार्थे (मुख्यार्थे) ઘોષાન્વયતાત્પર્યા  
નુપપત્ત્યા તત્સમીપવર્તિનિ તીરે લક્ષણાવૃત્ત્યા તાત્પર્યમિતિ મન્યતે, તથા મુખે બદ્ધાયા  
एव तस्याः पुनस्तत्रैव बन्धनार्थप्रार्थना निष्फलतया नोपपद्यते, किञ्च दुर्गन्धाघ्राणवारणो-  
દેશેનાપિ તત્પ્રાર્થના નોપપદ્યતે, મુખમાત્રબંધને કૃતેડપિ ઘ્રાણેન્દ્રિયસ્યાડનાવરણેન તદુદ્દે  
શસિદ્વચસંમ્ભવાદિતિ મુખમાત્રે બંધનાન્વયતાત્પર્યસ્યાનુપપત્ત્યા તત્સમીપવર્તિનિ ઘ્રાણેડપિ

उष्ण वायुसे संपातिम, सूक्ष्म और व्यापी जीवोंकी रक्षा करनेके लिए तथा बाह्य वायुकायकी रक्षा  
करनेके लिए मुखवस्त्रिका बांधना सब जैन—आगमोंमें तात्पर्यरूपसे विधान किया गया है । इस-  
लिए उनके मुख पर मुखवस्त्रिका नहीं बंधी थी’ ऐसा कहना मिथ्यात्वका ही प्रलाप है और सब  
शास्त्रोंसे विरुद्ध है । तात्पर्य यह है कि दुर्गन्धसे बचनेके लिए मुख बांधनेकी प्रार्थना उचित नहीं है  
क्योंकि मुखसे गन्धका ग्रहण नहीं होता । अतएव यहाँ मुखसे केवल मुखही अर्थ नहीं है । जैसे  
“ गंगामें घोष (अहीरोंकी बसती) है । इस वाक्यसे ऐसा मतलब नहीं निकल सकता कि गंगाकी  
बीचधारमें अहीरोंका बसती है, क्योंकि ऐसा होना अनुपपन्न है । अतएव जब वाक्यके मुख्य  
(शाब्दिक) अर्थमें बाधा आती हो तब लक्षणासे दूसरा मतलब लेना पडता है कि गंगाके किनारे  
अहीरोंकी बसती है । इसीप्रकार मुखवस्त्रिका जब पहलेसे बंधी हुई है तब पुनः बांधनेकी प्रार्थना  
व्यर्थ पडती है, तथा दुर्गन्ध नाकमें न घुसने देनेके लिए मुख बांधनेकी प्रार्थना युक्त नहीं है, क्योंकि  
मुख बांध लेनेपर भी दुर्गन्धका आना नहीं रुक सकता, अतः यहाँ मुख बांधनेका अर्थ अयुक्त  
होनेसे मुखके सर्मीपवर्ती नासिका बांधनेका तात्पर्य लक्षणासे विदित होता है । लक्षणाका आश्रय

રક્ષા કરવાને માટે મુખવસ્ત્રિકા બાંધવી એવું બધાં જૈન—આગમોમાં તાત્પર્યરૂપે વિધાન  
કરવામાં આવ્યું છે. તેથી એમના મુખ પર મુખવસ્ત્રિકા બાંધેલી નહોતી એમ કહેવું એ  
મિથ્યાત્વનો જ પ્રતાપ છે અને બધાં શાસ્ત્રોથી વિરુદ્ધ છે. તાત્પર્ય એ છે કે દુર્ગન્ધથી  
બચવાને માટે મુખ બાંધવાની પ્રાર્થના ઉચિત નથી, કારણ કે મુખથી ગંધનું અહણ થતું  
નથી. એટલે અહીં મુખથી કેવળ મુખનો જ અર્થ થતો નથી. જેમ “ગંગામાં ઘોષ (આહી-  
રાની વસતી) છે” એ વાક્યથી એવી મતલબ નથી નીકળી શકતી કે ગંગાની વચ્ચે પાણીના  
પ્રવાહમાં આહીરાની વસતી છે, કેમકે એમ હોવું અનુપપન્ન છે. એટલે કે જ્યારે વાક્યના  
મુખ્ય (શાબ્દિક) અર્થમાં બાધા આવે છે ત્યારે લક્ષણાથી બીજી મતલબ લેવી પડે છે, કે  
ગંગાને કિનારે આહીરાની વસતી છે. એ રીતે મુખવસ્ત્રિકા જો પહેલેથી બાંધી રાખેલી છે  
તો પુનઃ બાંધવાની પ્રાર્થના વ્યર્થ બને છે. તથા દુર્ગન્ધ નાકમાં ન પેસવા દેવાને માટે મુખ  
બાંધવાની પ્રાર્થના કરવી યુક્ત નથી. કારણ કે મુખ બાંધી લેવા છતાં દુર્ગન્ધ આવવાનું  
રોકી શકાતું નથી. એટલે અહીં મુખ બાંધવાનો અર્થ અયુક્ત હોવાથી મુખની નિકટ આવેલું

लक्षणावृत्त्या तात्पर्यमिति गम्यते । लक्षणाश्रयणस्याऽऽवश्यकत्वादेवाऽऽचाराङ्गसूत्रेऽपि—“से भिक्खू वा२ उस्सासमाणे वा नीसासमाणेवा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसगं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपे-  
हिता” इत्यादिपाठः संगच्छते, तत्राप्यास्यकशब्दे लक्षणाश्रयणाऽभावे तु पाणिनाऽऽस्यक-  
परिपिधाने सति तज्जन्योच्छ्वासादियतनाया उपपत्तावपि घ्राणजन्योच्छ्वासनिःश्वास-  
क्षुतयतनाया अनुपपत्त्या तेषामागमविरोधः सुस्पष्ट एव ।

नन्वेवं मुखवस्त्रिका भवतु बन्धनीया तथापि दोरकस्य बन्धने निर्वन्धनताऽऽ-  
गमतो न लभ्यते, तथा च तत्प्रान्तभागेनापि बन्धनं सुसम्पादम्, अलमेतेन दोरकपरि-  
ग्रहेणेति चेन्न, मुखवस्त्रिकाबन्धनस्य शास्त्रप्रतिपाद्यतायां सिद्धायां तत्रालपमेव दोरकम-

लेना आवश्यक होनेसे ही आचाराङ्गसूत्रका “से भिक्खू वा०” इत्यादि पाठ ठीक बैठता है ।  
वहाँ पर भी यदि ‘आसयं’ (मुख) शब्दमें लक्षणाका आश्रय न लिया जाय तो हाथसे मुख ढँक  
लेने पर मुखजन्य उच्छ्वास निःश्वास आदिकी यतना संभव हो सकती है किन्तु घ्राणजन्य  
उच्छ्वास—निःश्वास छींककी यतना नहीं हो सकती । अतः उन लोगोंके मतमें आगमसे विरोध  
होना स्पष्ट है ।

**प्रश्न**—उक्त प्रकारसे मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधना तो सिद्ध हुआ किन्तु डोरा लगाकर बाँधना  
आगममें कहीं नहीं पाया जाता । इसलिए मुखवस्त्रिकाके छोर (पल्ला) से भी उसे बाँध सकते हैं,  
डोराकी क्या आवश्यकता है ?

**उत्तर**—उनका यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जब यह सिद्ध हो चुका कि आगममें मुखवस्त्रि-  
काका बाँधना प्रतिपादित किया गया है तो छोटेसे दोरेसे निर्दोषपूर्वक बन्धनकी सिद्धि होने पर

नाक बांधवानुं तात्पर्यं लक्षणाथी विहित थाय छे लक्षणाथे आश्रय लेवे आवश्यक डोवाथी  
न आचारांग सूत्रने “ से भक्खू वा० ” इत्यादि पाठ भराभर अंध भेसे छे.

तेमां पण्णे आसयं (मुख) शब्दमां लक्षणाथे आश्रय लेवामां न आवे तो हाथथी  
मुख ढांकी लेतां मुखजन्य उच्छ्वास निःश्वास आदिनी यतना संभवित थछे शके छे, किंतु  
घ्राणजन्य उच्छ्वास—निःश्वास छींकनी यतना थछे शकती नथी. अटेले अे डोराकेना मतमां  
आगमथी विरोध थाय छे अे स्पष्ट छे.

**प्रश्न**—अे प्रकारे मुख पर मुखवस्त्रिका बांधवानुं तो सिद्ध थयुं, परन्तु दोरेा लगावीने  
बांधवानुं आगममां क्यांय भणी आवतुं नथी. तेथी करीने मुखवस्त्रिकाना छेडाथी पण्णे  
तेने बांधी शकथ छे. दोरानी शी आवश्यकता छे.?

**उत्तर**—अेवुं कथन भराभर नथी; कारण्णे के अे सिद्ध थछे थुक्युं छे के आगममां  
मुखवस्त्रिका बांधवानुं प्रतिपादित करवामां आंयुं छे तो नाना सरभा दोराथी निर्दोषिता  
पूर्वक बांधनी सिद्धि थतां अरिने भविन करनारे भीजे प्रकार काममां लेवे अे अनुचित  
छे, मुखवस्त्रिकाना छेडाथी शिरनी पाछण न्यूनताने कारण्णे गांठ न बांधी शकवाथी मुख-

પેક્ષ્ય નિરવદ્યપ્રકારેણ તબ્દન્ધનસિદ્ધૌ સત્યાં ચારિત્રમાલિન્યાપાદકપ્રકારાન્તરાશ્રયણસ્યા-  
નોચિત્યાત્, મુખવસ્ત્રિકાપ્રાન્તભાગેન શિરઃપશ્ચાદ્ભાગે ન્યૂનતાવશાદ્ગ્રન્થિવિરહપ્રાપ્તાવુચિ-  
તાધિકતન્માનકલ્પનાયામુત્સૂત્રપ્રરૂપણાપત્તેશ્ચ ।

કિંચ મુખવસ્ત્રિકાયા બન્ધનં દોરકેણૈવ સમુચિતં ભગવદભિપ્રેતં ચ, લોકે હિ બન્ધનં  
ગુણેનૈવ પ્રસિદ્ધં તત્રાપિ યથાયોગ્યમેવ સૂત્રદોરકાદયસ્તદર્થમાદીયન્તે, યથા પુષ્પપુસ્ત-  
કવસનાદિબન્ધનાર્થી યથાક્રમં મૃદુમેવ દોરકમુપાદત્તે ।

કિંચ-સામાચારીગ્રન્થે-“મુખવસ્ત્રિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે બદ્ધ્વા પ્રતિલેખયતિ રજો-  
હરણમ્” इत्युक्तं देवचन्द्रसूरिणाऽपि । अत्र मुखवस्त्रिकाया बन्धनक्रियाकर्मत्वेन प्रतिपाद-  
नात् तदौचित्याच्च सा दोरकरूपमनुरूपं करणमपेक्षत एव । तत्प्रान्तभागेन ग्रन्थिदाने  
तु तत्र करणत्वकल्पनं देवचन्द्रसूरिविरुद्धमयुक्तं च, कर्मत्व-करणत्वयोर्विरोधात् ।

ચારિત્રકો મલિન કરને વાલે દૂસરે તરીકે કામમેં લાના અનુચિત હૈ । મુખવલ્લિકાકે છોરસે સિરકે  
પીછે ન્યૂનતાકે વશસે ગાંઠ ન લગા સકનેસે મુખવલ્લિકાકે ઉચિત પ્રમાણસે અધિકકી કલ્પના કરની  
પડેગી, ઓર એસી કલ્પના કરનેસે ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણાકા દોષ લોગા ।

દૂસરી બાત યહ હૈ કિ ડોરેસે હી મુખ પર મુખવલ્લિકા બાંધના ઉચિત હૈ ઓર યહી બાત  
ભગવાનકો મી ઇષ્ટ હૈ । લોકમેં કિસી વસ્તુકા બાંધના ડોરેસે હી પ્રસિદ્ધ હૈ । ડસમેં મી યથાયોગ્ય  
સૂત્રકા ડોરા આદિ બાંધનેકે કામમેં લાયે જાતે હૈ, જૈસે ફૂલ પુસ્તક યા કપડા બાંધને વાલે  
કમશઃ કોમલ ડોરેકો હી કામમે લાતે હૈ ।

સામાચારી ગ્રન્થ મેં દેવચન્દ્રસૂરિને લિખા હૈ “મુખવલ્લિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે બદ્ધ્વા પ્રતિલેખયતિ  
રજોહરણમ્, ડસ વાક્ય મેં મુખવલ્લિકાકો બાંધનેરૂપ ક્રિયાકા કર્મ બતાયા હૈ ઓર વહ ઉચિત  
મી હૈ । ડસલિયે વહ (ક્રમ) મુખવલ્લિકાકે અનુરૂપ કરણકો અપેક્ષા રલ્લતી હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ  
કિ જબ મુખવલ્લિકા કર્મ હૈ તવ કરણ મી કોઈ હોના ચાહિયે ઓર વહ કરણ અર્થાત્ જિસસે

વલ્લિકાને ઉચિત પ્રમાણથી વધારે (લાંબી) રાખવાની કલ્પના કરવી પડશે, અને એવી કલ્પના  
કરવાથી ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણાનો દોષ લાગશે.

બીજી વાત એ છે કે દોરાથી જ મુખ પર મુખવલ્લિકા બાંધવી ઉચિત છે અને એ જ  
વાત ભગવાનને પણ ઇષ્ટ છે. લોકોમાં કોઈ વસ્તુને બાંધવાનું કાર્ય દોરાથી જ પ્રસિદ્ધ છે.  
તેમાં પણ યથાયોગ્ય સૂતરનો દોરો વગેરે બાંધવાના કામમાં લેવામાં આવે છે, જેમકે ફૂલ,  
પુસ્તક યા કપડું બાંધનારા કમશઃ કોમળ દોરાને જ કામમાં લે છે.

સામાચારી ગ્રન્થમાં દેવચન્દ્રસૂરિએ લખ્યું છે : “મુખવલ્લિકાં પ્રતિલેખ્ય મુખે બદ્ધ્વા  
પ્રતિલેખયતિ રજોહરણમ્” એ વાક્યમાં મુખવલ્લિકાને બાંધવારૂપ ક્રિયાનું કર્મ બતાવ્યું  
છે અને તે ઉચિત પણ છે. તેથી કરીને એ (ક્રિયા) મુખવલ્લિકાને અનુરૂપ દોરારૂપ કરણની  
અપેક્ષા રાખે છે. તાત્પર્ય એ છે કે જો મુખવલ્લિકા કર્મ છે તો કરણ પણ હોવું જોઈએ.  
અને એ કરણ અર્થાત્ જેવડે બાંધવારૂપ ક્રિયા થાય છે તે દોરા જ હોવો જોઈએ. ગાંઠ

मुखवस्त्रिकाबन्धनार्थं कर्णयुगले शस्त्रेण छिद्रकरणं तु अतीवाऽज्ञानविजृम्भितम्, छिद्रकरणस्य शास्त्रानुक्ततया शस्त्रप्रयोगसाध्यतया दुष्करतया च तदपेक्षया निरवद्यत्वेन दोरकाश्रयणस्यैवौचित्यात् ।

नन्वेवं दोरकाश्रयणे सदोरकमुखवस्त्रिकाधारकाणां भाषणकाले मुखोत्पतितजलक-  
णैराद्रीभूतायां मुखवस्त्रिकायामशुचिस्थानतया संमूर्च्छिमजीवा उत्पद्येरन्, हस्तेन मुखव-  
स्त्रिकाधारणे तु न तथाविधजीवोत्पत्तिसम्भवः तथा च दोरकपरिग्रहो दुराग्रहमात्रमिति  
चेन्न, मुखोत्पन्नजलकणानां भगवता जीवोत्पत्तिस्थानतयाऽनुक्तत्वात् । न चैतेषां जल-  
णानां खेलांशतयाऽशुचिस्थानतया वा जीवोत्पत्तिस्थानत्वं प्रतीयत इति वाच्यम्, तत्र

बाँधनारूप क्रिया होती है डोरा ही होना चाहिए । गाँठ लगानेमें करणत्वकी कल्पना करना देवचन्द्रसूरिसे विरुद्ध और अयुक्त है क्योंकि कर्मत्व और करणत्वको विरोध है ।

मुखवस्त्रिका बाँधनेके लिए कानों में छेद कर लेना तो बड़ी भारी अज्ञानता है, क्योंकि साधुपनेके लिए किसी अवयवको छेदना शास्त्रों में निषिद्ध है और शस्त्रसाध्य होनेसे दुष्कर भी है । उसकी अपेक्षा निर्दोषरूपसे डोरेका आश्रय लेना ही उचित है ।

प्रश्न—डोरेका आश्रय लेनेसे दोरासहित मुखवस्त्रिका मुख पर धारण करनेवालोंकीमुखवस्त्रिका भाषण करते समय मुखसे निकलनेवाले पानी के कणोंसे गीली हो जायगी और गीली होनेसे अशुचिस्थान हो जानेके कारण वहाँसंमूर्च्छिम जीवोंकी उत्पत्ति होगी । हाथमें मुखवस्त्रिका धारण करनेसे संमूर्च्छिम जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिए डोराका ग्रहण करना दुराग्रहमात्र हैं ।

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि मुखसे निकलने वाले जलके कणोंको भगवान्ने जीवोत्पत्तिका स्थान नहीं बताया है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि वे जलकण खेलके अंश हैं,

भांधवामां करणत्वनी कल्पना करवी अये देवचन्द्रसूरिथी विरुद्ध छे अने अयुक्त छे, कारण के कर्मत्व अने करणत्वनो विरोध छे.

मुखवस्त्रिका भांधवाने कानमां छिद्र पडावी देवा अये तो बारे अज्ञानता छे, कारण के साधु-  
पणाने माटे केई अवयवने छेदपुं शास्त्रमां निषिद्ध छे अने शस्त्रसाध्य होवाथी दुष्कर पण  
छे. अने अहले निर्दोष रूपे दोरानो आश्रय लेवे न उचित छे.

प्रश्न—दोरानो आश्रय लेवाथी दोरा—सहित मुखवस्त्रिका मुख पर धारण करनाराओनी  
मुखवस्त्रिका भाषण करती वधते मुखमांथी नीकणता पाणीना कणोथो लीनी थध नशे अने  
लीनी थवाथी अशुचिस्थान थध नवाना कारणे त्यां संमूर्च्छिम ओवानी उत्पत्ति थशे,  
हाथमां मुखवस्त्रिका धारण करवाथी संमूर्च्छिम ओवानी उत्पत्ति थती नथी. तथा करीने  
दोरानुं अहण करपुं अये दुराग्रह थाय छे.

उत्तर—अये कहेपुं उचित नथी, कारण के मुखथी नीकणतां नणनां कणोने लगवाने  
ओवोत्पत्तिनुं स्थान भताप्युं नथो अये पण न कही शकय के अये नणकण ओद (कई)  
ना अंशरूप होय छे अने तीथी अशुचि—स्थान छे अने अशुचिस्थान होवाथी ओवोत्पत्ति-

खेलंशताप्रतीतेर्भ्रान्तिमूलकत्वात् । वैद्यकशास्त्रे हि खेलस्य मुखजलकणानां च भेदः सुस्पष्टः, तथाहि खेलशब्दः श्लेष्मण्यर्थे वर्तते, आमाशयो, हृदयं, कण्ठः, शिरः, सन्ध-यश्चैतानि श्लेष्मणः स्थानानि, तथाचोक्तं भावप्रकाशे—

“आमाशयेऽथ हृदये, कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥” इति,

अस्य स्वरूपं धर्माश्रोक्ताः सुश्रुतसंहितायां—

“श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः, पिच्छलः शीत एव च ।

मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्, विदग्धो लवणः स्मृतः ॥” इति,

इसलिए अशुचिस्थान हैं और अशुचिस्थान होनेसे जीवोत्पत्तिके स्थान हैं । क्योंकि उन जल कणोंको खेल (कफ) का अंश समझना भ्रान्तिमूलक है । खेल शब्दका अर्थ श्लेष्म है । आमाशय हृदय, कंठ, सिर और सन्धियाँ श्लेष्म के स्थान हैं । भावप्रकाश में लिखा है ।

आमाशयेऽथ हृदये कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥१॥

अर्थात्—आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और संधिभाग, इन स्थानों में मनुष्यों को अनुक्रम से-कफ रहता है ।,,

सुश्रुतसंहितामें श्लेष्मका स्वरूप और गुण इस प्रकार बताये हैं

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छलः शीत एव च ।

मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्, विदग्धो लवणः स्मृतः ॥ १

अर्थात्—श्लेष्म (कफ) सफेद, गुरु, चिकना, पिच्छल और शीत होता है । नहीं जला

નાં સ્થાન છે. એ જળકણોમાં કફનો અંશ સમજવો એ ભ્રાન્તિમૂલક છે. खेल शब्दનો અર્થ શ્લેષ્મ છે. આમાશય, હૃદય, કંઠ, શિર અને સંધિ એ શ્લેષ્મનું સ્થાન છે ભાવપ્રકાશમાં લખ્યું છે કે—

आमाशयेऽथ हृदये, कण्ठे शिरसि सन्धिषु ।

स्थानेष्वेषु मनुष्याणां, श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥

અર્થાત્—“આમાશય હૃદય કંઠ, શિર અને સંધિભાગ એ સ્થાનોમાં મનુષ્યોને અનુ-ક્રમથી કફ રહે છે”

સુશ્રુતસંહિતામાં શ્લેષ્મનું સ્વરૂપ અને ગુણ આ પ્રકારે બતાવ્યા છે :—

શ્લેષ્મા શ્વેતો ગુરુઃ સ્નિગ્ધઃ પિચ્છલઃ શીત પવ ચ ।

મધુરસ્ત્વવિદગ્ધઃ સ્યાત્ વિદગ્ધો લવણઃ સ્મૃતઃ ॥

અર્થાત્—“શ્લેષ્મ (કફ) સફેદ, ગુરુ, ચિકણો, પિચ્છલ, અને શીત હોય છે. નહિ બળેલો યા કાચો કફ મધુર હોય છે અને પાકો યા બળેલો કફ ખારો હોય છે. ”

૧ વિદગ્ધ—પકા યા જલા હુઆ ।

मुखजलस्य तु रसनामूलं तदग्रभागश्चेतिद्वयमुत्पत्तिस्थानम्, इदं च चर्वितस्यान्नस्य पिण्डीभवने कण्ठनलिकयाऽधोनयने पाचने च निमित्तम् । अत एव योगचिन्तामणौ प्रथमाध्याये-

“रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि धातवः ।

इयुत्त्वा कस्य धातोः किं मलम् ? इति प्रदर्शयितुं पुनरभितम्-

“जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम्,” इत्यादि ।

जिह्वानेत्रकपोलानां जलं रसधातोर्मलं, रञ्जकं पित्तं रुधिरस्य मलमिति तदर्थः । इत्थं जिह्वाकपोलदेशे जायमानं जलं मुखजलं, तदीयकणिका एव भाषणकाले कदाचिद् बहिरुत्पतन्तीति विशदीभवति, श्लेष्मा तु न कस्यचिद् धातोर्मलं, स हि दोषत्रयान्तः-पातित्वात्तत्स्वरूपम्, अत एव योगचिन्तामणौ प्रथमाध्याये धातुमलतः पृथक्कृत्य दोष-

हुआ या कच्चा कफ मधुर होता है और पका या जला हुआ नमकीन होता है ।

मुखजलके केवल दो उत्पत्तिस्थान हैं-(१) जिह्वाका मूल और (२) जिह्वाका अग्रभाग । यह मुखजल चबाये हुए अन्नको पिण्ड बनाने तथा कण्ठकी नलीके नीचे लेजाने तथा पचानेका कारण है । इसीसे योगचिन्तामणि ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें “रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः” ऐसा कह कर किस धातुका क्या मल है, सो बतानेके लिए फिर कहा है-“जिह्वानेत्रकपोलानां, जलं पित्तं च रञ्जकम्” । अर्थात् जीभ, नेत्र और गालका जल रसधातुका मल है तथा रंजक पित्त रुधिरका मल है । इसप्रकार जीभ और गालमें उत्पन्न होनेवाला जल मुखका जल कहलाता है और उसीकी कणिका भाषण करते समय कभी-कभी बाहर निकल जाती है, यह बात स्पष्ट है । श्लेष्मा किसी धातुका मल नहीं है, वह तीन दोषोंमेंसे एक दोष है, इसीसे योगचिन्तामणिमें धातुओंके मलोंसे पृथक् करके तीन दोष अलग बताये हैं, देखो शारीरक प्रकरण “कलाः सप्ताशयाः” इत्यादि श्लोक ५ ।

मुखजलानां मात्र ये उत्पत्ति स्थाने द्वौ द्वौ : (१) जिह्वानुं मूलं अने (२) जिह्वा (अग्र) भाग अने मुखजल आवेला अन्नको पिण्ड बनाववानुं तथा कण्ठकी नलीकी नीचे लक्ष्णं जवानुं तथा पचाववानुं कारणं छे, तेथी योगचिन्तामणि ग्रन्थना प्रथम अध्यायमां रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः अने कण्ठकी सात धातुओं अतावी छे ते पछी कर्षं धातुने कथो मण छे ते अताववाने माटे कथुं छे के जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम् । अर्थात्-जिह्वा नेत्र अने गालनुं जल-रस धातुने मल छे तथा रंजक पित्त रुधिरने मल छे, अने रीते जिह्वा अने गालसां उत्पन्न थनाइं जल मुखनुं जल कडेवाय छे अने तेनी कषिकाओं लापणु करती वधते कोर्ष-कोर्ष वार अहार नीकणी जाय छे ते वात स्पष्ट छे, श्लेष्म कोर्ष धातुने मल नथी, ते त्रणु दोषांसां अनेक दोष छे, तेथी योगचिन्तामणिमां धातुओंना मलाथी जूदा पाडीने त्रणु दोष अलग अतावेला छे, अने शारीरक प्रकरण “कलाः सप्ताशयाः” इत्यादि श्लोक ५.

अने रीते स्पष्ट थाय छे के मुखनुं जल अने श्लेष्मथी लिन्न छे.

त्रयोपादानं कृतं, यथा शरीरकप्रकरणे—

“कलाः सप्ताशयाः सप्त, धातवः सप्त तन्मलाः ।

सप्तोपधातवः सप्त, त्वचः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥ १ ॥

त्रयो दोषा नवशतं, स्नायूनां सन्धयस्तथा ।

दशाधिकं च द्विशतमस्थनां च द्विशतं मतम् ॥ २ ॥

सप्तोत्तरं मर्मशतं, शिराः सप्तशतं तथा ।

चतुर्विंशतिराख्याता, धमन्यो रसवाहिकाः ॥ ३ ॥

मांसपेक्ष्यः समाख्याता, नृणां पञ्चशतं बुधैः ।

स्त्रीणां च विंशत्यधिकाः, कण्डराश्चैव षोडश ॥ ४ ॥

वृद्धे दश रन्धाणि, नारीदेहे त्रयोदश ।

एतत्समासतः प्रोक्तं, विस्तरेणाधुनोच्यते ॥ ५ ॥” इति ।

एवं च मुखजलस्य खेलतो भेदः स्पष्ट एव । न च खेलशब्दस्य निष्ठीवनार्थ-  
कतया निष्ठीवनात्मके मुखजले खेलशब्दप्रवृत्त्या तस्यापि जीवोत्पत्तिस्थानत्वं दुर्वारमे-  
वेति वाच्यम्, निष्ठीव्यते=निरस्यते=प्रक्षिप्यते यत्तन्निष्ठीवनमिति ‘नि’ पूर्वकात् ‘ष्ठीवु  
निरसने’ इति धातोर्बाहुलकात् कर्मणि ल्युटि निष्पन्नस्य निष्ठीवनशब्दस्य योगेन  
मुखनिर्गतपदार्थमात्रे प्रयोगो भवति, एवं च निष्ठीवनशब्दस्यैव प्रक्षिप्तखेलाद्यर्थकत्वं  
सिध्यति न तु खेलशब्दस्य निष्ठीवनार्थकत्वम्, तथा च मुखनिर्गतजलकणेषु न जीवो-

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुखका जल श्लेष्मसे भिन्न है ।

प्रश्न—‘खेल’ शब्दका अर्थ ‘थूक’ है, और थूक तथा मुखजल एक ही हैं । अतः मुख-  
जलमें खेल शब्दकी आवृत्ति होनेसे वह जीवोत्पत्तिका स्थान होगा ही ।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ‘निष्ठीवन’ शब्द ‘नि’—उपसर्गपूर्वक ‘ष्ठीवु  
निरसने’ धातुसे बना है । अतः मुखसे निकलने वाला कोई भी पदार्थ निष्ठीवन कहलाता है ।  
इससे यह सिद्ध होता है कि त्यागा हुआ खेल आदि निष्ठीवन कहला सकता है किन्तु निष्ठीवन  
‘खेल’ नहीं कहला सकता । इसलिए मुखसे निकलने वाले जलकणोंमें जीवोत्पत्तिकी सिद्धि नहीं  
होती, क्योंकि जीवोत्पत्तिके स्थानोंमें ‘निष्ठीवन’ शब्द नहीं दिया है । वास्तवमें निष्ठीवन शब्द

प्रश्न—‘खेल’ शब्दको अर्थ ‘थूक’ छे, अने थूक तथा मुखजल ओक ज छे. ओटले  
मुखजलमां खेल शब्दनी प्रवृत्ति थवाथी ते जीवोत्पत्तिनुं स्थान थसे ज.

उत्तर—ओम कडेवुं अराअर नथी. निष्ठीवन शब्द ‘नि’—उपसर्ग—पूर्वक ष्ठीवु निरसने  
धातुथी अन्ये छे. ओटले मुखथी नीकणतो कौध पदार्थ निष्ठीवन कडेवाय छे. तेथी ओम  
सिद्ध थाय छे के त्याओले खेल आदि निष्ठीवन कडी शकय छे, परन्तु निष्ठीवन ‘खेल’  
नथी कडी शकतो तेथी मुखथी नीकणता जलकणोमां जीवोत्पत्तिनी सिद्धि थती नथी,  
कारणु के जीवोत्पत्तिनां स्थानोमां ‘निष्ठीवन’ शब्द आप्थे नथी वस्तुतः निष्ठीवन शब्द  
भावस्थुक्त होवाथी प्रक्षेपणरूप निरसन डिमाने वाचक छे. ओम भानवुं युक्त छे. अर्थात्



त्पत्तिसिद्धिः, जीवोत्पत्तिस्थानपरिगणने निष्ठीवनशब्दानुपादानात् । वस्तुतस्तु निष्ठीवन-  
शब्दस्य भावव्युद्भूततया प्रक्षेपणात्मकनिरसनक्रियावाचित्वं युक्तम्, अतएव—

“रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दन-विभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥” इति,

रक्तज्वरलक्षणं प्रतिपादयता माधवनिदानकृता निर्गमनेऽप्यर्थे निष्ठीवनशब्दः  
प्रयुक्तः । कवलीकृतस्य द्रव्यस्य मुखान्निरसनेऽपि निष्ठीवनत्वमुक्तं, भावप्रकाशे यथा—

“वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे ।

अर्थं निःक्षिप्य संचर्व्य, निष्ठीवेत् कवले विधिः ॥” इति,

तिब्बअकब्बराख्ये वैद्यकग्रन्थे पञ्चमाध्याये प्रथमप्रकरणेऽपि जिह्वामूलतो मुख-  
जलोत्पत्तिः स्पष्टं प्रतिपादिता । शरीरविज्ञाने च मुखजलस्य पाचनशक्तिमत्त्वं प्रकटितम् ।

अशुचिस्थानतया मुखजलस्य जीवोत्पत्तिस्थानत्वापादनं तु सर्वथा निर्मूलमेव,  
तथाहि—यावन्ति जीवोत्पत्तिस्थानानि सन्ति तानि प्रज्ञापनासूत्रे निर्दिष्टानि, यथा—

भावव्युद्भूत होनेसे प्रक्षेपणरूप निरसन क्रियाका वाची है, ऐसा मानना युक्त है । अर्थात्  
निष्ठीवनका वास्तविक अर्थ है क्षेपण करना, या त्यागना । इसीसे ‘माधवनिदान’ कर्तानि रक्तज्वर  
के लक्षण बताते समय निकलनेके अर्थमें निष्ठीवन शब्दका प्रयोग किया है—

रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दनविभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ १ ॥

भावप्रकाशमें कौर (कवल)के बाहर निकालनेको निष्ठीवन कहा है—“वातपित्त०” इत्यादि,

“तिब्ब अकब्बर” नामक यूनानी वैद्यक ग्रन्थमें भी जीह्वके मूलसे मुखजलकी उत्पत्ति  
स्पष्टरूपसे बताई गई है “जीभकी जड़में एक मांसका लोथडा है जिसमेंसे लुआब और मुखका  
पानी निकलता है और जीभको तर रखता है और खानेकी चीजोंमें मिला करता है ।” तथा  
‘शरीर विज्ञान’ नामक ग्रन्थमें मुखजलके विषयमें लिखा है उसमें पचानेको शक्ति होती है ।

निष्ठीवननेो वास्तविक अर्थ छे—क्षेपणु करवुं या त्यागवुं. तेथी ‘माधवनिदान’ कर्तांये रक्त-  
ज्वरनां लक्षणेो अतावती वषते नीकलवाना अर्थमां निष्ठीवन शब्दनेो प्रयोग कर्यो छे,

रक्तनिष्ठीवनं दाहो, मोहश्छर्दनविभ्रमौ ।

प्रलापः पिटिका तृष्णा, रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥१॥

भावप्रकाशमां कैणीयानुं अडार नीकाणवुं अने निष्ठीवन कडेल छे— वातपित्त० धत्यादि.

“तिब्ब अकब्बर” नामक यूनानी वैद्यक ग्रंथमां पणु ललना मूलमांथी मुषजलनी  
उत्पत्ति स्पष्टरूपे अतावी छे, “ललना मूणमां मांसनेो लोथो छे जेमांथी लुआब अने  
मुषनुं पाणी नीकणे छे अने ललने तर राणे छे अने आवानी खीजेमां मल्या करे छे,”  
अने “शरीरविज्ञान” नामना ग्रंथमां मुषजलना विषयमां लणुं छे के अेमां पयावानी  
शक्ति होय छे.

“उच्चारैसु वा पासवणेषु वा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पित्तसु वा पूयेसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपु-रिससंजोएसु वा णगरनिद्धमणेषु वा सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु, एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छिंति” इति । अत्र “सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु” इत्यस्य “सर्वेषु चैव अशुचिस्थानेषु” इति संस्कृतम्, अशुचिनां स्थानानि अशुचिस्थानानि तेषु=अशुचिस्थानेषु, यत्रानेकेषामशु-चीनामुच्चारादीनां स्थितिस्तत्रेत्यर्थः ।

अयमाशयः—यथा पृथिव्यादीनां परकायशस्त्रेण परिणत्वे सति सचित्तत्वमपग-च्छति तथोच्चारादीनां प्रस्रवणादिसाङ्कर्ये सति संमूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानत्वापगमः

‘अशुचिस्थान होनेसे मुखजल जीवोत्पातिका स्थान है । ऐसा कहना बेजड है । जीवोत्पत्तिके जितने स्थान हैं उन सबका निर्देश प्रज्ञापनासूत्रमें किया है “उच्चारैसु वा” इत्यादि ।

अर्थात् “उच्चार (विष्ठा) में, प्रस्रवण (मूत्र) में, कफमें, नाकके मैलमें, कैमें, पित्तमें, पीवमें, खूनमें, शुक्रमें, शुक्रपुद्गलपरिशाट ( शुष्क शुक्रपुद्गलोंके फिर भीने होने ) में, प्राणीकी लारमें, स्त्रीपुरुषके संयोगमें, नगरकी गटरमें, इन सब अशुचियोंके स्थानोंमें संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।” यहाँ सब अशुचियोंके स्थानोंसे तात्पर्य यह है कि जहाँ उच्चार आदि अनेक अशु-चियोंकी स्थिति हो वह स्थान ।

मतलब यह कि—परकाय शस्त्रसे परिणत होने पर पृथिवीकाय आदि अचित्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जब उच्चार आदि प्रस्रवण आदिके साथ मिल जाते हैं, तब उनमें संमूर्च्छिम जीवोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति रहती है या नहीं ? शिष्यके ऐसे प्रश्नकी संभावना होने पर खुलासा करनेके लिए अलग कहा है कि “सब अशुचिस्थानोंमें ।” इस वाक्यका “उक्त अशु-चियोंके स्थानोंके सिवाय अन्य स्थानोंमें” यह अर्थ नहीं है । उपर्युक्त कथन करनेसे यह स्वयं

‘अशुचिस्थान होवाथी सुअजल जिवोत्पत्तिनु’ स्थान छे’ अेम कडेवुं जिलकुल अमूलक छे. जिवोत्पत्तिनां जेटलां स्थानो छे अे अधानो निर्देश प्रज्ञापना-सूत्रमां करेवो छे : उच्चारैसु वा धत्यादि. “उच्चार ( विष्ठा )मां, प्रस्रवण ( पिसाण )मां, कइमां, नाकना लींटां, यमन उलटीमां पित्तमां, पइमां; डोडीमां, शुक्र-वीर्यमां, शुक्रपुद्गलपरिशाटमां ( शुक्रना सुकायला पुद्गल बीना थवामां ), प्राणीना मुउढांमां स्त्रीपुइषना समागममां, नगरनी भाणे। ( गटरा ) मां अे अधां अशुचिनां स्थानोमां संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न थाय छे.” अहीं सर्व अशुचि-ओनुं तात्पर्य अे छे के ज्यां उच्चार आदि अनेक अशुचिओनीं स्थिति होय ते स्थान.

मतलब अे छे के—परकाय शस्त्रथी परिष्कृत थतां पृथ्वीकाय आदि अचित्त थधं जय छे, अे रीने ज्यारे उच्चार आदि प्रस्रवण आदिनी साथे भगी जय छे, त्यारे तेमां संमूर्च्छिम जिवोने उत्पन्न करवानी शक्ति रडे छे के नहि ? शिष्यना अेवा प्रश्ननी संभावना होवाथी खुलासा करवाने माटे जूडं कहुं छे के “सर्व अशुचिओनां स्थानो सिवाय अन्य स्थानोमां” आ वाक्यनो अर्थ “ उक्त अशुचिओनां स्थानो सिवाय अन्य स्थानोमां ”

स्यादिति शिष्यशङ्कासंभावनायां तन्निरसनार्थमेव पृथक्कृत्येदमुक्तम्—“सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु” इति, न त्वत्रानुक्तानामशुचीनां स्थानेषु, इति तदाशयः । एतेनोच्चारणादीनां समूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानत्वादेव तत्साङ्ग्येऽपि तादृशजीवोत्पत्तिस्थानत्वं सुतरां सिद्धमिति “सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु” इति पुनरभिधानमसङ्गतं व्यर्थं च स्यादितिवादिनः परास्ताः, उक्तशङ्कावारणाय तथाऽभिधानस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

अयमर्थश्च भगद्वाक्यादेव स्फुटीभवति, तथाहि—सर्वेषां मुखनिर्गतपदार्थानां जीवोत्पत्तिस्थानत्वे लाघवानुरोधेन “मुहनिग्गएसु सव्वेसु चैव दव्वेसु” इत्येव वक्तव्ये पुनः खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा” इति तत्तन्नामनिर्देशप्रयत्नो भगवत्कृतो व्यर्थः स्यात्, तस्मान्निर्दिष्टेतरपदार्थे जीवोत्पत्तिर्न भवतीति स्पष्टं प्रतीयते । अथवा अणीयस्सु भाषणकालिकेषु मुखोत्पत्तिजलकणेषु जीवोत्पत्तौ सत्यां भगवता शिष्याणां स्पष्टप्रतिपत्तये—“खेलेसु वा वंतेसु वा” इत्यादिवत् “मुहजलकणेषु वा” इति वाक्येन तेऽपि पृथक्कृत्य निर्देष्टव्याः स्युः, इति मुखजलकणानां भगवदनुक्तत्वान्न तत्र जीवोत्पत्तिर्भ-

सिद्ध हो गया कि जब उच्चार आदि समूर्च्छिम जीवों की उत्पत्तिके स्थान हैं तब उन स्थानों में से यदि दो या तीन आदि मिल जावें तो भी वे जीवों की उत्पत्तिके स्थान रहेंगे । अतएव जो लोग ऐसा कहते हैं कि पूर्वोक्त अर्थ करनेसे ‘सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु’ कहना व्यर्थ और असंगत हो जायगा, वे परास्त हो गये । क्योंकि शिष्यकी पूर्वोक्त शंकाका निवारण करनेके लिए उस कथनकी आवश्यकता है ।

यह अर्थ भगवान् के वचनसे ही निकलता है, क्योंकि यदि मुखसे निकलने वाले सब पदार्थ जीवोत्पत्तिके स्थान होते तो संक्षेप करनेके लिए केवल इतना कह देते कि ‘मुहनिग्गएसु सव्वेसु चैव दव्वेसु’ अर्थात् मुखसे निकलने वाले सब पदार्थों में समूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं । “खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा” इस प्रकार अलग अलग भगवान् न फरमाते । इसलिए सूत्रमें निर्देश किये हुए पदार्थोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती, यह बात स्पष्ट

अवे। नथी. उपर मुग्ग कथन करवाथी अे स्वयंसिद्ध थध गयुं के ले उच्चार आदि समूर्च्छिम जीवोत्पत्तिनां स्थान छे तो अे स्थानोभां ले अे या त्रयु आदि भणी अथ तो। पणु ते जीवोत्पत्तिनां स्थानो रडेशे. तेथी करीने अे लोको अेम कडे छे के पूर्वोक्त अर्थ करवाथी सव्वेसु चैव असुइद्वाणेषु कडेपुं अर्थ अने असंगत थध अेशे, तेअो परास्त थध गया. कारणु के शिष्यनी पूर्वोक्त शंकातुं निवारणु करवा माटे अे कथननी आवश्यकता छे.

आ अर्थ भगवान्नां वचनोभांथी अ नीकणे छे. कारणु के ले अथथी नीकणनारा अथा पदार्थो जीवोत्पत्तिनां स्थानो होत तो संक्षेप करवाने केवण अेटलुं अ कडी हेत के ‘मुहनिग्गएसु सव्वेसु चैव दव्वेसु’ अर्थात् अथथी नीकणनारा अथा पदार्थोभां समूर्च्छिम जीवोत्पन्न थथ छे. ‘खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा’ अे प्रभाणु भगवान् अलग अलग कडेत नडि. तेथी करीने सूत्रभां निर्देशेला पदार्थो सिवाय अन्य कोअ पदार्थोभां जीवोत्पत्ति

वतीति निश्चीयते । इदमत्र तत्त्वम्—

शिष्याणां जीवोत्पत्तिस्थानप्रतीतिं विना सम्यक् संयमपालनं न स्यादिति हेतोः स्पष्टीकृत्य सकलानि संमूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानानि बोधयितुं भगवता तत्तन्नामनिर्देश-प्रयत्नोऽङ्गीकृतः, साकल्येन संमूर्च्छिमजीवोत्पत्तिस्थानपरिगणनतात्पर्याभावे तु भगवान्—“सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु” इत्येव ब्रूयात्, उच्चारप्रस्रवणादीनामप्यशुचिस्थान-तथैव तादृशजीवोत्पत्तिस्थानत्वप्रतीतिसिद्धेः, तथा च तत्तदशुचिस्थाननिर्देशस्य वैयर्थ्या-पत्तिः । जीवोत्पत्तिस्थानपरिगणनतात्पर्याङ्गीकारे तु कियत्स्वशुचिस्थानेषु संमूर्च्छिम-

प्रतीत होती है । अथवा यदि भाषण करते समय निकले हुए थोड़ेसे जलकणोंमें जीवोंकी उत्पत्ति होती तो शिष्योंको स्पष्ट बोध करानेके लिए भगवानने जैसे 'खेलेसु वा वंतेसु वा', इत्यादि अलग अलग नाम गिनाये हैं वैसे ही "मुहजलकणेषु वा" ऐसा और एक सूत्रपाठ रख देते । अतः निश्चित है कि मुखसे निकलने वाले जलकणोंमें संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि भगवानने उसे जीवोत्पत्तिका स्थान नहीं बताया है । तात्पर्य यह है कि—शिष्य जबतक यह न जानलें कि जीवोंके उत्पत्तिस्थान कौन कौन हैं ? तब तक संयमका सम्यक् प्रकार परिपालन नहीं कर सकते । इसीसे भगवानने जीवोत्पत्तिके स्थानोंका खुलासा ज्ञान करानेके लिए अलग अलग नाम गिनाये हैं । यदि संमूर्च्छिम जीवोंकी उत्पत्तिके सब स्थान गिना-नेका मतलब न होता तो सिर्फ 'सर्वेषु चैव असुइष्टाणेषु' (अशुचि के सब स्थानोंमें) इतना ही कह देते । क्योंकि उच्चार प्रस्रवण आदि सभी अशुचिस्थान होनेके कारण संमूर्च्छिम जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं, यह बात प्रतीतिसे सिद्ध है । ऐसी अवस्थामें अलग-अलग नाम गिनाना अकारण हो जायगा । अगर ऐसा मानें कि जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान गिनानेका मतलब है तो

उत्पत्ति थती नथी. अे वात स्पष्ट प्रतीत थाय अे अथवा अे लाषणु कशती वषते नीकणता थैडा अलकणेषुमां अेवानी उत्पत्ति थती डेय तो शिष्येने स्पष्ट अेध कशववाने लगवाने अेभ 'खेलेसु वा वंतेसु वा' इत्यादि अलग अलग नाम गणाय्या अे तेभ 'मुहजलकणेषु वा' अेवे अेक वधारे सूत्रपाठ राख्ये डेय. तेथी करीने निश्चित अे अे सुअथी नीकणनारां अलकणेषुमां संमूर्च्छिम अेवे उत्पन्न थता नथी, कारणु अे लगवाने अेने अेवेत्पत्तिनुं स्थान अताय्युं नथी.

तात्पर्य अे अे अे—अ्यां सुधी शिष्य अेषी न ले अे अेवोनां उत्पत्ति स्थान कयां कयां अे, त्यां सुधी ते संयमनुं सम्यक् प्रकारे परिपालन करी शकतो नथी. तेथी लगवाने अेवे-त्पत्तिनां स्थानोनुं खुलासाथी ज्ञान कशववाने अलग अलग नामो गणाय्या अे. अे अेवानी उत्पत्तिनां अथां स्थानो गणायवानी मतलब न डेय तो मात्र 'सर्वेषु चैव असु-इष्टाणेषु' (अशुचिनां अथां स्थानोमां) अेटलुं अे कडी डेत. कारणु अे उच्चार प्रस्रवणु आदि अथां अशुचिस्थानो डेवाने कारणु संमूर्च्छिम अेवानी उत्पत्तिनां स्थान अे, अे वात प्रतीतिथी सिद्ध अे अेवी स्थितिमां अलग अलग नामो गणायवां अडेतुक थथ अय. अगर अेभ आनो अे अेवानी उत्पत्तिनां स्थानो गणायवानी मतलब अे तो अिज्ञासु शिष्येनो

जीवा उत्पद्यन्ते ? इति जिज्ञासोपशमो न स्यादिति तत्तदशुचिस्थाननिर्देशस्य नानर्थक्यं, प्रत्युताऽऽवश्यकतया सार्थक्यमेव, अतएव “उवर्त्थिदियनिग्गएसु दव्वेसु वा” (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु द्रव्येषु) इत्यनुक्त्वा पुनः पुनः—“पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिणसु वा थीपुरिससंजोएसु वा” इति तत्तन्नाम्ना भगवानुपादिशत्, अन्यथा “स्त्रीपुरुषसंयोगातिरिक्तेषु केवलशुक्रशोणितादिषु संमूर्च्छिमजीवा उत्पद्यन्ते न वा ?” इति संशयानपगमे सति मुनीनां संयमपालनं संकटापन्नं स्यादिति ।

वस्तुतस्तु भाषणकाले मुखोत्पतितानां जलकणानामशुचिवमेव निर्मूलतया दुर्वचम्, शास्त्रे प्रज्ञापनासूत्रोक्तेषूच्चारादिष्वेवाशुचिशब्दप्रयोगदर्शनात्, मुखोत्पतितजलकणार्थे तत्प्रयोगानुपलब्धेश्च, तथाहि व्यवहारसूत्रभाष्ये तृतीयोद्देशके —

जिज्ञासु शिष्योऽका सन्देह तव तक दूर नहीं हो सकता जब तक उन्हें साफ न बता दिया जाय कि किन-किन जगहोंमें संमूर्च्छिम जीवोंका जन्म होता है । इसलिए अलग-अलग गिनाना वृथा नहीं है, किन्तु आवश्यक होनेसे सार्थक है, इसी कारण “उवर्त्थिदियनिग्गएसु वा” (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु) ऐसा न कहकर बारंबार ‘पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिणसु वा थीपुरिससंजोएसु वा’ इस प्रकार हरेकका अलग-अलग नाम गिना कर भगवान्ने कथन किया है । ऐसा कथन न करते तो यह संशय बना रहता कि स्त्रीपुरुषके संभोगके सिवाय केवल शुक्र शोणित आदिमें संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं ? इस प्रकारके सन्देहसे मुनियोंको संयम-पालन करना मुश्किल हो जाता ।

वास्तवमें मुखसे निकलने वाले जलकणोंको अशुचि कहना ही खोटा है, क्योंकि शास्त्रमें प्रज्ञापनासूत्रोक्त उच्चार आदि हो ‘अशुचि’ शब्दसे कहे गये हैं, और मुखसे निकलने वाले जलकणके अर्थमें ‘अशुचि’ शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता । व्यवहारसूत्रके भाष्यमें, तीसरे

संदेह त्यां सुधी दूर नहि थथ शके के ज्यां सुधी तेभने साइ न भतावी हेवामां आवे के कथं कथं ज्ञ्याओमां संमूर्च्छिम ज्वेनो जन्म थाय छे, तेथी करीने अलग अलग गण्णाववुं ओ वृथा नथी, किन्तु आवश्यक होवायी सार्थक छे. कारणे उवर्त्थिदियनिग्गएसु वा’ (उपस्थेन्द्रियनिर्गतेषु) ओम न कहेतां वारंवार ‘पासवणेसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा सोणिणसु वा थीपुरिससंजोएसु वा’ ओ रीते हरेकनां अलग अलग नामो गण्णावीने भगवाने कथन कयुं छे. ओवुं कथन न करत तो ओ संशय पडत के स्त्री-पुरुषना संयोग विना केवल शुक्रशोणित आदिमां संमूर्च्छिम ज्वेनो उत्पन्न थाय छे के नहि ? ओ प्रकारना संदेहथी मुनियोने संयम पालन करवानुं मुश्किल थथ पडत.

वास्तवमां सुभमांथी नीकणनारा जणकणोने अशुचि कहेवा ओ ओतुं छे, कारणे के शास्त्रमां प्रज्ञापनासूत्रोक्त उच्चार आदिने ज अशुचि शब्दथी ओणभावामां आव्या छे ओने सुभमांथी नीकणनारा जणकणना अर्थमां अशुचि शब्दने प्रयोग भणी आवतो नथी. व्यवहार सूत्रना भाष्यमां, त्रीण उद्देशमां ‘दव्वे भावे असुई’ धत्यादि २८६ भी गाथानुं व्या-

“દવ્વે ભાવે અસુઈ ભાવે આહારવંદનાદીર્ઠિ” ઇત્યાદિગાથા-(૨૮૬) વ્યાખ્યાનાવસરે— “અશુચિર્દ્વિઘા-દ્રવ્યતો ભાવતશ્ચ, તત્ર યોઽશુચિના લિપ્તગાત્રો યો વા પુરીષમુત્સૃજ્ય પુતૌ ન નિર્લેપયતિ સ દ્રવ્યતોઽશુચિઃ” ઇત્યુક્તમ્, કિન્ન—“દવ્વે ભાવે અસુઈ દવ્વંમિ વિદ્વમાદિલિત્તો ડ” ઇત્યાદિગાથા-(૨૮૭) વ્યાખ્યાનાવસરે “અશુચિર્દ્વિઘા દ્રવ્યે ભાવે ચ, તત્ર દ્રવ્યે વિષ્ટાદિના લિપ્તઃ, આદિશબ્દાન્મૂત્રશ્લેષ્માદિપરિગ્રહઃ” ઇત્યભિહિતમ્ । પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રોક્તા ઉચ્ચારાદય ઇવાશુચિપદસ્યાર્થ ઇત્યાશયેનૈવ પ્રકૃતે દ્રવ્ય-ભાવભેદેન દ્વિઘા વિભાજિતેઽપ્યશુચિપદાર્યે મુક્તનિર્ગતવિપ્રુષામનુપાદાનં કૃતમ્ । આવશ્યકસૂત્રે વન્દનાખ્યતૃતીયાધ્યયને ઇકાદશાધિકૈકશતતમ-( ૧૧૧ )-ગાથાવ્યાખ્યાયાં હરિ-મદ્રસૂરિણાઽપ્યશુચિસ્થાનશબ્દસ્ય વિદપ્રધાનસ્થાનાર્થકત્વમુક્તમ્ । ઇવમેવ દર્શનશુદ્ધિ-

ઉદ્દેશમે “દવ્વે ભાવે અસુઈ” ઇત્યાદિ ૨૮૬ વીં ગાથાકા વ્યાખ્યાન કરતે સમય કહા હૈ—અશુચિ દો પ્રકારકી હૈ (૧) દ્રવ્ય અશુચિ ઓર (૨) ભાવ અશુચિ । જિસ વ્યક્તિકા શરીર અશુચિસે લિપ્ત હો અથવા જો વિષ્ટાકા ત્યાગ કરકે (ટટ્ટી જાકર) મલદ્વાર નહીં ધોતા ડસ વ્યક્તિકો દ્રવ્યસે અશુચિ કહતે હૈ, ઇત્યાદિ ।

તથા ઇસી વ્યવહાર ભાષ્યકે તોસરે ઉદ્દેશોકો ‘દવ્વે ભાવે અસુઈ દવ્વંમિ વિદ્વમાદિલિત્તો ડ’ ઇસ ૨૮૭ વીં ગાથાકી વ્યાખ્યા કરતે સમય ટીકાકારને કહા હૈ—વિષ્ટાઆદિસે લિપ્તકો દ્રવ્ય અશુચિ કહતે હૈ । યહાં આદિ શબ્દસે મૂત્ર ઓર શ્લેષ્મ આદિકો ગ્રહણ કરના ચાહિષ, ઇસા કહા હૈ । પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમે કહે હુષ ઉચ્ચાર આદિ હો અશુચિ પદકા અર્થ હૈ, ઇસી આશયસે પ્રકૃતમે દ્રવ્ય ભાવકા ભેદ કર દેને પર ભી અશુચિ પદાર્થોમે મુક્તસે નિકલને વાલે જલકર્ણોકા ગ્રહણ નહીં કિયા હૈ ।

આવશ્યકસૂત્રકે વન્દના નામક તોસરે અધ્યયનમે હરિમદ્રસૂરિને ૧૧૧વીં ગાથાકી વ્યાખ્યા કરતે સમય અશુચિ શબ્દકા અર્થ વિદપ્રધાન સ્થાન કિયા હૈ । દર્શનશુદ્ધિ નામક ગ્રન્થમે ભી

ખ્યાન કરતી વખતે કહું છે કે—

અશુચિ ડે પ્રકારની છે : (૧) દ્રવ્ય અશુચિ અને (૨) ભાવ અશુચિ. ડે વ્યક્તિનું શરીર અશુચિથી લેપાયલું હોય અથવા ડે વિષ્ટાનો ત્યાગ કરીને (બબરૂ જઈને) મળદ્વાર નથી ધોતો ડે વ્યક્તિને દ્રવ્યથી અશુચિ કહે છે; ઇત્યાદિ.

તથા—ડે વ્યવહારસૂત્ર ભાષ્યની ‘દવ્વે ભાવે અસુઈ દવ્વંમિ વિદ્વમાદિલિત્તો ડ’ ડે ૨૮૭ મી ગાથાની વ્યાખ્યા કરતી વખતે કહું છે કે—

વિષ્ટાઆદિથી લિપ્તને દ્રવ્ય અશુચિ કહે છે. અહીં ‘આદિ’ શબ્દથી મૂત્ર અને શ્લેષ્મ આદિનું ગ્રહણ કરવું જોઈ ડેમ કહું છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં કહેલા ઉચ્ચાર આદિ જ અશુચિ શબ્દનો અર્થ છે, ડે આશયથી પ્રકૃતમાં દ્રવ્યભાવનો લેહ બતાવતા છતાં પણ અશુચિ પદાર્થોમાં મુખથી નીકળતા જળકર્ણોને ગ્રહણ કર્યાં નથી.

આવશ્યક સૂત્રના વન્દના નામક ત્રીજા અધ્યયનમાં હરિભદ્ર સૂરિએ ૧૧૧ મી ગાથાની વ્યાખ્યા કરતાં અશુચિ શબ્દનો અર્થ વિદપ્રધાન સ્થાન ડેમ કર્યો છે. દર્શનશુદ્ધિ નામક ગ્રંથમાં

नामके ग्रन्थेऽपि प्रतिपादितम् । उत्तराध्ययनसूत्रे एकोनविंशोऽध्ययने द्वादशगाथाव्याख्यायां भावविजयगणिनाऽपि—“अशुचिभ्यां=शुक्रशोणिताभ्यां संभवम्=उत्पन्नम् अशुचिसम्भवम्” इत्युक्तम् । तत्रैव कमलसंयमोपाध्यायेनापि सर्वार्थसिद्धिटीकायाम्—“अशुचिसम्भवम्=अशुचिरूपशुक्रशोणितोत्पन्नम्”—इति व्याख्यातम्, सूत्रकृताङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने नरकवर्णने षट्षष्टितम-(६६) सूत्रे—‘असुई’ इत्यस्य टीकायाम्—“अशुचयो विष्टासृक्क्लेदप्रधानत्वात्” इति शीलाङ्गाचार्येण कथितम् । क्लेदः प्रस्वेदः (पसीना) इति हिन्दीशब्दसागरकोशः । स च मुखजलाद्भिन्न इत्यतिरोहितमेव सर्वेषाम् । प्रस्वेदेऽपि न संमूर्च्छिमजीवोत्पत्तिः, तत्परिगणने तस्यानुक्तत्वात् । पिण्डनिर्द्युक्तौ च पूतिकर्मदोषभेदस्य द्रव्यपूतेरुदाहरणे अशुचिगन्धशब्दस्य पुरीषगन्धार्थकत्वं निगदितम् ।

ऐसा ही प्रतिपादन किया है । उत्तराध्ययनसूत्रमें उन्नोसर्वे अध्ययनको बारहवीं गाथाकी व्याख्या करते समय भावविजयगणने कहा है—“अशुचिभ्यां=शुक्रशोणिताभ्यां संभवम्=उत्पन्नम् अशुचिसंभवम् ।” इसी सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक टीकामें कमलसंयम उपाध्यायने ऐसा व्याख्यान किया है—“अशुचिसंभवम्=अशुचिरूप-शुक्रशोणितोत्पन्नम् ।

सूत्रकृताङ्गसूत्रमें द्वितीय श्रुतस्कन्धके द्वितीय अध्ययनमें नरकके वर्णनमें ६६ वें सूत्रमें ‘असुई’ पदकी टीकामें शीलाङ्गाचार्यने कहा है—“अशुचयो विष्टासृक्क्लेदप्रधानत्वात् ।” यहाँ क्लेद पसीनाको कहा है । यह बात सबको विदित ही है कि मुखसे निकलने वाले जलकण और पसीना एक नहीं हैं दोनों अलग-अलग हैं । पसीनेमें भी संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि संमूर्च्छिम जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंकी गिनती करते समय भगवान्ने पसीना नहीं कहा है । पिण्डनिर्द्युक्तमें पूतिकर्मदोषके भेद द्रव्यपूतिके उदाहरणमें ‘अशुचिगन्ध’ शब्दको विष्टा-गन्ध वाले अर्थमें प्रयोग किया है ।

પણ એવું જ પ્રતિપાદન કર્યું છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં ૧૯ મા અધ્યયનની બારમી ગાથાની વ્યાખ્યા કરતાં ભાવવિજયગણિએ કહ્યું છે કે—અશુચિભ્યાં = શુક્રશોણિતાભ્યાં સંભવમ્ = ઉત્પન્નમ્ અશુચિસંભવમ્ । આ સૂત્રની સર્વાર્થસિદ્ધિ નામક ટીકામાં કમલસંયમ ઉપાધ્યાયે એવું વ્યાખ્યાન કર્યું છે કે—અશુચિસંભવમ્ અશુચિરૂપ શુક્રશોણિતોત્પન્નમ્ ।

સૂત્રકૃતાંગ સૂત્રના દ્વિતીય શ્રુતસ્કંધના બીજા અધ્યયનમાં નરકના વર્ણનમાં ૬૬ મા સૂત્રમાં અસુઈ શબ્દની ટીકામાં શીલાંગાચાર્યે કહ્યું છે કે અશુચયો વિષ્ટાસૃક્ક્લેદપ્રધાનત્વાત્ । અહીં ક્લેદ પરસેવાને કહ્યો છે. એ વાત સૌ જાણે છે કે મુખથી નીકળતા જળકણ અને પરસેવા એક નથી-એઉ જૂદા-જૂદા છે. પરસેવામાં પણ સંમૂર્ચ્છિમ જીવો ઉત્પન્ન થતા નથી, કારણ કે સંમૂર્ચ્છિમ જીવોનાં ઉત્પત્તિસ્થાનોની ગણતરી કરતી વખતે ભગવાને પરસેવા કહેલો નથી. પિંડનિર્દ્યુક્તમાં પૂતિકર્મદોષના ભેદ દ્રવ્યપૂતિના ઉદાહરણમાં અશુચિ ગંધ શબ્દનો વિષ્ટા-ગંધવાળા અર્થમાં પ્રયોગ કર્યો છે.

मानवधर्मशास्त्रेऽपि भाषणकालिकमुखोद्गतविप्रुषां मेध्यत्वमेवोक्तं नत्वशुचित्वं,  
यथा मनुस्मृतौ पञ्चमाध्याये—

“मक्षिका विप्रुषश्छाया, गोरश्वः सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शो मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ ५ ॥” १३३॥ इति ।

किञ्च दोरकाश्रयणमेव हिसानिदानं मत्वा हस्तेन शिरःपश्चाद्भाग्ने ग्रन्थिदानेन  
वा मुखवस्त्रिकां धारयताऽपि भाषणकालिकमुखोत्पतितजलकणेषु सम्पृच्छिमजीवोत्पत्ति-  
स्थानत्वाभावोपपादनाय प्रकृतोपात्तानि प्रमाणान्यवश्यं शरणीकरणीयानि, अन्यथा तेषा-  
मपि धर्मोपदेशकाले द्वित्रहोरापर्यन्तं भाषणे मुखोपरि मुखवस्त्रिकाधारणस्याऽऽवश्यकतया  
तत्र मुखोत्पतितजलकणैरार्द्रतापत्तिर्वारयितुमशक्यैव, लोके हि अनावृतमुखेन पुस्तकं  
पठतां परं प्रति ब्रुवता च मुखविप्रुषः पुस्तके परदेहे च पतन्त्यो लक्ष्यन्ते, पुनः समीपत-

मानवधर्मशास्त्रमें भाषण करते समय निकलने वाले जलकणोंको अशुचि नहीं कहा है ।  
मनुस्मृति पाँचवाँ अध्याय—

“मक्षिका विप्रुषश्छाया, गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शो मेध्यानि निर्दिशेत् ॥, ॥५॥१३३ ।

दोरा धारण करनेको ही हिंसोका कारण मान कर हाथसे अथवा सिरके पीछे गाँठ लगा  
कर मुखवस्त्रिका धारण करने वालोंको भी इन प्रमाणोंकी शरण लेनी चाहिए; जो यह  
बतानेके लिए यहाँ दिये गये हैं कि भाषण करते समय मुखसे निकलने वाले जलकणोंमें सम्पू-  
च्छिम जीव उत्पन्न नहीं होते । अन्यथा धर्मोपदेश देते समय वे दो-दो तीन तीन घण्टे बोलते  
हैं उस समय मुखवस्त्रिका धारण करना आवश्यक होनेके कारण मुखसे निकलने वाले जलक-  
णोंसे मुखवस्त्रिका गीला हो जायगी और इस आपत्ति का निवारण करना शक्य नहीं है ।

लोकमें :खुले मुँह पुस्तक पढ़नेवालोंके तथा दूसरोंसे वार्तालाप करने वालोंकेमुखसे

मानवधर्मशास्त्रमां भाषणु करती वधते नीकगता जलकणोने अशुचि कहा नथी. मनु-  
स्मृतिना पांचमा अध्यायमां कहुं छे—

मक्षिका विप्रुषश्छाया, गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।

रजो भूर्वायुरग्निश्च, स्पर्शो मेध्यानि निर्दिशेत् ॥५-१३३ ।

दोरा धारणु करवाने ज हिंसात्रं करणु मानीने हाथथी अथवा शिरनी पाछण गांठ  
वाणीने मुखवस्त्रिका धारणु -करनाराओये.पणु.आ प्रमाणोनुं शरणु लेवुं जेईये, जे ये  
पतापवाने-भाटे अडीं आपवामां.आव्यां छे के-भाषणु करती वधते मुखथी निकगता  
जलकणोमां सम्पृच्छिम लुव उत्पन्न नथी थता, अन्यथा व्याप्यान वांचती वधते जण्ये  
त्रणु-त्रणु कलाक सुधी ओदे छे, त्यारे मुखवस्त्रिका धारणु करवी आवश्यक होवाथी मुखथी  
नीकगता जलकणोथी मुखवस्त्रिका लोनी थई जशे अने ये आपत्ति निवारवानु शक्य नथी.

दोकोमां खुद्वे मुखे पुस्तक वांचनारना तथा भीजओ साथे वार्तालाप करनारना



रयति मुखवस्त्रिकायां न ताः पतिष्यन्तीति कल्पना किं दुराग्रहं नावेदयेदित्यलम् ।

नन्वेवं सूक्ष्मव्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवविराधनापरिहारार्थमेव यदि सदा सदोरकमुखवस्त्रिकाबन्धने सावधानता विधीयते तर्हि भोजनकाले तदपसारणावश्यक-  
तया कथं तादृशजीवविराधनापरिहारः ? इति चेच्चित्तमवधेहि ।

अत्र चतुर्थाध्ययने—“जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ”, इति भगव-  
ताऽभिहितम्, प्रागुक्तरीत्या मुखवस्त्रिकाबन्धनस्याऽऽवश्यकत्वेऽपि तदपसारणमन्तरेण  
‘भुंजतो’ इति पदबोध्याया भोजनक्रियाया अनुपपत्त्या भोजनकाले मुनीना मुखवस्त्रिका  
मोचनीयेति गम्यते, अत एवात्र—“जयं भुंजतो” इत्यस्य यथाकल्पलब्धान्तप्रान्ताद्येवा-

जलकण निकल कर पुस्तक पर तथा दूसरेकी देह पर गिरते हुए देखे जाते हैं । फिर मुखके  
पास ही रहनेवाली मुखवस्त्रिका पर कण नहीं गिरेंगे, ऐसी कल्पना करना दुराग्रहको ही  
प्रगट करता है ।

प्रश्न—सूक्ष्म, व्यापी संपातिम तथा वायुकाय आदि जीवोंकी विराधनासे बचनेके लिए ही  
यदि सदा डोरा सहित मुखवस्त्रिका बांधनेमें सावधानी रखी जाती है तो भोजन करते समय  
उन जीवोंकी विराधनासे कैसे बच सकते हैं ? क्योंकि उस समय मुखवस्त्रिका खोल लेना  
आवश्यक है ।

उत्तर—चित्त लगाकर सुनो । इसी (दशवैकालिक) के चौथे अध्ययनमें भगवान्ने कहा है  
:“जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ।” अर्थात् यतनापूर्वक आहार करने और भाषण  
करनेसे पापकर्मका बन्ध नहीं होता है । पहले कहे गये प्रमाणोंसे मुखवस्त्रिका बांधना सिद्ध  
होने पर भी उसके निकाले बिना ‘भुंजतो’ पदसे बोध्य भोजनक्रिया नहीं हो सकती । इससे  
ऐसा तात्पर्य निकलता है कि भोजन करते समय मुनिको मुखवस्त्रिका हटा देनी चाहिये । अतः

मुष्मन्मांथी जलकण नीकणीने पुस्तक पर तथा धीमना शरीर पर पडता जेवामां आवे छे.  
तो पछी मुष्मन्नी पासे ज रडेनारी मुष्मवस्त्रिका पर कणु नहि पडे, जेवी कल्पना करवी जे  
दुराग्रहने प्रकट करे छे.

प्रश्न—सूक्ष्म, व्यापी, संपातिम तथा वायुकाय आदि जिवोनी विराधनाधी अचवाने  
भाटे ज जे सदा दोरा साथे मुष्मवस्त्रिका बांधवामां सावधानी राखवामां आवे छे तो  
लोअन करती वपते जे जिवोनी विराधनाधी केवी रीते अची शकाय ? कारणु के जे वपते  
मूष्मवस्त्रिका छोडी नाअवानी जर पडे छे.

उत्तर—चित्त राषीने सांभयो. आ (दशवैकालिकना) ज थोथा अध्ययनमां लगवाने  
कलुं छे के ‘जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ’ अर्थात् यतनापूर्वक आहार करवाधी  
पापकर्मने अंध थतो नथी. पूर्वोक्त प्रमाणोथी मुष्मवस्त्रिका बांधवी जे सिद्ध थथा छतां  
पणु जेने काढी नांअया विना भुंजतो शण्ठथी आध्य लोअनक्रिया थथ शकती नथी. तेथी  
जेवुं तात्पर्य नीकणे छे के लोअन करती वपते मुनिजे मुष्मवस्त्रिका हटावी देवी जेथ जे.

शनं मण्डलदोषवर्जनपूर्वकमभ्यवहरमाणः, इत्येवाशयो न तु मुखवस्त्रिकां बद्ध्वैव भुञ्जान इति, तथा चोक्तयतनापूर्वकभोजनकाले मुखवस्त्रिकापसारणमागमानुकूलमेवेति न तस्य पापकर्मबन्धनहेतुत्वम्, अनेनैवाऽऽशयेन च—“पावं कम्मं न बंधइ” इत्युक्तं भगवता ।

एवं च भगवत्तीर्थङ्करगणधरादिवचनपर्यालोचनेन निरवशेषसंशयतिमिरापगमपुरस्सरं प्रकाशमाने मानसे वायुकायादिविराधनापरिहाराय सदोरकमुखवस्त्रिकाबन्धनं साहादं स्थानमासादयति । रागद्वेषदोषाकलितचेतसां भगवद्वचनामृतरसास्वादवश्चितानां विविधसंशयपराहते चेतसीममर्थं दुर्लक्ष्यमभिलक्ष्य हस्तदुष्प्राप्यमर्थमाकलयितुं सोपानमिवालम्बनं तेभ्यः पुरस्कर्तुं सप्रमाणमेतत् सम्यगुपपादितम् । अत्र प्रमाणतयोपन्यस्तग्रन्थनामानि विनेयबुद्धिवैमल्याय निर्दिश्यन्ते—

- |  |                         |
|--|-------------------------|
| (१) श्री-भगवतीसूत्रम् ।                | (१५) निशीथसूत्रम् ।     |
| (२) हितशिक्षारासः । (श्रावकऋषभदासकृतः) | (१६) बृहत्कल्पभाष्यम् । |
|  | (१७) व्यवहारभाष्यम् ।   |
| (३) हरिबलमच्छीरासः (मुनिलब्धिविजयकृतः) | (१८) आचाराङ्गसूत्रम् ।  |
|  | (१९) विपाकसूत्रम् ।     |

‘जयं भुञ्जतो’ पदका “कल्पके अनुसार प्रात हुआ अन्त प्रान्त आदि आहार मण्डलदोषों का त्याग करके भोगता हुआ” ऐसा अर्थ समझना चाहिए । ऐसा नहीं कि मुखवस्त्रिका बाँधे-बाँधे आहार करे । अत एव उक्त—यतना-पूर्वक भोजनकालमें मुखवस्त्रिका त्याग देना आगमके अनुकूल है, अतः उससे पापकर्मका बन्ध नहीं होता । इसी आशयसे भगवान्ने ‘पावं कम्मं न बन्धइ’ कहा है ।

इस प्रकार भगवान् तीर्थङ्कर गणधरादिकोंके वचनोंको पर्यालोचना करनेसे सकलसंशय-रूप अन्धकारके दूर हो जानेके कारण प्रकाशमान ऐसे हृदयमें वायुकाय आदिकी विराधनाका दोष टालनेके लिए दोषसहित मुखवस्त्रिकाका बान्धना आल्हादपूर्वक स्थानको धारण करता है ।

रागद्वेषरूपी दोषोंसे दूषित भगवद्वचनामृतके रसास्वादसे वंचित पुरुषोंके अनेक दुर्विकल्पो-से पराहत हुए चित्तमें इस अर्थको दुर्लक्ष्य समझकर उनके लिए हाथसे न प्राप्त होनेवाली

येटले ‘जयं भुञ्जतो पदना अर्थ ‘कल्पने अनुसार प्राप्त थयेदो अंत प्रांत आदि आहार मंडल-दोषोना त्याग करीने लोगवता” ये प्रमाणे समज्जेवे जेधये. जेम न समज्जुं जेधये के मुखवस्त्रिका बाँधी राणीने आहार करे. येटले उक्त-यतनापूर्वक भोजनकालमां मुखवस्त्रिकाने त्याग करवे जे आगमने अनुकूल छे. तेथी पापकर्मना बंध थती नथी. जे आशयथी लगवाने पावं कम्मं न बंधइ कलुं छे.

ये प्रकारे लगवान तीर्थङ्कर गणधरादिनां वचनोनी पर्यालोचना करवाथी सकल संशयइप अंधकार दूर थधे जवाने तीथे प्रकाशमान जेवा हृदयमां, वायुकाय आदिनी विराधनानो दोष टालवाने माटे दोषसहित मुखवस्त्रिकानुं बाँधवुं ते आल्हादपूर्वक स्थानने धारण करे छे.

रागद्वेष इपी दोषथी दूषित, भगवद्वचनामृतना रसास्वादथी वंचित जेवा पुरुषोना अनेक दुर्विकल्पोथी परास्त जेवा चित्तमां आ अर्थने दुर्लक्ष्य समज्जने तेमने माटे हाथथी

- |                                       |                                       |
|---------------------------------------|---------------------------------------|
| (४) योगशास्त्रम् (हेमचन्द्राचार्य०)   | (२०) सामाचारी । (देवचन्द्रसूत्रिकृता) |
| (५) ओधनिर्युक्तिः ।                   |                                       |
| (६) प्रवचनसारोद्धारः ।                | (२१) प्रज्ञापनासूत्रम् ।              |
| (७) प्रकरणरत्नाकरः ।                  | (२२) भावप्रकाशः ।                     |
| (१०) उत्तराध्ययनसूत्रटीकाः ३ ।        | (२३) सुश्रुतसंहिता ।                  |
| (१) सर्वार्थसिद्धिटीका ।              | (२४) योगचिन्तामणिः ।                  |
| (२) भावविजयकृतवृत्तिः ।               | (२५) माधवनिदानम् ।                    |
| (३) पाईटीका ।                         | (२६) तिव्वअकब्बर ।                    |
| (११) विशेषावश्यकबृहद्वृत्तिः          | (२७) शरीरविज्ञानम् ।                  |
| (१२) अन्तकृद्दशाङ्गम् ।               | (२८) मानवधर्मशास्त्रम् ।              |
| (१३) आवश्यकसूत्रटीका । (हारिभद्रीया ) | (२९) पिण्डनिर्युक्तिः ।               |
|                                       | (३०) सूत्रकृताङ्गम् ।                 |
| (१४) ज्ञाताधर्मकथाङ्गम् ।             | (३१) दशवैकालिकसूत्रम् । इति ।         |

॥ इति मुखवस्त्रिकाविचारः ॥

तपः=तपति-ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म दहतीति तपः, तच्च बाह्याभ्यन्तरभेदाद्-द्विधा, तत्र बाह्यं तपः षड्विधम्, तथा चोक्तम्—

“अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।  
कायक्किल्लेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥ १ ॥”, इति ।

छाया—“अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।  
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥ १ ॥”

(१) अनशनं=चतुर्थभक्तादिषाण्मासिकान्तं यावज्जीवनं वाऽशेषाहारपरिहारः । (२)

वस्तुकी प्राप्तिके लिए सोपान (सीढी) की तरह आलम्बन अगाडी रखकर यह सब सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है । यहां विनीत शिष्यकी बुद्धिका विकासके लिए प्रमाणरूपसे दिये गये ग्रन्थोंकी कुछ नामावली संस्कृत टोकामें दी गई है, पाठकगण वहां देख लें ॥

॥ इति मुखवस्त्रिकाविचार ॥

तप—जिससे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म भस्म हो जावें उसे तप कहते हैं । वह दोप्रकारका है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर । बाह्य तप छह प्रकारका है—

न प्राप्त थनारी वस्तुनी प्राप्तिने माटे सोपान (सीढी)ना जेवुं आलंयन आगण राणीने आ अधुं सप्रमाण प्रतिपादित करवामां आव्युं छे.

अही विनीत शिष्यनी बुद्धिना विकासने माटे प्रमाणरूपे आपेला ग्रंथानी नामावली संस्कृतटीकांमां आपवामां आवी छे, त्यांथी पाठकैअे जेध देखी.

इति मुखवस्त्रिकाविचार समाप्त

तप—जेथी ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म भस्मीभूत थधं जय तेने तप उडे छे. तप जे प्रकारतुं छे. (१) बाह्य अने (२) आभ्यन्तर. बाह्य तप छ प्रकारतुं छे—(१) अनशन, (२) जिनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता.

ऊनोदरिका=यावताऽन्नादिनोदरं परिपूर्यते तत्र कवलमात्रमपि न्यूनयित्वाऽभ्यवहरणम् ।  
 (३) भिक्षाचर्या=स्वाध्यायाविरोधियथाविधिविशुद्धभिक्षाकृते चरणम् (४) रसपरित्यागः  
 =दुग्धादिविकृतित्याग । (५) कायक्लेशः=शीतोष्णादिसहिष्णुत्वं केशलुञ्चनं च । (६)  
 संलीनता=स्त्रीपशुपण्डकरहितवसती कूर्मवदङ्गोपाङ्गाद्याकुञ्चनपूर्वकावस्थानम् । आभ्यन्तर-  
 मपि तपः षड्विधं, तथा चोक्तम्—

“ पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्जाओ ।

ज्ञाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भित्तरो तवो ॥ १ ॥ ” इति ।

(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) काय-  
 क्लेश, (६) संलीनता ।

(१) अनशन=इहलोक परलोक सम्बन्धी कामनारहित चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त,  
 आदि छहमासी तप पर्यन्त, अथवा यावज्जीवन संपूर्ण आहारका परित्याग करना अनशन तप  
 कहलाता है ।

(२) ऊनोदरी=जितने अन्नसे उदरकी पूर्ति हो जाती है उससे एक प्रास भी कम आहार  
 करनेको ऊनोदरी तप कहते हैं । इससे स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएं अच्छीतरह निभती हैं ।

(३) भिक्षाचर्या=जिससे स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओंमें विघ्न न आवे, इसप्रकार  
 शास्त्रानुकूल विधिसे विशुद्ध भिक्षाके लिए पर्यटन करना भिक्षाचर्या तप कहलाता है ।

(४) रसपरित्याग=दूध, दही, घृत, तैल, मीठिका त्याग करनेको रसपरित्याग कहते हैं ।

(५) कायक्लेश=शीत, उष्ण आदिका सहन करना, अथवा केशलोच करनेको कायक्लेश  
 तप कहते हैं ।

(६) संलीनता=स्त्री-पशु-पण्डकरहित वसतीमें कल्लुवेकी तरह अङ्गोपाङ्ग संकुचित करके  
 स्थित होना संलीनता तप कहलाता है ।

(१) अनशन—इहलोक परलोक सम्बन्धी कामना रहितपणे, चतुर्थ भक्त, षष्ठ  
 भक्त, अष्टम भक्त ( सण्ण ओक उपवास, ये उपवास, त्रणु उपवास ) आदि छ मासी तप  
 सुधी अथवा जवनपर्यंत संपूर्ण आहारना परित्याग करवे ओ अनशन-तप कहेवाय छे.

(२) ऊनोदरी—जेठला अन्नथी उदर भराय तेथी ओक कोणियो मात्र पणु ओछो  
 आहार करवे ते ऊनोदरी तप कहेवाय छे. तेथी स्वाध्याय, ध्यान, आदि क्रियाओने  
 सारी रीते निभाव थाय छे.

(३) भिक्षाचर्या—जेथी स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओमां विघ्न न आवे, ओ  
 प्रकारे शास्त्रानुकूल विधिथी विशुद्ध भिक्षाने माटे पर्यटन करवुं ओ भिक्षाचर्या तप कहेवाय छे.

(४) रसपरित्याग—दूध, दही, घी, तेल, मीठाघना त्याग करवे ओने रसपरित्याग  
 कहे छे.

(५) कायक्लेश—टाढ, ताप, आदिने सहन करवां. अथवा केशलोच करवे ओ काय-  
 क्लेश तप कहेवाय छे.

(६) संलीनता—स्त्री-पशु-पण्डक-रहित वसतीमां (स्थानमां) कायआनी चेठे अणोपाण

छाया—“प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।

ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥ १ ॥ ”

- तत्र (१) प्रायश्चित्तम्=उपचिताऽतीचारशोधनं, यथाऽऽलोचनाप्रतिक्रमणादि ।  
 (२) विनयः=गुर्वाधाराधनं, यथाऽऽभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानाभिवादनतन्मनोऽनुकूलप्रवृत्त्यादि ।  
 (३) वैयावृत्यं=साधूनामशनपानाधानयनादिना साहाय्यकरणम् । (४) स्वाध्यायः=श्रुत-  
 धर्मारोधानं, स च वाचना-प्रच्छना-परिवर्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मकथाभेदात् पञ्चविधः । (५)

आभ्यन्तर तपके भी छह भेद हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय; (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, (६) व्युत्सर्ग ।

(१) प्रायश्चित्त=लगेहुए अतिचारोंकी विशुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है, जैसे आलो-  
 चना, प्रतिक्रमण आदि करना ।

(२) विनय=गुरु आदिकी आराधना करना विनय है । गुरु आदिके आने पर खड़ा होना, आसन देना, बन्दना करना, उनके मनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि अनेक प्रकारका विनय होता है ।

(३) वैयावृत्य=अशन पान आदि लाकर मुनियोको सहायता पहुंचाना वैयावृत्य (वैयावच्च) तप कहलाता है ।

(४) स्वाध्याय=श्रुतज्ञानको आराधना करना स्वाध्याय है । स्वाध्यायके पांच भेद हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा ।

शिष्योंको आगम पढ़ानेको ‘वाचना’ कहते हैं । सद्भावसे संशय दूर करनेके लिए, अथवा तत्त्वका निश्चय करनेके लिए पूछना ‘पृच्छना’ कहलाता है । शुद्ध उच्चारण करके चार—चार-

संकेतोंने रडेवुं ते संलीनता तप कडेवाय छे.

आभ्यन्तर तपना पणु छ लेहो छे. (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, (६) व्युत्सर्ग.

(१) प्रायश्चित्त—लागेला अतिचारेनी विशुद्धि करवी अये प्रायश्चित्त तप छे; जेमके आलोचना, प्रतिक्रमण वगेरे करवां.

(२) विनय—गुरु आदिनी आराधना करवी अये विनय छे. गुरु आदि आवे त्यारे जिला थवुं, आसन आपवुं, वंदना करवी, जेमना मनने अनुकूल प्रवृत्ति करवी वगेरे अनेक प्रकारे विनय थाय छे.

(३) वैयावृत्य —अशन पान आदि लावीने मुनिअेने सहाय आपवी आदि वैया-  
 वृत्य (वैयावच्च) तप कडेवाय छे.

(४) स्वाध्याय—श्रुतज्ञाननी आराधना करवी अये स्वाध्याय छे. स्वाध्यायना पांच लेहो छे: (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा, अने (५) धर्मकथा.

शिष्येने आगम बाणुववा अने पोते बाणुवुं अये वाचना. कडेवाय छे. सद्भावपूर्वक

ध्यानम्=एकमात्रावलम्बनेन पवनासंपृक्तदीपशिखाया इव चित्तस्य स्थिरीकरणम् ।

यद्यपि तच्चतुर्विधम् आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्लभेदात्, तथापि धर्म-शुक्ल लक्षणं द्वयमेवोपादेयं पूर्वद्वयस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् । (६) व्युत्सर्ग=कायादिसंचालननिवृत्तिपूर्वक-सोपयोगावस्थानम् । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशविधं तपः सिद्धम् ।

ननु अहिंसा-संयम-तप-स्वरूपस्य धर्मस्योत्कृष्टमङ्गलत्वं प्रतिपाद्यते तत्र तपसोऽनश-नादिलक्षणदुःखरूपत्वेन मोक्षहेतुत्वं न प्राप्नोति, तद्धि असातवेदनीयकर्मोदयात्मकम्,

मनन करना 'अनुप्रेक्षा' है । धर्मकी चर्चा या उपदेश करनेको 'धर्मकथा' कहते हैं ।

(५) ध्यान=वायुके स्पर्श नहीं होनेसे जैसे दीपककी ज्योति स्थिर हो जाती है, वैसेही मनको किसी एक विषयमें स्थिर करलेनेको ध्यान कहते हैं ध्यान यद्यपि आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेदसे चार प्रकारका है, तथापि यहाँ धर्म और शुक्ल ये दो शुभ ध्यान ही उपादेय हैं, यही दोनों तपमें अन्तर्गत हैं, पहलेके दो अशुभ ध्यान कर्मबन्धनके कारण है ।

(६) व्युत्सर्ग=काय आदिके व्यापारको, तथा कषाय आदिको त्यागकर उपयोगसहित रहनेको 'व्युत्सर्ग' कहते हैं ।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तरके भेद मिलकर तपके सब बारह भेद होते हैं ।

प्रश्न—अहिंसा, संयम और तपरूप धर्मको उत्कृष्ट मंगल बतलाया है, लेकिन अनशन आदि तप भोजन आदिका त्याग करनेसे होते हैं, इसलिए वे दुःख हैं और दुःख मोक्षका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख असातवेदनीय कर्मके उदयसे होता है । भगवान् ने भी

संशय हूर करवा भाटे, अथवा तत्त्वना निश्चय करवा भाटे पृच्छा करवी-पृच्छुं ओ पृच्छना कडेवाय छे. शुद्ध उच्यारण्य करीने वारंवार आवृत्त करवुं ते परिवर्तना कडेवाय छे. लोला अर्थनुं वारंवार मनन करवुं ओ अनुप्रेक्षा छे. धर्मनी यर्था अथवा उपदेश करवो ओ धर्मकथा कडेवाय छे.

(५) ध्यान—वायुना स्पर्श नहि थवाथी जेम दीवानी ज्योत स्थिर रहे छे, तेवी रीते मनने कोष ओठ अवलंभनमां स्थिर करी लेवुं ओ ध्यान कडेवाय छे. ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म अने शुक्ल ओवा लेहे करीने चार प्रकारनुं छे, तो पण्य अहीं. धर्म अने शुक्ल ओ ओ शुभ ध्यान जे उपादेय छे. ओ ओ ध्यान तपमां अंतर्गत छे, पडेलां जे अशुभ ध्यान कर्मबंधनां कारण छे.

(६) व्युत्सर्ग—काया आदिना व्यापारने तदा कषाय आदिने त्यज्जने उपयोग सहित रहेवुं ओ व्युत्सर्ग कडेवाय छे.

ओ प्रमाणे बाह्य अने आभ्यन्तरना लेह मणीने तपना ओकंहर बार लेह थाय छे.

प्रश्न—अहिंसा, संयम अने तप इय धर्मने उत्कृष्ट मंगल बतलावेले छे, परन्तु अनशन आदि तप लोभनादिना त्याग करवाथी थाय छे, तेथी ओ दुःख छे अने दुःख मोक्षनुं कारण थधं शक्तुं नथी; कारण के दुःख असातावेदनीय कर्मना उदयथी उत्पन्न

भगवताऽपि क्षुत्पिपासादयः परीषहा वेदनीयकर्मोदयस्वरूपत्वेनाऽभ्यधायिषत ।

कर्मक्षयो हि यद्यपि मोक्षाङ्गत्वेन श्रूयतेऽति शास्त्रे, कर्मोदयस्य तु न क्वचिन्मोक्ष-हेतुत्वं शास्त्रे लोके वा प्रथितम् । एवं सति तस्योत्कृष्टमङ्गलात्मकधर्मरूपत्वकथनमयुक्तम् ।

दुःखरूपत्वेन तपसो मोक्षसाधनत्वस्वीकारे तु व्याधिनाऽऽतुरस्य, राजदण्डेन तस्करस्य, कशादिघातेनाश्वादेः, दशविधक्षेत्रवेदनया नाराकाणां, श्वासोच्छ्वासमात्रप्रमित-कालेऽपि सार्द्धसप्तदशमितजन्ममरणनिमित्तकाऽनन्तघोरवेदनायुक्तानां निगोदजीवानां च मोक्षापत्तिः, तेषामपि भवदभिमतमोक्षहेतुदुःखसद्भावादिति ।

यही प्रतिपादन किया है कि—“क्षुधा पिपासा आदि परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं ।” कर्मका क्षय तो मोक्षका कारण हो सकता है, परन्तु यह कहीं नहीं सुना कि कर्मका उदय भी मोक्षका कारण है । यह बात न किसी शास्त्रमें है और न लोकमेंही प्रसिद्ध है, इसलिए जब कि तप, कर्मोदयजन्य होनेसे मोक्षका कारण नहीं हो सकता तो उसे उत्कृष्ट मंगल क्यों कहा है ? यदि दुःखरूप तपको मोक्षका कारण मानलिया जाय तो अनेक दोष आते हैं, वे ये हैं कि जो पुरुष रोगसे अत्यन्त पीड़ा पा रहा है उसे मोक्ष होजाना चाहिये, राजदण्डसे दुःख भोग-नेवाले चोर डाकुओंको मोक्ष होना चाहिए, घोड़ोपर कोड़ोको मार पड़ती है, वे दुःखी होते हैं; अतः उन्हेंभी मोक्ष मिलना चाहिये । इसी प्रकार, क्षेत्रवेदनासे दुःखी नारकी जीवोंको तथा एक श्वासोच्छ्वासमें साढे सतरह वार जन्ममरणके अनन्त काल तक दुःख पाने वाले निगोदिया जीवोंको मुक्तिको प्राप्ति होनी चाहिये । अधिक कहां तक कहें ? संसारके समस्त प्राणी जन्म, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि भांति—भांतिके दुःखोंसे दुःखी हैं अत एव सबहोको मोक्ष मिलजाना चाहिये, क्योंकि दुःखको यहां मोक्षका कारण माना है ।

थाय छे. लगवाने पणु अेम न प्रतिपादन क्युं छे के—“ लूथ तरस आदि परीषह वेदनीय कर्मना उदयथी न थाय छे. ” कर्मने क्षय तो मोक्षनुं कारण होई शके छे. परंतु अेषुं कथांय सांख्युं नथी के कर्मने उदय पणु मोक्षनुं कारण छे. अे वात केअ शास्त्रमां नथी तेमन होअमां प्रसिद्ध नथी; तेथी ने तप कर्मोदयजन्य होअने मोक्षनुं कारण थअ शकते नथी तो तेने उत्कृष्ट मंगल केअ कह्यो छे ? ने दुःखरूप तपने मोक्षनुं कारण मानवामां आवे तो अनेक दोषो आवे छे, जेमके-जे पुरुष रोगथी अत्यंत पीडा पाभी रह्यो होय तेना मोक्ष थअ जेवो नेअअे, राजदंडथी दुःख भोगववा वाणा चोर डाकुओने मोक्ष थवे नेअअे, घोडा पर याणुकने मार पडे छे तेथी ते दुःखी थाय छे, तेथी तेने पणु मोक्ष भणवे नेअअे. अेन प्रमाणे क्षेत्रवेदनाथी दुःखी अेवा नारकी एवने तथा अेक श्वासो-च्छ्वासमां साडी सत्तरवार जन्म-मरणनांदुःखो अनंतकाल सुधी पाभनरा निगोदिया एवने पणु मुक्तिनी प्राप्ति थवी नेअअे. वधारे शुं कहीअे ? जगतनां अधां प्राणीअो जन्म, मरण, इष्टने वियोग, अनिष्टने संयोग पगेरे तरेड तरेडनां दुःखोथी दुःखी छे. अेटवे अे अधाने मोक्ष भणी जेवो नेअअे, कारण के दुःखने अही मोक्षना कारण रूप मान्युं छे.

किञ्चालमेतेन विशेषविचारेण जन्मजरामरणेष्टवियोगाऽनिष्टसंयोगाद्यनेकविधदुःख-  
युक्ताः सर्व एव संसारिण इत्यविशेषेण सर्वेषां मोक्षापत्तिः स्यात् ।

एतदुक्तं भवति—तपः समाचरतः क्षुत्पिपासादयः समुद्भवन्ति, ततश्च प्रबलदुःखम्,  
एतच्च चित्तविक्षेपस्य हेतुः, सति च तस्मिन् अप्रशस्तं ध्यानं, तस्माच्चावश्यं कर्मबन्धः,  
ततश्च चतुर्गतिकसंसारपरिभ्रमणरूपं महदमङ्गलमिति कथंकथमप्यर्हिसासंयमविशिष्टस्यापि  
तपसो मोक्षहेतुत्वरूपमुत्कृष्टमङ्गलत्वं न सम्भवदुक्तिकमिति ।

अत्रोच्यते—तपो न तावद् दुःखात्मकं, दुःखं हि नामाऽशातवेदनीयकर्मोदयविपाकः  
पीडालक्षण आत्मपरिणामः, तपश्चर्यागर्भिताऽनशनादिव्यापारस्य न पीडात्मकाऽऽत्म-  
परिणामरूपत्वम् ।

जो अनशन आदि तप करता है उसे क्षुधा पिपासा आदि परीषह होते हैं । परीषह होनेसे तीव्र दुःख होता है । दुःखसे चित्तका विक्षेप होता है । चित्तके विक्षेपसे अशुभ ध्यान होता है । अशुभ ध्यानसे कर्मका बन्ध होता है । कर्मबन्धसे चार गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है, इसप्रकार यह बड़ा अमंगल है । जो प्रबल अमंगल है वह अहिंसा और संयमसे युक्त होनेपर भी उत्कृष्ट मंगल नहीं हो सकता । अमृतमें विष मिला देनेसे क्या विष अमृत हो सकता है । कदापि नहीं । इसलिए तपको मोक्षका कारण मानना उचित नहीं है ।

उत्तर—तपको दुःख कहना युक्त नहीं है, वह दुःखरूप नहीं है । क्योंकि असातावेद-  
नीय कर्मके फलोंको, जो आत्माका ही एक विभाव परिणाम है, और पीडारूप है उसे दुःख कहते हैं । अनशन आदि तप पीडारूप परिणाम नहीं है, अतः उन्हें दुःख नहीं कहा जा सकता । दूसरी बात यह है—शंकाकारने कहा है कि तप मोक्षका कारण नहीं है । क्योंकि वह दुःख है । यहाँ “तप मोक्षका कारण नहीं” यह प्रतिज्ञा है और क्योंकि वह दुःख है” यह हेतु है । हेतुका सदा ऐसा ही प्रयोग करना चाहिये जो प्रतिवादीको भी सिद्ध होवे । यदि “वह दुःख

जे अनशन आदि तप करे छे तेने भूष-तरस आदि परीषह थाय छे. परीषहथी तीव्र दुःख थाय छे. दुःखथी चित्तने विक्षेप थाय छे. चित्तना विक्षेपथी अशुभ ध्यान थाय छे. अशुभ ध्यानथी कर्मने अंध थाय छे. कर्मअंधनथी चार गतियोंमां परिभ्रमण करवुं पडे छे. जे रीते जे मोटुं अमंगल छे. जे प्रमण अमंगल छे ते अहिंसा अने संयमथी युक्त थवा छतां पण उत्कृष्ट मंगल थर्छ शकतुं नथी. अमृतमां विष मेलववाथी शुं विष अमृत थर्छ शके छे ? कदापि नहि. तेथी तपने मोक्षनुं कारण मानवुं जे उचित नथी.

उत्तर—तपने दुःख कहेवुं जे युक्त नथी. ते दुःखइय नथी कारण जे जे सातावेद-  
नीय कर्म के जे आत्माने जे जेक विलाव परिणाम छे अने पीडाइय छे, तेने दुःख कहे छे. अनशन आदि तप पीडाइय परिणाम नथी, तेथी तेने दुःख कही शकय नहि. पीछ वात आ छे. शंकाकारे कहुं के तप मोक्षनुं कारण नथी, कारण के ते दुःख छे; परन्तु अही “ तप मोक्षनुं कारण नथी ” जे प्रतिज्ञा छे अने “ कारण के ते दुःख छे ” जे



किञ्च तपः पक्षीकृत्य मोक्षसाधनत्वाभावसाध्ये यदुक्तं दुःखरूपत्वसाधनं तदयुक्तं, तस्य दुःखजयरूपत्वेन स्वरूपासिद्धेः ।

तत्र (तपसि) जायमानाः क्षुत्पिपासादयः आत्मनः प्रवर्द्धमानविशुद्धपरिणामेन विजिता सन्त पीडालक्षणं कार्यं न जनयन्ति । एतेन क्षुत्पिपासादीनां कर्मोदयस्वरूपत्वेऽपि स्वकार्यकारणाऽक्षमतया चित्तविक्षेपाजनकत्वं सिद्धम् । अतएव भगवताऽपि क्षुत्पिपासादिपरीषहस्य तपसश्च पृथक्त्वेन प्रतिपादनं विहितम् ।

है” यह हेतु सिद्ध होता तो शंकाकारका साध्य सिद्ध हो सकता, परन्तु वह सिद्ध नहीं है । क्योंकि पहले बतला चुके हैं कि तप दुःख नहीं है । अत एव यह हेतु स्वरूपसेही असिद्ध है । तप दुःखरूप नहीं बल्कि दुःखको विजय करना तप कहलाता है ।

अनशन आदि तपसे होनेवाले क्षुधा आदि परीषह आत्माके बढ़ते हुए विशुद्ध परिणामसे जीत लिये जाते हैं । क्षुधा दुःख अवश्य है परन्तु उसे तप नहीं कहते, बल्कि क्षुधा पर विजय पानेको तप कहते हैं । क्षुधाको जीतना दुःख नहीं परन्तु सुख है अत एव तप सुखरूप है । क्योंकि तपश्चर्या करनेवालेको भूखकी परवाह ही नहीं रहती । इसलिए शंकाकारका यह कहना ठीक नहीं है कि तपसे पीड़ा उत्पन्न होती है । इस कथनसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि क्षुधा आदि परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं, परन्तु वे पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सकते । और जब उनसे पीड़ा नहीं उत्पन्न हो सकती तो चित्तमें विक्षेप भी नहीं हो सकता । चित्तमें विक्षेप न होनेसे कर्मका बन्ध भी नहीं हो सकता । उल्टा क्षुधा आदिको जीतनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और आते हुए कर्मोंका निरोध होनेसे संवर भी होता है । इसलिए भगवान् महावीर स्वामीने क्षुधा आदि परीषह और तपको अलग अलग कहा है ।

हेतु छे. हेतुने। प्रयोग सहा जेवो करवो जेधजे के जे प्रतिवादीने भते पणु सिद्ध होय. जे “ते दुःख छे” जे हेतु सिद्ध होत तो शंकाकारनुं साध्य सिद्ध करी शकत, परंतु जे सिद्ध नथी; कारण के पहेलां अतावी यूक्या छीजे के तप जे दुःख नथी. जेटवे जे हेतु स्पष्टथी ज असिद्ध छे. तप दुःखरूप नथी, अदके दुःख उपर विजय भेणववो जे तप कहेवाय छे.

अनशन आदि तपथी थनारा क्षुधा आदि परीषह आत्माना वधता जता पिशुद्ध परिणामथी एतार्थ जय छे. क्षुधा जे दुःख अवश्य छे. परंतु तेने तप कही शकय नहि, अदके क्षुधा पर विजय प्राप्त करवो जे तप कहेवाय छे. क्षुधाने एतवी जे दुःख नथी परन्तु सुख छे जेटवे तप सुखरूप छे, केमके तपश्चर्या करनाराज्येने लूनी परवा ज नथी होती. तेथी शंकाकारनुं जे कहेवुं अराअर नथी के-‘तपथी पीडा उत्पन्न थाय छे.’ आ कथनथी जे वात सारी रीते सिद्ध थध गर्ध के क्षुधा आदि परीषह वेदनीय कर्मना उदयथी थाय छे परन्तु ते पीडा उत्पन्न करी शकती, नथी. अने जे तेथी पीडा उत्पन्न नथी थती. तो चित्तमां विक्षेप पणु थध नथी शकतो. उदुं क्षुधा आदिने एतवाथी कर्मनी निर्जरा थाय छे अने आवतां कर्मोना निरोध थवाथी संवर पणु थाय छे. तेथी भगवान् महावीर

યદ્યનશનાદિકં સર્વત્ર દુઃખાત્મકમેવ મન્યેત તદા—સિદ્ધાનામપિ અશનાદ્યગ્રાહિતયાઽ-  
નન્તદુઃખસદ્ભાવપ્રસન્નઃ કેન વાર્યેત । એવં ચ મોક્ષમાર્ગે પ્રવર્ત્તકસ્ય શાસ્ત્રસ્ય તદુક્તધર્માનુષ્ઠા-  
નસ્ય ચ વૈયથ્યાપત્તિઃ ।

અર્થ ભાવઃ—યથા વ્યથિતસ્ય વ્યાધિપરિજિહીર્ષયા સ્વયમેવ લઙ્ઘનાદિપ્રવૃત્તિઃ મણિ-  
મૌક્તિક-માણિક્ય પ્રવાલ-હેમ-હીરક-રજતાદીનાં વ્યવહર્તુઃ સ્વયમેવ સિન્ધુતરણગહનભયાન-  
કવનગમનદુર્ગમપથભ્રમણપ્રવૃત્તિઃ પીઠાલક્ષણાત્મકપરિણામં ન જનયતિ, અન્યથા હિ પ્રતિ-  
કૂલકર્મણિ સમુત્સાહપૂર્વકસ્વતઃ પ્રવૃત્તિર્નોપપદ્યતે, તથા, મુનયોઽપિ વક્ષ્યમાણભાવનયા

એક બાત ઓર મી હૈ—સિદ્ધ મગવાન્ કમી આહાર નહીં લેતે । યદિ અનશનકો દુઃખ માનલિયા જાય તો ઉન્હેં મી દુઃખી માનના પડેગા । જબ સિદ્ધ મી દુઃખી હોગે તો મોક્ષમાર્ગકી પ્રરૂપણા કરનેવાલે શાસ્ત્ર વ્યર્થ હોજાવેંગે, ઓર ઉન શાસ્ત્રોંકે અનુસાર કી હુઈ ક્રિયાઈ મી વ્યર્થ હો જાયેંગી । ક્યોકિ દુઃખી બનનેકે લિષ્ટ કોઈ બુદ્ધિમાન તૈયાર નહીં હોગા । મતલબ યહ હૈ કિ—જૈસે અપના રોગ દૂર કરનેકે લિષ્ટ રોગીકી સ્વયં હી લંઘનમેં પ્રવૃત્તિ હોતી હૈ । અથવા હીરે; મોતી, મૂંગે, સોને, ચાંદી આદિકી પ્રાપ્તિકે લિષ્ટ મનુષ્ય, દુસ્તર સમુદ્ર તૈરતે હૈં, અથવા અપની ઇચ્છાસે હી મોતી આદિકી પ્રાપ્તિકે લિષ્ટ ગહરે સમુદ્રમેં ગોતે લગાતે હૈં । બડે બડે ગહન ઓર ભયાનક જંગલોમેં ગર્મી આદિ અનેક કષ્ટ ઉઠાતે હૈં, દુર્ગમ માર્ગે મેં લાભકેલિષ્ટ ઘૂમતે ફિરતે હૈં, ફિર મી અપને મનમેં ઉસે દુઃખ નહીં માનતે ન પીઢાકા અનુભવ કરતે હૈં, યદિ લંઘન કરનેમેં ઓર ગોતે લગાને આદિમેં કષ્ટ માલ્દમ હોતા તો વિના કિસીકે દબાવકે અપની ઇચ્છાસે હી ઉત્સાહપૂર્વક ક્યોં પ્રવૃત્તિ કરતે ? ઇસી પ્રકાર મુનિરાજ મી અપની આત્માકી વિશુદ્ધિકે લિષ્ટ અપને આપહી પ્રસુદિત

સ્વામીએ ક્ષુધા આદિ પરીષદ અને તપને બુદ્ધાં-બુદ્ધાં કહેલાં છે.

એક બીજી વાત એમ છે કે—સિદ્ધ ભગવાન કદાપિ આહાર લેતા નથી. જે અનશનને દુઃખ માની લેવામાં આવે તો તેમને પણ દુઃખી જ માનવા પડે. જે સિદ્ધ પણ દુઃખી હોય તો મોક્ષમાર્ગની પ્રરૂપણા કરનાર શાસ્ત્ર વ્યર્થ બની જાય, અને એ શાસ્ત્રોને અનુસરીને કરવામાં આવતી ક્રિયાઓ પણ વ્યર્થ થાય, કારણ કે દુઃખી થવાને કોઈ બુદ્ધિમાન તૈયાર નહિ થાય. મતલબ એ છે કે—જેમ પોતાનો રોગ દૂર કરવાને માટે રોગી પોતાની મેળે જ લાંબણ કરવામાં પ્રવૃત્ત થાય છે; અથવા હીરા, મોતી, માણુક, સોનું, ચાંદી આદિની પ્રાપ્તિ માટે મનુષ્ય દુસ્તર સમુદ્રને તરે છે; અથવા પોતાની ઇચ્છાથી જ મોતી આદિની પ્રાપ્તિ માટે જંગલ સમુદ્રમાં ડુબકી મારે છે, મોટાં મોટાં ધીર અને ભયાનક જંગલોમાં ટાઢ તાપનાં અનેક કષ્ટો ઉઠાવે છે, દુર્ગમ રસ્તાઓમાં લાલને માટે ભટકતો ફરે છે. તે પણ પોતાનાં મનમાં તેને દુઃખ માનતો નથી કે પીડાનો અનુભવ કરતો નથી, જે લંઘન કરવામાં અને ડુબકી મારવા આદિમાં કષ્ટનો અનુભવ થતો હોત તો કોઈએ દબાવ્યા કે આગ્રહ કર્યા વિના પોતાની જ ઇચ્છાથી મનુષ્ય ઉત્સાહ પૂર્વક કેમ પ્રવૃત્તિ કરત ? એજ રીતે મુનિરાજ પણ પોતાના આત્માની વિશુદ્ધિને માટે પોતાની મેળે જ પ્રસુદિત ભાવથી અનશન આદિ તપશ્ચર્યા કરે

तपसि पीडां नानुभवन्ति, तथाहि—

इह संसारे (१) स्वकृतदुष्कृतसन्ततिवशान्नरकेषु नारका कियन्तो भिद्यन्ते, कियन्तस्तैलयन्त्रे तिलसर्षपादिवन्नष्पीडयन्ते, ताम्रादिभाजनवच्च कियन्तः कुटयन्ते, कियन्तो दारुवद्विदार्यन्ते, कियन्त शूलशय्यायां स्वाप्यन्ते कियन्त शिलोपरि वस्त्रवत्ताडयन्ते, अनन्तक्षुत्पिपासादिभिः परिभूयन्ते, इत्येवं विविधदुःखसन्ततिमनुभवन्ति ।

(२) अथ तिर्यञ्चोऽपि केचित् सकलेशं शीतोष्णे सहमाना, केचिद् गुरुतरं भारं वहमाना, केचिद्रेत्रादिना ताड्यमाना, केचिन्मांसार्थिभिर्विचित्रैस्तीक्ष्णाग्रशस्त्रैश्छिद्यमाना, केचिच्च शङ्कुनिबद्धा प्रबलैः क्षुत्पिपासादिभिः परिभूयमाना लक्ष्यन्ते ।

(३) एवं मनुष्यगतिं प्राप्ता अपि केचिदन्धत्वं, केचिद्भ्रधिरत्वं केचित् पङ्गुत्वं,

भावसे अनशन आदि तपस्या करते हैं । ऐसा करनेमें उन्हें तनिकभी दुःख नहीं होता ।

(१) संसारमें अपने किये हुए कर्मों के कारण कईएक नरकमें जाकर परमाधर्माद्वारा भाले आदिसे भेदे जाते हैं कईएक घानीमें तिल या सरसोंकी तरह पोछे जाते हैं । कईएक तांबे पीतल आदिके वर्तनोंकी तरह कूटे जाते हैं । कईएक काठकी भांति करवतसे चीरे जाते हैं । कईएक तीक्ष्ण कांटोंके बिछौने पर सुलाये जाते हैं । कईएक शिलापर कपड़ोंकी तरह पछाड़े जाते हैं, और अनन्त भूख प्यास आदि नाना प्रकारके असह्य क्लेश पाते हैं । इस प्रकार भांति—भांतिके दुःखोंका वे अनुभव करते हैं ।

(२) तिर्यञ्च गतिमें भी कोई २ तिर्यञ्च दुःखके साथ गर्मीं सर्दीं सहते हैं, किसी पर भारी बोझ लादा जाता है, कोई-कोई कोड़ोंकी मार खाते हैं, कोई २ पैने (तीखे) शस्त्रोंसे छेदे जाते हैं, कोई-कोई खूंटीसे बंधे हुए भूख-प्यास आदि नाना प्रकारके दुःख भोगते हुए देखे जाते हैं ।

(३) यदि भाग्योदयसे मनुष्यगति मिल जाय तो उसमें भी सैकड़ों दुःख भोगने पड़ते

छे. ज्येष्ठ ऋतुमां तेने जरा पञ्च दुःख थतुं नथी.

(१) ऋतुमां पोतानां करेलां कर्मोने करणु केटलाक ज्येष्ठ नरकमां ज्येष्ठेने परमाधर्माद्वारा लालां आदिथी छेदाय-लेदाय छे. केटलाक धाष्ठीमां तल अथवा सरसवनी पेठे पिलाय छे. केटलाके तांभा पीतणनां वासणुनी ज्येष्ठ कुटाय-पीटाय छे. केटलाके लाकडानी पेठे करवतथी वडेराय छे. केटलाकने तीक्ष्ण कांटानां गिछानां पर सुवाडवामां आवे छे. केटलाकने कपडानी पेठे शिलापर पछाडवामा आवे छे, अने अनन्त भूष-तरस आदि नाना प्रकारना असह्य क्लेश पमाडवामां आवे छे. ज्येष्ठमाणु तरेड तरेडनां दुःखोना अनुभव ज्येष्ठ ज्येष्ठे करे छे.

(२) तिर्यञ्च गतिमां पञ्च कौर्ष कौर्ष तिर्यञ्च दुःख साथे टाढ-ताप सहन करे छे, केटलाक पर लारे ज्येष्ठे लाहवामां आवे छे, कौर्ष कौर्ष आणुकना भार पाय छे, कौर्ष कौर्षने कातील शास्त्रेथी छेदावामां आवे छे, कौर्ष कौर्ष पूटिज्येष्ठ अंधाज्येष्ठेला भूष-तरस आदि नाना प्रकारनां दुःखो लोगवता ज्येष्ठेवामां आवे छे.

(३) ज्येष्ठे लाज्येष्ठेथी मनुष्यगति मणी ज्येष्ठे तो तेमां पञ्च सैकडे दुःखो लोगवतां पडे

केचित्कासश्वासादिरोगं, केचिद्दरिद्रचं च संप्राप्य, हीना दीनास्तत्तपीडापरिहाराक्षमा विविधदुर्दशामापन्ना, स्थविरे कलत्रपुत्रादिभिरप्यनादृता क्षुत्पिपासादिभिर्बाध्यमाना म्रियन्ते ।

(४) देवा अपि परोत्कर्षनिरीक्षणेष्वर्ष्याद्वेषादिजनिताऽन्तस्तापस्य प्रतिकर्तुमशक्यतया प्रायो दुःखभाज एव दृश्यन्ते ।

इत्येवमपारपारावारतरलतरङ्गभङ्गमालायमानजन्मजरामरणाधिव्याधीष्टवियोगाऽनिष्ट-संयोगादिजनितविविधसन्तापकलापमाकलयन्तः 'कथमेतस्मात्कलेशकदम्बकादुन्मुक्ता भविष्यामः ? इत्युपायं समन्तात् संमार्गयन्तो मुनयोऽपि जिनेन्द्रप्रतिपादितं मोक्षमार्ग-

हैं । कोई मनुष्य अंधा होजाता है, कोई बहिरा होजाता है, कोई लंगड़ा होजाता है । किसीको श्वास या खाँसीका रोग हो जाता है । कोई दरिद्रताके दुःखोंसे दीन हीन होकर अनेक प्रकारकी दुर्दशाका अनुभव करता है । वृद्धावस्थामें पत्नी पुत्र आदि तिरस्कार करते हैं । अन्तमें क्षुधा-पिपासा आदिके भी दुःख उठाकर मरणकी शरणमें जाना पड़ता है ।

(४) कभी देवगति पाकर देवता होजाय तो वहाँ भी तरह-तरहके दुःख विद्यमान हैं ।

किसी देवताकी विभूति अधिक होती है, किसीकी कम होती है, कम विभूतिवाला अधिकविभूतिवाले देवताको देखकर ईर्ष्या-द्वेष करता है, ऐसा करनेसे मनमें अत्यन्त सन्ताप होता है । उस सन्तापको मिटाने में जब अपनेको असमर्थ पाता है तो दुःखी होता है । इसलिये संसारमें कहींभी सुख नहीं दिखलाई पड़ता है ।

जिसतरह अपार सागरमें चञ्चल तरंगे उत्पन्न होती हैं उसी तरह संसारमें जन्म, मरण, बुढ़ापा, मानसिक चिन्तायें, शारीरिक व्याधियाँ, इष्टवस्तुओंका वियोग, अनिष्टका संयोग आदि अनेक प्रकारके नये-नये दुःख उत्पन्न होते रहते हैं । इन विविध प्रकारके दुःखोंको भली भाँति सम्यग्ज्ञानद्वारा जाननेसे यह जिज्ञासा होती है कि इस दुःखसमूहसे हम कैसे छूटेंगे ?

छे. केई भाष्यस आंधणो थध न्य छे, केई अडोरो जनी न्य छे, केई लंगडो थय छे. केईने श्वास या खाँसीनो रोग थय छे. केई दरिद्रतानां दुःखोथी हीन-हीन थधने अनेक प्रकारनी दुर्दशानो अनुभव करे छे. वृद्धावस्थामां पत्नी पुत्र आदि तेनो तिरस्कार करे छे. छेवटे लूण-तरस आदिनां दुःखो पणु वेडीने तेने भरषु शरषु थयुं पडे छे.

(४) कदाच देवगति पाभीने देवता थध न्य तो त्यां पणु तरेह तरेहनां दुःखो विधमान होय छे. केई देवतानी विभूति अधिक होय छे, केईनी ओछी होय छे. ओछी विभूतिवाणा अधिक विभूतिवाणा देवताने नधने धर्षा-द्वेष करे छे. अेम करवाधी मनमां अत्यंत संताप थय छे. अे संतापने शभाववाने न्यारै ते पोताने असमर्थं णुअे छे त्यारे ते दुःखी थय छे. तेथी संसारमां कयांय पणु सुणु नेवामां आवतुं नथी.

जेवी रीते अपार सागरमां चञ्चल तरंगो उत्पन्न थय छे, तेवी रीते संसारमां जन्म, मरण, बुढापा, मानसिक चिन्ताओ, शारीरिक व्याधियो. इष्ट वस्तुओनो वियोग अनिष्टनो संयोग आदि अनेक प्रकारनां नवां नवां दुःखो उत्पन्न थतां रहे छे. अे विविध प्रकारनां

मारुह्य, तत्रापि शुक्लध्यानाहितकेवलज्ञानसमन्तरजायमानाऽव्याबाधामन्दानन्दसन्दोहलक्षणमोक्षस्याऽपुनरावृत्तिलक्षणं महिमानं विनिश्चित्य, ईषत्क्षुत्पिपासाऽऽपादितदुःखं मनागपि न गणयन्ति, अत एव तदनशनादिलक्षणं तपः परिणामपरमपदसुखजनकतया मुनीनामात्मपरिणामविकृतिकारणं न भवितुमीष्टे नापि च तत्कर्मोदयस्वरूपमिति प्राक् प्रतिपादितमिति तपसः सर्वथा मोक्षाङ्गत्वेनोत्कृष्टमङ्गलात्मकधर्मरूपत्वं सिद्धम् ।

अथोत्कृष्टमङ्गलत्वसम्पादकं धर्मस्य महिमानमावेदयति—‘देवा वि’ इत्यादि ।

इसप्रकार छूटनेका उपाय दूँदते-२ मुनि महात्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मोक्षके मार्ग पर आरूढ़ हो जाते हैं । फिर क्रमशः शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान पाकर अव्याबाध अनन्त आत्मिकसुख औरपुनरागमनरहित मोक्षको प्राप्त करते हैं । ऐसा अपने मनमें विचार कर तपमें लीन होनेवाले तपस्वी जन क्षुधा-पिपासाके थोड़ेसे दुःखको तनिक भी नहीं गिनते । उनके सामने अनन्त सुखका स्थान मोक्षका ध्येय सदा रहता है और उस ध्येयको प्राप्ति में क्षुधा आदि परीषहोंसे होनेवाला दुःख नहीं के बराबर है । वे उन तुच्छ दुःखोंको अपने अन्तःकरणमें स्मरण भी नहीं करते । तात्पर्य यह है कि—अनशनआदि तप, परमपद मोक्षके अनन्त अविनाशी सुखका प्रबल कारण होनेसे मुनियोंकी आत्माके परिणामोंमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकता है और न औदयिक भावमें ही है, अर्थात् तप क्षायोपशमिक भावोंमें है । इस विषयकाविस्तारसे प्रतिपादन पहले किया जा चुका है । अब यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि तप मोक्षका कारण है और उत्कृष्ट मंगलरूप धर्म है ।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, किन्तु धर्ममें ऐसी कौनसी विचित्र महिमा है जिससे उसे उत्कृष्ट मंगल कहते हैं ?, इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए कहते हैं—

दुःषोऽने सारी पेठे सम्यग्ज्ञानद्वारा नष्टवाथी अथवा जिज्ञासा थाय छे के आ दुःखसमूहथी आपणु केवी रीते छूटीशु ? अथ रीते छूटवाने उपाय शोधतां मुनि महात्मा जिनेन्द्र भगवाने प्रतिपादित करेला मोक्षना मार्ग पर आरूढ थथ नय छे. पछी क्रमशः शुक्लध्यानद्वारा केवलज्ञान प्राप्त करीने अव्याबाध अनन्त आत्मिकसुख अने पुनरागमनरहित मोक्षने प्राप्त करे छे. पोताना मनमां अथवा विचार करीने तपमां लीन थनार तपस्वीजन भूष-तरसना थोडा दुःखने लगावे गणुता नथी. तेमनी सामे अनन्त सुखना स्थान मोक्षनुं ध्येय सदा रहे छे अने अथ ध्येयनी प्राप्तिमां क्षुधा आदि परीषहोथी थनार दुःख नखिवत अने छे. ते पोताना अन्तःकरणमां अथ तुच्छ दुःषोऽनुं स्मरण पणु करता नथी. तात्पर्य अथ छे के—अनशन आदि तप, परमपद मोक्षना अनन्त अविनाशी सुखनुं प्रबल कारण होवाथी मुनियोना आत्माना परिणामोमां विकार उत्पन्न करी शकनुं नथी. अने अथ औदयिक भावमां पणु नथी अर्थात् तप क्षायोपशमिक-भावमां छे. आ विषयनुं प्रतिपादन पडैला विस्तारथी करवामां आयुं छे. हुवे ये वात सारी रीते सिद्ध थथ यूकी के तप मोक्षनुं कारण छे अने उत्कृष्ट मंगलरूप धर्म छे.

धर्म उत्कृष्ट मंगल छे, परंतु धर्ममां अथवा कथो विचित्र महिमा छे के अथी तेने उत्कृष्ट

ધર્મે=અર્હિસાદિત્રયસ્વરૂપે યસ્ય પ્રાણિનઃ મનઃ=ચિત્તં સદા-નિરન્તરં તિષ્ઠતીતિ શેષઃ, તં-ધર્મચિત્તં પ્રાણિનં દેવા અપિ ભવનપત્યાદિચતુર્નિકાયા અપિ નમસ્યન્તિ-નમસ્કુર્વન્તિ સમ્માનયન્તીતિ યાવત્, કિં પુનશ્ચક્રવર્ચ્યાદયો મનુષ્યા इत्यर्थः ।

एतादृशोऽयं समुत्कृष्टो धर्मः स्वसमाराधनबद्धपरिकराणां वृन्दारकवृन्दवन्दनीय-पदारविन्दतां जनयति, यदि पुनस्त्रिविधकरणयोगेन तदाराधनपरायणो भवेत् तदा शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं मोक्षपदमपि समा-सादयेदेव, कैव कथा तदपेक्षया तुच्छतरदेवेन्द्रचक्रवर्च्यादिपदप्राप्तिजनितसौख्यस्य सस्या-नुगतपलालवदिति ।

ननु सर्वधर्माणामर्हिसामूलकत्वादर्हिसायामेव संयमतपसोरपि धर्मयोः समावेशे सति किं पुनस्तयोः पृथङ्निर्देशः ? इति चेन्न,—

जिस प्राणिके मनमें अर्हिसा, संयम और तपरूप धर्मका निरन्तर निवास रहता है, उस धर्मात्मा प्राणीको भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इस प्रकार चारों निकायोंके देवता नमस्कार करते हैं अर्थात् संमान करते हैं । गाथामें आये हुए 'अपि' शब्दसे प्रकट है कि जब देवताभी धर्मात्मा प्राणीका संमान करते हैं तो राजा, महाराजा सम्राट और चक्रवर्ती आदिकी बात ही क्या है? वे भी उसके चरणोंमें गिरते हैं । इस प्रकार इस उत्कृष्ट धर्मकी आराधना करनेवाले प्राणी देवोंके द्वारा वन्दनीय हो जाते हैं । यदि कोई तीन करण और तीन योगसे उस धर्मकी आराधना भली-भाँति करे तो वह अवश्यही ऐसी सिद्धिगति (मोक्ष) को प्राप्त करेगा जो परम कल्याणरूप है, अचल है, जिसमें किसी प्रकारका रोगदोष नहीं है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जिसमें पहुँच कर क्षय नहीं होता, और न किसी प्रकारकी बाधा शेष रहती है । अहो ! उस मोक्षका क्या कहना है, जिसके आगे नरेन्द्र, इन्द्र, अहमिन्द्र आदिका सुख इतना तुच्छ है जैसे धान्यके आगे भूसा तुच्छ होता है ।

મંગલ કહ્યો છે ? આ પ્રશ્નનું સમાધાન કરવાને કહે છે :—

જે પ્રાણીના મનમાં અર્હિસા, સંયમ અને તપરૂપ ધર્મનો નિરંતર નિવાસ રહે છે. તે ધર્માત્મા પ્રાણીને ભવનવાસી, વ્યન્તર, જ્યોતિષી અને વૈમાનિક એ આરે નિકાયોના દેવતા નમસ્કાર કરે છે અર્થાત્ તેમનું સંમાન કરે છે. ગાથામાં આવેલા 'અપિ' શબ્દથી સ્પષ્ટ થાય છે કે જ્યારે દેવતા પણ ધર્માત્મા પ્રાણીનું સંમાન કરે છે તો રાજા, મહારાજા, સમ્રાટ અને ચક્રવર્તી આદિની તો વાત જ ક્યાં રહી ? તેઓ પણ તેમના ચરણમાં પડે છે. એ રીતે ઉત્કૃષ્ટ ધર્મની આરાધના કરનારો પ્રાણી દેવો વડે વંદનીય અને છે. જે કોઈ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી એ ધર્મની આરાધના ભલી પેઠે કરે તો તે અવશ્ય એવી સિદ્ધિ-ગતિ (મોક્ષ) ને પ્રાપ્ત કરે કે જે પરમકલ્યાણરૂપ છે, અચલ છે, તેમાં કોઈ પ્રકારનો રોગ-દોષ નથી, જેનો કદાપિ અંત આવતો નથી જેમાં પહોંચવાથી ક્ષય થતો નથી અને કોઈ પ્રકારની બાધા-પીડા થતી નથી. અહા ! એ મોક્ષની શી વાત કહીએ, જેની આગળ નરેન્દ્ર ઇન્દ્ર અહમિન્દ્ર આદિનું સુખ એવું તુચ્છ છે કે જેમ ધાન્ય આગળ ફાતરાં તુચ્છ છે.

तपो विना संयमो यथावत्स्वरूपनैर्मलयं न लभते, संयममन्तरेणाऽर्हिसाऽपि न परिशुद्धिमेति इत्याशयेनार्हिसां प्रतिपाद्य तन्निर्मलीकरणार्थं संयमस्य प्रतिपादनम्, तस्य च प्रभूतशक्तिसम्पादनाय तपसः समाराधनमावश्यकमित्याशयेन, त्रयाणां पृथङ्निर्देशः कृतः ।

किञ्च संयमतपसोर्विषयेऽपरोऽपि विशेषो दृश्यते—संयमात्संवरः, तपस्तु मुख्यतो निर्जरामुद्गावयन् संवरमपि निष्पादयति संयमस्तपश्चैते द्वे-राज्ञ आत्मरक्षकाविवाऽर्हिसाव्रतस्य संरक्षके । यद्वा एतद्द्वयस्यार्हिसापरिपोषकतया पृथङ्निर्देशः संगच्छते ।

अन्यच्च अर्हिसा प्राणव्यपरोपणनिवृत्तिप्रधाना, संयमस्तु श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रहप्रधान इति महद्वैलक्षण्यमुपलभ्य पृथङ्निर्देशः । तपसो वैलक्षण्यं तु न कस्यचित् संश-

प्रश्न—संयम तप आदि सब धर्मोंका मूल अर्हिसा है, इसलिए संयम और तपका अर्हिसामें ही समावेश हो जाता है तो फिर संयम और तपको अलग अलग क्यों कहा है ? सुनो—

उत्तर—अलग अलग कहनेका कारण यह है कि तपके बिना संयम की जैसी चाहिए वैसी निर्मलता नहीं होती और बिना संयमके अर्हिसाका प्रतिपादन करके उसे निर्मल बनानेके लिए तपका अलग कथन किया गया है । इससे तीनोंका अलग २ कथन उचित है ।

संयम और तपके अर्थमें और भी विशेषता है और वह यह है कि संयम से संवर होता है, परंतु तपसे संयम और निर्जरा दोनों होते हैं । अथवा यह समझना चाहिये कि संयम और 'तप' ये दोनों राजाके आत्मरक्षकोंकी तरह अर्हिसाव्रतके रक्षक हैं, जबतक संयम और तप न हों तबतक अर्हिसाका सम्यक् पालन नहीं हो सकता ।

एक समाधान और भी है—अर्हिसामें प्राणोंके व्यपरोपणकी निवृत्तिकी प्रधानता है,

प्रश्न—संयम तप आदि सर्व धर्मोंतुं मूल अर्हिसा छे, तेथी संयम अने तपने समावेश अर्हिसामां न थर्ष जाय छे. तो संयम अने तपने जुदा-जुदा केम कहा छे ? सांख्यो—

उत्तर—जुदा जुदा कडेवानुं कारणु अे छे के तप विना संयमनी नेधअे तेवी निर्मलता थती नथी अने संयम विना अर्हिसानुं भराभर पालन थर्ष शक्तुं नथी. अे कारणुथी अर्हिसानुं प्रतिपादन करीने तेने निर्मल भनववाने माटे तपनुं जुदुं कथन करवामां आंथुं छे. अेथी त्रैणुं जुदुं-जुदुं कथन उचित छे.

संयम अने तपना अर्थमां भीणु पणु विशेषता छे अने ते अे के-संयमथी संवर थाय छे, पणु तपथी संयम अने निर्जरा भेउ थाय छे.

अथवा अेभ समजनुं नेधअे के संयम अने तप अे भेउ राजना आत्मरक्षकेानी चेठे अर्हिसाव्रतना रक्षक अने छे. न्यां सुधी संयम अने तप न थाय त्यां सुधी अर्हिसानुं सम्यक् पालन थर्ष शक्तुं नथी.

अेक समाधान भीणुं पणु छे. अर्हिसामां प्राणोना व्यपरोपणुनी निवृत्तिनी प्रधानता छे. अने संयममां श्रोत्र आदि ंद्रियोना निग्रहनी प्रधानता छे. अे रीते अेमां अनेके

યગોચરઃ સ્વરૂપત એવ પરસ્પરં મેદાત્. તથાહિ—અર્હિસા નામ સ્વતઃ પરતો વા પ્રાણ-  
વ્યપરોપણનિવૃત્તિકરણં, તપસ્તુ ક્ષુત્પિપાસાશીતોષ્ણાદિસહિષ્ણુત્વરૂપમિતિ । કોટિભવ-  
સશ્ચિતાનિ કર્કશતમાન્યપિ કર્માણિ તપસાઽઽશુતરં વિનશ્યન્તીતિ દુસ્તસંસારસાગરં—  
શીઘ્રમુત્તર્તુમભિલ્પ્યતામર્હિસાસંયમાઽઽરાધનતત્પરાણાં મુમુક્ષુણામુપ્રતપોઽવશ્યમાશ્રયણીય-  
મિત્યાશયેનાન્તે તપસઃ પૃથક્કનિર્દેશઃ કૃત્ત્વમિતિ ભાવઃ । ઇતિ પ્રથમગાથાર્થઃ ॥ ૧ ॥

નન્નુ ધમઃ શરીરેણ રક્ષયતે, શરીર રક્ષણં ચાહારેણ ભવતિ, સ ચ ષડ્જીવનિકાયોપમ-  
ર્દનરૂપાઽઽરમ્ભેણ નિષ્પાદ્યતે, યત્ર ચારમ્ભો ન તત્ર ધર્મઃ સંભવતિ, યથોક્તં શ્રીસ્થાનાન્કસૂત્રે—

“ દો ઠાણાઈં અપરિયાણિત્તા આયા ણો કેવલિપન્નત્તં ધમ્મં લભેજ્જા સવણયાપ્પ,

ઔર સંયમમેં શ્રોત્ર આદિ ઇન્દ્રિયોકે નિગ્રહકો પ્રધાનતા હૈ । ઇસ પ્રકાર ઇનમેં કિતની હી પ્રકાર  
કો બઢી ૨ વિશેષતાઈં દેસકર સૂત્રકારને પૃથક્ કથન કિયા હૈ । તપકે સ્વરૂપમેં તો ઇતના  
મેદ હૈ કિ કિસીકો સન્દેહ હો હી નહીં સકતા । અપને યા દૂસરેકે દ્વારા પ્રાણવ્યપરોપણકી નિવૃત્તિ  
કરનેકો અર્હિસા કહતે હૈ, ઔર ક્ષુધા પિપાસા શીત ઉષ્ણ આદિકોં સહન કરના તપ કહલાતા હૈ ।

પ્રશ્ન—મગવાન્ને અર્હિસા સંયમ ઔર તપ ઇન તોનોમેં તપકો હી અન્તમેં ક્યોં કહા ?

ઉત્તર—કરોઢોં મવોમેં સંચિત કિયે હુપ્ અત્યન્ત કઠોર કર્મ, તપકે દ્વારા શીઘ્ર  
હી નષ્ટ હો જાતે હૈ । ઇસલિપ્ દુસ્તર સંસારરૂપી સાગરકો શીઘ્ર પાર કરનેકો અભિલાષા  
રખનેવાલે, અર્હિસા ઔર સંયમકી આરાધનામેં તત્પર રહેનેવાલે મોક્ષાભિલાષિયોંકો અવશ્ય હી  
ઉગ્ર તપસ્યા કરની ચાહિયે, ઇસ ઉદ્દેશ્યસે મગવાન્ને તપકો અન્તમેં અલગ કહા હૈ ॥૧॥

ધર્મકા રક્ષણ શરીરસે હોતા હૈ ઔર શરીરકા નિર્વાહ આહારસે હોતા હૈ । આહાર  
પૃથિવીઆદિક ષડ્જીવનિકાયકે આરંભકે વિના નહીં થન સકતા, ઔર ‘જહાં આરમ્ભ  
હૈ વહાં ધર્મ નહીં’ યહ શ્રી સર્વજ્ઞ મગવાન્ને કહા હૈ, ક્યોંકિ ઠાણાંગ (સ્થાનાન્ક) સૂત્રકે

પ્રકારની મોટી મોટી વિશેષતાઓ જોઈને સૂત્રકારે પૃથક્ કથન કર્યું છે. તપના સ્વરૂપમાં તે  
એટલો ભેદ છે કે કોઈને સંદેહ થઈ શકે નહિ. પોતાની અથવા બીજાની દ્વારા પ્રાણના  
વ્યપરોપણની નિવૃત્તિ કરવી તેને અર્હિસા કહે છે, અને ભૂખ તરસ ટાઢ તાપ આદિને  
સહેવાં તે તપ કહેવાય છે.

પ્રશ્ન—ભગવાને અર્હિસા સંયમ અને તપ એ ત્રણેમાં તપને છેલ્લું કેમ કહ્યું ?

ઉત્તર—કરોડો ભવોમાં સંચિત કરેલાં અત્યંત કઠોર કર્મ તપની દ્વારા શીઘ્ર નષ્ટ થઈ  
જાય છે. એથી દુસ્તર સંસારરૂપી સાગરને શીઘ્ર પાર કરવાની અભિલાષા રાખનારા, અર્હિસા  
અને સંયમની આરાધનામાં તત્પર રહેનારા, મોક્ષાભિલાષીઓએ અવશ્ય ઉગ્ર તપસ્યા કરવી  
જોઈએ. એ ઉદ્દેશથી ભગવાને તપને છેલ્લું જુદું કહ્યું છે. ॥ ૧ ॥

ધર્મનું રક્ષણ શરીરથી થાય છે. અને શરીરને નિર્વાહ આહારથી થાય છે. આહાર  
પૃથિવી આદિ છ જીવનિકાયના આરંભ વિના નથી બની શકતો, અને જ્યાં આરંભ છે ત્યાં  
ધર્મ નથી’ એમ સર્વજ્ઞ ભગવાને કહ્યું છે. ઠાણાંગ (સ્થાનાંગ) સૂત્રના બીજા ઠાણામાં એ વાત



तंजहा-आरंभे चेव परिग्रहे चेव" इति, अस्य हि-“द्वे वस्तुनी अपरिज्ञाय आत्मा न केव-  
लिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रोतुं लभेत, तद् यथा-आरम्भश्च परिग्रहश्च” अर्थादारम्भ-परिग्रहौ ज्ञ परि-  
ज्ञया जन्ममरणादिदुःखहेतू विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया तयोस्त्यागमकृत्वा जिनोक्तं धर्मं  
श्रोतुमपि न शक्नोति, पालयितुं शक्नोतीति तु दूरापास्तमित्यर्थः, तस्मादुक्तरीत्या त्याग-  
सम्पन्नस्यापि भ्रमणस्य शरीरसंरक्षणवश्यकता वर्तते तदर्थं चाहारो ग्रहीतव्यः, तत्र का  
वृत्तिः समादत्तव्ये ? त्याह-“जहा दुमस्स” इत्यादि

१ ३ ४ २ ६ ५  
मूलम्-जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं

१ ७ ८ १० १२ ११ १४ १३  
ण य पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥२॥

छाया-यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमर आपिबति रसम् ।

न च पुष्पं क्लामयति, च प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

सान्वयार्थः-जहा=जैसे, भमरो=भौरा, दुमस्स=वृक्ष के पुष्पेसु=फूलोंमें ( रहेहुए )

दूसरे ठाणसे यह बात स्पष्ट कही गई है । अर्थात् आरंभ और परिग्रह इन दोनोंके यथार्थ स्वरूपकों आत्मा ज्ञपरिज्ञासे सम्यक् प्रकार जानकर कि ये ही दोनों जन्म जरा मरणके दाता चतुर्गतिरूप अनन्त संसारमें परिभ्रमण करानेवाले, छेदन-भेदन-आधि-व्याधि-क्लेशरूप दुःखोंके कारण तथा आत्माके विशुद्ध स्वरूपके घातक हैं, परन्तु जबतक प्रत्याख्यानपरिज्ञा द्वारा तीन करण और तीन योगसे इनको त्याग न देवे तब तक जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्मको सुनने योग्य भी नहीं होता, पालनेकी तो बात ही कहां है ? तात्पर्य यह है कि आरम्भ और परिग्रहका त्याग किये बिना धर्मका पूर्ण पालन नहीं हो सकता । इसलिए धर्मके आराधक मुनियोंको निरवद्य आहारकी विधि कहते हैं-“जहा दुमस्स” इत्यादि ।

जैसे भ्रमर, भ्रमण करके अनेक वृक्ष लता अदिकोंके पुष्पोंका थोडा २ रस मर्यादासे लेता है, अधिक नहीं, यानी ऐसा कि किसीको भी पीडा न देते हुए वह अपनी आत्माको तृप्त करलेता है ।

स्पष्ट छे. अर्थात् आरंभ अने परिग्रह अने भेडना यथाथ स्वइपने आत्मा, ज्ञपरिज्ञाथी सम्यक्-प्रकारे लण्णे के अने भेड जन्म जरा मरणना दाता, चतुर्गतिइप अनंत संसारमां परिभ्रमण करानेवाला, छेदन-भेदन-आधि-व्याधि-क्लेशइप दुःखोना कारण तथा आत्माना विशुद्ध स्वइपना घातक छे. परंतु ज्यां सुधी प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारा त्रण करण अने त्रण योगथी तेने त्यल्ल न देवाय त्यां सुधी जिनेन्द्रभगवाने प्रइपेला धर्मने सांभणवा योग्य पण्ण थवातुं नथी, पछी पाणवानी तो वात न कयां ? तात्पर्य अने छे के आरंभ अने परिग्रहने त्याग कर्था बिना धर्मतुं पूर्ण पालन थध शक्तुं नथी तेथी धर्मना आराधक मुनियोने निरवद्य आहारनी विधि कहे छे-“जहा दुमस्स” इत्यादि.

जेम भ्रमर भ्रमण करीने अनेक वृक्ष लता आदिनां पुष्पाने थोडा थोडा रस मर्यादा पूर्वक ले छे, वधु लेता नथी, अने जेवी रीते ले छे के केअ पण्ण पुष्पने जराअे पीडा थाय नहि, जेम ते पोताना आत्माने तृप्त करी ले छे.

रसं=रसको आवियइ=मर्यादानुसार पीता है, य=और पुष्पं=फूलको 'ण कीलामेइ=पीडित नहीं करता है, अ=तोभी सो=वह भौरा अप्पयं=अपनेको पीणेइ=सन्तुष्ट कर लेता है। अर्थात्—जैसे भौरा अनेक वृक्षों के फूलोंसे थोड़ा थोड़ा रस उचित मात्रामें लेता है, ऐसा करने से वह सन्तुष्ट भी हो जाता है और फूलों को भी कष्ट नहीं देता ॥ २ ॥

टीका—यथा भ्रमरः—आस्यति=एकत्र नावतिष्ठत इति भ्रमरः—चतुरिन्द्रियजातिमान भृङ्गपर्यायवच्यः प्राणिविशेषः । द्रुमस्य, जात्येकत्वादेकवचनम्, 'सर्वो गच्छति इत्यादि-वत्, तेन द्रुमाणामित्यर्थः, द्रुमपदेन योगमर्यादया लतादीनामपि ग्रहणं बोद्धव्यम्, पुष्पेषु स्थितमित्यस्याध्याहारः, रसं—मकरन्दम् आपिबति—आ—मर्यादा-पूर्वकम् उचिताद-धिकं परित्यज्य पिबति—पानविषयं करोति, अल्पं गृह्णातीति भावः । चकारो हेत्वर्थे, तेन—च—अत एव पुष्पं न क्लामयति—न पीडयति—लेशतोऽपि न म्लानयतीति यावत्, च—किञ्च सः—भ्रमरः आत्मानं—स्वं प्रीणाति तोषयतीत्यर्थः ।

पुष्पाणि तु द्रुमलतादीनामेव भवन्ति पुनर्द्रुमपदोपादानम्—यथा भ्रमरः सर्वेषामेव द्रुमलतादीनां पुष्पेषु रसमापिबति न चोच्चनीचादिभेदभावं रक्षति 'वृक्षोऽयमल्पपुष्पफलोऽयं च बहुपुष्पफलसमृद्धः' इति, तथा साधुरप्युच्चनीचादिभेदभावं विहाय सर्वत्र समान-भावो गृहस्थकुलानां सकाशाद् यथोचितां भिक्षामाददीतेति सूचनार्थम् ।

यद्वा 'द्रुमस्स' इत्यत्र सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या मसम्बन्धिष्विति, अर्थादयं दृष्टान्तो द्रुमसंसक्तपुष्परसग्राहिणो भ्रमरस्य बोद्धव्यो नेतरस्य, ततश्च यथा भ्रमरो द्रुमसम्बद्धेषु स्थितं

प्रश्न—वृक्ष और लताओंमें ही फूल होते हैं फिर द्रुम (वृक्ष) शब्द देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे भौरा सभी वृक्षों और लताओं के फूलोंका रस पीता है, ऊंच-नीच भेद-भाव नहीं रखता कि—इस वृक्षमें कम फूल हैं और इसमें अधिक, इसी प्रकार साधुभी द्रव्य-भावसे ऊंच-नीच भेद-भाव न रखकर समानदृष्टिसे गृहस्थियोंके कुलोंमें भिक्षा-वृत्तिके लिए भ्रमण करते हैं । इस आशयको प्रगट करनेके लिए गाथामें 'द्रुम' शब्द दिया गया है ।

अथवा यों समझिये कि गाथामें 'द्रुम' शब्दके साथ षष्ठीविभक्तिका प्रयोग किया गया है, षष्ठी विभक्तिका अर्थ है 'सम्बन्ध' ।

प्रश्न—वृक्ष अने लताओंो पर न पूल थाय छे, तो वणी द्रुम (वृक्ष) शब्द कडेवानो शो डेतु छे.

उत्तर—जेभ लभरो अधां वृक्षो अने लताओंोनां कूलोना रस पीअे छे, उंच-नीचने लोहलाव राअतो नथी के—आ वृक्ष पर ओछां कूलो छे अने आना परवधारे छे; अे प्रमाणे साधु-पाणु द्रव्य-लावथी उंच-नीचने लोहलाव न राणीने समान दृष्टिथी गृहस्थेनां कुणोमां भिक्षा-वृत्तिने माटे भ्रमणु करे छे. अे आशयने प्रकट करवा माटे गाथामां द्रुम (वृक्ष) शब्द आपेदी छे.

अथवा अेभ सभअवुं के गाथामां द्रुम शब्दनी साथे छड़ी विभक्तिते प्रयोग करवामां आंये छे. छड़ी विभक्तिते अर्थ संभंध थाय छे. अेथी आ दृष्टांत द्रुममां लागेवां

रसमापिवति तथा साधुरपि गृहस्थसम्बन्धिनमेव, अर्थात् तत्स्वत्वयुक्तमेवाऽऽहारं गृहीयान्न तु स्वामिविरहितमित्यर्थः ।

‘पुष्पेसु’ इति प्रसूनकुसुमादिपर्यायान्तरं परिहाय पुष्पपदोपादाने विकसितार्थोऽभिप्रेतस्ततश्च यथा भ्रमरो विकसितेष्वेव पुष्पेषु स्थितं रसं गृह्णाति तथा साधुरपि दातृत्वभावप्रसन्नेभ्यो निर्जुगुप्सेभ्यश्च कुलेभ्य आहारं गृह्णीयादित्यर्थः ।

‘भ्रमरो’ इत्यनेन इतस्ततो भ्रमणेन किञ्चित्किञ्चिदाहारग्रहणं सूचितम् । मर्यादार्थकेनोपसर्गेणाऽऽङ्ग ‘यावानाहारोऽपेक्षितस्तावानेव ग्रहीतव्यः’ इति सूचितम् ।’

इसलिए यह दृष्टान्त द्रुममें लगे हुए पुष्पके रसको ग्रहण करनेवाले भौंरेका ही समझना चाहिए, दूसरे भौंरेका नहीं । इससे यह अर्थ निकलता है कि जैसे भ्रमर, द्रुम (वृक्ष) सम्बन्धी पुष्परसको ही ग्रहण करता है, अन्य रसको नहीं, इसीभाँति साधुभी गृहस्थसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थात् जिसपर गृहस्थका अधिकार है उसी आहारको ग्रहण करते हैं, जिस आहारका कोई गृहस्थ स्वामी नहीं होता उसे नहीं ग्रहण करते ।

‘पुष्प’ शब्दके प्रसून कुसुम आदि अनेक पर्याय शब्द होनेपर भी गाथामें प्रसून या कुसुम आदि अन्य शब्द न देकर ‘पुष्प’ शब्द ही दिया है, इससे सूत्रकारका आशय खिलेहुए फूलोंसे है ऐसा स्पष्ट होता है, क्योंकि खिले हुए फूलका ही नाम पुष्प है इसलिए भ्रमर, जैसे खिले हुए फूलों पर ही ठहरता है और उन्हीका रसपान करता है उसी प्रकार साधुभी उन्हीं गृहस्थोंसे आहार लेते हैं जिनका साधुओंको आहार देनेका भाव हो, तथा जो कुल दुगुंछित न हो ।

भ्रमरके भी षट्पद द्विरेफ आदि अनेक नाम हैं, उनमेंसे दूसरा कोई शब्द न देकर ‘भ्रमर’ पद दिया है, ‘भ्रमर’ शब्दका अर्थ है भ्रमण करनेवाला—एक स्थानपर न ठहरने वाला; इस शब्द

पुष्पोना रसने अडणु करनारा भ्रमरानुं न समजपुं जेधजे. भीज भ्रमराञ्चोनुं नडि. जेटले जे अर्थ थाय छे के जेम भ्रमर, द्रुम (वृक्ष) संभंधी पुष्परसने न अडणु करे छे. भीज रसने नडि, तेम साधु पणु गृहस्थथी संभंध राभनारा अर्थात् जेनी उपर गृहस्थने। अधिकार डोय ते आहारनेन अडणु करे छे, जे आहारने। केध गृहस्थ स्वामी नथी डोतो। तेने साधु अडणु करतो नथी.

पुष्प शब्दना प्रसून कुसुम आदि अनेक पर्याय शब्दो डोवा छतां जाथामां प्रसून के कुसुम आदि अन्य शब्द न आपतां पुष्प शब्द न आप्यो छे. जेमां सूत्रकारने। आशय भीलेलां डूलेने। छे जेम स्पष्ट थाय छे, कारणु के भीलेला डूलनुं न नाम पुष्प छे. जेथी भ्रमर, जेम भीलेला डूले पर न जेसे छे अने तेनुं रसपान करे छे, तेम साधु पणु जेवा गृहस्थे। पासथी आहार ले छे के जेमने। लाव साधुजोने आहार आपवानो डोय अने जे कुण दुगुंछित न डोय.

भ्रमरनां पणु षट्पद द्विरेक आदि अनेक नामो छे, तेमांथी भीजे केध शब्द न आपतां ‘भ्रमर’ शब्द आप्यो छे, भ्रमर शब्दने। अर्थ थाय छे भ्रमण करनार—जेक स्थान

‘पुष्पं’ इत्येकवचनेन ‘यथा भ्रमर एकमपि पुष्पं न क्लामयति तथा साधुरपि कश्चिदेकमपि दातारं न विषादयेदिति सूचितम् ।

यथा जलधरो न कश्चिदुद्दिश्य जलं मुञ्चति, यथा वा शाखिनः स्वीयनामगोत्रकर्मोदयेन पुष्प-फलानि स्वभावत एव समुत्पादयन्ति तथा गृहस्था अपि स्वक्षुधावेदनीयोदयेन यथासमयं दिवसे निशायां वा रन्धयन्ति, यथा च यत्र भ्रमरा न गन्तुं शक्नुवन्ति तत्रापि द्रुमाः पुष्प्यन्त्येव तथा साधूनां तपोऽवस्थायां रात्रौ साधुसंस्थितिरहितेषु ग्रामनगरनिगमाणि च गृहस्थाः पाकं सम्पादयन्त्येवेति नास्ति गृहस्थसम्पादितपाकस्य साधुभिक्षाहेतुत्वम् ।

को देनेका आशय यह है कि साधुको इधर-उधर भ्रमण करके थोड़ा आहार लेना चाहिए, जिससे गृहस्थ फिर आरम्भ न करें। मर्यादा अर्थवाले ‘आ’ उपसर्गको देनेका तात्पर्य यह है कि जितने आहारकी आवश्यकता हो उतनाही लेवे, अधिक नहीं।

गाथाके उत्तरार्द्धमें ‘पुष्पं’ इस एकवचनसे ऐसा सूचित होता है कि जैसे भौरा एकभी पुष्पको पीड़ा नहीं पहुंचाता है वैसे ही साधु किसी एकभी दाताको कष्ट न पहुंचावें।

जैसे मेघ, किसीको उद्देश्य करके पानी नहीं बरसाता अथवा जैसे वृक्ष, अपने नाम-गोत्र कर्मके उदयसे ही विना किसीको उद्देश्य करके स्वभावसे ही फल-फूल उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार गृहस्थ अपने क्षुधावेदनीय कर्मके उदयसे जब आवश्यकता होती है भोजन बनाते हैं। अथवा जैसे जहाँ भौरा नहीं जा सकते वहाँ परभी वृक्ष फूलते ही हैं, वैसे ही साधु जब तपस्या करते हैं, या जहाँ साधु नहीं होते उस ग्राम नगर आदिमें भी दिन या रात्रिमें गृहस्थ भोजन बनाते ही हैं, इसलिए ‘गृहस्थ जो भोजन बनाते हैं वह साधुओंके निमित्त होता है’ ऐसा नहीं समझना चाहिए।

पर ऐसी न रहेनार; ओ शब्द आपवानो आशय ओ छे के साधुओ अही-तही भ्रमण करीने थोड़ा थोड़ा आहार लेवे। ओछेओ, ओथी गृहस्थ करी आरंभ न करे, मर्यादा अर्थ-वाणो आ उपसर्ग आपवानुं तात्पर्य ओ छे के ओटला आहारनी आवश्यकता होय ओटला न लेवे। पधारे नहिं।

गथाना उत्तरार्द्धमां ‘पुष्पं’ ओ एकवचनथी ओम सूचित थाय छे के ओम भ्रमरो ओक पक्षु पुष्पने पीडा उपभवता नथी। तेमओ साधुओ केछपक्षु दाताने कष्ट न उपभववुं।

ओम मेघ, केछने उद्देश्य करीने पाणी वरसावता नथी। अथवा ओम वृक्ष, पोताना नाम-गोत्र कर्मना उद्देश्यथी न केछने उद्देश्य कर्या विना स्वभावथी न फल-फूल उत्पन्न करे छे, तेम गृहस्थ पोताना क्षुधा-वेदनीय कर्मना उद्देश्यथी न्यारे आवश्यकता लागे छे त्यारे लोअन अनावे छे। अथवा ओम न्यां भ्रमरा न ओछे शके तेवे स्थणे पक्षु वृक्ष फूले छे, तेम न साधु न्यारे तपस्या करे छे त्यारे, अने न्यां साधु नथी होता ते ग्राम नगर आदिमां पक्षु दिवसे या रात्रिओ गृहस्थो नानाप्रकारना लोअन तो अनावे न छे; ओथी ‘गृहस्थ’ ने लोअन अनावे छे ते साधुओने निमित्त होय छे ओम न समजवुं ओछेओ।

ननु विषमोऽयं भ्रमरदृष्टान्तः, तथाहि—भ्रमरो द्रुमाज्ञामन्तरेणैव पुष्परसमादत्त भिक्षुः पुनर्याचित्वैव, किञ्च तदर्थं कदाचिदेकस्मिन्नपि दिने मुहुर्मुहुरेकं द्रुममुपैति तर्त्कि साध-  
वोऽपि तथैव गृहस्थेभ्यो भिक्षां गृह्णीयुः ? किञ्च भ्रमरोऽसञ्ज्ञी, साधवस्तु सञ्ज्ञिनो जिन-  
वचननिपुणाश्च, भ्रमरोऽव्रती साधवस्तु व्रतिनः, भ्रमरोऽप्रत्याख्यानी साधवस्तु प्रत्याख्या-  
निनः, भ्रमरोऽसंयतः साधवस्तु संयताः इत्यादिविरुद्धधर्मशालित्वादिति चेन्न, सर्वत्र  
दृष्टान्तस्यैकदेशरूपत्वात्, अनेकपुष्पतः पुष्पाऽत्रलान्तिपूर्वककिञ्चित्किञ्चिदुपादानमात्रे  
दृष्टान्ततात्पर्यमिति निष्कर्षः, स्फुटीकरिष्यति चैतत्सूत्रकारः स्वयम्—‘महुगारसमा’ इति  
पठ्चमगाथया ॥ २ ॥

एतदेव विशेषणस्फोरयितुं दार्ष्टान्तिकमाह—‘एमेए’ इत्यादि

१ ५ ४ ३ २ ७ ६  
मूलम्—एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।  
६ १० ८ ११ १२  
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥३॥

प्रश्न—भ्रमरका उदाहरण विषम है, कारण यह कि उसका साधुओंके साथ ठीक मिलान नहीं होता । क्योंकि, भ्रमर वृक्षको आज्ञा प्राप्त किए बिना ही पुष्परस पीता है, साधु याचना करके ही भिक्षा लेते हैं, भ्रमर एक दिनमें एकही वृक्षके पास बारम्बार जाता है और पुष्परसको पीता है साधु एक दिनमें बारम्बार एक गृहस्थके घरसे भिक्षा नहीं ले सकते, भ्रमर असञ्ज्ञी होता है, साधु सञ्ज्ञी होते हैं, भ्रमर अप्रत्याख्यानी होता है, साधु प्रत्याख्यानी होते हैं, भ्रमर असंयत होता है, साधु संयत होते हैं इत्यादि अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं ।

उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त सब जगहोंमें एकदेशीय ही होता है, ‘पीड़ा न पहुंचाते हुए अनेक पुष्पोंसे थोड़ा थोड़ा लेना’ इतने अंशोंमें यह दृष्टान्त समझना चाहिए इस विषयका स्पष्टीकरण सूत्रकार स्वयं ‘महुगारसमा’ इस पांचवीं गाथामें करेंगे ॥२॥

प्रश्न—भ्रमरनुं उदाहरण विषम छे, कारणु के ते साधुओंनी साथे भ्रमर अंध भेसतुं नथी. भ्रमर वृक्षनी आज्ञा प्राप्त कर्या बिना न पुष्पने रस पीये छे. साधु याचना करीने न भिक्षा ले छे. भ्रमर अेक दिवसमां अेक न वृक्षनी पासे वारंवार नय छे अने पुष्परसने पीये छे, साधु अेक दिवसमां वारंवार अेक गृहस्थना घरथी भिक्षा नथी लध शकता. भ्रमर असंज्ञी होय छे; साधु संज्ञी होय छे, भ्रमर अव्रती होय छे; साधु व्रती होय छे; भ्रमर अप्रत्याख्यानी होय छे, साधु प्रत्याख्यानी होय छे. भ्रमर असंयत होय छे, साधु संयत होय छे. इत्यादि अनेक भिन्नताओं रडेली छे.

उत्तर—अे शंका भ्रमर नथी, कारणुके दृष्टान्त अंधी नय्याअे अेकदेशीय न होय छे. पीडा उपलब्ध्या बिना अनेक पुष्पोंमांथी थोडा थोडा रस लेवो’ अेटला अंशमां न आ दृष्टान्त समझतुं न्छे. आ विषयनुं स्पष्टीकरण सूत्रकार पोते न महुगारसमा अे पांचवीं गाथामां करशे. (२)

छाया-एवमेते श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः ।

विहङ्गमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणे रताः ॥ ३ ॥

सान्वयार्थ—एमेए=इसीप्रकार ये लोए=लोकमें 'जे' जो मुक्ता=द्रव्यभावपरिग्रहरहित समणा=तपस्वी साहुणो=साधु संति=है, (वे) पुष्पेसु=फूलोंमें विहंगमा व=पक्षियों—भमरोंकी तरह दानभक्तेसणे=दाता द्वारा दियेजाने वाले आहारकी गवेषणामें रया=लीन रहते हैं अर्थात्—जेसे पूर्वोक्त प्रकारसे भौरा पुष्परसका पान करता है उसी प्रकार साधु गृहस्थियों को असुविधा न पहुंचाते हुए अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं ॥३॥

टीका—एवम्=उक्तप्रकारेण ये लोके=समयक्षेत्रे सन्ति=वर्तन्ते एते=ते सर्वे श्रमणाः श्रमणाः, शमनाः समनसः, समणाः इत्येतेषां प्राकृते 'समणा' इति रूपं भवति, तत्र श्राम्यन्ति=तपस्यन्त्याहारादिनिरासेन शरीरं क्लेशयन्तीति, भवभ्रमणहेतुभूतविषयेषु खिद्यन्तीति, यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् श्राम्यन्ति=दमनेन श्रमयन्तीन्द्रियान् इन्द्रियाणीति श्रमणाः, शमयन्ति=शान्तिं नयन्ति कषायनोकषायरूपाऽनलमिति, शाम्यन्ति=विशङ्कट-भवाटवीपर्यटद्भोगानलोज्ज्वलज्वालामालाजनितसन्तापकलापतो निवृत्ता भवन्तीति वा शमनाः । समानानि=स्वपरेषु तुल्यानि मनांसि येषामिति, कुशलमयैर्मनोभिः सह वर्तन्त इति वा समनसः, सम्=सम्यक् अणन्ति=प्रवचनं ब्रुवत इति, सम्यक् अभ्यन्ते=कषायचतुष्टयं जित्वा-

अब विशेष खुलासा करनेके लिए दार्ष्टान्तिक कहते हैं—

इस प्रकार अड़ाई द्वीपमें जितने श्रमण, मुक्त, साधु हैं वे सब दाता द्वारा दिये जाते हुए आहारकी एषणामें इस प्रकार प्रयत्न करें जैसे भ्रमर पुष्पोंके रसके अन्वेषणमें लीन होता है ।

श्रमण, शमन, समनस्, समण, इन सब शब्दोंका प्राकृत भाषामें 'समण' रूप होता है । इनमें 'श्रमण' का अर्थ यह है कि जो अनशन आदि तप करते हैं—परीषह सहते हैं, संसारमें परिभ्रमण करानेवाले इन्द्रियोंके विषयोंसे उदास रहते हैं, अथवा जो पाँच इन्द्रियोंका तथा मनका दमन करते हैं । 'समन' का अर्थ यह होता है कि कषाय क्रोध मान माया और लोभ तथा नोकषाय-हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा लोभवेद और नपुंसकवेद—रूपी अग्निकी शान्त करदेते हैं

इसे विशेष खुलासा करवाने दार्ष्टान्तिक कहे छे.—

आ प्रभाणे अदी द्वीपमां नेटला श्रमणु मुक्त, साधुओ छे तेओ अथा दाता द्वारा आपवामां आवता आहारनी ओषणामां ओयो प्रयत्न करे के नेम भ्रमर पुष्पेना रसना शोधनमां लीन थाय छे.

श्रमणु, शमन, समनस्. समणु, ओ अथा शब्दोना प्राकृत भाषामां 'समणु' रूप अर्थ थाय छे. 'श्रमणु' ना अर्थ ओयो छे के-ने अनशन आदि तप करे छे.—परीषड सहे छे, संसारमां परिभ्रमणु करवाना धन्द्रियोना विषयोथी उदास रहे छे, अथवा ने पांच इन्द्रियोनुं तथा मननुं दमन करे छे, 'शमन' ना अर्थ ओयो थाय छे, के-कषाय-क्रोध मान माया अने लोभ, तथा नोकषाय-हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा लोभवेद पुंसकवेद अने नपुंस

जीवन्तीति वा समणाः । मुक्ताः=परिग्रहबन्धनरहिताः धर्मोपकरणं विहाय सूचीकुशाग्रमा-  
त्रेणापि परिग्रहेण रिक्ता इति यावत्, तत्र परिग्रहो बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधः, तयो-  
राद्यो धनधान्यादिरूपो नवविधः । द्वितीयस्तु—

“मिच्छत्तं वेयतिगं, हासाइयच्छकगं च नायव्वं ।

कोहाईण चउक्कं, चउदस अब्भतरा गंठी ॥” इत्युक्तरूपः ।

साधवः=साध्नुवन्ति=निष्पादयन्ति स्वपरशिवसुखं ये ते, पुष्पेषु=व्याख्यातपूर्वेषु विह-  
ङ्गमा इव, विहायसा=गगनेन गच्छन्तीति तथोक्ताः, प्रकरणादत्र भ्रमरा इत्यर्थः त इव,  
भ्रमरतुल्या इति यावत् ।

विशाल भवाटवीमें पयटन करते हुए भोगरूपी अग्निको धधकती हुई, ज्वालाओंसे उत्पन्न हुए संताप  
के समूहको शुद्ध भावनासे शान्त करदेते हैं । ‘समनस्’ शब्दका यह अर्थ है कि जिनका मन स्व  
और पर में समान है, अथवा जिनके मनोयोग सदा शुद्ध रहते हैं । ‘समण’ शब्दका अर्थ यह है  
कि—जो सम्यक् प्रकारसे प्रवचनका प्रतिपादन करते हैं अथवा चारों कषायोंको जोत लेते हैं ।

परिग्रहके बन्धनसे रहित अर्थात् धर्मके उपकरणोंके सिवाय सुई या कुशकी नोकके बराबर  
भी परिग्रह न रखनेवालोंको मुक्त कहते हैं । परिग्रहके दो भेद हैं—(१) बाह्य और (२) आभ्य-  
न्तर । पहला बाह्य परिग्रह धन धान्य द्विपद चौपद आदि नौ प्रकारका है । दूसरा आभ्यन्तर  
परिग्रह—(१) मिथ्यात्व, (२) स्त्रीवेद, (३) पुरुषवेद, (४) नपुंसकवेद, (५) हास्य, (६) रति,  
(७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया  
और (१४) लोभके भेदसे चौदह प्रकारका है ।

स्व और परके मोक्ष सम्बन्धी सुखको साधनेवाले साधु कहलाते हैं । ऐसे साधु, दिने  
जानेवाले अशन आदिकी एषणामें प्रवृत्त हों—आहार-पानी की विशुद्धिमें लीन रहे ।

वेद रूपी अग्निने शान्त करी नापे छे. लयंकर विशाण लवाटवीमां पर्यटन करतां लोणरूपी  
अग्निनी ललकती ज्वालाओंमांथी उत्पन्न थतां संतापना समूहने शुद्ध लावनाथी शान्त  
करी नापे छे. ‘समनस्’ शब्दनेो अर्थ अवेो छे के-नेनुं मन स्व अने परमां समान होय,  
अथवा नेनां मनोयोग हभेश शुद्ध रहे. ‘समणु’ शब्दनेो अर्थ अवेो थाय छे के-ने सम्यक्  
प्रकारे प्रवचननुं प्रतिपादन करे छे अथवा यारे कषायाने जती ले छे.

परिग्रहना अधनथी रहित अर्थात् धर्मनां उपकरणो सिवाय अेक सोय के तणुभला  
नेटवो पणु परिग्रह न राअनाराओने मुक्त कडे छे.

परिग्रहना अे लेह छे. (१) बाह्य अने (२) आभ्यन्तर. पडेवो बाह्य परिग्रह धन-  
धान्यादि नव प्रकारनेो छे. जीणे आभ्यन्तर परिग्रह—(१) मिथ्यात्व, (२) स्त्रीवेद, (३) पुरुष-  
वेद. (४) नपुंसकवेद, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक (९) लय, (१०) जुगुप्सा  
(११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, अने (१४) लोभ, अे लोहोअे करीने १४ प्रकारनेो छे.

एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्मिथः सादृश्यं प्रदर्श्य सम्प्रति यः कश्चिद् भेदस्तमाह यद्वा विहङ्गमाः पुष्पेषु तथा साधवः कुत्र रताः ? इत्याह—दानभक्तैषणे रताः इति, दीयत इति, अदायीति वा दानं=दीयमानमथवा दत्तं, तच्च तद्भक्तम्=अन्नादिकं च दानभक्तं तस्य एषणम्=अन्वेषणं तस्मिन्, अथवा दानं=दत्तं, भक्तं=प्राप्तुं एषणा=अन्वेषणम् एतेषां समाहारद्वन्द्वे दानभक्तैषणं तस्मिन् रताः=आसक्ता इत्यर्थः ।

बोटिक-शाक्य तापस-गैरिका-ऽऽजीवा अपि लोके श्रमणपदेनोच्यन्ते तेषां निरासार्थमुक्तं मुक्ता, इति । निहवादिष्वपि व्यवहारतो मुक्तत्वमस्त्यतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—‘साहुणो’ इति । मधुकरा अदत्ताऽऽदानवृत्त्या कुसुमरसं पिबन्ति श्रमणास्तु दातृभिरदत्तस्यान्नादेर्जिघृक्षामपि न कुर्वते ग्रहणस्य तु कथैव केति भ्रमरापेक्षया साधूनां व्यतिरेकं दर्शयितुमाह ‘दाण’ इति । ‘भक्त’ पदेन सचित्त मपि व्यवच्छिद्यते । आधाकर्मादिदोषव्यावृत्तये ‘एषणा’ पदमुपात्तम् ।

यहाँ तक दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी परस्परमें समानता बतलाई है । अब उनमें जो अन्तर है उसेभी बतलाते हैं । वह अन्तर यह है कि जैसे भ्रमर पुष्पों में अनुरक्त होता है वैसे साधु गृहस्थद्वारा दिये जानेवाले अशन पान आदिके अन्वेषणमें प्रवृत्त होंगे ।

बोटिक, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीविक आदिभी लोकमें श्रमण कहलाते हैं उनका निराकरण करनेके लिए गाथामें ‘मुक्ता’ (मुक्ताः) कहा है । निहव आदिभी व्यवहारसे मुक्त कहलाते हैं अतः उनका निराकरण करनेके लिए ‘साहुणो’ (साधवः) पद दिया है । भ्रमर विना दिए पुष्पके रसका पान करते हैं किन्तु श्रमण विना दिये हुएको ग्रहण करनेकी इच्छाभी नहीं करते, ग्रहण करनेको तो बात ही दूर है इन भेदको प्रगट करनेके लिए ‘दान’ शब्द, सचित्त आहारका निराकरण करने के लिए ‘भक्त’ शब्द और आधाकर्मी आदि दोषवाले आहारका व्यवच्छेद करने के लिए ‘एषणा’ शब्द गाथामें दिया गया है ।

સ્વ અને પરના મોક્ષ સંબંધી સુખને સાધનારા સાધુ કહેવાય છે. એવા સાધુ, આપવામાં આવતા અશન આદિની એપેલામાં પ્રવૃત્ત થાય છે, આહાર પાણીની વિશુદ્ધિમાં લીન રહે.

અહીં સુધી દષ્ટાન્ત અને દાર્ષ્ટાન્તિકની પરસ્પર સમાનતા બતાવી છે. હવે તેમાં જે અંતર રહેલું છે તે બતાવે છે. તે અંતર એ છે કે—જેમ ભ્રમર પુષ્પોમાં અનુરક્ત થાય છે તેમ ગૃહસ્થે આપેલા અશન પાન આદિના શોધનમાં સાધુ પ્રવૃત્ત થાય બોટિક, શાક્ય, તાપસ, ગૈરિક અને આજીવિક આદિ પણ જનતામાં શ્રમણ કહેવાય છે, તેનું નિરાકરણ કરવા માટે ગાથામાં મુક્તા (મુક્તાઃ) કહ્યું છે નિહૂનવ આદિ પણ વ્યવહારે કરીને મુક્ત કહેવાય છે, તેથી તેનું નિરાકરણ કરવાને સાહુણો (સાધવઃ) પદ આપેલું છે. ભ્રમર અણુઆપેલા પુષ્પના રસનું પાન કરે છે, કિન્તુ શ્રમણ અણુઆપેલાં લોજનનું ગ્રહણ કરવાની ઇચ્છા પણ કરતા નથી, પણ ગ્રહણ કરવાની વાત જ ક્યાં રહી ? આ ભેદને પ્રકટ કરવાને માટે દાન શબ્દ, સચિત્ત આહારનું નિરાકરણ કરવાને માટે ભક્ત શબ્દ, અને આધાકર્મી આદિ દોષવાળા આહારનો વ્યવચ્છેદ કરવાને માટે ઇષણા શબ્દ ગાથામાં આપવામાં આવેલો છે.



एवमुक्तगाथाभ्यां दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनपुरस्सरं साधुभिः कथं भिक्षा ग्रहीत-व्येत्युक्तं, तत्र भिक्षा द्विविधा-लौकिकी लोकोत्तरा च । तयोराद्या दीनवृत्ति-पौरुषणी-भेदाद् द्विविधा, तत्र स्वोदरभरणासमर्थानां हीना-ऽनाथ-पङ्गुप्रभृतीनामाद्या, पञ्चास्रवभाजामिन्द्रियपञ्चकविषयासक्तचित्तानां प्रमादपञ्चकप्रवृत्तानां भोगामिषगृह्णानां सन्ततिसमुत्पादकानां निरुद्यमानां द्वितीया । लोकोत्तराऽपि द्विविधा-अप्रशस्ता प्रशस्ता च, तत्राऽवसन्न-पार्श्वस्थादीनामप्रशस्ता भिक्षा, प्रशस्ता पुनः पञ्चमहाव्रतधारिणां षट्कायरक्षकाणां समितिपञ्चक-गुप्तित्रयवतां मुनीनां प्रतिमाधारिश्रावकाणां च, यत एवंभूताः श्रावका अपि श्रमणकल्पा एव इयमेव 'सर्वसम्पत्करी' त्युच्यते,

इन दो गाथाओंमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक बतलाकर यह प्रगट किया है कि साधुओंको किस प्रकार भिक्षा लेनी चाहिए ?, अतः भिक्षाके भेद कहते हैं—

भिक्षा दो प्रकारकी है-लौकिक भिक्षा और लोकोत्तर भिक्षा । लौकिक भिक्षाके भी दो भेद हैं— (१) दीनवृत्ति, (२) पौरुषणी । अपना पेट भरनेमें असमर्थ, दीन, हीन, अनाथ, दुर्लभ, लंगड़ोंकी भिक्षा दीनवृत्ति कहलाती है । पांच आस्रवोंका सेवन करनेवाले, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें चित्तको सदा आसक्त रखनेवाले, पाँचों प्रकारके प्रमादोंमें प्रवृत्ति करनेवाले, भोगरूपी आमिषमें अभिलाषा रखनेवाले, बाल-बच्चोंको उत्पन्न करनेवाले निकम्मे मनुष्योंकी दी जानेवाली भिक्षा पौरुषणी कहलाती है, क्योंकि इससे उनका पौरुष नष्ट हो जाता है ।

लोकोत्तरभिक्षा भी दो प्रकारकी है—(१) अप्रशस्त और (२) प्रशस्त । अवसन्न और पार्श्वस्थ आदिकी भिक्षा अप्रशस्त और पञ्चमहाव्रतधारी, षट्कायरक्षक, पांचसमिति तीनगुप्तिका पालन करनेवाले मुनिकी तथा प्रतिमा-(पडिमा)-धारी श्रावकोंकी भिक्षा प्रशस्त कहलाती है ।

प्रतिमा-(पडिमा)-धारी श्रावकोंकी भिक्षा प्रशस्त इस कारण है कि वे श्रावक होते हुए

आ जे गाथाओमां हृष्टान्त अने दार्ष्टान्तिक अतापीने अम प्रकट करवामां आव्युं छे के साधुओअे केवा प्रकारनी भिक्षा लेवी जेधअे. माटे भिक्षाना लेहो कडे छे—

भिक्षा जे प्रकारनी छे लौकिक भिक्षा अने लोकोत्तर भिक्षा. लौकिक भिक्षाना पणु जे लेहो छे. (१) दीनवृत्ति, (२) पौरुषणी. पोतानुं पेट भरवामां असमर्थ दीन, हीन, अनाथ दुर्लभ, लंगडानी भिक्षा दीनवृत्ति कडेवाय छे. पांच आस्रवोनुं सेवन करनारा, पांचे इन्द्रियोना विषयोमां चित्तने सदा आसक्त राखनारा पांचे प्रकारना प्रमादोमां प्रवृत्ति करनारा, भोगरूपी आमिषमां अभिलाषा राखनारा, आण-अव्याने उत्पन्न करनारा, अेवा नकामा मनुष्योने आपवामां आवती भिक्षा पौरुषणी कडेवाय छे, कारण के तेथी अेमनुं पौरुष नष्ट थध जाय छे.

लोकोत्तर भिक्षा जे प्रकारनी छे. (१) अप्रशस्त, (२) प्रशस्त. अवसन्न अने पार्श्वस्थ आदिनी भिक्षा अप्रशस्त अने पांच महाव्रतधारी, षट्कायरक्षक, पांच समिति त्रणु गुप्तिनुं पालन करनारा मुनिनी तथा प्रतिमा-( पडिमा )-धारी श्रावकोनी भिक्षा प्रशस्त कडेवाय छे.

અસ્યા અન્યાન્યપિ ષઙ્ નામાનિ યથા-(૧) મધુકરી, (૨) ગોચરી, (૩) ગુડુ-  
લેપા, (૪) અક્ષાઙ્ગના, (૫) ગર્તાપૂરણી, (૬) દાહોપશમની ચેતિ । તાસુ માધુ-  
કરી-સમનન્તરસૂત્રોક્તસ્વરૂપા (૧) । દ્વિતીયા-યથા ગૌર્યત્ર લઘુત્વનાદિકં પશ્યતિ  
તત્રાઽલ્પં યત્ર ચાધિકં તત્ર પૂર્વાપેક્ષયાઽધિકં કવલં ગૃહ્ણાતિ ન તુ ત્વનાદિકમુ-  
ન્મૂલયતિ તથા મુનિરપિ ગૃહસ્થગૃહે યથાઽવસરં યથાસામગ્નિ ચ યાં ભિક્ષાં ગૃહ્ણાતિ  
સા । અથવા વિવિધવસનરત્નાલઙ્કરણવિભૂષિતા સુન્દરી યુવતિર્ગવે ઘાસાદિકં સમર્પ-  
યતિ તદા તદીયરૂપલાવણ્યાદિકમપશ્યન્તી ગૌર્દીયમાનં ઘાસાદિકમુપાદત્તે, તદ્વદ્ ભિક્ષુ-

મી સાધુસરીસ્ત્રી ઉત્કૃષ્ટ ક્રિયાકા પાલન કરતે હૈ । ઇસ ભિક્ષાકો 'સર્વસમ્પત્કરી' મી કહતે હૈ,  
ક્યોંકિ ઇસસે આત્માકી સમસ્ત સમ્પત્તિ જ્ઞાન દર્શન સુખ આદિકી પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । ઇસ ભિક્ષાકે  
છહ નામ ઓર મી કહતે હૈ-—

(૧) માધુકરી (આમરી), (૨) ગોચરી, (૩), ગુડુલેપા, (૪) અક્ષાઙ્ગના, (૫) ગર્તાપૂ-  
રણી ઓર (૬) દાહોપશમની ।

(૧) માધુકરી (આમરી) કા સ્વરૂપ ઇસસે પહેલેકો ગાથામેં કહા જાચુકા હૈ ।

(૨) ગોચરી-જૈસે ગાય જહાં કમ ઘાસ દેખતી હૈ વહાં કમ કવલ ગ્રહણ કરતો હૈ, જહાં  
અધિક દેખતી હૈ વહાં પહેલેસે કુઝ અધિક ગ્રહણ કરતી હૈ, ઘાસકો જહુસે નહીં ઉસાઙ્ડતી, ઉસી  
પ્રકાર ભિક્ષુ ઇક સ્થાનસે હી પૂર્ણ અશન પાન આદિ ન ગ્રહણ કરે કિન્તુ ગૃહસ્થકો ફિર આરમ્ભ  
ન કરના પડે ઇસ પ્રકાર વિચાર કર અશનાદિ લે ઉસે ગોચરી કહતે હૈ । અથવા જૈસે વિવિધ  
બહુમૂલ્ય વસ્ત્ર આભૂષણોસે આભૂષિત સુન્દરી યુવતી સ્ત્રી ગાયકો ઘાસ ડાલને આતી હૈ તો ગાય  
ઉસકી સુન્દરતા નહીં દેખતી વરન્ ઘાસપર હી દષ્ટિ રખતી હૈ, ઉસી પ્રકાર ભિક્ષુ આહારાદિ દેતી

પ્રતિમા-(પડિમા) ધારી શ્રાવકોની ભિક્ષા પ્રશસ્ત એ કારણથી છે કે એ શ્રાવકો હોવા  
છતાં સાધુના જેવી ઉત્કૃષ્ટ ક્રિયાનું પાલન કરે છે. આ ભિક્ષાને 'સર્વસમ્પત્કરી' પણ કહે  
છે, કારણ કે તેથી આત્માની સમસ્ત સમ્પત્તિ જ્ઞાન દર્શન સુખ આદિની પ્રાપ્તિ થાય છે.  
એ ભિક્ષાનાં બીજાં છ નામ પણ કહેલાં છે. (૧) માધુકરી (આમરી), (૨) ગોચરી, (૩)  
ગુડુલેપા, (૪) અક્ષાઙ્ગના, (૫) ગર્તાપૂરણી, અને (૬) દાહોપશમની.

(૧) માધુકરી (આમરી)નું સ્વરૂપ પહેલાંની ગાથામાં કહ્યું છે.

(૨) ગોચરી-જેમ ગાય જ્યાં એણું ઘાસ જુએ છે ત્યાં એણે કોળિયો લે છે, અને જ્યાં  
વધુ ઘાસ જુએ છે ત્યાં પહેલાથી વધુ મોટો ગ્રાસ (કોળિયો) લે છે, ઘાસને મૂળમાંથી  
ઉખાડતી નથી. એ રીતે ભિક્ષુ એક સ્થાનેથી જ પૂરાં અશન પાન આદિ ગ્રહણ ન કરે,  
કિંતુ ગૃહસ્થને ફરીથી આરંભ-સમારંભ ન કરવો પડે એવો વિચાર કરીને અશનાદિ લે,  
તેને ગોચરી કહે છે. અથવા જેમ વિવિધ બહુમૂલ્ય વસ્ત્રાભૂષણોથી સજ્જ થએલી સુન્દર  
યુવતી સ્ત્રી ગાયને ઘાસ નીરવા આવે છે, તે ગાય તેની સુન્દરતા જોતી નથી. પરન્તુ ઘાસ

गाऽपि दातृवसनसुवेषरूपलावण्यादेः सानुरागावलोकनं विहाय केवलमशनापानदिशुद्धौ दृष्टिः स्थापनीयेति गोचरीभिक्षासमाचारः (२) ।

तृतीया गडुलेपा यथा गडुपरि समधिकलेपप्रदानेन प्रसृतलेपतो नीरुजोऽपि गडु-सन्निहितदेशो विहन्यते, तदेकदेशमात्रे यात्किञ्चिल्लेपप्रदाने गडुप्रदेशसाकल्येन लेपा-भावाद्रोगो नोपशाम्यति, तद्वत्साधुरपि, निर्दोषपरिमिताहारेण क्षुधां निवर्तयति तद्रपा (३)।

चतुर्थ चास्या अक्षाञ्जनेति नाम—यथा शकटेन दूरं गन्तुकामस्तत्र यदि तैलदानं न कुर्यात्, तदा चलितुमेवाक्षमं तन्न पारयति शकटारोहिणं प्रापयितुमभीष्टस्थानम् तत्राधिकतरतैलनिक्षेपस्तु न केवलं निष्फलः प्रत्युत हानिं जनयतीति, तद्वन्निरवघ्ना-शनपानप्रदानं विना मोक्षप्रापकसंयमपथे चलितुमक्षमं शरीरमपि नालं मुनीन् मोक्षं

हुई स्त्रीके सौन्दर्य, सुवेष, आभूषण आदि का निरीक्षण न करे किन्तु अशनादिको शुद्धि पर ही दृष्टि रखे उसे गोचरी कहते हैं ।

(३) गडुलेपा—जैसे फोड़ेके ऊपर आवश्यकतासे अधिक त्रेप करनेसे लेप इधर-उधर फैल जाता है और आस-पासका नीरोग प्रदेश भी खराब हो जाता है, और यदि फोड़े पर बिलकुल ही लेप न किया जाय तो भी रोग शान्त नहीं होता, वैसेही साधु यदि प्रमाणसे अधिक आहार करे तो प्रमाद आदि दोष उत्पन्न होनेसे स्वाध्याय आदि क्रियाओंका पूर्ण पालन नहीं कर सकता, और बिलकुल ही थोड़ा आहार करे तो क्षुधावेदनीयकी शान्ति न होनेसे वैयावृत्य आदि साधुकी क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, इसलिए निर्दोष और परिमित आहार लेना 'गडुलेपा' भिक्षा कहलाती है ।

(४) अक्षाञ्जना—जैसे कोई गाडीद्वारा इच्छित स्थान पर जाना चाहता है परन्तु गाडीको बिलकुल तेल नहीं देवे तो वह गाडी चल नहीं सकती और यदि अधिक तेल दे दिया जाय तो वह वृथा ही नहीं वरन् हानिकारक भी है, इसी प्रकार मोक्षपुरी तक पहुंचनेके लिए शरीर-रूप

पर न दृष्टि राखे छे, ते प्रमाणे लिक्षु आहारादि आपती स्त्रीनु, सौंदर्य, सुवेष, आभूषण आदिनुं निरीक्षण न करे, किंतु अशनादिनी शुद्धि पर न दृष्टि राखे तेने गोचरी कडे छे.

(३) गडुलेपा—जेम शुभडा उपर नइरी करतां वधारे लेप करवाथी लेप आम-तेम इलाधं नय छे अने आसपासने नीरोग प्रदेश पणु भराय थधं नय छे. अने जे गूमडा उपर बिलकुल लेप न करवाभां आवे तो रोग शान्त थाय नहि, जेथी न रीते साधु जे प्रमाणेथी अधिक आहार करे तो प्रमाद आदि दोष उत्पन्न थवाथी स्वाध्याय आदि क्रिया-ओनुं पूरुं पालन करी शकते नथी, अने बिलकुल थोडा आहार करे तो क्षुधावेदनीयनी शान्ति नहि थवाथी वैयावृत्य आदि साधुनी क्रियाओ थधं शकती नथी तेथी निर्दोष अने परिमित आहार लेवे जे 'गडुलेपा' भिक्षा कडेवाय छे.

(४) जेम केधं माणुस गाडामां जेसीने इच्छित स्थान पर नवा भंछे छे. परन्तु गाडाने बिलकुल तेल न उंजे तो जे गाडुं आदी शकतुं नथी अने जे वधारे पडतुं तेल उंजे तो ते वृथा नय छे. जेटुं न नहि पणु हानिकारक पणु नीवडे छे. जे रीते मोक्ष-

प्रापयितुम्, अधिकतराहारपूरितं तु निद्राप्रमादादिदोषजातं जनयन्नूनमेव विनयश्रुतादि-  
समार्धि विध्वंसयति, अतः परिमितं विशुद्धं चाशनपानमुपादेयं भिक्षणेति सेयं भिक्षा  
'अक्षाञ्जना नाम' (४) ।

पञ्चमी गर्तापूरणी, सा यथा—कस्यापि श्रेष्ठिनो भवनसम्बन्धिनि गमनागमनमार्गे  
यदि केनापि कारणेन गर्तः संजायते तदा तमवलोक्य स तदानीं यदेव सद्यो लोष्ट-  
पाषाणखण्डादिकमुपलभते तदेवादाय तं गर्तं परिपूरयति नतूत्तमेनैवेष्टकप्रभृतिना  
गर्तोऽयं पूरयितव्य इति विचारयति, तथा सति महाऽनर्थोत्पत्तिसंभवः, एवमेव मुनि-  
रपि क्षुधावेदनीयोदयवशाद्रिक्तमुदरमैषणिकैरन्तप्रान्तादिभिराहारैर्बिभर्त्तीति । (५)

शकट (गाड़ी) को आहारोंदिरूप तेल बिलकुल न दिया जाय तो संयमयात्राका सम्यक् निर्वाह  
नहीं हो सकता और अधिक आहार देनेसे रोगादि हो जानेके कारण विनय श्रत आदि समाधि  
नहीं हो सकती, इसलिए परिमित आहार लेना अक्षाञ्जना भिक्षा कहलाती है ॥

(५) गर्तापूरणी—जैसे यदि किसी रईसके घर जाने-आनेके मार्गमें किसी कारणसे गड़ढा  
होजाय तो उसे देखते ही वह रईस शीघ्रतासे मिट्टी-पत्थरके टुकड़े आदि जो कुछ पाता है उन्हीं  
को लेकर खड्डेको भर देता है । परन्तु ऐसा नहीं विचारता है कि अच्छे २ ईट-पत्थरों से ही  
इसे भरना चाहिये । यदि न पूरे तो बड़ी आपत्ति आनेकी संभावना रहती है । इसीप्रकार मुनि  
क्षुधावेदनीयके वशसे अन्त-प्रान्त आदि निरवध आहार लेकर खाली उदर भर लेते हैं । इसलिए  
इसे गर्तापूरणी कहते हैं ।

(६) दाहोपशमनी—जिस समय घरमें अग्नि धधक जाय उस समय घरका स्वामी जल्दी  
में जल कीचड़ धूल मिट्टी आदि जो कुछ मिलजाय उसको डालकर आग बुझाता है । उस समय

पुरी सुधी पड़ोयवाने भाटे शरीर-शकट ( गाडा ) ने आहारादि रूप तेल बिलकुल न उं-  
वाभां आवे तो संयम-यात्रानो-सम्यक् निर्वाह थध शकतो नथी, अने अधिक आहार  
आपवाभां आवे तो रोगादि थवाथी विनय श्रुत आदि समाधि थध शकती नथी. तेथी  
परिमित आहार लेवो अे 'अक्षाञ्जना' भिक्षा कडेवाय छे.

(५) गर्तापूरणी—जेम कोध गृहस्थने घेर जवा-आवावना मार्ग पर कोध कारणुथी  
आडो पडी जय छे तो तेने हेअतां ज ते गृहस्थ शीघ्र भाटी, पत्थरना टुकडा, वगेरे जे कांठ  
भणे ते लधने आडाने पूरी नांथे छे. पणु जेम नथी विचारतो के सारी धंठो अने पथ-  
राज्योथी ज पूरीज्ये. जे न पूरे तो लारे आपत्ति आवी पडवानी संभावना रडे छे. जे रीते  
मुनि क्षुधा-वेदनीयने लीधे अंत-प्रांत आदि निरवध आहार लधने आदी उदर बारी दे  
छे. तेने गर्तापूरणी कडे छे.

(६) दाहोपशमनी—जे समये घरभां अग्नि ललूकी उठे ते समये घरनेा धणी जल्दी  
जल्दी पाणी, कादव, धून, भाटी वगेरे जे कांठ भणी जय ते नांथीने आग बुजावे छे. ते

षष्ठी दाहोपशमनी यथा—भवने ज्वलनज्वालामालादन्दह्यमाने गृही यदेव सद्यो जलकर्दमधूलिलोष्टप्रभृतिक मुपलभते तदेव प्रक्षिप्य पावकं प्रशमयति न तु गङ्गादिसलिलं प्रतीक्षते, तथा संयमरक्षार्थं निर्दोषेण रूक्षादिनाऽप्याहारेण शमयति क्षुधां मुमुक्षु-  
र्भिक्षुरिति (६) ॥३॥ प्रशस्तैव भिक्षा साधु भिर्ग्रहीतव्या नेतरेति निशम्य शिष्यो गुरुं प्रत्याह— 'वयं च, इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ७ ५ ६ ८  
मूलम्—वयं च विर्त्तिलब्धामो न य कोइ उवहम्मइ

९ १० १३ १२ ११  
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥

छाया—वयं वृत्तिं लप्स्यामहे, न च कोऽपि उपहन्यते ।

यथाकृतेषु रीयन्ते, पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥४॥

गुरु महाराज प्रति शिष्यकी प्रतिज्ञा—

सान्वयार्थः—(हे गुरुमहाराज ! ) वयं=हम च=ऐसी विर्त्ति=वृत्ति-भिक्षावृत्तिको लब्धामो=स्वीकार करेंगे (जिससे) कोइय=कोईभी न उवहम्मइ=उपमर्दित न हो, (साधु) अहागडेसु=सदाकी भांति गृहस्थद्वारा अपने लिए बनाये हुए भोजनमेंही रीयंते=संयम यात्राका निर्वाह करते हैं, जहा=जिस प्रकार भमरो=भौरा पुष्पेसु=फूलोंमें निर्वाह करता है । अर्थात् श्रमण महाराज गृहस्थद्वारा खुदके लिये बनाये हुए आहारसे ही अपनी जीवन यात्राका निर्वाह कर लेते हैं ॥४॥

टीका—एतद्गाथायाः पूर्वार्द्धे समुपात्तं चकारद्वयं क्रमेण यथा—तथा—शब्दार्थवाचकं ततश्चायमर्थः—वयं च=तथा—तेन रूपेण, वृत्तिं=जिनोक्तस्वरूपां प्रशस्तां भिक्षां, लप्स्या-

वह यह नहीं सोचता कि जब गंगासिन्धुका निर्मल नीर मिलेगा तभी आग बुझाऊंगा, उसीप्रकार संयमकी रक्षाके लिए मुमुक्षु भिक्षु तुच्छ आदि निर्दोष भिक्षासे क्षुधाको शान्त कर लेता है । इसलिए इसको दाहोपशमनी कहते हैं (६) ॥३॥

'प्रशस्त भिक्षा ही साधुको ग्रहण करनी चाहिये अन्य नहीं' यह सुनकर शिष्य गुरुसे निवेदन करता है—'वयं च विर्त्ति' इत्यादि ।

इस गाथाके पूर्वार्द्धमें दो 'च' आये हैं, एकका अर्थ है 'जैसे' और दूसरेका अर्थ है 'वैसे' इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि—हे भगवन् ! हम वैसेही प्रशस्त भिक्षा ग्रहण करेंगे जैसे (जिस

व्यपते ते अमे नथी विचारते। के न्यारे गंगा-सिन्धुनुं निर्मल नीर भणशे त्त्यारे आगने पुआवीश. अे रीते संयमनी रक्षाने माटे मुमुक्षु भिक्षु तुच्छ, आदि निर्दोष भिक्षाथी क्षुधाने शान्त करी दे छे. तेथी तेने 'दाहोपशमनी' कहे छे. (६) ॥३॥

"प्रशस्त भिक्षाञ्च साधुञ्च ग्रहणं करणी नोद्यते. भीष्म नहि," अमे सांभगीने शिष्य शुर् सभीचे निवेदन करे छे:—वयं च विर्त्ति इत्यादि.

आ गाथाना पूर्वार्द्धमां अे च आव्या छे. अेकनो अर्थ छे 'अेभ' अने भीष्मनो अर्थ छे 'अेभ' अे रीते तेनो अर्थ अेभ थयो के-डे भगवान् ! अमे अेभ न् (अेञ्च प्रकारे )

महे=प्राप्स्यामः स्वीकरिष्याम इति यावत्, यथा न कोऽपि त्रस-स्थावरप्राणि-  
मात्रमित्यर्थः उपहन्यते=उपहतः (उपमर्दितः) भवेत् । एवंविधवृत्तिग्रहणे सदृष्टान्त  
हेतुमुपन्यस्यति 'अहा०' इति, अत्र 'यत्' इत्यध्याहार्यम्, तथा च यतः यथा-  
कृतेषु=गृहस्थैरात्मार्थमात्मीयार्थं च सम्पादितेष्वाहारादिषु रीयन्ते=गच्छन्ति संयमयात्रां  
निर्वहन्तीति यावत् 'साधवः' इति शेषः । अत्र गतमपि भ्रमरदृष्टान्तं विस्पष्ट प्रतिपत्तये पुनरु-  
पन्यस्यति 'पुष्पेसु' यथा पुष्पेषु भ्रमराः ते हि पुष्पेभ्यो रसमाहरन्तोऽपि तानि (पुष्पाणि)  
लेशतोऽपि न पीडयन्ति । अत्र 'लभामो' इत्यस्य 'लप्स्याम' इति व्याख्यानं तु सर्वथा  
व्याकरणविरुद्धमेव 'लभ' धातोरनुदात्तेसु पठितत्वेन नित्यात्मनेपदित्वात्, न च चक्षिडो  
ङित्करणज्ञापितया 'अनुदात्तेचलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' इतिपरिभाषया परस्मैपदमपि  
युक्तमेवेति वाच्यम्, तस्या अगतिकगतिकृतयेष्टप्रयोगविषयत्वात्, वस्तुतस्तु भाष्यानुक्त-  
ज्ञापितार्थस्य साधुताया नियामकत्वे प्रमाणाभावादेवमादिकाः परिभाषाश्चिन्त्या एवेति  
स्पष्टं 'परिभाषेन्दुशेखरे' इत्यतिरोहितं वैयाकरणानाम् । अत्र गाथायां 'लभामो' इति,  
'उवहम्मइ' इति भविष्यद्वर्त्तमानौ कालावविवक्षितौ, तेन कालत्रयग्रहणं बोध्यम् ॥४॥  
एवं मधुकरदृष्टान्तेन यत्फलितं तत्प्रतिपादयन्नुपसंहरति—'महुगारसमा०' इत्यादि।

मूलम्—<sup>२</sup>महुगारसमा <sup>३</sup>बुद्धा <sup>१</sup>जे <sup>०</sup>भवंति <sup>४</sup>अणिस्सिया

<sup>१</sup>नाणापिण्डरया <sup>६</sup>दंता <sup>८</sup>तण <sup>१०</sup>बुच्चंति <sup>९</sup>साहुणो ॥त्तिवेमि ॥५॥

छाया—मधुका (क) रसमा बुद्धा यतो भवन्त्यनिश्रिताः ।

नानापिण्डरता दान्ताः, तेन उच्यन्ते साधवः ॥५॥

सान्वयार्थः—(क्योंकि) जे=जो महुगारसमा=भौरेकीभांति बुद्धा=विवेकी अणिस्सि-  
या=मोहबन्धनरहित नाणापिण्डरया=अनेक घरोंकी निरवद्य पिण्ड लेकर संयममें लीन

प्रकार) त्रस या स्थावर जीवको किसीभी प्रकारकी बाँधा न पहुँचे, क्योंकि गृहस्थोंद्वारा अपने  
लिए या अपने कुटुम्बके लिये बनाये हुए आहारको लेकर ही साधु अपनी संयमयात्राका निर्वाह  
कर लेते हैं । इसी बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए कहे हुए भ्रमर दृष्टान्तको फिर दुहराते हैं  
कि—जैसे भ्रमर पुष्पोंसे रस ग्रहण करकेभी किसी पुष्पको पीड़ा नहीं पहुँचाता ॥गा० ४॥

मधुकरका उदाहरण देनेसे जो निष्कर्ष निकला उसे सूत्रकार कहते हैं—'महुगारसमा' इत्यादि ।

प्रशस्त शिक्षा अडलु करीशुं के जेम (जे प्रकारे) त्रस या स्थावर जवने केअ पणु प्रकारनी  
आधा न पीडेये कारणु के गृहस्थोये पोताने माटे या पोताना कुटुम्बने माटे जनावेवे।  
आहार लधने ज साधु पोतानी संयम-यात्रानो निर्वाड करी ले छे. जे वातने वधु स्पष्ट  
करवाने माटे भ्रमरना दृष्टान्तने करीथी जेवडावे छे के-जेम भ्रमर पुष्पोमांथी रस अडलु  
करीने पणु केअ पुष्पने पीडा उपजवती नथी. (गा० ४)

मधुकरना उदाहरणुमांथी जे निष्कर्ष नीकज्यो तेने सूत्रकार कडे छे-महुगारसमा, इत्यादि.

दंता=दारिद्र्यविजयी भवन्ति=होते हैं, तेण=इसीसे वे साहुगो=साधु बुच्चन्ति=कहलाते हैं। त्तिवेमि=इस प्रकार श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—‘जम्बू ! श्रमण भगवान महावीरसे मैंने जैसा सुना है वैसा ही तेरे लिए कहता हूं ॥५॥

॥ इति प्रथमाध्ययनस्य सान्वयार्थः ॥१॥

टीका— अत्र गाथायां ‘जे’ इत्यस्यादौ ‘यतः’ ‘इति’ ‘तेण’ इत्यस्यान्ते ‘ते’ इति च पदद्वयमध्याहायम् तथा च—यतः ये मधुका (क) रसमाः=भृङ्गवदनियत वृत्तयः बुद्धाः=इदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमित्येवं विवेकवन्तः, अनिश्रिताः निश्रायरहिताः—निवासकुलादिषु प्रणयनिगडबन्धशून्या इत्यर्थः, नानापिण्डरताः=नाना अभिग्रहविशेषेण प्रतिगृहालपालप-ग्रहविशेषेण युक्ततया अन्तप्रान्तादिभेदेन च विविधप्रकारा ये पिण्डाः=आहाराद्यास्तेषु रताः=संसक्ताः, दान्ताः=इन्द्रियनोइन्द्रियविकारभावाऽनुपहतचित्ताः, भवन्ति, तेन=उक्त-प्रकारेण निरवद्यवृत्तिसमाराधनेन हेतुना ते योगत्रये-न्द्रियपञ्चक-नवविधविशुद्धब्रह्मचर्या-ऽर्हिंसाः साधयन्तीति साधवः व्युच्यन्ते=कथ्यन्ते इति गाथार्थः, इत्यन्ये वस्तु-तस्तु अत्र ‘यतः’ इत्यस्य, ‘ते’ इत्यस्य चाध्याहरणं ‘जे’ इत्यस्य प्रथमान्तत्वेन व्याख्यानं च न युक्तं, तथा सति ‘ये’-‘ते’-शब्दयोर्वैयर्थ्यापत्तेः, तस्मात् ‘जे’ इत्यव्ययपदं ‘यतः’ इत्यस्यार्थे, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, ततश्चायमभिसम्बन्धः—यतः मधुकारसमाः बुद्धाः अनिश्रिताः नानापिण्डरताः दान्ता भवन्ति तेन साधवः उच्यन्त इति, साधुविशेषणानां मधुकारसमादीनां व्याख्यातु यथापूर्वमेवेति वयमिति विभावयन्तु विद्वांसः।

जो भौंरेके समान अनियत (कुलकी नेसराय रहित) भिक्षा लेते हैं, कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकी हैं, निवासस्थान तथा कुटुम्ब परिवार आदि में ममताके बन्धनसे बन्धे हुए नहीं हैं, भाँति २ के अभिग्रह धारण करके अनेक घरोंसे लिये जाने वाले अन्त-प्रान्त आदि-आहारमें अनुरक्त रहते हैं, इन्द्रियों और मनके विकारको दमन करते हैं वे निर्दोष भिक्षा लेकर तीन योग, पाँच इन्द्रियाँ, नव प्रकारके विशुद्ध ब्रह्मचर्य और अर्हिंसाकी साधना करनेवाले साधु कहलाते हैं।

भौंरेके समान असंज्ञी भी होते हैं अतः बुद्ध (कर्तव्याकर्तव्य विवेकसे युक्त) पद दिया है। प्रतिमा (पडिमा) धारी श्रावक (संयतासंयत) भी भौंरेके समान और बुद्ध होते हैं इसलिए

जे भ्रमरानी पेठे अनियत (कुणनी नेसराय रहित) भिक्षा लेते हैं, कर्तव्य अने अकर्तव्यनो विवेकी हैं, निवासस्थान तथा कुटुम्ब परिवार आदिमें ममताका बन्धनभी अर्द्ध नहीं, तरेहु-तरेहुना अभिग्रहो धारण करीने अनेक घरोंसे लीयेला अन्त-प्रान्त आदि आहारमें अनुरक्त रहे हैं, इन्द्रियों अने मनना विकारोंनु दमन करे हैं, ते निर्दोष भिक्षा लेने त्रणु योग, पाँच इन्द्रियों, नव प्रकारनु विशुद्ध ब्रह्मचर्य अने अर्हिंसाकी साधना करनेवाले साधु कहलायें हैं।

भ्रमरानी पेठे असंज्ञी पणु डोय हैं, तेषी बुद्ध (कर्तव्या-कर्तव्य-विवेकशी युक्त) पद आपेणुं हैं। प्रतिमा (पडिमा) धारी श्रावक (संयतासंयत) पणु भ्रमरानी समान अने

मधुकरसमा असंज्ञिनोऽपि भवन्ति अतस्तद्वचवच्छेदार्थमाह 'बुद्धा' इति, मधुकरसमा बुद्धाश्च प्रतिमाधारिप्रभृतयः संयताऽसंयता अपि भवन्ति तद्वचावृत्तये 'अणिस्सिया' इति । मधुकरसाम्यं च साधूनां न सार्वदेशिकं किन्तु चन्द्रमुखा-दिवदैकदेशिकमेवेत्यतो यदंशे मधुकरसादृश्याभावस्तद्बोधनार्थमाह-'नाणापिंडरया दंता' इति, भ्रमरा हि सुगन्धिभ्य एव कुसुमेभ्यः स्वाद्यमेव च रसमादत्ते न च दान्ता भवन्ति । 'त्तिवेमि' इति=उक्तरूपं तत्त्वं यथा तीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य सकाशान्मया श्रुतं न स्वबुद्ध्या कल्पितं यतः स्वबुद्ध्या

'अणिस्सिया' पद दिया है,

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भौरैका उदाहरण एकदेशीय है, कोई कहता है कि 'इसका मुख, चन्द्रमाके समान है' तो मुखमें चन्द्रमाके सब गुण नहीं पाये जाते, अर्थात् कुछ गुण सदृश होते हैं कुछ विसदृश होते हैं, भौरैका उदाहरण भी कुछ अंशोंमें मिलता कुछ अंशोंमें नहीं मिलता है । जिस अंशमें नहीं मिलता है वह सूत्रकारने 'नाणापिंडरया' और 'दंता' विशेषणों से प्रगट किया है । भ्रमर, केवल कुसुमोंके स्वादिष्ट रसको ही पीता है इसलिए यह दान्त (इन्द्रियोंको जीतनेवाला) नहीं है, इस दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तिककी विसदृशता है ।

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! ऊपर जो प्रथम अध्ययनका भाव कहा गया है वह अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् श्रीमहावीरसे जैसा मैंने सुना वैसाही कहा है; अपनी बुद्धिसे कल्पना किया हुआ नहीं कहा है; अपनी बुद्धिसे कल्पना करके कहनेसे श्रुतज्ञानकी आशातना होती है,

બુદ્ધ હોય છે, તેથી અણિસ્સિયા પદ આપ્યું છે.

પહેલાં કહેવામાં આવ્યું છે કે ભ્રમરાતું ઉદાહરણ એક-દેશીય છે. કોઈ કહે છે કે—'એતું મુખ ચંદ્રમા જેવું છે.' પણ મુખમાં ચંદ્રમાના બધા ગુણો હોતા નથી. અર્થાત્ કોઈ ગુણ સમાન હોય છે, કોઈ અસમાન હોય છે. ભ્રમરાતું ઉદાહરણ પણ કોઈ અંશોમાં મળતું છે, કોઈ અંશોમાં અણમળતું છે. જે અંશમાં અણમળતું છે તે સૂત્રકારે નાનાપિંડરયા અને દંતા વિશેષણોથી પ્રકટ કર્યું છે. ભ્રમર માત્ર કુસુમોના સ્વાદિષ્ટ રસને જ પીએ છે, તેથી એ દાન્ત (ઇન્દ્રિયોને જીતનાર) નથી. આ દૃષ્ટાંતથી દાર્ષ્ટાંતિકની અસમાનતા છે.

સુધર્મા-સ્વામી જંબૂ-સ્વામીને કહે છે-હે જંબૂ ! ઉપર જે પ્રથમ અધ્યયનનો ભાવ કહ્યો છે તે અંતિમ તીર્થંકર ભગવાન મહાવીર પાસેથી જેવો મેં સાંભળ્યો તેવો જ કહ્યો છે. મેં પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પના કરેલો નથી કહ્યો. પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પના કરી કહેવાથી



कथने श्रुतज्ञा नस्याविनयो भवति, किञ्च छद्मस्थानां दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति, तस्माद् यथा भगवत्प्रतिपादितमेव त्वां ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थः । इहार्थे चेयं सङ्ग्रहगाथा—

“सुअणाणस्स अविणओ परिहरणिज्जो सुहाहिलासीहिं ।  
छउमत्थाणं दिट्ठी, पुण्णा णत्थित्ति सूइयं इइणा ॥१॥” इति,  
इति पञ्चमगाथार्थः ॥५॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्बल्लभ-प्रसिद्धावाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-  
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-  
श्री शाहूछत्रपति-कोल्हापुरराज-प्रदत्त-जैनशास्त्रचार्य-पदभूषित-  
कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-  
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-  
स्याऽऽचारमणिमञ्जूषाख्यायां व्याख्यायां प्रथमं  
द्रुमपुष्पकाख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

—\*—

होती है, और छद्मस्थोंका ज्ञान भी अधूरा होता है, इसलिए भगवान्द्वारा प्रतिपादित प्रवचन ही तुझे सुनाया है । कहाभी है—

“सुखके अभिलाषी पुरुषोंको श्रुतज्ञानकी आशातनाका त्याग करना चाहिये । क्योंकि छद्मस्थोंकी दृष्टि पूर्ण नहीं होती । इसी अर्थको ‘त्तिवेमि’ शब्दसे प्रगट किया है” ॥५॥

इसप्रकार दशवैकालिक सूत्रके ‘द्रुमपुष्पक’  
नामक पहले अध्ययनकी आचारमणिमञ्जूषा  
नामक व्याख्याका हिन्दी-भाषानुवाद  
समाप्त हुआ ॥ १ ॥

—\*—

श्रुतज्ञाननी आशातना थाय छे. अने छद्मस्थोतुं ज्ञान पणु अधूर्डं होय छे, तेथी भगवान् द्वारा प्रतिपादित प्रवचन ज मे तने संलगाव्युं छे. कहुं यणु छे के—

“सुअना अलिदाषी पुरुषोअे श्रुतज्ञाननी आशातनाने त्याग करवे जेअेअे, करणु के छद्मस्थोनी दृष्टि पूणुं होती नथी. आ अर्थने त्तिवेमि शब्दथी प्रकट कर्यो छे.” (५)

इति ‘द्रुमपुष्पक’ नामना पहिले अध्ययनने  
गुजराती-भाषानुवाद समाप्त (१).

## ॥ द्वितीयाध्ययनम् ॥

गतं प्रथममध्ययनमथ द्वितीयमारभ्यते, तत्रायमभिसम्बन्धः—पूर्वाध्ययने ‘धम्मो मंगलं’ इत्यादिना धर्मः प्रशंसितो यः केवलं जिनशासन एवोपलभ्यते, ततश्चोक्तरूपधर्म-परिपालनार्थस्वीकृतजिनशासनो नवदीक्षितः कदाचिद्वैर्याभावाच्चारित्रच्युतो न भवेदिन्द्या-शयेनास्मिन्नध्ययने ‘साधुना धैर्यं धार्य’ मिति वक्तव्यं, धैर्यधारणं च कामनिवारणमन्तरेण न संभवतीति प्रथमं तदेवाह—‘कहं नु’ इत्यादि ।

११ ९ १२ १० १ २ ३ ४  
मूलम्—कहं नु कुज्जा सामणं, जो कामे न निवारण ।

० ८ ५ ६  
पए पए विसीअंतो, संकप्पस्स वसंगओ ॥ १ ॥

छाया—कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामान्न निवारयेत् ।

पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशं गतः ॥ १ ॥

सान्वयार्थः—जो=जो कामे=विषयोंको न निवारण=नहीं छोड़ता है, वह संकप्प-स्स=इच्छाओंके वसंगओ=वशमें होकर पए पए=पद-पद पर विसीअंतो=खेदित होता हुआ नु=आश्चर्य है कि वह सामणं=श्रमणधर्म को कहं=कैसे कुज्जा=कर-पाल सकता है अर्थात्—जो इन्द्रियोंके विषयोंका परित्याग नहीं करता उसकी इच्छाएँ सदैव बढ़ती रहती हैं, उसे कभी सन्तोष नहीं होता, सन्तोष न होनेसे निरन्तर मानसिक कष्ट होता है, विषयोंकी इच्छासे उत्पन्न हुआ मानसिक कष्ट होते रहनेसे चारित्रधर्मकी आराधना नहीं हो सकती, अतः सर्व-प्रथम इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये ॥ १ ॥

## दूसरा अध्ययन ।

पहले अध्ययनमें धर्मका स्वरूप और माहात्म्य कहा है वह केवल जैनशासनमें ही पाया जाता है । इसलिए पहले कहे हुए धर्मका पालन करनेके लिए जिसने जैनशासन अर्थात् चारित्र-धर्म स्वीकार कर लिया हो परन्तु नवीन दीक्षित होनेसे कभी धैर्य छूट जानेके कारण वह कदाचित् चारित्रसे स्खलित न हो जाय, इस अभिप्रायसे इस अध्ययनमें ‘साधुको धैर्य धारण करना चाहिए’ यह कहा जायगा । लेकिन धैर्य तब ही रह सकता है जब कि कामके विकार को जीत लिया जाय । अतएव शास्त्रकार सबसे पहले इसी विषयका प्रतिपादन करते हैं—‘कहं नु—’ इत्यादि ।

## अध्ययन शीघ्रं

पड़ेला अध्ययनमां धर्मनु स्वरूप अने महात्म्य कछुं छे. ते केवण जैन शासनमां भणी आवे छे. तेथी, पड़ेलां कड़ेला धर्मनु पालन करवाने माटे जेणे जैन शासन अर्थात् चारित्र धर्म स्वीकार्यो होय परन्तु नवदीक्षित होवाथो कोधवार धैर्य छूटी जवाथी जे कदाय चारित्रथी स्खलित न थध जाय, तेठला माटे आ अध्ययनमां “साधुजे धैर्य धारण करवु जेधजे.” जे कड़ेवामां आवशे. परन्तु धैर्य त्यारे ज रही शके छे के ज्यारे कामविकारने जती देवामां आवे. तेथी शास्त्रकार सौधी पड़ेलां जे विषयनु प्रतिपादन करे छे—‘कहं नु’ इत्यादि.

टीका-यः, काम्यन्ते=अभिलष्यन्ते प्राणिभिरिति कामाः=शब्दादयस्तान् न निवारयेत्=नापनयेत्, अत्र 'सः' इत्यध्याहार्यं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादिति केचित्, वस्तुतस्तु नात्र तच्छब्दाध्याहारावश्यकता, न चाऽनध्याहारे साकाङ्क्षत्वदोष इत्याक्षेप्यम्, उत्तरवाक्यगतत्वेन यच्छब्दोपादाने तस्य दोषस्याऽनवकाशात् 'आत्मा जानाति यत्पाप' मित्यादिवत् । संकल्पस्य=अप्राप्तविषयप्राप्तिरूपस्याऽप्रशस्तस्याऽध्यवसायस्य, वशम्=अदीनतां गतस्तदधीनवर्ती भूत्वेति भावः, पदे पदे=प्रतिस्थानं विधीदन् खेदमनुभवन् कथं=केन प्रकारेण 'तु' क्षेपे वितर्के पृच्छायां वा, श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः=सचित्ताचित्त-मनोज्ञा-मनोज्ञद्रव्याधिकरणकसाम्यभाव-हास्यादिषट्कविप्रमुक्ति-पंचसमितिसमितत्व-गुप्तित्रयगुप्तत्व-गुप्तब्रह्मचर्यत्वयोगत्रयसाधकत्व--सदोरकमुखवस्त्रिकोपशोभितमुखत्व-यतनाधर्मधरत्व--भोगामिषरिक्तत्व--करणसप्तति--चरणसप्ततिपारगत्व--निर्दोषभिक्षणशीलत्व-तीर्थङ्कराज्ञाराधकत्व स्वात्मज्ञत्व-निष्परिग्रहत्व-यात्रामात्राज्ञत्व-कूर्मवदात्मगोप-

जीव, जिन इन्द्रियोंके विषयोंकी कामना (अभिलाषा) करता है उनको 'काम' कहते हैं । जो साधु, इन कामोंका त्याग नहीं करते, वे अप्राप्त विषयकी प्राप्तिरूप अशुभ अध्यवसायके अधीन होकर पद-पद पर खेदका अनुभव करते हुए क्या कभी श्रमणताको प्राप्त कर सकते हैं ? कदापि नहीं ।

इष्ट, अनिष्ट, सचित्त, अचित्त आदि समस्त वस्तुओं पर समताभाव रखना, हास्य आदि छह नोकषायका त्याग करना, पांच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना, गुप्त ब्रह्मचारी होना, तीन योगोंको साधना, श्रुतज्ञानरूपी जलसे अन्तःकरणको शुद्ध रखना, सम्यक्त्वसे युक्त रहना, संयमरूपी कवच (बख्तर) से सदा सन्नद्ध रहना, डोरासहित मुखवस्त्रिकाको मुखपर बांधे हुए रहना, यतना धर्म को धारण करना भोगरूपी आमिष से विरक्त रहना करण-सत्तरी और चरणसत्तरीके पारगामी होना, निर्दोषभिक्षासे ही संयमयात्राका निर्वाह करना, तीर्थङ्कर

एव जे इन्द्रियोना विषयोनी कामना (अभिलाषा) करे छे तेने 'काम' कहे छे. जे साधु, जे कामेने त्याग नथी करता, तेजो अप्राप्त विषयनी प्राप्तिरूप अशुभ अध्यवसायने अधीन थधने उगले उगले जेदने अनुभव करतां शुं कदापि श्रमणताने प्राप्त करी शके छे ? कदापि नहि.

इष्ट, अनिष्ट सचित्त, अचित्त आदि अधी वस्तुओ पर समता-भाव राखवे, हास्य आदि छजे नोकषायने त्याग करवे. पांच समिति अने त्रष्ट गुप्तितुं पालन करवुं गुप्त ब्रह्मचारी थवुं, त्रष्ट योगेने साधवा, श्रुतज्ञानरूपी जलथी अंतःकरणेने शुद्ध राखवुं सम्यक्त्वथी युक्त रहेवुं, संयमरूपी कवच (बख्तर) थी सन्नद्ध रहेवुं डोरासहित मुखवस्त्रिकाने मुख पर बांधीने रहेवुं, यतना-धर्मने धारण करवुं, भोगरूपी आमिषथी विरक्त रहेवुं, करण सत्तरी अने चरणसत्तरीना पारगामी थवुं, निर्दोष भिक्षाथी ज संयमयात्राने निर्वाह करवे, तीर्थंकर भगवान्नी आज्ञानुं आराधन करवुं, आत्मज्ञानी थवुं, परिग्रहने त्याग करवे, यात्रामात्राने जाणवी, काम्यानी जेहे इन्द्रियोनुं गोपन करवुं, अल्प अशन पानने अल्प करवां. अल्प उपधि राखनी, कषायने त्यजवा, आसन्नरहित थवुं, संसाररूपी सागरथी

કત્વા -ડલ્પપિણ્ડાડલ્પપાનાશિત્વાડલ્પોપધિકત્વાડલ્પકપાયત્વ--નિરાશ્રવત્વ--તીર્ણત્વા--  
 ડપાપત્વ-નિર્ગ્રન્થ-પ્રવચનપ્રવીણત્વ-શલ્યકર્તૈકત્વ-સન્નિધિરહિતત્વો-રગાદ્યુપમિત્ત્વ--પાપશ્રુત-  
 પ્રતિષેધિત્વ--સુમનસ્કત્વ--નિરતિચારચારિત્રત્વાદિગુણસમ્પન્નઃ, તસ્ય ભાવઃ કર્મ વા  
 શ્રામણ્યં=શ્રમણધર્મં કુર્યાત્,પ્રતિપાલયેત્ ન હિ સંકલ્પાધીનચિત્તવૃત્તિતયા વ્યાક્ષિપ્તસ્ય  
 ભાવક્રિયાશૂન્ય-દ્રવ્ય-ક્રિયામાત્રપાલનેન શ્રામણ્યં ભવતીતિ ગાથાર્થઃ ॥ ૧ ॥

અત્રાયં સંગ્રહઃ—“સચિત્તાચિત્તદૃવેસુ મણુન્ને અમણુન્નૅ ।

રક્ષણ સમભાવં જો, સમણો સો પવુચ્ચઈ ॥ ૧ ॥

હાસં રઈ ભયં સોગો, દુગુંછા ય કસાયયા ।

ૅઈ વિપ્પમુક્કો જો, સમણો સો પવુચ્ચઈ ॥ ૨ ॥

પંચસમિઈહિં સમિઓ, તિગુત્તિગુત્તો ય બંભયારી જો ।

પરિસાહેઈ સુજોગં સો સમણો વુચ્ચઈ નિચ્ચં ॥ ૩ ॥

ભગવાનકી આજ્ઞાકા આરાધન કરના, આત્મજ્ઞાની હોના, પરિગ્રહકા ત્યાગ કરના, યાત્રા-માત્રાકો જાનના, કલ્હુૅકી ભાંતિ ઇન્દ્રિયોંકા ગોપન કરના, અલ્પ અશન અલ્પ પાનકા પ્રહણ કરના, અલ્પ ઉપધિ રક્ષના, કષાયકો ત્યાગના, આસ્રવરહિત હોના, સંસારરૂપી સાગરસે પાર ઉતરના, પાપરહિત હોના, નિર્ગ્રંથ પ્રવચનમેં પ્રવીણ હોના, માયા, મિથ્યાત્વ ઓર નિદાન રૂપ શલ્યોંકો કાટના, સન્નિધિકા ન રક્ષના, ઉરગાદિકી ઉપમાસે યુક્ત હોના, પાપકી પ્રરૂપણા કરનેવાલે શાસ્ત્રોંકા ઉપદેશ નહીં કરના, મનકો સ્વચ્છ રક્ષના ઓર અતિચારરહિત ચારિત્રકો પાલના, તથા મૃગ જૈસે સિંહસે સર્વથા દૂર ભાગતે હૈં ઉસીપ્રકાર પાપકર્મ જિસકે પાસ ન ઠહરેં વહ ‘શ્રામણ્ય’ (સાધુપન) કહલાતા હૈ । ંસા શ્રામણ્ય જવતક પ્રાપ્ત નહીં હોતા તબ તક વહ કામ-ભોગકા ત્યાગ ન કર દેવેં; જિસકા ચિત્ત કામકે સંકલ્પ-વિકલ્પોંસે વ્યાકુલ રહતા હો ઉસકી ક્રિયાૅં ભાવશૂન્ય દ્રવ્યક્રિયાૅં હૈં, કેવલ દ્રવ્યક્રિયાઓંકા પાલન કરનેસે કોઈ શ્રમણ નહીં હો સકતા, ઇસ વિષયમેં સંગ્રહગાથાૅં હૈં ંનકા અર્થ પહલે આ ચુકા હૈ ॥૧॥

પાર ઉતરવું, પાપરહિત થવું, નિર્ગ્રંથ પ્રવચનમાં પ્રવીણ થવું, માયા મિથ્યાત્વ અને નિદાનરૂપ શલ્યોને કાપવાં, સન્નિધિને ન રાખવો, ઉરગાદિની ઉપમાથી યુક્ત થવું પાપની પ્રરૂપણા કરનારાં શાસ્ત્રોનો ઉપદેશ ન કરવો, મનને સ્વચ્છ રાખવું અને અતિચારરહિત ચારિત્રને પાળવું તથા મૃગ જેમ સિંહથી સદા દૂર ભાગે છે તેમ પાપકર્મ જેની પાસે ન ઉભાં રહે તે ‘શ્રામણ્ય’ (સાધુતા) કહેવાય છે. એવું શ્રામણ્ય ત્યાં સુધી પ્રાપ્ત નથી થતું કે ત્યાં સુધી તે કામલોગનો ત્યાગ કરે નહિ, જેવું ચિત્ત કામના સંકલ્પવિકલ્પથી વ્યાકુળ રહેતું હોય છે તેની ક્રિયાઓ ભાવશૂન્ય દ્રવ્ય-ક્રિયાઓ હોય છે, કેવળ દ્રવ્ય-ક્રિયાઓનું પાલન કરવાથી કોઈ શ્રમણ થઈ શકતો નથી. આ વિષયમાં સંગ્રહ ગાથાઓ છે, જેનો અર્થ પહેલાં આવી ગયો છે. (૧)

सुयनाणसुनीरेण, सुद्धो संमत्तरंजिओ ।  
संजमवम्मसंनद्धो, समणो सो पवुच्चई ॥ ४ ॥  
सदोरं मुहपत्तिं जो, बंधई सययं मुहे ।  
जयणाधम्मणेण जुओ, समणो सो पवुच्चई ॥ ५ ॥  
भोगामिसपरिहीणो, करणे चरणे य वट्टए सुद्धं ।  
अदोसभिक्षणशीलो, समणो सो वुच्चई निच्चं ॥ ६ ॥  
जिणाणाए समारोहो, आयन्नो निप्परिग्गहो ।  
जायामायन्नो य मुणी, समणत्ति पवुच्चई ॥ ७ ॥  
कुम्मो जहा नियं गाइं, सए देहम्मि गोवई ।  
तहा गोवइ अप्पाणं, समणत्ति पवुच्चई ॥ ८ ॥  
अप्पपिंडे अप्पपाणे, अप्पोव्हिकसायओ ।  
निरासवो य तिन्नो य, निप्पावो समणो भवे ॥ ९ ॥  
निग्गंधपवयणन्नो, अनियाणो सल्लकत्तओ ।  
भेसज्जाइण वत्थूणं, सन्निहिं वज्जए मुणी ॥ १० ॥  
उरगाइडवमो पाव, सुयाणं पडिसेहओ ।  
सुमणो सुहचारित्तो, समणत्ति पवुच्चई ॥ ११ ॥  
मिया जहेव सीहाओ, दूरं चरंति सव्वहा ।  
तहा जओ य पावाइं, समणत्ति पवुच्चई ॥ १२ ॥ इति ।

छाया—“सचित्ताचित्तद्रव्येषु, मनोज्ञे अमनोज्ञके ।

रक्षति समभावं यः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ १ ॥  
हास्यं रतिर्भयं शोको, जुगुप्सा च कषायता ।  
एतैर्विप्रमुक्तो यः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ २ ॥  
पञ्चसमितिभिः समितः, त्रिगुप्तिगुप्तश्च ब्रह्मचारी यः ।  
परीसाधयति सुयोगं, स श्रमण उच्यते नित्यम् ॥ ३ ॥  
“श्रुतज्ञानसुनीरेण, शुद्धः सम्यक्त्वरञ्जितः ।  
संयमवर्मसंनद्धः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ ४ ॥  
सदोरां मुखवस्त्रीं यो, बध्नाति सततं मुखे ।  
यतनाधर्मेण युतः, श्रमणः स प्रोच्यते ॥ ५ ॥  
भोगामिषपरिहीणः, करणे चरणे च वर्त्तते शुद्धम् ।  
अदोषभिक्षणशीलः, श्रमणः स उच्यते नित्यम् ॥ ६ ॥  
जिनाज्ञायां समारोहः, आत्मज्ञो निप्परिग्रहः ।  
यात्रामात्राज्ञश्च मुनिः, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ७ ॥

कूर्मो यथा निजाङ्गानि, स्वके देहे गोपयति ।  
 तथा गोपयत्यात्मानं, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ८ ॥  
 अल्पपिण्डोऽल्पपानः, अल्पोषधिकषायकः ।  
 निरास्रवश्च तीर्णश्च, निष्पापः, श्रमणो भवेत् ॥ ९ ॥  
 निर्ग्रन्थप्रवचनेनः, अनिदानः शल्यकर्त्तकः ।  
 भैषज्यादीनां वस्तूनां, संनर्धि वर्जयति मुनिः ॥ १० ॥”  
 “उरगाद्युपमः पापश्रुतानां प्रतिषेधकः ।  
 सुमनाः शुभचारित्रः, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ ११ ॥  
 मृगा यथैव सिंहाद्, दूरं चरन्ति सर्वथा ।  
 तथा यतश्च पापानि, श्रमण इति प्रोच्यते ॥ १२ ॥

पूर्व शब्दादिविषयप्रवृत्तः श्रामण्यं पालयितुं न शक्नोतीत्युक्तं, सम्प्रति द्रव्यक्रियां कुर्वाणोऽपि कलुषितचित्तत्वादश्रमण एवे' ति दर्शयितुमाह—

यद्वा पूर्वगाथया भङ्गचन्तेरण शब्दादिविषयविनिवृत्त एव श्रामण्यमर्हतीति सूचितम् शब्दादिविषयानिवृत्तिश्च रोगादिना करणेनापि संभवतीत्यतस्तद्रव्यवच्छेदार्थं गाथान्तरमाह—७ वत्थगंध'मित्यादि

मूलम्—<sup>३</sup>वत्थ<sup>४</sup>गंध<sup>५</sup>मलं<sup>६</sup>कारं, इत्थी<sup>७</sup>ओ सयणाणि य ।

<sup>२</sup>अच्छंदा<sup>१</sup> जे न भुंजंति, न से चाइत्ति<sup>९</sup> वुच्चई<sup>१२ १० ११ १३</sup> ॥२॥

छाया—वस्त्रगन्धमलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च

अच्छन्दो यो न भुङ्क्ते, न स त्यागीत्युच्यते ॥२॥

ऊपर कह चुके हैं कि शब्दादि इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्त साधु श्रामण्य (चारित्र) का पालन नहीं कर सकता । अब द्रव्यक्रियाएँ करते हुए भी यदि साधुके चित्तमें कलुषता हो तो वह वास्तवमें त्यागी नहीं है, यह कहते हैं—

अथवा पहली गाथामें एक विशेष प्रणालीसे यह प्रतिपादन किया है कि-शब्दादिविषयोंका त्यागी ही श्रामण्य (साधुपना) पाल सकता है, किन्तु रोग आदि कारणोंसे भी शब्दादि विषयोंको नहीं भोग सकता तो क्या उस समय वह भी त्यागी कहला सकता

ऊपर कहेवाछ गयुं छे के शब्द आदि ईन्द्रियविषयोंमां प्रवृत्त अवे साधु श्रामण्य (चारित्र)तुं पालन करी शकते नथी. हुवे द्रव्यक्रियाओं करतं पणु ने साधुना चित्तमां कलुषता होय तो ते वास्तवमां त्यागी नथी, अे कहे छे—

अथवा पहेली गाथामां अेक विशेष प्रणालीथी अेम प्रतिपादन कयुं छे के—शब्दादि-विषयानो त्यागी अे श्रामण्य (साधुता) पाणी शकै छे, किंतु रोगादि कारणोंथी पणु शब्दादि विषयाने नथी लोगवी शकते तो शुं ते समये अे पणु त्यागी कहेवाछ शकै छे ? नथी

सान्वयार्थः—जे=जो अचछंदा=पराधीन होनेसे वत्थगंध=वस्त्र गन्ध अलंकारं=आभूषण इत्थीओ=स्त्रियाँ य=और सयणाणि=“शय्याप लंग महलविगरे को न भुंजति—नहीं भोगता है से=वह चाइति=त्यागी” ऐसा न बुचइ=नहीं कहा जाता है। अर्थात् अपनी इच्छासे विषयोंको न भोगनेवाला त्यागी कहलाता है। जो रोग आदि किसी कारण से पराधीन होकर विषयोंका सेवन नहीं कर सकता वह त्यागी नहीं कहलाता ॥२॥  
और—

टीका—अत्र ‘अचछंदा’ ‘जे’ ‘भुंजति’ इत्येतेषु पदेषु बहुवचनप्रयोगः सौत्रत्वात् । तथा चायमर्थः—यः अचछन्दः=रोगाद्यभिभूततया पराधीनो वस्त्रं च गन्धश्चानयोः समाहारः वस्त्रगन्धं, तत्र वस्त्रं=प्रसिद्धं, गन्धः=चन्दनकर्पूरादि—सुगन्धिद्रव्यं तत्, अलङ्कारः=कुण्डल-बलयादिस्तम्, स्त्यायतः शुकशोणिते यासु ताः स्त्रियः=कामिन्यस्ताः, शय्यते येषु तानि शयनानि=पल्यङ्ग-खट्वा तुष्कि-कादीनि, तानि, चकारात् यानाऽऽसनादीनि, नं भुञ्जते=न सेवते, सः, त्यागीति=त्यजति=परिमुञ्चति संसारसम्बन्धं तच्छील इति, न उच्यते=न कथ्यते, इति गाथार्थः ॥२॥

है ? कभी नहीं कहला सकता, इसी विषयको कहते हैं—‘वत्थ गंधं’ इत्यादि ।

जो मनुष्य रोग आदिसे आक्रान्त होनेके कारण पराधीन है और पराधीनता (असमर्थता) के कारण वस्त्र, कस्तूरी, केशर, चन्दन, आदि गन्ध, कुण्डल, कटक आदि आभूषण, स्त्री, शय्या और ‘च’ शब्दसे सवारी आसन आदिका सेवन नहीं करते हैं वे त्यागी अर्थात् संसारके सम्बन्धोंका त्याग करने वाले नहीं कहला सकते हैं, क्योंकि असार समझकर ममता छोड़ना-रुचि न रखना-त्याग कहलाता है । रोग आदिसे ग्रसित ऊपर कहे-हुए विषयोंकी ममता नहीं छोड़ता (रुचि रखता) है इसलिए वह त्यागी नहीं कहला सकता ॥२॥

कडेवाता ओ विषय डवे कडे छे :—वत्थगंधं—छत्यादि

जे मनुष्ये रोगादिथी आक्रान्त होवाने कारणे पराधीन छे अने पराधीनता (असमर्थता) ने कारणे वस्त्र, कस्तूरी, केशर, चन्दन आदि गंध, कुण्डल, कटां आदि आभूषण, स्त्री, शय्या. अने च शब्दथी सवारी, आसन आदिकुं सेवन करता नथी तेओ त्यागी अर्थात् संसारना संबन्धोनो त्याग करवावाणा नथी कडेवाछं शकता कारणे के असार समझने भमता छोडवी—रुचि न राखवी ओ च त्याग कडेवाय छे. रोगादिथी ग्रसित मनुष्ये उपर कडेवा विषयोनो भमता छोडता नथी, तेथी तेओ त्यागी कडेवाता नथा. (२)

१ यत् ‘बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशो विचित्रत्वात्सूत्रगतेः’ इति, यच्च ‘अत्र सूत्रगतेर्विचित्रत्वाद्बहुवचने-ऽप्येकवचननिर्देशः’ इति, यदपि च किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः ? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेति क्त्वाऽऽह—‘नासौ त्यागीत्युच्यते’ इति, तदिदं त्रितयमपि व्याख्यानं सूत्रपूर्वापराऽननुसन्धानमूलक्त्वाद्नुपादेयमेव, यतो द्वितीय-तृतीयगाथयोस्तात्पर्यपर्यालोचनः यामेकवचनान्तप्रयोग एव सूत्रकृतोऽभिप्रेत इति सूचीकटाहन्यायेनापि बहुवचनान्तेष्वेकवचनान्तत्वकल्पनं युक्तियुक्तमिति ॥

२ अधिकरणेत्युद । ३ प्रथमान्तमिदम् । ४ द्वितीयान्तमिदम् । ५ भुजोऽनवने इत्यात्मने पदं सूत्रे तु प्राकृतत्वात् परस्मैपदम् ।

कस्तर्हि त्यागी ? इति चेत्त्राह—‘जे य कंते’ इत्यादि ।

१ ३ ४ ५ २ ६  
मूलम्—जे य कंते पिण् भोए लद्धेवि पिट्टिकुव्वइ ।

७ ९ ८ १० ११ १२ १३  
साहीणे चयई भोए स हु चाइत्ति वुच्चई ॥३॥

छाया—यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकरोति ।

स्वाधीनस्त्यजति भोगान्, स एव त्यागी इत्युच्यते ॥३॥

सान्ययार्थः—जे य=जो लद्धेवि=प्राप्त हुए भी कंते=मनोहर पिण्=अभीष्ट-मन-गमते' भोए=भोगोंको पिट्टिकुव्वइ=त्याग देता है (और) साहीणे=स्वतन्त्र-स्वाधीन होते हुए मोह = विषयोंको चयई = त्यागता है से = वह हु = निश्चय करके चाइत्ति = “त्यागी” ऐसा वुच्चइ = कहलाता है । अर्थात् भोगोंकी प्राप्ति होने पर भी और भोगनेकी स्वतन्त्रता रहते हुए भी जो भोगों को नहीं भोगता वह सच्चा त्यागी है । गाथामें “वि” शब्द आया है; उससे यह प्रगट होता है कि यदि किसीको अमुक समयमें मनोहर और प्रिय भोग न भी उपलब्ध हों तथापि उसकी इच्छा कदापि भोगनेकी न हो तो भी वह त्यागी है ॥३॥

टीका—‘च’ शब्दः पूर्वगाथोक्तार्थनिवारकत्वेन ‘तु’-शब्दार्थेऽवधारणार्थे वा, ‘खलु’-शब्दोऽवधारणार्थे, तथा चायमर्थः—यस्तु लब्धान् = प्राप्तानपि कान्तान् = कमनीयान् (मनोहरान्) प्रियान् = अभिलषितान्, भोगान् = शब्दादीन् पृष्ठीकरोति = पृष्ठशब्दस्य तत्स्थे लक्षणया अपृष्ठस्थान् पृष्ठस्थान् करोति = दूरतः परिहरतीत्यर्थः, ततो विमुक्ती-भवतीति यावत् । एवं तु रोगाद्यवस्थायामपि संभवतीत्यतः स्पष्टयति स्वाधीनः = रोगा-द्यनभिभूतचित्तः सन् भोगान् = पूर्वोक्तलक्षणान् शब्दादीन्, पुनर्भोगग्रहणं ‘द्विर्बद्धं सुबद्धं भवती’—ति न्यायात्साकल्येन भोगत्वावच्छिन्नपरिग्रहार्थम्, त्यजति=मुञ्चति, स खलु=स एव त्यागीति उच्यते=कथ्यते, न तु पराधीन इति गाथार्थः ॥३॥

त्यागी किसे कहते हैं ? इस पर सूत्रकार कहते हैं—‘जे य’ इत्यादि

जो महापुरुष पूर्वपुण्यके उदयसे प्राप्त हुए मनोहर और इष्ट शब्दादि विषयोंको विविध-वैराग्य-भावना भाकर त्याग देते हैं—उनसे विमुक्त हो जाते हैं और रोग आदिसे पीड़ित न होनेके कारण स्वाधीन (समर्थ) होते हुए भी विविध-वैराग्य-भावना भाकर समस्त भोगोंको त्याग देते हैं वे ही त्यागी कहलाते हैं ॥३॥

त्यागी कौने कडे छे ? जे विषे सूत्रकार कडे छे—‘जे यं’ इत्यादि.

जे महापुरुषो पूर्वपुण्यना उदयथी प्राप्त थयेला मनोहर अने इष्ट शब्दादि विषयेने विविध-वैराग्य-भावना लावीने त्यज्जे हे छे—तेनाथी विमुक्त अनी नय छे, अने रोगादिथी पीडित न होवाने कारणे स्वाधीन (समर्थ) होवा छतां पण विविध-वैराग्य-भावना लावीने अथा लोकोने त्यज्जे हे छे, तेज्जे जे त्यागी कडेवाय छे. (३)



उक्तविधस्यापि साधोः संयममार्गे विहरतः कदाचिद् विषयस्मरणेन प्रस्खलित-  
चित्तता मा प्रसाङ्क्षीदिति तदुपायं दर्शयति—“समाए०” इति ।

१ २ ३ ४ ७ ६  
मूलम्—समाए पेहाए परिव्वयंता, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।

१० ८ ९ १३ ११ १२ १४ १५ १७ १६  
न सा महं नोवि अ वि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं।४।

छाया—समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिः ।

न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः, इत्येवं तस्या विनयेत रागम् ॥४॥

सान्वयार्थः—समाए=सम पेहाए=भावनासे परिव्वयंतो=संयममार्गमें विचरते हुए  
साधुका मणो=मन सिया=कदाचित्-कभी बहिद्धा=संयमग्रहसे बाहर निस्सरई=निकल जाय  
तो “सा=वह स्त्री महं=मेरी न=नहीं है अवि=और अहंवि=मैं भी तोसे=उस स्त्रीका  
नो=नहीं हूँ” इच्चेव इस प्रकार ताओ=उस स्त्रीसे रागं=रागको विणइज्ज=दूर करे ॥४॥

संयम मार्गमें विहार करते हुए त्यागी मुनि का मन, स्त्री आदिको देखनेसे कदाचित्  
विचलित (डांवाडोल) हो जाय तो उसको रोकने के लिए उपाय बतलाते हैं—‘समाए०’ इत्यादि ।

रागद्वेषरहित-समतापूर्वक विचरते हुए श्रामण्यमें स्थित मुनिका मन स्त्री आदिको देखने  
पर मोहनीय कर्मके उदयसे कदाचित् पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण होजानेसे, अथवा विषय-  
सेवनकी इच्छा होनेसे संयमरूपी घरसे बाहर निकल जाय तो उस समय साधुको विचारना  
चाहिए कि-मैं जिसकी अभिलाषा करता हूँ, वह स्त्री न मेरी है और न मैं उसका हूँ । ऐसा  
विचार करके उस स्त्रीके विषय का रागभाव दूरकरना चाहिये तात्पर्य यह है कि स्त्री के  
विषयमें मनकी प्रवृत्ति होनेसे चारित्रिकी मलिनता आदि बहुतेरे दोष उत्पन्न होते हैं । उन  
दोषोंका विचार करके मुनि अपने मन को उस तरफसे हटाता हुआ समप्रेक्षाका अवलम्बन  
करके उसीप्रकार रागरहित होजावे जिस प्रकार स्त्रीको देखनेके पहले था ।

संयम-मार्गमें विहार करता त्यागी मुनिनुं मन, स्त्री आदिने जेवाथी जे विचलित  
(डांवाडोल) थर्ध जय तो तेने रोकवाने भाटे उपाय बतावे छे—‘समाए०’ इत्यादि ।

रागद्वेष रहित समतापूर्वक विचरतां श्रामण्यमां स्थित मुनिनुं मन स्त्री आदिने  
हेभतां मोहनीय कर्मना उदयथी कदाचित् पहलेवां भोगवेदा भोगानुं स्मरण थर्ध जवाथी  
अथवा विषय सेवननी इच्छा थवाथी संयमरूपी घरनी अहार निकली जय तो ते समये  
साधुजे विचारनुं जेधजे के हुं जेनी अभिलाषा करे छुं ते स्त्री नथी मारी के नथी हुं  
तेना. जेवा विचार करीने जे स्त्री प्रत्येना विषयने रागभाव दूर करवे जेधजे. तात्पर्य  
जे छे के—स्त्रीना विषयमां मननी प्रवृत्ति थवाथी चारित्रिकी मलिनता आदि अनेक दोष  
उत्पन्न थाय छे. जे दोषाने विचार करीने मुनि पोताना मनने ते तरक्थी पाछुं हटावतां  
समप्रेक्षानुं अवलम्बन करीने जेवा रागरहित थर्ध जय के जेवा ते स्त्रीने हेभतां  
पहेलां हतां ।

ટીકા—સમયા=રાગદ્વેષપરિણતિરિક્તયા સ્વતુલ્યયા, પ્રેક્ષયા=પ્રેક્ષતેડનયેતિ કરણવ્યુ-  
ત્પત્તિબલાદ્ દૃષ્ટ્યા, પરિવ્રજતઃ=વિહરતઃ પ્રોક્તરૂપશ્રામણ્યે સ્થિતસ્યેત્યર્થઃ મનઃ=હૃદયં,  
સ્યાત્=કદાચિત્ મોહનીયકર્મપ્રકૃત્યુદયવશાદ્ શુક્તભોગતયા પૂર્વકૃતરત્યાદિસ્મરણેન તદ-  
ન્યથાત્વે વિષયસેવનવાઙ્છયા વા, બહિઃ=સંયમયોગા-દ્વાહ્યે વિષયાદૌ નિઃ સરતિ=નિ-  
ર્ગચ્છતિ, અથ કિં કર્તવ્યં ? તદાહ 'ન સા' ઇતિ, સા=પરિચિન્ત્યમાના સ્ત્રી ન મમ,  
અપિ=ચ અહમપિ તસ્યાઃ=પરિચિન્ત્યમાનાયાઃ સ્ત્રિયાઃ ન, ઇત્યેવમ્=અનયા રીત્યા, તસ્યાઃ  
=અભિલષ્યમાણાયાઃ સ્ત્રિયાસ્તત્સમ્બન્ધનમિત્યર્થઃ, રાગમ્=દુરભિલાષં, વિનયેત=દૂરીકુર્યાત્ ।

વનિતાવિષયે પ્રસૂતં મનસ્તદીયરાગસંબન્ધવહુતરદોષાનુચિન્તનેન તતો નિવર્તયન્  
મુનિઃ સમાં પ્રેક્ષામવલમ્બ્ય વનિતાદર્શનાત્ પ્રાગિવ રાગશૂન્યો ભવેદિતિ ભાવઃ । દોષા-  
નુચિન્તનં યથા—“રે ચિત્ત ! ચારિત્રસ્ય પ્રાણભૂતં બ્રહ્મચર્યં યાવજ્જીવનમનુપાલયિતું કૃત-  
પ્રતિજ્ઞસ્ય તવ સ્વકૃતપ્રતિજ્ઞાપરિત્યાગોદ્યમે ક્ષુતો ન લજ્જાસમુદ્ભવઃ ? યદા સંસારદાવ  
દહનપરિતપ્તસ્ય તવ કોડપિ લોકે શરણં નાભૂત્ તદા યાનેવ વિષયાન્ પરિત્યજ્ય જિને-  
ન્દ્રપ્રતિપાદિતં ચારિત્રધર્મં શિરસાડઙ્ગીકૃત્ય ત્વયા નિરસ્તઃ સકલઃ સન્તાપઃ, કિમિદાનીં  
પુનર્વાન્તાવલેહીશ્ચેવ ભવેત્તાનનુસ્મરદ્ વિરમરસ્યાત્માનમ્ ? ।

દોષોંકા વિચાર ઇસપ્રકાર કરે—રે મન ! ચારિત્રકે પ્રાણોંકે સમાન બ્રહ્મચર્યકો યાવત્-  
જીવન પાલન કરનેકી તૂને પ્રતિજ્ઞા કી હૈ; પહેલે કી હુઈ પ્રતિજ્ઞા અબ પરિત્યાગ કરતે તુજે લજ્જા  
નહીં આતી ? જિસ સમય ત્ સંસારરૂપી તીવ્ર દાવાગ્રિસે સંતપ્ત હુઆ ઓર લોકમેં કોઈંમી તુજે  
ન બચા સકા ઉસ સમય જિનેન્દ્ર ભગવાન્ દ્વારા પ્રરૂપિત ચારિત્ર ધર્મકો તૂને સ્વીકાર કિયા  
ઓર જિન હેય—વિષયોંસે મુક્ષ મોડકર સકલ જંજાલ છોડ દિયે ઉન્હોં વિષયોંકો વમનચાટનેવાલે  
શ્વાનકે સમાન ફિર સ્વીકાર કરના ચાહતા હૈ ? એ અધમ મન ! અપને સ્વરૂપ કા વિચાર કર ।

ઓરે મન ! દેખ; બ્રહ્મચર્યકી મહિમાસે હી લોકમેં પૂજે જાનેવાલે સુરેન્દ્ર અસુરેન્દ્ર ઓર  
નરેન્દ્રોંકે દ્વારા તૂ પૂજ્ય સંમાનનીય હુઆ હૈ, એસે અમિતમહિમાવાલે બ્રહ્મચર્યકો મી તૂ ક્યોં  
મૂલ ગયા હૈ ? કહા મી હૈ—

દોષોંનો વિચાર આ પ્રમાણે કરે—હે મન ! ચારિત્રના પ્રાણ સમાન બ્રહ્મચર્યને જીવન-  
પર્યંત પાળવાની તેં પ્રતિજ્ઞા કરી છે. પહેલાં કરેલી પ્રતિજ્ઞાનો હવે પરિત્યાગ કરતાં તને  
શરમ નથી આવતી ? જે સમયે તું સંસારરૂપી તીવ્ર દાવાનળથી સંતપ્ત થયો અને લોકમાં  
કોઈં પણ તને બચાવી ન શક્યું, તે સમયે શ્રીજિનેન્દ્ર ભગવાને પ્રરૂપેલા ચારિત્ર ધર્મને તેં  
સ્વીકાર કર્યો અને જે હેય વિષયોથી વિમુખ થઈને બધી જાનને છોડી દીધી, તેજ વિષયોનો  
વમનચાટનારા શ્વાનની પેઠે ફરીથી તેં સ્વીકાર કરવા ચાહે છે ? હે અધમ મન ! તારા  
પોતાના સ્વરૂપનો તેં વિચાર કર.

ઓરે મન ! જો; બ્રહ્મચર્યના મહિમાથી જ, લોકમાં પુજાતા સુરેન્દ્ર અસુરેન્દ્ર અને  
નરેન્દ્રોની દ્વારા તેં પૂજ્ય સંમાનનીય થયો છે. એવા અપારમહિમાવાળા બ્રહ્મચર્યને પણ તેં  
કેમ ભૂલી ગયો છે ? કહ્યું પણ છે—

अरे ! विस्मृतः किं ब्रह्मचर्यमहिमा ? यत्प्रभावेणाऽल्पीयसैव कालेन लोकपूजितैरपि सुरासुरमनुजेन्द्रैः पूज्यमानमसि पुनः किं तदेव विस्मरसि ? । इदमप्यनुचिन्तय-

“चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।

तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥१॥” इति ।

अपिच अनवाप्तपरमार्थतत्त्वास्वादनसुखानां संसाराभिनन्दिनां विषयामिषोपभोगसुखकामुकानामविवेकिनामेव कामिनी कमनीया भवतु नाम, परन्तु एतदीयानुरागपरिणामदारुणतां विस्मरतस्तवापि किं संयताग्रगणनीयताऽभिलाषो नोपहासाय जायेत ? ।

अरे मूढ ! अस्याः खलु विलासकलाकलापवैदुष्यं बिलोक्य लुब्धकप्रसारितजाले कुरङ्ग इव, मार्गवर्तिनि गर्ते तुरङ्ग इव, ज्वलति प्रदीपे पतङ्ग इव किमात्मानं निरये निपातयसि ? ।

अहो ! अयोमयशृङ्खलामप्यधरयति रागपाशः, यत् खलु मधुपः कठिनतरकाष्ठकृन्तनदक्षोऽपि न क्षमो भयति संकुचितकमलपुष्पानुरागनिबद्धमात्मानं परित्रातुम् ।

“ब्रह्मचर्यसे दीर्घ आयु, सुन्दर आकार, और दृढ संहनन प्राप्त होते हैं, ब्रह्मचर्यसे ही मनुष्य, तेजस्वी और महाशक्तिशाली होते हैं” ॥१॥

हे जीव ! किंपाकफल सरीखे विषयभोग सुगन्ध, सुरूप, सुशब्द, और सुस्पर्श अविवेकी जीवोंको भलेही मनोहर लगे, पर तूतो संयमियोंमें श्रेष्ठ बनना चाहता है फिर इनमें अनुराग करने से जो भयंकर फल उत्पन्न होते हैं उन्हें क्यों भूल जाता है ? इससे तेरी वह उच्च अभिलाषा क्या हास्यास्पद नहीं होगी ? अवश्य होगी ।

अरे मूढ ! जैसे व्याध (शिकारी) के फैलाए हुए जालमें कुरंग (हरिन) फंस जाता है; शस्तेके गड्ढेमें तुरंग गिर जाता है; जलते हुए दीपककी ज्वालामें पतंग गिर पड़ता है वैसेही खीके हास विलास और हाव-भावकी चतुराई देखकर क्यों अपनी आत्माको नरकमें गिराता है ।

अहो ! इस रागके बन्धनके आगे लोहकी बेड़ीभी तुच्छ है; देखो, भौरा कठिनसे कठिन

“ब्रह्मचर्यथी दीर्घ आयुष्य, सुन्दर आकार, अने दृढ संहनन प्राप्त थाय छे. ब्रह्मचर्यथी न मनुष्य द्विय तेजस्वी अने महाशक्तिशाली थाय छे.” (१)

हे जीव ! किंपाकफल जेया विषयभोग. सुन्दर, सुरूप, सुशब्द अने सुस्पर्श अविवेकी जीवोने भले मनोहर लागे, परन्तु तू तो संयमीयोमां श्रेष्ठ बनवा छिछे छे, तो पछी जेमां अनुराग करवाथी जे लयंकर इण उत्पन्न थाय छे तेने केम भुली जय छे ? तेथी तारी जे उच्च्य अभिलाषा शुं हास्यास्पद नहि थाय ? अवश्य थशे.

अरे मूढ ! जेम व्याधे (शिकारीजे) इलावेली जणमां कुरंग (हरिण) इसाध जय छे. रस्तामांन आडांमां तुरंग (घोडो) पडी जय छे, जणता दीवानी ज्वालांमां पतंग डोमाध जय छे, तेम स्त्रीना हास्यविलास अने हावभावनी चतुराध जेधने केम तारा आत्माने नरकमां पाडे छे ?

अहो ! आ रागना बंधननी आगण दोढानी जेडी पथु तुच्छ छे. जीवो ! लभरो

इह बाह्यरमणीयतास्पदे, नितान्ताशुचिपदे, चपलावत्प्रतिपलचपलरूपलावण्ये, योषि-  
दपघने किमिव नाम शोभनं विद्यते, यद् बालविधुलेखेव, अमृतावयवनिर्मितेव, चन्द्रम-  
ण्डलादुद्भूतेव, इयं नीलकमलदलायताक्षी १सहावनयनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीव  
कमनीया निरीक्ष्यते ।

अनालोच्य प्रवर्तमानः खलु पराभूयते, तस्मादियदपि तावद् विभावय विला-  
सिनीविलसनं कुतः स्थानादिदमुद्भवति ? किं चास्य कारणम् ? कथमिदं तिष्ठति ?  
किमेतस्मान्निःसरत् सततं दरीदृश्यते ? इति,

विरम विरमात्रानुरागकरणात् अस्य हि शरीरस्य मूत्राद्युपहतमुद्भवस्थानम्, शुक्र-

काष्ठको काट डालनेमें कुशल होता हैं परन्तु सूर्यके अस्त होजाने पर संकुचित कमल पुष्पके अनु-  
रागके बन्धनमें बंधी हुई अपनी आत्माकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता । इसलिए हे मन !  
ऐसे रागमें फँसने की इच्छा क्यों कर रहा है ?

ऐ जीव ऊपर-ऊपर से मनोहर मालूम होनेवाले, अत्यन्त अपवित्रताके स्थान, चपला  
(बिजली) की नाई पल-पलमें चपलरूप-लावण्यवाले, लोके शरीरमें तुझे क्या अच्छापन दिखाई देता  
है ? जिससे तू उसे यह समझ रहा है कि-मानो वह द्वितीयाके चंद्रमाकी कला हैं, अमृतके  
अवयवोंसे बनी हुई है, चन्द्रमाको फाड़कर निकल पड़ी है, नीलकमलके दल (पत्ता) के समान  
विशाल नेत्रवाली, तथा लीलायुक्त लोचनोंसे लोकको अवलम्बन देनेवाली मनोहर दीख पड़ती है ।

हे आत्मन् ! स्मरण रख, जो बिना विचारै किसी विषयमें प्रवृत्ति करता है उसकी बड़ी

कठिनमां कठिन काष्ठने कापी नांभवाभां कुशण डोय छे परन्तु सूर्यने अस्त यतांणी साथे ज  
भीडायला कभण-पुष्पना अनुरागना अंधनमां अंधायलो पोताना आत्मान्नी रक्षा करवाभां  
समर्थ नथी अनतो । तो हे मन ! येना रागमां इसावानी धृच्छा केम करी रह्यो छे ?

हे लव ! उपर-उपरथी मनोहर मालुम पडता, अत्यंत अपवित्रतातुं स्थान विजलीनी  
पेठे पल-पलमां अपण इप-लावण्यवाणा स्त्रीना शरीरमां तने कछ सुंदरता देभाय छे ? के  
बेथी तुं तेने मानी रह्यो छे के-आ भीजना अंद्रमानी कला छे. अमृतना अवयवोथी अनेली  
छे, अंद्रमाने काडीने नीकणा पडी छे, नील कभणनां दण (पांढडीओ)नी समान विशाण  
नेत्रवाणी तथा लीलायुक्त लोचनोथी लोकने अवलंबन आपनारी मनोहर देभाय छे.

१ स्त्रीचेष्टाविशेषो हावस्तेन सहिते=सहावे ते च ते नयने च=सहावनयने ता-  
भ्यामित्यर्थः ।

१ सूर्य डूबनेके बाद, कमलके भीतर पड़ा हुआ भौरा, तकलीफ सहकर सारी रात बिताता है किन्तु  
अनुराग (प्रीति) केकारण, कमलके कोमल (मोलायम) पत्तोंको भी काटकर उस तकलीफको रफा करनेका  
साहस नहीं कर सकता ॥

१ सूर्य अस्त पाभ्या पछी कभणनी अंदर गोंधाछ गयेलो लभरो तकलीइ सहन करीने आभी  
रात वितावे छे, परन्तु अनुराग (प्रीति) ने कारखे कभणनी कभण (मुलायम) पांढडीओने कापी  
नाभीने अे तकलीइ दूर करवातुं साहस नथी करी शकतो.

शोणिते एव कारणम् , अशितपीतादिना च स्थितिः, एतस्मान्निःसरीसर्ति च मल-  
मूत्रकफादिकमेव, किं बहुना मृदुतममनोरमवसनत्रिनिर्मितया मलमूत्रास्थिकफादिपोट्टलि-  
कया न पामरोऽपि, रज्यते, का कथा पुनर्भावनाकुशलानां मुनीनाम् ।

उक्तञ्च—“अम्भःकुम्भशतैर्वर्षेणु बहिर्मुग्धाः ! शुचित्वं कियत् ;

कालं लम्भयथोत्तमं परिमलं कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।

विष्ठाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो ! मध्ये तु शौचं कथ-

ङ्कारं नेष्यथ सूचयिष्यथ कथङ्कारं च तत्सौरभम् ” ॥१॥

अन्यच्च—“विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं,

विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।

दुर्गति होती है । तू अपना कल्याण चाहता है तो विलासिनियोंक विलासका अच्छीतरह विचार करले । यह सोच देख कि यह शरीर कहाँसे उत्पन्न होता है ? इसका क्या कारण है ? कैसे उठरता है ? और इससे क्या २ दिनौने (घृणाजनक) पदार्थ निकलते हुए दिखाई देते हैं ?

बस कर, रहनेदे; इस शरीरमें अनुराग मत कर, मलमूत्रसे भरे हुए स्थानसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है, रज-वीर्य इसके कारण हैं । खाया पीया भोजन इसकी स्थितिका निमित्त है, और इसके नौ द्वारोंसे मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थ निकला करते हैं, अधिक क्या कहें ? कोमल और मनोहर कपडेसे बंधी-हुई मल-मूत्रकी गठरीमें पामर प्राणीभो अनुराग नहीं करता, फिर अशुचि आदि भावनाओंका समीचीन चिन्तन करनेमें चतुर मुनियोंका कहना ही क्या है ? वे तो उस ओर आंख नहीं उठाते । कहा भी है ।

“शरीरको सैकड़ों घड़ोंसे चाहे जितना नहलाओ धुलाओ, और केशरी कस्तूरी गुलाब आदिकी सुगन्धसे सुगन्धित करो, परन्तु यह शरीर तो मल-मूत्रका भाजन है । हे भव्यो ! इसे

हे आत्मन् ! याद कर के, जे विना विचारै केई विषयमां प्रवृत्ति करै छे तेनी लारे-  
दुर्गति थाय छे. तुं पोताना कल्याणुने चाहे छे तो विलासिनीओना विलासने सारी पेठे  
विचार करी ले. ओटलुं विचारी जे के आ शरीर कयांथो उत्पन्न थयुं छे ? ओतुं शुं कारण  
छे ? ते केवी रीते टके छे ? अने ओमांथी केवा केवा गंधाता (घृणाजनक) पदार्थो नीकणता-  
जेवानां आवे छे ?

अस कर, रहेवा हे; आ शरीरमां अनुराग न कर, मलमूत्रथी लरेला स्थानमांथी आ  
शरीर उत्पन्न थयुं छे, रज-वीर्य ओतुं कारण छे, पाधेलुं-पाधेलुं लोअन, ओनी स्थितिनुं  
निमित्त छे, अने तेनां नव द्वारे वाटे मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थो नीकणया करे छे.  
वधारे शुं कहीओ ? कोमल अने मनोहर कपडांथी पाधेली मलमूत्रनी गांसडीमां पामर प्राणी  
पणु अनुराग नथी करतो, तो पछी अशुचि आदि भावनाओतुं समीचीन चिंतन करवामां  
चतुर मुनियोनी तो शी वात ? तेओ तो तेनी तरङ्ग उंथी आंजे जेता पणु नथी.  
कलुं छे के—

“शरीरने सेकडो घडा पाणीथी चाहे तेटलुं न्हवरावे, धुओ, अने केशर कस्तूरी

कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं,

कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥२॥ इति,"

अपरञ्च—“अमेध्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले, स्वभावदुर्गन्धविनिन्दितान्तरे ।

कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते, रमन्ति मूढा विरमन्ति धीराः ॥३॥” इति ।

यद्यपि संसारभीरुभिः परिहेयोऽन्यसङ्गो दुस्त्यजः, तथापि ब्रह्मचर्यमहिमानमनुस्म-  
रतां मुनीनां केवलं स्त्रीसङ्गपरिहारेण द्रव्यादिसङ्गः स्वयमेव निवर्तते । यथा स्वयम्भूर-  
मणमहासागरमुत्तीर्णस्य पुरतः क्षुद्राकृतिर्गङ्गासमानाऽपि नदी सुखसमुत्तरणीया भवति ।  
उक्तञ्च भगवता उत्तराध्ययनसूत्रस्य द्वाविंशोऽध्ययने—

“ए ए य संगे समङ्कमिच्छा, सुहुत्तरा चैव ह्वन्ति सेसा ।

जहा महासागरमुत्तरिच्छा, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१॥” इति,

कैसे पवित्र बनाओगे ? और कैसे इसकी सुगन्धि फैलाओगे, ॥१॥

“हे आत्मन् ! तू स्त्री आदिकी ममतासे विरक्त हो विरक्त हो, मोहका त्यागकर त्याग-  
कर, आत्माके स्वरूपको पहचान पहचान, और मोक्षसुखके लिए पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर” ॥२॥

“अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ, जू आदि कीड़ोंसे व्याप्त, स्वाभाविक दुर्गन्धके कारण  
भीतर भी घृणित और मल-मूत्रसे वेष्टित (स्त्रियोंके) शरीरमें रमण वे करते हैं जो मूढ हैं,  
और बुद्धिमान् पुरुष महान् निकृष्ट समझ कर उससे अलग रहते हैं ॥३॥”

यद्यपि विषयोंके संग संसारभीरु पुरुषोंके लिए त्याज्य हैं और उनका त्याग होना  
कठिन है, तथापि ब्रह्मचर्यकी महिमाका स्मरण करनेवाले मुनियोंको एक मात्र स्त्रीसंगके त्याग  
देनेसे अन्य विषयोंके संग दुस्त्यज होनेपर भी स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं । अर्थात् ब्रह्म-

शुद्धात्मा आदिनी सुगन्धिनी सुगन्धित करे, परंतु आ शरीर तो मण-मूत्रनुं लाज्जित छे. डे  
लये. तेने डेवी रीते पवित्र बनावशे ! अने डेवी रीते तेना पराग ( ईरम ) ने  
ईलावशे ? ” (१)

“हे आत्मन् ! तू स्त्रीआदिनी ममताथी विरक्त था विरक्त था, मोहनेो त्याग कर  
त्याग कर, आत्माना स्वरूपने ज्ञान्, चारित्रनेो अभ्यास कर अभ्यास कर पोताने पिछान्,  
अने मोक्ष सुखने माटे पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर ” (२)

“अशुद्ध पदार्थोंथी भरेलां, जू-आदि कीडायोंथी व्याप्त, स्वाभाविक दुर्गन्धिने कारण्  
अंदर पणु घृणित अने मण-मूत्रथी वेष्टित (स्त्रीयोंना) शरीरमां तेयो रमणु करे छे डे  
नेयो मूढ छे, अने बुद्धिमान् पुरुष तो तेने अत्यंत निकृष्ट समझने तेनाथी अलग  
रहे छे.” (३)

जे डे विषयोंना संग संसारभीरु पुरुषोंने माटे त्याज्य छे अने तेना त्याग थवे  
कठिन छे, तो पणु ब्रह्मचर्यना महिमातुं स्मरणु करनारा मुनियोंने अेक मात्र स्त्रीसंगने

१ यहाँ प्रत्येक कर्तव्यको दुहरानेसे अत्यन्त तीव्र प्रेरणा प्रगट होती है ।

१. अहाँ प्रत्येक कर्तव्यने जेवडाववाथी अत्यंत तीव्र प्रेरणा प्रकट थाय छे.

इयं दृष्टिविषा नागीव सन्दर्शनादेव संयमिनां शमलक्षणं जीवनं विनिहन्ति ।  
अथवा किमियं प्रगाढान्धकारा रजनी ? यदत्रोलूका इव चत्वारः कषाया विच-  
रन्ति, अज्ञानपिशाचश्चात्र चारित्रलक्षणगुणशरीरग्रसनाय जागरुको लक्ष्यते ।

हे चित्त-सहचर ! ज्ञानप्रकाशेन रागान्धकारमपनीय रात्रिकृतोपसर्गं निवारयता  
भवता मदीयसाहाय्यं क्रियताम् ।

अपि चेदं भावनीयम्-मुनीनां कृते ब्रह्मचर्यपरित्यागो महाऽनर्थकरः, तथा  
हि ब्रह्मचर्यपरित्यागेच्छायामपि सत्यां बहवो दोषा विविधशस्त्रास्त्रधारिणः प्रबलश-  
त्रव इव समुत्तिष्ठन्ति । तत्रादावार्त्तरौद्रध्यानं हृदये पदमारोपयति, तस्मिंश्च विद्य-

चर्यमें दृढ़ रहनेवालों पर कोई भी विषय, अपना प्रभाव नहीं डाल सकता । जो पुरुष स्वय-  
म्भूरमण महासमुद्रको पार कर चुका है उसके लिए गंगा जैसी छोटी २ नदियां पार करना  
क्या बड़ी बात है ? भगवान्ने उत्तराध्ययन सूत्रके ३२ वें अध्ययनमें 'एष य संगे' इस  
गाथासे यही प्रतिपादन किया है ॥

जैसे जिस नागिनकी दृष्टिमें विष होता है उसके देखनेसे ही जीवनका अन्त होजाता  
है, इसी प्रकार स्त्रीके भी सानुराग देखनेसे चारित्ररूपी जीवन नष्ट होजाता है ।

अथवा यह कैसी प्रगाढ़ अन्धकारमय रजनी है, जिसमें चारों कषायरूपी उल्लुभों  
का राज्य है, और चारित्र-रूपी शरीरको निगलनेके लिए अज्ञानरूपो पिशाच सदा ताकता  
रहता है हैं मित्र मन ! ज्ञानके प्रकाशसे रागरूपी अन्धकारको निवारण कर, स्त्रीरूपी रात्रि  
द्वारा किये गए उपसर्गको हटानेमें मेरी सहायता कर ।

ब्रह्मचर्यका परित्याग करना मुनियोंके लिए महान् अनर्थ करनेवाला है । यहाँ तक  
कि ब्रह्मचर्य परित्याग करनेकी इच्छा होते ही बहुतसे दोष इस प्रकार आ खड़े होते हैं

त्याग करवाथी, अन्य विषयोंने संग हुत्त्यञ्ज होवा छतां पणु अपोआप निवृत्त थछ्ण  
छे. अर्थात् अज्ञानचर्यमां दृढ रहेनाशेओ पर केछ्ण पणु विषय पोताने प्रभाव पाडी शकते  
नथी. ओ पुइष स्वयम्भूरमणु महासमुद्रने पार करी थूकथे छे तेने माटे गंगा जेवी नानी  
नानी नदीओ पार करवामां शी भोटी वात छे ? लगवाने पणु उत्तराध्ययन-सूत्रना ३२ मा  
अध्ययनमां एष य संगे ओ गाथाथी ओञ् प्रतिपादन कथुं छे.

जेवी रीते जे नागछीनी दृष्टिमां विष होय छे तेने जेवाथी ञ् लुवनने अंत आवी  
जय छे, तेवी रीते स्त्रीने अनुरागपूर्वक जेवाथी चारित्ररूप लुवन नष्ट थछ्ण जय छे.

अथवा ओ देवी गाढ अंधकारमय रात्रि छे के जेमां चारे कषायरूपी ध्रुवडानुं राज्य  
छे, अरे चारित्ररूपी शरीरने गणी जवाने माटे अज्ञानरूपी पिशाच सदा ताडी रहेलो छे.  
हे मित्र मन ! ज्ञानना प्रकाशवी रागरूपी अंधकारनुं निवारणु कर, अने स्त्रीरूपी रात्रिथी  
उत्पन्न थता उपसर्गोने हुकाववामां भने सहाय कर.

अज्ञानचर्यने त्याग करवेओ मुनियोने माटे महान् अनर्थकारक छे; ओटले मुधी के  
अज्ञानचर्य त्यजवानी छच्छा थतां ञ् अनेक दोषो जेवी रीते आवीने थडा थाय छे, ओणु के

माने प्रमादः साहस-मज्ञानमधर्मोऽसिद्धिस्तथाऽन्येऽपि दोषाः समायान्ति । अब्रह्म-चर्यस्य सकलप्रमादस्थानत्वेन प्रमादः, अविचारितकार्यकरणबुद्धिसमुत्पादकत्वेन साहसं, बोधिबीजविनाशकत्वेन अज्ञानम्, अधोगतिकारकत्वेन अधर्मः, अष्टविधकर्मजनकत्वेन असिद्धिश्च एते दोषाश्चेतोऽगृहे संयमरत्नापहाराय यथेच्छमाशु प्रविशन्ति ।

किञ्च - विषयरागः, सकलपापानां निदानम् ; कुठार इव चारित्रतरुं छिनत्ति, कज्जल इव मलिनयति स्वच्छमम्बरमिवात्मानम्, भवति चार्गला मोक्षमार्गद्वारस्य नरकनिगोदाधनन्तदुःखानाञ्च निधानमिति सर्वथा तमपहाय पराञ्चयति चञ्चत्पःसंयमा-चरणचतुरास्तपस्विनः ।

ननु बहवो मन्त्रास्तथाविधाः सन्ति ये देवानां दानवानामुपरि प्रभावमावि-

मानो अनेक अस्त्र-शस्त्र लेकर प्रबल शत्रु आ डटे हों । पहले पहल तो आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान हृदयमें स्थान पा लेते हैं । इनके स्थान पाते ही प्रमाद, साहस, अज्ञान, अधर्म, असिद्धि आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं ।

अब्रह्मचारीको प्रमादके सब कारण मौजूद रहते हैं इसलिए प्रमाद, बिना विचारे कार्य करनेसे साहस, बोधि-रूपी बीजका विनाशक होनेसे अज्ञान, अधोगतिमें लेजानेके कारण अधर्म, और आठों कर्मोंका जनक होनेसे असिद्धि, और इस प्रकारके अनेक दोष शत्रुकी तरह चित्तरूपी घरमें संयमरूपी रत्नको छूटनेके लिए इच्छानुसार प्रवेश कर जाते हैं ।

विषयराग सकल पापोंका मूल कारण है; चारित्र-वृक्षको, काटनेके लिए कुठार है; जिस प्रकार कज्जल, सफेद वस्त्रको मलिन कर देता है उसी प्रकार आत्माको मलिन करने वाला है; मुक्तिके मार्गकी अर्गला है, नरक निगोदके दुःखों का निधान है और विविध व्याधियोंका उत्पत्तिस्थान है, अतएव तप और संयमके पालनेमें चतुर तपस्वी लोग इस (विषय-राग) को बिलकुल छोड़कर अलग होते हैं ।

अनेक अस्त्र-शस्त्र लईने प्रभण शत्रुओं आवी पड़ोऱ्या डाय. पड़ेलां तो आर्त्त-ध्यान अने रौद्र-ध्यान हृदयमां स्थान जभावी ले छे. तेने स्थान भगतां ज प्रमाद, साहस, अज्ञान, अधर्म असिद्धि आदि अनेक दोषो आवी लिला रहे छे.

अब्रह्मचारीनी समीपे प्रमादनां अधां कारणे। डानर रहे छे. अथो प्रमाद, वगर विचारे कार्यं करवाथी साहस, बोधिइपी भीजनुं विनाशक डोवाथी अज्ञान, अधोगतिमां लई जवाने कारणे अधर्म, अने आठे कर्मोनुं जनक डोवाथी असिद्धि अने अेवा ज भीज अनेक दोषो शत्रुनी पेडे चित्तइपी घरमां संयमइपी रत्नने छूटी डेवाने धच्छानुसार प्रवेश करे छे.

विषयराग अधां पापोनुं भूण कारणे छे; चारित्र वृक्षने कापनारो कुडाडो छे.

जेम काण सईद वस्त्रने मलिन करी नांणे छे तेम आत्माने मलिन करनारो छे; मुक्तिना मार्गनी अर्गला छे, नरक निगोदनां दुःखोनुं निधान छे; अने विविध व्याधयोनुं उत्पत्तिस्थान छे. तेथी करीने तप अने संयमने पाणवामां चतुर अेवा तपस्वी डोडो आ (विषयराग)ने बिलकुल छोडीने तेथी डूर जाता रहे छे.



र्भावयन्ति, परन्तु किमेतदाश्चर्यम् ? यत् स्त्रीणां चरित्रे तेऽपि मन्त्रा हतप्रायाः किमपि कर्तुं न प्रभवन्ति । अथासां चरित्रस्यैतादृशप्रभावशालिता, यत्पुरतो मन्त्रा अपि पराभूय निवर्तन्ते, तर्हि क उपायस्तदुद्भावितरागरञ्जुकर्तनाय संयताना-?-मिति चेत्, हन्त ! हृदय-सहचर ! योषित्सविधसंस्थितिपरित्याग एव तदीय-चरित्राऽऽपादितरागभङ्गोपाय इति धारणासुपैहि । उक्तञ्च—

“शृणु हृदय ! रहस्यं यत्प्रशस्तं मुनिनां,

न खलु न खलु योषित्संनिधिः संविधेयः ।

हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिभुरप्रैः,

पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम् ॥१॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रकटविनयोऽप्यात्मबोधेऽपि गाढः,

संसारेऽस्मिन् भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।

येनैतस्मिन् निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती,

वामाक्षीणां भवति कुटिला भूलता कुञ्चिकेव” ॥२॥

जो मन्त्र, देवों और दानवों पर भी अपना प्रभाव शीघ्रही दिखालाते हैं वे भी स्त्रीजनित राग पर प्रभाव नहीं डाल सकते । यह बड़े आश्चर्यकी बात है । स्त्रियोंका चरित्र इतना प्रभावशाली होता है कि उसके सामने मन्त्र भी प्रभावहीन हो जाते हैं तब उनके विषयमें उत्पन्न होनेवाले राग-रञ्जुको काटनेके लिए मुनियोंको क्या उपाय करना चाहिये ? हे हृदय-सुहृद् ! स्त्रियोंके समीप रहनेका त्याग करदेना ही उनके विषयमें होनेवाले प्रेम-पाशके काटनेका उपाय है । कहा भी है—

“ऐ मन ! मुनियोंकी आत्माका कल्याण करनेवाले रहस्यको सुन, वह यह है कि—स्त्रियोंका सम्पर्क (संसर्ग) सर्वथा नहीं करना चाहिये, क्योंकि शम-रूप कवच पहने हुए उत्तम पुरुषोंके अन्तःकरणको भी स्त्रियां अपनी आंखेरूपी छुरी की धारसे छिन्न-भिन्न कर डालती हैं” ॥१॥

ये मन्त्र, देवों और दानवों पर पशु पोताने प्रभाव तुरत अतावी आये छे, ते मन्त्र पशु स्त्रीजनित राग पर प्रभाव पाडी शकतो नथी, अये मोटा आश्चर्यनी बात छे. स्त्रीओतुं अरित्र ओटलुं प्रभावशाली होय छे के तेनी सामे मन्त्र पशु प्रभावहीन अनी अय छे. तेना विषयमां उत्पन्न थनारा रागरञ्जुने कापवा भाटे मुनिओअये कये. उपाय करवे ओधअये ? हे हृदय-सुहृद् ! स्त्रीओनी समीपे रहेवानुं छोडी देवुं अये अयेना विषयमां उत्पन्न थता प्रेमपाशने कापवाने उपाय छे. कहुं छे के—हे मन ! मुनिओना आत्मानुं कट्याणु करनारा रहस्यने श्रवणु कर. ते आ प्रभाणु छे—

“स्त्रीओना संपर्क (संसर्ग) सर्वथा न करवे ओधअये, कारणु के शमरूपी कवच पडे-रेला उत्तम पुरुषेना अन्तःकरणे पशु स्त्रीओ पोतानी आंखेरूपी छुरीनी धारथी छिन्न-लिन्न करी नाये छे.” ॥१॥

વસ્તુતસ્તુ ઇહાઽનાદિસંસારે સ્વસ્મિન્નપિ શરીરે જીવસ્ય કિં નામ સ્વાતન્ન્યમ્ ? દૃશ્યતે હિ લોકેઽપકૃષ્ટમનુજપશુપક્ષિસરીસૃપાદિશરીરોપભોગમવાઙ્છતોઽપિ પ્રાણિનસ્ત-  
ત્તદ્વ્યયોગેન અનાવૃત્તદેશવસ્થાનાઽભિમતાઽન્નપાનાઽનવાપ્તિશીતવાતાતપોપલ્લવૃષ્ટદંશમશકા-  
દિજનિતાઽનેકવિધદુર્નિવારદુઃસ્વોપભોગઃ સોઢ્યો ભવતીતિ, સ્વાતન્ન્યે તુ ન કોઽપિ તત્ત-  
દક્લમઙ્ગીકુર્યાત્ । અક્લસંયોગ ઇવાક્લવિયોગેઽપિ નાસ્તિ જીવસ્ય સ્વાતન્ન્યમ્ , તનુ-  
વિયોગમનિચ્છતામપિ સુખસમન્વિતાનાં મરણદર્શનાત્ , તમિચ્છતાં દુઃસ્વદગ્ધાનાં વિષા-  
દિભક્ષણેઽપ્યૈકાન્તિક્રમરણાદર્શનાત્ ।

“પ્રવચનમેં પ્રવીણ, વિનયવાન્ ઔર ગંભીર આત્મજ્ઞાનવાન્ હોતે હુણ્ મી કોઈ વિરલા હી વ્યક્તિ સદ્ગતિકી પ્રાપ્તિ કર પાતા હૈ । ક્યોંકિ સંસારમેં એક એસી કુંજી મૌજૂદ હૈ જો જલ્દી નરકકા દ્વાર સ્લોલ દેતી હૈ, વહ કુંજી ક્યા હૈ । સ્ત્રિયોકી ટેઢી મૌહ” ॥૨॥

સચ હૈ—અનાદિ-કાલીન સંસારમેં, જીવોંકો અપને શરીરમેં મી સ્વાધીનતા નહીં હૈ । અપકૃષ્ટ-મનુષ્ય પશુ પક્ષી સાંપ આદિકે હીન શરીરકો જો પ્રાણી ચાહતે હી નહીં, ઉન્હેં મી વહ શરીર ધારણ કરના પડતા હૈ, ઔર ઉસકે સંયોગસે અનિષ્ટ સ્થાનકા નિવાસ, અન્ન-પાનકી અપ્રાપ્તિ, ગર્મી સર્દી ઓલોંકો વર્ષા, હવા, ડાંસ-મચ્છર આદિસે હોનેવાલે અનેક પ્રકારકે દુઃસ્વ ભોગને પડતે હૈ । યદિ એસે શરીરકો ધારણ કરના અપનો ઇચ્છા પર નિર્ભર હોતા તો કોઈ મી પ્રાણો એસા દુઃસ્વદાયી શરીરકો ધારણ ન કરતા ।

જિસ પ્રકાર શરીર ધારણમેં જીવ સ્વાધીન નહીં હૈ ઉસી પ્રકાર ઉસકે ત્યાગનેમેં મી સ્વાધીન નહીં હૈ ! સંસારમેં જો પ્રાણો સુખસમ્પન્ન હૈ વે વર્તમાન શરીરકા ત્યાગ નહીં કરના ચાહતે, ફિર મી ઉનકી મૃત્યુ હો જાતી હૈ । ઔર મૃત્યુકો કામના કરનેવાલે દુઃસ્વી જીવ વિષ આદિ ભક્ષણ કર ભેતે હૈ તો મી કમી-કમો વચ જાતે હૈ, અતઃ સિદ્ધ હુઆ કિ અપના શરીરમી અપને અધીન નહીં હૈ ।

“પ્રવચનમાં પ્રવીણ, વિનયવાન્ અને ગંભીર આત્મજ્ઞાનવાન્ હોવા છતાં પણ વિરલ વ્યક્તિ જ સદ્ગતિને પ્રાપ્ત કરી શકે છે. કારણ કે સંસારમાં એક એવી કુંજી મૌજૂદ છે કે જે જલ્દી નરકતું દ્વાર ખોલી નાંખે છે. એ કુંજી કઈ છે ? સ્ત્રીની વાંકી ભમ્બર. ॥૨॥

ખડું છે. અનાદિકાલીન સંસારમાં, જીવો પાસે પોતાના શરીરની પણ સ્વાધીનતા નથી. અપકૃષ્ટ-મનુષ્ય પશુ પક્ષી સાંપ આદિનાં હીન શરીરને જે પ્રાણી આહતા જ નથી, તેમને પણ એ શરીર ધારણ કરવાં પડે છે. અને તેના સંયોગથી અનિષ્ટ સ્થાનનો નિવાસ, અન્ન-પાનની અપ્રાપ્તિ, તાપ ટાઢ, કરાનો વરસાદ, હવા ડાંસ-મચ્છર આદિથી ઉત્પન્ન થતાં અનેક પ્રકારના દુઃખો ભોગવવાં પડે છે. જે એવા શરીરને ધારણ કરવાનું પોતાની ઇચ્છા પર જ નિર્ભર હોત તો કોઈ પણ પ્રાણી એવા દુઃખદાયી શરીરને ધારણ ન કરત.

જેવી રીતે શરીર ધારણ કરવામાં જીવ સ્વાધીન નથી. તેવી રીતે તેને ત્યજવામાં પણ સ્વાધીન નથી. સંસારમાં જે પ્રાણીઓ સુખસંપન્ન છે તેઓ વર્તમાન શરીરનો ત્યાગ કરવા ઇચ્છતા નથી, તો પણ એમનું મૃત્યુ થઈ જાય છે. અને મૃત્યુની કામના કરનારા દુઃખી

जीवस्य स्वातन्त्र्येण शरीरस्वामित्वे सति अनेकेषां कुसुमसुकुमाराणां सुन्दरा-  
वयवानां कतिपयानामतीतदेवादिशरीराणां विनाशः कथं न वारितः ? तस्माद् देहे-  
गेहादि किमपि वस्तु कस्यापि नास्ति, किन्तु अज्ञानवशाज्जीवाः इदं मम, इयं ममे'  
त्यादिस्वरूपं ममत्वं कुर्वन्तीति निश्चीयते ।

इत्थं च स्वकीयदेहगेहादौ ममत्वकरणमज्ञानमूलं, कर्मबन्धहेतुश्चेति विवेकिनः  
स्वदेहेऽपि ममत्वं न कुर्वन्ति, किं पुनरन्यदीयदेहगेहादौ—इत्यनुचिन्तनेन समुत्पन्नया  
“न सा मम, नाहं तस्याः” इत्याकारया विवेकबुद्ध्या मनसि प्रसृतं रागं प्रशम-  
येदिति भावः ॥ अत्र गाथायां ‘परिव्वयंतो’ इत्यत्र सौत्रत्वात्षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ‘बहिद्धा’ इति  
प्राकृतत्वात्, यद्वा बहिर्धावतीति विग्रहे षूषोदरादित्वाद्द्वकारादिलोपः । इति गाथार्थः ॥४॥

पूर्वगाथया ‘रागव्यपनयः कर्त्तव्यः’ इत्युक्तं, स च बाह्यक्रियामन्तरेण न  
सम्भवतीत्यतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—‘आयावयाही’ इत्यादि ।

१ ३ २ ४ ५ ८ ६ ७  
मूलम्—आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।

१० ९ १२ ११ १३ १५ १६ १४  
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ।५।

यदि शरीर पर प्राणीका अधिकार हो तो फूल से कोमल तथा सुन्दर अवयववाले अतीत-  
कालीन देव आदिके शरीरके वियोगको क्यों न रोक लेता ? सत्य वात तो यह है कि—देह गेह  
आदि कोई भी वस्तु किसीकी नहीं है । जीव अज्ञानके कारण ‘यह मेरा है’ ‘यह मेरी है’ इस  
प्रकारकी ममता करते हैं, अत एव शरीरमें ममता करना ही अज्ञान—मूलक और परिग्रह होने  
से कर्म-बन्धका कारण है, ऐसासमझ कर विवेकी जन अपने शरीर में भी स्नेह नहीं करते तो  
दूसरेकी देहमें कैसे स्नेह करेंगे ? ऐसा सोच कर, मनमें उत्पन्न हुए भी रागादिको “न वह मेरी  
है” और “ न मैं उसका हूँ” इस प्रकार की भावनासे दूर कर मुनि, उस निकले हुए मनको फिर  
से संयम—धरमें लावे ॥४॥

७७० विष आदि लक्ष्णु करी दे छे तो पणु डोई डोई वार ज्यी जय छे. जे उपरथी सिद्ध  
थयुं के आपणुं शरीर पणु आपणुने आधीन नथी.

जे शरीर पर प्राणीने अधिकार होत तो कूलथीय कोमल तथा सुंदर अवयववाणा  
अतीतकालीन देवादिना शरीरना वियोगने केम रोडी राभत नहि ? साथी वात जे छे के  
देह गेह आदि कोई पणु वस्तु कोईनी नथी. ७७१ अज्ञानने कारणे ‘आ भारे छे’ जे  
‘जे भारी छे’ जे प्रकारनी भमता राभे छे. जेटले शरीर पर भमता राभवी जेअ अज्ञान-  
मूलक अने परिग्रहइय होवाने कारणे कर्मबंधनुं कारण छे. जेवुं समजने विवेकीजन  
पौताना शरीर पर पणु स्नेह राभता नथी, तो पणी जीजनने देह पर केम स्नेह करे ?  
जेअ विचारीने मनमां उत्पन्न थयेला रागादिने, “जे भारी नथी” के “हुं तेना नथी” जेवी  
सावनाथी दूर करीने, मुनि संयमधरथी जहार नीकणेला मनने पाछुं संयमधरमां लावे. (४)

छाया—आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् काम क्रान्तमेव दुःखम् ॥

छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागम्, एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥  
स्त्रीपरसे मोह हटानेका उपाय कहते हैं—

सान्त्वयार्थः—आयावयाही=शरीरको तपस्यासे सूखा डालो, सोगमल्लं=सुकुमारता-अमीरीको चय=त्यागो, कामे=विषयकी इच्छाओंको कमाही=काबूमें करो-रोको, (ऐसा करनेसे) खु=निश्चय करके दुःख=दुःख कमियं=दूर होगा, दोसं=द्वेषको छिंदाहि=छेदो-नष्ट करो, रागं=रागको विणएज्ज=हटाओ-दूर करो; एवं=इस प्रकार करनेसे (तुम) संपराए=संसारमें सुखी=सुखी होहिसि=होवोगे ॥५॥

टीका—हे शिष्य ! त्वं श्रामण्ययोगाद्बहिर्निर्गतं चित्तं प्रतिरोद्धुम् आतापय=शीतोष्णादिसहनो-त्कुटुकासनाद्यवलम्बना-ऽनशनदिदुष्करतदोविधानैस्तनुं तापय, सौकुमार्यं=शरीरसुकुमारतां त्यज=परिहर, यद्वा, आतापयेतिपदेन बोधितमेवार्थं विशदयति-सौकुमार्यं त्यजेति शरीरसुखसाधने दत्तचित्तो मा भव, शीतवातादिपरीषहसहनयोग्यतां सम्पादयेति भावार्थः । कम्यन्त इति कामाः=शब्दादिविषयास्तान् क्राम=अतिक्राम-सन्त्यजेत्यर्थः । कामातिक्रमणे सति तु दुःखं क्रान्तमेव गतमेव नष्टमेवेत्यर्थः । कामा एव हि दुःख-समुदायनिदानम् ।

पूर्व गाथामें, उत्पन्न हुए रागका परित्याग करना कहा किन्तु रागका त्याग तप आदि बाह्य क्रियाओंके बिना नहीं हो सकता । इसलिए अब उनकी प्ररूपणा करते हैं—‘आयावयाही’ इत्यादि,

हे शिष्य ! तपस्या कर—आतापना ले, सुकुमारताका त्याग कर, इन्द्रियों के विषयोंमें राग न कर, रागके त्यागसे दुःखोंका नाश होही जाता है । तूं द्वेषका लेशन रहने दे, और रागको छोड़ दे, तो तू संसारमें सुखी अथवा परीषह उपसर्गोंके युद्धमें विजयी होगा । तात्पर्य—हे शिष्य ! श्रामण्ययोग (संयमरूप घर) से बाहर मन निकल जाय तो शीत उष्ण आदि सह कर और उत्कुटुकासन आदिका आश्रय लेकर, तथा अनशन आदि तप करके शरीरको सुखा डाल, शरीरकी कोमलताका त्याग कर, अर्थात् अपने शरीरको शीत-आतप प्रभृति परीषह सहने योग्य बना ले,

पूर्व गाथां, उत्पन्न भवेत्त्वा रागो परित्याग करवानुं कर्तुं, किन्तु रागो त्याग तप आदि बाह्य क्रियाओं बिना थर्ष शकतो नथी. तेत्त्वा माटे अनी प्ररूपणा करे छे. आयावयाही० र्थ्यादि.

हे शिष्य ! तपस्या कर—आतापना ले, सुकुमारतानो त्याग कर र्धद्वियोना विषयोमां राग न कर, रागना त्यागथी दुःखोनो नाश थर्ष न् न्थ छे. तुं द्वेषनो अंश पणु रडेवा न हे. अने रागने छोडी हे, तेथी तुं संसारमां सुधी अथवा परिश्रु उपसर्गों साथेना युद्धमां विजयी थर्षश. तात्पर्यं अे छे के-हे शिष्य ! श्रामण्ययोग (संयमरूपी घर) थो भडार मन नीकणी न्थ तो टाढ-ताप आदि परीषड अने उत्कुटुक आसन आदिनो आश्रय लधने, तथा अनशन आदि तप करीने शरीरने सुखी नाथ, शरीरनी कोमलतानो त्याग कर, अर्थात् पोताना शरीरने टाढ-ताप आदि परीषड सडेवाने योग्य बनावी वे. शारीरिक

ननु 'यथा बुभुक्षापिपासादीनामशनपानादिभिरेव निवृत्तिस्तद्वत्कामानामुपभोगेन भविष्यति ?

मैत्रम्, हे शिष्य ! विषयवासनेव तावत्सकलाऽनर्थमूलम्, विशेषतश्चारित्र्यमुच्छेद्यन्ती रागद्वेषौ दृढीकुरुते । यथा विदेशं गतस्य कस्यचित् प्रेयसो जीवितस्यापि श्रुतायां मरण-वार्त्तायां जना रुदन्ति न तथा तस्मिन्मृतेऽप्यश्रुतायां तदीयमरणप्रवृत्तौ, तस्माच्चेतो-विकृतिरेव मुख्यतः सुखदुःखबन्धहेतुः, विषयवासनायाः समुच्छेदमन्तरेण पुनः पुनरष्टवि-धानां कर्मणामङ्कुरणं न शक्यते प्रतिरोद्धुं, तेषां विषयवासना मूलकत्वात् । उक्तञ्च—

शारीरिक सुखोंकी सामग्रीमें मन न लगा । जिनकी कामना की जाती है, उन्हें काम कहते हैं, उन कामों (शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियविषयों) की अपेक्षा न रख । ऐसा करनेसे दुःखोंका अस्तित्व रह नहीं सकता, उनका नाश ही समझ क्योंकि काम ही दुःखोंका कारण है।

शंका—हे गुरुमहाराज ! जैसे भोजन करनेसे भूख शान्त हो जाती है, और पानी पीनेसे प्यास बुझती है, वैसेही विषयोंका सेवन करनेसे विषयसेवनको इच्छा भी शान्त हो जायगी तो फिर आतापना आदि बाह्य तप क्यों करना चाहिए ?

उत्तर—हे शिष्य! ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि विषयोंकी वासना (इच्छा) ही सब अनर्थोंकी जड़ है, और चरित्ररूपी वृक्षकी जड़को उखाड़नेवाली है । यह रागद्वेषको दृढ़ करती है । परदेश गया हुआ कोई इष्टमित्र जीवित हो परन्तु उसकी मृत्युका समाचार मित्रे तो सम्बन्धी लोग रोने लगते हैं, और यदि वह मर जाय किन्तु मरनेका समाचार न मिले तो कोई भी नहीं रोता । इससे ज्ञात होता है कि चित्तका विकार ही सुख-दुःखका मुख्य कारण है ।

इसलिए जब-तक मनमें विषयवासनाका समूल त्याग नहीं होता तब तक आठों कर्मोंकी

सुषोनी सामग्रीमां मन न लगाउ. जेनी कामना करवामां आवे छे तेने काम कडे छे. जे कामो (शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषयो) नी अपेक्षा न राख. जेम करवाथी दुःषोनुं अस्तित्व रही शक्ये नहि, जेनो नाश ज समझ, केमके काम ज दुःषनुं कारण छे.

शंका—हे गुरु महाराज ! जेम भोजन करवाथी भूष शान्त थई जय छे. जने पाणी पीवाथी तरस छीपे छे, तेमज विषयोनुं सेवन करवाथी विषय सेवननी इच्छा शान्त थई जय, तो पछी आतापना आदि बाह्य तप करवानी शी जर ?

उत्तर—हे शिष्य ! जेनी शंका करवी उचित नथी, कारण के विषयोनी वासना (इच्छा) ज जधा अनर्थोनुं भूष छे. जने चरित्ररूपी वृक्षना भूषने उभाउनारी छे. ते रागद्वेषने दृढ करे छे. परदेश गयेथी कोई इष्टमित्र जवतो जाय परन्तु तेना मृत्युना समाचार भये तो सगां-संजंधीजो सेवा लागे छे. जने जे ते मरी जय पण मरवना समाचार न भये तो कोई पण रेतुं नथी; जेथी समजय छे के चित्तना विकारज सुख-दुःषनुं मुख्य कारण छे.

जे कारणथी जयांसुधी मनमांथी विषयवासनानो समूजो त्याग नथी थतो त्यांसुधी आठे कर्मोनी उत्पत्तिने रोकै शकती नथी कारण के तेनुं भूष विषयवासना छे. कछुं पण छेके—

“विचारितमलं शास्त्रं, चिरमुग्द्राहितं मिथः ।

सन्यक्तवासनान्मौनाद्, ऋते नास्त्युत्तमं पदम् ॥” इति ।

यथा पवनपथे पतत्रिणः स्वच्छन्दं विहरन्ति तथाऽनुपमाऽलौकिकाऽऽनन्दमयमोक्ष-  
मार्गसंचारिणः संयमिनः प्रतिबन्धरहितं विहरन्ति, परन्तु जालबद्धा विहङ्गमा उत्पतनयत्न-  
वन्तोऽपि यथा निबन्धविहाराय न प्रभवन्ति, तद्वद् विषयसेवनाऽऽशालक्षणविषयवासना-  
कलितचेतसो मुनयोऽनुपलभ्य मोक्षमार्गमप्रतिबन्धविचरणवञ्चिता भवन्तीति शिष्य !  
जानीहि तावद् विषयाशां दुस्तरमहानदीसमानाम् । उक्तञ्च—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,  
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।

मोहाऽऽवर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,

तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ १ ॥” इति

उत्पत्ति नहीं रुक सकती, क्योंकि उनका मूल, विषय-वासना है । कहा भी है—

“भले ही कोई कितनेही शास्त्रोंका मनन करले, या दूसरोंको सिखलादे, पर जब तक  
वासनाका परित्याग करके समिति-गुप्ति-आदिरूप संयमकी आराधना नहीं कर लेता तब तक क्षोम  
प्राप्त नहीं कर सकता” ॥१॥

जैसे-पक्षी आकाशमें स्वच्छन्द विहार करते हैं, उसीप्रकार अनुपम अलौकिक आनन्दमय  
मोक्षमार्गमें विहार करनेवाले संयमी भी अप्रतिबन्धविहारी होते हैं । किन्तु जिस प्रकार जालमें  
फँसे हुए पक्षी उड़नेका यत्न करते हैं पर उड़ नहीं सकते, उसी-प्रकार विषयसेवनेकी आशारूप  
वासनासे मुनि मोक्षमार्गको न पाकर अप्रतिबन्ध विहारसे वंचित रहते हैं । हे शिष्य ! इस  
विषय-वासनाको ऐसी विशाल नदी समझ कि जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । कहा भी है ।

“आशा’ नदीके समान है, इसमें मनोरथरूपी जल भरा हुआ है; तृष्णाकी तरंगे छलांगे  
मार रही है, रागरूपी ग्राह इसमें निवास करते हैं, नाना प्रकारके सोच-विचार ही इसमें पक्षी

“बले डोई गमे तेटलां शास्त्रोतुं मनन करी दे, अथवा जालज्योने शीजवे. परन्तु  
ज्यांसुधी वासनाने त्याग करीने समिति गुप्ति आदिरूप संयमनी आराधना करी देते  
नथी, त्यांसुधी मोक्ष प्राप्त करी शकतो नथी,” (१)

जैसे पक्षी आकाशमां स्वच्छन्द विहार करे छे, तेम अनुपम अलौकिक आनन्दमय  
मोक्षमार्गमां विहार करनारा संयमी पक्षु अप्रतिबन्ध विहारी होय छे. परन्तु जेथी रीते  
जालमां इसायेला पक्षीज्यो उडवानो यत्न करे छे. पक्षु उडी शकतां नथी, तेवी रीते विषयना  
सेवाननी आशाऽप वासनानी वासित अंतःकरणवाजा मुनिये मोक्षमार्गने न पाभतां अ-  
प्रतिबन्ध विहारथी वंचित रहे छे, हे शिष्य ! आ विषयवासनाने जेवी विशाल नदी  
समज के जेने पार पाभवे अत्यन्त कठिण छे. कहुं छे के—

“आशा नदीना जेवी छे, तेमा मनोरथऽपी जण लरेहुं छे. तृष्णाऽपी तरंगो उछणी

अपरं चाऽऽकर्णय—

“विषयाशमहापाशाद् , यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।

स एव कल्पते मुक्त्यै नान्य' षट्शस्त्रवेद्यपि ॥ १ ॥ ” इति.

हे शिष्य ! एवं विषयभोगस्पृहाऽपि महतेऽनर्थाय कल्पते, किं पुनस्तदुपसेवनं, तदेवमाकलय तावत्-सुखाशया दीपकोपगमनं पतङ्गानाम् , दारुधिया ग्राह-ग्रहण पुरस्सरं नदीतरणं मनुष्याणाम् । किञ्च बुभुक्षापिपासादिदृष्टान्तस्यात्र वैषम्यं विद्यते, नहि कामा उपभोगेन शाम्यन्ति प्रत्युताभ्यासवशादतितरां वृद्धिमेवोपगच्छन्ति, यदुक्तमन्यत्रापि—

“ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥ १ ॥ ” इति,

हैं, यह नदी धीरता-रूपी वृक्षको विध्वंस करनेवाली है, चिन्तारूपी इसका तट है, इसका पार करना बहुत कठिन है, जो मुनीश्वर इस नदीको पार कर लेते हैं वे ही सुखी होते हैं ॥१॥

और सुनों—

“विषयोंका आशापाश दुस्त्याज्य है । जो इस पाश से मुक्त हो जाते हैं वे ही मोक्ष-मार्गके अधिकारी होते हैं, अन्य नहीं; चाहे वह सभी शास्त्रोंके पारंगत क्यों न हो ॥१॥”

हे शिष्य ? इसप्रकार विषय भोगनेकी इच्छा भी महान् अनर्थको उत्पन्न करती है, तो विषयोंके सेवनके विषयमें तो कहना ही क्या है ! बस तू यही समझ ले जैसे सुख पानेकी इच्छासे पतंगोंका दीपकमें गिरना है, अथवा कोई भोला मनुष्य लकड़ी समझकर ग्राहको पकड़ लेवे और उसीका सहारा लेकर नदी पार करना चाहे तो वह कभी सफलमनोरथ नहीं होगा वरन् उसे प्राण त्यागने पड़ेंगे, इसी प्रकार विषय भोगनेसे विषयोंकी वासना मिट जायगी, यह विचारना ठीक नहीं है ।

भूख-प्यासका दृष्टान्त भी यहाँ मेल नहीं खाता, क्योंकि विषय-सेवनसे काम शान्त नहीं

रहतां छे, रागऽपी ग्राह्येभां निवास करे छे, नाना प्रकारना विचारो तेमा पक्षीऽप छे, अं धीरताऽपी वृक्षेना ध्वंस करवावाणी छे. चिन्ता अेना तट छे. अे नदीने पार करवी अत्यंत कठणु छे. अे मुनीश्वर अे नदीने पार करे छे ते अ सुभी थाय छे,” (१) अने वणी श्रवणु करे।—

विषयेना आशापाश दुस्त्याज्य छे अेअो अे पाशथी मुक्त थर्ध जाय छे तेअो अ मोक्षमार्गना अधिकारी अने छे-भीन नहि, पक्षी लडे तेअो अथां शास्त्रेना पारंगत केम न होय ?” (१)

हे शिष्य ! अे रीते विषय भोगववानी इच्छा अ महान् अनर्थने उत्पन्न करे छे. तो विषयेना सेवननी आमतमां तो कडेवुं शुं ? अस, तुं समअ दे के-अेम सुअ याम वानी इच्छाथी पतंगो दीपकमां होमाय छे, अथवा केधं लोणो माणस लाकडुं समअने ग्राह ( मगर ) ने पकडी ले अने तेने आधारे नदी पार करवा इच्छे तो कदापि तेना मनो-रथ सङ्ग न थाय परन्तु तेने प्राणु त्यजवानो अ वषत आवे, तेम “ विषय भोगववथी विषयेनी वासना मठी अशे. ” अेम विचारुं अे अराअर नथी.

લોકેऽપિ ચ દૃશ્યતે-યથા યથા વહ્નાવિન્ધનાનિ પ્રક્ષિપ્યન્તે તથા તથાઽસૌ પ્રાવલ્ય-મધિગચ્છતિ । અન્યચ્ચ દદ્વુરોગપ્રશમનાભિલાષિણા યથા યથા તદીયકણ્ઠ્યનાઽઽદરઃ ક્રિયતે, તથા તથા દદ્વુરોગો વર્ધમાન एवाऽनुभूयते न तु जातु तदुपशमो लक्ष्यते कुत्राऽपि, तद्वद् विषयसेवनतो न विषयतृष्णोपशमः ।

અપરં ચાત્ર વૈષમ્યં, તથાહિ-વિષયસેવનેચ્છોપશમં પ્રતિ વિષયસેવનસ્ય, બુભુક્ષાધુ-પશમં પ્રતિ ભોજનાદેરિવ કારણત્વમક્કીકૃત્ય યત્ તદુપાદેયતા ત્વયોપપાદ્યતે તન્ન મનો-રમમ્, અન્વયવ્યતિરેકૌ હિ સર્વસંમતૌ કાર્યકારણભાવનિયામકૌ, તત્રાઽન્વયઃ-‘તત્સત્ત્વે તત્સત્ત્વારૂપઃ’ વ્યતિરેકસ્તુ-‘તદભાવે તદભાવરૂપઃ’ । યથા સર્વ-વિરતિસત્ત્વે સાધુત્વસત્તા,

હોતે, બલ્કિ અધિક-અધિક બઢતે હૈં । કહા મી હૈ-“કામોંકા સેવન કરનેસે કામ કદાપિ શાન્ત નહીં હોતે, જૈસે ઘીકે ઢાલનેસે અગ્નિ શાન્ત નહીં હોતી વરન્ બઢતી હી જાતી હૈ ॥૧૧॥”

તથા લોકમેં મી દેસ્લા જાતા હૈ કિ-અગ્નિમેં જ્યો-જ્યો ઇન્ધન ઢાલા જાતા હૈ, ત્યોં-ત્યોં વહ અધિક પ્રબલ હોતી જાતી હૈ, બુઝતી નહીં હૈ । અથવા દાદકો ખુજલાનેસે દાદ રોગ મિટતા નહી કિન્તુ બઢતા હી જાતા હૈ ॥

ઉક્ત દષ્ટાન્તમેં ઔર મી વિષમતા હૈ સો કહતે હૈ-જૈસે બુભુક્ષા ( મૂલ ) આદિકો શાન્ત કરનેમેં ભોજન આદિ કારણ હૈ, ઇસી પ્રકાર વિષય- સેવનકી ઇચ્છાકો શાન્ત કરનેમેં વિષયોંકા સેવન કારણ હૈ, એસા માનકર તુમ વિષય-સેવનકો ઉપાદેય કહતે હો સો ઠીક નહીં હૈ । યહ સબ માનતે હૈ કિ અન્વય-વ્યતિરેકસે કાર્ય-કારણભાવકા નિશ્ચય હોતા હૈ, કારણકે હોને પર હી કાર્યકા હોના અન્વય કહલાતા હૈ, ઔર કારણકે અભાવમેં કાર્યકા ન હોના વ્યતિરેક કહલાતા હૈ । જૈસે સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્રકે હોને પર હી સાધુતા હોતી હૈ ઔર સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્રકે અભાવમેં સાધુતા નહીં રહતો । ઇસ અન્વયવ્યતિરેકસે જ્ઞાત હોતા હૈ કિ વિરતિ સાધુત્વકા કારણ હૈ ।

ભૂખ-તરસનું દષ્ટાંત પણ અહીં બંધ બેસતું નથી, કારણ કે વિષય-સેવનથી કામ શાન્ત થતો નથી, પરંતુ વધારે ને વધારે વધે છે, કહ્યું છે કે- “કામોનું સેવન કરવાથી કામ કઢાપિ શાન્ત થતો નથી, જેમ ધી નાખવાથી અગ્નિ શાન્ત થતો નથી. પરંતુ વધતો જાય છે.” (૧) તેમજ-જગતમાં પણ જેવામાં આવે છે કે-અગ્નિમાં જેમ-જેમ ઇંધન નાખવામાં આવે છે, તેમ-તેમ તે વધારે પ્રબળ થતો જાય છે, એવલવાતો નથી. અથવા દાહરને ખજવાળવાથી દાહર મટતી નથી પણ વધતી જાય છે.

ઉક્ત દષ્ટાંતમાં બીજી પણ વિષમતા છે તે કહે છે- જેમ ભૂખ આદિને શાન્ત કરવામાં ભોજન આદિ કારણ છે, તેમ વિષય-સેવનનો ઇચ્છાને શાન્ત કરવામાં વિષયોનું સેવન કારણ છે, જેમ માનીને તમે વિષય-સેવનને ઉપાદેય કહો છો તે ખરાખર નથી, સૌ એમ તો માને છે કે-અન્વય-વ્યતિરેકથી કાર્ય કારણભાવનો નિશ્ચય થાય છે. કારણ હોવાથી જ કાર્યનું ન બનવું અન્વય કહેવાય છે અને કારણના અભાવમાં કાર્યનું ન બનવું એ વ્યતિરેક કહેવાય છે, જેમ સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્ર હોવાથી જ સાધુતા હોય છે. અને સર્વવિરતિરૂપ ચારિત્રના અભાવમાં સાધુતા રહેતી નથી. આ અન્વય વ્યતિરેકથી સમજાય છે કે વિરતિ સાધુત્વનું કારણ છે.



तदभावे च साधुसत्ताया अभाव इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां साधुत्वकारणं सर्वविरतिचारित्र-  
मिति गम्यते ।

अथ च-तात्कालिकमेव बुभुक्षाद्युपशमं प्रति भोजनादेरन्वयव्यतिरेकतः कारणता  
विद्यते, अतस्तादृशबुभुक्षाद्युपशमनकामनयैव भोजनाद्युपादीयते, अत्र तु यावज्जीवनं विष-  
यसेवनेच्छाप्रशमः साधुजनाऽभिलाषविषय इति तादृशप्रशममुद्दिश्य प्रवर्त्तमानानां मुनीनां  
विषयसेवनं कदापि नोपादेयम्, विषयसेवनसमये हि तदीयवासना रागमनुवर्द्धयन्ती-  
न्द्रियाणि च सबलयन्ती विविधाशुभभावनामुद्भावयति-‘अयमुपभोगो न जातु नश्यतु,  
उत्तरोत्तरं चानुवर्द्धताम्, न चैनं प्रतिबध्नन्तु केऽपि विघ्नाः’ इत्यादि । एवं च विषय-  
सेवनेन नैव तदभिलाषोपशमः प्रत्युत तद्विपरीतं प्रतिक्षणं वर्द्धमान एव तदभिलाषः पाश-  
बद्धमिव पुरुषं पुरुषार्थसाधनाक्षमं कुरुते, तस्मात् कार्यकारणभावनियामकाऽन्वयव्यतिरेका-  
भावेन यावज्जीवनं विषयसेवनतृष्णाप्रशमं प्रति विषयसेवनस्य कारणताऽनुपपत्त्या तादृ-  
शोपशमाऽभिलाषवतां संयतानामनुपादेयत्वं सिद्धम् ।

जब भोजन किया जाता है तो क्षुधाकी तात्कालिक शान्ति हो जाती है, विना भोजन  
किये नहीं होती, इसलिए अन्वय-व्यतिरेकद्वारा भोजन तात्कालिक क्षुधा निवृत्तिके प्रति कारण  
होता है । इसी कारणसे क्षुधाआदि शान्त करनेके लिए भोजन आदि किया जाता है । साधु  
जीवनपर्यन्त विषय-सेवनकी अभिलाषाकी शान्तिकी इच्छा रखते हैं । इस शान्तिके लिए प्रवृत्ति कर-  
नेवाले मुनियोंको कदापि विषयसेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषयवासना, विषयसेवनके  
समय राग-भावकी वृद्धि करती है और इन्द्रियोंको सबल बनाकर नाना प्रकारकी दुर्भावनाएँ उ-  
त्पन्न करती है कि-‘यह भोग कभी नष्ट न हो जाय, उत्तरोत्तर बढ़ता जाय, इसके भोगनेमें कोई  
विघ्न न आजावे’ इत्यादि । अत एव विषयसेवन करनेसे विषयकी अभिलाषा शान्त नहीं होती,  
बल्कि प्रतिक्षण अधिक-अधिक बढ़ती जाती है । यहां तक कि यह विषयलालसा पुरुषको  
इतना निकम्मा बना देती है कि वह पुरुषार्थ-साधनमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है, जैसे फन्देमें  
फँसा हुआ पुरुष कुलभो पुरुषार्थ नहीं कर सकता । इसलिए यहाँ कार्य-कारणभावका निश्चय

ज्यादे लोअन करवाभां आवे छे त्यादे क्षुधानी तात्कालिक शान्ति थर्ध जय छे, लोअन कर्या विना  
शान्ति थती नथी; तेथी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा लोअन तात्कालिक क्षुधानिवृत्तिने प्रति कारण  
अने छे आ कारणथी क्षुधा पिपासा आदि शान्त करवाने माटे लोअन आदि करवाभां आवे छे,  
साधु जीवनपर्यन्त विषय-सेवननी अभिलाषानी शान्तिनी इच्छा राखे छे. आ शान्तिने माटे  
प्रवृत्ति करनारा मुनियोअे कदापि विषयसेवन करवुंन जेधजे कारण के विषयवासना विषय-  
सेवनने समये राग-भावनी वृद्धि करे छे, अने इन्द्रियोने समण अनावीने जेवी नाना  
प्रकारनी दुर्भावनाओ उतपन्न करे छे के-‘आ लोअ कदापि नष्ट न थाय. उत्तरोत्तर वधते  
जय, जेने लोअववमां कांठ विघ्न न आवे, छत्यादि जेटले के विषयसेवनथी विषयनी  
अभिलाषा शान्त थती नथी, जेटके प्रतिक्षण अधिक-अधिक वधती जय छे, ते जेटले  
सुधी के जे विषयलालसा पुइंभने केवण नकामे अनावी हे छे. अने ते पुइंभार्थ-साधनमां  
सर्वथा असमर्थ अनी जय छे, के जेवी रीते इंदाभां (डिउमां) इलायेदो पुइंभ कांठ पथु  
पुइंभार्थ करी शकते नथी. तेथी करीने अही कार्य-कारणभावने निश्चय करवावनां अन्वय-

इत्थं पूर्वार्द्धेन बाह्यकामपरित्यागमुक्त्वा पश्चार्द्धेनाऽऽभ्यन्तरकामपरित्यागमाह—  
'छिदाहि०' इति, शब्दादिविषयेषु द्वेषं छिन्धि=मुञ्च, तथा रागं=कामरागं व्यपनय=दूरी-  
कुरु, एवम्=एवं कृते सति, सम्पराये=जन्ममरणरूपत्वेन नाशमये संसारेऽपीति भावः ।

यद्वा परीषहोपसर्गरूपे संग्रामे, त्वमितिशेषः; सुखी=स्वात्मिकानन्दभाग् भविष्यसीति  
गाथार्थः ॥ ५ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति—'पक्खंदे०' इत्यादि,

मूलम्-पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।

नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥६॥

छाया-प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं, धूमकेतुं दुरासदम् ।

नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥६॥

सान्त्वयार्थः—

अगंधणे=अगन्धननामक कुले=कुलमें जाया=उत्पन्न हुए ( सर्प ) जलियं=जलती हुई  
धूमकेउं=धुआंनिकालती हुई (और) दुरासयं=असह्य-नहीं सहने योग्य (ऐसी) जोइं=अग्नि  
में पक्खंदे=प्रवेश कर जाते हैं, (किन्तु) वंतयं=उगले हुए विषको भोत्तुं=भोगनेकी नेच्छंति  
=इच्छा नहीं करते । अर्थात् अगन्धन सर्प भी त्यागे हुएको फिर ग्रहणनहीं करना चाह  
ते ॥६॥

करानेवाले अन्वयव्यतिरेकका अभाव होनेसे यावज्जीवन विषय-लालसाकी शान्तिके प्रति विषयसेवन  
कारण नहीं हो सकता । अतः या वज्जीवन विषयाभिलाषाकी शान्ति चाहनेवाले मुनियोंको यह  
उपादेय नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वार्द्धमें सूत्रकार बाह्य-विषयोंका त्याग बताकर उत्तरार्द्धमें अन्तरङ्ग-विषयोंके  
त्यागका उपदेश देते हैं कि—हे शिष्य ! शब्दादि-विषयोंमें द्वेष तथा रागको दूर कर । ऐसा कर-  
नेसे तू जन्म-मरण स्वरूपवाले विनश्वर संसारमें सुखी, अथवा अनुकूल प्रतिकूल परीषह और  
उपसर्ग रूप संग्राममें विजयी होगा ॥५॥

इसी विषयको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—'पक्खंदे०' इत्यादि ।

साँप दो प्रकारके होते हैं—(१) गन्धन और (२) अगन्धन, गन्धन सर्प उन्हें कहते

व्यक्तिरेकेने। अभाव होवाथी अवनपर्यन्त विषयलालसाना शान्तिनी प्रति विषयसेवन  
कारण थध शक्तुं नथी, अट्टे अवनपर्यन्त विषयाभिलाषानी शान्तिने आहंनारा मुनियोने  
भाटे अे उपादेय नथी।

अे प्रकारे पूर्वार्धमां सूत्रकार बाह्य विषयोने त्याग अतावीने उत्तरार्धमां अंतरंग  
विषयोना त्यागने उपादेश आपे छे के-हे शिष्य ! शब्दादि-विषयोमां द्वेष तथा रागने दूर  
कर. अेभ करवाथी जन्म-मरणस्वरूपवाणां विनश्वर संसारमां सुधी, अथवा अनुकूल-  
प्रतिकूल परीषद तथा उपसर्गना संग्राममां विजयी थधश. (५)

आ विषयने दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करे छे—पक्खंदे० इत्यादि.

साँप अे प्रकारना थाय छे. (१) गंधन अने (२) अगंधन. गंधन सर्प अे कडेवाय छे

टीका-गन्धना-ऽगन्धनभेदेन भुजगा द्विविधास्तत्र गन्धनास्ते ये मन्त्रप्रयोगादिवशाद्-  
 ष्टप्रदेशे वान्तं विषं पुनश्चूषन्ति, तद्भिन्ना अगन्धनास्तत्कुलमगन्धनं तस्मिन् कुले जाताः=  
 समुत्पन्नाः सर्पा इति शेषः, ज्वलितं=प्रदीप्तं धूमकेतुं=धूमः केतुः=श्विहं यस्य तं धूमध्वजमि-  
 त्यर्थः, अत एव दुरासदम्=दुःखेन आसद्यते=धातूनामनेकार्थत्वात् सहाते संवेद्यते इति  
 वाऽर्थस्तं दुष्प्रवेशमिति यावत्, ज्योतिषम्=अग्निम् प्रस्कन्दन्ति=प्रविशन्ति, किन्त्विति-  
 शेषः, वान्तम्=उद्गर्णिं सन्त्यक्तमितियावत् विषमितिशेषः भोक्तुं नेच्छन्ति=नाभिलषन्ति  
 तिर्यञ्चः सर्पा अपि वह्निप्रवेशापेक्षया दुःसहमनुचितं च वान्ताशनमेव मन्यन्ते । तस्मात्  
 शिष्य ! प्रवचनतत्वाभिज्ञेन त्वया निःसारतया परित्यक्तस्य विषयस्य पुनः स्वीकरणं न  
 विधेयमिति भावः । मुर्धुरादिशान्तज्वलाग्निव्यवच्छेदार्थमाह-‘जलियं’ इति, अङ्गारोल्कादि-  
 व्यावृत्त्यर्थम् अग्नेर्वर्द्धिष्यमाणत्वद्योतनार्थं चाह-‘धूमकेतुं’ इति, । तीव्रतमत्वबोधनार्थं ‘दु-  
 रासयं’ इति । अग्निपर्यायो ज्योतिः शब्दः पुँल्लिङ्गः । ‘जलियं’ मित्यादिविशेषणत्रयेण  
 ‘यत्राग्नौ प्रवेशे सद्यो भस्मसाद् भवति तादृशेऽप्यगन्धनजाः सर्पाः प्रविशन्ति किन्तु  
 परित्यक्तविषमापातुं नैव वाञ्छन्ति, एवं सत्पुरुषा अपि परित्यक्तान् विषयान् मरणान्तेऽपि  
 न पुनः सेवितुमिच्छन्तीति बोध्यते, इति गाथार्थः ॥६॥

हैं जो मन्त्रादिके बलसे विवश होकर भी काटे हुए स्थानसे उगले विषको फिरसे चूस लेते हैं ।  
 अगन्धन इनसे विपरीत होते हैं । उस अगन्धन कुलमें उत्पन्न हुए साँप अगन्धन सर्प कहलाते  
 हैं । वे सर्प असह्य और जलती अग्निमें प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु त्यागे हुए विषको फिर कभी  
 नहीं चूसते ।

हे शिष्य ! जब तिर्यञ्च सर्प भी उगले हुएको निगलना नहीं चाहते तब तू तो प्रवचनमें  
 प्रवीण है अत एव निःसार समझ कर त्यागे हुए विषयोका सेवन तुझे तो भूलकर भी नहीं करना  
 चाहिए ।

अग्निके ‘ज्वलित’ आदि तीन विशेषण दिये हैं, उनका अभिप्राय यह है कि-जिस अग्निमें  
 प्रवेश करतेही तत्काल भस्म हो जावे उस प्रकारकी अग्निमें भी अगन्धन कुलके सर्प प्रवेश कर-  
 जाते हैं पर त्यागे हुए विषको कभी ग्रहण नहीं करते । इसी प्रकार कुलीन पुरुषभी त्यागे हुए

के जे मन्त्रादिना अण्थी विवश थधने उंजेला स्थानमां नांजेतुं अर तेमांथी पाछुं यूसी  
 दे छे. पणु अगंधन सर्प तेथी विपरीत प्रकारने होय छे. जे अगंधन कुणमां उत्पन्न  
 थजेला साप अगंधन सर्प कडेवाय छे. जे सर्प असह्य अने अण्ठी आगमां प्रवेश करे  
 छे परन्तु जेकवार वमनकरला अरने पाछुं यूसी देतो नथी,

हे शिष्य ! न्यारे तिर्यञ्च सर्प पणु मूकला अरने पाछुं गणी जवा धिच्छतो नथी तो  
 तुं तो प्रवचनमां प्रवीण छे. जेटेले निःसार समञ्जने त्यजेला विषयोतुं सेवन तारे तो  
 लूके यूक्ये पणु न करवुं जेधजे.

अग्निना ‘ज्वलित’ आदि त्रय विशेषणो आपेक्षां छे, तेनो हेतु जे छे के-जे अग्निमां  
 प्रवेश करतां ज तत्काल लक्ष्म थध जवाय जे प्रकारना अग्निमां पणु अगंधन कुणने सर्प  
 प्रवेश करे छे, परन्तु त्यजेला विषने ग्रहणुं करतो नथी. जे अमाणु कुलीन पुरुषो पणु

अरिष्टनेमौ भगवति प्रव्रजिते तत्कनिष्ठभ्राता रथनेमी राजीमतीं चक्रमे सा तु कामवा-  
सनाविरक्ता कदाचन सुवासितसरसपायसं भुक्त्वा कस्मिंश्चित्कटोरके समुद्रम्य ' भुज्यता'  
-मित्युक्त्वा रथनेमये दत्तवती, रथनेमिना च ' कथमिदं वान्तं क्षत्रियवंशावतंसेन मया  
भोक्ष्यते' इत्युक्ता सा प्रोवाच-'तर्हि कथमरिष्टनेमिना त्वद्भ्राता समुज्जिततया वान्ततु-  
ल्यां मामभिलष्यसि ? न च त्रपसे' इति, ततश्च तद्वचनश्रवणसञ्जातवैराग्योऽसौ प्रात्राजीत्  
अथैकदा गृहीतप्रव्रज्या सा राजीमती साध्वीभिः परिवृता रैवतकपर्वतसमवसृतं भगवन्त-

विषयोको प्राणसंकटमेंभी कभी ग्रहण नहीं करते। अर्थात् वे दुष्कर्म करके क्षणभर भी जीना नहीं  
चाहते ॥६॥

जब बाइसवें तीर्थंकर भगवान् श्रीअरिष्टनेमि प्रभुने दीक्षा ग्रहण कर ली तब उनके छोटे भाई  
रथनेमिने राजीमतीको इच्छा की, किन्तु सतीशिरोमणि राजीमती, कामकी वासनासे विरक्त हो  
चुकी थी। उसने एक रोज सुगन्धित तथा स्वादिष्ट खीर खाई और एक कटोरेमें वमन करके  
वह रथनेमिको देने लगी और बोली-लीजिये खीर स्वाइए। रथनेमि यह सुनकर आगबबूले  
(कुद्द) हो गये और बोले—'मैं क्षत्रियोंके वंशका भूषण होकर वमन की हुई खीर कैसे स्वाङ्गा ?  
राजीमतीजी कहने लगी—'अहो श्रेष्ठक्षत्रिय ! तुम वमन की हुई खीर नहीं खाते तो, अपने बड़े-  
भाई श्रीअरिष्टनेमिद्वारा वमन की हुई यानी त्यागी हुई मुझको क्यों चाहते हो ? मेरी इच्छा  
करते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? सती राजीमतीकी हृदयमें चुभनेवाली बात सुनतेही रथनेमिको  
संसारसे विरक्ति होगई। उन्होंने दीक्षा लेलि। कुछ दिनोंके बाद राजीमतीने भी दीक्षा लेली।

कोई एक समय महासतीश्रीराजीमती, बहुतसी साध्वियोंके परिवारसे परिवृत होकर रैवतक पर्वतपर  
पधारे हुए भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुको वन्दना करने गई तब मार्गमें अचानक ही पानीकी मूसलधार

त्यज्जेदा विषयेने प्राणसंकटमां पञ्च अहञ्च करता नथी अर्थात् तेज्यो दुष्कर्म करीने क्षण  
लर पञ्च लुपवा धिच्छता नथी. (६)

न्यारे आवीसमा तीर्थंकर भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुजे दीक्षा अहञ्च करी, त्यारे तेमना  
नाना लार्ध रथनेमिजे रालमतीनी धिच्छा करी, परन्तु सतीशिरोमणि रालमती कामनी  
वासनाथी विरक्त थर्ध यूकी हुती. तेजे अेक दिवस सुगन्धित अने स्वादिष्ट खीर आधी  
अने अेक वाडकांमां तेनुं वमन करीने ते रथनेमिने आपवा लागी अने ओली: "त्ये खीर  
आये !" रथनेमि अे सांभगीने कोधाविण्ट थर्ध गये अने ओत्ये 'हुं क्षत्रियेना वंशनुं  
लूषण थर्धने वमेली खीर केम आधश ?' रालमती कडेवा लागी 'अडे श्रेष्ठ-क्षत्रिय ! तमे  
वमेली खीर नथी आता, ते तमारा ओटालार्ध श्री अरिष्टनेमिजे वमेली अेटले त्यज्जेली  
अेवी अने केम आडे छे ? मारा भाटेनी धिच्छा करतां तमने शरम नथी आवती ?' हुदथने  
उंजे अेवी सती रालमतीनी वात सांभगतां अ रथनेमिने संसारथी विरक्ति आवी गध  
अेमजे दीक्षा लीधी. केटलाक दिवस पञ्च रालमतीजे पञ्च दीक्षा लीधी.

केअे अेक समये सडासतिश्री रालमती अनेक साध्वीजेना परिवारथी विंटाधने रैवतक  
पर्वत पर पधारेदा भगवान् श्रीअरिष्टनेमिप्रभुने वंदना करवा गध, त्यारे मार्गमां अचानक

मरिष्टनेमिं वन्दितुं व्रजन्ती मध्येमार्गं जलधरवृष्टबहलजलमुशलधारयाऽऽर्द्रगात्रैकाकिनी काकालीयन्यायेन तदेव गिरिकन्दरमाससाद, यत्रासौ पत्रजितो रथनेमिरपि ततः पूर्वं गत्वा स्थित आसीत्, तमनवलोक्यैव 'विविकोऽयं प्रदेशः' इति विचार्याऽऽर्द्रवस्त्राणि प्रसारयामास । तदानीं तां यथाजातां ( नग्नां ) विलोक्य भग्नाऽभ्यन्तरङ्गोऽनङ्गोपहतचित्तवृत्तिर्निवृत्तिपथविच्युतो रथनेमिः पुना रथनेमिवद्भ्रान्तभावः समपद्यत । तं भूयो जातकाममालोक्य प्रकामकमनीयाकृत्तिरसौ राजीमती पुनर्यदुक्तवती तदेवं तिसृभिर्गाथाभिः सूत्रकारोब्रूते—'धिरत्थु०' इत्यादि ।

३ २ १ ४ ५ ६  
मूलम्—धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।

७ ९ ८ १२ १० ११ १३  
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

छाया—धिगस्तु त्वां ( ते ) यशःकामिन् , यस्त्वं जीवितकारणात् ।

वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥७॥

रथनेमिके प्रति राजीमती कहती है—

सान्वयार्थः—जसोकामी=हे यशके अभिलाषी ते=तुझे धिरत्थु=धिकार हो, जो=जो तं =तू जीवियकारणा=असंयमजीवन सुखके लिए वंतं=वमन किये—त्यागे हुएको आवेउं=पीना इच्छसि=चाहता है, (इससे तो) ते=तेरा मरणं=मरजाना सेयं=अच्छा भवे=है । अर्थात्—संयम धारण करके फिर असंयममें आना अत्यन्त निन्दनीय है, और उस असंयम

वर्षा होने लगे, सारा शरीर और बल, पानीसे भिगगया । संयोगसे राजीमतीने भी उसी गुफामें प्रवेश किया जिसमें रथनेमि पहलेसे ही ठहरे हुए थे । जिस स्थानपर रथनेमि बैठे थे उधर दृष्टि न पड़नेके कारण वे दृष्टिगोचर न हुए । राजीमतीने एकान्त स्थान समझ कर भोगे कपडे फैला दिये । राजीमतीको कपड़ेरहित देख कर रथनेमिका चित्त चलित होगया । उनके मन पर काम-विकारने आक्रमण कर लिया । वे संयम मार्गसे च्युत होगये । रथकी नेमि ( पहिये ) की भाँति उनका चित्त घूमने लगा । रथनेमिको इस प्रकार कामातुर देखकर रतिसी रमणीय राजीमतीने जो कुछ कहा उसे सूत्रकार तीन गाथाओंसे कहते हैं— 'धिरत्थु०' इत्यादि ।

भूसलधार वरसाह वरसवा लाग्ये. तेनुं आ'पु' शरीर अने वस्त्रे पाणीथी पलणी गयां. स'थो'गवश रा'भती'ये अ'ण गुफां प्रवेश कर्यो के अ' गुफां रथनेमि पडेलेथी आ'नीने रद्या डता. अ' स्थान पर रथनेमि अ'का डता ते स्थणपर दृष्टि न पडवाने लीधे ते रा'भतीने दृष्टिगोचर न थया. तेथी ते अ'कान्त प्रदेश न'णीने पोताना ली'नयेला लूगडां इ'लावी दीधां. त्यारे ते रा'भतीने वस्त्ररहित नेधने रथनेमिनुं चित्त चलित थ'अं अ'भना मन पर कामविकारे आ'कम'ण क्युं. ते स'यममार्ग'थी अ'ण थ'अं गया. रथनी नेमि (पैडुं) नी पेडे तेमनु चित्त लभवा लाग्युं. रथनेमिने अ' प्रभाणु कामातुर नेधने रति अ'वी रमणीय रा'भती'ये अ' कांथं क'हुं ते वात सूत्रकार त्र'णु गाथ'यो'मां कडे छे :—धिरत्थु० इत्यादि.

की अपेक्षा संयमी अवस्थामें मृत्यु होजाना अच्छा है ॥७॥देख—

टीका—कामयते=वाञ्छति तच्छीलः कामी, यशसः=संयमस्य कीर्त्तौ कामी यशःकामी, तत्सम्बुद्धौ हे यशःकामिन् !, यद्वा अकारच्छेदाद् हे अयशःकामिन्=हे असंयमापयशोऽर्थिन् ! त्वां धिगस्तु, निन्दोऽसि त्वमित्यर्थः 'ते' इति द्वितीयार्थे षष्ठी, यद्वा 'ते' इति षष्ठ्यन्तमेव, तत्र 'पौरुष' मित्यस्य शेषः, धिगित्यनेन सम्बन्धः, ते=तव पौरुषं धिगित्यर्थः । यद्वा हे कामिन् ! ते=तव यशः=' अहो धन्योऽयं तीव्रतपःसंयमव्रतपरिपालको महान्मे'त्येवं लोकप्रतीतां कीर्त्तिम्, अथवा अयशः=मां दृष्ट्वैवं दुष्टचेष्टनरूपं पापं धिगस्त्वित्यर्थः, इति वयम्, यस्त्वं जीवितकारणात्=असंयमजीवितसुखार्थमिति भावः, वान्तं=भगवता परित्यक्तत्वाद्धान्तसदृशीं माम्, यद्वा संयमसेवित्वेन परित्यक्तस्य विषयस्यैवमभिलाषोदयाद्धान्ततुल्यं विषयम् आपातुम्=उपसर्गवशेन धात्वर्थभेदादुपभोक्तुम् इच्छसि=कामयसे, ते=तव मरणं=मृत्युः श्रेयः=प्रशस्यं श्रेष्ठं भवेत्, न पुनरित्थमनाचरणीयाऽऽचरणमिति गाथार्थः ।७।

१ २ ४ ३ ६ ५  
मूलम्—अहं च भोगरायस्स तं च सि अंधगबण्हिणो ।

९ ७ ८ १० १२ ११ १३  
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

हे यशके अभिलाषी ! तुझे धिक्कार है, जो असंयम जीवनके सुखके लिए वमन किए हुएको खाना चाहता है, इसप्रकारके जीवनसे मर जाना ही अच्छा है ।

हे यश अर्थात् संयम अथवा कीर्त्तिकी इच्छा करनेवाले ! अथवा हे असंयम और अपयशके कामी तुझे धिक्कार है, तू अत्यन्त निन्दाका पात्र है । अथवा हे कामी ! जगतमें तुम्हारी इस प्रकारकी जो कीर्त्ति फैली हुई है कि "यह रथनेमि मुनि, अत्यन्त उत्कृष्ट संयमका पालन करनेवाला महात्मा है" इसकीर्त्तिको धिक्कार है, क्योंकि तुम असंयम रूप जीवितके लिए, भगवान् श्रीअरिष्टनेमि के द्वारा त्यागी हुई मुझको, अथवा संयम पालनके लिए त्यागे हुए विषयोंको फिर चाहते हो, तुम्हें मर जाना अच्छा है किन्तु असंयमकी वांछा करना अच्छा नहीं है ॥७॥

हे यशना अभिलाषी ! तने धिक्कार छे, जे असंयम लवनना सुपने माटे वमेदाने आवा धरछे छे, जे प्रकाडना लवनथी तो मरवुं ज वधारे साइं छे. यश अर्थात् संयम अथवा कीर्त्तनी धरछा करनारा !, अथवा हे असंयम अने अपयशना कामी ! तने धिक्कार छे, तुं अत्यन्त निन्दाने पात्र छे. अथवा हे कामी ! जगतमां तारी जे प्रकाडनी जे कीर्त्ति ईलाध छे के 'आ रथनेमि मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट संयमनुं पालन करनारा महात्मा छे,' जे कीर्त्तिने धिक्कार छे, केम के तमे असंयमरूप लवितने माटे, भगवान् अरिष्टनेमिजे त्यजेदी जेवी भने, अथवा संयमपालनने माटे त्यजेला विषयेने पाछा आडे छे. तमादे मरी जवुं ज साइं छे, परन्तु असंयमनी वांछना करवी सारी नथी. (७)

छाया—अहं च भोगराजस्य, त्वं चासि अन्धकवृष्णेः ।

मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

सान्वयार्थः—अहंच=मैं (राजीमती) भोगरायस्स=भोगकुलकी हूँ, च=और तं=तुम अधगवण्हणो=अंधकवृष्णिकुलके सि=हो, कुले=ऐसे उच्च कुलमें गंधना=(दोनों) गन्धन मा =नहीं होमो=होवें। (अतः) निहुओ=निश्चल होकर संजमं=संयमको चर=पालो ।

भावार्थ—राजीमती रथनेमिसे कहती है कि हम दोनों उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, अतः उगले हुए विषको वापिस पीजानेवाले गन्धन सापोंके समान हमको नीच न होना चाहिए । ८।

टीका—‘अहं च’ इत्यादि । चद्वयं समुच्चयार्थम्, हे रथनेमे ! अहं=राजीमती भोग-राजस्य=तन्नान्ना प्रसिद्धस्य अस्मीतिशेषः, अहं भोगराजस्य पौत्रीति भावः । त्वं च अन्धकवृष्णेः=तन्नान्ना प्रसिद्धस्य असि, अन्धकवृष्णपौत्रोऽसीत्यर्थः । ततः किं ? तदाह—कुले=वंशेऽर्थान्निष्कलङ्के गन्धनौ=गन्धनकुलसम्भूतसर्पसदृशौ, ‘आवा’ मिति गम्यते; मा-भूव=नभवेव, तस्मात् निभृतः=निश्चलो विषयादिभिरक्षोभ्यः सन् संयमम्=अनश्चरसुख-साधनभूतं निरवद्यक्रियाऽनुष्ठानं चर=पालय । इति गाथार्थः ॥८॥

१ २ ७ ६ ३ ५ ४  
मूलम्—जइ तं काहिसि भावं. जा जा दिच्छसि नारिओ ।

८ १० ९ ११ १२  
बायाविद्धु व्व हडो, अट्टिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

छाया—यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।

वाताविद्ध एवं हडो, -ऽस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

सान्वयार्थः—जइ=यदि तं=तुम जा जा=जो-जो नारिओ=स्त्रीको दिच्छसि=देखोगे (उ-न-उनपर) भावं=बुरे विचार काहिसि=करोगे तो बायाविद्धुव्व=इवासे उडाये हुए हडो=हडवनस्पतिकी भांति अट्टिअप्पा=अस्थिर आत्मावाले-चंचलचित्त भविस्ससि=हो जाओगे ॥ ९ ॥

“अहं च’ इत्यादि । हे रथनेमि ! मैं ( राजीमती ) भोगराजकी पोती और उपसेनकी बेटी हूँ, और तुम अन्धकवृष्णिके पौत्र तथा समुद्रविजयके पुत्र हो, इसलिए दोनोंही निर्मल कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं । हमें गन्धन कुलमें उत्पन्न होने वाले सापोंके समान नहीं होना चाहिये । अतः विषय आदिको त्याग करके अनन्त सुखके कारणभूत निरतिचार संयमका पालन करो ॥८॥

‘जइ तं’ इत्यादि । यदि तुम जिस जिस स्त्रीको देखोगे उन सब पर विकारदृष्टि डालोगे

अहं च इत्यादि. हे रथनेमि । तु (राजीमती) भोगराजकी पौत्री अने उपसेनकी पुत्री हूँ, अने तमे अन्धकवृष्णिके पौत्र तथा समुद्रविजयका पुत्र हो, अने दोनो आपणो जेठ निर्मल कुलोंमा उत्पन्न थयां छीअने. आपणो गंधन कुलमा उत्पन्न थयांछीअने सापोंनां जेवां न थपुं जेठअने. माटे विषय आदिने त्यागने अनन्त सुखका कारणभूत निरतिचार संयमको पालन करौ. (८) जइ तं ० इत्यादि, जे तमे जे जे स्त्रीअने जेशी ते अंधी पर विकारदृष्टि नाथशे ते।

टीका—‘जइ तं ०’ इत्यादि । त्वं या या नारीः=स्त्रीः द्रक्ष्यसि=अवलोकिष्यसे यत्तदोनि-  
त्यसम्बन्धात् ‘तासु तासु’ यदि भावं=कलुषिताध्यवसायतया दुष्टां दृष्टिं करिष्यसि तदा  
वाताचिद्धः=वातेन=वायुना आविद्धः=प्रेरितःहडः=निर्मूलो वनस्पतिविशेष इव, शैवालमिव  
वा अस्थितात्मा=अस्थितः=अस्थिरः=आत्मा यस्य स तथोक्तो भविष्यसि, जन्म-जरा-म-  
रणजन्य-जगदटवीपर्यटनदुःखपरस्परा-निराकरणकारणेभ्यः संयमगुणेभ्यः प्रस्खल्याऽपार-  
संसारपारावारे विषयवासनावातविकम्पितचेताः शान्तिं न गमिष्यसीति भावः, इति गाथा-  
र्थः ॥ ९ ॥

एवं राजीमत्या प्रतिबोधितो रथनेमिर्धर्मनिष्ठोऽभवदित्याह—‘तीसे सो ०’ इत्यादि ।

मूलम्—<sup>२</sup>तीसे <sup>१</sup>सो <sup>५</sup>वयणं <sup>६</sup>सोच्चा. <sup>३</sup>संजयाइ <sup>४</sup>सुभासियं ।

<sup>१०</sup>अंकुसेण <sup>९</sup>जहा <sup>११</sup>नागो. <sup>५</sup>धम्मे <sup>८</sup>संपडिवाइओ ॥१०॥

छाया—तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम् ।

अंकुशेन तथा नागो, धर्मे सम्प्रतिपातितः ॥ १० ॥

सान्वयार्थः—सो=वह ( रथनेमि ) तीसे=उस संजयाइ=संयमवती ( राजीमती )  
के सुभासियं=सुभाषित वयणं=वचनको सोच्चा=सुनकर धम्मे=धर्ममें संपडिवाइओ=आ-  
गया—प्राप्त होगया, जहा—जैसे अंकुसेण=अंकुशसे नागो=हाथी मार्गमें आ जाता है ॥१०॥

टीका—सः=रथनेमिः, संयतायाः=संयमवत्याः तस्याः=राजीमत्याः, सुभाषितमि-  
ति वैराग्यसारगर्भितत्वात् वचनं=सदुपदेशं, श्रुत्वा=समाकर्ण्य ‘स्थितः’ इति शेषः अन्यथा

तो आंधीसे उड़ाये हुए हड नामकी वनस्पति अथवा शेवालकी तरह अस्थिर हो जाओगे; अर्थात् जन्म  
मरणसे होनेवाले जगत् रूपी अटवीमें भ्रमण करनेके कष्टोंको दूर करनेवाले संयमगुणोंसे च्युत होनेके  
कारण संसाररूप अपार समुद्रमें विषयवासनारूपीहवासे चंचलवित्त होकर भटकते फिरोगे ॥१॥

राजीमतीजीके द्वारा प्रतिबोध पाकर रथनेमि संयममें स्थिर होगया । इसी विषयको सूत्र-  
कार प्रतिपादन करते हैं—‘तीसे ०’ इत्यादि ।

जैसे अंकुशसे हाथी ठीक मार्ग पर आजाता है वैसे ही रथनेमि संयमवती राजीमतीके  
वैराग्य-परिपूर्ण वचन ( सदुपदेश ) सुनकर जिनेंद्र भगवानके प्रवचन-रूप धर्म-मार्गमें स्थित

आंधीथी उडेली हड नामकी वनस्पति अथवा शेवालकी पेड़ अस्थिर थई जशी. अर्थात् जन्म-  
मरणथी उत्पन्न थता जगतइपी अटवीमां भ्रमण करवानां कष्टोंने हूर करनारा संयमगुणुथी  
अष्ट थवाने लीधे संसारइप अपार समुद्रमां विषयवासनाइपी हवाथी अंयण अत्तवाणा  
थधने भ्रमण करता इरशी. (८)

राजीमतीथी अवेो प्रतिबोध पाभीने रथनेमि संयममां स्थिर थई गया. अे विषयनु  
प्रतिपादन सूत्रकार करे छे—तीसे ० इत्यादि.

अेम अंकुशथी हाथी पराअर मार्ग पर आवी जय छे, तेमअ रथनेमि संयमवती  
राजीमतीनां वैराग्यपूणु वचन (सदुपदेश) सांभलीने जिनेंद्र भगवानना प्रवचनइप धर्म-  
मार्गमां स्थिर अनी गया. अर्थात् अेम भडावतना अंकुशथी भटानभत्त हाथीने भड यूणु थई



‘सम्प्रतिपातितः’ इत्यनेन समानकर्तृकत्वाऽभावात्कत्वाप्रत्ययोत्पत्तिरसङ्गता स्यात् , यद्वा ‘सम्प्रतिपातित’ इत्यस्य णिजर्थाऽविवक्षया ‘सम्प्रतिपन्नः’ इत्यर्थः कर्त्तव्यः । अङ्कुशेन =हस्तिचालनार्थं-लौहमयवक्राग्रास्त्रेण नागो यथा=हस्तीव,धर्म=जिनोक्तप्रवचनरूपे, सम्प्रतिपातितः=संस्थापितः संस्थित इति वा, यथाऽङ्कुशेन प्रशमितमदो मतङ्गजोऽनुकूलं मार्गमवलम्बते तथा राजीमतीवचनेन दूरीकृतमदनमदो रथनेमिरपि जिनोक्तधर्ममार्गमवलम्बितवानिति भावः ॥१०॥

सम्प्रत्युपसंहरन्नाह-‘एवं करंति०’ इत्यादि ।

मूलम्-एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ॥

विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिबेमि॥

छाया-एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ॥

विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यो, यथा स पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

सान्त्वयार्थः-संबुद्धा=सत् असत् के विवेकी पंडिया=विषयदोषोंके ज्ञाता पवियक्खणा=आगमके मर्मज्ञ पुरुष एवं=ऐसा ही करंति=करते हैं, (वे) भोगेसु=भोगोंसे विणियट्टंति=निवृत्त होजाते हैं; जहा=जैसे से=वह पुरिसुत्तमो=पुरुषोमें श्रेष्ठ ( रथनेमि विषयोंसे निवृत्त हो गया ) त्तिबेमि=( पूर्ववत् ) भावार्थ-जो विवेकी होते हैं वे विषयोंके दोषोंको जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, जैसे रथनेमिने परित्याग कर दिया था ॥ ११ ॥

॥ इति द्वितीयाध्ययनस्य सान्त्वयार्थः ॥ २ ॥

टीका-सम्=सम्यग् बुद्धाः=बोधं प्राप्ताः हेयोपादेयज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः, सम्बुद्धत्वमेव विशेषयति-पण्डिताः प्रविचक्षणाः’ इति विशेषणाभ्याम् । तत्र पण्डिताः=विषयप्रवृ-

हो गये, अर्थात् जैसे महावतके अंकुशसे मदोन्मत्त हाथीका मद चकनाचूर हो जाता है और वह सन्मार्ग पर आजाता है, उसी प्रकार राजीमतो-रूपी महावतके वचन-रूपी अंकुशसे रथनेमि-रूपी हाथीका विषयवासना-रूपी मद दूर होगया और वे जिनोक्त धर्ममार्गमें प्रवृत्त होगये ॥१०॥

उपसंहार—एवं ‘करंति०’ इत्यादि ।

हेय और उपादेय वस्तुओंको सम्यक् प्रकार समझनेवाले संबुद्ध, विषयोंमें प्रवृत्तिके दोषोंके ज्ञाता, आगमके रहस्यको जाननेवाले अथवा चारित्रिके फलको प्राप्त करनेवाले प्रविचक्षण

नाथ छे, अने ते राहु पर आवी नाथ छे, तेम राहुमतीइपी मडावतनां वचनइपी अंकुश-थी रथनेमिइपी हाथीना विषयवासनाइपी मह दूर थछ गये। अने ते जिनोक्त धर्ममार्गमां प्रवृत्त थछ गया. (१०)

उपसंहार-एवं करंति० इत्यादि.

हेय अने उपादेय वस्तुओंने सम्यक् प्रकारे समझनास संबुद्ध, विषयोंमां प्रवृत्तिना दोषोंना ज्ञाता, आगमना रहस्यने जाननास अथवा चारित्रिना इष्टने प्राप्त करनास प्रवि-

त्तिदोषज्ञाः, प्रविचक्षणाः=विचक्षणश्रेष्ठाः आगममर्मवेदिनः प्राप्तचरणपरिणामा वेत्यर्थः, एवं =तथा कुर्वन्ति समाचरन्ति । किं समाचरन्तीत्याह-विणियदृति भोगेषु' इति, भोगेभ्यः =विषयेभ्यः विनिवर्तन्ते=उपरता भवन्ति, यथा सः =रथनेमिः, पुरुषोत्तमः पुरुषेषु श्रेष्ठः ।

ननु कथमसौ पुरुषोत्तमो यो गृहीतसंयमो भ्रातृजायामचीकमत ? उच्यते-विचित्रा खलु कर्मणां गतिः, गृहीतसंयमस्यापि रथनेमेश्चेतसि विषयवासना मोहनीयकर्मोद्यवशादुद्बुद्धा, परन्तु वैराग्यवारिधाराधरेण राजीमतीवचनेन यदा विषयवलयदावानलजनिततापकवलितो म्लानतामापन्नो रथनेमिचेतस्तरुः सेचितस्तदैव पुनरसौ संयमामृतरसास्वादनपरो विषवद्विषयविविधदोषाकलनेन शान्तिमुपगतः परमदुश्चरतपः सेवनपरायणो झटिति विषयोपरतत्वेन च पुरुषोत्तमत्वं तस्य निर्बाधमेवेत्यलं पल्लवितेन ।

मुनिजन ऐसे ही करते हैं, अर्थात् भोगोंसे निवृत्त होते हैं जैसे कि-पुरुषोंमें उत्तम रथनेमिने भोगोंकी निवृत्ति की ।

प्रश्न-ज़िन्होंने संयम लेकर भी विषयवासनामें लीन होकर परम अनुचित जो कि गृहस्थभी नहीं करता ऐसी साक्षात् अपने-भाईकी भार्यापर जो कुदृष्टि करके भोगोंकी प्रार्थना की, विषयभोगोंकी इच्छामात्र भी करना चारित्रको मलिन करनेवाला और आत्माको दुर्गतिदाता है तो फिर भगवानने विषयानुरागी रथनेमिको पुरुषोंमें उत्तम कैसे कहा ?

उत्तर-कर्मोंकी गति विचित्र होती है, मोहकर्मके उदयसे यद्यपि विषयभोगको अभिलाषा हुई तो भी विषयरूपी दावानलसे उत्पन्न संतापसे संतप्त हो मुरझाया हुआ रथनेमिका चित्त-रूपी वृक्ष वैराग्यरसकी बरसा करनेवाले राजीमतीजीके वचनरूपी मेघसे सींचे जाने पर शीघ्रही संयमरूप अमृतरसके आस्वादनमें तत्पर होगया । 'विषय परम कटुक फल देनेवाले और आत्माको चतुर्गतिमें परिभ्रमण करानेवाला है' इस प्रकारको परम वैराग्यभावना द्वारा,

थक्षषु मुनिजनेऽभेभ न करे छे, अर्थात् लोगोथी निवृत्त थाय छे, के जेवी रीते पुर्षोभां उत्तम रथनेमिअे लोगोनी निवृत्ति करी.

प्रश्न-जेभले संयम लधने पषु विषयवासनाभां लीन थधने परम अनुचित-कोष्ठ गृहस्थ पषु न करे जेवी, साक्षात् पोताना बाधनी भार्या पर कुदृष्टि करीने लोगनी प्रार्थना करी, विषयलोगोनी धच्छा-मात्र पषु चारित्रने मलिन करनारी अने आत्माने दुर्गति हेनारी छे, तो पछी भगवाने तेवा विषयानुरागी रथनेमिने पुर्षोभां उत्तम केवी रीते कथो ?

उत्तर-कर्मोनी गति विचित्र होय छे. मोहकर्मना उदयथी जे के विषयलोगोनी अलि-लाषा उत्पन्न थध, तोपषु विषयरूपी दावानलथी उत्पन्न थअेदा संतापथी संतप्त थधने जेमान अनेदा रथनेमिनुं चित्तरूपी वृक्ष, वैराग्य रसनी वृष्टि करनारा रालुमतीनां वचनरूपी मेघथी सिंचित थया पछी, तुरतज संयमरूपी अमृतरसनुं आस्वादन करवाभां तत्पर जनी गथुं. 'विषयो अत्यंत कठवां कृण हेनारा अने आत्माने चतुर्गतिभां परिभ्रमषु कशवनारा छे' जे प्रकारनी परम वैराग्यभावना द्वारा अेकान्त स्थानभां विषयनुं सान्निध्य होवा छतां पषु

न चाधुनिकरथनेमेरुदाहणोपलम्भादिदं दशवैकालिकसूत्रमनित्यं स्यादिति वाच्यम्, पर्यायार्थिकनयमपेक्ष्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्यत्वात् ।

‘ इति ब्रवीम ’ इति पूर्ववत् ॥ इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-  
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध-गद्य-पद्य नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-  
श्रीशाहूलप्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनशास्त्राचार्य-पद-भूषित-  
कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-  
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-  
स्याऽऽचारमणिमठजूषाख्यायां व्याख्यायां द्वितीयं  
श्रामण्यपूर्वकार्यमध्ययनं समाप्तम् ॥ २ ॥

—\*—

एकान्त स्थानमें. विषयका सान्निध्य रहनेपर भी इन्द्रिय निग्रह करके विषयोको विषतुल्य समझ कर तत्काल त्याग दिया और उप्र तप-संयमेको पालन किया, इसलिये भगवानने उन्हें पुरुषोंमें उत्तम कहा है ॥

प्रश्न—हे गुरो ! प्रवचन अनादि और नित्य है, क्योंकि आचारांग आदि बत्तीसों शास्त्र अनादिकालसे चले आते हैं, और यह दशवैकालिक सूत्र भी उन्हीं बत्तीसोंमें हैं तो आधुनिक रथनेमि और राजोममतीका उदाहरण आनेसे तो यह सादि और अनित्य सिद्ध होता है ।

उत्तर—हे शिष्य ! पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रत्येक पदार्थ अनित्य है इसी नयकी अपेक्षा दशवैकालिक भी अनित्य है, किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वह नित्य है । अर्थात् दशवैकालिकमें प्ररूपित मुनिका आचार सर्वज्ञोक्त है । सब सर्वज्ञोंका कथन एकहीसा होता है । जिस आचारका प्ररूपण चरम तीर्थकर श्रीमहावीरस्वामीने किया है उसीकी प्ररूपणा

इन्द्रियनिग्रह करीने विषयेने विषतुल्य समझने तत्काल त्यज्ज दीधा अने उग्र तप संयमनु पालन क्युं, तेथी भगवाने तेभने पुर्षोभां उत्तम कइया छे.

प्रश्न—हे गुरो ! प्रवचन अनादि अने नित्य छे. कारण के आचारांग आदि अत्रीसे शास्त्र अनादिकाणथी आल्या आवे छे, अने आ दशवैकालिक सूत्र पणु अे अत्रीसभानुं न छे, तो आधुनिकरथनेमि अने राजभतीनुं उदाहरण आववाथी तो अे सूत्र सादि अने अनित्य सिद्ध थाय छे.

उत्तर—हे ! शिष्य पर्यायार्थिक नयनी अपेक्षाथी प्रत्येक पदार्थ अनित्य छे. अे नयनी अपेक्षाअे दशवैकालिक पणु अनित्य छे. परन्तु द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षाथी ते नित्य छे. अर्थात् दशवैकालिकभां प्ररूपेदी मुनिने आचार सर्वज्ञोक्त छे. अथा सर्वज्ञानुं कथन अेकसरणुं न डेय छे. न आचारनुं प्ररूपणुं अरम तीर्थकर श्री महावीर स्वामीअे क्युं छे तेनी न

अनादिकालसे सब सर्वज्ञ करते आये हैं अत एव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे यह दश-  
वैकालिक अनादि और नित्य है ।११।

इति हिन्दिभाषानुवादमें श्रामण्यपूर्वकाख्य

द्वितीय अध्ययन समाप्त हुआ ॥२॥

— \* —

प्रश्नपुत्रा अनादि काण्ठी अधा सर्वज्ञो करता आया छे. अटले द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षाथी  
आ दशवैकालिक अनादि अने नित्य छे. (११)

इति 'श्रामण्यपूर्वक' नामना थील अध्ययनने।

गुजराती-भाषानुवाद समाप्त (२)

—: ० :—

॥ अथ तृतीयमध्ययनम् ॥

द्वितीयेऽध्ययने 'साधुना धृतिः सन्धारणीया' इत्युक्तं, सा चाऽऽचारे न त्वनाचारे इति, तस्मादस्मिन् क्षुल्लकाचारकथा'ऽऽख्ये तृतीयेऽध्ययनेऽनाचारस्वरूपनिरूपणपुरस्सरं साधुनामाचारः प्रदर्श्यते, तत्रेदमादिमं सूत्रम्—'संजमे०' इत्यादि ।

१ २ ३ ४  
मूलम्—संजमे सुद्विअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं ।

५ ६ ७ ८ ९  
तेसि-मेयमणाइन्नं निगंथाण महेसिणं ॥१॥

छाया—संयमे सुस्थितात्मनां, विप्रसुक्तानां त्राधिणाम् ।

तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥ १ ॥

सान्वयार्थः—संजमे = संयममें सुद्विअप्पाणं = भलीभाँति स्थिर आत्मावाले विप्पमुक्काण = शरीर आदिकी ममतासे रहित ताइणं = षट्कायजीवोंके रक्षक तेसिं = उन निगंथाण = परिग्रहरहित महेसिणं = महर्षियोंके एयं = यह आगे कहे-जानेवाले बावन अणाइन्नं = अनाचीर्ण हैं । अर्थात् महर्षियोंने इनका आचरण नहीं किया है अतः ये अनाचीर्ण-आचरण करने योग्य नहीं हैं ॥ १ ॥

टीका—संयमे=पञ्चास्रवविरमणे-न्द्रियपञ्चकनिग्रह-कषायचतुष्टयजय-दण्डत्रयविर-तिलक्षणे, सुस्थितात्मनाम्=निश्चलात्मनाम्, तेषां=सुप्रसिद्धानां प्रसिद्धार्थकोऽत्र तच्छब्दः,

## तीसरा अध्ययन

दूसरे अध्ययनमें यह निरूपण किया गया है कि साधुको धीरता (दृढ़ता) धारण करना चाहिये, वह धीरता आचारमें होनी चाहिये अनाचारमें नहीं, इसलिए 'क्षुल्लकाचारकथा' नामक इस तीसरे अध्ययनमें अनाचारके निरूपणपूर्वक मुनिओंके आचारका निरूपण किया जाता है—'संजमे सुद्वि०' इत्यादि ।

संयममें भलीभाँति स्थित, संसारसे मुक्त, स्व-पर-उभयका त्राण (रक्षण) करनेवाले अर्थात् प्रत्येकबुद्ध-स्व-अपनी आत्माके त्राता; तीर्थंकर-परके त्राता और स्थविर-उभय

## अध्ययन त्रीणुं

धीरता अध्ययनमां अये निरूपण करवामां आ०युं इतुं के-साधुअये धीरता (दृढता) धारण करवी जेधअये, अये धीरता आचारमां होवी जेधअये. अनाचारमां नहि; तेथी 'क्षुल्लकाचारकथा' नामक आ त्रीण अध्ययनमां अनाचारना निरूपणपूर्वक मुनिअेना आचारनुं निरूपण करवामां आवे छे-संजमे सुद्वि० धर्यादि.

संयममां सारी रीते स्थित, संसारथी मुक्त, स्व पर उभयनुं त्राण (रक्षण) करनेार अर्थात् प्रत्येकबुद्ध-स्व-पोताना आत्माना त्राता, तीर्थंकर -परना त्राता, अने स्थविर-

विप्रमुक्तानां=विशिष्टरूपया परमार्थभावनया प्रकर्षेण शरीरादिममत्वतो मुक्ताः, यद्वा 'इमे विषयकषाया अनन्तभवभ्रमणदुःखसंभारपादपसेचकाः, एतेषां जननीजनकबान्धवादीनां ममत्वं भवबन्धननिबन्धनम्, एतं पृथिव्यादिषड्जीवनिकायमनन्तवारान् ममात्मा सम्प्रविष्य नानादुःखमन्वभूत्, वस्तुतो नास्ति मम कोऽप्यात्मीय इति, रागादयश्च जीवमृगवागुरायमाणत्वान्महाशत्रव इत्यहो ! शत्रुहस्तगतोऽहं स्वकीयाऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनाक्षमः संजातोऽस्मि, धिङ् माम् । उक्तञ्च—

“इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं,

स्फुरति परिमलोऽयं स्पर्श एषोऽङ्गनानाम् ।

इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः,

स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥१॥” इति,

(स्व-पर) के त्राता होते हैं इसलिए ये सब त्रायी कहलाते हैं, इन निर्ग्रन्थ महर्षियोंको ये (आगे बताये जानेवाले ५२ अनाचार ) आचरण करने योग्य नहीं हैं ।

पांच आस्रवोंसे विरमण, पाँचों इन्द्रियोंका निग्रह, क्रोधादि चार कषायोंको जीतने, तीन दण्डोंका त्याग करनेरूप संयममें दृढ़ आत्मा वाले, प्रसिद्ध, विशेष प्रकारकी परमार्थ भावना भाकर शरीर आदिकी ममतासे मुक्त, अथवा ये विषय-कषाय भवभ्रमणके दुःखरूपी वृक्षको सींचने वाले हैं, माता-पिता भाई-बन्द कुटुम्ब परिवार, इन सबकी ममता संसार-बंधनका कारण है, पृथ्वीकाय आदि छह जीवनिकायोंमें मेरी आत्मा अनन्तवार उत्पन्न होकर नाना प्रकारकी पीडाओंका अनुभव कर चुकी है, वास्तवमें संसारमें कोई भी मेरा नहीं है । यह रागादि दोष, जीवरूपी हरिणके लिए व्याधके समान होनेके कारण महान् शत्रु हैं । खेद है कि मैं उन वैरियोंके वशमें पड़कर अपने परम अभ्युदय-स्वरूप मोक्षके साधनमें भी असमर्थ होगया हूँ मुझे धिक्कार है । कहा भी है—

“कैसा कर्मधुर गीत है, कैसा नेत्रोंको लुभानेवाला नृत्य है, कैसा जिह्वाका प्रिय स्वाद

उलय-(स्व-पर) ना त्राता होय छे, तेथी ये सर्व त्रायी कडेवाय छे. ये निर्ग्रन्थ महर्षियो-ने ये (आगत अताववाभां आवनारा आवन अनाचार) आचरवा योग्य नथी.

पांच आस्रवोथी विरमणु, पांचे इन्द्रियोना निग्रह, क्रोधादि चार कषायोने जितवा, त्रणु दंडोना त्याग करवाइय संयमभां दृढ आत्मावाणा, प्रसिद्ध, विशेष प्रकारनी परमार्थ भावना भावीने शरीर आदिनी ममताथी मुक्त, अथवा ये विषय-कषाय भव-भ्रमणना दुःखरूपी वृक्षने सींचनारा छे, माता-पिता भाई-बंध कुटुम्ब परिवार ये सर्वनी ममता संसार-बंधननुं कारणु छे, पृथ्वीकाय आदि छे जीवनिकायभां मारे आत्मा अनन्तवार उत्पन्न थडने नाना प्रकारनी पीडा ओना अनुभव करी चुकी छे. वास्तवभां कोईपणु माइं नथी, आ रागादि दोष अणुपणी हरणुने माटे व्याध ( पारधी ) नी समान होवाने कारणु महान् शत्रु छे, खेदनी वात छे के हुं ये वैरीओने वश पडीने पोताना परम अभ्युदय स्वरूप

एवंविधविविधभावनाभिः सर्वथा रागादितो मुक्ताः विप्रमुक्तास्तेषाम्, त्रायिणाम्= त्राणं=स्वस्य परस्योभयस्य च रक्षणं त्रायः, सोऽस्त्येषामिति त्रायिणः, प्रत्येकबुद्धाः स्वस्य, तीर्थङ्कराः परस्य, स्थविरा उभयस्येतीमे सर्वे त्रायिण उच्यन्ते । निर्ग्रन्थानां=बाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहरूपाद् ग्रन्थान्निर्गताः निर्ग्रन्थास्तेषाम् । महर्षीणाम्=महान्तश्च ऋषय इति महर्षयस्तेषाम्, यद्वा 'महर्षिणाम्' इतिच्छाया, महः=जन्मजरामरणदुःखरहितत्वेनैकान्तोत्सवरूपो मोक्षस्तम् ऋषन्ति=गत्यर्थधातूनां प्राप्त्यर्थत्वात् प्राप्नुवन्तीत्येवंशीला महर्षिणस्तीर्थङ्करगणधरादयस्तेषाम्, एतत्=द्वापञ्चाशता भेदैर्वक्ष्यमाणम्, अनाचीर्णम्=अनासेवितम्, अस्तीति शेषः । अत्र महर्षिणामित्यन्तेषु कर्तुः शेषत्वविषया षष्ठी । यतः संयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ताः, यतो विप्रमुक्ता अतस्त्रायिणः, यतस्त्रायिणोऽतो निर्ग्रन्थाः,

है, कैसा नासिकाको आकर्षित करनेवाला सुगन्ध है और स्त्री आदिका स्पर्श कैसा सुखकारी है । इस प्रकार अनुभव कराकर परमार्थका सत्यानाश करनेवाली अपना स्वार्थ साधनेमें धूर्त इन दगाबाज पांचों इन्द्रियोंने हाथ ! मेरी आत्मिक-सम्पत्तिसे मुझे वंचित कर दिया—मुझको दूट लिया ॥१॥”

इस प्रकारकी भावनाओं द्वारा राग आदि शत्रुओंसे सर्वथा मुक्त होनेवाले, संसारभ्रमणसे भयभीत भव्य जीवोंकी तथा आत्माकी रक्षा करनेवाले, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहणी ग्रन्थिसे रहित, महान् ऋषि-तीर्थकर आदि या जन्म-जरा-मरणके दुःखोंसे रहित होनेके कारण एकान्त आनन्दस्वरूप मोक्षको प्राप्त करनेवाले मुनियोंके, आगे कहेजाने वाले बावन अनाचार (अनाचीर्ण) हैं । अर्थात् ये बावन अनाचार मुनियोंके सेवने योग्य नहीं हैं । यहाँ षष्ठी विभक्तिवाले अनेक विशेषण दिये गये हैं, उन सबमें पहले २ के विशेष कारण हैं और आगे आगे के कार्य हैं जैसे—संयममें भली भाँति स्थित होनेके कारण विप्रमुक्त हैं, विप्रमुक्त होनेसे स्व-पर के त्राता (रक्षक) हैं,

मोक्षना साधनमां पशु असमर्थां जनी गयो छुं, मने धिक्कार छे, कहुं छे कै—

“केवुं कषुं भधुर गीत छे, केवुं नेत्रेने दोलावनाइं नृत्य छे, केवो जहुंवाने प्रिय स्वाद छे, केवी नाकने आकर्षित करनार सुगंध छे, अने स्त्री आदिने स्पर्श केवो सुखकारी छे, अने प्रमाणे अनुभव करावीने परमार्थनुं सत्यानाश वाणनारी पोतानो स्वार्थ साधवामां धूर्त अने दगाबाज पांचे धिक्कारे, डेय ! मने मारी आत्मिक-संपत्तिथी वंचित करी नांज्यो—मने कुंटी बीघा.” (१)

अने प्रकारनी भावनाओं द्वारा रागादि शत्रुओंथी सर्वथा मुक्त बननार, संसार भ्रमणी लयभीत भव्य जीवोंनी तथा आत्मानी रक्षा करनार, बाह्य अने आभ्यन्तर परिग्रहणी ग्रन्थिथी रहित, महान् ऋषि तीर्थकर आदि, या जन्म जरा-मरणनां दुःखोंथी रहित होवाने कारणे अंकांत आनन्दस्वरूप मोक्षने प्राप्त करनार मुनियोंने माटे, आगे कहेवामां आवनार आवन अनाचार (अनाचीर्ण) छे. अर्थात् अने आवन अनाचार मुनियोंने सेववा योग्य नथी. अही छुंकी विभक्तिवाणां अनेक विशेषणो आपवामां आव्यां छे, अने अध्यामां पहिलां-पहिलां विशेषणु कारण छे अने पछी-पछीनां कार्य छे. जेमके-संयममां सारी रीते

१ अत्र 'अत इतिठना, विति मत्वर्थीय इनिः ताच्छीलय णिनिस्तु न तस्य सुबन्त पूर्वकत्व पव प्रवृत्तेरिति यवम्

યતો નિર્ગ્નથા અતો મહર્ષયઃ, ઇતિ યથોત્તરં પૂર્વ-પૂર્વસ્ય હેતુત્વેન ભવતિ વિશેષણસંગતિરિતિ બોદ્યવ્યમ્ ।

નવેતાવતા 'યદ્યન્મહાપુરુષૈરનાચીર્ણં તત્તદનાચરણીયં, યદ્યત્વાચીર્ણં તત્તદાચરણીય-મેવેત્યાયાતં તતશ્ચ તીર્થઙ્કારાર્થં સુરસમ્પાદિતૈરષ્ટવિધમહાપ્રાતિહાર્યૈસ્તીર્થઙ્કારા યુક્તા ઇતિ વ્ય-મપ્યસ્મદર્થં સમ્પાદિતૈઃ કથં ન યુક્તા ભવેમેતિ ચેદ્ ? ભ્રાન્તોઽસિ, તે હિ વીતરાગત્વાત્ કલ્પાતીતાઃ, વયં તુ કલ્પસ્થિતા ઇતિ, કલ્પાતીતાનાં તેષાં જિનેશ્વરાણામષ્ટમહાપ્રાતિહાર્યા-ણિ તીર્થઙ્કારગોત્રનામપ્રકૃત્યુદયમહિમ્ના પ્રતિભાસિતાનિ ભવન્તિ, ન તુ તાનિ સુરૈઃ સંપાદ્ય-ન્તે, અત એવ ઔપપાતિકસૂત્રે--

“ આગાસગણં ચક્રકેણં આગાસગણં છત્તેણં આગાસિયાર્હિં ચામરાર્હિં ”

इत्यस्य व्याख्यायाम्--

“ આગાસગણં ચક્રકેણં ”-તિ આકાશવર્ત્તિના ચક્રેણ=ધર્મચક્રેણ, ‘ આગાસગણં છત્તેણં ’-તિ છત્રત્રયેણ ‘ આગાસિયાર્હિં ’-તિ, આકાશમ્=અમ્બરમ્ ઇતાભ્યાં=પ્રાપ્તાભ્યામ્ આ-પ્રાતા હોનેસે નિર્ગ્નથ હૈ, નિર્ગ્નથ હોનેસે મહર્ષિ હૈ ।

શઙ્કા-ઇસ ગાથાસે યહ તાત્પર્ય નિકલા કિ મહાપુરુષોને જિસ જિસ કા આચરણ નહીં ક્રિયા વહ વહ અનાચરણીય હૈ, ઉન્હોને જિસ જિસકા આચરણ ક્રિયા વે સબ આચરણ કરને યોગ્ય હૈ, યદિ એસા હી હૈ તો શ્રીતીર્થઙ્કાર ભગવાન્ દેવનિર્મિત આઠ મહાપ્રાતિહાર્યોસે યુક્ત હોતે હૈ ઇસલિએ હમ મી હમારે લિએ બનાયે હુએ પદાર્થોસે યુક્ત ક્યોં ન હોવેં ?

સમાધાન-હે વત્સ ! એસા નહીં હૈ, ક્યોં કિ વે વીતરાગ હોનેસે કલ્પાતીત હૈ, ઓર હમ કલ્પસ્થિત હૈ, ઇસલિએ ઉન કલ્પાતીત જિનેશ્વરોં કે તીર્થઙ્કારગોત્ર-નામ-પ્રકૃતિકે ઉદયકો મહિમાસે અષ્ટ મહાપ્રાતિહાર્ય કેવલ ભાસિત હોતે હૈ કિન્તુ દેવતાઓસે સમર્પિત નહીં ક્રિયે જાતે, અત એવ ઔપપાતિક સૂત્રકે “આગાસગણં ચક્રકેણં” ઇત્યાદિ પદોંકી વ્યાખ્યામં કહા હૈ-“આકાશસ્થિત સ્થિત હોવાને કારણે વિપ્રમુક્ત હોવાથી સ્વ-પરના ત્રાતા (રક્ષક) છે, ત્રાતા હોવાને કારણે નિર્ગ્નથ છે, નિર્ગ્નથ હોવાને લીધે મહર્ષિ છે.

શંકા-આ ગાથામાંથી એ તાત્પર્ય નીકળ્યું કે- મહાપુરુષોએ જેનું જેનું આચરણ નથી કર્યું છે તે અનાચરણીય છે, અને તેમણે જેનું જેનું આચરણ કર્યું તે બધું આચરણ કરવા યોગ્ય છે. જો એમ છે તો તીર્થંકર ભગવાન દેવનિર્મિત આઠ મહાપ્રાતિહાર્યોથી યુક્ત હોય છે, તેમ આપણે પણ આપણા માટે બનાવેલા પદાર્થોથી યુક્ત કેમ ન થઈ ?

સમાધાન-હે વત્સ ! એમ નથી, કારણ કે તે વીતરાગ હોવાથી કલ્પાતીત છે, અને આપણે કલ્પસ્થિત છીએ. એ કલ્પાતીત જિનેશ્વરોનાં તીર્થંકર-ગોત્ર-નામપ્રકૃતિના ઉદયના મહિમાથી આઠ મહાપ્રાતિહાર્ય કેવળ ભાસિત થાય છે; પરન્તુ દેવતાઓ તરફથી સમર્પિત થતાં નથી, એટલે ઔપપાતિક સૂત્રના આગાસગણં ચક્રકેણં ઇત્યાદિ વ્યાખ્યાનમાં કહ્યું છે કે-“આકાશસ્થિત ચક્ર, છત્ર અને આમરોથી ભગવાન લક્ષિત થાય છે.” અહીં ‘લક્ષિત’



कर्पिताभ्यां वा=आकृष्टाभ्यामुत्पाटिताभ्यामित्यर्थः, 'चामराहि'-ति चामराभ्यां प्रकीर्णकाभ्यां प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्ययः, 'लक्षितः इति सर्वत्र गम्यम्" इत्युक्तम् ।

अत्र 'लक्षितः' इत्युक्त्वाऽन्यकृत इति स्पष्टं निराक्रियते, यथा-अर्द्धमागधभाषया प्रवृत्ताऽपि तीर्थङ्करवागू समवसरणगतानां देवानां मनुष्याणां तिरश्चां च स्व-स्व भाषानुरूपा प्रतिभाति किन्तु न सा तादृशी, तस्मादस्मादृशां तदसदृशां तदुक्तकल्प एव स्थातव्यं, न तु तथाऽनुकरणीयमिति दिक् इति-गाथार्थः ॥ १ ॥

अनाचीर्णान्याह-'उद्देशियं' इत्यादि,

मूलम्-उद्देशियं<sup>१</sup> कीयगडं<sup>२</sup>, नियागमभिहडाणि<sup>३</sup> य ।

राइभत्ते<sup>४</sup> सिणाणे<sup>५</sup> य, गंधमल्ले<sup>६</sup> य वीयणे<sup>७</sup> ॥२॥

छाया--औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियागमभ्याहृतानि च ।

रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्ध-मालये च वीजनम् ॥ २ ॥

सान्वयार्थः-(१) उद्देशियं=औद्देशिक-किसी एक साधुके लिए बनाया हुआ आहार (२) कीयगडं=साधुके लिए खरीदा हुआ आहार (३) नियागं=निमंत्रणसे ग्रहण किया हुआ आहार (४) अभिहडाणि=सामने लाकर दिया हुआ आहार (५) राइभत्ते=रात्रिभोजन (६) सिणाणे=स्नान य=और (७) गंध=चन्दनादिलेप (८) मल्ले=पुष्पादिमाला (९) वीयणे = पंखा ॥ २ ॥

टीका-औद्देशिकम् = उद्देशनमुद्देशस्तत्र भवं तत्प्रयोजनमस्येति वा औद्देशिकं साध्वादिक्मुद्दिश्य निष्पादितमित्यर्थः (१),

चक्र, छत्र और चामरोसे भगवान् लक्षित होते हैं" । यहां पर 'लक्षित' ऐसा कहनेसे साफर यह दिखलाया गया है कि-औरोंको छत्र चमरादिसे युक्त भगवान् लक्षित होते हैं किन्तु वे चक्र-छत्रादि अन्य-(देव)-कृत नहीं हैं । जैसे अर्द्धमागधीभाषारूपा भी तीर्थङ्कर की वाणी, समवसरणमें आये हुए देव मनुष्य तिर्यचोंकी अपनी अपनी भाषाके स्वरूपमें ही प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः वह वैसी नहीं है, अत एव उन कल्पातीतोंकी तुलनामें नहीं पहुंचे हुए हम छत्रस्थोंको तो उनके कहे हुए कल्पमें ही रहना चाहिए, न कि उनका अनुकरण करना चाहिए ॥१॥

अब (५२)-अनाचीर्णोंको दिखलाते हैं-'उद्देशियं' इत्यादि ।

कडेवाथी ओम साइ साइ अताव्यु छे के-भीलओने छत्र-आभरादि-युक्त भगवान् लक्षित थाय छे, परंतु ते अक-छत्रादि अन्य (देव) कृत नहीं होतां. ओम अर्धमागधीभाषाइप पणु तीर्थ'करनी वाणी समवसरणमां आवेला देव-मनुष्य-तिर्य'ओने पोतपोतानी भाषाना स्वरूपमां न प्रतीत थाय छे, किन्तु वस्तुतः ते तेवी नहीं होता. ओटले ओ कडेवातीतानी तुलनामां नहि पडोथेला आपणु छत्रस्थोये तो ओमणु कडेला कडेपमां न रहेपु' नेधओ, नहि के तेमनु' अनुकरण करपु' नेधओ. (१)

ક્રીતકૃતં = ક્રીતેન = ક્રયણેન કૃતં = સમ્પાદિતં સાધુકૃતે મૂલ્યેન ગૃહીતમિતિ યાવત્ (૨),

નિયાગં-નિ=નિરતિશયો યોગો નિમન્ત્રણાદિરૂપઃ સંસ્કારો યસ્મિંસ્તત્-આમન્ત્રિત પિણ્ડસ્ય કદાચિદપિ ગ્રહણમ્, અનામન્ત્રિતસ્ય નિત્યગ્રહણમિતિ ભાવઃ (૩),

અભ્યાહતાનિ=સ્વ-પર-ગ્રામ-ગૃહાદિભેદભિન્નાનિ સાધુનિમિત્તં સમ્મુખમાનીય દત્તાનિ, બહુવચનં સર્વેષામેવાઽભ્યાહતાનામનાચીર્ણત્વસ્થાપનાર્થમ્ (૪),

રાત્રિભક્તં=રાત્રિભોજનં રાત્ર્યાદિગૃહીતં ભક્તં વા (૫), સ્નાનં=પ્રસિદ્ધમ્ (૬),

(૧) ઔદેશિક' (૨) ક્રીતકૃત, (૩) નિયાગ, (૪) અભ્યાહત, (૫) રાત્રિભોજન, (૬) સ્નાન, (૭) ગન્ધ, (૮) માલ્ય, (૯) પંજા ચલાના ।

(૧) સાધુ આદિકે લિપ્ જો આહાર બનાયા જાતા હૈ ઉસે ઔદેશિક કહતે હૈ ।

(૨) સાધુકે લિપ્ મૂલ્ય દેકર જો આહારાદિ ખરીદ કિયા ગયા હો ઉસે ક્રીતકૃત કહતે હૈ ।

(૩) ગૃહસ્થકા નિમન્ત્રણ પાકર કમી મી આહાર લેના અથવા પ્રતિદિન એક હી ઘરસે આહાર લેના નિયાગપિણ્ડ હૈ ।

(૪) અપને ગાંવ પરગાંવસે અથવા ઘરસે સાધુકે સામને લાયા હુઆ આહાર અભ્યાહત પિણ્ડ હૈ ।

અભ્યાહતકે લિપ્ ગાથામં બહુવચન આયા હૈ યહ ઉસકા અભિપ્રાય હૈ કિ જિતને મી અભ્યાહત (સામને લાયે હુયે) હૈ વે સમી અનાચાર હૈ ।

(૫) રાત્રિમં આહાર લેના, દિનમં લેકર રાત્રિમં સ્નાના આદિ રાત્રિભક્ત હૈ (૬) દેશતઃ સર્વતઃ સ્નાન કરને કો સ્નાન-અનાચાર કહતે હૈ ।

હવે (પર)-અનાચીર્ણી દર્શાવે છે-હૃદ્દેસિયં ઇત્યાદિ.

(૧) ઔદેશિક, (૨) ક્રીતકૃત, (૩) નિયાગ, (૪) અભ્યાહત, (૫) રાત્રિભોજન, (૬) સ્નાન, (૭) ગન્ધ, (૮) માલ્ય, (૯) પંજા ચલાવવો-

(૧) સાધુ આદિને માટે જે આહાર બનાવવામાં આવ્યો હોય તેને ઔદેશિક કહે છે.

(૨) સાધુને માટે મૂલ્ય ખર્ચીને જે આહારાદિ ખરીદ કરવામાં આવેલ હોય તેને ક્રીતકૃત કહે છે.

(૩) ગૃહસ્થનું નિમન્ત્રણ મેળવીને કોઈવાર પણ આહાર લેવો અથવા પ્રતિદિન એકજ ઘેરથી આહાર લેવો એ નિયાગપિણ્ડ કહેવાય છે.

(૪) પોતાના ગામથી, પરગામથી અથવા ઘેરથી સાધુની સામે લાવવામાં આવેલો આહાર અભ્યાહત-પિણ્ડ કહેવાય છે.

અભ્યાહતને માટે ગાથામાં બહુવચન આવ્યું છે તેનો એ હેતુ છે કે-જેટલા અભ્યાહત (સામે લાવેલા) હોય તે બધા અનાચાર છે.

(૫) રાત્રે આહાર લેવો, દિનમાં લઇને રાત્રે ખાવો, ઇત્યાદિ રાત્રિ-ભક્ત કહેવાય છે.

गन्धमालये-गन्धः=चन्दन-केतकादिसौरभम् (७)-

मालयं=पुष्पादिमाला, तयोरितरेतरयोग इति गन्ध-मालये (८),

तथा वीजनं=ग्रीष्मादिकृतौ तालवृन्तादिना वातादिसञ्चालनम् (९),

अत्राऽऽरम्भादयो दोषा जायन्त इति स्वयमवगन्तव्यम् । औद्देशिकक्रीतकृतयोः स्वरूपं सप्रपञ्चं पञ्चमाध्ययने वक्ष्यते ॥ २ ॥

मूलम्--संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।

संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥३॥

(छाया)--संनिधि-गृहमत्रं च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।

संवाहनं दन्तप्रधावनं च, संप्रच्छनं देहप्रलोकनं च ॥३॥

सान्वयार्थः- (१०) संनिही=रात्रिमें आहार आदिका संचय (११) गिहिमत्ते=गृह-स्थके पात्रमें भोजन करना य=और (१२) रायपिंडे=राजाके लिए बनाया हुआ आहार (१३) किमिच्छए=दानशाला या अन्नक्षेत्र आदीका आहार (१४) संवाहणा=शरीरकी मालिश करना (१५) दंतपहोयणा=दांत मांजना य=और (१६) संपुच्छणा=गृहस्थसे कुशलप्रश्न पूछना य=और (१७) देहपलोयणा=दर्पण या जलमें मुख आदी देखना ॥३॥

टीका--संनिधीयते=सम्यक्तया नितरां स्थाप्यते नरकादिष्वात्माऽनेनेति संनिधिः=संभवादत्र घृतादिसञ्चयकरणम् (१०),

(७-८) चन्दन केतक अतर आदिकी सुगन्ध तथा फूलमाला आदिका सेवन करना गन्ध-मालय-अनाचार है ।

(९) ग्रीष्मादि कालमें पंखा चलाना यह व्यजन-अनाचार है ?

इनसे आरम्भ आदि दोष होते हैं सो स्वयं समझना चाहिये । औद्देशिक और क्रीतकृतका विस्तारपूर्वक विवेचन पांचवें अध्ययनमें किया जायगा ॥१॥

(१०) संनिधि-जिस अनाचारका सेवन करनेसे आत्मा नरकादि कुगतियोंमें गिरती है अर्थात् घृत औषध आदिका रात्रिमें बासी रखना संनिधि-अनाचार है ।

(६) देश्थी ( थोडे लागे ) सर्व्थी ( आजे शरीरे ) स्नान करवुं अे स्नान-अनाचार कडे-वाय छे.

(७-८) चंदन, केवडे, अत्तर आदिनी सुगंध तथा फूल माला आदिनुं सेवन करवुं अे गंध-माद्य-अनाचार कडेवाय छे.

(९) ग्रीष्मादि काणमां पंजे यलाववे अे व्यजन-अनाचार छे.

अेथी आरंल आदि दोष लागे छे ते पोतेन समजवुं लेधअे. औद्देशिक अने क्रीतकृतनुं विस्तारपूर्वक विवेचन पांचमां अध्ययनमां करवामां आवशे. (२)

(१०) संनिधि-अे अनाचारनुं सेवन करवाथी आत्मा नरकादि दुर्गतिमां पडे छे,

गृह्यमत्रं=गृहिणां=गृहस्थानाम् अमत्रं=पात्रं प्रसंगादत्र तस्मिन्नभ्यवहरणादि (११),

राजपिण्डः = राजार्थं निष्पन्नाऽऽहारः (१२),

किमिच्छकं = 'कः किमिच्छत्याहारादिक' -मित्येवं पृच्छ्यते यस्मिन् कर्मणि तत्, अन्नसत्र-(सदाव्रत)-शालादित आहारादिग्रहणमित्यर्थः (१३),

संवाहनम् = अस्थ्यादिसुखविशेषजनकं तैलादिना शरीरसंमर्दनम् (१४)

दन्तप्रधावनं = दन्तमार्जनम् (१५),

संप्रच्छनं = गृहस्थं प्रति कुशलादिरूपसावद्यप्रश्नकरणम् (१६),

देहप्रलोकनं = जलदर्पणादिषु मुखादिनिरीक्षणम् (१७),

चकाराः समुच्चयार्थाः । संनिध्यादिषु परिग्रहादयो दोषाः प्रतीताः ॥३॥

१८

१९

मूलम्-अट्टाव ए य नालीए; छत्तस्स य धारणट्टाए ।

२०

२१

२२

तेगिच्छं पाहणा पाए समारंभं च जोइणो ॥४॥

(११) गृह्यमत्र-गृहस्थके पात्रमें आहार आदि करना गृह्यमत्र हैं ।

(१२) राजपिण्ड-राजाके लिए बनाया हुआ आहार लेना राजपिंड है ।

(१३) किमिच्छक-जिसमें यह पूछा जाता है कि कौन क्या चाहता है ? अर्थात् दान-शाला ( सदाव्रत ) आदिसे आहार लेना किमिच्छक है ।

(१४) संवाहन-अस्थि, मांस, त्वचा, रोमको आनन्ददायक चार प्रकारका मर्दन करना संवाहन है । (१५) दन्त प्रधावन-दांत धोना ।

(१६) संप्रच्छन-गृहस्थसे कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना ।

(१७) देहप्रलोकन-जलमें अथवा दर्पण आदिमें अपना मुख आदि देखना । सन्निधि आदिमें परिग्रहादि दोष प्रसिद्ध हैं ॥३॥

अर्थात् धी ओसउ आदि रात्रे वासी राधवां ते संनिधि-अनाथार छे.

(११) गृह्यमत्र-गृहस्थना पात्रमां आहार आदि करवे ते गृह्यमत्र कडेवाय छे.

(१२) राजपिंड-राजने मटे जनावेदो आहार लेवे ते राजपिंड छे.

(१३) किमिच्छक-जेमां जे पूछवामां आवे छे के केने शुं जेधिये छे ? अर्थात् दानशा-ला ( सदाव्रत ) आदि पासेथी आहार लेवे ते किमिच्छक कडेवाय छे.

(१४) संवाहन-अस्थि, मांस, त्वचा, रोमने आनंददायक चार प्रकारनुं मर्दन करवुं जे संवाहन छे. (१५) दंतप्रधावन-दांत धोवा.

(१६) संप्रच्छन-गृहस्थने कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्नो पूछवा.

(१७) देहप्रलोकन-जलमां अथवा दर्पण आदिमां पोतानुं मुख आदि जेवां, सन्निधि आदिमां परिग्रहादि दोष प्रसिद्ध छे. (३)

छाया--अष्टापदं नालिकया, छत्रस्य धारणार्थाय (धारणाऽष्टया) ।

चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

सान्वयार्थः--(१८) नालीए = जूएके उपकरण-साधनसे अट्टावए = चौपड़ शतरंज आदि खेलना. (१९) अट्टावए = मुट्टीसे छत्रस्स = छातेका धारणं = धारण करना (२०) तेगिच्छं = रोगको चिकित्सा करना (२१) पाए पाहणा = पैरोंमें जूते चंपल मोजे आदि पहिनना च = और (२२) जोइणो = अग्रिका समारंभं = आरंभ करना ॥४॥

टीका--च = तथा, नालिका = यथाऽभिमतपतनार्थं यया पाशः पात्यन्ते सा = पाशपातनद्रव्यम् तथा, उपलक्षणमेतत्-घृतोपकरणमात्रस्य, अष्टापदम्-अष्टौ अष्टौ पदानि = स्थानानि (गृहाणि) सर्वभागेषु यस्मिस्तथा वस्त्राऽऽधारस्थानम्, इह च लक्षणया घृत-सामान्यम् (१८),

च = किञ्च छत्रस्य = आतपत्रस्य धारणार्थाय ग्रहणमिति शेषः ॥ यद्वा-‘ धारणा अट्टाए’ इतिच्छेदः, ‘अट्टा’ इत्यस्य ‘मुट्टि’-रित्यर्थः, ‘चउहिं अट्टाहिं लोयं करेइ’ चतस्रभिरष्टा मिल्लोचं करोति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्त्यादौ तथा दर्शनात्, ततश्च ‘अट्टाए = अष्टया = मुष्टया छत्रस्य धारणा = ग्रहणमित्यर्थः । न च छत्रादिधारणं मुष्ट्यादिनैव संभवतीति ‘अट्टाए’

(१८) अष्टापद-‘नालीए’ अर्थात् फेंककर चौपड़, शतरंज आदि खेलना, अथवा अन्य प्रकार से जुआ खेलना ।

(१९) छत्रधारण करना । गाथामें ‘धारणट्टाए’ ऐसा पद है उसे अलग अलग करनेसे ‘धारणा अट्टाए’ होता है । यहाँ अट्टा शब्दका अर्थ ‘मुट्टी’ है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें कहा है कि-‘चउहिं अट्टाहिं लोयं करेइ’ अर्थात्-ऋषभदेव भगवान्ने चार मुट्टी लोच किया । अतः ‘धारणट्टाए’ का अर्थ ‘मुट्टीसे छत्रको ग्रहण करना’ हुआ ।

प्रश्न-छत्र तो मुट्टीसे ही पकड़ा जाता है फिर ‘अट्टाए’की क्या आवश्यकता है ? जैसे “मुखसे बोलता है” इस वाक्यमें ‘मुखसे’ इतना अंश व्यर्थ है, क्योंकि सिवाय मुखके और किसी अंगसे नहीं बोला जाता, इसी प्रकार यहां ‘मुट्टीसे’ कहना भी वृथा है ?

(१७) अष्टापद-नालीए अर्थात्-पासा ईंकीने चोपाट. शतरंज. आदि खेलयां, अथवा अन्य प्रकारे जुगार खेलवो.

(१८) छत्र धारणु करवुं. गाथाभां धारणट्टाए अेषुं पद छे, अने छूटा पाउवाथी धारणा +अट्टाए थाय छे. अलीं अट्टा शब्दनेो अर्थ ‘मुट्टी’ छे। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिभां कहुं छे के-चउहिं अट्टाहिं लोयं करेइ अर्थात्-ऋषभदेव भगवाने, चार मुट्टी लोच कर्यो अट्टे धारणट्टाए ने। अर्थ ‘मुट्टीथी छत्रने ग्रहणु करवुं’अवेो थयो.

प्रश्न-छत्र तो मुट्टीथी ज पकडवामां आवे छे, पछी अट्टाए अे पदनी शी जर रडे छे ? जेभके “मुखथी ओले छे” अे वाक्यभां ‘मुखथी’ अेटवेो अंश व्यर्थ छे, कारणु के मुख विना जीव डोर्ध अंगथी ओली शकतुं नथी. तेज रीते त्यां ‘मुट्टीथी’ अेभ कडेवुं अे पणु वृथा छे.

इत्यस्य 'मुखेन पठती' इत्यादिषु मुखादिवद्वैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, चक्षुभ्यां पश्यति, कर्णाभ्यां शृणोति, जिह्वाया लेढी' इत्यादि-लोकोक्तिषु चक्षुरादीनामिव यथास्थितवस्तु प्रतिपादनमात्रतात्पर्येणाऽपौनरुक्त्यात्, अत्रैव गाथायामुत्तरार्द्धे 'पाहणा पाए' इत्यत्र 'पाए' इतिवदिति, उपलक्षणमेतच्छिरसि छायाकरणमात्रस्य (१९),

'चैकित्स्यं=चिकित्सा=व्याधिप्रतीकारः, कफपित्तादिवैगुण्यं, ग्रहादिवैगुण्यं च व्याधेर्निदानं तत्प्रशमनं तदुपायोपदेशादिनेत्यर्थः (२०),

पादयोः=चरणयोः, उपानहौ=चर्मपादुके, उपलक्षणमिदं काष्ठपादुकादीनामपि (२१)

१-'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (५।१।२४) इत्यत्रत्य ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात्स्वा-  
र्थे ष्यञ् तत आदिवृद्धिराल्लोपश्च, यत्तु 'चिकित्साया भावश्चैकित्स्य' मिति टीकान्तरकृत-  
स्तद् व्याकरणाऽनवबोधमूलकमेव, भावप्रत्ययान्ताञ्जावप्रत्ययस्याऽनुत्पत्तेः, चिकित्सायाः  
कर्म' त्यर्थकल्पनमपि केषांचित्प्रामादिकमेव चिकित्साया रोगापनयनक्रियारूपायाः स्वत एव  
कर्मभूतत्वेन कर्मपर्यायत्वात्, ष्यञ्विधायकसूत्रे हि कर्म=क्रिये' ति वैयाकरणाः ॥

उत्तर-यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि लोकमें "आंखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है, जिह्वा-  
से चखता है" इत्यादि वाक्योंमें 'आंखोंसे' 'कानोंसे' 'जिह्वासे' इन पदोंके बोलनेका अभिप्राय  
यथास्थित वस्तुका प्रतिपादन करना है, इस गाथाके उत्तरार्द्धमें 'पाहणा पाए' पद आया है इसका  
अर्थ है कि-पैरोंमें उपानह (जूता), उपानह यद्यपि पैरोंमें पहने जाते हैं हाथ या सिरमें नहीं प-  
हने जाते फिर भी 'पाए' कहनेसे पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि इस पदसे यथावस्थित वस्तुका प्रति-  
पादनमात्र किया गया है, इसलिए 'मुट्टीसे छत्र धरना, ऐसा कहना अयुक्त नहीं है ।

(२०) चैकित्स्य-चिकित्सा करना, अर्थात् वैद्यक करना, या ग्रह आदिको मन्त्र वगैरहसे  
शांत करना, या इस विषयका उपदेश देना ।

(२१) उपानह (जूता) या मोजा आदि पहनना ।

उत्तर-ये प्रश्न अराभर नहीं, कारण के लोकमें 'आंखोंसे देखे छे,' 'कानसे सांभजे  
छे,' 'जिह्वासे चखे छे,' इत्यादि वाक्योंमें 'आंखोंसे,' 'कानसे,' 'जिह्वासे' ये शब्दों आप-  
वाने हेतु यथास्थित वस्तुनुं प्रतिपादन करवाने छे. आ गाथाना उत्तरार्धमें पाहणा पाए  
पद आये छे तेना अर्थ छे- 'पगमें उपानह (जूता), जे के जेडा पगमें अ पड़ेरवां  
आवे छे, हाथे के भाथे नहि, ते पशु पाए कडेवाथे पुनरुक्ति थती नहीं, कारण के ये  
शब्दों यथावस्थित वस्तुनुं प्रतिपादन मात्र करवाने आये छे. तेथी 'मुट्टीसे छत्र धरनुं'  
अर्थ कडेवुं अ अयुक्त नहीं.

(२०) चैकित्स्य-चिकित्सा करनी अर्थात् वैद्यक करवुं, अथवा ग्रहादि ने मन्त्र वगैरहसे  
शान्त करवा अथवा अये विषयने उपदेश आपवो.

(२१) उपानह (जूता) अथवा मोजा आदि पहरेवां

च = किञ्च ज्योतिषः = वहेः समारम्भः = आरम्भकरणम् (२२),

दोषास्त्वत्राऽलीकत्वादयः स्वबुद्ध्याऽवगन्तव्याः, चकाराइहापि समुच्चयार्थः । ४।

<sup>२३</sup>मूलम्—<sup>२४</sup>सिञ्जायरपिंडं <sup>२५</sup>च आसंदी <sup>२६</sup>पलियंकए ।

<sup>२७</sup>गिहंतरनिसिञ्जा य गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥५॥

छाया-शय्यातरपिण्डश्च, आसन्दी पर्य(ल्य)ङ्ककः ।

गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्त्तनानि च ॥५॥

सान्त्वयार्थः—च = और (२३) सिञ्जायरपिंडं = शय्यातरका आहार (२४) आसंदी = कुर्सी या खाट (२५) पलियंकए = पङ्ग पालखी डोला आदि, (२६) गिहं-तरनिसिञ्जा = गृहस्थके घरमें बैठना, य = और (२७) गायस्स = शरीरका उव्वट्टणाणि = उवटन करना ॥५॥

टीका—शय्यतेऽस्यामिति शय्या = वसतिः, शय्याऽर्थात्तद्दानेन तरति संसारसागरमिति शय्यातरः, यद्वा शय्या = प्रोक्तरीत्या वासस्थानम्, 'आतरः = संसारपारावारोत्तरणशुल्कं यस्य स शय्यातरः । अत्र पक्षे यथा कश्चिन्नदी-पारं जिगमिषुर्नाविकाय नदीतरण-

(२२) अग्निका आरम्भ करना,

इनसे भी असत्य आदि दोष समझना चाहिए, अर्थात् जूआ खेलनेसे असत्य, कडेश, आर्तध्यान, परिग्रह आदि; छत्र धारण करनेसे सुकुमारता परीषहके सहनेमें असामर्थ्य आदि दोष; चिकित्सा करनेसे आरम्भ असत्य आदि दोष; उपानह पहननेसे द्वोन्द्रिय आदि जीवोंका उपमर्दन आदि, तथा अग्निकायका आरम्भ करनेसे छह कायका उपमर्दन आदि दोष होते हैं ॥ ४ ॥

(२३) शय्यातरका पिण्ड लेना ।

जिसमें शयन किया जाता उसे शय्या या वसति कहते हैं । उस शय्याके दानसे संसार-समुद्रको तैरनेवाला शय्यातर कहलाता है । अथवा शय्या है संसाररूपी सागरसे पार होनेका आतर (शुल्क) जिसका उसे शय्यातर कहते हैं । जैसे कोई नदी पार करनेकी इच्छावाला बटोही

(२२) अग्निने आरंभ करवो. अथी पणु असत्य आदि दोष समझवा लोभमे.

अर्थात्-जुगार खेलवाथी असत्य, कडेश, आर्तध्यान, परिग्रह आदि; छत्र धारण करवाथी सुकुमारता; परीषदने सहन करवामां असामर्थ्य आदि अनेक दोष; चिकित्सा करवाथी आरंभ, असत्य आदि दोष; लोडा पहनवाथी द्वीन्द्रिय आदि लोपोनु उपमर्दन आदि, तथा अग्निकायने आरंभ करवाथी छ कायनुं उपमर्दन आदि दोष लागे छे. (४)

(२३) शय्यातरने पिंड लेवो.

जेमां शयन करवामां आवे छे तेने शय्या या वसति कडे छे. अे शय्याना दानथी संसार रूपी सागरथी पार थवानुं आतर (शुल्क) जेतुं, तेने शय्यातर कडे छे, जेम केई नदी पार

१ आतरस्तरपण्यं स्यादित्यमरः 'उत्तराई' इतिलोक प्रसिद्धम्

शुल्कं दत्त्वा तत्पारं गच्छति तथा संसारसमुद्रपारं जिगमिषुर्गृहस्थवन्नाविकस्वरूपाय महापुरुषाय मुनये शय्या-(वसतिस्थान)-रूपमातरं (तरणशुल्कं) दत्त्वा तत्पारं व्रजतीति भावार्थोऽनुसन्धेयः । पक्षद्वयेऽपि साधुवासार्थमाज्ञादायक इति फलितम्, पिण्डः = आहारौषध्यादिः शय्यातरपिण्ड इति ।

शय्यातरविचारः ।

यद्यपि निवासार्थं साधवे स्वानुमतिप्रकाशको वसतिस्वामी शय्यातरशब्दस्यार्थः, तथापि तस्य तदैव शय्यातरत्वं भवति यदा तत्र वसतौ साधुभाण्डोपकरणानि स्थापयेत्, प्रतिक्रमणमाचरेत्, रात्रौ शयीत च । अत्रायं विवेकः—भाण्डोपकरणस्थापन-प्रतिक्रमणाचरण शयनानां त्रयाणां प्रत्येकं शय्यातरत्वे हेतुत्वम्, तेन प्रतिक्रमणाचरण-शयनाभ्यां प्रागपि

(मार्गू) नाविकको नदी पार उतरनेका मूल्य देकर पार उतरता है उसी प्रकार संसाररूपी समुद्रके पार उतरने को इच्छावाला गृहस्थ नाविकके समान साधु महापुरुषोंको शय्या-(वसति-स्थान) रूपी उतराई (पार उतारने का मूल्य) देकर संसारसागरसे पार उतरता है, यह अभिप्राय समझना चाहिए । दोनों पक्षोंका अर्थ एक ही है कि शय्यातर उसे कहते हैं, जो साधुको ठहरनेके लिए मकानकी आज्ञा देता है । उसके आहार औषध आदि पिण्डको शय्यातर-पिण्ड कहते हैं ।

### शय्यातर-विचार

साधुको ठहरनेके लिए अपनी अनुमति प्रगट करनेवाला उपाश्रयका स्वामी शय्यातर कहलाता है, है, तथापि वह इन अवस्थाओंमें शय्यातर होता है—

(१) साधु वसतिमें भाण्डोपकरण रख देवे ।

(२) प्रतिक्रमण करे, और (३) रात्रिमें शयन करे ।

(१) इन तीनोंमेंसे प्रत्येक क्रिया शय्यातर होने में कारण है । इसलिए प्रतिक्रमण और

करवानी छ्छा-वाणो जितार् नविकने नदी जितरवानुं बाडुं आपीने पार जितरे छे, तेभ संसार-इपी समुद्रने पार जितरवानी छ्छा-वणो गृहस्थ, नाविक-समान साधु-मडापुइषेने शय्या-(वसति-स्थान) इपी बाडुं (पार जितरवा माटेनुं मूल्य) आपीने संसार-सागरथी पार जितरे छे, जेवे अर्थ समजवे जेधजे. जेठ पक्षेने अर्थ जेक ज छे के शय्यातर जेने कडे छे के जे साधुने रडेवाने माटे मकाननी आज्ञा आपे छे, जेना आहार औषध आदि पिंडने शय्यातर-पिंड कडे छे.

### शय्यातर-विचार

साधुने रडेवाने माटे पोतानी अनुमति आपनार उपाश्रयने स्वामी शय्यातर कडेवाय छे' तथापि ते आ अवस्थाओंमां शय्यातर थाय छे—

(१) साधु वसतिमां बाण्डोपकरण (पात्र वगैरे) राजे. (२) प्रतिक्रमण करे. अने (३) रात्रे शयन करे.

(१) आ त्रिणुमांनी प्रत्येक क्रिया शय्यातर थवामां करण छे, तेथी प्रतिक्रमण अने शयन



भाण्डोपकरणस्थापनानन्तरं वसतिस्वामिनः शय्यातरत्वम्, पूर्वगृहीतवसतीं स्थानसंकीर्णतायां सत्यां कियान् समीपतरवर्त्तिन्युपाश्रये तत्स्वामिनिदेशमादाय प्रतिक्रमणं कुर्वीतत दा तत्र भाण्डोपकरणस्थापनाभावेऽपि तदीयस्वामिनः शय्यातरत्वम् । अन्यत्र प्रतिक्रमणं कृत्वा स्थानसंकीर्णतायां सत्यां शयनमात्रं यत्राचरितं तत्स्वामिनोऽपि शय्यातरत्वम् । परन्त्वयं विशेषो बोद्धव्यः—

अन्यसाधुसविधे स्वकीयभाण्डोपकरणानि संस्थाप्याऽन्यत्र शयनप्रतिक्रमणाचरणे मूलोपाश्रयस्वामिनो न शय्यातरत्वम्, भाण्डादिस्थापने साधुसान्निध्यस्यैव निमित्तता न तु 'तत्स्वामिनः, साधोरभावे भाण्डादिस्थापनस्य शास्त्राविहितत्वात् । शय्यातरत्वनिवृत्तिकरणाय तु पुनः पुनः शय्यातरपरिवर्तनं नाचरणीयम् । पुनः पुनः शय्यातरपरिवर्तनं हि सा-

शयन करनेसे पहले भी भाण्डोपकरण रख देनेपर वसतिका स्वामी शय्यातर हो जाता है ।

(२) पहले जिस वसतिको ग्रहण कर लिया हो उसमें स्थानकी संकीर्णता होनेपर कुछ साधु अपने भाण्डोपकरण अन्य साधुओंके समीप रखकर, पासके दूसरे उपाश्रयमें उसके स्वामीकी आज्ञा लेकर प्रतिक्रमण करें तो वहां भाण्डोपकरण न रखने पर भी जहां प्रतिक्रमण किया हों उस वसतिका स्वामी शय्यातर कहलाता है, इस वसतिका नहीं ।

(३) दूसरे स्थानमें प्रतिक्रमण करके, स्थानकी संकीर्णता होने पर जहां सिर्फ शयन किया हो उस स्थानके स्वामीको भी शय्यातर कहते हैं अर्थात् उस अवस्थामें दोनों शय्यातर हैं ।

विशेष यह है कि—दूसरे साधुओंके पास भाण्डोपकरण रखकर अन्य ही किसी स्थानपर प्रतिक्रमण और शयन करे तो जहां भाण्डोपकरण रखें हैं, उस स्थानका स्वामी शय्यातर नहीं कहलाता । क्योंकि भाण्डोपकरण साधुके नेसराय (अधीनता) में ही रखे जाते हैं, गृहस्थके नेसरायमें रखना शास्त्रविरुद्ध है ।

पूर्वे पण्युं भांडोपकरणं राभी दे तो वसतिने। स्वामी शय्यातर थद्य न्यथे।

(२) पहलेवां जे वसतिनुं अडुणु करी दीधुं डोय, तेभां स्थाननी संकीर्णता (संकाश) डोवाथी केध साधु पोतानां भांडोपकरणं भीन साधुओानी समीपे राभीने, पासेना भीन उपाश्रयभां तेना स्वामीनी आज्ञा लधने प्रतिक्रमणु करे तो त्यां भांडोपकरणु न राभवा छतां पण्युं न्यां प्रतिक्रमणु क्युं डोय ते वसतिने। स्वामी शय्यातर कडेवाय छे. आ वसतिने। नडि.

(३) भीन स्थानभां प्रतिक्रमणु करीने स्थाननी संकाशने कारणे न्यां मात्र शयन क्युं डोय ते स्थानना स्वामीने पण्युं शय्यातर कडे छे. अर्थात् जे स्थितिभां जेउ शय्यातर छे.

विशेष वात जे छे के—भीन साधुओ। पासे भांडोपकरणु राभीने भीन जे केध स्थान पर प्रतिक्रमणु अने शयन करे तो न्यां भांडोपकरणु राभेवां डोय, ते स्थानने। स्वामी शय्यातर नथी कडेवातो, केभके भांडोपकरणु साधुनी नेसराय (अधीनता) भां जे राभवाभां आवे छे, गृहस्थनी नेसरायभां राभवां जे शास्त्रविरुद्ध छे.

१ वसतिस्वामिनः ।

१

धोर्भिक्षालोभं प्रकाशयति, तत्र बहवो दोषा अपि चापतन्ति, तथाहि—शय्यातरपरिवर्तने पूर्वशय्यातरो विभावयति—अद्य मम गृहे त्यक्तोपाश्रयः साधुरसौ निश्चितमागमिष्यतीति तदर्थं सुरसमन्नादिकं साधनीयमिति कृत्वा निष्पादितस्यान्नपानादेराधाकर्मिकत्वापत्तिः । यदितु स्वार्थं साधुनिमित्तं च निष्पादितं तदा मिश्रजातदोषापत्तिर्दुर्निवारैव । पूर्वं शय्यातरेण त्यक्तोपाश्रयाय साधवे कस्यचिद् वस्तुनः स्थापने स्थापनादोषः कथं साधुना वारणीयः । अन्ये दोषाः स्वयमूहनीयाः । तस्माद् झटिति शय्यातरपरिवर्तनं न साधुना विधेयम् ।

वसतियाचनाविधिः ।

अथोपाश्रयस्वामिनस्तदनुपस्थितौ तत्संरक्षकाद्वा वसतियाचनाविधिरभिधीयते—

शय्यातरत्वकी निवृत्ति करनेके लिए बारंबार शय्यातरका परिवर्तन नहीं करना चाहिए । ऐसा करनेसे यह प्रगट होता है कि साधु भिक्षाका लोभी है; इसमें बहुत से दोष भी उत्पन्न होते हैं ।

जैसे—शय्यातरका परिवर्तन करनेसे पहला शय्यातर इस प्रकार सोचता है—आज मेरे उपाश्रयकी आज्ञा संतोने छोड़ दी है, अतः मेरे यहाँ आवश्यक आवेंगे, इसलिए उनके वास्ते स्वादिष्ट अन्न आदिक बनाना चाहिए, ऐसा विचार कर बनाया हुआ अन्नादिक आधाकर्मिक होगा । यदि पहला शय्यातर अपने और साधुके लिए इकट्ठा बनावेगा तो मिश्रजात दोष लगेगा । साधुके आनेकी संभावनासे वह किसी वस्तुको स्थापना करेगा तो स्थापना(ठवणा) दोष होगा ।—इत्यादि अनेक दोष स्वयं समझ लेने चाहिये । इसलिए साधुको बारम्बार शय्यातर बदलना नहीं कल्पता है ।

उपाश्रय—याचनाकी विधि ।

वसति-स्वामीसे अथवा उसकीगैर—मौजूदगीमें उसके संरक्षकसे वसति-याचनाकी विधि कहते हैं—

शय्यातरत्वनी निवृत्ति करवाने भाटे वारंवार शय्यातरने परित्याग करवे। न जेधजे. जेम करवाथी जेवुं प्रकट थाय छे के साधु भिक्षानो लोभी छे; जेनाथी अनेक दोषो पणु उत्पन्न थाय छे.

जेम-शय्यातरनुं परिवर्तन करवाथी पडेले। शय्यातर आ प्रभाणु विचारे छे—आज मारा उपाश्रयनी आज्ञा संतोजे छोडी दीधी छे, जेटले मारे त्यां जर आवशे; तेथी जेमने भाटे स्वादिष्ट अन्नादि अनाववां जेधजे. जेवो विचार करीने अनावेलुं अन्नादि आधाकर्मिं अनशे, जे पडेले। शय्यातर पोतानी भाटे अने साधुने भाटे जेकहुं अनावशे तो मिश्रजात दोष लागशे. साधु आववानी संभावनाथी ते केध वस्तुने स्थापन करशे तो स्थापना-(ठवणा)-दोष लागशे.—इत्यादि अनेक दोषो पोतानी भेजे समणु देवा. जे कारणुथी साधुने वारंवार शय्यातर अहलवा कल्पता नथी.

( उपाश्रय—याचनानी-विधि )

वसतिना स्वामी पासे अथवा तेनी जेरडाजरीमां जेना संरक्षकनी पासे वसति—याचना करवानी विधि कहे छे:—

मुनिर्वदेत्—हे आयुष्मन् ! अस्यां वसतौ स्थातुमिच्छामि, यावति समये स्थातुमादेशो भवदीयो भवेत् तावानेव कालो यापनीयः, तत्रापि यावान् वसतिभूमिभागो ममावस्थानाय भवते रोचेत तावानेव ममापेक्षणीय इति ।

ततो गृहस्थः प्रतिब्रूयात्—भगवन् ! मुनीश्वर ! कियतः कालानवस्थास्यते ? तदा ऋतुबद्धशेषकाले सति साधुः “एकमासावधिकाले कल्पे यावदवसरं स्थास्यामि” इति; वर्षाकाले तु “चतुरो मासानत्र यापयिष्यामी” ति वदेत् ।

सागारिकेण साधुकल्पकालमुपलक्ष्य—“एतावतः कालानत्राहं न स्थास्यामि ग्रामान्तरं गमिष्यामी” ति कथने तु साधुरेवं कथयेत्—“अत्र भवदुपस्थितिसमयावधिरेव कालो मया क्षपणीयः, तदनन्तरमिमां वसतिं परिहास्यामीति । पुनः सागारिकेण—“कियन्तः साधवो भवन्तः ? ’ इति पृष्ठः साधुरभिदधीत—समुद्रतरङ्गवत् साधूनामियत्तावधारणं कः कुर्यात्, यतः कियन्तो गच्छन्ति, कियन्तश्चागच्छन्ति, ये चागमिष्यन्ति तेऽप्यत्रावस्थानं

मुनि—हे आयुष्मन् ! हम इस वसतिमें ठहरना चाहते हैं । तुम जितने समय तक ठहरनेकी आज्ञा दोगे, उतने समयसे अधिक नहीं ठहरेंगे । उसमें भी तुम भूमि का जितना भाग हमें ठहरनेके लिए देना चाहो, उतनाही हमारे लिए पर्याप्त है ।

गृहस्थ पूछे कि—हे मुनिराज ! आप कितने समय तक ठहरना चाहते हैं ? ।

तब मुनि—ऋतुबद्ध शेषकाल हो तो ‘एक मासके कल्पमें जब तक अवसर होगा तब तक रहेंगे’ ऐसा, यदि चातुर्मास हो तो ‘चार मास ठहरनेका हमारा कल्प है’ ऐसा कहे । यदि साधुका कल्प-काल सुनकर गृहस्थ कहे कि—मैं तो थोड़ेही दिन यहाँ रहूँगा फिर ग्रामान्तर जाऊँगा, तो साधुको कहना चाहिए कि—“जब तक तुम यहाँ रहोगे तब तक ही हम ठहरेंगे, तुम्हारे जाने पर इस वसतिको छोड़ देंगे । ”

यदि गृहस्थ पूछे कि—‘आप कितने साधु हैं ? ’ तो साधु उत्तर देवें कि—‘समुद्रके तरङ्गोंकी

मुनि—हे आयुष्मन् ! अमे आ वसति. (भोजन-स्थान) मां रडेवा धृच्छीये छीये, तमे नेटला समय सुधी रडेवानी आज्ञा आपशी, तेटला समयथी वधारे समय रडीशुं नडि. तेमां यण् तमे भूमिने नेटला लाग अमने रडेवाने भाटे आपवा धृच्छो तेटला न् अमारे भाटे पर्याप्त (पूरतो) छे.

गृहस्थ—हे मुनिराज ! आप कितना समय सुधी रडेवा धृच्छो छे ?

त्यारे मुनि—ऋतुबद्ध शेषकाल होय तो—‘एक मासना कल्पमां न्यां सुधी अवसर हशे त्यां सुधी रडीशुं अमे कडे, अथवा ने यातुर्मास होय तो—‘चार मास रडेवाने अमारे कल्प छे’ अमे कडे. ने साधुने कल्पकाल सांलणीने गृहस्थ कडे के ‘हुं तो थोडा न् द्विवस अर्ही रडीश’ तो साधुअे कडेवुं नेधअे के न्यां सुधी तमे अर्ही रडेशो त्यां सुधी न् अमे रडीशुं; तमे न्शो त्यारे आ स्थानने अमे छोडी दधशुं.’

ने गृहस्थ पूछे के ‘आप कितना साधुअो छे ? ’ तो साधु उत्तर आपे के—‘समुद्रना

करिष्यन्ति। इत्थं सागारिकाज्ञामादाय तदीयनामगोत्रे विज्ञायोपाश्रये साधुस्तिष्ठेत्। गोचरीं गन्तुमुद्यतो भिक्षुः शय्यातरनामगोत्रे अविज्ञाय भिक्षार्थं न पर्यटेत्।

कल्प्याकल्प्यविधिः।

शय्यातरगृहे साधोरकल्प्यानि कथ्यन्ते, यथा—

(१) अशनम्, (२) पानम्, (३) खाद्यम्, (४) स्वाद्यम्, (५) वस्त्रम्, (६) पात्रम्, (७) कम्बलः, (८) रजोहरणम्, (९) दोरकम्, (१०) सूची, (११) कर्त्तरी, (१२) छुरिका, (१३) नखहरणी, (१४) कर्णशोधनी (कानखुचरनी), (१५) दन्तशोधनी (दांतखुचरनी) कंटकोद्धारणी (कांटा कढनी चीपिया) (१७) कण्टकः कण्टकोद्धारणीपात्रञ्च (कण्टककुत्थ-ल्लिका), (१८) औषधम्, (१९) भैषज्यम्, (२०) शतपाकसहस्रपाकादितैलम्, (२१) पात्ररञ्जनद्रव्यम् (रोगान सफेदा आदि), (२२) पात्रादौ रन्ध्रकरणाद्युपयोगी शस्त्रविशेषः

तहर साधुओंकी मर्यादा नहीं है। क्योंकि कितने हो साधु आते हैं और कितनेही चले जाते हैं, जो आवेंगे वे भी यहीं ठहरेंगे।

इस प्रकार गृहस्थकी आज्ञा लेकर, उसका नाम और गोत्र जानकर साधुको ठहरना चाहिए। जबतक साधुको शय्यातरका नाम और गोत्र न मादम हो जावे तब तक भिक्षाके लिए न जावे।

कल्प्याकल्प्य—विधि।

निम्नलिखित वस्तुएँ शय्यातरके घरकी कल्पनीय नहीं हैं—(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य, (४) स्वाद्य, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कम्बल, (८) रजोहरण, (९) डोरा, (१०) सुई, (११) कैची, (१२) चाकू, (१३) नखहरणी (नहरनी), (१४) कर्णशोधनी (कानकुचरनी), (१५) दन्तशोधनी (दांतकुचरनी), (१६) चीपिया, (१७) कांटे और कांटोंकी कोथली, (१८) औषध, (१९) भेषज, (२०) शतपाक—सहस्रपाक आदि तेल (२१) पात्र रंगनेके लिए रोगान, सुपेता

तरंगोनी पेठे साधुओंकी मर्यादा नहीं, केमके डेटलाय साधुओं आवे छे अने डेटलाय आल्या भय छे, जेओ आवशे तेओ पणु अर्ही न रहेसे।”

अे प्रभाणु गृहस्थनी आज्ञा लधने, अेतुं नाम अने गोत्र जणुनीने साधुअे रहेवुं जेधअे. ज्यां सुधी शय्यातरतुं नाम अने गोत्र साधुना जणुवामां न आवे त्यां सुधी भिक्षाने भाटे भय नडि.

कल्प्याकल्प्य-विधि

नीचे लपेकी वस्तुओं शय्यातरना घरनी साधुने कल्पे नडि—

(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य. (४) स्वाद्य, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कांभणी (८) रजोहरण, (९) डोरा, (१०) सोय, (११) कातर, (१२) यपु, (१३) नभ उतारवानी नेरणी, (१४) कान-पोतरणी, (१५) दांत-पोतरणी, (१६) चीपीयो, (१७) कांटे अथवा कांटानी कोथली, (१८) औषध, (१९) भेषज, (२०) शतपाक—सहस्रपाक आदि तेल; (२१) पात्र रंगवा भाटेने रोगान सकेतो वगेरे, (२२) पात्रमां छिद्र आदि करवाना काममां आवनार

(सियार, रेती, इत्यादि), (२३) करगलम्, (२४) लेखनी, (२५) मसी, (२६) मसीपात्रम्, (२७) हिङ्गुलम्, (२८) खटिका, (खड़ी), इत्यादीनि ।

तथा शय्यातरगृहे साधोरुपादेयानि (कल्प्यानि) निर्दिश्यन्ते—

(१) तृणम् (२) लोष्टम्, (३) शिलापट्टकः (पेपणी), (४) शिलापुत्रकः, (५) भस्म, (६) पाषाणखण्डम्, (७) इष्टका, (८) धूलिः, (९) पीठम्, (१०) फलकम्, (आसनविशेषः), (११) शय्या (शरीरप्रमाणा), (१२) संस्तारकम् (सार्द्धद्वयहस्तप्रमाण आसनविशेषः), (१३) गोमयम्, (१४) सौपधिकशिष्यः, (१५) स्वाध्यायाद्यर्थं प्रातिहारिकं (पडिहारी) पुस्तकम्, इत्यादीनि । इदमप्यनुसन्धेयम्—यस्योपाश्रयस्य स्वामिने निवासशुल्कं दत्त्वा गृहस्थो निवासार्थं साधुं निमन्त्रयेत् स उपाश्रयः साधोरकल्प्य इति । उपाश्रयस्यानेकस्वामिनि सति कश्चिदेक एव शय्यातरत्वेन स्थापनीयः, न तु सर्वेऽपि ।

एतादृशशय्यातरस्य पिण्डे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, यथा—

आदि, (२२) पात्रमें छेद आदि करनेके काममें आनेवाले स्यार, रेती आदि ओजार, (२३) कागज़, (२४) लेखनी, (२५) स्याही, (२६) हिंगल, (२७) खड़ी इत्यादि ।

निम्नलिखित वस्तुएँ शय्यातरके घरसे साधुको कल्पनीय हैं— तिनका, (२) पत्थर, (३) शिला, (४) लोढ़ी, (५) राख, (६) पत्थरका—टुकड़ा, (७) ईंट, (८) धूल, (९) छोटा बाजौट, (१०) फलक (आसन), (११) शय्या (शरीरप्रमाण), (१२) संस्तारक (ढाड़ हाथका आसन), (१३) गोबर, (१४) उपधि-सहित शिष्य, (१५) स्वाध्याय आदिके लिए पडिहारी (वापस दी जानेवाली) पुस्तक आदि ।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि-जिस उपाश्रयको भाड़ेपर साधुके लिए खरीदा हो वह उपाश्रय साधुको कल्पनीय नहीं है ।

उपाश्रयके अनेक स्वामी हों तो उनमेंसे एक शय्यातर होता है । ऐसे शय्यातरके पिण्डमें

सारडी, रेती वगैरे ओज्जर, (२३) कागज, (२४) लेखण, (२५) शाही, (२६) डींगणो, (२७) भडी, इत्यादि.

नीचे लपेटली वस्तुओं शय्यातरनां घरनी साधुने कल्पे—

(१) तणुभलुं, (२) पत्थर, (३) शिला, (४) लोढ़ी (५) राख, (६) पत्थरने टुकडो, (७) ईंट, (८) धूल, (९) नानो आखठ, (१०) इलकं (आसन), (११) शय्या (शरीरप्रमाणनी), (१२) संस्तारक (ढाड़ हाथनुं आसन), (१३) छाण, (१४) उपधि सहित शिष्य, (१५) स्वाध्याय आदिने भाटे पडिहारी (पाछी आपी देवाय तेवी) पुस्तक आदि.

ये पणु याह राखणुं लेधये के ये उपाश्रय साधुने भाटे भाडे राख्यो डोय ते उपाश्रय साधुने कल्पे नहि.

उपाश्रयना अनेक स्वामीओ डोय तो तेभांथी ओक शय्यातर थाय छे. ओवा शय्यातरना पिंडमां आर भांगा डोय छे, ते आ प्रमाणे—(१) ओज्जर घरमां लोज्जन जनावणुं अने

- (१) एकत्र रन्धनम्, एकत्र भोजनम्,
- (२) एकत्र रन्धनम्, अन्यत्र गेहादौ भोजनम् ।
- (३) पृथक्-पृथग् रन्धनम्, एकत्र भोजनम् ।
- (४) पृथक् पृथग् रन्धनम्, पृथक्-पृथग् भोजनम् ।

तत्र द्वितीयचतुर्थभङ्गा साधोः कल्प्यौ । द्वितीयभङ्गे एकत्र रन्धनेऽपि पश्चात् शय्या-  
तरेतरांशस्य पृथक्कारे शय्यातरमात्रांशं विहायाऽन्येषां पिण्ड उपादेयः, तत्र तदानीं शय्या-  
तरस्वत्वापगमात् चतुर्थकल्पे तु पिण्डे शय्यातरांश्लेशसंसर्गशङ्कापि नास्ति । शय्यातरस्व-  
त्वापगम एवोपादेयताहेतुरिति निष्कर्षः ।

एवं प्रोषितभर्तृकासु अनेकासु सपत्नीष्वेकैव काचित् शय्यातरा कर्तव्या ।  
चत्वारो भङ्गा अत्रऽपि पूर्ववदेव ।

चार भंग होते हैं । वे इस प्रकार—

- (१) उसी घरमें बनाना उसी घरमें जीमना ।
- (२) उसी घरमें बनाना दूसरे-दूसरे घरमें जीमना ।
- (३) दूसरे-दूसरे घरमें बनाना उसी घरमें जीमना ।
- (४) दूसरे-दूसरे घरमें बनाना और दूसरे-दूसरे घरमें जीमना ।

इन चार भंगोंमेंसे दूसरा और चौथा भंग साधुको कल्पनीय है । दूसरे भंगमें एकत्र रन्धन  
होने पर भी शय्यातरसे भिन्न मनुष्यके अंशके अलग होजाने पर शय्यातरका भाग छोड़कर  
अन्यका पिण्ड कल्पनीय है, क्योंकि वहाँ शय्यातरका स्वामित्व नहीं रहता ।

चौथे भंगमें तो शय्यातरका स्वत्वके संसर्गकी तनिक भी आशंका नहीं है । तात्पर्य यह  
है कि जहाँ शय्यातरका स्वत्व (हक) नहीं रहता वही वस्तु साधुको ग्राह्य होती है ।

इसी प्रकार यदि एक शय्यातरकी अनेक पत्नियाँ हों और वह (शय्यातर) परदेश चला  
गया हो तो उनमें किसी एकको ही शय्यातर बनाना चाहिए । पहले की नाईं यहाँ भी चार

अने धरमां जभवुं . (२) अने धरमां लोअन अनाववुं अने भीअ धरमां जभवुं . (३) भीअ-  
भीअ धरमां अनाववुं अने अने धरमां जभवुं . (४) भीअ-भीअ धरमां अनाववुं अने  
भीअ-भीअ धरमां जभवुं .

आ चार लांगाओमांथी भीअने अने चौथी लांगो साधुने कल्पे छे . भीअ लांगांमां अनेकत्र  
रसोअ थती डोअ तो पणु शय्यातरथी भिन्न मनुष्योनेो लागू जूढो थर्ष अतां शय्यातरनेो  
लागू छोडीने अन्यनेो पिंड कल्पे छे; काश्चु के त्यां शय्यातरतुं स्वामित्व रडेतुं नथी .

चौथा लांगांमां तो शय्यातरना स्वत्वना संसर्गनी जश पणु आशंका नथी . तात्पर्य  
अने छे के जेमां शय्यातरतुं स्वत्व रडेतुं नथी; ते वस्तु साधुने माटे ग्राह्य अने छे .

अने रीते जे शय्यातरनी अनेक पत्नीओ डोअ अने अने ( शय्यातर ) परदेश यादयो  
जयो डोअ तो ते पत्नीओमांथी कोअ अनेक जे शय्यातर अनाववी जेअने . पडेलांनी पेडे

अप्रोषितभर्तृकासु तु यया निष्पादितमन्नादिकं नियतं शय्यातरो भुङ्क्ते सैव शय्या-  
तरा, यद्यनियतं तदा सर्वा अपि शय्यातरा मन्त्याः, पूर्वोक्ततृतीयभङ्गस्य विशेषो बोद्ध-  
व्यः—यदा पृथक् पृथग् रन्धनं कृतम्, एकत्र कृत्वा भुङ्क्तं च तदाऽवशिष्टमन्नादिकं विभज्य  
यदि स्वस्वगृहं नयेत् तादृशं शय्यातरस्वत्वविरहितमन्नादिकं साधोः कल्प्यमेवेति । एक-  
त्रीकृतमविभक्तं चेन्न कल्प्यमिति तदाशयः ।

कोऽपि शय्यातरो देशान्तरं प्रस्थितः स्वगृहाद्बहिर्गतत्वा कुत्रचित् तिष्ठेत्, तत्र य-  
दि गृहादन्यस्थानाद्वाऽशनपानादिकं तदर्थमानीतम्, अथवा बहिःप्रदेश एव निष्पादितं चेत्  
तदा तदशनादिकं साधोरकल्प्यम्, रात्रिवासार्थं बहिर्गतस्य साधोस्तु पुनः कल्प्यमेव ।

भंग समझना चाहिए । उनका पति परदेश न गया हो तो वह जिस पत्नीके यहां नियमित  
रूपसे जीमता हो वही शय्यातर होती है

यदि नियमित रूपसे न जीमता हो—कभी कहीं कभी कहीं जीमता हो तो सभीको  
शय्यातर मानना चाहिए ।

पहलेके चार भंगोंमेंसे तीसरे भंगमें इतना विशेष समझना चाहिए यदि अलग अलग  
भोजन बनाया गया हो और एकत्र करके जीमा हो तो बचे हुए अन्न आदिको बाँट लेने पर  
साधु शय्या-तरसे अन्यका आहार आदि ले सकते हैं, क्योंकि उसमेंसे शय्यातरका हिस्सा अलग  
निकल चुका है । हां इकट्ठा कर लिया हो और बाँटा न हो तो साधुको कल्पनीय नहीं है ।  
कोई शय्यातर परदेश जा रहा हो, और घरसे निकलकर कहीं बाहर ठहर गया हो, तो भी  
उसका अन्न—पान ग्राह्य नहीं है, भलेही वह अन्न—पान घरसे उसके लिए लाया गया हो या अन्य  
स्थानसे लाया गया हो अथवा वहीं पर तैयार किया हो । यदि रात्रिमें निवास करनेके लिए  
साधु बाहर चला गया हो तो कल्पनीय है ।

એમાં પણ ચાર ભાંગા સમજવા જોઈએ. એને પતિ પરદેશ ન ગયો હોય તો તે જે પત્નીને ત્યાં  
નિયમિત રીતે જમતો હોય તે શય્યાતર અને છે. જે નિયમિત રીતે ન જમતો હોય  
અને કોઈવાર એકને ત્યાં અને કોઈવાર બીજાને ત્યાં જમતો હોય તો અધી પત્નીએને  
શય્યાતર માનવી જોઈએ.

પહેલાંના ચાર ભાંગામાંના ત્રીજા ભાંગામાં એટલું વિશેષ સમજવું કે—જે જુદું જુદું  
ભોજન બનાવ્યું હોય અને એકત્ર કરીને જમતા હોય તો વધેલા અન્નાદિને વહેંચી લીધા  
પછી સાધુ શય્યાતરથી જુદાનો આહાર આદિ લઈ શકે છે, કારણ કે એમાંથી શય્યાતરનો  
ભાગ જુદો કાઢવામાં આવી ચૂક્યો હોય છે. હા, એકઠું કરેલું હોય અને વહેંચ્યું ન હોય  
તો સાધુને કહ્યે નહિ. કોઈ શય્યાતર પરદેશ જઈ રહ્યો હોય અને ઘરમાંથી નીકળીને  
ક્યાંક બહાર રહ્યો હોય તો પણ એનું અન્ન—પાન ગ્રાહ્ય બનતું નથી, પછી ભલે એ અન્ન—  
પાન ઘેરથી એને માટે લાવવામાં આવ્યું હોય અથવા અન્ય સ્થાનથી લાવવામાં આવ્યું  
હોય, યા ત્યાંજ તૈયાર બનાવવામાં આવ્યું હોય. જે રાત્રે નિવાસ કરવાને માટે સાધુ બહાર

यदि शय्यातरोऽन्यदीयगृहेऽन्यमन्नादिकं परिवेषयेत् , तत्रपि शय्यातरेण दीयमान-  
मन्यदीयमप्यशन-पानादिकं साधोरकल्प्यम् ।

साधोर्भिक्षादाने शय्यातरस्या सहगमनरूपनितित्तत्वे सति तत्र भिक्षाग्रहणमकल्प्य-  
म् । ग्रामाद्बहिरपि शय्यातरीयगोशालादिसत्त्वे तदीयदुग्धादिकं साधोरकल्प्यम् ।

शय्यातरगृहे भोक्ता भृत्यादिरपि शय्यातरः । शय्यातरस्य स्वसा दुहिता च तस्मि-  
न् दिवसे पुनरागमनमनिश्चित्य भर्तृकुलादागच्छेत्, तदा साऽपि शय्यातरा । यदि तस्मि-  
न्नहनि भर्तृकुलं पुनर्गन्तुकामा शय्यातरगृहमागता चेत् सा शय्यातरगृहे एव शय्यातरत्व-  
मुपयाति अन्यगृहे तु न तस्याः शय्यातरत्वमिति बोध्यम् ।

उपाश्रयस्वामिनि देशान्तरस्थे सति उपाश्रयसंरक्षकादाज्ञामादाय तत्र साधुस्तिष्ठेत्

शय्यातर, दूसरे गृहस्थके यहां उसी दूसरे गृहस्थका अन्नादि परोस रहा हो तो भी  
उसके हाथसे दिया-हुआ आहार कल्पनीय नहीं है । यदि किसी भिक्षाकी प्राप्तिमें शय्यातर  
निमित्त हो अर्थात् दलाली करे तो वह भिक्षा भी साधुको प्राप्य नहीं है ।

गांवसे बाहर शय्यातरकी गोशाला आदि हो तो वहांका दूध आदि भी साधुको प्राप्य  
नहीं है ।

शय्यातरके घर जीमनेवाले नोकर-चाकर भी शय्यातर हैं । शय्यातरकी बहिन या  
बेटी उस दिन वापस लौटनेका निश्चय न करके अपनी ससुरालसे आई हो तो वह भी शय्यातर  
है, यदि वापस लौटनेकी विचार करके आई हो तो वह शय्यातरके घरमें ही शय्यातर है, दूसरे  
के घरमें नहीं, अर्थात् दूसरेके घरमें दूसरेका आहारादि यदि वह परोसे तो साधु ले सकते हैं ।

जब उपाश्रयका स्वामी परदेशमें रहता हो और उपाश्रय— रखतोले से आज्ञा लेकर साधु

आल्या गया होय तो कल्पे छे.

शय्यातर, भीज गृहस्थने त्यां अे भीज गृहस्थनां अन्नादि पीरसे तोपण्य अेना  
हाथथी अपातो आहार कल्पे नहि जे कांछे भिक्षानी प्राप्तिमां शय्यातर निमित्त होय  
अर्थात् दलाली करे तो अे भिक्षा पण्य साधुने प्राप्य थती नथी.

गाभनी अहार शय्यातरनी गौशाला आदि होय तो त्यांनु' दूध वगैरे पण्य साधुने  
प्राप्य अने नहि.

शय्यातरना घर जमनास नोकर-चाकर पण्य शय्यातर छे, शय्यातरनी अडेन या पुत्री  
अे दिवसे पाछां जवानो निश्चय कर्था विना पोतानो सासरेथी आवी होय तो ते पण्य शय्या-  
तर छे. जे पाछां जवानो विचार करीने आवी होय तो शय्यातरना घरमां ज  
ते शय्यातर छे, भीजना घरमां नहि, अर्थात् भीजना घरमां भीजना आहारादि जे ते  
पीरसे तो साधु लर्ष शके छे.

जे उपाश्रयनो स्वामी परदेशमां रहेतो होय अने उपाश्रयना रणेवाणनी आज्ञा लर्षने  
साधु तेमां रहे तो न्यारे उपाश्रयनो स्वामी आवी जय त्यारे ते शय्यातर अने छे,



तत्रोपाश्रयस्वामिनि समागते साधुना शय्यातरत्वं स्वामिन्येव कल्पनीयम्, न संरक्षके ।

शय्यातरप्रदत्तमन्येन स्वीकृतमप्यशनादिकं शय्यातरगृहे साधोरकल्प्यम्, व्यवहाशुद्ध्यादिदोषात् ।

तथा शय्यातरेण दत्तमन्येनास्वीकृतमन्नादिकं शय्यातरगृहाद् बहिरपि साधोरकल्प्यम्, तत्र शय्यातरस्वत्वापगमाभावात् ।

शय्यातरगृहाद् बहिरन्येन स्वीकृतं चेत् तदा साधोः कल्प्यमेव, तत्र शय्यातरस्वत्वापगमादिति बोध्यम् ।

शय्यातरगृहाद्बहिस्तेन (शय्यातरेण) दत्तमन्येनाऽस्वीकृतं चेत् तत्राऽस्वीकृताशनपानादेः स्वीकारार्थं 'गृह्यतामिद'-मित्यादिपररूपा प्रवर्त्तनाऽपि साधोरकल्प्या । शय्यातरपि-

उसमें ठहरें तो जब उपाश्रयका स्वामी आजावे तब वही शय्यातर होता है, रखवाला नहीं ।

शय्यातरने अशन आदिक दूसरे को दे दिया और दूसरेने चाहे उसे स्वीकार भी कर लिया हो तो भी शय्यातर के घर पर साधु को वह लेना नहीं चाहिए, क्योंकि स्वीकार कर लेनेसे शय्यातरका स्वामित्व तो नहीं रहा पर यहाँ व्यवहारसे अशुद्धि है ।

यदि शय्यातरद्वारा दिये हुए अन्नादिको अन्य गृहस्थ न स्वीकार करे तो शय्यातरके घर में या घरसे बाहर कहीं भी साधुको नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उस आहारादिमें शय्यातरका स्वत्व रहता है । शय्यातरके घरसे बाहर दूसरेने स्वीकार कर लिया हो तो साधुको कल्पनीय है, क्योंकि उसपर शय्यातरका स्वत्व नहीं रहा ।

शय्यातरके घरसे बाहर शय्यातरने किसी दूसरेको दिया हो और दूसरेने स्वीकार न किया हो तो उस-अशनादिके स्वीकार करानेके लिए 'तुम ले लो' इत्यादिरूपसे गृहस्थको प्रेरणा करना भी साधुका कल्प नहीं है, क्योंकि उसमें शय्यातरका पिण्ड लेने आदि अनेक दोषोंकी शंका होती है ।

शय्यातरका पिण्ड ग्रहण करनेमें दोष बतलाते हैं—

रूपेवाण नाह् ।

शय्यातरे अशनादि भीजने आपी दीधुं डोय अने भीजये लले अने स्वीकारी पशु दीधुं डोय, तो पशु शय्यातरने घर साधुये ते देवुं लेधये नहि, कारण के स्वीकारी देवाथी शय्यातरनुं स्वामित्व तो रह्युं नहि. पशु तेमां व्यवहारथी अशुद्धि रहेली छे.

जे शय्यातरे आपेक्षुं अन्नादि अन्य गृहस्थ न स्वीकारे तो शय्यातरना घरमां या घरअहार कयांय पशु ते साधुये अहणुं करवुं लेधये नहि, कारण के ते आहारादिमां शय्यातरनुं स्वत्व रहेलुं डोय छे. शय्यातरना घरनी अहार भीजये स्वीकारी दीधुं डोय तो ते साधुने कल्पे, केमके ते उपर शय्यातरनुं स्वत्व रहेतुं नथी.

शय्यातरना घरनी अहार शय्यातरे केध भीजने आप्युं डोय अने भीजये स्वीकार्युं न डोय तो ते अशनादिने स्वीकार करावाने माटे 'तमे लध लयो' धत्यादिरूपे गृहस्थने प्रेरणा करवी अये पशु साधुने कल्पे नहि, कारण के तेमां शय्यातरने पिंड देवा वगेरे

ण्डग्रहणादिदोषशङ्कासंभवात् ।

अथ शय्यातरपिण्डग्रहणे दोषाः प्रदर्शयन्ते—

(१) वसतिदौर्लभ्यम्, वसतिस्वामिनो गृहेऽशनपानादिग्रहणनियमे स्वकीयान्नादिव्य-  
यमालोच्य स्वोपाश्रयनिवासार्थमाज्ञां साधवे न कोऽपि दद्यात्. इत्याशयः । (२) प्रवचन-  
लाघवम्; (३) स्वावासस्थान एव भिक्षालाभसंभावनया परिभ्रमणालस्ये संजाते कदाचित्  
शय्यातरगृहे आहाराद्यलाभेऽकालभिक्षाचर्याप्रसङ्गः, वेलातिक्रमे सति आर्त्तरीन्द्रध्यानप्रसङ्गः,  
स्वाध्यायान्तरायः, आत्मक्लान्तिश्च, (४) तीर्थङ्कराज्ञाभङ्गोऽपीत्यादयो दोषाः प्रसज्जन्ते, (२३)  
इति शय्यातरविचारः ।

(१) शय्यातरका पिण्ड ग्रहण किया जाय तो वसति मिलना दुर्लभ (मुश्किल) हो जायगा ।  
गृहस्थ यह विचारेंगे कि इन्हें स्थान देनेसे अन्नपान आदि भी देना पड़ेगा । ऐसा सोचकर गृ-  
हस्थ अपने स्थानमें रहनेके लिए साधुओं को स्थान नहीं देगा ।

(२) प्रवचनका लाघव होगा ।

(३) अपने निवासस्थान पर ही भिक्षा मिल जानेकी संभावनासे साधु भ्रमण करनेमें आलस्य  
करेंगे, और जब शय्यातरके घर पर आहार नहीं मिलेगा तो अकाल—(असमय)—में गोचरी  
करनेका प्रसंग होगा, और असमयमें भिक्षा न मिलनेसे आर्त्त—रौद्र ध्यान होंगे, स्वाध्याय आदि  
में अन्तराय पड़ेगा, और आत्माको खेद होगा ।

(४) इसके सिवाय तीर्थंकर भगवानने शय्यातर—पिण्डको अकल्पनीय बताया है, इसलिए  
उनकी आज्ञाका भंग होगा, इत्यादि अनेक दोष आते हैं ॥

इति शय्यातर विचार समाप्त ।

अनेक दोषोनी शंका रहै छे.

शय्यातरनो पिंड अहणु करवाभां रहैला दोषो अतावे छे:—

(१) शय्यातरनो पिंड अहणु करवाभां आवे तो वसति (रहैवानुं स्थान) भणवुं  
दुर्लभ (मुश्किल) अनी जाय. गृहस्थ अेभ विचारशे के अेभने स्थान आपवाथी अन्न-पान  
आदि पणु देवा पडशे. अेभ विचारिने गृहस्थ पोताना स्थानभां रहैवाने भाटे साधुअेभने  
स्थान आपशे नहि.

(२) प्रवचननुं लाघव थशे.

(३) पोताना निवासस्थान पर न भिक्षा भणी ज्वानी संभावनाथी साधु भ्रमणु कर-  
वाभां आणस करशे. अने जे शय्यातरना घेरथी आहार नहि भणे तो अकाले (असमये)  
गोचरी करवाने प्रसंग आवशे, अने अकाले भिक्षा न भणवाथी आर्त्त—रौद्र ध्यान थशे,  
स्वाध्यायादिभां अंतराय पडशे अने आत्माने खेद थशे.

(४) अे उपरांत तीर्थंकर भगवाने शय्यातर पिंडने अकल्पनीय अताव्ये छे, ते भाटे  
अेभनी आज्ञानो भंग थशे, इत्यादि अनेक दोषो उत्पन्न थाय छे.

इति शय्यातर-विचार समाप्त.

आसन्दी=वेत्रासनं, खटविका च (२४),

पर्यङ्कः=मञ्चविशेषः, स एव पर्यङ्ककः; स्वार्थे कः । चकाराच्छिबिका-दोलाताम्र-यानादिग्रहणम् (२५),

गृहान्तरनिषद्या=गृहं=गृहिनिकेतनं तस्याऽन्तरम्=अभ्यन्तरं मध्यमिति यावत्, तस्मिन् निषद्या=निषदनम् उपवेशनमित्यर्थः, यद्यपि व्याकरणादौ निषीदन्त्यस्या'-मिति विगृह्य 'निषद्या=आपणः, इत्युक्तं तथाप्यत्र शास्त्रसङ्केतितत्वाद्भाववयवन्तोऽर्थ निषद्या-शब्दः (२६),

गात्रस्य = शरीरस्य उद्वर्त्तनानि = मलापनयनद्रव्येण समालेपनानि 'उबटन' इति-लोकप्रसिद्धानि, चकारादन्येषामपि शरीरसम्बन्धिनां संस्काराणां ग्रहणं बोद्धव्यम् (२७), एषु चारित्रघातादयो दोषाः सुस्पष्टा एव ॥५॥५॥

<sup>२८</sup> मूलम्-<sup>२९</sup> गिहिणो वेयावडियं. जाइयाजीववत्तिया ।

<sup>३०</sup> तत्तानिव्वुडभोइत्तं. <sup>३१</sup> आउरस्सरणाणि य ॥६॥

छाया-गृहिणो वैयावृत्त्यं, जात्याजीववृत्तिया (आजीववर्तिता)

तप्तानिर्वृतभोजित्व, -मातुरस्मरणानि च ॥६॥

सान्वयार्थः-(२८) गिहिणो = गृहस्थकी वेयावडियं = वैयावच्च करना, (२९) जाइया = जातीसे-अपनी उंची जाती बताकर आजीववत्तिया = जीविकानिर्वाह करना, (३०) तत्तानिव्वुडभोइत्तं = अग्रिमं सिर्फ तपस्या हुआ किन्तु शस्त्रसे अपरिणत-मिश्र भोजन करना, य = और (३१) आउरस्सरणाणि = बीमार होनेपर पूर्वभुक्त वस्तुका स्मरण करना ॥६॥

टीका-गृहिणः = गृहस्थस्य, वैयावृत्त्यं = गृहस्थायान्नाऽऽनयनप्रदानादि-लक्षण-शुश्रूषाकरणम् (२८)

जात्या = 'अहमेतादृशजातिविशिष्टः' इत्याद्याघोषणेन, उपलक्षणमिदं कुलादीनाम-

(२४) आसन्दी-बेतकी बनी हुई छिद्रवाली कुर्सीपर बैठना ।

(२५) पर्यङ्क-एक प्रकारका पलंग, पालखी, डोला, ताम्रजाम आदिका ग्रहण करना ।

(२६) गृहान्तरनिषद्या-गृहस्थके घरमें बैठना ।

(२७) गात्रोद्वर्त्तन-शरीर पर उबटन आदि करना ॥५॥

(२४) आसन्दी-नेतरनी अनाचेदी छिद्रवाणी पुरशी पर भेसवुं.

(२५) पर्यङ्क-एक प्रकारने पलंग, पालखी छिडोणी. भ्याने.

(२६) गृहान्तरनिषद्या-गृहस्थना घरमां भेसवुं.

(२७) गात्रोद्वर्त्तन-शरीर पर सुगंधी पदार्थां भेजवा. (५)

पि, आजीववृत्तितां-आजीवे - जीविकायां वृत्तिः = स्थितिर्यस्य तद्भावः, यद्वा आजीववृत्तिता, इतिच्छाया आजीवे जीविकायां वर्तितुं शीलं यस्यासौ अजीववृत्तिं तस्य भाव इति तदर्थः (२९),

तप्तानिर्वृतभोजित्वं = तप्तं = वह्निनोष्णीकृतं च तत् अनिर्वृतं = शस्त्रापरिणतं तप्तानिर्वृतम् अर्द्धपकमिति भावस्तद्भोक्तुं शीलमस्य तत्त्वम्, मिश्रान्नादिसेवनमित्यर्थः (३०)

आतुरस्मरणम् = आतुराः = रोगादिग्रस्तास्तेषां स्मरणं = तत्कर्तृकपूर्वोपभुक्तवस्तु-स्मरणमिति फलितम्, यद्वा आतुरशब्दोऽत्र भावप्रधाननिर्देशस्तथाचाऽऽतुरत्वे स्मरणमिति समासः, रोगाद्यवस्थायां पूर्वाऽनुभूतवस्तुस्मरणमित्यर्थः (३१) ।

चकार इहापि समुच्चयार्थकः । अत्रासंयमादयो दोषा जायन्ते ॥६॥

<sup>३२</sup> मूलम्-<sup>३३</sup>मूलए <sup>३४</sup>सिंगबेरे य, उच्छुखंडे <sup>३५</sup>अनिव्वुडे ।

<sup>३५</sup>कंदे <sup>३६</sup>मूले य सच्चित्ते. <sup>३७</sup>फले <sup>३८</sup>बीए य आमए ॥७॥

छाया-मूलकं शृङ्गवेरं च इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।

कन्दो मूलं च सचित्तं, फलं बीजं चामकम् ॥७॥

सान्वयार्थः-य=और (३२) मूलए=मूला (३३) सिंगबेरे=अदरख (३४) उच्छुखंडे सगन्ना (सेलडी) अनिव्वुडे=शस्त्रसे अपरिणत (३५) कंदे=कन्द य=और (३६) मूले=शिफा (तथा) सच्चित्ते=सचित्त (३७) फले=फल य=और आमए=सचित्त (३८) बीए=बीज । भावार्थ-इनके सेवनसे अनन्तकाय आदि वनस्पतिकायकी विराधना होती है ॥७॥

टीका-मूलकं=प्रसिद्धम् ३२ शृङ्गवेरं=शृङ्गवद्वेरं=शरीरं यस्य तत् आर्द्रकमित्यर्थः (३३), च=तथा इक्षुखण्डम् इक्षुशकलम् एतन्नयम् अनिर्वृतं=शस्त्रपरिणतम् (३४) कन्दः=

(२८) गृहस्थकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करना ।

(२९) अपनी जाति या कुल आदि बताकर भिक्षा लेना ।

(३०) आधा पक्का आधा कच्चा अर्थात् मिश्र अन्न-पानी आदि लेना ।

(३१) रोग आदिकी अवस्थामें पहले सेवन किये हुए विषयोंका स्मरण करना अर्थात् बीमारीमें हाय ! हाय ! करना ॥६॥

(२८) गृहस्थनी वैयावृत्य ( सेवा-शुश्रूषा ) करनी.

(२९) पीतानी जाति या कुल अनावीने भिक्षा लेनी.

(३०) अधपाकां-अधकायां अर्थात् मिश्र अन्नपाणी आदि लेना.

(३१) रोगादिनी अवस्थायां पहले सेवनां विषयानुं स्मरणं करवुं अर्थात् बीमारीमें 'हाय ! हाय !' करनी. (६)

(३२) सचित्त भूणानुं सेवन करवुं.

शूरणादिः (३५), मूलं=शिफा (३६), च=पुनः, सचित्तं=सजीवम्, फलं=ककड़ी-त्रपुषादि-  
कम् (३७), च=तथा बीजं=तिलादि, आमकम्=सचित्तम् (३८), । अत्रानन्तकायादिविराध-  
नादिदोषा जायन्ते ॥७॥

मूलम्—<sup>३९</sup>सोवच्चले <sup>४०</sup>सिंधवे <sup>४१</sup>लोणे <sup>४२</sup>रुमालोणे य आमए

<sup>४३</sup>सामुद्दे <sup>४४</sup>पंसुखारे य कालालोणे य आमए ॥८॥

छायाः—सौवर्चलं लवणो, रुमालवणश्चामकः ।

सामुद्रः पांशुक्षारश्च, काललवणश्चामकः ॥८॥

सान्त्वयार्थः—आमए=सचित्त (३९) सोवच्चले=सौवर्चलं-संचरनमक (४०) सिंधवे  
लोणे=सैन्धव-सींधानमक (४१) रुमालोणे=रुमानदीसे निकला हुआ नमक (४२) सामुद्दे=  
समुद्री नमक य=और (४३) पंसुखारे=ऊपर नमक य=और आमए=सचित्त (४४) काला-  
लोणे=काला नमक । भावार्थ-उल्लिखित नमकोंका सेवन करने से पृथ्वीकाय आदिकी  
विराधना होती है ॥८॥

टीका—सुवर्चले=देशविशेषे भवः सैवर्चलः=रुचकलवणः (३९),

सिन्धुनद्युपलक्षितदेशीयपर्वते भवः सैन्धवःलवणः=लुनाति=छिनत्ति दूरयति  
रुफादिकमिति लवणः, इदं सौवर्चलादेर्विशेषणपदम् (४०),

(३२) सचित्त मूलका सेवन करना ।

(३३) सचित्त अदरख (आदा) का सेवन करना ।

(३४) सचित्त इक्षुखण्डका सेवन करना ।

(३५) सचित्त सूरण आदि कन्दोंका सेवन करना ।

(३६) सचित्त मूलका सेवन करना ।

(३७) सचित्त ककड़ी खीरा आदि फलोंका सेवन करना ।

(३८) सचित्त बीजका=तिल आदिका सेवन करना ॥७॥

(३९) सचित्त रुचक (सौवर्चल सोचर) नमकका सेवन करना ।

(४०) सचित्त सैन्धव (सैंधा) नमकका सेवन करना ।

(३३) सचित्त आहुतुं सेवन करवुं.

(३४) सचित्त शेरडीनां पतीकां-ककडां-तुं सेवन करवुं

(३५) सचित्त सूरण आदि कंदोतुं सेवन करवुं.

(३६) सचित्त भूणतुं सेवन करवुं.

(३७) सचित्त काकडी भीरा आदि इक्षुतुं सेवन करवुं.

(३८) सचित्त भीरा तल आहितुं सेवन करवुं (७)

(३९) सचित्त रुचक लूण (सौवर्चल-संचण) तुं सेवन करवुं.

(४०) सचित्त सिंधालूणतुं सेवन करवुं.

च=तथा, रुमालवणः=रुमा=विशिष्टलवणाकरभूता काचिन्नदी तस्या लवणः आमकः  
=सचित्तः, अस्य पूर्वाद्धे सर्वत्र सम्बन्धः (४१),

सामुद्रः=समुद्रोत्थलवणः (४२),

पांशुक्षारः=ऊषरलवणः (४३),

च=तथा काललवणः=कृष्णलवणः'विह्वलवण, इतिप्रसिद्धः (४४),

आमकः=सचित्तः, 'आमक' इत्यस्योत्तराद्धे सर्वत्र सम्बन्धः । अत्र पृथ्वीकायविरा-  
धनादयो दोषा भवन्ति ॥८॥

<sup>४५</sup> मूलम्—<sup>४६</sup> ध्रुवणत्ति <sup>४७</sup> वमणे, <sup>४८</sup> य वत्थीकम्म-विरेयणे ।

<sup>४९</sup> अंजणे <sup>५०</sup> दंतवण्णे <sup>५१</sup> य, <sup>५२</sup> गायबभंगविभूसणे ॥९॥

छायाः—धूपनमिति वमनं च, बस्तिकर्म विरेचनम् ।

अञ्जनं दन्तवर्णश्च, गात्राभ्यङ्ग-विभूषण ॥९॥

सान्त्वयार्थः—(४५) ध्रुवणत्ति=रोग मिटाने आदिके लिए किसी स्थानमें धूप देना,  
(४६) वमणे=प्रयत्नपूर्वक वमन करना, (४७) वत्थीकम्म=बस्तीकर्म करना, य=और  
(४८) विरेयणे=विरेचन-जुलाब लेना, (४९) अंजणे=अंजन-सुरमा आदि आंजना, (५०)  
दंतवण्णे =दातून मसी आदिसे दाँत साफ करना, (५१-५२) गायबभंगविभूसणे=शरी-  
रको तैल आदिसे मालिश करना (५१) तथा वस्त्र आदिसे भूषित करना (५२)॥९॥

टीका—धूपनं=रोगाद्युपशान्तिनिमित्तं स्थान हादिषु धूपदानम्, सौगन्धयोत्पत्ति-  
निमित्तमंशुकादीनां धूपादिना वासनश्च (४५), वमनं=वमिजनकभेषजादिप्रयोगेण वान्ति-  
करणम् (४६),

(४१) सचित्त रुमा (नदीविशेषके) नमकका सेवन करना ।

(४२) सचित्त समुद्री नमकका सेवन करना ।

(४३) सचित्त ऊषर नमकका सेवन करना ।

(४४) सचित्त काले नमकका सेवन करना ॥८॥

(४५) रोग आदिकी शान्ति अथवा सुगंधिके लिए स्थानक या वस्त्र आदिमें धूप देना ।

(४६) दवाई लेकर वमन करना ।

(४१) सचित्त रुमा ( नदीविशेषभांथी नीकणेली ) भीठानुं सेवन करवुं .

(४२) सचित्त समुद्रना लूथुनुं सेवन करवुं .

(४३) सचित्त ऊषर लूथु ( पारा ) नुं सेवन करवुं ( ८ )

(४४) सचित्त काला भीठानुं सेवन करवुं ;

(४५) रोगादिनी शान्ति अथवा सुगंधिने भाटे स्थानक या वस्त्रादिने धूप करवो .

(४६) दवा लधने वमन करवुं .

वस्तिकर्म=वसतःतिष्ठतः, मूत्रपुरीषावेति, वस्ते=आच्छादयति मूत्राऽऽशयपुटमिति वा वस्तिः=नाभेरधोभागः, तस्याः, कर्म=तच्छोधनव्यापारो वस्तिकर्म=मलादिशोधनार्थ-मपानादिमार्गे वस्तिंकादिप्रवेशनम्, अपानमार्गेण जलकर्षणं वेत्यर्थः (४७),

विरेचनम्-कोष्ठशुद्धयर्थं स्वर्णमुख्यादिविरेचनसेवनम् (४८),

अञ्जनं=शोभावशीकरणार्थं नयनयोः कज्जल-सौवीरादिदानम् (४९),

दन्तवर्णः—'वर्णनं-वर्णः, दन्तानां वर्णः=उज्ज्वलीकरणं दन्तवर्णः=अङ्गुली-दन्तशाण (मसी) काष्ठादिभिर्दन्तवर्षणम् (५०) ।

गात्राभ्यङ्ग-विभूषणे=अभ्यङ्गश्च विभूषणं चेत्यनयोरितरेतरयोगद्वन्द्व इत्यभ्यङ्ग-विभूषणे, गात्रस्य अभ्यङ्ग-विभूषणे गात्राभ्यङ्गविभूषणे, 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वौ वा श्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इतिन्यायाद् गात्रशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धस्तत्र गात्राभ्यङ्गः=गात्रस्य=शरीरस्य अभ्यङ्गः=शतपाक सहस्रपाकादितैलादिनाऽभ्यञ्जनं मर्दनमिति यावत् (५१),

गात्रविभूषणं=वस्त्रालङ्कारणादिना शरीरपरिष्करणम् (५२),

धूपनादिनाऽग्निकायप्रभृतिविराधनादिदोषा जायन्ते ९ ।

सम्प्रत्युपसंहरन्नाह—'सर्वमेय' -इत्यादि ।

मूलम्—सर्वमेयमणाइन्नं. निग्गंथाण महेसिणं ।

संजमंमि अ जुत्ताणं लहुभूयविहारिणं ॥१०॥

(४७) मल आदिके शोधनके लिए वस्तिकर्म करना ।

(४८) कोठेकी शुद्धिके लिए सनाय आदिका जुलाब लेना ।

(४९) नेत्रोंमें कज्जल आदि लगाना ।

(५०) मस्सी आदि लगाकर दांत रंगना ।

(५१) शतपाक, सहस्रपाक आदि तेलसे शरीरकी मालिश करना ।

(५२) शरीरका वस्त्र आभूषणोंसे मण्डन करना ।

इन धूप आदिसे अग्निकाय आदि जीवोंकी विराधना आदि दोष होते हैं ॥९॥

(४७) मलादिना शोधन माटे वस्तिकर्म करवुं.

(४८) कोठेकी शुद्धिके लिए सनाय आदिना जुलाब लेवो.

(४९) नेत्रोंमें कज्जल ( मेश ) आंजवुं.

(५०) मस्सी वगेरे लगाडीने दांत रंगवा.

(५१) शतपाक, सहस्रपाक आदि तेलथी शरीरने मर्दन करवुं.

(५२) शरीरतुं मंडन करवुं ( शोभाववुं )

ये धूप आदिथी अग्निकाय आदि जीवोंकी विराधना आदि दोष लागे छे (९).

१ चौरादिकाद्वर्णयतेभवि घञ् ।

छायाः—सर्वमेतदनाचीर्णं, निर्ग्रन्थानां महर्षिणाम् ।

संयमे च युक्तानां लघुभूतविहारिणाम् ॥१०॥

सान्वयार्थः—निर्गन्थाण=परिग्रहरहित महेशिणं=महर्षियोंके संजममि=संयममें जुत्ताणं=लगेहुए य और लहुभूयविहारिणं=वायुके समान अप्रतिबन्धविहार करनेवालोंके एयं =ये पूर्वोक्त बावन सव्वं=सब अणाइन्नं=अनाचीर्णं हैं । भावार्थ—निर्ग्रन्थ महार्षियोंने पूर्वोक्त इन बावन विषयोंका आचरण नहीं किया, अतः ये अनाचीर्ण कहलाते हैं । साधुओंको इनका आचरण नहीं करना चाहिये ॥१०॥

टीका—ग्रन्थान्निर्गता निर्ग्रन्थाः=कनकरजतादिद्रव्यग्रन्थि मिथ्यात्वादि भावग्रन्थिरहितास्तेषाम्, महर्षिणाम् महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयस्तेषाम्, यद्वा 'महैषिणा' मिति च्छाया, महो = निजहितं तम् एषयन्ति=गवेषयन्तीति महैषिणस्तेषाम् । संयमे=सकलसावधव्यापारोपरमलक्षणे युक्तानां = व्यापृतानां दत्तचित्तानामित्यर्थः, च=पुनः लघुभूतविहारिणाम् = लघुभूतो=वायुस्तद्वदप्रतिबद्धं विहरन्ति तच्छीलास्तेषां वायुवदप्रतिबन्धविहारिणामित्यर्थः । एतत्=पूर्वोक्तं सर्वं द्विपञ्चाशत्प्रकारकम् अनाचीर्णम्=अनासेवितम् 'अस्ती'-ति शेषः ॥१०॥१०॥

अनाचीर्णत्यागिनो मुनयः कीदृशा भवन्ति ? इत्याह—

मूलम्—पंचासवपरिन्नाया. तिगुत्ता छसु संजया ।

पंचनिग्गहणा धीरा, निर्गन्था उज्जुदंसिणो ॥११॥

छायाः—पञ्चासवपरिज्ञाता, -स्त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।

पञ्चनिग्रहणा धीरा, निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥११॥

सान्वयार्थः—पंचासवपरिन्नाया=पांच आसवोंकेत्यागी, तिगुत्ता=मनोगुप्ति में वचगुप्ति २ कायगुप्ति ३ से युक्त, छसु=छह कायमे संजया=संयमवान्, पंचनिग्गहणा=पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले धीरा=परीषह उपसर्ग सहनेमें धीर निर्गन्था=मुनि उज्जुदंसिणो=मोक्षमार्गके आराधक होते हैं । भावार्थ—जो अनाचीर्णोंका त्याग करते हैं वे गाथोक्तविशेषणोंसे विशिष्ट होते हैं ॥११॥

अब उपसंहार करते हैं—'सव्वमेय०' इत्यादि ।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रहकी ग्रन्थिसे रहित, अपने हितका अन्वेषण करनेवाले महर्षि तीन करण तीन योगसे सावध व्यापारके त्यागरूप सकल संयमसे युक्त और वायुकी तरह अप्रतिबन्ध विहार करनेवाले मुनिराजोंके ये पूर्वोक्त बावन अनाचीर्ण है ॥१०॥

हुवे उपसंहार करे छेः—सव्वमेय० इत्यादि,

आह्याभ्यन्तर परिग्रहनी अंधिथी रहित, पोताना हितनुं अन्वेषण करनारा महर्षिओ-ओ त्रण करण त्रण योगथी सावध व्यापारने त्यजवा ३५ सकण संयमथी युक्त अने वायुनी चेठे अप्रतिबन्ध विहार करनारा मुनिराजेना ओ पूर्वोक्त भावन अनाचीर्ण कडेल छे.



टीका-पञ्चास्रवपरिज्ञाताः=आस्रवति=आक्षरति-मिथ्यात्वादिनालिकाभ्यः कर्मसलिलमात्मतडागे यैस्ते आस्रवाः हिंसादयः, पञ्च च ते आस्रवाश्चेति पञ्चास्रवाः परि=सर्वतोभावेन ज्ञाताः=ज्ञपरिज्ञातोऽनर्थमूलमनुभाविताः प्रत्याख्यापरिज्ञातो हेयत्वेन परित्यक्ता यैस्ते तथोक्ताः, त्रिगुप्ताः=तिसृभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्गुप्ताः षट्षु=पृथिव्यादि कायषट्केषु संयताः सम्यग् यतनावन्तः-पङ्कायोपमर्दनविरता इत्यर्थः, पञ्चनिग्रहणाः=पञ्च=प्रसंगात् पञ्चेन्द्रियाणि निगृह्णन्ति=वशयन्तीति तथोक्ताः, धीराः=परीषहोपसर्गादिषु धृतिमन्तः, निर्ग्रन्थाः=मुनयः ऋजुदर्शिनः=ऋजु=अवक्रम् अकुटिलस्वभावं यथा स्यात्तथा द्रष्टुं शीलं येषां ते तथोक्ताः-सरलहृदया इत्यर्थः, यद्वा अर्जते=उपार्जयति=सम्पादयत्यविचलसुखमिति ऋजुः=सम्यग्रत्नत्रयलक्षणो मोक्षमार्गस्तं पश्यन्ति तच्छीला इति ऋजु दर्शिनः मोक्षमार्गसाधका इत्यर्थः ॥११॥११॥

मूलम्-आयावयंति गिम्हेसुः हेमंतेसु अवाउडा ।

वासासु पडिसंलीणाः संजया सुसमाहिया ॥१२॥

अनाचीर्णौका त्याग करनेवाले मुनि कैसे होते हैं ? सो कहते हैं-‘पंचीसव०’ इत्यादि ।

जिनके द्वारा आत्मारूपी तालाबमें मिथ्यात्वादि रूप नालाओंसे कर्मरूपी जल आता है उन्हें आस्रव कहते हैं । वे आस्रव मिथ्यात्व अविरति आदिके भेदसे पांच प्रकारके हैं । उन आस्रवोंको ज्ञ-परिज्ञासे अनर्थोंका कारण जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञासे त्यागते हैं । अर्थात् अनाचीर्णौका त्याग करनेवाले पांच आस्रवोंसे विरत हो जाते हैं, मन वचन कायरूप तीन गुप्तियोंसे युक्त होते हैं, पृथ्वी आदि षट् कायकी यतनामें सावधान रहते हैं, अर्थात् षड्जीवनिर्कायकी विराधनासे रहित होते हैं, पांच इन्द्रियोंका दमन करते हैं, परीषह और उपसर्ग सहने में दृढ़ ऐसे मुनि, सरल हृदय वाले होते हैं, अथवा अविनाशी सुखको प्राप्त करनेवाले या मोक्षमार्गके साधक होते हैं ॥ ११ ॥

अनाचीर्णौनि त्याग करनारा मुनिओ केवा डोय छे ? ते कडे छे:-

पंचासव० धत्यादि.

नेनी द्वारा आत्मा-रूपी तणावमा मिथ्यात्वादि-रूप नालाओंथी कर्म-रूपी जल आवे छे तेने आस्रवो कडे छे. ओ आस्रवो मिथ्यात्व अविरति आदि लेहे करीने पांच प्रकारना छे. ओ आस्रवोने ज्ञपरिज्ञाथी अनर्थोना कारणरूप जालीने प्रत्याख्यान परिज्ञाथी त्यजे छे; अर्थात् अनाचीर्णौनि त्याग करनाराओ पांच आस्रवोथी विरत थई जय छे; मन वचन कायः-रूप त्रय गुप्तियोंथी युक्त थाय छे, पृथिवी आदि छ कायनी यतनामां सावधान रहे छे, अर्थात् छ जीवनिर्कायनी विराधनाथी रहित थाय छे, पांच इन्द्रियोनु दमन करे छे, परीषह अने उपसर्ग सहैवामां दृढ ओवा मुनिओ सरलहृदय अने छे, अथवा अविनाशी सुखने प्राप्त करनारा या मोक्षमार्गना साधक अने छे. (११).

१ ‘पञ्चास्रवपरिज्ञाताः’ अत्र आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातः ।

२ ‘पञ्चनिग्रहणाः, अत्र नन्द्यादित्वात्कन्तरि ल्युः ॥

१९

छाया-आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेष्वप्रावृताः ।

वर्षासु प्रतिसंलीना, संयताः सुसमा (हिताः) धिकाः ॥१२॥

सान्वयार्थः-सुसमाहिय-प्रशस्त समाधिवाले संजया = संयमी मुनि गिम्हेसु-ग्रीष्मऋतुमें पडिसंलीणा = कछुएकी भांति इन्द्रियोंका गोपन कहते हैं, अर्थात् जिस ऋतुमें जिस प्रकारकी तपस्यासे अधिक कायक्लेश होता हो उस ऋतुमें वही तपस्या करते हैं ॥१२॥

टीका-सुसमाधिकाः=समाधोयतेऽस्मिन् मनो विवेकिभिरिति समाधिः-प्रशस्तभावाऽवस्थानम्, सु=शोभनः समाधिर्येषांते तथोक्ताः = विनय-श्रुतादिसप्राधिसम्पन्नाः । यद्वा 'सुसमाहिताः' इति च्छाया, 'निरवद्यव्यापारविधानदत्तावधानाः' इति तदर्थः । संयता-प्रवचनमननयतनावन्तः, मुनयः ग्रीष्मेषु = धर्मर्तुषु आतापयन्ति=ऊर्ध्वाभिमुखवस्थानादिना परितापयन्ति स्वतनुमिति शेषः, आतापनां विदधतीति यावत् । घ्नन्ति = नाशयन्ति शैत्याधिक्येन चित्तसमाधिमिति हेमन्ताः 'हिमोऽन्तोऽवयवोऽस्त्येषामिति वा पृषोदरादित्वाद् हेमन्तास्तेषु हिमर्तुषु अप्रावृताः = 'अनुदरा कन्य'-त्यत्रेव नवोऽल्पार्थकत्वेन अल्प-प्रावरणाः, यद्वा प्रावरणरहिताः, वर्षासु = प्रावृट्कालेषु, प्रतिसंलीनाः = कूर्मवदिन्द्रियगोपनतत्परा भवन्तीत्यर्थः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनप्रयोगः प्रतिवत्सरमेवंकरणसंस्मचनाय ॥१२॥१२॥

जिस अवस्थामें आत्मज्ञानी जन प्रशस्त भावोंसे रमण करते हैं उसे समाधि कहते हैं । अनाचीणोंका त्याग करनेवाले साधु उस विनय श्रुत आदि चार प्रकारकी समाधिको प्राप्त करते हैं । अथवा निरवद्य व्यापार करनेमें सदा सावधान रहते हैं । तथा प्रवचनके मनन करनेमें यत्नवान् रहते हैं । ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके सन्मुख मुख करके भुजाएँ फैलाकर आतापना लेते हैं । शीत ऋतुमें थोड़े कपड़े रखते हैं, या कपड़ोंको दूर कर शीतकी आतापना लेते हैं, वर्षा ऋतुमें कछुवेकी तरह इन्द्रियोंका गोपन करनेमें तत्पर होते हैं ।

ग्रीष्म, हेमन्त, और वर्षा-शब्द गाथामें बहुवचनान्त है, इससे यह आशय निकलता है कि प्रत्येक वर्षकी ऋतुओंमें ऐसा करते हैं ॥१२॥

'परीसह०' इत्यादि ।

ॐ अवस्थायां आत्मज्ञानी जन प्रशस्त-भावोऽर्थी रमण्यु करे छे तेने समाधि कडे छे । अनाचीणोनि त्याग करनारा साधुओओ विनय श्रुत आदि चार प्रकारनी समाधिने प्राप्त करे छे, अथवा निरवद्य व्यापार करवामां सदा सावधान रहे छे । तथा प्रवचननुं मनन करवामां यत्नवान् रहे छे । ग्रीष्म ऋतुमां सूर्यनी सन्मुख मुख राणीने लुलओने पडोणी करीने आतापना ले छे शीत ऋतुमां थोडां कपडां रानीने या कपडां दूर करीने ठंडीनी आतापना ले छे । वर्षाऋतुमां कायानी पेडे इन्द्रियोंनुं गोपन करवामां तत्पर रहे छे ।

ग्रीष्म, हेमन्त अने वर्षा शब्द गाथामां बहुवचनान्त छे, तेथी ओवो आशय नीकणे छे के प्रत्येक वर्षनी ऋतुओमां ओम करे छे (१२) ।

परीसह० इत्यादि ।

१ ('हन्तेर्मुद् द्विच' उणादिसूत्र ३।१२९) इति झच् हन्ते हिर्गदेशो मुद्रागमो गुणश्च ।

<sup>१</sup>मूलम्-<sup>२</sup>परीसहरिउदंता, <sup>३</sup>धूयमोहा जिइंदिया ।

<sup>४</sup>सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, <sup>६</sup>पक्कमंति <sup>८</sup>महेसिणो ॥१३॥

छाया-परीषहरिपुदान्ता, धूतमोहा जितेन्द्रियाः ।

सर्वदुःखप्रहीणार्थं, प्रक्रामन्ति महर्षिणः ॥१३॥

सान्वयार्थः-परीसहरिउदंता = परीषहरूपी शत्रुओंको जीतने वाले धूयमोहा = मोहममताके त्यागी जिइंदिया = इन्द्रियोंके दमन करनेवाले महेसिणो = महर्षि-मुनि-राज सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा = समस्त दुःखोंके नाशके लिए पक्कमंति = शक्ति फोड़ते हैं उद्योग करते हैं ॥१३॥

टीका-‘परीसह०’ इत्यादि ।

परीषहरिपुदान्ताः = परीषहा = क्षुधा-पिपासादय एव रिषवः = शत्रवः पशभव कारित्वात् परीषहरिषवः, दान्ताः = अन्तर्भावितण्यर्थतया दमिताः = निगृहीता उपशमं प्रापिताः परीषहरिषवो यैस्ते तथोक्ताः, धूतमोहाः = मुह्यति = सदसद्विवेकरहितो भवत्यात्माऽनेनेति मोहोऽज्ञानं धूतः = समुज्झितो मोहो यैस्ते तथोक्ताः, जितेन्द्रियाः = जितानि = रागद्वेषवशात्स्वविषयप्रवृत्त्युपरोधपूर्वकं वशीकृतानि इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि यैस्ते एवंविधा महर्षयः = मुनयः सर्वदुःखप्रहीणार्थं = ‘प्रहीण’ मिति सौत्रत्वाद् भावक्तात् गृह्यते, तथा च-सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वं दुःखानि सर्वदुःखानां प्रहीणं = परित्यागः सर्वदुःखप्रहीणं, सर्वदुःखप्रहीणाय इदं सर्वदुःखप्रहीणार्थम् ‘अर्थेन नित्यसमासो विशेष्य-लिङ्गता चेति वक्तव्य’-मिति समासः । यद्वा ‘प्रक्षीणार्थं-मिति तदर्थः, सर्वदुःखप्रक्षीणार्थं = शारीरिक-मानसिक-निखिलदुःखविनाशार्थं प्रक्रामन्ति = समुद्युञ्जते स्वीयां शक्ति स्फोरयन्तीत्यर्थः ॥१३॥

क्षुधा-पिपासा प्रभृति परीषहरूपी शत्रुओंको पराजित करते हैं । सत्-असत्के बोधसे वैचित करनेवाले मोहको नष्ट कर देते हैं । इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयमें जो प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिको रोक कर इन्द्रियोंको वशमें करके जितेन्द्रिय होते हैं, ऐसे महर्षि शारीरिक और मानसिक समस्त प्रकारके समस्त दुःखोंका विनाश करनेके लिए पमाक्रम फोड़ते हैं ॥१३॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं-‘दुक्कराइ०’ इत्यादि ।

बुध, तस्म, धत्यादि परीषड-इपी शत्रुओंने पराजित करे छे. सत् असत्ना बोधथी वञ्चित करनारा मोहने नष्ट करी नांछे छे. ध्दियेनी पोत पोताना विषयेमां छे प्रवृत्ति थाय छे. ते प्रवृत्तिने रोकने ध्दियेने वश राभीने जितेन्द्रिय अने छे, अवेा महर्षिओ शारीरिक अने मानसिक अधा प्रकारनां अधां दुःखेना विनाश करवाने माटे पराक्रम करे छे. (१३) डवे उपसंहार करतां डडे छे:-दुक्कराइ० धत्यादि.

१-‘निष्ठांतस्य न पूर्वनिपातः, ‘लक्षणहेत्वोः क्रियायाः’ इति सूत्रनिर्देशेन पूर्वनिपात-प्रकरणस्याऽनित्यत्वात् ।

सम्प्रत्यध्ययनमुपसंहरन्नाह—‘दुक्कराईं’ इत्यादि—

मूलम्—दुक्कराईं<sup>१</sup> करित्ताणं<sup>२</sup>, दुस्सहाइं<sup>४</sup> सहेत्तु य।<sup>५</sup>

केइत्थ<sup>६</sup> देवलोएसु<sup>१०</sup> केइ<sup>७</sup> सिज्झंति<sup>८</sup> नीरया<sup>११</sup> ॥१४॥<sup>९</sup>

छायाः—दुष्कराणि कृत्वा, दुस्सहानि सोढ्वा च ।

केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिध्यन्ति नीरजस्काः ॥१४॥

सान्त्वयार्थ—दुक्कराईं = दुष्कर आतापना आदि करित्ताणं = करके य = और दुस्सहाइं = कायर पुरुषोंके असह (परीषह आदि) सहेत्तु = सह करके केई = कोई-कोई देवलोएसु = स्वर्गोंमें (उत्पन्न होते हैं), केई = कोई नीरया = कर्मरजसे रहित-मुक्त होकर अत्थ = इसी भवमें सिज्झंति = सिद्ध होजाता हैं—मोक्ष चले जाते हैं ॥१४॥

टीका—दुःखेन कर्तुं योग्यानि दुष्कराणि = आचरितुमशक्यानि कष्टसाध्या, यातापनादीनि कृत्वा = विधाय, च = तथा दुःसहानि = कातरचिचैः सोढुमशक्यानि परीषहोपसर्गादीनि सोढ्वा = संसह केचित् = मुनयः अवशिष्टकर्माणः देवलोकेषु = सौधर्मादिसुरलोकेषु या-‘तो’ -ति शेषः, केचित् = कतिपये नीरजस्काः = कर्मरजोविनिर्मुक्ताः अत्र = अत्रैव भवे सिध्यन्ति = सिद्धा भवन्ति, शिवपदमासादयतीत्यर्थः । अत्र टीकान्तरेषु—‘अत्रे’-त्यस्य ‘देवलोकेषु’ इत्यनेन सहान्त्वयकरणं सर्वथा प्रमाद विजृम्भितम् ॥१४॥१४॥१४॥

कर्मावशेषेण ये मुनयो देवलोकं गच्छन्ति ते तत्र देवायुष्कमुपभुज्य ततश्च्युता आर्यक्षेत्रे मनुष्यजातौ मुकुले च समुत्पद्य तद्भवमोक्षगामिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह—‘खवित्ता’ इत्यादि—

पूर्वोक्त गुणोंसे विशिष्ट मुनि दुष्कर आतापना आदि क्रियाओंका आचरण करके, तथा कायर पुरुष जिन्हें सहन नहीं कर सकते ऐसे परीषह और उपसर्गोंको सह कर अवशिष्ट-कर्मवाले कोई मुनि सौधर्म आदि देवलोकमें जाते हैं । जो कर्मरजसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं वे इसी मनुष्य भवमें सिद्धिपदको प्राप्त करते हैं । दूपरे टीकाकारों ने ‘अत्र’ शब्दको देवलोकके साथ जोड़ा है वह ठीक नहीं है, ‘अत्र’ शब्दका अर्थ-यहाँ—“इसी भवमें” ऐसा है ॥१४॥

जो मुनि कर्म बाकी रहनेसे देवलोकमें जाते हैं, वे भी देवलोकसम्बन्धी आयुष्यको भोग

पूर्वोक्त शुद्धोत्थी (विशिष्ट मुनि दुष्कर आतापना आदि क्रियाओंको आचरण करके तथा कायर पुरुषों के सहन करी शक्ता नहीं थे) परीषहो अने उपसर्गों सहाने अवशिष्ट कर्मवाला कोई मुनि सौधर्म आदि देवलोकमें जाते हैं । वे भी कर्मरजसे सर्वथा मुक्त नहीं जाते थे तेन्ना आ मनुष्यभवमें सिद्धिपदने प्राप्त करे थे । भीष्म टीकाकारोंके अत्र शब्दने देवलोक साथ जोड़ा है तो भ्राम्य नथी, अत्र शब्दने अर्थ अर्थात् ‘आ भवमें’ अर्थात् है. (१४).

वे मुनि, कर्म बाकी रहनेसे देवलोकमें जाते हैं, तेन्ना पण देवलोकसम्बन्धी

७ ६ ३ ५ ४  
मूलम्—खवित्ता पुष्पाकम्माइं. संजमेण तवेण य ।

१ २ ८  
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, तायिणो परिनिब्बुडे ॥१५॥ त्तिवेमि ॥

छाया—क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च ।

सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता; स्यायिणः परिनिवृताः ॥१५॥ इति ब्रवीमि ।

सान्वयार्थः—सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता=मोक्षमार्गमें प्राप्त हुए तायिणो=षट्कायके रक्षक (मुनि) संजमेण=संयमके द्वारा य=और तवेण=तपके द्वारा पुष्पाकम्माइं=पहले बांधे हुए कर्मोंको खवित्ता=खपाकरके परिनिब्बुडे=मुक्त होते हैं । त्ति वेमि=पूर्ववत् ॥१५॥

इति तृतीयाध्ययनस्य सान्वयार्थः ।

टीका—सिद्धिः=अविचलमुखनिष्पत्तिस्तस्या मार्गः=उपायो ज्ञानादिः सिद्धिमार्गस्त-  
म् अनुप्राप्ताः=अनुगताः, त्रायिणः=षड्जीवनिकायत्राणपरायणान्तःकरणाः संयमेन=सा-  
वद्यव्यापारविरतिलक्षणेन सप्तदशविधेन, च=तथा तपसा=ऊनोदरतादिरूपेण द्वादशवि-  
धेन तपश्चरणेन पूर्वकर्माणि = प्रभवोपार्जितज्ञानावरणीयाद्यष्ट विधकर्माणि क्षपयित्वा =

कर, वहांसे चव कर आर्य क्षेत्रमें मनुष्यजाति, और सुकुलमें जन्म लेकर उसी भवमें सिद्धि प्राप्त करते हैं । इसी विषयको सूत्रकार आगेकी गाथामें कहते हैं—“खवित्ता०” इत्यादि ।

वे मुनि, मोक्षमार्गमें प्राप्त होकर सर्वसावद्यव्यापारके त्यागरूप सत्रह प्रकारके संयमसे, तथा अनशन ऊनोदर आदि बारह प्रकारके तपसे, पहले भवोंमें बांधे हुए ज्ञानावरण आदि आठ प्रका-  
रके समस्त कर्मोंको नाश करके सर्वथा मुक्त हो जाते हैं—कर्मजन्य संतापसे रहित होकर परमशी-  
तलीभूत होते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं ।

आयुष्यने लोकावने, त्यांथी यवीने आर्यक्षेत्रमां मनुष्यजाति अने सुकुलमां जन्म लधने  
अने लवमां सिद्धि प्राप्त करे छे, आ विषयने सूत्रकार आगणनी गाथामां कडे छे—खवित्ता०  
धत्यादि.

वे मुनि, मोक्ष-मार्गमां प्रवेश करीने सर्वसावद्य-व्यापारना त्यागरेप सत्तर प्रकारना  
संयमथी, तथा अनशन अनोदरी आदि बार प्रकारना तपथी पहिलांना लवोमां बांधेलां  
ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारना अधां कर्मोना नाश करीने सर्वथा मुक्त थध लय छे—कर्म  
जन्य संतापथी रहित थधने परमशीतलीभूत थाय छे, अर्थात् सिद्ध थध लय छे.

क्षयं नीत्वा परिनिवृताः = परि सर्वतोभावेन निवृताः = कर्मजनित-सन्तापराहित्येन शीत-  
लीभूताः 'भवन्ती'-ति शेषः, सिध्यन्तीत्यर्थः । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१५॥

इति श्री-विश्वविख्यात जगद्वल्लभप्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित-  
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-  
कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-  
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-  
स्याऽऽचारमणिमञ्जूषारूपायां व्याख्यायां तृतीयं  
'क्षुल्लकाचारकथा' ऽऽख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

\*

श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! तीसरे अध्ययनका जैसा भाव भगवानने  
फरमाया है, वैसा ही तुमसे कहता हूँ ॥१५॥

इति "क्षुल्लकाचारकथा" नामक तीसरे  
अध्ययनका हिन्दीभाषानुवाद समाप्त ॥३॥

—\*—

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीने कहे छे—हे जम्बू ! तीसरे अध्ययनने जेवो भाव भग-  
वाने फरमाये छे तेवो हुं तने कहुं छुं. (१५)

इति 'क्षुल्लकाचारकथा', नामक तीसरे अध्ययननुं  
गुजराती-भाषानुवाद समाप्त. (३)

—: ० :—

## अथ चतुर्थाध्ययनम्

गतं तृतीयाध्ययनं सम्प्रति चतुर्थमारभ्यते—पूर्वाध्ययने 'अनाचीर्णानि विहायाऽऽ-  
चारे धृतिः संघार्या संयमिने' आचारश्च षड्विधजीवानां यथावस्थितस्वरूपमवबुध्य त-  
त्संरक्षणपुरस्सरं भवत्यतोऽत्र षड्जीवनिर्कायानामाऽध्ययने तत्स्वरूपं तत्संरक्षणोपायं च  
प्रतिपादयिष्यन् प्रवचनस्याऽऽप्तोपदिष्टत्वं प्रदर्शयति—'सुयं मे' इत्यादि,

मलम्—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु  
छज्जीवणियानामज्झयणं, समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवे-  
इया सुअक्खाया सपन्नत्ता. सेयं मे अहिज्जिउ अज्जयणं धम्मप-  
न्नत्ती ॥१॥

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीव नि-  
कायानामाध्ययनं, श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्त्राख्याता सुप्रज्ञप्ता,  
श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥१॥

### चौथा अध्ययन ।

अब चौथा अध्ययन कहते हैं—

तीसरे अध्ययनमें यह प्रतिपादन किया है कि महापुरुषों को अनाचीर्णों का त्याग करके,  
आचार-(संयम)-में दृढता रखनी चाहिए । आचारमें दृढता तब ही होती है जब षट्काय के  
जीवोंका वास्तविक स्वरूप जानकर उनकी रक्षा की जाय, इसलिए इस 'षड्जीवनिर्काय' नामक  
अध्ययनमें षड्जीवनिर्कायका स्वरूप और उसकी रक्षाका उपाय बताते हुए 'यह प्रवचन आत-  
(भगवान्)-द्वारा उपदिष्ट है' इस बातको कहते हैं—'सुयं मे०, इत्यादि ।

हे आयुष्मन् ! अर्थात् संयमरूपी-जीवनवाले ! नीरोग-जीवनवाले ! या दीर्घजीवी !, इस  
सम्बोधनसे धर्मके आचारणमें आयुष्यकी प्रधानता सूचित की है (१), अथवा 'आउसंतेणं' यह

### अध्ययन ४. थुं.

હવે ચોથું અધ્યયન કહે છે:—

ત્રીજા અધ્યયનમાં એમ પ્રતિપાદન કરવામાં આયુષ્ય છે કે—મહાપુરુષોએ અનાચી-  
ર્ણોનો ત્યાગ કરીને આચાર ( સંયમ ) માં દૃઢતા રાખવી જોઈએ. આચારમાં દૃઢતા ત્યારે  
જ આવે છે કે જ્યારે ષટ્કાયના જીવોનું વાસ્તવિક સ્વરૂપ જાણીને તેમની રક્ષા કરવામાં  
આવે, તેટલા માટે આ 'ષટ્જીવનિર્કાય' નામના અધ્યયનમાં છ-કાયનું સ્વરૂપ અને તેની  
રક્ષાના ઉપાયો બતાવતાં 'આ પ્રવચન આત્મ ( ભગવાન ) દ્વારા ઉપદિષ્ટ છે, એ વાતને કહે  
છે—સુયં મેં ૦ ઇત્યાદિ

હે આયુષ્મન ! અર્થાત્ સંયમ-રૂપી-જીવન-વાળા ! નીરોગી-જીવન-વાળા ! યા દીર્ઘ-  
જીવી !, આ સંબોધનથી ધર્મના આચરણમાં આયુષ્યની પ્રધાનતા સૂચિત કરી છે (૧),  
અથવા આઉસંતેણં એ એક પદ છે, એની છાયા આજુબમાણેન એ પ્રમાણે થાય છે, અર્થાત્

सान्वयार्थः—आउसं=हे अयुष्मन् शिष्य ! तेणं = उस भगवन् = भगवान ने एवं = ऐसा अक्खायं = कहा है, मे = मैंने सुयं = सुना है इह = यहाँ इस प्रवचन मे खलु निश्चय करके छज्जीवणियानामज्झयणं=षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन हैं, (वह) समणेणं = श्रमण भगवया = भगवान् कासवेणं = कश्यपगोत्रीय महावीरेणं = महावीरने पवेइया = प्रवेदितकी है, सुअक्खाया = सम्यक् प्रकारसे कही है, सुपन्नता = सम्यक्तया बताई है धम्मपन्नत्ती = धर्मप्रज्ञप्ति (नामक) यह) अज्झयणं = अध्ययन मे = मुझे अहिज्जिउं पढ़ने को सेयं = कल्याणकारी हैं अर्थात् भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित इस अध्ययनका अध्ययन करना मुझे कल्याणकारी है ॥ १ ॥

टीका—एति = गच्छतीत्यायुः = संयमलक्षणं नीरूजं दीर्घं वा जीवितस्यास्ती—  
त्यायुष्मान् तत्सम्बुद्धौ हे आयुष्मन् ! गुणवच्छिष्यामन्त्रणमेतत् । अनेन धर्माचरणे प्राधान्ये-  
नायुषोऽपेक्षा विद्यते इति सूचितम् । तेन = लोकत्रयप्रसिद्धेन,

यद्वा 'आउसंतेणं' इत्येकपदस्य 'आजुषमाणेन' इति संस्कृतं तस्य मयेत्यनेन सम्बन्धः तथा च आङ्गति मर्यादायाम् आ = शस्त्रश्रवणमर्यादाया जुषमाणेन = गुरुन् सेव-  
मानेन मयेत्यर्थः । विधिमन्तरेण हि श्रवणे शास्त्ररहस्यं श्रोतुरधोमुखकुम्भस्येव न किञ्चिद-  
प्यन्तः प्रविशति । 'आजुषमाणेने'-ति विशेषणेन गुरुमाराध्य शिक्षां लब्धवतः शिष्यस्य  
शास्त्राध्ययनं सफलीभवतीति द्योतितम् ।

अथवा 'आउसंतेणं' इत्यस्य 'आवसता' इति संस्कृतम्, तस्यापि 'मये' 'त्यनेनैव सम्बन्धः, आङ्ग प्राग्वन्मर्यादार्यकस्तथाच = आ = शिष्योचितमर्यादाया वसता=भगवदन्तिके निवासं कुर्वता मयेत्यर्थः । अनेन शिष्यस्य गुरुकुलनिवासः सूचितः ।

भगवता = भगः = ज्ञानं सकलपदार्थविषयकम् (१), माहात्म्यम्=अनुपममहनी-  
यमहिमसम्पन्नत्वम् (२), यशः = विविधानुकूलप्रतिकूलपरीषहोपसर्गसहनसमुद्भूता जग-

एक पद है, इसकी छाया 'आजुषमाणेन' होती है, अर्थात् गुरुकी सेवा करनेवाले मैंने, इस पदसे गुरुकी सेवा करके सीखनेसे ही शास्त्रका अध्ययन सफल होता है, यह सूचित होता है (२), 'आवसता' ऐसी भी छाया होती है, अर्थात् शिष्यके योग्य मर्यादा-पूर्वक भगवानके समीप रहने-  
वाले मैंने (सुना), इस पदसे गुरुकुलमें निवास करना सूचित किया गया है ।

यहां 'भग' शब्दके दश अर्थ हैं—(१) समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान, (२) अनु-  
पम-महिमा, (३) विविध प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल परीषहोंको सहन करनेसे उत्पन्न होने-

अर्थात् गुर्नी सेवा करनाश अेषा मे, ओ पदथी 'गुर्नी सेवा करीने शीअवाथी न शास्त्रनुं  
अध्ययन सङ्ग थाय छे' अे सूचित थाय छे (२), आवसता अेषी पणु छाया थाय छे.  
अर्थात् शिष्यने योग्य मर्यादा-पूर्वक भगवानननी समीपे रहनेनाश अेषा मे' (सांख्युं )  
अे पदथी गुर्कुणभां निवास करवानुं सूचन करेछुं छे.

अर्ही 'भग' शब्दना दस अर्थ छे (१) अथा पदार्थाने विषय करवावाणुं ज्ञान, (२)



द्रक्षणप्रज्ञासमुत्था वा कीर्तिः (३) वैराग्यम् = क्रोधादिकषायनिग्रहलक्षणम् (४) मुक्तिः = सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः (५), रूपम् = सुरासुरनरहृदयहारि सौन्दर्यम् (६) वीर्यम् = अन्तरायान्तजन्यमनन्तसामर्थ्यम् (७) श्रीः = घातिकर्मपटलविघटनजनितानन्तचतुष्टयलक्ष्मीः (८), धर्मः = अपवर्गद्वारकपाटोद्घाटनसाधनम्, श्रुतादिरूपो यथाख्यातचारित्ररूपो वा (९), ऐश्वर्यं = त्रैलोक्याधिपत्यं (१०) चाऽस्यास्तीति भगवान् तेन तथोक्तेन, एवम् = 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' मित्याधारभ्य 'तायिणो परिनिव्वुडे' इत्यन्तं यावत् पूर्वोर्पादिष्टरूपेण, आख्यातम् परस्परासङ्कीर्णतया कथितम्, प्रवचने, मेमया श्रुतम् = श्रवणगोचरीकृतम्। खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे। इह = अस्मिन् प्रवचने, षड्जीवनिकायानामाध्ययनम् = षट् च ते पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणा जीवाश्चेति षड्जीवास्तेषां निकायः = समूहः प्रतिपाद्यत्वेनाऽस्ति यस्यामागमपद्धतौ सा 'षड्जीवनिकाया' तन्नाम यस्य तच्च तदध्ययनं चेति' षड्जीवनिकायानामाध्ययनम् 'अस्ती' -तिशेषः।

वाली या संसारकी रक्षा करनेवाले अलौकिक ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कीर्ति, (४) क्रोध आदि कषायोंका सर्वथा निग्रहरूप वैराग्य, (५) समस्त कर्मोंका क्षयस्वरूप मोक्ष, (६) सुर-असुर और नरोंके अन्तःकरणको हर लेनेवाला सौन्दर्य, (७) अन्तराय कर्मके नाशसे उत्पन्न होनेवाला अनन्त बल, (८) घातिया कर्मरूपी पटलके हट जानेसे प्रादुर्भूत होनेवाली अनन्त-चतुष्टय लक्ष्मी, (९) मोक्षके द्वारको खोलनेका साधन श्रुत-चारित्र-यथाख्यातचरित्ररूप धर्म, (१०) तीन लोकका आधिपत्य रूप ऐश्वर्य।

ये सब भगवच्छब्दके अर्थ जिनमें पाये जाते हैं उन्हें भगवान् कहते हैं। हे आयुष्मन् ! 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' से लेकर 'तायिणो परिनिव्वुडे' तक सब भगवानने ही कहा है और मैंने

अनुपम-मडिमा, (३) विविध प्रकारना अनुपम अने प्रतिपन्न परीषडेने सडन करवाथी उत्पन्न थनारी अथवा जगतनी रक्षा करनारा अलौकिक ज्ञानथी उत्पन्न थनारी कीर्ति, (४) क्रोध आदि कषायोना सर्वथा निग्रहइप वैराग्य, (५) अथां कर्मोना क्षय-स्वरूप मोक्ष, (६) सुर असुर अने नरोना अन्तःकरणने हरनाइं सौन्दर्य, (७) अन्तराय कर्मना नाशथी उत्पन्न थनाइं अनन्त बल. (८) घाती-कर्म-रूपी पडण डी जवाथी उत्पन्न थनारी अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी, (मोक्षना द्वारने खोलवाना साधन श्रुत-चारित्र-यथाख्यात-चारित्र-इप धर्म (१०) त्रयु लोकना आधिपत्य-इप ऐश्वर्य

आ अधा लग शब्दना अर्थो जेनामां भणी आवे छे तेने लगवान् कडे छे. हे आयुष्मन् ! धम्मो मंगलमुक्किट्ठं थी लधने तायिणो परिनिव्वुडे सुधी अधुंय लगवाने ज

१ सूत्रे 'छड्जीवणिया' इति पदं 'स्वराद्यस्य' (४४) इति निकायाघटकयकारस्य लोपे, 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' इति ककारलोपे कृते 'नि+आ+आ+' इति स्थिते 'सवर्णे दीर्घः' (१।२।७) इति 'द्वयोरकारयोः स्थाने दीर्घेकादेशे 'अवर्णां यश्चुतिः, इति यकार श्रुत्या णत्वेन च सिद्धम्।

‘सा च षड्जीवनिकाया’ इत्यध्याह्रियते उत्तरवाक्याऽऽकाङ्क्षोत्थानाय, श्रमणेन = श्राम्यति = तपस्यतीति श्रमणस्तेन सा ‘द्वादशर्षाणि घोरतपश्चरणाच्छ्रमण इतिप्रसिद्धिं लब्धवता, भगवता काश्यपेन = काश्यपगात्रोत्पन्नेन महावीरेण = वीरयति = पराक्रमते मोक्षानुष्ठाने इति वीरः, यद्वा वि = विशेषेण ईरयति = गमयति प्रापयति मोक्षं प्रति भव्य जनानिति, वि = विशेषेण ईत्त = गच्छति क्षपिताखिलकर्मा मोक्षमिति, वि = विशेषेण ईरयति = कम्पयति कषायः अपरिपन्थिन इति, वि — विशेषेण इरयति = प्रक्षपति घनघातिकर्मपटलमवकरनिकरमिवेति, वि = विशेषेण इरयति = प्रेरयति प्रवर्त्तयति संयमाद्यनुष्ठाने प्राणिन इति वा वीरः<sup>१</sup>, महांश्रासौ वीरश्च महावीरस्तेन श्रीवर्द्धमानस्वामिनेत्यर्थः । प्रवेदिता = प्रकर्षेण सकलप्राणिगणस्य स्वस्वभाषापरिणमनरूपेण यथा वस्थितार्थद्वारेण च वेदिता = केवलाऽऽलोकेन विलोक्य प्रतिपादिता, स्वाख्याता = सुष्ठु-पूर्वापराविरोधियुक्तयुक्तिभिरुपपन्न-तयाऽऽख्याता = उक्ता, सुप्रज्ञप्ता = सुष्ठु-सदेव-

सुना है । इस अध्ययनका नाम ‘षड्जीवनिकाया’ है । वह इसलिए कि इसमें पृथिवी आदि षड्जीव-निकायोका वर्णन है ।

साढे बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करने के कारण श्रमण नाम से प्रसिद्ध काश्यप गोत्र में उत्पन्न होने वाले भगवान् महावीरने, वीर शब्द के लह अर्थ हैं, अर्थात्—(१)मोक्षके अनुष्ठान में पराक्रम करनेवाले, अथवा(२)भव्य जीवोंको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले, या (३) समस्त कर्मों को दूर करके मोक्षको प्राप्त होनेवाले, (४)कषाय आदि शत्रुओं को सर्वथा हरानेवाले, (५)चार घन-घातिया कर्मोंको कचरेकी तरह दूर करनेवाले(६)प्राणियोंको विशेष-रूपसे संयम अनुष्ठान में प्रवृत्ति करानेवाले श्रीवर्द्धमान स्वामीने, प्रत्येक प्राणीको अपनी २ भाषामें परिणत होनेवाले इस प्रवचनको केवल-ज्ञानसे जानकर प्रतिपादित किया है । पूर्वापर विरोध-रहित और युक्तियों

कहुं छे, अने भे सांख्युं छे. आ अध्ययननुं नाम षड् जीवनिकाया छे तेअेटला भाटे के अेमां पृथिवी-आदि छे लवनिकायनु वखुंन छे.

साढा आर वर्ष सुधी घोर तपश्चर्या करवाने कारणे श्रमण नामथी प्रसिद्ध, काश्यप गोत्रमां उत्पन्न थयेला भगवान् महावीरे ( वीर शब्दना छे अर्थ छे ), अर्थात् (१) मोक्षना अनुष्ठानमां पराक्रम करनारा, अथवा (२) लयेने मोक्षनी प्राप्ति करानारा या (३) सर्व कर्मोंने दूर करीने मोक्षने प्राप्त थयेला, [४] कषाय आदि शत्रुओंने सर्वथा हटावनारा, (५) चार घनघाती कर्मोंने कचरानी पेठे दूरकरी देनारा, (६) प्राणीओंना विशेष-रूपथी संयमना अनुष्ठानमां प्रवृत्ति करानारा, अेवा श्री वर्द्धमान स्वामीअे, प्रत्येक प्राणीनी पोत-पोतानी भाषामां परिणत थवावाणुं आ प्रवचन केवण ज्ञानथी लखीने प्रतिपादन कथुं छे. पूर्वापर-विरोध-रहित अने युक्तिअे सहित कहुं छे, अेवुं देव अनुध्य अने असु-

१ ‘वीर विक्रान्तौ’ अस्मात्पचाद्यच् ।

२ ‘ईर गतौ कम्पने च’ इत्यादादिकात् ‘ईर क्षेपे’ इति चौरादिकाच्च घातोः पचाद्यच् ।

मनुजासुरसभायां दिव्यध्वनिना प्रज्ञप्ता = प्ररूपिता, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वादुपसर्गस-  
मभिव्याहार बलाच्चेह शपिरासेवनार्थः तथा च-येनैव रूपेणाऽऽख्याता तेनैव रूपेण =  
प्रकर्षेण ज्ञप्ता = आसेविता, अणुमात्रतोऽपि हिंसां परिहरता भगवता यथाकथितमा  
चरितेत्यर्थः । तदेतदध्ययनं षड्जीवनिकायाख्यं धर्मप्रज्ञप्तिः धर्मप्ररूपकम्, यद्वा  
धर्मप्रज्ञप्तिः = एतदपरसञ्ज्ञकं मे = मम अध्येतुम् = अभ्यासितुं श्रेयः - प्रशस्यं निःश्रेय-  
सकरमित्यर्थः ॥ १॥

एतन्निशम्य जम्बूस्वामी परिपृच्छति-कयरा०, इत्यादि ।

**मूलम्—कयरी खलु सा छज्जीवणिया नामज्जयणं समणेण भ-  
-गवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता. सेयं  
मे अहिज्जिउं अज्जयणं धम्मपन्नत्ती ? ॥ २ ॥**

छाया-कतरा खलु सा षड्जीवनिकायानामध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण  
काश्यपेन प्रवेदिता स्त्राख्यता सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुम् अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ? ॥२॥

सान्वयार्थः-सा खलु = वह छज्जीवणिया = षड्जीवनिकाया कयरा = कौनसी  
है ? जो अज्जयणं नाम = अध्ययन नाम से प्रसिद्ध है, जो कासवेणं = काश्यपगोत्रीय  
समणेणं = श्रमण भगवता = भगवान् महावीरेणं = महावीरेने पवेइया = प्रवेदित की है,  
सुअक्खाया = सम्यक्प्रकार कही है, सुपन्नत्ता = सम्यक्तया बताई है । वह धम्मपन्नत्ती  
अज्जयणं = धर्मप्रज्ञप्ति अपरनामक अध्ययन अहिज्जिउं = पढ़ना मे = मुझे सेयं = श्रेय है ॥२॥

टीका — सा = पूर्वोक्ता षड्जीवनिकाया खलु कतरा = किंभूता या अध्ययनं नाम = अध्य-  
यनत्वेन प्रसिद्धेत्यर्थः, या च काश्यपेनेत्यादि व्याख्यातपूर्वम् । 'कयरा' इत्यनेन मोक्षा-  
भिलाषिणा शिष्येण सकलक्रियाकलापे स्वाभिमानपरित्यागपूर्वकं गुरुः प्रष्टव्य इति सूचितम् ॥

सहित कहा है, देव मनुष्य और असुरों की सभा-समवसरण-में दिव्य ध्वनि से प्ररूपित किया  
है । अथवा भगवानने जैसा कहा है वैसा ही उन्होंने आचरण किया है ।

इसलिए यह षड्जीवनिकाया नामक, धर्मकी प्ररूपणा करनेवाला अध्ययन मेरे अध्ययन  
करनेके लिए श्रेय हैं-कल्याणकारी है ॥१॥

यह सुनकर जम्बूस्वामी प्रश्न करते हैं-‘कयरा खलु०’ इत्यादि । हे भगवन् ! पहले बताई  
हुई षड्जीवनिकायाका स्वरूप क्या है जो इस अध्ययनरूप से कही गई है अर्थात् जिसका इस

शैली सला-समवसरण्युमां द्वित्य ध्वनिथी प्ररूपित कथुं छे. अथवा लगवाने जेवुं कथुं छे  
जेवुं तेमणु आयरणु कथुं छे.

तेथी करीने आ षड्जीवनिकाया नामक धर्मनी प्ररूपणा करनाइं अध्ययन भारे अध्य-  
यन कश्वाने श्रेय छे-कल्याणकारी छे, (१)

आ सांलणीने जम्बूस्वामी प्रश्न करे छे-कयरा खलु० इत्यादि.

हे भगवान ! पड़ेलां पतावेदी षड्जीवनिकायानुं स्वरूप केवुं छे के जे आ अध्यय-

सम्प्रति सुधर्मस्वामिन उत्तरयन्ति—‘इमा खलु०’ इत्यादि ।

**मूलम्—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जित्तं अज्झयणं धम्मन्नत्ती ॥३॥**

छाया—इयं खलु सा षड्जीवनिकाया नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुपन्नप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥३॥

सान्न्वयार्थः—सा=वह छज्जीवनिकाया खलु=निश्चय करके इमा=यह है जो अज्झयणं नाम=अध्ययन नाम से प्रसिद्ध है, और जो कासवेणं=कश्यपगोत्रीय समणेणं=श्रमण भगवया=भगवान् महावीरेणं=महावीरने पवेइया=प्रवेदित की है, सुअक्खाया=सम्यक्प्रकार कही है, सुपन्नत्ता=सम्यक्तया बताई है । वह धम्मपन्नत्ती अज्झयणं = धर्मप्रज्ञप्ति अपरनामक अध्ययन अहिज्जित्तं = पढना मे = मुझे सेयं = श्रेयस्कारी है ॥३॥

टीका—‘इमा’ इत्यनेन ‘विनीतविनेयाय करुणासञ्चारचारुहृदयेन गुरुणा शास्त्रोपदेशः कर्त्तव्यः’ इति सूचितम् । अन्यत्प्राग्वत् ॥३॥

तामेव षड्जीवनिकायां सूत्रकारः प्रदर्शयति = ‘तं जहा’ इत्यादि ।

**मूलम्—तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया. तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया । पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेग-**

समस्त अध्ययनमें वर्णन किया गया है, और भगवान् महावीर स्वामीने यावत् प्ररूपित किया है? और धर्मप्रज्ञप्ति अपरनाम से प्रसिद्ध उस अध्ययन का पढना मेरे लिये कल्याणकर है । इस प्रश्न से यह आशय निकलता है कि—मुमुक्षु शिष्य को अहंकार त्यागकर समस्त क्रियाएँ गुरुसे पूछनी चाहिए ॥२॥

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—‘इमा खलु०’ इत्यादि ।

इस पाठका व्याख्यान पहले किया जा चुका है । ‘इमा’ पदसे यह सूचित होता है कि करुणासागर गुरु महाराज विनीत शिष्यको शास्त्र का उपदेश अवश्य दें ॥३॥

नइपथी कडेवांमां आवे छे ? अर्थात् जेनुं आ आणा अध्ययनमां वलुंन करवांमां आवुं छे, अने भगवान महावीर स्वामीजे जेनुं प्रइपणु कयुं छे ? अने धर्मप्रज्ञप्ति जेभ भील नामथी जे प्रसिद्ध छे ते अध्ययननुं अध्ययन करवुं भारे भारे कल्याणकारक छे ? आ प्रश्नथी जेवे आशय नीकणे छे के—मुमुक्षु शिष्ये अहंकारने त्याग करीने अधी क्रियाजो गुइने पूछनी जेधजे. (२)

श्री सुधर्मास्वामी उत्तर आवे छे के—इमा खलु० इत्यादि.

आ पाठनुं व्याख्यान पडेलां करवांमां आवुं छे. इमा शण्डथी जेभ सूचित थाय छे के कइणासागर गुइ महाराज विनीत शिष्यने शास्त्रने उपदेश जर आवे. (३)

जीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणणं । आऊ चित्तमंतमक्खाया  
अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणणं । तेऊ चित्त मंतमक्खाया  
अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणणं, वाऊ चित्तमंतमक्खा  
या अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणणं । वणस्सई चित्त-  
मंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणणं ॥४॥

छाया तद्यथा—पृथिवीकायिकाः (१), अप्कायिकाः (२), तेजस्कायिकाः (३) वायु-  
कायिकाः (४), वनस्पतिकायिकाः (५), त्रसकायिकाः (६) । पृथिवी चित्तवत्याख्याता,  
अनेकजीवा, पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः । आपश्चित्तवत्य आख्याताः, अनेक-  
जीवाः, पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः । तेजश्चित्तवदाख्यातम्, अनेकजीवं, पृथ-  
क्सत्त्वमन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वायुश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वोऽन्यत्र शस्त्रपरि-  
णतात्, वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वोऽन्यत्र शस्त्रपरिणतात् ॥४॥

सान्वयार्थः—तं जहा—वह इस प्रकार है—(१) पुढविकाइया=पृथ्वीकायिक, (२) आउ-  
काइया=अप्कायिक, (३) तेउकाइया=तेजस्कायिक, (४) वाउकाइया=वायुकायिक, (५)  
वणस्सइकाइया=वनस्पतिकायिक, (६) तसकाइया=त्रसकायिक ॥

अब आचार्य महाराज एक-एककी सचित्ता बतलाते हैं—

उस षड्जीवनिकायको सूत्रकार दिखाते हैं—‘तं जहा’ इत्यादि ।

कठिनता- स्वभाववाली पृथ्वी ही जिनका शरीर हैं उन्हें पृथ्वीकायिक कहते हैं । द्रवत्व  
-स्वभाववाला जल ही जिनका शरीर हैं उन्हें अप्कायिक कहते हैं । उष्णतास्वभाववाला तेज ही  
जिनका शरीर हैं उन्हें तेजस्कायिक कहते हैं । चलन स्वभाववाला वायु ही जिसका शरीर है  
उन्हें वायुकायिक कहते हैं । लता वृक्ष-गुल्म आदि वनस्पति हो जिनका शरीर हैं उन्हें वनस्पति-  
कायिक कहते हैं । जिन्हें शीत-आतप(गर्मी) आदिद्वारा उत्पन्न हुई पीडासे त्रास होता है ऐसा  
चलने-फिरने वाला काय जिनका होता है उन्हे त्रसकायिक कहते हैं ।

ये षड्जीवनिकायने सूत्रकार दशावे छे—तं जहा— इत्यादि.

१-कठिनता-स्वभाववाणी पृथ्वी न् जेतुं शरीर छे तेने पृथ्वीकायिक कडे छे. २-द्रवत्व  
-स्वभाववाणुं न्ण न् जेतुं शरीर छे तेने अप्कायिक कडे छे. ३-उष्णता-स्वभाववाणुं तेन  
न् जेतुं शरीर छे तेने तेजस्कायिक कडे छे, ४ चलन स्वभाववाणे वायु न् जेतुं शरीर  
छे तेने वायुकायिक कडे छे. ५-लता वृक्ष गुल्म (गुल्म) आदि वनस्पति न् जेतुं शरीर  
छे तेने वनस्पतिकायिक कडे छे. ६-जेने ठंडी गरमी आदि द्वारा उत्पन्न थयेली पीडाथी  
त्रास थाय छे जेवी हरवा-हरवावाणी काया जेनी डोय छे तेने त्रसकायिक कडे छे.

डवे अडेकनी सचित्ता देभाडे छे.

## (१) पृथ्वीकाय.

सान्वयार्थः—(भगवानने) पुढवी=पृथ्वीको चित्तमंतं=सचित्त अक्खाया=कही है, वह अणेगजीवा=अनेकजीववाली है—अनेकजीवोंका पिण्डभूत है, पुढोसत्ता=उसमें अनेकजीव भिन्न-भिन्न रहे हुए हैं, अन्नत्थ=सिवाय सत्थपरिणएणं=शस्त्रपरिणतके, अर्थात् जहां शस्त्र नहीं लगा है वहांका पृथ्वीकाय सब सचित्त है। इसी प्रकार छहों कायो में समझ लेना चाहिये

## (२) अप्काय.

सान्वयार्थः—आऊ = जल चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा है, वह अणेग-जीवा = अनेक जीवोंका आश्रयभूत है, पुढोसत्ता = वे अनेक जीव भिन्न-भिन्न रहे हुए हैं, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥२॥

## (३) तेजस्काय.

तेऊ = तेजस्काय चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा गया है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आश्रयभूत है, पुढोसत्ता = वे अनेक जीव भिन्न-भिन्न रहे हुए हैं, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥३॥

## (४) वायुकाय.

वाऊ = वायु चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कहा गया है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आश्रय है, पुढोसत्ता = भिन्न-भिन्न जीवोंवाला है, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥४॥

## (५) वनस्पतिकाय.

वणस्सई = वनस्पति चित्तमंतं = सचित्त अक्खाया = कही गई है, वह अणेगजीवा = अनेक जीवोंका आधार है, पुढोसत्ता = भिन्न-भिन्न जीववाली है, अन्नत्थ = सिवाय सत्थपरिणएणं = शस्त्रपरिणतके ॥

भावार्थ—पांचों स्थावरकाय सचित्त है, वे अनेक जीवरूप हैं, उन जीवोंका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, । इन कायोंके जो जो शस्त्र हैं उनसे यदि ये परिणत हो जायें तो अचित्त हो जाते हैं ॥५॥

टीका—तद्यथा = तदेव प्रदर्श्यते—पृथ्वी = कठिनस्वभावा सैव कायः = शरीरं येषां ते पृथिवीकायास्त एव पृथिवीकायिकाः (‘विनयादित्वात्स्वार्थे ठक्, तस्येकादेशः’ एवमग्रे-ऽपीयं प्रक्रिया ज्ञेया) । आपः = द्रवलक्षणास्ता एव कायो येषां तेऽप्कायास्त एवाप्कायिकाः । तेजः = उष्णलक्षणं तदेव कायो येषां ते तेजस्कायिकाः । वायुः = चलनस्वभावः स एव कायो येषांते वायुकायिकाः । वनस्पतिकायिकाः = वनस्पतिः = लतातरुगुल्मादि-लक्षणः कायो येषां ते तथोक्ताः । त्रस्यति शीतातपादिजनितपोडया उद्भिजते इति त्रसः, त्रसनस्वभावः कायो येषां तथोक्ताः ।

अथ प्रत्येकं सचित्ततां दर्शयन्नाह—

पृथिवीकायः ।

पृथिवी, चित्तं=चेतनाऽस्त्यस्या इति चित्तवती=सात्मिका आख्याता=केवलज्ञानाऽऽलोकावलोकिताखिललोकालोकलक्षणेन भगवता कथिता ।

ननु पृथिव्याः कथं सचेतनत्वमिति चेदाकर्णय—(१) पृथिवी सचेतना खानितखनिभूम्यादिषु तत्सजातीयव्यवधान्तरद्वारा परिपूर्तिदर्शनात् मनुष्यादिशरीरवत्, तद्यथा—मनुष्यशरीरस्थं व्रणादिकं स्वयं भ्रियते, एवमेव खानित खनिभूम्यादिकं स्वसमानजातीयव्यवैभ्रियमाणं प्राक्समानरूपतां भजते तस्माद् गम्यते पृथिव्याः सचेतनत्वम् ।

(२) यद्वा—पृथिवी सजीवा दैनिकघर्षणोपचयसंदर्शनात् चरणतलवत्, तद्यथा चरणतलं घृष्यते पुष्यति च तद्वत् पृथिव्यपि प्रत्यहं घृष्यते उपचीयते च तस्मात्तस्याः सजीवत्वम् । अथवा—

अब एक-एकको सचित्तता दिखलाते हैं—

पृथ्वीकाय

केवल-ज्ञानरूपी आलोकसे समस्त लोक और अलोकको प्रत्यक्ष जाननेवाले भगवानने पृथिवीको सचेतन कहा हैं ।

प्रश्न—पृथिवी सचेतन कैसे हैं ?

उत्तर—(१) पृथिवी सचेतन है, क्यों कि उसमें खोदी हुई खान आदिकी भूमि सजातीय अवयवोंसे स्वयमेव भर जाती है, जो सजातीय अवयवोंसे स्वयं भर जाता है वह सचेतन होता है, जैसा मनुष्यका शरीर । अर्थात् मनुष्यके शरीरमें घाव हो जाता है वह उसी तरहके अवयवोंसे स्वयं भर जाता है, उसी प्रकार खोदी हुई खान आदिकी भूमि उसी प्रकारके एवयवोंसे भर जाती है और पहलेके समान हो जाता है इसलिए पृथिवी सचेतन है

[२] यद्वा—पृथिवी सचेतक है, क्योंकि उसमें प्रतिदिन घर्षण और उपचय देखा जाता है जैसे पैरका तलवा । अर्थात् जैसे तलवा घिसकर फिर भर जाता है वैसे ही पृथिवी भी घिस कर भर जाती है इसलिए वह सजीव है । अथवा—

‘ पृथिवीकाय ’

केवल-ज्ञान-रूपी प्रकाशशील अर्थात् लोक अने अलोकने प्रत्यक्ष ज्ञानवावाणा भगवाने पृथिवीने सचेतन कही छे ।

प्रश्न-पृथिवी सचेतन केवी रीते छे ?

उत्तर-(१) पृथिवी सचेतन छे, कारण के तेमां जोदेही आषु आदिनी भूमि सजातीय अवयवोथी पोतानी भेणे लराध जय छे, जे सजातीय अवयवोथी स्वयमेव लराध जय छे ते सचेतन छे, केमके मनुष्यनुं शरीर अर्थात् मनुष्यना शरीरमां घा पडे छे ते अवी रीतना अवयवोथी पोतानी भेणे लराध जय छे; अे जे रीते जोदेही आषु आदिनी भूमि अे प्रकारनां अवयवोथी लराध जय छे अने पडेलांनी जेवी अनी जय छे, तेथी पृथिवी सचेतन छे ।

(२) पृथिवी सचेतन छे, कारण के तेमां प्रतिदिन घर्षण अने उपचय जेवामां आवे छे, जेमके पगनुं तणीठिं अर्थात् जेम पगनुं तणीठिं घसाधने पाषुं लराध जय छे, तेम

(३) विद्रुमपाषाणादिरूपा पृथिवी सचेतना काठिन्ये सत्यपि वृद्ध्यादिदर्शनात् शरीरस्थिताऽस्थ्यादिवत्, तद्यथा—शरीरस्थितमस्थ्यादिकं कण्ठपृष्ठकठिनं सदपि चित्तवदनुभूयमानमुपचयं च गच्छत् संदृश्यते । एवं विद्रुमशिलाघातात्मिकायाः पृथिव्याः काठिन्ये सत्यपि वृद्ध्यादिकं प्रत्यक्षं दृश्यते तस्मात्तस्याः सचेतनत्वम् । अथ च—

(४) विद्रुमाद्यात्मिकापृथिवी सचित्ता, छेदादौ तत्सजातीयधातूत्पत्तिदर्शनात् अर्शोऽङ्कुरवत्, तद्यथा=अर्शसोऽङ्कुरे छिन्नेऽपि पुनस्तत्समान एवाङ्कुरः प्रादुर्भवति, एवं विद्रुमशिलाघातात्मिकायाः पृथिव्याः खन्यादौ छेदेऽपि तत्सजातीयधातुभिस्तद्रिक्तभागः परिपूर्यते, तस्मात्सिद्धं पृथिव्याः सचित्तत्वम् ।

अनेकजीवा=अनेके = बहवो जीवाः = एकेन्द्रिया यस्यां सा तथोक्ता । पृथक्-सत्त्वा = पृथक्-पृथग्भूताः = अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनामाश्रित्याऽनेके विभिन्नरूपेण

[३] विद्रुम [मृंगा] पाषाण आदि-रूप प्रथिवी सचेतन हैं क्योंकि कठिन होने पर भी उसमें वृद्धि देखी जाती है जैसे शरीर की हड्डी आदि । अर्थात् जैसे शरीर की हड्डी आदि कञ्जुएकी पीठ की भाँति कठोर होने पर भी सचेतन हैं और बढ़ती है उसी प्रकार विद्रुम शिला आदि-रूप पृथिवीमें कठिनता होनेपर भी वृद्धि आदि गुण प्रत्यक्षसे हैं इससे सिद्ध हैं कि प्रथिवी सचेतन हैं । अथवा—

[४] विद्रुम आदि रूप प्रथिवी सचित्त है क्योंकि उसे काट देने पर भी सजातीय धातुकी उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे शरीर में मसा । अर्थात् जैसे मसाको उपरसे काट डालने पर भी फिर उसी के समान अवयव ऊग आते हैं, वैसेही—विद्रुम और शिला आदिकों खानमें काट देने पर भी सजातीय स्कन्धोंसे कटा हुआ भाग फिर भर जाता, अतः प्रथिवीकी सचेतनता सिद्ध है ।

वह प्रथिवी अनेक जीववाली है और वे स्पर्शनेन्द्रियवाले प्रथिवीकायके जीव अंगुलके

पृथिवी पञ्च घसाध ने लराध न्य छे, तेथी पृथिवी सञ्च छे. अथवा—

(३) विद्रुम (प्रवाण) पत्थर आदि-रूप पृथिवी सचेतन छे, कारण के कठिन होवा छतां तेमां वृद्धि जेवामां आवे छे, जेमके शरीरनां डाडकां वगेरे, अर्थात् जेम शरीरनां डाडकां वगेरे कायजानी पीठनी जेम कठोर होवा छतां सचेतन छे अने वधे छे, तेवी रीते विद्रुम, शिला आदि-रूप पृथिवीमां कठिनता होवा छतां तेमां वृद्धि आदि शुषु प्रत्यक्ष छे. अथी सिद्ध थाय छे के पृथिवी सचेतन छे. अथवा—

(४) विद्रुम आदि रूप पृथिवी सचित्त छे. कारण के तेने कापी नांभवा छतां पञ्च सजातीय धातुनी उत्पत्ति जेवामां आवे छे, जेमके शरीरमां मसा, अर्थात् जेमके मसाने उपरथी कापी नांभ्या छतां पञ्च तेना समान अवयवो जोगी आवे छे, तेम ज विद्रुम अने शिला आदिने पाषुमां कापी नांभ्या छतां सजातीय स्कन्धोथी कापेवो लाग पाछे लराध न्य छे. तेथी पृथिवीनी सचेतनता सिद्ध थाय छे.

जे पृथिवी अनेक-ञ्च-वाणी छे, अने जे स्पर्शनेन्द्रिय-वाणी पृथिवीकायना णवे



स्थितः सत्त्वाः = स्पर्शनेन्द्रियवन्तो जीवा यस्यां सा तथोक्ता 'आख्याता' इति पूर्वोक्तेना-  
न्वयः, भगवता प्ररूपितेति तदर्थः ।

ननु तर्ह्युक्तस्वरूपायां जीवपिण्डभूतायां पृथिव्यां गमनागमनादिक्रियां कुर्वतां संय-  
मिनामर्हिसाव्रतस्य संरक्षणं कथं भवति ? प्रत्युताऽवश्यकरणीयोच्चारप्रस्रवणादिक्रियया  
र्हिसैव भवत्यतोऽर्हिसाव्रतपालनं वन्ध्यासुतपालनवदसम्भवमित्यत आह—'अन्यत्रे' ति,  
शस्त्रपरिणताया अन्यत्र=शस्त्रपरिणतां पृथिवीं वर्जयित्वाऽन्या पृथिवी सजीवेत्यर्थः, शस्य-  
ते = र्हिस्यते प्राणिगणोऽनेनेति शस्त्रं, तद् द्विविधं—द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यशस्त्रं—स्व-  
परोभयकायलक्षणम्, भावशस्त्रं पृथिवीं प्रति दुष्प्रणिहितमनोवाकायात्मकम्, एवमेवान्येषां  
तत्तत्कायानामपि भावशस्त्रं बोद्धव्यम् । स्वकायशस्त्रं पृथिव्याः स्वेतरवर्णगन्धादिमती

असंख्यातवै—भाग—प्रमाण अवगाहनाको आश्रय करके भिन्न—भिन्न स्वरूप से स्थित है, ऐसा  
भगवानने कहा है ।

शिष्य गुरसे पूछता है—हे गुर महाराज ! जबकि पृथिवी जीवोंके पिण्डरूप है तो उस  
पर अहसात की रक्षा कैसे होगी ? उच्चार-प्रस्रवण आदि क्रियाएं अनिवार्य हैं और इन  
इन क्रियाओं के करने से हिंसा अनिवार्य हैं, इसलिए अर्हिसाव्रत का पालन ऐसा ही असंभव  
है जैसा वन्ध्या के पुत्र का पालन करना ।

उत्तर— हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत पृथिवी के सिवाय अन्य समस्त पृथिवी सच्चित्त है जिससे  
प्राणियों की हिंसा होती है उसे शस्त्र कहते हैं ।

शस्त्र दो प्रकार का है—(१)द्रव्य-शस्त्र और भाव शस्त्र । उनमें से स्व-काय, परकाय ओर  
उभय-काय को द्रव्य-शस्त्र कहते हैं । पृथिवी के विषय में मन-वचन-काय की दृष्परिणति  
करना भाव-शस्त्र है । इसी प्रकार अन्य सब काय के जीवों के भाव-शस्त्र समझ लेने चाहिये ।  
अपने से भिन्न वर्णगन्धवाली पृथिवी ही पृथिवी का स्वकाय-शस्त्र है, जैसे पीली मिट्टी का शस्त्र

आंगणना असंख्यातभा भाग प्रमाणांनी अवगाहनाना आश्रय करीने भिन्न-भिन्न स्वरूपे  
स्थित छे, जेवुं भगवाने कहुं छे.

शिष्य शुरने पूछे छे—हे शुर महाराज ! जे पृथिवी, जेवोनां पिंड-रूप छे तो तेनी  
उपर गमनागमन आदि क्रियाओ करनारा संयमीओना अर्हिसाव्रतनी रक्षा केम थशे ?  
उच्चार, प्रस्रवण आदि क्रियाओ अनिवार्य छे, तेथी अर्हिसा-व्रतनुं पालन जेवुं असं-  
भवित छे के जेवुं वंध्याना पुत्रनुं पालन करवुं असंभवित छे.

उत्तर—हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत पृथिवी सिवायनी अर्धी पृथिवी सच्चित्त छे. जे वडे  
प्राणीओनी हिंसा थाय छे, तेने शस्त्र कहे छे.

शस्त्र जे प्रकारनां छे. (१) द्रव्य-शस्त्र (२) भाव-शस्त्र. जेमां स्वकाय, परकाय अने  
उभयकायने द्रव्य-शस्त्र कहे छे, पृथिवीना विषयमां मन वचन कायाथी दृष्परिणति करवी  
जे भावशस्त्र छे. जे रीते भी जे अर्धी कायाना जेवोनां भावशस्त्र सभ जे देवां पोताथी

પૃથિવ્યેવ, યથા પીતમૃત્તિકાયાઃ કૃષ્ણમૃત્તિકા શસ્ત્રમિત્યાદિ, પરકાયશસ્ત્રં-જલાગ્નિગોમ-યચરણસંમર્દનાદિ । ઉભયકાયશસ્ત્રં-જલાદિમિશ્રમૃત્તિકા । एवं च शस्त्रपरिणतायाः पृथिव्या अचित्ततया न तत्रोच्चार-प्रस्रवणादिक्रियासम्पादने काऽपि क्षतिर्मुनीनां संयमपालने इति सिद्धम् ।

અપ્કાયઃ ।

આપઃ = भौमाऽऽन्तरिक्षोभयलक्षणाः, चित्तवत्यः = सचेतनाः, आख्याताः = भगवताऽभिहिताः, तथाहि-भूमिगता आपः सचेतनाः खातभूमिसजातीयस्वभावसम्भवात् मण्डूकवत् । आन्तरिक्षयोऽप्यापः सचेतनः मेघादिविकृतौ स्वाभाविकसम्भूयसंपतनशीलत्वान्मीनवत् । यद्वा-आपः सचेतनाः, ग्रीष्महेमन्तः स्वाभाविकशैत्यौष्ण्यबाष्पाद्युपलम्भा-

કાલી મિટ્ટી છે । જલ, અગ્નિ ગોવર તથા પૈરો સે રોદના આદિ પરકાય શસ્ત્ર છે । જલ આદિ સે મિલી हुई मिट्टी ऊभयकाय शस्त्र हैं ।

इस प्रकार शस्त्र परिणत पृथिवी अचित है, अतः उस पर आहार-विहार आदि क्रियाएं करने से मुनियों के अहिंसाव्रत पालने में कुछ भी क्षति नहीं होती ।

અપ્કાય

પાર્થિવ ઓર આકાશીય દોનો પ્રકાર કે જલોં કો ભો ભગવાન ને સચિત કહા છે ।

(૧) ભૂમિ મેં રહા હુઆ જલ સચેતન છે, ક્યોંકિં યોદી હુડે ભૂમિમેં સજાતીય-સ્વભાવવાલા જલ ઉત્પન્ન હોતા હૈં, જૈસે મેંદક । ભૂમિ કો યોદને સે જૈસે મેંદક નિકલતા છે ઓર વહ સચેતન હોતા છે, યસો પ્રકાર પાની નિકલતા હૈં અતઃવ વહ ભી સચેતન છે આકાશ કા ભી જલ સચેતન હૈં । ક્યોંકિં મેઘાદિ-વિકાર હોને પર સ્વયં હોં ગિરને લગતા હૈ-જૈસે મછલી । અથવા-

(૨) જલ સજીવ હૈં ક્યોંકિં યસમેં ગ્રીષ્મ ઓર હેમન્ત ઋતુ મેં સ્વાભાવિક શીતતા ઉષ્ણતા

લિન્ન વણુ-ગંધ-વાણી પૃથિવીજ પૃથિવીનુ' સ્વકાય-શસ્ત્ર છે, જેમ પીળી માટીનુ' શસ્ત્ર કાળી માટી છે. જળ, અગ્નિ, છાણુ તથા પગ વડે ખુંદવુ' વગેરે પરકાય-શસ્ત્ર છે. જળ આદિથી મળેલી માટી એ ઉભયકાય શસ્ત્ર છે.

એ રીતે શસ્ત્રપરિણત પૃથિવી અચિત્ત છે, તેથી એની ઉપર આહાર વિહાર આદિ ક્રિયા-ઓ કરવાથી મુનિઓના અહિંસા વ્રતના પાલનમાં કાંઈ પણ ક્ષતિ આવતી નથી.

અપ્કાય

પાર્થિવ અને આકાશીય એક પ્રકારના જળને પણ ભગવાને સચિત કહ્યું છે.

(૧) ભૂમિમાં રહેલું જળ સચેતન છે. કારણકે ખોદેલી જમીનમાં સજાતીય સ્વાભાવવાળું જળ ઉત્પન્ન થાય છે. જેમકે દેડકો ભૂમિને ખોદવાથી જેમ દેડકો નીકળે છે અને તે સચેતન હોય છે, તેમ પાણી પણ નીકળે છે તેથી તે પણ સચેતન છે. આકાશનું જળ પણ સચેતન છે, કારણ કે મેઘાદિ-વિકાર થવાથી સ્વયં પડવા લાગે છે, જેમકે માછલી અથવા—

मनुष्यशरीरवत्, तद्यथा-भूमिगृहस्थितनरस्य शरीरं ग्रीष्मे शीतलं हेमन्ते चोष्णं भवति, मुस्त्राच्च वाष्पमुद्गच्छति, एवमेव गभीरतरतडागकूपादिस्थसलिलं हेमन्ते सबाष्पोद्गमाष्णतां, ग्रीष्मे च शीतलतां धत्ते । अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः आख्याता इत्यनेनान्वयः, व्याख्या चैषां पदानां प्रग्वद्बोध्या ।

नन्वेवमपां जीवपिण्डभूततयाऽद्भिर्विना संयमिनां संयमयात्रा असंभवन्निर्वाहा स्यादित्यत आह-शस्त्रेत्यादि, शस्त्रपरिणताभ्योऽन्यत्र=शस्त्रपरिणता अपो विहायान्या आपः सचित्ता इत्यर्थः । शस्त्रं-द्रव्यभावभेदाद्द्विविधं, द्रव्यशस्त्रं-स्वकायपरकायो मयकायस्वरूपं, भावशस्त्रम्-अपः प्रति मनोवाकायानां दुष्प्रणिहितत्वम् । तत्र स्वकायशस्त्रं-तडागाद्युदकस्य कूपाद्युदकम् एवंविधशस्त्रपरिणतं जलं व्यवहारतोऽशुद्धत्वाद्भगवदनादिष्टत्वाच्च सर्वथै-

और भाफ आदि देखे जाते हैं जिसमें ग्रीष्मादि ऋतुओंमें शीतता आदि पाये जाते हैं वह सजीव होते हैं, जैसे मनुष्य का शरीर । जैसे भोयरे में स्थित मनुष्य का शरीर ग्रीष्म-ऋतुमें शीत और हेमन्त-ऋतु में उष्ण होता है, तथा हेमन्त ऋतु में मुह से भाफ निकलती है, जैसे ही खूब गहरे तालाब या कूपका जल भी हेमन्त में भाफ वाला और उष्ण होता है तथा ग्रीष्म में शीतल होता है ।

अनेक जीव और पृथक्सत्त्व आदि पदोंका व्याख्यान पहले कहे हुए पृथिवीकाय के आलापक के समान समझना चाहिए ।

हे गुरु ! जल के बिना संयमियों का निर्वाह नहीं हो सकता और वह जीवों का पिण्ड है, इसलिए उसको पीने आदिके काम में लानेसे संयम की रक्षा नहीं हो सकती । ऐसी आशङ्का होने पर गुरु करते हैं- हे शिष्य ! शस्त्रपरिणत जल के सिवाय अन्य जल सजीव है । यहाँ पर भी शस्त्र, द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । उसका कथन पहले किया जा चुका है । यह विशेष समझना चाहिये कि तालाब आदि के जल का कूप आदि का जल स्वकायशस्त्र है ।

(२) जल सल्लव छे. कारणु के तेमां ग्रीष्म अने हेमन्त ऋतुमां स्वाभाविक शीतता उष्णता अने आर्द्र आदि लोवामां आवे छे. जेमां ग्रीष्मादि ऋतुयोमां शीतलता आदि उष्णता आवे छे ते सल्लव डोय छे, जेभके भाषुसनुं शरीर. जेम लोयरांमां रडेला भाषुसनुं शरीर ग्रीष्म-ऋतुमां शीतल अने हेमन्त-ऋतुमां गरम डोय छे, तथा हेमन्त-ऋतुमां भेडांमांथी आर्द्र ( वराण ) नीकणे छे, जेज रीते भूष उँडा ताणाव कुवातुं जल पषु हेमन्त ऋतुमां आर्द्रवाणुं अने उष्ण डोय छे तथा ग्रीष्ममां शीतल डोय छे,

अनेक लव तथा पृथक्सत्त्व आदि शब्दोनुं व्याख्यान पडेलां कडेला पृथिवीकायना आलापकनी जेम समजनुं.

हे गुरु ! जल बिना संयमियोंको निर्वाह थर् शकतो नथी अने जे लोवोनेो पिंड छे तेथी तेने पीवा आदिना काममां लेवाथी संयमनी रक्षा नडि थर् शके. जेवी आशङ्का यतां गुर् कडे छे. हे शिष्य ! शस्त्र-परिणत जल सिवायनुं अन्य जल सल्लव छे. जेमां पषु शस्त्र, द्रव्य अने भावना लेहे करीने जे प्रकारनां छे. जेनुं कथन पडेलां करवामां आणुं

वाग्राह्यम् । परकायशस्त्रं-द्राक्षा-शाक-तण्डुल-पिष्ट-दाली-चण हादि । अपां शस्त्रपरिणतत्वं च वर्णादीना पूर्वावस्थायैलक्षण्यरूपम् । तत्र-वर्णतो धूसरत्वादिरूपम्, गन्धतस्तत्तद्रस्तुसम्बन्धिवचम् रसतस्तिक्त-कटुकषायत्वादिरूपम्, स्पर्शतः स्निग्धरूक्षत्वादिरूपम् इत्थमुक्तप्रकारं द्राक्षादिधावनजलं प्रासुकत्वान्मुनिग्राह्यम् । उपलक्षणमेतदग्निशस्त्रपरिणतस्योदकस्यापि । भस्ममिश्रजलमग्राह्यं, तत्र मिश्रशङ्कायाः सद्भावात्, शास्त्रे कचिदप्यप्रतिपादितत्वाच्च । उभयकायशस्त्रं मृत्तिका मिश्रजलम् । भावशस्त्रमुक्तस्वरूपमेवेति ।

तेजस्कायः ।

तेजश्चित्तवत्=सचेतनम् आख्यातम्=उक्तम्, तथाहि-

तेजश्चेतनावत् इन्धनाद्याहारोपादानहानाभ्याम् तद्वृद्धिमान्व्योपलम्भात्, मनुष्या-

इस प्रकार का शस्त्रपरिणत जल व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है तथा ऐसे जल के लेने में भगवान की आज्ञा भी नहीं है ।

दाख, शाक, चावल, आटा, आदि परकायशस्त्र हैं । जल में पहले जैसा वर्ण गन्ध आदि था उसका बदल जाना शस्त्रपरिणत होना कहलाता है ।

जैसे-धूसर वर्ण हो जाना, वस्तु उसमें डाली गई हो उसकी गन्ध आने लगना, तीखा, कड़वा, कषायला आदि रस हो जाना, स्निग्ध या रूक्ष आदि स्पर्श हो जाना । इस प्रकार यह दाख, शाक, चावल, आटा, दाल, बेसम आदि का धोवन प्रासुक होने से मुनि के लिए ग्राह्य है । यह तो उपलक्षण है, इससे यह भी समझना चाहिये कि अग्निशस्त्रपरिणत अर्थात् उष्ण जल भी मुनि को ग्राह्य है । राख का पानी ग्राह्य नहीं है क्योंकि उसमें मिश्र की शङ्का रहती है । मृत्तिका आदि से मिला हुआ जल उभयकाय शस्त्र है । भावशस्त्र पहले कह चुके हैं ।

( तेजस्काय )

तेजस्काय को भी भगवान ने सचेतन कहा है, यही कहते हैं तेजस्काय सजीव है, क्योंकि

छे । विशेष्येऽद्युं समञ्जसुं के तणाव आदिना ऋणतुं कृपादितुं ऋण ये स्वकाय शस्त्र छे । ये प्रकारतुं शस्त्र-परिणत ऋण व्यवहारार्थी अशुद्ध होवाना कारणे आद्य नथी । तथा अपुं ऋण लेवाना लगवाना आज्ञा पण्य नथी ।

द्राक्ष, शाक, योषा, आटा इत्यादि परकाय शस्त्र छे । ऋणमां पडेलां जेवा वणुं गंध आदि हता तेनुं गहलाधं ज्वुं ये शस्त्रपरिणत थवुं कडेवाय छे ।

जेमके-धुंधणा वणुंनुं थधं ज्वुं, वस्तु तेमां नांणवामां आवी होय तेनी गंध आववा लागवी । तीजे कडेवा कसायदो आदि रस थधं ज्वे; स्निग्ध या रूक्ष आदि स्पर्श थधं ज्वे । ये प्रकारे ये द्राक्ष, शाक, योषा, आटा, दाण, वेसणु आदिनुं धेवणु प्रासुक होवाथी मुनिने माटे आद्य छे । आतो उपलक्षणु छे, जेथी जेम पणु समञ्जसुं जेधंजेके-अग्निशस्त्र-परिणत अर्थात् उष्णुं ऋण पणु मुनिने आद्य छे । राणतुं पाणी आद्य नथी, कारणे के जेमां मिश्रनी शंका रहे छे । माटी आदिथी मणेलुं ऋण उभयकाय शस्त्र छे (२) । भावशस्त्र पडेलां कडी दीधुं छे ।

दिशरीरवत् ।

अङ्गारादीनां प्रकाशनशक्तिर्यावदात्मसंयोगभाविनी देहस्थत्वात् खद्योतशरीरपरिणामवत्

अङ्गारादीनां तापोऽपि आत्मसंयोगसद्भावहेतुकः , शरीरस्थत्वात् ज्वरतापवत् , न हि कचिदपि विरहितात्मानो ज्वरतापोष्णगात्राः संश्रूयन्ते न वोपलभ्यन्ते, एवमेव निस्तेजस्काङ्गारादितोऽणुमात्रोऽपि तापो न जन्यते, तस्माद् यावदात्मसंयोगभाव्येवाङ्गारादी-

इन्धन आदि आहार देने से उसको वृद्धि और न देनेसे हानि (मन्दता) होती है, जैसे मनुष्य का शरीर । अर्थात् मनुष्य का शरीर आहार देने से बढ़ता और न देने से घटता है, अतः वह सचेतन है । इस प्रकार तेजस्काय भी ईंधन देने से बढ़ती और न देने से घटती है, अतः वह भी सचेतन है ।

अंगार आदि की प्रकाशन शक्ति जीव के संयोग से ही उत्पन्न होती हैं क्योंकि वह देहस्थ है जो जो देहस्थ प्रकाश होता है वह वह आत्मा के संयोग के ही निमित्त से होता है, जैसेजुगुनू के शरीरका प्रकाश । जुगुनू के शरीर में प्रकाश तब तक ही रहता है जब तक उसके साथ आत्माका संयोग रहता है ।

इसी प्रकार अंगार आदि का प्रकाश भी तब तक ही रहता है जबतक उसमें आत्मा रहती है ।

अंगार आदिका ताप भी आत्मा के संयोगके ही कारण है क्योंकि वह शरीरस्थ है, जितने शरीरस्थ ताप होते हैं वे सब आत्मा के निमित्तसे ही होते हैं, जैसे ज्वरके ताप । आत्मा रहित शरीर ( शव-मुर्दा ) में कभी ज्वरका ताप नहीं सुना जाता न उपलब्ध होता है । इसी प्रकार निस्तेजस अंगारमें अणुमात्र भी ताप नहीं होता, अतएव सिद्ध है कि अंगार आदिमें

### (तेजस्काय)

तेजस्कायने पशु लगवाने सचेतन कहेले छे, ओ हुवे कहे छे:—

तेजस्काय सञ्चल छे. कारण के लाकडां (धंधणुं) आदि आहार आपवाथी तेनी वृद्धि अने न आपवाथी हानि ( मंदता ) थाय छे, जेभके मनुष्यनुं शरीर अर्थात्-मनुष्यनुं शरीर आहार आपवाथी वधे छे अने न आपवाथी घटे छे, तेथी ते सचेतन छे, ओर रीते तेजस्काय पशु धंधणु आपवाथी वधे छे अने न आपवाथी घटे छे. तेथी ते सचेतन छे, अंगारा आदिनी प्रकाशन-शक्ति एवना संयोगथी न उत्पन्न थाय छे. कारण के ओ देहस्थ छे, जे जे देहस्थ प्रकाश होय छे ते ते आत्माना संयोगना न निमित्तथी होय छे, जेभके आगीयाना शरीरने प्रकाश आगीयाना शरीरमां प्रकाश त्यांसुधी न रहे छे के त्यां सुधी तेनी साथे आत्माना संयोग रहे छे. ओ रीते अंगारा आदिने प्रकाश पशु त्यां सुधी न रहे छे के त्यां सुधी तेमां चेतन रहे छे.

अंगारा आदिने ताप पशु आत्माना संयोगना न कारणे छे, केभके ते शरीरस्थ छे जेटला-शरीरस्थ ताप होय छे ते यथा आत्माना निमित्तथी न होय छे, जेभके ज्वरने ताप आत्मा रहित शरीर (मडहुं) मां कदि ज्वरने ताप सांखणनामां आवतो नथी के

नां तापजनकत्वमतः सिद्धं तेजसः सचेतनत्वम् अनेकजीवं, पृथक्सत्वम् ' इति प्राग्वत्, 'आख्यात' मित्यनेनान्वयः, 'शस्त्रपरिणतादन्यत्र' इति च पूर्ववत् । शस्त्रस्वरूपमाह, तत्र सकायशस्त्रं—करीषाग्नेस्तृणाग्निः, एवंविधशस्त्रपरिणतोऽप्यग्निः सर्वथैवाग्राहो व्यवहारतोऽशुद्धत्वात् । परकायशस्त्रं जलमृत्तिकादि । उभयकायशस्त्रमुष्णोदकादि । भावशस्त्रमग्निकायं प्रति मनसोदुष्प्रणिधानम् ।

शस्त्रपरिणताचित्ताग्निकायमाह—उष्णमन्नं—कृशरौदनादि, उष्णपानकं शाकौदनादीनामवस्त्रावणादि (ओसामण इति भाषा), तप्तेष्टका सिकतादि च, एतेष्वग्निसंयोगनिष्पाद्यत्वादचित्ताग्निकायशब्दो व्यपदिश्यते, क्षुधाद्युपशमनार्थं ग्राहोऽसौ ।

वायुकायः ।

वायुश्चित्तवानाख्यातः । कथमस्य सचेतनत्वमिति चेत्तत्प्रमाणाद् गृहाण, तथाहि—वायुश्चेत्तवानान् अनन्यप्रेरिताऽनियततिर्यग्भ्रमनत्वात्, हरिणगवयादिवत्, स च 'अनेकतापजनन शक्ति जव-तक आत्मा रहतो है तब तक होता है, इसलिए तेजस्काय सचेतन है । अनेकजीव और पृथक्सत्व' आदि पदोंको व्याख्या पहलेकी भाँति है ।

यह भी समझ लेना चाहिये कि वही तेजस्काय सचित्त है जो शस्त्र-परिणत न हो । तेजस्कायके शस्त्र ये हैं—जैसे छाणाकी अग्निका शस्त्र तृणकी अग्नि हैं । इस प्रकार की शस्त्रपरिणत अग्नि ग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि वह व्यवहार से अशुद्ध हैं । तथा इसके ग्रहण करने में भगवान की आज्ञा भी नहीं है । जल मृत्तिका आदि परकाय शस्त्र है । उष्णजल उभयकाय शस्त्र है ।

खिचड़ी, भात आदि उष्ण अन्न, शाकका ओसामण और चावलों का मण्ड आदि उष्ण पान, तपी हुई ईंट, बादर आदि शस्त्र—परिणत अचित्त अग्निकाय कहलाते हैं । ये सब अग्नि के संयोग से निष्पन्न होते हैं इसलिए इनमें अचित्त अग्निकाय शब्द की प्रवृत्ति होती है ।

नथी ज्ञेवाभां आवतो, जे रीते निस्तेजस अंगाराभां ज्ञेवाभां पणु ताप डोतो नथी. तेथी सिद्ध थाय छे के अंगारा आदिभां ज्ञ्यांसुधी आत्मा डोय छे त्यांसुधी ज ताप-जनन शक्ति रहे छे. तेथी तेजस्काय सचेतन छे. 'अनेक-ज्व अने पृथक्-सत्व' आदि शब्दोनी व्याख्या पडेलांनी जेम छे.

जे पणु समज लेवुं जेथजे के जेज तेजस्काय सचित्त छे के जे शस्त्रपरिणत न डोय. तेजस्कायनां शस्त्र आ छे:—जेम छाणुना अग्निनुं शस्त्र तरणुना अग्नि छे. जे प्रकारना शस्त्रपरिणत अग्नि ग्राह्य नथी, कारण के ते व्यवहारथी अशुद्ध छे. वणी तेने ग्रहण करवानी लगवाननी आज्ञा पणु नथी. जण, माटी वगेरे परकाय-शस्त्र छे. उनु पाणी उलयकाय-शस्त्र छे.

ખિચડી, ભાત આદિ જિનું અન્ન. શાકનું ઓસામણ અને ચોખાનું ઓસામણ, આદિ જિનું પાન, તપેલી ઇંટ ગરમ રેતી આદિ શસ્ત્રપરિણત અચિત્ત અગ્નિકાય કહેવાય છે. જે બધાં અગ્નિના સંયોગથી નિષ્પન્ન થાય છે. તેથી એમાં અચિત્ત અગ્નિકાય શબ્દની પ્રવૃત્તિ થાય છે. (૩)

जीवः, पृथक्सत्त्वः आख्यातः, शस्त्रपरिणतादन्यत्र' इत्यादिकानां प्राग्बद्ध्याख्या बोद्धव्या ।

शस्त्रं चास्य द्रव्य-भावभेदाद्विविधं तत्र द्रव्यशस्त्रं स्व-पर-तदुभय-कायभेदात्त्रिविधम् स्वकायशस्त्रं-पौरस्त्यादिवायोः पाश्चात्यादिवायुः । परकायशस्त्रमनलादि । उभकायशस्त्रमनलादिसंतप्तो वायुरेव । भावशस्त्रं तु वायुं प्रति मनसो दुष्प्रवृत्तिः ।

वायुः सच्चित्तचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा, तत्र सचित्तो घनवातादिः, अचित्तो दृतिप्रभृतिषु पूरिपः, सोऽप्यन्तर्मुहूर्त्ताद्ध्वं यावदेकं याममचेतनः, तदनु पूर्णद्वितीययामं यावन्मि-

### ( वायुकाय )

वायुकाय को भी भगवानने सचित्त कहा है । वायु कैसे सचित्त है सो कहते हैं वायु सचेतन है । क्योंकि दूसरे की प्रेरणा के बिना अनियत रूप से तिर्यक्गमन करने वाला है जैसे हिरन या रोज (गवय) ।

अनेक जीव और पृथक्सत्त्व आदि व्याख्या पहले के समान समझनी चाहिए।

वायुकाय का शस्त्र द्रव्य-भाव-भेद से दो प्रकार का है, द्रव्यशस्त्र-स्वपर-उभयकाय के भेद से तीन प्रकार का है । वहां स्वकाय-शस्त्र पूर्व आदि दिशा के वायुका पश्चिम आदि दिशाका वायु, परकाय-शस्त्र अग्नि आदि है, उभयकाय-शस्त्र अग्नि आदि से तपा हुआ वायु ही है । वायु तीन प्रकार का है-

(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र । घनवात आदि सचित्त है, दृति या रबर को थैली आदि में भरी हुई हवा अचित्त होती है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त्त के बाद एक प्रहर तक अचित्त

### (वायुकाय)

वायुकायने पणु लगवाने सचित्त कही छे. वायु डेवी रीते अचित्त छे ते कडे छे:-

वायु सचेतन छे कारण के पीछानी प्रेरणा बिना अनियतरूपे तिर्यक् गमन करना छे, जेवुं के कारण अथवा शक्ति (नीलगाय)

अनेक जीव अने पृथक्सत्त्व आदिनी व्याख्या पहलेकी पेठे समझवी.

वायुकायना शस्त्र द्रव्य-भावभेदे जे प्रकारना छे. द्रव्यशस्त्र स्व-पर-उभयकायना लेटे करी त्रय प्रकारना छे, त्यां स्वकायशस्त्र-पूर्व आदि दिशाना वायुना पश्चिम-आदि दिशाना वायु. परकायशस्त्र अग्नि आदि छे, उभयकायशस्त्र अग्निआदिथी तपेला वायु ज छे. भाव-शस्त्र पहिलानी जेभ समज लेवुं वायु त्रय प्रकारना छे.-

(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र. घन-वात आदि वायु सचित्त छे. भस्मक या रबरनी थैली आदिमां भरेली हवा अचित्त छे; परन्तु अन्तर्मुहूर्त्तनी पछी जेक प्रहर

१ भगवतोस्त्रस्य द्वितीयशतके प्रथमोद्देशे वाय्वधिकारे—

“ से भंते ! किं पुट्टे उदाह अपुट्टे उदाह ? गो० ? पुट्टे उदाह नो अपुट्टे उदाह ”

छाया—‘स (वायुः) भगवन् ? किं स्पृष्टः अपद्रवति (म्रियते) अस्पृष्टः अपद्रवति ?

गौतम ? स्पृष्टः अपद्रवति नो अस्पृष्टः अपद्रवति । अस्य टीका—‘स्पृष्टः स्वकायशस्त्रेण परकायशस्त्रेण वा अपद्रवति म्रियते’ ।

श्रः , तत्पश्चात्सचित्त एव, रोगाद्यवस्थायां वायोरावश्यकत्वे दृत्यदिपूरितोऽपि मिश्रत्वाद्-  
ग्राह्य एव सचित्तवत् । (४)

वनस्पतिकायः ।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यातः, व्याख्या तु पूर्ववत् । चैतन्यवच्चसिद्धिश्चेत्थम्—  
वनस्पतिः सचेतनः, बाल्याद्यवस्थासन्दर्शनात्, छेदन-भेदनादिभिर्म्लानतादिदर्श-  
नाच्च मनुष्यशरीरवत् । शेषं पूर्ववत् । शस्त्रं द्रव्यभावभेदाद्विविधं' तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वपरोम-  
यकायात्मकम् । स्वकायशस्त्रं—यष्ट्यादि । परकायशस्त्रं पाषाणाऽसिकर्तृर्यादि, उभयकायशस्त्रं  
—परशुदात्रादि । भावशस्त्रं तु तं प्रति मनोमालिन्यम् ॥ ४ ॥

रहती है, उसके बाद दूसरे पहर तक मिश्र अवस्था में रहती है बाद में सचित्त हो जाती है ।  
रोग आदि अवस्था में वायु की आवश्यकता होने पर दृति आदि में भरा हुआ अचित्त वायु  
साधुओंको ग्राह्य है, किन्तु दूसरे प्रहर का मिश्र वायु, सचित्त वायु की तरह अग्राह्य है । (४)

( वनस्पतिकाय )

वनस्पतिकायको भी भगवान ने सचित्त कहा है । वनस्पति सचित्त है, क्योंकि उस में  
बाल्यावस्था आदि, तथा छेदन भेदन आदि करने से म्लानता आदि सचेतनके गुण देखे जाते  
है , जैसे मनुष्य का शरीर । अर्थात् बाल्य—तरुण आदि अवस्थाएं और छेदन—भेदन आदि  
करने से म्लानता होने के कारण जैसे मनुष्य-शरीर सचेतन है वैसे ही वनस्पतिकाय भी सचेतन  
है । 'अनेकजीव' आदि पदोंका व्यख्यान पहले की भाँति जानना चाहिये ।

वनस्पति-काय के शस्त्र दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यशस्त्र और (२) भावशस्त्र । द्रव्य-शस्त्र  
स्वकाय, परकाय और उभयकाय हैं, लकड़ी आदि स्वकाय शस्त्र हैं । लोह पत्थर आदि परकाय

सुधी अचित्त रहे छे, त्यारपणी भीण प्रहर सुधी मिश्र अवस्थाभां रहे छे. अने त्यारपण  
सचित्त अनी नय छे. रोगादि अवस्थाभां वायुनी आवश्यकता पडतां मसक आदिनी अ'हर  
भरेलो अचित्त वायु साधुओंने ग्राह्य छे, किन्तु भीण प्रहरने। मिश्रवायु सचित्तवायुनी  
पेठे अग्राह्य छे (४)

(वनस्पतिकाय)

वनस्पतिकायने पणु लगवाने सचित्त कही छे.

वनस्पति सचित्त छे, कारण के तेभां आद्यावस्था आदि तथा छेदन भेदन करवाथी  
म्लानता आदि सचेतनना गुणु जेवामां आवे छे, जेभके मनुष्यनुं शरीर, अर्थात् आद्य-  
तरुण आदि अवस्थाओ अने छेदन-भेदन आदि करवाथी म्लानता थवाने कारणे जेभ मनु-  
ष्यनुं शरीर सचेतन छे तेभ वनस्पतिकाय पणु सचेतन छे. 'अनेक-जिव' आदि शब्दोनुं  
व्याख्यान पहलेलांणी पेठे नलुपुं.

वनस्पतिकायनां शस्त्र जे प्रकारनां छे. (१) द्रव्यशस्त्र अने (२) भावशस्त्र. द्रव्यशस्त्र,  
स्वकाय, परकाय अने उभयकाय छे लाकडी आदि स्वकायशस्त्र छे. लोहुं पत्थर आदि परका-



सम्प्रति वनस्पतिमेव सविशेषं वर्णयति—‘तं जहा’ इत्यादि ।

**मूलम्—तं जहा—अग्वबीया मूलबीया पोरबीया, खंधबीया  
बीयरुहा संमुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खा-  
या अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥५॥**

छाया—तद्यथा—अग्रबीजा मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहाः सम्मुच्छि-  
मास्तृणलतावनस्पतिकायिकाः सबीजश्चित्तवन्त आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वा-  
अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्य ॥ ५ ॥

यहां वनस्पतिकायका विशेष वर्णन करते हैं—

सान्वयार्थः—तं जहा=वह इस प्रकारसे है-अग्वबीया=जिनका बीज अग्रभागमें होता है, मूलबीया=जिनका बीज मूलभाग में होता है, पोरबीया=जिनका बीज पोर ( सन्धि ) में होता है, खंधबीया=जिनका बीज स्कन्ध ( डाले ) में होता है, बीयरुहा=बीजसे उगनेवाले, संमुच्छिमा=विना बीजके उत्पन्न होनेवाले, तणलया= तृण और लताएँ; ये सभी वणस्सइकाइया=वनस्पतिकायिक हैं सबीका=पूर्वोक्त अपने-अपने नाम-प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुए बीजसहित सब वनस्पतिकाय चित्तमंतं=सचित्त अक्खाया=कहे गये हैं, अन्नत्थ=सिवाय सत्थपरिणएणं=शस्त्रपरिणतके; ये वनस्पतिकाय अणेगजीवा=अनेक जीववाले और पुढोसत्ता=भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं ॥५॥

टीका—तथाहि अग्रजीवाः=अग्रे=अग्रभागे बीजं येषां ते तथा कोरुण्टकादयः । मूल-  
बीजाः=मूलमेव बीजं येषां ते कमलकन्दप्रभृतयः । पर्वबीजाः=पर्वणि-ग्रन्थौ पर्वेव बीजं-  
येषां ते तथा इक्षुप्रमुखाः स्कन्धबीजाः=स्कन्धः-स्थुडं स एव बीजं येषां ते तथा शल्ल-

शस्त्र है, परशु ( फरसा ) दात्रा आदि उभयकाय शस्त्र हैं । भावशस्त्र उसके प्रति मनके परिणाम दुष्ट करना ॥ ४ ॥

अब वनस्पतिकाय का विशेष वर्णन करते हैं—‘तं जहा’ इत्यादि ।

अग्रबीज—जिनके बीज अग्र-भाग में होते हैं ऐसे कोरुण्टक आदि अग्रबीज कहलाते हैं ।

मूलबीज—मूलही जिनका बीज हो वह, कमल का कन्द आदि मूलबीज हैं ।

पर्वबीज—पोर ( गांठ ) में या पर्व ही जिनका बीज है ऐसे, गन्ना ( सांठा ) आदि पर्वबीज कहलाते हैं ।

यशस्त्र छे. कोडाडो, दातरडुं आदि उभयकाय शस्त्र छे. लावशस्त्र जेनी प्रति मनना परि-  
ष्णाम दुष्ट करवा ते. (४)

इवे वनस्पतिकायनुं विशेष वर्णन करे छे—तं जहा इत्यादि.

अग्रबीज—जेनां बीज अग्रभागमां होय छे जेवा कोरुण्टक ( इअरी शुल ) आदि  
अग्रबीज कहवाय छे.

मूलबीज—मूलान् जेतुं बीज छे ते कमलानो कंद आदि मूलबीज छे,

કી ધૃતયઃ । બીજરુહાઃ=બીજાદ્ રોહન્તિ = પ્રાદુર્ભવન્તીતિ તે તથા શાલિગોધૂમાદયઃ । સંમૂર્ચ્છિમાઃ=સંમૂર્ચ્છન્તિ=બીજં વિનાપિ દગ્ધભૂમાવપિ સમુદ્ભવન્તીતિ તે તથોક્તાઃ પૃથિ-  
 વીજલસંયોગમાત્રજનિતાસ્તૃણવિશેષા इत्यर्थः । આર્ષત્વાત્સિદ્ધિઃ તથા તૃણલતાઃ=તૃણાનિ-  
 લતાશ્ચેત્યર્થઃ । વનસ્પતિકાયિકાઃ='અવશિષ્ટાઃ સમસ્તવનસ્પતય इत्यर्थ । યદ્વા તૃણલતા-  
 વનસ્પતિકાયિકાઃ' इत्येकं पदम् , ત્ર તૃણાનિ=દર્ભાદીનિ, લતાઃ=ચમ્પકાઽશોકવાસન્ત્યા  
 દયઃ, વનસ્પતિકાયિકાઃ=વનસ્પતિકાયભેદાઃ, -અગ્રબીજાદયઃ સર્વેઽપિ વનસ્પતિકાયિકા  
 ઇવ, પુનર્વનસ્પતિકાયિકગ્રહણં સ્વગત્સૂક્ષ્માદિસકલભેદરૂપાપનાર્થમ્ । સ્વબીજાઃ=પૂર્વવિદિ-  
 તસ્વસ્વનામગોત્રપ્રકૃત્યુદયાત્મકકારણવન્તઃ, અર્થાત્ પૂર્વોક્તા અગ્રવોજાદયઃ સર્વેઽપિ ચિત્ત-  
 વન્તઃ, इत्यादीनां व्याख्या पूर्ववत् ।

इति पठ्यस्थायरकायनिरूपणम् ॥ ५ ॥

સ્કન્ધબીજ-સ્કન્ધ ( થુડ ) હી જિસકા બીજ હૈ । उस शल्लकी आदिको स्कन्धबीज कहते है ।

બીજરુહ-ચાંવલ ગેહું આદિ બીજસે ઊગનેવાલો વનસ્પતિ કો બીજરુહ કહતે હૈ ।

સંમૂર્ચ્છિમ=વિના બીજ કે જલી હુઈ ભૂમિ મેં બી જો પૃથિવી ઓર જલ કે સંયોગ સે ઊગ  
 જાવે એસી ઘાસ આદિ કો સંમૂર્ચ્છિમ કહતે હૈ ।

“ તૃણલતા-તિનકા ( ઘાસ ) ઓર લતાં સબ વનસ્પતિકાયિક હૈ અથવા “તૃણલતા-  
 વનસ્પતિકાયિકાઃ” યહ ઇક હી પદ હૈ । દર્ભ ( દૂબ આદિ ) તૃણ, ચમ્પક, અશોક ઓર વાસન્તી  
 આદિ લતાં ઓર વનસ્પતિકાયિકે ભેદ અગ્રબીજ આદિ સબ વનસ્પતિકાયિક હૈ । સૂત્ર મેં દૂસરી  
 બાર ‘વનસ્પતિકાયિક’ પદ કા ગ્રહણ ઇસલિલ ક્રિયા હૈ કિ-ઊપર વતાયે હુલ ભેદોંકે સિવાય  
 શૂક્ષ્મ બાદર આદિ ઓર બી સમસ્ત ભેદોં કા ગ્રહણ હો જાવે । યે સબ પહેલે દિલ્લચાયે હુલ

પર્વળીજ—ગાંઠે યા પર્વમાં જેતું બીજ છે એવી શેરડી આદિ પર્વળીજ કહેવાય છે.  
 સ્કન્ધબીજ—સ્કન્ધ-થડજ જેતું બીજ છે એવા શલ્લકી આદિ ને સ્કન્ધબીજ કહે છે.

બીજરૂહ—ચોખા ઘઉં આદિ બીજથી ઊગનારી વનસ્પતિને બીજરૂહ કહે છે.

સંમૂર્ચ્છિમ—બીજ વિના બળી ગએલી ભૂમિમાં પણ જે પૃથ્વી અને જળના સંયોગથી  
 ઊગે એવાં ઘાસ આદિને સંમૂર્ચ્છિમ—કહે છે.

તૃણલતા-તરણાં ( ઘાસ ) અને લતા એ બધાં વનસ્પતિકાયિક છે.

અથવા તૃણલતાવનસ્પતિકાયિકા : એ એક જ પદ છે. દર્ભ (દાલડો) તૃણ, ચંપક,  
 અશોક, અને વાસન્તી આદિ લતાઓ અને વનસ્પતિકાયિકા ભેદ અગ્ર બીજ આદિ બધાં  
 વનસ્પતિકાયિક છે. સૂત્રમાં બીજ ત્રાર ‘વનસ્પતિકાયિક’ શબ્દનું ગ્રહણ એટલા માટે કર-  
 વામાં આન્યું છે કે-ઉપર બતાવેલા ભેદો ઉપરાંત સૂક્ષ્મ બાદર આદિ બીજ પણ બધા ભેદોનું  
 ગ્રહણ થઈ જવા પામે એ બધા પહેલાં બતાવેલા પોત-પોતાના નામ-ગોત્ર-રૂપ પ્રકૃતિનાં

साम्प्रतं क्रमप्राप्तं त्रसकायस्वरूपमाह—‘से जे०’ इत्यादि ।

मूलम्—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा अंडया पौयया जरायुया रसया संसेइमा संमुच्छिमा उब्भिया उव-वाइया । जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं, आगइगइविन्नाया जे य कीड-पयंगा । जा य कुंथुपिवीलिया । सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिं दिया, सव्वे पंचिंदिया. सव्वे तिरिक्खजोणिया. सव्वे नेरइया. सव्वे मणुया. सव्वे देवा.सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसा खलु छट्ठो जीवनिक्काआ तसकाउ-त्ति पवुच्चइ ॥ ६ ॥

छाया—अथ ये पुनरिमेऽनेके बहवस्त्रसाः प्राणिनस्तद्यथा—अण्डजाः पोतजा जरा-युजा रसजाः संस्वेदजाः संमूर्च्छिमा उद्भिज्जा औपपातिकाः येषां केषाञ्चित्प्राणिनाम-भिक्रान्तं प्रतिक्रान्तं संकुचितं प्रसारितं रुतं भ्रान्तं त्रस्तं पलायितम् , आगतिगतिविज्ञा-तारः । ये च कीटपतङ्गाः । याश्च कुन्थुपिपीलिकाः । सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, स र्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनिकाः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुजा स-र्वे देवाः, सर्वे प्राणाः परमधर्माणः । एष खलु षष्ठो जीवनिक्कायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते॥६॥

( ६ ) त्रसकायवर्णन.

सान्त्वयार्थः—से=अथ पुण=और जे=जो इमे=ये ( आगे कहे जाने वाले ) अणे-गे=अनेक प्रकारके बहवे=बहुतसे तसा=त्रस पाणा=प्राणी हैं, तं जहा=वे इस प्रकार हैं—(२) अंडया=अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले, (२) पौयया=विना जेर ( जरायु-आंवल-जड ) के अर्थात् विना ही कुछ मलभागके वस्त्रसे पूंछे हुएके समान उत्पन्न होनेवाले, (३) जराउया=जेरसे लिपट हुए उत्पन्न होनेवाले, (४) रसया=रसमें उत्पन्न होनेवाले, (५) संसेइमा=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले, (६) संमुच्छिमा=संमूर्च्छिम, (७) उब्भिया=पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होनेवाले (शलभआदि), (८) उववाइया=उपपात जन्मवाले-देव और नारकी, जेसिं-केसिंचि=इनमेंसे जिन किन्हीं पाणाणं=प्राणियोंका अभिक्कंतं=अभि-

अपने अपने नाम-गोत्र रूप प्रकृति के उदयरूप कारण वाले हैं । अर्थात् पूर्वोक्त बीज आदि सब सचित्त होते हैं और पृथक्-पृथक् स्पर्शरूप एक इन्द्रियवाले हैं ॥ ५ ॥

यह पांच स्थावरकायका निरूपण समाप्त हुआ

उदय-३५ कारुवाणा छे अर्थात् पूर्वोक्त बीज आदि अथा सचित्त होय छे अने पृथक्-पृथक् स्पर्श-३५ अेक इन्द्रियवाणा छे. (५)

इति पंच-स्थावर - कायानुं निरूपणु समाप्त.

मुख गमन होता है, पडिक्कंतं=प्रतिकूल गमन होता है, 'संकुचियं—शरीरमें संकोच-सिकुडन होता है पसारियं=शरीरमें फैलाव होता है, रुय=शब्द का प्रयोग होता है, भंतं=इधर-उधर भ्रमण होता है, तसियं=उद्योग होता है, पलाइयं=डरसे भागना देखा जाता है, ( वे त्रस ) आगइगइविन्नाया=आगमन और गमन को जाननेवाले, य=और जे=जो कीडपयंगा=कीड-कोडे और पयंगा-पतंगिये हैं, य=और जा=जो कुंथुपिवीलिया=कुंथवा और चींटियाँ हैं, वे सव्वे बेइंदिया= सब द्वीन्द्रिय सव्वे तेइंदिया=सब त्रीन्द्रिय सव्वे च-उरिंदिया= सब चार इन्द्रियवाले सव्वे पंचिंदिया=सब षड्वेन्द्रिय सव्वे तिरक्खजोणिया=सब तिर्यञ्चगतिवाले सव्वे नेरइया=सब नारकी सव्वे मणुया=सब मनुष्य सव्वे देवा=सब देव सव्वे=पूर्वोक्त सब पाणा=प्राणीमात्र परमाहम्मिया=सुखके अभिलाषी हैं। ए-सो=यह खलु= निश्चय करके छट्टो=छटा जीवनि काओ=जीवनिकाय तसकाउत्ति=" त्रस-काय " ऐसा पउच्चइ=कहा जाता है ॥ ६ ॥

टीका—'से'=स्थावरपञ्चकनिरूपणान्तरं पुनः इमे=वक्ष्यमाणभेदाः अनेके=द्वीन्द्रियादि-भेदेनाऽनेकप्रकाराः बहवः=एकैरुस्था जाती प्रचुरा भिन्नयोनयो वा त्रसाः=त्रसनामकर्मो-दयात्, त्रसन्ति=आतपाद्यभिपीडिता उद्विजन्ते प्रच्छायशीतलं स्थलं प्रयान्ति वेति त-थोक्ताः 'प्राणन्ति=जोवन्त्येभिरिति, प्राण्यन्ते=जोव्यन्ते प्राणिन एभिरिति वा (प्रोपसृष्टा-दनितेः, अण्यतेर्वा करणे घञ्) प्राणाः=उच्छ्वासादयस्ते सन्त्येषामिति प्राणः 'प्राणिन इत्यर्थः, तद्यथा अण्डे = पक्ष्यादिप्रादुर्भावककोषे जायन्ते=उत्पद्यन्ते इत्यण्डजाः = पक्षि-सर्पादः। पोता एव जाता पोतजाः न जरायवादिना वेष्टिताः पूर्णव्यवयोनिनिर्गतमात्रा

अब क्रमप्राप्त त्रसकायका स्वरूप कहते हैं—'से जे' इत्यादि।

जो ये आबालप्रसिद्ध द्वीन्द्रिय आदिभेद से अनेक, एक एक जाति में बहुत से अथवा भिन्न-भिन्न योनि वाले आतप(गर्मी) आदि से पीडित होने पर त्रस (उद्वेग) पाने वाले, अथवा छायादार शीतल और निर्भय स्थल में चले जाने वाले, व्यक्त चेतनावान्, उच्छ्वास आदि प्राणवाले त्रस कहलाते हैं, उनके भेद इस प्रकार है—

पक्षी सर्प आदि अण्डज हैं (१) जरायु से वेष्टित न होना योनि से निकलते ही गमन—आग मन आदि क्रियाएँ करनेकी सामर्थ्यसे युक्त पूर्ण अवयववाले, या वल्लसे पोछे हुएके समान साफ

हुवे क्रमप्राप्त त्रसकायतुं स्वरूप कडे छे. 'से जे' इत्यादि.

जे जे आबाल-प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिना लेहे करीने अनेक, ओक ओक जतिमां धणु। अथवा भिन्न-भिन्न योनिवाणा, गरमी आदिथो पीडित थतां त्रस (उद्वेग) पामनारा, अथवा छायावाणा शीतल अने निर्भय स्थलमां आदथा जनारा, व्यक्त चेतनावान् उच्छ्वास आदि प्राणुवाणा त्रस कडेवाय छे, तेना लेहे आ प्रकारे छे:—

पक्षी सर्प आदि अण्डज छे (१). जरायुथी वेष्टित न होअने योनिमांथी नीकणतां न गमनागमन आदि क्रियाओ। करवाना सामर्थ्यथी युक्त पूरुं अवयववाणा. या वस्त्र द्वारा

१. त्रसेः पचाद्यच्' २ 'अर्शआदित्वादच्'

एवं परिस्पन्द्रादिसामर्थ्योपेताः पोतजाः । यद्वा पोतो वस्त्रम्-(इति शब्दकल्पद्रुमः), तेन तत्संमार्जिता लक्ष्यन्ते, तथा च-पोता इव=वस्त्रसंमार्जिता इव गर्भवेष्टनचर्माऽनावृत्त्वात्, जायन्ते=उत्पद्यन्ते इति, पोतात्=गर्भवेष्टनचर्मरहितगर्भात् जायन्त इति वा पोतजाः 'कुञ्जर-शल्लक-शश-नकुल-मूषिक-चर्मचटिका-वल्गुलिकादयः । जरायुजाः=जरामेति=गच्छतीति जरायुः=गर्भवेष्टनचर्म तस्माज्जायन्त इति ते=नर-महिष-गवादयः । रसजाः=रसे=मद्यलक्षणे 'रसजी मद्यकीटः' इति हैमात्, जायन्त इति, रसे=विकृतमधुरादौ जायन्त इति वा रसजाः । संस्वेदजा'=संस्वेदात्=घर्माज्जायन्त इति ते यूका-लिक्षा-मत्कुणप्रमुखाः । सम्मूर्च्छिमाः=सम्मूर्च्छनं सम्मूर्च्छः=गर्भाधानमन्तरेणैव स्वयं समुत्पत्तिः, ('मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' अस्माद्भावे घञ्, व्युत्पत्तिप्रदर्शनमेतत्, शब्दोऽयं मनोविकले रूढः, । )

यद्वा समन्ततो देहस्य मूर्च्छनम्=अवयवसंयोगस्तेन निवृत्ताः सम्मूर्च्छिमाः=मातापितृसंयोगं विनैव स्वयंसमुत्पन्नः=पिपीलिका-मक्षिका-मत्कोटकादयः, (आर्षत्वात्सिद्धिः) । उद्भिज्जाः=उद्भिद्य-पृथिवीं भित्वा जायन्त इति ते शलभादयः । औपपातिकाः=उपपत्त-

उत्पन्न होनेवाले हाथी, शल्लकी, खरगोश, नीला, चूहा आदि पोतज कहलाते हैं (२) 'जरायु (आँवल-जड) सहित उत्पन्न होनेवाले मनुष्य महिषादि जरायुज कहलाते हैं (३), मदिरा आदि रसोंमें उत्पन्न होनेवाले तथा स्वादसे चलित अर्थात् सड़े हुए मधुरादि रसोंमें उत्पन्न होनेवाले रसज कहलाते हैं (४) पसीने से पैदा होनेवाले जू, लीख, खटमल आदि संस्वेदज कहलाते हैं (५) गर्भाधानके बिना शरीरनाम-कर्मके उदयसे शरीरके अवयवोंका संग्रह हो जानेसे स्वयं ही उत्पन्न होनेवाले जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं (६), पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होनेवाले शलभ (टिड्डी) आदि उद्भिज्ज हैं (७), गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मोंसे भिन्न देव और नारकोंके जन्मको उपपात कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेवाले देव और नारकी औपपातिक कहलाते हैं (८), देव शय्या पर और नारकी कुम्भीमें स्वयं उत्पन्न होते हैं ।

छेदानी पेटे साक्ष उत्पन्न थनारा डाथी, शेणो, ससलां. नाणिया, उँदर आदि पोतज कडेवाय छे (२). जरायु ( नाण वगेरे भण भाग ) सहित उत्पन्न थनारा मनुष्य. महिषादि ( लेश वगेरे ) जरायुज कडेवाय छे (३). मदिरा आदि रसोमां उत्पन्न थनारा तथा स्वादथी खलित अर्थात् सडेला मधुरादि रसोमां उत्पन्न थनारा रसज कडेवाय छे. (४) प्रस्वेदथी पेदा थनारा जू, लीख, मांडक, आदि संस्वेदज कडेवाय छे. (५). गर्भाधान बिना शरीरनाम-कर्मना उदयथी शरीरना अवयवोनो संग्रह थय जवाथी स्वयं उत्पन्न थनारा छेथो सम्मूर्च्छिम कडेवाय छे. (६) पृथ्वीने लेदीने उत्पन्न थनारा शलभ ( टीड ) आदि उद्भिलिज्ज कडेवाय छे. (७) गर्भ अने सम्मूर्च्छन जन्मोथी भिन्न देव अने नारकोना जन्मने उपपात कडे छे, तेथो उत्पन्न थनारा देव अने नारकी औपपातिक कडेवाय छे (८) देव शय्या पर अने नारकी कुंलीमां स्वयं उत्पन्न थाय छे.

१. अन्येष्वपि दृश्यते' इति डः

नमुपपातः (पतधातोर्भावे घञ्) देवनारकाणां प्रसिद्धगर्भसम्भूच्छेन्नरूपजन्म प्रकारद्वयविलक्षण उद्भवस्तेन निर्वृत्ताः औपपातिकाः=देवनारकाः, देवा हि पुष्पशय्यायां नारकाश्च कुम्भ्यादिषु स्वयं समुत्पद्यन्ते । तानेव विशिनष्टि -‘येषां’-मित्यदीना, येषां केषाञ्चित्पूर्वोक्तानां प्राणानां=श्वासोच्छ्वासादिप्राणवताम्, अभिक्रान्तम्=अभिमुख्येन अभिमुखं वा प्रज्ञापकस्य क्रमणं = गमनमभिक्रान्तं ‘भवती’ विशेषः । प्रतिक्रान्तं=प्रति = प्रातिकूल्येन प्रतिकूलं वा प्रज्ञापकस्य क्रमणम्, यद्वा प्रतिक्रान्तं = परावृत्य गमनम्, संकुचितं = संकोचः गात्रावकुञ्चनम्, प्रसारितं = करचरणादिप्रसारणं, रूतं = शब्दकरणम्, भ्रान्तम् = इतस्ततो भ्रमणम्, त्रस्तं = त्रासः=उद्वेगः, पलायितं=पलायनं भयादिना स्थानान्तरगमनं ‘भवतो’ त्यध्याहृतेन प्रत्येकं सम्बन्धः । सर्व एवैतेऽभिक्रान्तादयः शब्दाः भावक्रान्ताः । त्रसाः, आगतिगतिविज्ञातारः = आगतिः = आगमनम्, गतिः = गमनं तयोर्विज्ञातारः = वेदितारः = ओघसंज्ञया प्रवृत्तिमन्तः स्वस्वाभिक्रान्त प्रतिक्रान्तादिविषयकाऽवबोधसम्पन्ना भवन्तीत्यर्थः ।

इन्द्रियादिविभागप्रदर्शनेन तानेव परिचाययति- ‘ये चे’ त्यादि ये च कीटपतङ्गा = कीटाः = कृमयो गण्डोलकप्रभृतयः, तज्जातीया अन्ये द्वीन्द्रियाश्च, पतङ्गाः = शलभाश्चतुरिन्द्रियास्तज्जातीया भ्रमरादयश्च । याश्च कुन्थु-पिपीलिकाः, कुन्थवश्च पिपीलिकाश्चेत्यनयोरितरेतरयोगे ‘परवलिलङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयो’-रिति परवलिलङ्गता । कुन्थवः = चलन्त एव परिज्ञेया न स्थिताः सूक्ष्मत्वात् लघुकायजीवाः, पिपीलिकाः = कीटिकास्तज्जाती-

ये सब पूर्वोक्त जीवोंके प्रज्ञापककी अपेक्षा सामने आना, लौटके पीछे जाना, इसी प्रकार अंगको सिकोड़ना, हाथ-पैर फैलाना, बोलना, भ्रमण करना, उद्विग्न होना, भय आदि कारणोंसे भागना आदि क्रियाएँ होता हैं । वे गमन आगमन आदिके जाननेवाले अर्थात् ओघसंज्ञासे प्रवृत्ति करनेवाले होते हैं । अनुकूलता आर प्रतिकूलताको सामान्यतया ओघसंज्ञासे जानते हैं ।

इन्द्रियोंका विभाग करके फिर उनका कथन करते हैं—

कृमि, लट, गण्डोल आदि उनकी जातिवाले द्वीन्द्रिय हैं । शलभ और उनकी जातिके भ्रमर आदि चार इन्द्रियवाले होते हैं । कुन्थु और पिपीलिका (चिउंटो) तथा उनकी जातिके अन्य जीव

ये जथा पूर्वोक्त जिवानुं प्रज्ञापकनी अपेक्षाये सामे आवपुं, इरीने पाछा जपुं ये ज रीते अंग संकोचयां, हाथ-पग फैलावया. ओलपुं लमपुं, उद्विग्न थपुं, लयादि कारणे लागी जपुं, जगेरे क्रियाओ डोय छे. तेओ गमनागमन आदिने जजुनारा अर्थात् ओघ-संज्ञाथी प्रवृत्ति करनारा डोय छे. मनुकृणता अने प्रतिकृणताने सामान्य रीते ओघ-संज्ञाये करी जाण्छे छे.

‘इन्द्रियोना विभाग करीने डवे. जेनुं कथन करवामां आवे छे :-

कृमि (कृमियां), लट, अणस्रीयां जगेरे जेनी जतिवाणा द्वीन्द्रिय छे. तीड अने जेनी जतिवाणा भ्रमर आदि चार ‘इन्द्रियवाणा छे. कुन्थवा अने कीडी तथा तेनी जतिवाणा भीज

यास्त्रीन्द्रियाश्च, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियक्रममुल्लङ्घ्य द्विचतुस्त्रीन्द्रियेति व्युत्क्रमेणोपादानमार्षत्वात्सूत्रगतैर्वैचित्र्याच्च । ततः सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वेत्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनिकाः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुष्याः, सर्वे देवाः, सर्वे प्राणाः = पूर्वोक्ताः सकलप्राणिनः परमधर्माणः = परमं सुखमेव धर्मा येषां ते सुखाभिलाषुका इत्यर्थः 'परमा' इत्यत्र दीर्घ आर्षत्वात् । एषः = अनन्तरोदीरितस्वरूपो अण्डजादिलक्षणः खलु = निश्चयेन षष्ठः = स्थावरपञ्चकापेक्षया षष्ठत्वमापन्नः जीवनिकायः = प्राणिसमूहः 'त्रसकाय' इति प्रोच्यते = कथ्यते त्रसकायनाम्ना ख्यात इत्यर्थः ॥६॥

सर्वे प्राणिनः सुखाभिलाषिणो भवन्ति, सुखं च तेषामनारम्भेणैव सम्पद्यतेऽत इदानीमनारम्भोपदेशः—'इच्चेसि' इत्यादि ।

**मूलम्**—इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा. नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंतेवि अन्ने समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि; अप्पाणं वोसिरामि ।७।

छाया—इत्येषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं सामारम्भयेत, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मनं व्युत्सृजामि ॥७॥

षट्कायका आरम्भ न करनेका उपदेश देते हैं—

सान्वयार्थः—इच्चेसिं = इन पूर्वोक्त छण्हं = छह जीवनिकायाणं = जीवनिकार्योके दंडं = दण्ड-हिंसा आदि-को सयं = स्वयं नेव = न समारंभिज्जा = आरम्भ करे, नेव = न अन्नेहिं = दूसरोंसे दंडं = दण्डको समारंभाविज्जा = आरंभ करावे, दंडं = दण्डका

तीन इन्द्रियवाले होते हैं । यहाँ द्वीन्द्रिय बतानेके बाद पहले चार इन्द्रिय फिर तीन इन्द्रियवाले जीव बताये हैं, यह कथन आर्ष होनेसे किया गया है, इसलिए सब द्वीन्द्रिय, सब त्रीन्द्रिय, सब चतुरिन्द्रिय, सब पंचेन्द्रिय, सब तिर्यञ्च, सब नारकी, सब मनुष्य, सब देव, इस प्रकार पूर्वोक्त सब प्राणो सुखको अभिलाषावाले हैं । इस छठे जीवनिकायको भगवानने त्रसकाय कहा है ॥६॥

छठे त्रयु 'छ'न्द्रियवाणा डोय छे. अडीं द्वीन्द्रिय अताव्या पछी पडैलां यार 'छ'न्द्रियवाणा अने पछी त्रयु 'छ'न्द्रियवाणा अताव्या छे, अे कथन आर्ष डोवाथी करैलुं छे. अे रीते अथा द्वीन्द्रिय अथा त्रीन्द्रिय, अथा चतुरिन्द्रिय, अथा पंचेन्द्रिय, अथा तिर्यञ्च, अथां नारकी, अथा मनुष्य, अथा देव, अे प्रकारे पूर्वोक्त अथां प्राणी सुअनी अलिलाषावाणां छे. अे छठे जीवनिकायने भगवाने त्रस-काय कडैल छे. (६)

समारंभंतेवि = आरम्भ करते हुआँको भी अन्ने = दूसरोंको न = नहीं समणुजाणेज्जा = भलाजाने, जावज्जीवाए = यावज्जीवन-जीवनपर्यन्त तिविहं = कृतकारित-अनुमोदना-रूप तीन-करण-पूर्वक ( इस प्रकार ) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायासे न करेमि = नहीं कळंगा, न कारवेमि = नहीं कराऊंगा, अन्ने = दूसरे करंतंपि = करनेवालेकोभी न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा । भंते! = भदन्त ! तस्स = पूर्वोक्त उस दण्डसे पडिक्कमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्म-साक्षीसे जुगुप्सा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा काता हूँ ( और ) अप्पाणं = दंडसेवन करनेवाले आत्माका बोसिरामि = त्याग करता हूँ ॥ १॥

टीका—इत्येषां पूर्वोक्तस्वरूपाणां षण्णां जीवनिकायानां=त्रसस्थावरलक्षणजीवसमुदा-यानाम् , दण्डयते = सारहीनः क्रियते आत्माऽनेनेति दण्डः = प्राणव्यषरोपणादिस्तम् , स्वयं = आत्मना नैव = न कदापि समारंभेत = विदधीत, = नैव अन्यैः = स्वव्यतिरिक्तैः कैरपि जनैस्तद्वारेति भावः, दण्डम् = उक्तलक्षणव्यापारं सामारंभयेत् = कारयेत्, दण्डं समारंभमाणान् = कुर्वाणान् अपि अन्यान् न समनुजानीयात् = अनुमन्येत् । कियत्समय-पर्यन्त ? मित्याह—‘जावज्जीवाए’ इति, अत्र यावच्छब्दः परिमाणार्थको मर्यादार्थकोऽवधा-रणार्थकोश्चाव्ययः, जीवनं जीवा (‘जीव प्राणधारणे) अस्मात् ‘गुरोश्च हलः’ (३।३।१०३)

समस्त प्राणी सुखके अभिलाषी हैं, किन्तु सुखको प्राप्ति तब ही हो सकती है जब आरं-भका परित्याग कर दिया जाय, इसलिए आरंभके त्यागका उपदेश देते हैं—‘इच्चेसि’ इत्यादि ।

जिससे आत्मा ज्ञान दर्शन चरित्रसे रहित होजाय उस हिंसा आदि व्यापारको दण्ड कहते हैं । मुनि पूर्वोक्त छह कार्योंके दण्डका यावज्जीव न स्वयं समारंभ करे न दूसरोंसे करावे और न समारंभ करनेवाले दूसरोंको अनुमोदना करे । दण्ड तीन प्रकारका है—(१) कृत, (२) कारित, (३) अनुमोदित ।

कृत—अपनी इच्छासे स्वयं करना ।

कारित—दूसरे व्यक्तिसे कराना ।

अर्थां प्राणी सुखना अभिलाषी छे, परन्तु सुखनी प्राप्ति तयारे थाय छे के न्यारे आरंभनो परित्याग करवाभां आवे; तेथी आरंभना त्यागनो उपदेश आवे छे—इच्चेसि इत्यादि.

येथी आत्मा ज्ञान दर्शन चरित्रथी रहित थय नय, ये हिंसा आदि व्यापारने दंड कडे छे. मुनि पूर्वोक्त छ कार्योंना दंडनो यावज्जीवन पोते न समारंभ करे, न भील्लयो पासे करावे अने समारंभ करनारा भील्लयोनी न अनुमोदना करे. दंड त्रय प्रकारनो छे : (१) कृत, (२) कारित, (३) अनुमोदित.

कृत—पोतानी इच्छाथी पोते करवुं.

कारित—भील्ल व्यक्ति पासे कराववुं.



इतिपाणिनिवचनेन स्त्रियामकारप्रत्यये स्त्रीत्वाद्वाप 'ईहा, ऊहे'-त्यादिवत् ,) तथा जीवया जीवामित्यर्थः ('ततोऽन्यत्रापि दृश्यते') इति वचनबलाद् यावच्छब्दयोगे द्वितीयायाः प्राप्तावपि सौत्रत्वात्तृतीया, तेन यावन्मम जीवनं तावदिति, जीवनं मर्यादीकृत्यार्थान्न केवलं मरणकाल एवाऽपितु ततः प्रागपीति, जीवन एव न तदुत्तरं परलोकेऽपीत्यर्थः । दण्डं किंविध ? मित्याह-त्रिविधं=तिस्रो विधाः प्रकारा यस्य स तम्=कृत-कारिताऽनुमतरूपम् , तत्र कृतं=स्वतन्त्रेणाऽऽत्मना सम्पादितम् , कारितम्=अन्य-( व्यक्त्यन्तर )-द्वारा निष्पादितम् , अनुमतं=सावद्यव्यापारमारभमाणस्य 'त्वं साधु करोषि, एवमेव कुर्वन्नास्व' इत्यादिना प्रोत्साहितम् , त्रिविधेन=प्रकारत्रयविशिष्टेन करणभूतेन, केने ? त्याह मनसा वाचा कायेने ' ति ।

ननु त्रिविधेने त्यनेन यत्प्रकारत्रयं ग्रह्यते तत् 'मनसे' त्यादिना प्रतिपदमेवोक्तम् एवं सति त्रिविधेनेत्युपादनं पौनरुक्त्यदोषग्रस्तं भवति । यद्वा 'त्रिविधेने' ति विशेषणं मनसे'-त्यादेरेव संभवति, ततश्च 'त्रिविधेन मनसा, त्रिविधया वाचा, त्रिविधेन कायेने'-त्यन्वये मनोवाक्कायानां प्रत्येकं त्रैविध्यं प्राप्नोति तच्चाऽनिष्टं, नह्यत्र मनआदीनि प्रत्येकं त्रैविध्यमर्हन्ति किं तर्हि ? तद्व्यापारा एवेति चेन्न,

अनुमोदित-जो सावद्य व्यापार कर रहा हो उसे अच्छा समझना ।

यह सब सावद्य व्यापार तीन करण तीन योगसे न करे । वे तीन योग ये हैं-(१) मन, (२) वचन, (३) काय ।

प्रश्न-सूत्रमें 'त्रिविधेन' (तीन प्रकारसे) कहा ही है फिर 'मनसा' (मनसे) 'वाचा' (वचनसे) 'कायेन' (कायसे) कहनेसे पुनरुक्ति (कहे हुए को पुनः कहना) होती है । या 'तीन प्रकारसे' यह विशेषण 'मन' वचन, काय' का ही हो सकता है । यदि ऐसा मान लिया जाय तो इसका अर्थ होगा कि 'तीन प्रकारके वचनसे' और 'तीन प्रकारके कायसे' आरम्भ न करे । अर्थात् मन वचन कायके तीन तीन भेद होंगे । ऐसा अर्थ शास्त्रविरुद्ध है-शास्त्रोंमें भगवानने मन आदिके तीन तीन भेद नहीं बताये हैं, किन्तु मन आदिके व्यापारोंको तीन प्रकारका बताया है ।

अनुमोदित-जे सावद्य व्यापार करी रह्यो होय तेने साङ्गं जणुवुं ।

जे अधा सावद्य व्यापार त्रणु करणु त्रणु योगथी न करे. ते त्रणु योग, आ छे-(१) मन, (२) वचन, (३) काया.

प्रश्न-सूत्रमां त्रिविधेन (त्रणु प्रकारे) कहेवुं न छे, पछी मनसा (मनथी), वाचा (वचनथी) कायेन (कायाथी) कहेवाथा पुनरुक्ति (कहेवाने इरी कहेवुं) थाय छे. आ 'त्रणु प्रकारे' जे विशेषणु 'मन. वचन. काया' तुं न होई शके छे. जे जेम मानवाभां आवे तो जेनेो अर्थ जेवेो थरी के त्रणु प्रकारना मनथी, त्रणु प्रकारना वचनथी, जेने त्रणु प्रकारनी कायाथी' आरंभ न करे. अर्थात् मन वचन कायाना त्रणु त्रणु लेह अनशे. जेवेो अर्थ शास्त्र विरुद्ध छे. शास्त्रमां लगवाने मन आदिना त्रणु लेह अताव्या नथी, परन्तु मन आदिना व्यापाराने त्रणु प्रकारना अताव्या छे.

तदभावे हि 'मनसा वाचा कायेन' इत्येतावन्मात्रोक्तौ 'न करोमि न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामी'-त्यनेन सह 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्, ( १ । ३ । १० ) इति वचनानुरोधेन 'शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जये' त्यादिवत्, एचोऽयवा-यावः' ( ६ । १ । ७८ ) इत्यादिवद्वा क्रमिकान्वये 'मनसा न करोमि, वाचा न कारयामि कायेन कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामी'-त्यनभीष्टोऽर्थ आपद्येत तद्धारणाय त्रिविधेनेत्युक्तम्, तेन मनसा न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि; वाचा न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि; एवं कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामीत्यर्थो भवति, यद्वा पूर्वं सामान्यतस्त्रिविधेनेत्युक्त्वा केन त्रिविधेने ? ति जिज्ञासायां तत्प्रकारान् दर्शयितुं विशेषणाऽऽह—'मनसे'—त्यादीति नास्ति पौनरुक्त्यदो-

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है। यदि 'त्रिविधेन' न कहकर केवल 'मनसा वाचा कायेन' कह देते तो अर्थ ठीक न बैठता, क्योंकि जैसे कोई कहे कि "हेय और उपादेयको त्यागो और ग्रहण करो।" तो इस वाक्यमें क्रमसे 'हेय' के साथ 'त्यागो' का सम्बन्ध होजाता है और 'उपादेय' के साथ ग्रहण करो' का। इसी प्रकार 'चोलपट्टा चादर पहनो, ओढो' कहनेसे यह अर्थ होता है कि "चोलपट्टा पहनो—और चादर ओढो।" इसीप्रकार 'त्रिविधेन' (तीन प्रकारसे) पद न रखते तो ऐसा अनिष्ट अर्थ होजाता कि—मनसे न करे, वचनसे न करावे और कायसे अनुमोदना न करे। इस अनिष्ट अर्थका परिहार करनेके लिए 'त्रिविधेन' पद रखनेसे यह अर्थ हुआ कि—(१) मनसे न करूँ, (२) न कराऊँ, (३) न करते हुए को भला जानूँ। (४) वचनसे न करूँ, (५) न कराऊँ, (६) न करते हुएको भला जानूँ। (७) कायसे न करूँ, (८) न कराऊँ (९) न करनेवालेको भला जानूँ।

अथवा पहले सामान्य रूपसे कहा है कि तीन प्रकारसे न करूँ, परन्तु तीन प्रकार कौन—कौनसे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर विशेष बता दिया कि "मनसा वाचा कायेन" ये तीन

उत्तर—ये शंका भराभर नहीं। जो त्रिविधेन न कहीने केवण मनसा वाचा कायेन कहुं डोत तो अर्थ भराभर अंध भेसत नहि. कारण के भेम कोरुं कहे के "हेय अने उपादेयने त्यागो अने ग्रहणु करो." तो ये वाक्यमां कमानुसार 'हेय'नी साथे 'त्यागो'नी संबंध अर्थ भय छे. अने 'उपादेय'नी साथे ग्रहणु करो'नी. अने रीते 'चोलपट्टो आदर पडेरो ओढो' कहेवाथी ये अर्थ थाय छे के 'चोलपट्टो पडेरो अने आदर ओढो। अने रीते त्रिविधेन ( त्रयु प्रकारे ) शब्द न राख्यो डोत तो अने अनिष्ट अर्थ अर्थ भयत के मनथी न करो, वचनथी न करावो अने कायाथी न अनुमोदना करो. आ अनिष्ट अर्थने परिहार करवाने भाटे त्रिविधेन शब्द आप्यो छे, अने त्रिविधेन शब्द आपवाथी अने अर्थ थयो के—(१) मनथी न करुं. (२) न करावुं, (३) करनारने लदो न ललुं, (४) वचनथी न करुं. (५) न करावुं, (६) न करनारने लदो ललुं, (७) कायाथी न करुं, (८) न करावुं, (९) न करनारने लदो ललुं.

अथवा पडेलां सामान्यरूपे कहु छे के 'त्रयु प्रकारे न करुं' परन्तु त्रयु प्रकार क्या क्या छे ? अने जिज्ञासा यतो विशेष अतावी आप्युं छे के मनसा वाचा कायेन अने त्रयु

षाऽऽपातः । केचित् 'मनसा वा वाचा वा कायेन वेति विकल्पसंग्रहार्थं 'त्रिविधेने'—त्युक्त-  
मित्युचिरे । 'न कारयामी त्यत्राऽन्येनेतिशेषः पूरणीयः । न समनुजानामि = नानु-  
मन्ये । तस्येति तस्मात्=पूर्वोक्तरूपाद्दण्डादित्यर्थः, अत्रापादानस्य शेषत्वविवक्षया  
षष्ठी । भंते' भदन्त !' भदन्ते=कल्याणं सुखं वा प्रापयतीति भदन्तः, ( अन्तर्भावित-  
ण्यर्थाद् 'भदि कल्याणे सुखे चे' त्यस्माद्धातोः ' भन्देर्नलोपश्चे ' त्यौणादिकसूत्रेण झच्-  
धातुनकारलोपयोः 'झोऽन्त' इति झस्यान्तादेशः ।) यद्वा भवं=संसारमन्तयति=दूरीकरो-  
तीति, ( 'कर्मण्यण् ( ३ । १ । ) इत्यण् शकन्ध्वादेराकृतिगणत्वात्पररूपे पृषोदरादित्वा-  
द्दस्य दः । ( अथवा भवस्य=संसारस्यान्तो =ऽवसानं येनेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः  
पररूपादेशो प्राग्वत् । भयस्य = जन्म-जरा-मरण-निमित्तकस्याऽन्तो = नाशो येनेति  
भयान्तः, स एव भदन्त इति वा, पृषोदरादित्वादेकस्याकारस्य लोपो यस्य च दः । अपि-

प्रकार हैं इसलिए पुनरुक्ति आदि कोई दोष नहीं है ।

अथवा मन वचन और कायके निमित्तसे होनेवाले तीन भेदोंका संग्रह करनेके लिए 'त्रिवि-  
धेन' पद रखा है ।

व्याकरणमें 'भंते' शब्द अनेक प्रकारसे सिद्ध होता है, इसलिए उसके अर्थ बहुतसे हैं ।  
जैसे (१) कल्याण और सुखको देनेवाले, (२) संसारका अन्त करनेवाले, (३) जिनकी सेवा-भक्ति  
करनेसे संसारका अन्त हो जाता है, (४) जन्म-जरा-मरणके भयका नाश करनेवाले, (५)  
भोगोंको त्याग देनेवाले, (६) भयको दमन करनेवाले निर्भय, (७) इन्द्रियोंका दमन करनेवाले,  
(८) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्रसे दीपनेवाले । इन सबको 'भंते' कहते हैं ।  
इसी प्रकार और अर्थ भी समझने चाहिए । 'भदन्तः', इस सम्बोधनसे यह प्रगट होता है कि  
समस्त क्रियाएँ गुरु महाराजकी साक्षी से ही करनी चाहिए ।

हे भगवन् ! मैं दण्डसे निवृत्त होता हूँ, निन्दा करता हूँ, और गर्हा करता हूँ । कोशोंमें  
निन्दा और गर्हा शब्दका एक ही अर्थ है इसलिए पुनरुक्ति होती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए,

प्रकार छे. अर्थी ढरीने पुनरुक्ति आदि केछे दोष थतो नथी.

अथवा मन वचन अने कायाना निमित्ते थनारा त्रषु लेहोनेा संग्रह करवाने भाटे  
त्रिविधेन शब्द राण्ये छे.

व्याकरणमां भंते शब्द अनेक प्रकारे सिद्ध थाय छे, तेथी अनेा अर्थ धषुा छे. जेवा  
के (१) कल्याण अने सुखने आपनार, (२) संसारनेा अंत करनार, (३) जेनी सेवाभक्ति  
करवाथी संसारनेा अंत आवी लय छे, (४) जन्म जशमरणुना लयनेा नाश करनार, (५)  
भोगेनेा त्याग करनार, (६) लयनु दमन करनार-निर्भय, (७) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अने  
सम्यक्-चरित्रथी दीप्तिमान, जे पधाने भंते कडे छे. जेज रीते पील अर्थी पणु समल  
देवा. 'भदन्त' जे संबोधनथी जेम प्रकट थाय छे के पधी क्रियाजेा गुड भडाराजनी  
साक्षीजे ज करवी जेधजे.

हे भगवन् ! हुं दंडथी निवृत्त थठे छुं, निन्दा करूं छुं अने गर्हा करूं छुं, शब्द-  
कोशेमां 'निन्दा' अने 'गर्हा' शब्दनेा अेकज अर्थ छे, तेथी पुनरुक्ति थाय छे, जेम न

वा भयं ददतीति भयदाः = भोगास्तानन्तयतीति कर्मण्यणिति सूत्रविहिताऽणन्त-भयदाः  
न्त-शब्दस्य पृषोदरादित्वाद् भदन्त इति ।

यद्वा दान्तं भयं येन स भयदान्तः निष्ठान्तस्य परनिपात अहिताग्न्यादिपाठात् ,  
स एव तदन्तः 'यलोप-ह्रस्वौ पृषोदरादिपाठकृतौ ।

अथच भान्ति=दोष्यन्ते (समुल्लसन्तीत्यर्थात्) स्वस्वविषयेष्विति भानि=इन्द्रियाणि,  
तानि दान्तानि येन स भदान्तः, स एव भदन्तः, (निष्ठान्तपरनिपातः प्रग्वत्, पृषोदरादित्वादा-  
कारस्य ह्रस्वः) । यद्वा भाति=सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यैर्दीप्यते इति भान्तः ('भा दीप्तौ'  
अस्मादीणादिकोऽन्तप्रत्ययः) स एव भदन्तः, ('सिद्धिः पृषोदरादित्वादेव') ।

(एवं यथामति व्युत्पत्त्यन्तरेष्वपि निरुक्तोक्तशाकटायनादिप्रतिपादितरीत्या साधन-  
प्रक्रिया बोद्धव्या ।) तत्सम्बोधने हे भदन्त !=हे भगवन् ! अनेन सम्बोधननिर्देशेन  
व्रतप्रत्याख्याननादिकः सर्वोऽपि क्रियाकलापो गुरुसाक्षिक एव विधातव्य इति बोधितम् ।  
प्रतिक्रामामि=प्रतिनिवर्त्ते भूतदण्डात्पृथग्भवामीत्यर्थः । यत्तु टीकान्तरेषु 'पडिक्कमामी'-  
त्यस्य 'प्रतिक्रामामी' ति छायोपलभ्यते सा प्रमाद-विजृम्भितैव, ('क्रमः परस्मैपदेषु' (७।  
३।७६) इति पाणिनिवचनबलेन क्रमेरुपवादीर्घस्य दुर्वारत्वात् ।) निन्दामि=जुगुप्से । गर्हे

क्योंकि निन्दा आत्मसाक्षीसे होती है और गर्हा गुरुसाक्षीसे होती है । अथवा निन्दा साधारण  
कुत्साको कहते हैं और गर्हा अत्यन्त निन्दाको कहते हैं ।

इसका अर्थ यह होता है कि-हे भगवन् ! अतोत कालमें दण्ड (सावध व्यापार) करने-  
वाले आत्मा (आत्मपरिणति) को अनित्य आदि भावना भाकर त्यागता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा  
करता हूँ । जैसे घरको देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर भी प्रकाश होता है और बाहर भी प्रकाश  
होता है इसको 'देहली-दीपक' न्याय कहते हैं । कहा भी है-"परै एक पद बीचमें, दुहु दिस  
लागै सोय । सो है 'दीपक देहरी', जानत है सब कोय ॥१॥" बीचमें मणि जड़ देनेसे दोनों  
ओर मणिका प्रकाश होता है, यह 'मध्यमणि' न्याय कहलाता है, इसी प्रकार 'अप्पाण' का  
दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है । अर्थात् सावध व्यापारवाली आत्माको त्यागता हूँ और उसकी

समञ्जसुं. कारणु के निंदा आत्मसाक्षीअे थाय छे अने गर्हा गुड़ साक्षीअे थाय छे. अथवा  
निंदा साधारणु कुत्साने कडे छे अने गर्हा अत्यंत निंदाने कडे छे.

अने अर्थ अे थाय छे के हे भगवन् ! अतीत कालमां दंड (सावध व्यापार) कर-  
नारा आत्मा (आत्मपरिणति) ने अनित्य आदि भावना लावने त्यागुं छुं, निंदां छुं, गर्हुं  
छुं, जेभ घरनी उडेली (आरणुं) पर दीपो राभवथी अंदर पणु प्रकाश थाय छे अने  
अंदर पणु प्रकाश थाय छे तेने 'देहली-दीपक' न्याय कडे छे. कहुं छे के- "परै एक  
पद बीचमें दुहु दिस लागै सोय, सो है 'दीपक-देहरी' जानत है सब कोय (१)" वच-  
मां मणि जडी देवथी जेउ आणु मणिने प्रकाश थाय छे तेने 'मध्य-मणि न्याय' कडे छे,  
अे रीते अप्पाण ने जेउनी साथे संबध थाय छे. अर्थात् सावध-व्यापारवाला आत्माने  
त्यागुं छुं अने तेनी निंदा कइं छुं, तथा गर्हा कइं छुं. (७)

=प्रजुगुप्से इत्येवार्थः ।

ननु तर्हि निन्दा गर्हयोः 'कुत्सा निन्दा च गर्हणे'-ति कोशरीत्या पर्यायत्वेन पौन-  
रुत्पं वज्रलेपायितमेवेति चेन्न, यतः स्वसाक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी च गर्हेति परस्परं  
भवति भेदः । यद्वा 'निन्दा=साधारणी कुत्सा, गर्हा=सैवाति भूयसी'-ति परस्परमर्थभेदा-  
न्नास्ति पर्यायता, यथा प्रवृद्ध एव कोपः क्रोधो न साधारण इति कोप-क्रोधयोः पर्या-  
यत्वाभावेन क्रुध्यर्थत्वाभावात् कुपधातुयोगे चतुर्थी 'नेष्यते, 'निन्दामि, गर्हे' इत्यनयो-  
स्तस्येत्यनेन प्रागुक्तेन सम्बन्धस्तेन-अतीतदण्डसम्बन्धिनी- स्वसाक्षिकीं गुरुसाक्षिकीं च  
निन्दां करोमिति निर्गलितोऽर्थः, तस्येत्यत्र सम्बन्ध-सामान्ये षष्ठ्याः प्रागुक्तत्वात् । यद्वा  
'आत्मान'-मित्यस्यैव मध्यमणिन्यायाद् देहलीदीपन्यायाद्वा व्युत्सृजामीत्यनेन 'निन्दामि,  
गर्हे' इत्याभ्यां च सम्बन्धस्तेन भूतकालिकदण्डविधायिनमप्रशस्तमात्मानं जुगुप्से व्युत्सृ-  
जामि=विविधाऽनित्यादिभावनया विशिष्य वा परित्यजामीत्यर्थः ॥७॥

दण्डपरित्यागो द्विविधः सामान्यविशेषभेदात्, सामान्यतो दण्डपरित्यागोऽर्हिसासा-  
मान्यम्, विशेषतो दण्डपरित्यागश्च पञ्च महाव्रतानि ।

ननु पञ्चसु महाव्रतेषु सत्यादिव्रतानामर्हिसातो भेदः सुस्पष्टं प्रतीयत इति कथ-  
मर्हिसया पञ्चानां महाव्रतानां सामान्य-विशेषभाव उपपद्येत ? सामान्यविशेषभावो हि वि-  
शेषत्वेन विवक्षितपदार्थस्य सामान्यधर्माक्रान्तत्वादेव संपद्यते, अत एव 'व्याप्यव्यापकभा-  
वापन्नयोः सामान्यविशेषभाः' इत्युद्धोषवः, यथा-द्रोणो व्रीहि' रित्यत्र प्रथमाविभक्त्यर्थस्य

निन्दा करता हूँ, तथा गर्हा करता हूँ ॥७॥

दण्डपरित्याग दो प्रकारका है—(१) सामान्य-दण्डपरित्याग और (२) विशेष-दण्डपरित्याग ।  
अर्हिसा-सामान्यको सामान्य-दण्डपरित्याग कहते हैं और पंच महाव्रतोंको विशेष-दण्डपरित्याग  
कहते हैं ।

प्रश्न—पांच महाव्रतोंमें सत्य आदि महाव्रतोंका अर्हिसासे स्पष्ट भेद प्रतीत होता है,  
फिर अर्हिसाके साथ सत्य आदि महाव्रतोंका सामान्यविशेषभाव कैसे हो सकता है ? सामान्य-  
विशेषभाव वहीं होता है जिसको विशेष बनावें उसमें सामान्य धर्म भी पाया जाय । इसलिए

दण्डपरित्याग दो प्रकारका है (१) सामान्य-दण्डपरित्याग अने (२) विशेष-दण्डपरित्याग  
अर्हिसासामान्यने सामान्य दण्ड-परित्याग कहे छे, अने पांच महाव्रतोंने विशेष-दण्डपरि-  
त्याग कहे छे.

प्रश्न—पांच महाव्रतोंमें सत्य आदि महाव्रतोंने अर्हिसाथी स्पष्ट भेद प्रतीत थाय  
छे. तो पञ्ची अर्हिसानी साथे सत्य आदि महाव्रतोंने सामान्यविशेष-भाव केवी रीते होई  
शके छे ? सामान्य-विशेष-भाव तेमां होई शके छे के जेने विशेष अतावे तेमां सामान्य

१ क्रुध्यर्हिसायाऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" (१।३।६४) इत्यत्र शब्देन्दुशेखरे 'न- ह्यकुपितः  
क्रुध्यती'-ति भाष्येण प्ररूढकोप एव क्रोध इति कुपेस्तदर्थत्वाभावेन न तद्योग इदम् 'कुप्य-  
ति कस्मैचि'-दित्याद्यसाध्वेवेति ।

परिमाणसामान्यस्य द्रोणशब्दार्थे चतुराढकात्मक परिमाणविशेषे तादात्म्यसम्बन्धेन (अभेद-सम्बन्धेन) अन्वये सति द्रोणाभिन्नं परिमाणमिति बोधः, ततश्च प्रत्ययार्थपरिमाणस्य परिच्छेद्य-परिच्छेदकरभावेन व्रीहियदार्थेऽन्वये द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो (तत्परिमितो) व्रीहिरिति बोधः, अत्र प्रत्ययार्थस्य व्रीहावन्वयप्रदर्शनं प्रकृतानुपयोग्यपि प्रसङ्गतः कृतम् । यद्वा-यथा 'उपाध्यायो मुनि'-रित्यत्रोपाध्यायशब्दार्थे उपाध्यायपदधारिणि मुनिविशेषे मुनिशब्दार्थस्य मुनिसामान्यस्य तादात्म्यसम्बन्धेन (अभेदसम्बन्धेन) अन्वयः, तथा च-उपाध्यायभिन्नो मुनिरितिबोधः, तत्र विशेषत्वेन विवक्षितपदार्थे उपाध्याय-पदधारिणि मुनिविशेषे मुनिशब्दार्थस्य मुनित्वस्य सत्त्वाद्बुभयोः पदार्थयोः सामान्य-

यह कहा गया है कि 'व्याप्य-व्यापक भाव जिनमें होता है उन्हींमें सामान्यविशेषभाव पाया जाता है' जैसे 'द्रोणो व्रीहिः,' इस वाक्यमें प्रथमा विभक्तिका अर्थ परिमाण-सामान्य है इस-परिमाण-सामान्यका द्रोण शब्दके अर्थ चार आढकरूप परिमाण-विशेषमें अभेद सम्बन्धके द्वारा अन्वय होता है । इस अन्वयसे "चार आढकरूप परिमाण" (एक प्रकारका तौल) ऐसा बोध होता है । उस प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यको परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्धसे व्रीहि पदार्थमें अन्वय होनेसे "उस परिमाणसे परिमित (मापा हुआ) व्रीहि" ऐसा बोध होता है । यहां व्रीहिमें अन्वय प्रसंगवश दिखलाया गया है । अथवा—

"उपाध्यायो मुनिः" यहाँ उपाध्याय शब्दका अर्थ है उपाध्यायपदधारी मुनिविशेष (१), तथा मुनि शब्दका अर्थ मुनिसामान्य (२), अतः जो उपाध्याय हैं वही मुनि है, अर्थात् मुनिसे अन्य उपाध्याय नहीं है इसलिए उपाध्याय शब्दार्थको मुनि शब्दार्थके साथ अभेद सम्बन्धसे अन्वय होता है तो 'उपाध्यायसे अभिन्न मुनि' ऐसा बोध होता है । यहां विशेष याने उपाध्यायपदधारी

धर्म पणु भणी आवे. तेथी करीने अेम कडेवामां आंयुं छे के 'जेमां व्याप्य-व्यापकभाव डोय छे तेमां न सामान्यविशेष-भाव भणी आवे छे.' जेमके द्रोणो व्रीहिः अे वाक्यमां प्रथमा विलक्षितनो अर्थ परिमाण-सामान्य छे. अे परिमाण-सामान्यनो, द्रोण शब्दना अर्थ आर आढक ३प परिमाण-विशेषमां अलेद संभंधना द्वारा अन्वय थाय छे. अे अन्वयथी "आर आढक ३प परिमाण" (अेक प्रकारनो तौल) अेवो अोध थाय छे. अे प्रत्ययार्थ-परिमाण-सामान्यनो परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव संभंधथी व्रीहि पदार्थमां अन्वय थवाथी "अे परिमाणथी परिमित (मापेला) व्रीहि" अेवो अोध थाय छे. अही व्रीहिमां अन्वय प्रसंगवश अनाववामां आंये छे. अथवा—

उपाध्यायो मुनिः अेमां उपाध्याय शब्दना अर्थ छे-उपाध्याय पदधारी मुनि-विशेष (१), तथा मुनि शब्दना अर्थ छे मुनि-सामान्य (२), अेटले ते उपाध्याय छे तेन मुनि छे, अर्थात् मुनिथी नूहे उपाध्याय नथी. अेथी करीने उपाध्याय शब्दार्थनो मुनि शब्दार्थनो साथे अलेद संभंधथी अन्वय थाय छे, अने तेथी 'उपाध्यायथी अलिन्न मुनि' अेवो अोध थाय छे. अेमां विशेष करीने उपाध्याय-पदधारी (व्यक्ति)मां मुनिना सामान्य धर्म-

विशेषभावोऽभेदान्वयश्च भवति, तथा प्रकृतेऽन्वयो न संभवति, सत्यादिमहाव्रतानामर्हिंसातः सुस्पष्टभेदप्रतीतिबलाद्भेदान्वयस्य बाधादिति चेन्न—

पठचानामपि महाव्रतानां वस्तुतोऽर्हिंसात्मकत्वात् सामान्य-विशेषभावः सुबोध एव । अर्हिंसामामान्यस्वरूपावदातकरणाय शिष्याणां सुस्पष्टप्रतिपत्तये च दण्ड-परित्यागस्य द्वैविध्यं कृतम्, एकैवाऽर्हिंसा पठचधा विभाजिता ।

ननु यथा 'द्रोणो ब्रीहि' रित्यादौ द्रोणादिशब्दार्थचतुराढकात्मकपरिमाणे चतुराढकत्वादिधर्मैर्परिमाणत्वादिसामान्यधर्माक्रान्तात् प्रत्ययार्थपरिमाणादितो विशेषत्वं प्रतीयते, यथा च नीलघटो घट इत्यादौ नीलगुणविशिष्टत्वेन नीलघटे घटसामान्यापेक्षया

(व्यक्ति) में मुनिके सामान्यधर्म मुनित्वका अस्तित्व पाया जाता है, अत एव दोनों पदार्थोंका सामान्य-विशेषभावमें अभेदान्वय होता है ।

अर्थात् जैसे इन दो उदाहरणोंसे अभेदमें सामान्य-विशेषभेद पाया जाता है, वैसा अर्हिंसाके साथ सत्यादि व्रतोंका अभेद नहीं है, अतएव सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उनका स्पष्ट भेद प्रतीत होता है ।

उत्तर—पाँचो महाव्रत वास्तवमें अर्हिंसास्वरूप हैं, इसलिये अर्हिंसासे भिन्न नहीं हैं । अर्हिंसाके स्वरूपको स्पष्ट करने के लिये और शिष्यों को स्पष्ट बोध करने के लिये दण्ड परित्याग के दो भेद कर दिये हैं, अर्थात् एक ही अर्हिंसा को पाँच महाव्रतोंमें विभक्त कर दिया है ।

प्रश्न—जैसे "द्रोणो ब्रीहिः" इत्यादि वाक्योंमें परिमाणत्व आदि सामान्यधर्मसे युक्त प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यसे द्रोण शब्दार्थ चार आढकरूप परिमाणमें चार अढकत्व आदि धर्मसे विशेषता प्रतीत होती है । अथवा "जो नीला घड़ा है वह घड़ा हो है" इत्यादि वाक्यों में अन्य घड़ोंकी

इयं मुनित्वतुं अस्तित्व मणी आवे छे. तेथी करीने जेउ शण्डोना अर्थेना सामान्य-विशेष भावमां अलेहान्वय थाय छे.

अर्थात्—जेम जे जेउ उदाहरणोथी अलेहमां सामान्य-विशेष भाव मणी आवे छे, तेम अर्हिंसानी साथे सत्यादि व्रतानो अलेह नथी. तेथी सामान्यविशेष-भाव थई शकते नथी, कारणे के जेने स्पष्ट लेह प्रतीत थाय छे.

उत्तर—पाँचे महाव्रत वस्तुताये अर्हिंसास्वरूप छे, तेथी करी अर्हिंसाथी लिनन नथी. अर्हिंसाना स्वरूपने स्पष्ट करवाने माटे जेने शिष्योने स्पष्ट बोध कराववाने माटे दंड परित्यागना जे लेह करवामां आव्या छे, अर्थात् जेक जे अर्हिंसाने पाँच महाव्रतमां विलकत करी नांभवामां आवी छे.

प्रश्न—जेम द्रोणो ब्रीहिः इत्यादि वाक्योंमां परिमाणत्व आदि सामान्य धर्मथी युक्त प्रत्ययार्थ परिमाण-सामान्यथी द्रोण शब्दार्थ चार आढकरूप परिमाणमां चार आढकत्व आदि धर्मथी विशेषता प्रतीत थाय छे; अथवा 'जे नीला घड़ा छे ते घड़ा छे' इत्यादि वाक्योंमां अन्य घड़ानी अपेक्षाये नीला घड़ामां नीलापणुथी विशेषता मणी आवे छे जेने

વિશેષત્વં વિદ્યતે, વિશેષત્વં ચાત્ર વ્યાપ્યત્વમેવ, તથા પ્રકૃતે પઠ્ઠમહાત્રતલક્ષણેઽર્હિસા-  
વિશેષે કથં વિશેષત્વમિતિ ચેચ્છૃણુ-

પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વાદિના વ્યાપ્યધર્મેણ પઠ્ઠમહાત્રતેષુ વિશેષત્વે સુવચમેવેતિ ।

નનુ તર્હિ અર્હિસાસામાન્યસ્ય કિં લક્ષણં યત્ પઠ્ઠમહાત્રતેષુ વ્યાપકં ભવે ? દિ-  
તિ ચેદ્ ઉચ્યતે-ષડ્ઠ્ઠજીવનિકાયેષુ ઢ્ઠ્ઠસમારમ્ભવર્જનત્વમેવાઽર્હિસા-સામાન્યસ્ય લક્ષણમ્,  
તચ્ચ પઠ્ઠમહાત્રતેષુ પ્રત્યેકં ભવતીતિ લક્ષણસમન્વયો બોધ્યઃ, તથા ચ મહાત્રતાન્યત્ર  
વ્યાપ્યાનિ સામાન્યત્તો ઢ્ઠ્ઠપરિત્યાગો વ્યાપકસ્તસ્ય પઠ્ઠમહાત્રતરૂ-પાશેર્ષાવિશેષનિષ્ઠ્ઠવા-  
દતો વ્યાપકસ્વરૂપસામાન્યઢ્ઠ્ઠપરિત્યાગં વ્યાખ્યાય વિશેષઢ્ઠ્ઠપરિત્યાગલક્ષણમહાત્રતાન્ય-  
ભિદ્યત્તે, તેષુ પ્રાણાતિપાતવિરમણાત્મિકાયા અર્હિસાયાઃ પ્રધાનત્વમ્, ઇતરેષાં સસ્યક્ષેત્ર-

અપેક્ષા નીલે ઘડેમેં નીલેપનસે વિશેષતા પાઈ જાતી હૈ ઓર વહ વિશેષતા વ્યાપ્યતારૂપ હૈ, વૈસે પંચ  
મહાત્રતરૂપ અર્હિસાવિશેષમેં વિશેષતા કિસ ધર્મકે કારણ હૈ ? ।

ઉત્તર-પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્યધર્મોસે પાંચ મહાત્રતોમેં વિશેષતા પાઈ હો જાતી  
હૈ । અર્થાત્ જહાં પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય ધર્મ પાચે જાતે હૈં વહાં અર્હિસા-સામાન્યકા  
અસ્તિત્વ રહતા હી હૈ ।

પ્રશ્ન-અર્હિસાસામાન્યકા લક્ષણ કયા હૈ ? જિસસે વહ પાંચ મહાત્રતોમેં વ્યાપક હોજાવે ? ।

ઉત્તર-ષડ્ઠ્ઠજીવનિકાયોમેં ઢ્ઠ્ઠકા પરિત્યાગ કરના અર્હિસા-સામાન્યકા લક્ષણ હૈ । યહ  
લક્ષણ પાંચોહી મહાત્રતોમેં પાચા જાતા હૈ, અતઃ મહાત્રત વ્યાપ્ય હૈં ઓર સામાન્ય-ઢ્ઠ્ઠપરિત્યાગ  
વ્યાપક હૈ ।

વ્યાપકરૂપ સામાન્ય-ઢ્ઠ્ઠપરિત્યાગકા પૂર્વ સૂત્રમેં વ્યાખ્યાન ક્રિયા હૈં । અબ વિશેષ-ઢ્ઠ્ઠ-  
પરિત્યાગરૂપ પાંચ મહાત્રતોકા વ્યાખ્યાન આરંભ કરતે હૈં, ડનમેં પ્રાણાતિપાતવિરમણરૂપ અર્હિસા

તે વિશેષતા વ્યાખ્યાતાઙ્ગ છે. તેમ પાંચ મહાત્રતઙ્ગ અર્હિસા-વિશેષતામાં વિશેષતા કયા ધર્મને  
કારણે છે ?

ઉત્તર-પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય-ધર્મોથી પાંચ મહાત્રતોમાં વિશેષતા મળી  
આવે છે. અર્થાત્ જ્યાં પ્રાણાતિપાતવિરમણત્વ આદિ વ્યાપ્ય ધર્મ મળી આવે છે ત્યાં અર્હિસા  
સામાન્યનું અસ્તિત્વ રહેલું જ હોય છે.

પ્રશ્ન-અર્હિસા-સામાન્યનું લક્ષણ કયું છે કે જેથી તે પાંચ મહાત્રતોમાં વ્યાપક થઈ  
બધ છે ?

ઉત્તર-ષડ્ઠ્ઠવનિકાયમાં ઢંડનેા પરિત્યાગ કરવો એ અર્હિસા-સામાન્યનું લક્ષણ છે,  
એ લક્ષણ પાંચ મહાત્રતોમાં મળી આવે છે, તેથી મહાત્રત વ્યાપ્ય છે. અને સામાન્ય ઢંડ-  
પરિત્યાગ વ્યાપક છે.

વ્યાપકઙ્ગ-સામાન્ય-ઢંડપરિત્યાગનું વ્યાખ્યાન આગળના-સૂત્રમાં કરેલું છે હવે વિશેષ-  
ઢંડપરિત્યાગઙ્ગ પાંચ મહાત્રતોનું વ્યાખ્યાન શરૂ કરવામાં આવે છે, તેમાં પ્રાણાતિપાતવિ-



वर्ति-वृति (वाङ्) वचत्परिपालनार्थतया तदङ्गत्वात्, तथाचोक्तम्

“अहिंसैका मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥१॥”

अन्यच्च—

“आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवल, -मुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥२॥ ” किञ्च—

“एगं चिय इत्थ वयं, निहिद्वं जिणवरेहि ।

पाणाइवायविरमण, -मवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥३॥ सू० ७॥

अतश्चादौ प्राणातिपातविरमणाख्यं प्रथमं महाव्रतमाह—‘पढमे०’ इत्यादि ।

**मूलम्—पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाआ वेरमणं, सव्वं भंते !**

**पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव**

प्रधान है, जैसे धान्यको रक्षाके लिए खेतके चारों ओर बाड़ होती है, उसी प्रकार अन्य महाव्रत अहिंसाके रक्षक होनेसे अंग हैं । कहा भी है—

“स्वर्ग और मोक्षको सिद्ध करनेवाली एक अहिंसा ही मुख्य है इसीको रक्षाके लिए सत्यादि महाव्रतोंका पालन करना उचित है ।” ॥१॥

और भी कहा है—

“असत्य-वचन बोलने आदिसे भी आत्माके परिणामोंकी हिंसा होती है, अतः असत्य आदि सभी हिंसारूप है । असत्य आदिका अलग कथन शिष्योंको स्पष्ट समझानेके लिये किया गया है ॥२॥”

तथा—

“भगवानने एक प्राणातिपातविरमणको ही मुख्य कहा है अन्य वत उसीकी रक्षाके लिए हैं ॥३॥”

रमणुइप अहिंसा प्रधान छे. जेम धान्यनी रक्षाने भाटे जेतरेनी चारे आणुअे वाड डोय छे, तेम अन्य मडावने। अहिंसाणा रक्षक डोवाने दीधे अंगइप छे कलुं छे के—

“स्वर्ग अने मोक्षने सिद्ध करवावणी अेक अहिंसा जे मुख् छे. तेनी रक्षाने भाटे सत्यादि मडावनेतुं पालन करवुं उचित छे.” (१)

वणी कलुं छे के—

“असत्य वचन जेअवा वगेरेथो पणु आत्माना परिणामेनी हिंसा थाय छे, तेथी असत्य आदि अथां हिंसाइप छे. असत्य आदिनुं जूडं कथन शिष्येने स्पष्ट सरअववाने भाटे करवाभां आणुं छे.” (२)

तथा—

“भगवाने अेक प्राणातिपात विरमणुने जे मुख् कलुं छे. अन्य वने तेनी रक्षाने भाटे छे.” (३)

२४

सयं पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायं-  
तेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेणं  
वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणा  
मि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।  
पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेर-  
मणं ॥८॥

छाया-प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं  
प्रत्याख्यामि, अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि, नैवान्यैः  
प्राणानतिपातयामि, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्याः न समनुजानामि यावज्जीवया त्रिविधं-  
त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि,  
तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गहं आत्मानं व्युत्सृजामि, प्रथमे मथन्त ! महा-  
व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥

शिष्य षट्कायकी विराधना का त्याग करके अब षाँच महाव्रत और छठे रात्रि भोज-  
नविरामणव्रतको ग्रहण करता है—

### (१) प्राणातिपातविरमण.

सान्वयार्थः-भंते ! हे भदन्त !-हे भगवन् ! पढमे = प्रथम महव्वए = महाव्रतमें  
पाणाइवायाओ = प्राणातिपातसे वेरमणं = विरमण होता है, (अतः मैं) भंते !-हे भगवन् !  
सव्वं = सब प्रकारके पाणाइवायं = प्राणातिपात (हिंसा) का पच्चक्खामि = त्याग करता  
हूँ । से-अथ-अबसे लेकर (मैं) सुहुमं = सूक्ष्म वा = अथवा बायरं = बादर वा = अथवा  
तसं = त्रस वा = अथवा थावरं = स्थावर पाणे = प्राणियोंका सयं = स्वयं-खुद नेव = नहीं  
अइवाइज्जा = अतिपात-हनन-करूँगा, नेव = न अन्नेहि = दूसरोंसे पाणे = प्राणियोंको  
अइवायाविज्जा = हनन कराऊँगा, (और) पाणे = प्राणियोंको अइवायंतेवि = हनन करते  
हुए भी अन्ने = दूसरोंको न = नहीं = समणुजाणिज्जा = भला जानूँगा, जावज्जीवाए =  
जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृतकारितअनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं =  
तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूँगा, न  
कारवेमि = न कराऊँगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरे को न समणुजाणामि = भला  
नहीं समझूँगा । भंते !-हे भगवन् ! तस्स = उसदण्डसे पडिक्कमामि = पृथक् होता हूँ,  
निंदामि = आत्ममाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं =  
दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । भंते = हे भगवन् ! पढमे = प्रथ-  
म महव्वए = महाव्रतमें मैं उवट्ठिओमि = उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब  
प्रकारके पाणाइवायाओ = प्राणातिपातका वेरमणं = त्याग है ॥८॥ (१)

(१) प्राणातिपात-विरमणव्रतम् ।

टीका- भदन्त ! = हे भगवन् ! प्रथमे = आद्य महाव्रते = महत्-विशां व्रतं = शास्त्रीयमर्या-  
दानुसरणम्, महच्च तद् व्रतं च महाव्रतम्, महत्त्वं चास्य श्रावकाणुव्रतापेक्षया, द्रव्य-  
क्षेत्र-काल-भावतः सर्वव्यापकत्वेन, महद्भिस्तीर्थकरणधरादिभिराचरितत्वेन' महापुरुषा-  
चर्यमाणत्वेन चास्ति, तस्मिन्, प्राणातिपातात् = प्राणः = स्पर्शनेन्द्रियादयः सन्त्येषामिति  
प्राणाः = एकेन्द्रियादयो जीवाः (अर्श आदित्वादच्) तेषामतिपातो = वियोजनं हिंसनमि-  
त्यर्थः, तस्माद् विरमणं = निवर्तनम् 'अस्ती' ति शेषः, अतोऽहं भदन्त ! = हे भगवन् !  
सर्वं = स्थूलसूक्ष्मादियावद्भेदविशिष्टं कृतकारिताऽनुमोदितस्वरूपं वा प्राणातिपातं प्रत्याख्या-  
मि = प्रति = प्रातिकूल्येन आख्यामि = रूथयामि सर्वथा परित्यजामोति भावः, तदेव विशेष-  
यति - 'से०' इति, से = अथ = अनन्तरम् अयारभ्य सूक्ष्मं = सूक्ष्मनामकर्मप्रकृत्युदयसंपन्नम् ।  
यद्यप्यस्य कायिकी हिंसा न भवति तथाऽपि तद्ग्रहणं 'न केवलं कायिक्येव हिंसा किन्तु  
वाङ्मनसयोर्दुःप्रणिधानेनापि हिंसा संभवत्येवेति ज्ञापनार्थम् । यद्वा सूक्ष्मं = लघुकायिकं

इसलिये पहले-पहल प्राणातिपात-विरमण महाव्रतका कथन करते हैं- "पढमे मंते०"  
इत्यादि ।

(१) प्राणातिपातविरमण ।

ये श्रावकके व्रतोंकी अपेक्षा विशाल होनेसे महाव्रत कहलाते हैं (१), अथवा सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-  
काल-भावकी अपेक्षा प्राणातिपात आदिका सर्वथा त्याग होता है इस कारण महाव्रत कहलाते  
हैं (२) या तीर्थकर गणधर आदि महापुरुषोंने इनको अंगीकार किया है और वर्तमानमें भी  
महापुरुष इनको अंगीकार करते हैं इससे ये महाव्रत कहलाते हैं (३) ।

हे भगवन् ! प्रथम महाव्रतमें प्राणातिपातसे विरमण होता है इसलिए हे भगवन् ! मैं कृत  
कारित-अनुमोदनासे सूक्ष्म-स्थूल सब प्रकारके प्राणातिपातका परित्याग करता हूँ । अर्थात् सूक्ष्म

तेथी करीने सौधी पडेलां प्राणातिपात-विरमण महाव्रतनुं कथन करे छे-पढमे मंते  
धत्यादि.

(१) प्राणातिपातविरमण

ये श्रावकनां व्रतानी अपेक्षाये विशाल होवाने लीधे महाव्रत कहेवाय छे. (१) अथवा  
सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी अपेक्षाये प्राणातिपात आदिना सर्वथा त्याग थाय छे ये  
कारणे ते महाव्रत कहेवाय छे. (२). अथवा तीर्थकर गणधर आदि महापुरुषो येना अंगी-  
कार करे छे तेथी ये महाव्रत कहेवाय छे. (३).

हे भगवन् ! प्रथम महाव्रतमां प्राणातिपातथी विरमण होय छे, तेथी, हे भगवन् !  
हूँ कृत-कारित-अनुमोदनाथी सूक्ष्म स्थूल सर्व प्रकारना प्राणातिपातना परित्याग करूं छुं.  
अर्थात् सूक्ष्म-नामकर्मनी प्रकृतिथी उत्पन्न सूक्ष्म अथवा सूक्ष्म कायवाणा कुंथवा आदि

१ देशीशब्दोऽयम् ।

कुन्ध्वादिकम्, बादरं=स्थूलकायिकं गोगजादिकम्, अनयोरपि त्रस-स्थावरभेदाद्वैवि-  
ध्यं, तदाह-त्रसं स्थावरं च, तत्र सूक्ष्मत्रसं=कुन्ध्वादिकम्, सूक्ष्मस्थावरं=पनकादिवनस्पति-  
म्, बादरत्रसम्=अज-गज-गवयादिकम्, बादरस्थावरं=भूम्यादिकम्, इतोमान् प्राणान्=  
जोवान् नैवस्वयम्=आत्मना अतिपातयामि=हन्मि'नैवान्यैः प्राणानतिपातयामि=घातयामि,  
प्राणानतिपातयतोऽन्यान् न समनुजानामि, इत्यादि प्राग्वत् ।

सम्प्रति शिष्यः स्वस्य महाव्रतित्वं ख्यापयन्नुपसंहरति-हे भगवन् ! प्रथमे महा-  
व्रते उपस्थितोऽस्मि=अभ्युद्यतोऽस्मि कृतोद्यमोऽस्मोत्यर्थः । अतोऽद्यप्रभृति मम सर्वस्मात्  
प्राणातिपाताद् विरमणं सकलप्राणातिपातालम्बनसावद्यव्यापारप्रत्याख्यानम् 'अस्ती'  
-ति शेषः ॥ ८ ॥ (१)

सलिलेन तरुगुलमलतादीनामिव प्राणातिपातविरमणस्य परिपुष्टिर्मृषावादपरित्यागेन

नामकर्मकी प्रकृतिसे उत्पन्न सूक्ष्म अथवा सूक्ष्म कायवाले कुन्धवा आदि और बादर (स्थूल) काय-  
वाले गो-हस्ती आदि जीवोंके प्राणोंका कभी अतिपात नहीं करूंगा । यद्यपि सूक्ष्म नामकर्मकी  
प्रकृतिवाले सूक्ष्म प्राणियोंकी कायिक हिंसा नहीं होती परन्तु वचन और मनसे हो सकती है,  
जैसे-‘यह मर जाय तो अच्छा है’ ऐसा कहना वचनसे हिंसा है, और घातकी भावना करना  
मनसे हिंसा है, इसलिए सूक्ष्मका भी यहाँ ग्रहण किया है । सूक्ष्म और बादरके भी दो दो भेद  
हैं-(१) त्रस और (२) स्थावर । सूक्ष्म-त्रस कुन्धवा आदि हैं, सूक्ष्म स्थावर पनक आदि वनस्पति  
( नीलण-फूलण ) हैं । बादर-त्रस मेंढा घोड़ा रोज आदि । और बादर-स्थावर भूमि आदि हैं ।  
इन सब प्राणियोंको कभी प्राणोंसे वियुक्त नहीं करूंगा, न दूसरेसे कराऊंगा न करनेवालेको  
भला जानूँगा ।

हे भगवन् ! मैं प्रथम महाव्रतको पालनेके लिये उद्यत हुआ हूँ, इसलिए आजसे मुझे सम-  
स्त प्रकारके प्राणातिपातका प्रत्याख्यान है-(१) ॥ ८ ॥

जैसे वृक्ष-लता आदि पानोसे पुष्ट होते हैं वैसेही मृषावादका त्याग करनेसे प्राणातिपातवि-

अने बादर (स्थूल) कायवाला गाय हाथी आदि लोवेना प्राणोना कदापि अतिपात नहि  
कइं, जे के सूक्ष्म-नामकर्मनी प्रकृतिवाला सूक्ष्म प्राणीओनी कायिक हिंसा थती नथी.  
तोपणु वचन अने मनथी थः शके छे; जेमके-‘जे मरी जाय तो साइ’ जेम कहेवुं ते  
वचनथी हिंसा छे, अने घातनी भावना करवी जे मनथी हिंसा छे, तेथी करीने सूक्ष्मने  
पणु अही अडणु करैल छे. सूक्ष्म अने बादरना पणु जे-जे लेल छे. (१) त्रस, अने (२)  
स्थावर, सूक्ष्म त्रस कुन्धुवा आदि छे. सूक्ष्म स्थावर लीलन-कूवन आदि वनस्पति छे. बादर  
त्रस-मेंढा घोडा रोज वगेरे छे अने बादर स्थावर-भूमि आदि छे. जे सर्व प्राणीओने  
कदापि प्राणुथी वियुक्त करीश नही, भीज वडे करावीश नही अने करनारने लोवा लणीश नही.

हे भगवन् ! हूँ प्रथम महाव्रतने पालना भाटे उद्यत थयो छुं, तेथी आनथी भाटे  
अधा प्रकारना प्राणातिपातनां प्रत्याख्यान छे. (१) (८)

जेम वृक्ष-लता आदि प्राणीथी पुष्ट थाय छे तेम मृषावादनो त्याग करवाथी प्राणा.

भवतीत्यतस्तदनन्तरं मृषावादपरित्यागलक्षणं द्वितीयं महाव्रतमाह— ' अहावरे दोच्चे ' इत्यादि ।

मूलम्—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेर-  
मणं. सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया  
वा हासा वा नेव सयं मुसं वड्ज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं  
वयंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा ! जावज्जीवाए तिविहं तिविहणं  
मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समु-  
णुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं  
वोसिरामि । दोच्चे भंते । महव्वए उवट्ठिओमि सवाओ मुसावायाओ  
वेरमणं ॥९॥

छाया—अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! मृषावादं  
प्रत्याख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा नैव स्वयं मृषा वदामि नैवान्यैर्मृषा  
वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा  
वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त !  
प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितो-  
ऽस्मि (अतः) सर्वस्मात् मृषावादाद्विरमणम् ॥ ९ ॥

(२) मृषावादविरमण.

सान्त्वयार्थः—भंते !=हे भगवन् ! अहावरे=इसके बाद दोच्चे=दूसरे महव्वए=महा-  
व्रतमें मुसावायाओ=मृषावादसे वेरमणं=विरमण होता है (अतः में ) भंते !=हे भगवन् !  
सव्वं=सब प्रकारके मुसावायं=मृषावादका पच्चक्खामि=त्याग करता हूं । से=अथ अब से  
लेकर मैं कोहा वा=क्रोध से लोहावा=लोभ से भयावा=भय से हासावा=हास्यसे सयं=  
खुद मुसावायं=असत्य नेव=नहीं वड्ज्जा=बोलूंगा, नेव=न अन्नेहिं=दूसरों से मुसं=अस-  
त्य वायाविज्जा=बोलाऊंगा, मुसं=असत्य वयंतेवि=बोलते हुए भी अन्ने=दूसरों को न  
समणुजाणिज्जा=भला नहीं जानूंगा । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं=कृत  
कारित-अनुमोदनारूप तीन कारणसे (तथा) तिविहेणं=तीन प्रकारके मणेणं=मनसे वा-  
याए=वचन से काएणं=कायसे न करेमि=न करूंगा, न कारवेमि=न कराऊंगा, करंतंपि  
=करते हुए भी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि=भला नहीं समझूंगा, । भंते !=हे भगवन्  
तस्स=उस दण्ड से पडिक्कमामि=पृथक् होता हूं, निंदामि=आत्मसाक्षीसे निन्दा करता  
हूं, गरिहामि=गुरु साक्षी से गर्हा करता हूं, अप्पाणं=दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको  
वोसिरामि=त्यागता हूं, भंते !=हे भगवन् ! दोच्चे=दूसरे महव्वए=महाव्रतमें उवट्ठिओ-  
मि=उपस्थित हुवा हूं, इसलिये मुझे सवाओ=सब प्रकारके मुसावायाओ=असत्य से वेर-  
मणं=त्याग है ॥९॥ (२)

## (૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રતમ્ ।

ટીકા—અથ=પ્રથમમહાવ્રતાનન્તરં હે ભદન્ત ! હે ભગવન્ ! અપરે—સમનન્તરોદીરિતમહાવ્રતાપેક્ષયા ભિન્ને દ્વિતોયે મહાવ્રતે મૃષાવાદાત્—મિથ્યાભાષણાત્ ‘વિરમણ’મિત્યનેન સમ્બન્ધો વક્ષ્યતે । મૃષાવાદો હિ સદ્ભાવપ્રતિષેધા-અમૃતોદ્ભાવના-અર્થાન્તરાભિધાન-ગર્હેતિભે-દૈશ્ચતુર્વિધઃ, તત્ર સદ્ભાવપ્રતિષેધઃ—જીવાજીવાદિપદાર્થસત્તાનિરાકરણમ્, યથા—‘નાસ્ત્યાત્મા પરલોકઃ, પુણ્યપાપાદિકં, ચેતિ (૧) । અમૃતોદ્ભાવનમ્—જીવાજીવાદિતત્ત્વાનામતદ્રૂપત્વેન પ્રતિપાદનમ્, યથા—‘આત્માડયમજ્ઞુષ્ટમાત્રો, નિષ્ક્રિયઃ, સર્વગતો વેત્યાદિ (૨) । અર્થાન્તરાભિધાનમ્—પ્રસિદ્ધપદાર્થસ્ય પદાર્થાન્તરત્વેન કથનમ્, યથા—ગોર્ગર્દભત્વેન, ગર્દભસ્ય ગોત્વેનાભિધાનમ્ (૩) । ગર્હા—ગર્હિતં—હીનતાપ્રદર્શનમ્, યદ્વા હિંસાપારુષ્યાદિયુક્તં સત્યમપિ વચઃ, યથા—‘અયં હન્તવ્યઃ’ ઇત્યાદિ, ‘ઈહિ અન્ધ !, આયાહિ બધિર !, આગચ્છ પક્ષો !, ઇત્યાદિ ચ (૪) ઇમેડપિ (ચત્વારો ભેદાઃ) પ્રત્યેકં ચતુર્ધા—દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર કાલ-માવ-ભેદાત્ ।

રમણ મહાવ્રતકી પુષ્ટિ હોતી હૈ, અતઃ પ્રાણાતિપાતવિરમણકે બાદ દૂસરે મૃષાવાદવિરમણ મહાવ્રત-કા વ્યાખ્યાન કરતે હૈ—‘અહાવરે દોચ્ચે૦’ ઇત્યાદિ ।

## (૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રત ।

હે ભગવન્ ! પ્રથમ મહાવ્રતકે અનન્તર દૂસરે મહાવ્રતમે મૃષાવાદસે વિરમણ હોતા હૈ । મૃષા-વાદ ચાર પ્રકારકા હૈ—(૧) સદ્ભાવપ્રતિષેધ, (૨) અમૃતોદ્ભાવન, (૩) અર્થાન્તરાભિધાન, (૪) ગર્હા । જીવ અજીવ આદિ પદાર્થોકે અસ્તિત્વકા નિરાકરણ કરના સદ્ભાવપ્રતિષેધ મૃષાવાદ હૈ, જૈસે—‘આત્મા નહીં, પરલોક નહીં, પુણ્ય નહીં, પાપ નહીં’ ઇત્યાદિ (૧) । જીવ અજીવ આદિ તત્ત્વો-કા અયથાર્થ સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરના અમૃતોદ્ભાવન મૃષાવાદ હૈ, જૈસે—આત્મા અંગૂઠેકે બરાબર હૈ, નિષ્ક્રિય હૈ યા સર્વગત હૈ’ (૨) એક પદાર્થકો દૂસરા પદાર્થ કહ દેના અર્થાન્તરાભિધાન મૃષા-વાદ હૈ જૈસે—‘ગાયકો ગદ્યા બતાના, યા ગદ્યેકો ગાય કહના’ (૩) । દૂસરેકી હીનતા પ્રકટ કરના

તિપાતવિરમણ મહાવ્રતની પુષ્ટિ થાય છે. એટલે પ્રાણાતિપાતવિરમણની પછી બીજા મૃષાવા-દવિરમણ મહાવ્રતનું વ્યાખ્યાન કરે છે—અહાવરે દોચ્ચે૦ ઇત્યાદિ.

## (૨) મૃષાવાદવિરમણવ્રત.

હે ભગવન્ પ્રથમ મહાવ્રતની પછી બીજા મહાવ્રતમાં મૃષાવાદથી વિરમણ હોય છે. મૃષાવાદ ચાર પ્રકારનો છે. તે આપ્રમાણે—(૧) સદ્ભાવપ્રતિષેધ, (૨) અમૃતોદ્ભાવન (૩) અર્થાન્તરાભિધાન, (૪) ગર્હા. જીવ અજીવ આદિ પદાર્થોના અસ્તિત્વનું નિરાકરણ કરવું એ સદ્ભાવપ્રતિષેધ મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘આત્મા નથી, પરલોક નથી, પુણ્ય નથી, પાપ નથી, ઇત્યાદિ. (૧) જીવ અજીવ આદિ તત્ત્વોનું અયથાર્થ સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવું એ અમૃતોદ્ભાવન મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘આત્મા અંગૂઠા જેવો છે, નિષ્ક્રિય છે યા સર્વગત છે.’ (૨) એક પદાર્થને બીજા પદાર્થ કહી દેવો એ અર્થાન્તરાભિધાન મૃષાવાદ છે, જેમકે—‘ગાયને ગદ્યો કહેવો યા ગદ્યેકોને ગાય કહેવી.’ (૩) બીજાની હીનતા પ્રકટ કરવી, અથવા હિંસા તથા કઠોરતા—યુક્ત

तत्र द्रव्यविषयकसद्भावप्रतिषेधः—धर्माधर्मादिषड्द्रव्याणामन्यथा प्ररूपणम् । क्षेत्रविषयसद्भावप्रतिषेधः—लोकालोकयोरन्यथा निरूपणम् । कालविषयक सद्भाव प्रतिषेधः क्षण-मुहूर्त-दिवसादि स्वरूपाणामन्यथानिरूपणम् । भावविषयकसद्भावप्रतिषेधः—रागद्वेषादीनामन्यथा प्रतिपादनम् । एवमेवाऽभूतोद्भावनदित्रयेऽपि द्रव्यादिचर्तुभङ्गी योजनीया । तस्माद्विरमणमिति । हे भगवन् ! सर्व-समस्तं मृषावादं प्रत्याख्यामीति पूर्ववद्बोद्धव्यम् ।

तदेव विशदयति—‘से’—इति, अथ—अनन्तरम्—अधारभ्य—क्रोधात्—क्रोधः—आत्मनः क्रोधमोहनीयप्रकृत्युदयेन स्वपरचित्तविकृतिजनको निरनुकम्पक्रौर्यवैभाविकपरिणामविशेषस्तस्मात् । लोभात्—लोभः—लोभप्रकृत्युदयवशाद्द्रव्याद्यभिलाषलक्षणो जीवस्य वैभाविक-अथवा हिंसा और कठोरतायुक्त सत्य वचन कहना गहारा रूप असत्य है, जैसे—यह मार डालने योग्य है, ओ अंधे ! इधर आ, ओ बहिरे ! या लंगडे ! यहाँ आ’ इत्यादि (४)

इन चार प्रकारके मृषावादोंके भी द्रव्य क्षेत्र काल भावके भेदसे चार चार भेद होते हैं । धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्योंके स्वरूपकी अन्यथा प्ररूपणा करना द्रव्य—सद्भाव-प्रतिषेध है । लोक और अलोकका अयथार्थ निरूपण करना क्षेत्र—सद्भावप्रतिषेध है । क्षण मुहूर्त दिन आदिके स्वरूपका मिथ्या कथन करना काल—सद्भावप्रतिषेध है । रागद्वेष आदि भावों का विपरीत स्वरूपबताना भावसद्भावप्रतिषेध है । इसी प्रकार अन्य तीन भेदोंकी चतुर्भङ्गी समझ लेनी चाहिये, जैसे—द्रव्य अभूतोद्भावन, क्षेत्र अभूतोद्भावन, इत्यादि ।

हे भगवन् ! मैं सब प्रकारके मृषावादका प्रत्याख्यान करता हूँ ।

मृषावाद किस किस कारणसे होता है ? सो कहते हैं—

जीवके क्रोध—मोहनीय प्रकृतिके उदयसे स्व—परके चित्तमें विकार करनेवाला अनुकम्पारहित क्रूरतारूप वैभाविक परिणाम क्रोध है ।

सत्यवचन कहेवां ओ गडाइप असत्य छे; जेमके—‘ओ मारी नांभवा योग्य छे; ओ आंधणा ! अही’ आव. ओ अडेरा ! ओ लंगडा ! अही आव’ इत्यादि (४)

ओ यार प्रकारना मृषावादाना पणु द्रव्य क्षेत्र काल भावना लेहे करीने यार यार लेहे थाय छे. धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि छ द्रव्येना स्वरूपनी अन्यथा प्ररूपणा करवी ओ द्रव्य—सद्भावप्रतिषेध छे लोक अने अलोकनुं अयथार्थ निरूपण करवुं ओ क्षेत्र—सद्भाव-प्रतिषेध छे, क्षण मुहूर्त दिन आदिना स्वरूपनुं मिथ्या कथन करवुं ओ काल—सद्भावप्रति-षेध छे. राग द्वेष आदि भावोनुं विपरीत स्वरूप अताववुं ओ भाव—सद्भावप्रतिषेध छे. ओ प्रकारे अन्य त्रणु लेहेनी यतुभङ्गी समञ्ज लेवी; जेमके—द्रव्य—अभूतोद्भावन. क्षेत्रअभूतोद् भावन इत्यादि.

हे भगवन् ! दुं सर्व प्रकारना मृषावादाना प्रत्याख्यान करुं छुं

मृषावाद कथा कथा कारणथी थाय छे ! ते हवे कहे छे—

भावना क्रोध—मोहनीय प्रकृतिना उदयथी स्व—परना चित्तमां विकार करवावाणो अनु-कम्पारहित क्रूरतारूप भावना वैभाविक—परिणाम ओ क्रोध छे.

परिणामस्तस्मात् । भयात्-भयं-भयमोहनोयप्रकृत्युदयेनोद्वेगाऽऽवेदको विकारविशेषस्तस्मात् हासात्-हासः-हास्यमोहनोयप्रकृत्युदयेन वागादिविकृत्या कपोलयुगलोह्लासनलोचनसंकोचन-दशनप्रकाशन-सहकृतसशब्दप्राय-वदनव्यादानादिलक्षणश्चेतो विकासस्तस्मात् । नैव स्वयं मृषा-मिथ्या वदामि, नैवान्पैर्मृषा वाद्यामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीत्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥ (२)

सत्यपरिपालनं चाऽदत्तादान-(चौर्य)-परित्यागपूर्वकं कर्तुं सुशकमिति तदनन्तरमदत्तादानविरमणसञ्ज्ञकं तृतीयं महाव्रतमाह-‘अहावरे तच्चे’ इत्यादि ।

मूलम्-अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ? आदिन्नादाणं पच्चक्खामि से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं ति विहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ? पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वासिरामि । तच्चे भंत ! महव्वए उवट्ठिओभि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥१०॥

लोभ-प्रकृतिके उदयसे द्रव्य आदिको अभिलाषारूप जीवके वैभाविक भावको लोभ कहते हैं, भय-मोहनोयके उदयसे उद्वेगको उत्पन्न करनेवाला विकार भय कहलाता है ।

हास्य-मोहनोयके उदयसे वचनोंकी विकृतिके साथ गाल फुलाकर आँखे कुल २ मूँदकर दाँत निकालकर ‘ही-ही’ शब्द करके मुखको प्रफुल्लित करना हास्य कहलाता है ।

इन सब कारणोंसे मृषावाद होता है । मैं इन कारणोंके वश होकर न स्वयं मृषा बोलूँगा, न दूसरोंसे बोलूँगा, न किसी मृषा बोलते हुएका भला जानूँगा (२) ॥९॥

दोष-प्रकृतिना उदये करीने द्रव्य आदिनी अबिलाषाऽप्य भवना वैभाविकभावने दोष कहे छे ।

भय-मोहनीयना उदयथी उद्वेगने उत्पन्न करवावाणो विकार भय कहेवाय छे ।

हास्य-मोहनीयना उदयथी वचनेनी विकृतिनी साथे गाल कुलावीने आँखो कांठंके भीचीने दाँत काढीने ‘ही-ही’ शब्द करीने मुखने प्रफुल्लित करवुं ओ हास्य कहेवाय छे ।

ओ सर्व कारणोथी मृषावाद उत्पन्न थाय छे । हुं ओ कारणोने वश थधने नही स्वयं मृषा (बूडुं) ओलुं, नहीं ओन्न पासे ओलावुं, के नहीं मृषा ओलनारने भलो ओलुं. (२)९



छाया—अथापरे तृतीये भदन्त ! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि नेवान्यैरदत्तं ग्रहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान समनुजानामि, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्मात् भदन्त ! प्रतिक्रामामि गहै आत्मानं व्युत्सृजामि । तृतीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥१८॥

(३) अदत्तादानविरमण.

सान्त्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद तच्चे = तीसरे महव्वए = महाव्रतमें अदिन्नादाणाओ = अदत्तादानसे वेरमणं = विरमण होता है (अतः मैं) भंते ! = हे भगवन् ! सर्वं = सब प्रकार के अदिन्नादाणं = अदत्तादान (चोरी) का पच्चक्खामि = प्रत्याख्यान करता हूँ से = अथ-अब से लेकर मैं-ग्रामे वा = ग्राममें नयरे वा = नगरमें रण्णे वा = अरण्यमें अप्पं वा = अल्प-थोड़ा बहुं वा = बहुत-घणा अणुं वा = सूक्ष्म-छोटा थूलं वा = स्थूल-मोटा चित्तमंतं वा = सचेतन अचित्तमंतं वा = अचेतन (आदि किसी भी) अदिन्नं = विना दिये हुए पदार्थको सयं = स्वयं नेव = नहीं गिण्हज्जा = ग्रहण करूंगा, नेवन्नेहिं = न दूसरोंसे अदिन्नं = विना दिया हुआ गिण्हाविज्जा = ग्रहण कराऊंगा, अदिन्नं = विना दिये हुए पदार्थको गिण्हंतेवि = ग्रहण करते हुए भा अन्ने = दूसरे को न समणुजाणामि = भला नहीं जानूंगा, जावज्जीवाए = जीवनपयन्त (इसको) त्रिविहं = कृत-कारित-अनुमोदनारूप तीन कारणसे (तथा) त्रिविहेणं = तीन प्रकारसे मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, कर प = करते हुए भी अन्नं = दूसरे को न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा । भंते ! हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडि ङ्कमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसक्षी से गहरी करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । भंते ! = हे भगवन् ? तच्चे = तीसरे = महव्वए = महाव्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब अदिन्नादाणाओ = अदत्तादानसे वेरमणं = विरमणं-त्याग है ॥१०॥ (३)

अदत्तादानविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ? अथ = मृषावादविरमणानन्तरम् अपरे = तृतीये महाव्रते अदत्तादानात् = न दत्तमदत्त = देवगुरु भूपगाथापतिसाधर्मिकैरननुज्ञातं तस्याऽऽदानं = ग्रहणमदत्तादानं तस्मा द्विरमणम्, सर्वं भगवान् ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, एतत्तु व्याख्यातपूर्वम् । तदेव विशदयति—‘से’-इति, अथ = अनन्तरम्-अधारभ्य-ग्रामे = ग्रस्यन्ते = अद्यन्ते = विनाश्यन्ते बुद्धिविद्याविवेकादयो गुणा यत्र स इति, गम्यो गोमहिषादीनां करैरिति वा ग्रामः (सिद्धिः पृषोदरादित्वात्) कृषिप्रचुरभूभागो, हृष्टादिशून्यवसतिः, कण्टकमय-

વૃત્તિપરિવેષ્ટિતગૃહસમૂહસમ્પન્નો વા તસ્મિન્ । નગરે = ન ગચ્છન્તીતિ નગા; = વૃક્ષાઃ પર્વ-  
તાશ્ચ, ત ઇવ સમુન્નતાઃ પ્રાસાદાદયો યસ્મિન્સ્તન્નગરમ્, ('નગ-પાંસુ-પાણ્ડુભ્યશ્ચે'-તિ વાર્ત્તિ-  
કેન નગશબ્દાદ્રઃ ) નકરમિતિચ્છાયાપક્ષે તુ ન વિદ્યતે ગોમહિષાદીનામષ્ટાદશવિધઃ કરઃ =

સત્ય મહાવ્રતકા પાલન અદત્તાદાનકા ત્યાગ કરનેસે હી હો સક્રતા હૈ, ઇસ કારણ સત્ય મહાવ્રતકે પશ્ચાત્ અદત્તાદાનવિરમણ નામક તીસરે મહાવ્રતકા કથન કરતે હૈ—' અહાવરે તચ્ચે' ઇત્યાદિ ।

### (૨) અદત્તાદાનવિરમણ ।

મૃષાવાદવિરમણકે બાદ તીસરે મહાવ્રતમેં દેવ ગુરુ રાજા ગાથાપતિ ઓર સાધર્મિકકે દ્વારા ન દિયે હુણ પદાર્થકે પ્રહ્ણકા ત્યાગ ક્રિયા જાતા હૈ, ઇસલિલ્ હે ભગવન્ ! મૈ સર્વ અદત્તાદાન-કા પરિત્યાગ કરતા હૈ । વહ ઇસ પ્રકાર—

જહાં રહને સે બુદ્ધિ, વિદ્યા, વિવેક આદિ ગુણ નષ્ટ હો, જાતે હૈં ઉસે ગ્રામ કહતે હૈં । અથવા પૃથ્વીકે અધિક ભાગમેં કૃષિ હોતી હો, બાજાર યા દુકાનેં હોં, કાંટોંકી વાડસે ઘિરે હુણ ઘર હોં ઉસ વસ્તીકો ગ્રામ (ગાંવ) કહતે હૈં ।

જહાં વૃક્ષ તથા પર્વતકી તરહ અત્યન્ત ઉન્નત મહલ-હવેલિયાં હોં અથવા ગો મહિષ આદિ પર કર (જકાત) ન લગતા હો, અથવા જિસ વસ્તીમેં પુણ્ય-પાપ ક્રિયાઓંકે જ્ઞાતા, દયા-દાનકે પ્રવર્તક, કલાઓંમેં કુશલ ચારોં વર્ણ હોં, ઓર જહાં નાના દેશકી ભાષા બોલનેવાલે મનુષ્ય રહતે હોં ઉસે નગર કહતે હૈં ।

સત્ય મહાવ્રતનું પાલન અદત્તાદાનનો ત્યાગ કરવાથી જ થઈ શકે છે, તે કારણથી સત્ય મહાવ્રતની પછી અદત્તાદાન-વિરમણ નામના ત્રીજા મહાવ્રતનું કથન કરે છે—અહાવરે તચ્ચે ઇત્યાદિ.

### (૩) અદત્તાદાનવિરમણુ.

મૃષાવાદવિરમણની પછી ત્રીજા મહાવ્રતમાં દેવ ગુરુ, રાજા, ગાથાપતિ અને સાધર્મિકે ન આપેલા ઓવા પદાર્થનું ગ્રહણ કરવાનો ત્યાગ કરવામાં આવે છે, તેથી હે ભગવન્ ! હું સર્વ અદત્તાદાનનો પરિત્યાગ કરું છું. તે આ પ્રકારે—

જ્યાં રહેવાથી બુદ્ધિ, વિદ્યા, વિવેકાદિ ગુણો નષ્ટ થઈ જાય છે તેને ગ્રામ કહે છે. અથવા જ્યાં ગાય ભેંશ આદિનો કર (ટેક્સ) લેવામાં આવે છે, અથવા પૃથ્વીના વધારે ભાગમાં ખેતી થાય છે, બજાર અથવા દુકાનો હોય નહીં, કાંટાની વાડથી ઘેરાયેલાં ઘર હોય. એ વસ્તીને ગ્રામ (ગામ) કહે છે.

જ્યાં વૃક્ષ કે પર્વત જેવી અત્યંત ઉંચી મહેલ-હવેલીઓ હોય, અથવા ગાય-ભેંશ આદિ પર કર (જકાત) ન લાગતો હોય, અથવા જે વસ્તીમાં પુણ્ય-પાપ ક્રિયાઓના જ્ઞાતા, દયા-દાનના પ્રવર્તક, કલાઓમાં કુશલ ચારે વર્ણો હોય, અને જ્યાં જૂઠા જૂઠા દેશોની ભાષાઓ બોલનારા મનુષ્યો રહેતા હોય, તેને નગર કહે છે.

रापग्राह्यभागः (जकात) यत्र तत् । यद्वा—

“पुण्यपापक्रियाविज्ञैः—र्दयादानप्रवर्त्तकैः ।

कलाकलापकुशलैः, सर्ववर्णैः समाकुलम् ॥

भाषाभिर्विधाभिश्च, युक्तं ‘नगर’-मुच्यते ॥”

इत्युक्तलक्षणं तस्मिन् । अरण्ये = अर्यते-गम्यते एकान्तविविक्तदेशप्रियैर्ध्यानार्थिभिः, काष्ठा-  
घाहर्तुं काष्ठहारकैर्वैत्यरण्यं तस्मिन्, उपलक्षणात्खेटकादौ । एतेषां मध्ये कस्मिंश्चिदपि स्थले  
अल्पं = मूल्यतो न्यूनं दन्तादिपरिशोधनार्थं तृणादिकम्, बहु = अधिकमूल्यकं सुवर्णा-  
दिकम्, अणु = प्रमाणतो लघु माणिक्यादिकम्, स्थूलम् = प्रमाणतो विशालमेरुण्डकाष्ठा-  
दिकम्, चित्तवत् = सचेतनम्, अचित्तवत् = अचेतनं वा, एतत्सर्वम् एतदन्यतमं वा  
अदत्तं = तत्स्वामिना ग्रहणायाऽननुमतं नैव स्वयं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि अदत्तं  
गृह्णतोऽप्यन्यानन समनुजानामीत्यादिकं सर्वं व्याख्यातपूर्वम् ।

ननु सामान्येनाऽदत्ताऽदानस्य स्तैयत्वे प्रतिक्षणमनन्यदेवकर्माण्याददानस्य समि-  
तिगुप्तिप्रभृतिभिर्धर्मं वा समुपार्जयतः साधोरदत्तादानापत्तिप्रसक्तिरिति चेन्न,

एकान्त और पवित्र स्थानके अभिलाषी ध्यानार्थी योगी अथवा लकड़ी लानेके लिए लकड़-  
हारे जहाँ जाते हैं वह अरण्य कहलाता है ।

इन ग्राम, नगर, अरण्य और उपलक्षसे खेटक (खेड़ा) आदि किसी स्थानमें कम मूल्य-  
वाला—दाँत खुजानेका तिनका आदि, अधिक कीमतवाला—सुवर्ण अदि, प्रमाणको अपेक्षा अणु-  
माणिक्य आदि, प्रमाणकी अपेक्षा बड़ा—एरुण्डकाष्ठ आदि, सचेतन अथवा अचेतन कोई पदार्थ  
या सब पदार्थ विना स्वामीकी अनुमतिके न स्वयं ग्रहण करूँगा, न दूसरोसे ग्रहण कराऊँगा  
और न ग्रहण करनेवालेको भला जानूँगा ।

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! विना दी हुई सब वस्तुओंको ग्रहण करना यदि अदत्तादान है  
तो मुनियों को भी अदत्तादानका प्रसंग आवेगा, क्योंकि मुनि विना दिये हुए कर्मोंको प्रतिक्षण

एकान्त अने पवित्र स्थानना अभिलाषी ध्यानार्थी योगी अथवा लाकडां लेवाने भाटे  
कठियारा ज्यां जाय छे ते अरण्य (जंगल) कहेवाय छे.

जे गाम नगर अरण्य अने उपलक्षणे करीने खेटक (गामडुं) आदि कोर्ध स्थानमा  
ओछा मूल्यवाणुं दाँत पोतरवातुं तणुअतुं वगेरे वधारे मूल्यवाणुं सोतुं वगेरे प्रमाणनी  
अपेक्षाअे नातुं माणिक्यादि प्रमाणनी अपेक्षाअे मोटुं अेरडातुं लाकडुं आदि सचेतन  
अथवा अचेतन कोर्ध पदार्थ या सर्व पदार्थ तेना स्वामीनी अनुमति विना नहि स्वयं हुं  
अडणु कइं नहि जाँन पासे अडणु करवातुं अने नहि अडणु करनारने लत्रो जाणुं.

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! आपवाभां आब्या विनानी अधी वस्तुअेने अडणु करवी अे  
जे अदत्तादान छे ते मुनिअेने पणु अदत्तादाननेनप्रसंग आवरी कणु के मुनि विना  
अपायदां कर्मने प्रतिक्षण अडणु करे छे अने समिति शुभितुं पालन करीने धर्मतुं पणु  
उपाजंन करे छे.

લોકપ્રસિદ્ધહસ્તાદિકરણકદાનાઽઽદાનાદિવ્યવહારસ્ય કર્માદિષ્વભાવાત્ , તથાહિ લોકે વસ્ત્રપાત્રાદિકમન્યસ્મૈ હસ્તેન દીયતેઽન્યસ્માદ્વાઽઽદીયતે, इत्येवं दानाऽऽदानादिव्यवहारो दृश्यते तस्य न कर्मविषयकत्वं संभवति, तेषां सूक्ष्मत्वात् , नहि सूक्ष्मं कर्मादिकं हस्तादिकरणकग्रहणवितरणयोग्यतां भजते इति ।

ધર્મમુપાર્જયતશ્ચાઽપ્રમત્ત્વાત્તીર્થકરાણા ધર્માર્જનોપદેશાચ્ચ ન સ્તેયપ્રસજ્ઞઃ, અત ઇવાઽલ્પ-બહુ-સ્થૂલાઽણુગ્રહણં સૂત્રે કૃતમિતિ ॥૧૦॥ (૩)

પ્રહણ કરતે હૈં ઓર સમિતિ-ગુપ્તિકા પાલન કરકે ધર્મકા મી ઉપાર્જન કરતે હૈં ।

ઉત્તર-હે શિષ્ય ! એસા નહીં હૈ હાથોં સે લેને-દેનેકા જૈસા વ્યવહાર લોકમં પ્રસિદ્ધ હૈ વૈસા કર્મોમં નહીં હો સકતા, આર્થાત્ લોકમં એસા વ્યવહાર હોતા હૈ કિ-વસ્ત્ર પાત્ર દૂસરોંકો હાથ સે દિયા જાતા હૈ, દૂસરેસે લિયા જાતા હૈ ।' ઇસ પ્રકારકા વ્યવહાર કર્મોંકે વિષયમં નહીં હોતા, ક્યોંકિ કર્મ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હૈં, વે ઇન્દ્રિયકે વિષય મી નહીં હોતે તો ઊનકા લેન દેન કૈસે હો સકતા હૈ ? દૂસરી ધાત યહ હૈ કિ પ્રમાદકે યોગસે અદત્ત પદાર્થકા આદાન (પ્રહણ) કરના અદત્તાદાન કહલાતા હૈ, મુનિરાજકો તદ્વિષયક પ્રમાદ નહીં હૈ ઇસલિખ ઊંહેં અદત્તાદાનકા દોષ નહીં લગતા । મુનિરાજ તો કમી નહીં ચાહતે કિ હમ કર્મોંકો પ્રહણ કરેં, કિન્તુ સંસારી આત્મા ઓર કર્મોંકા સ્વભાવ હી એસા હૈ કિ જિવસે કર્મ બંધ જાતે હૈં । રહા ધર્મોપાર્જન, સો તીર્થકર મગવાને ધર્મોપાર્જન કરનેકા આદેશ તથા ઉપદેશ દિયા હૈ ઇસલિખ અદત્તાદાનકા પ્રસંગ નહીં આતા ।

સૂત્રમં અલ્પ, બહુ, સ્થૂલ, ઓર અણુ, ઇન શબ્દોંકા પ્રહણ મી ઇસી આશયસે કિયા ગયા હૈ, અત ઇવ કર્મોંકે બંધન તથા સમિતિ-ગુપ્તિ દ્વારા ધર્મોપાર્જનમં અદત્તાદાન નહીં લગતા હૈ । ૩ ॥૧૦॥

ઉત્તર-હે શિષ્ય ? એમ નથી. હાથેથી લેવા-દેવાને જેવો વહેવાર લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે તેવો વહેવાર કર્મોમાં નથી હોઈ શકતો; અર્થાત્ લોકોમાં એવો વહેવાર થાય છે કે-વસ્ત્ર પાત્ર ખીબ્બએને હાથથી આપવામાં આવે છે ખીબ્બ પાંસેથી લેવામાં આવે છે. એ પ્રકારનો વહેવાર કર્મોની આબતમાં થતો નથી. કેમકે-કર્મ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ છે તે ઇન્દ્રિયનો વિષય જ નથી હોતો તો એની લેણુ-દેણુ કેવી રીતે થઈ શકે ? ખીબ્બ વાત એ છે કે પ્રમાદના યોગથી અદત્ત પદાર્થતુ આદાન (અહણુ) કરવું એ: અદત્તાદાન કહેવાય છે. મુનિરાજને તદ્વિષયક પ્રમાદ હોતો નથી તેથી તેમને અદત્તાદાનનો દોષ લાગતો નથી. મુનિરાજ તો કદાપિ એમ નથી ઇચ્છતાં કે હું કર્મોને અહણુ કરું. કિન્તુ સંસારી આત્મા અને કર્મોનો સ્વભાવ જ એવો છે કે જેથી કર્મ બંધાય જાય છે. ઓકી રહ્યું ધર્મોપાર્જન. તે તીર્થકર મગવાને ધર્મોપાર્જન કરવાનો આદેશ તથા ઉપદેશ આપ્યો છે. તેથી તેમાં અદત્તાદાનનો પ્રસંગ જ આવતો નથી.

સૂત્રમાં અલ્પ, બહુ, સ્થૂલ, અને અણુ, એ શબ્દોનું અહણુ પણ એ જ આશયથી કરવામાં આવ્યું છે. એટલે કર્મોનાં બંધન તથા સમિતિ-ગુપ્તિ દ્વારા ધર્મોપાર્જન, એમાં અદત્તાદાન લાગતું નથી (૩) (૧૦)

मैथुनविरमणमन्तरेण हर्हिंसादिमहाव्रतानां संरक्षणं न भवितुं शक्नोति, यतो मैथुन-  
परायणः प्राणी त्रस-स्थावर जीवन हिनस्ति, मिथ्या वदति, अदत्तं चाऽऽदत्तेऽस्तस्तेषां निर-  
पायपरिपालनाय 'मैथुनविरमण' नामधेयं चतुर्थं महाव्रतमाह—'अहावरे चउत्थे ' इत्यादि

मूलम्—अहावरे चउत्थे भंते ? महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं  
भंते ? मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणसं वा तिरिक्खजो-  
णियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहि मेहुणं सेवाविज्जा, मे-  
हुणं सेवंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं-तिवि-  
हणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न  
समणुजाणामि । तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि  
अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ  
मेहुणाओ वेरमणं ॥११॥ (४)

छाया—अथापरे चतुर्थे भदन्त ? महाव्रते मैथुनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! मैथुनं प्रत्या-  
ख्यामि, अथ दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवया-  
मि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यानन=समनुजानामि, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा  
कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त ! प्रति-  
क्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि  
सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणम् ॥११॥

(४) मैथुनविरमण.

सान्वयार्थः—भंते!=हे भगवन् ! अहावरे=इसके बाद चउत्थे=चौथे महव्वए=महा-  
व्रतमें मेहुणाओ=मैथुनसे वेरमणं=विरमण होता है, (अतः मै )भंते !=हे भगवन् ! सव्वं=  
सब प्रकारके मेहुणं=मैथुनका पच्चक्खामि=प्रत्याख्यान करता हूँ, से=अब से लेकर मैं  
दिव्वं वा=देवसम्बन्धी माणुसं वा=मनुष्यसम्बन्धी तिरिक्खजोणियं वा=तिर्यञ्चसम्बन्धी  
मेहुणं=मैथुनको सयं=स्वयं नेव=न सेविज्जा=सेवन करूंगा, मेहुणं=मैथुन सेवंतेवि=सेव-  
न करते हुएभी अन्ने=दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला नहीं समझूंगा, जावज्जीवाए=  
जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं=कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं=  
तीन प्रकारके मणेणं=मनसे वायाए=वचनसे काएणं=कायसे न करेमि=न करूंगा न का-  
रवेमि=न कराऊंगा करंतंपि=करते हुएभी अन्नं=दूसरे को न समणुजाणामि=भला नहीं  
समझूंगा । भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होताहूँ, निंदामि=  
आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि=गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड  
सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि=त्यागता हूँ । भंते !=हे भगवन् ! चउत्थे=  
चौथे महव्वए=महाव्रतमें उवट्ठिओमि=उपस्थित होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ=सब  
प्रकारके मेहुणाओ=मैथुनसे वेरमणं=त्याग है ॥११॥(४)

## (४) मैथुनविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ! अथ अपरे चतुर्थे महाव्रते मैथुनात्=मिथुनेन=स्त्रीपुंसाभ्यां निवृत्तं कर्म मैथुनं प्रत्याख्यामीति प्राग्वत्. तदेव विशदयति-‘से’ इति । अयं=अनन्तरम्-अद्यारभ्य दैवं=देवानामिदं मानुषं=स्त्री-पुंससम्बन्धीत्यर्थः, तैर्यग्योनं=तिर्यग्योनं=पश्वादि-सम्बन्धीत्यर्थः, मैथुनं नैव स्वयं सेवे, इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । द्रव्यादिचतुर्भङ्गयपि प्राग्वद्-योजनीया ॥११॥ (४)

## (५) परिग्रहविरमण.

मैथुनविरमणं च परिग्रहविरमणमन्तरेण न भवितुं सुशकमिति मैथुनविरमणानन्तरं परिग्रहविरमणनामकं पञ्चमं महाव्रतमाह-‘अहावरे पंचमे’ इत्यादि ।

**मूलम्—अहावरे पंचमे भंते ! महाव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिग्गिण्हज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिग्गिण्हविज्जा, परिग्गहं परिग्गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जोवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए**

मैथुनविरमणक विना अहिंसा आदि महाव्रतोंका रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि मैथुन सेवन करनेवाला त्रस स्थावर जीवोंका हिंसा करता है, असत्य बोलता है, और अदत्तका आदान करता है । अत एव अहिंसादि महाव्रतोंका निरतिचार पालन करनेके लिए मैथुन-विरमण नामक चतुर्थ महाव्रतका प्रतिपादन किया जाता है—अहावरे चउत्थे, इत्यादि ।

## (४) मैथुनविरमण

हे भगवन् ! चौथे महाव्रतमें समस्त प्रकारके मैथुनसे विरमण किया जाता है, इसलिए हे भगवन् ! मैं सब तरहके मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूँ । अप्सराओं सम्बन्धी दैवी स्त्री पुरुष संबंधी मानुषी पशु आदि संबंधी तैर्यग्योनिक मैथुनको मैं न स्वयं सेवन करूँगा न दूसरों से सेवन कराऊँगा न सेवन करते हुए को भला जानूँगा । । द्रव्य क्षेत्र काल भावकी चौभंगी यहाँ पर भी लगानी चाहिए, अर्थात् द्रव्यसे स्त्री आदिके साथ, क्षेत्रसे किसी क्षेत्रमें, कालसे-किसी कालमें और भावसे-किसी भी भावसे, तीन करण तीन योगसे मैथुन सेवन नहीं करूँगा ॥११॥ (४)

मैथुनविरमण विना अहिंसा आदि महाव्रतोंकी रक्षा थोड़ा शकती नहीं, कारण के-मैथुन सेवन करवावाणो त्रस-स्थावर जिवेनी हिंसा करे छे, असत्य बोले छे. अने अदत्तनुं आदान करे छे. तेथी करीने अहिंसादि महाव्रतोंनुं निरतिचार पालन करवाने माटे मैथुन-विरमण नामनुं योथा महाव्रतनुं प्रतिपादन करवाभां आवे छे—अहावरे चउत्थे इत्यादि.

## (४) मैथुनविरमण.

हे भगवन् ! योथा महाव्रतमां सर्व प्रकारना मैथुननुं विरमण करवाभां आवे छे, तेथी हे भगवन् ! हूं सर्व प्रकारना मैथुननुं प्रत्याख्यान करूं छुं. अप्सराओ संभंधी दैवी, स्त्री-पुरुष-संभंधी मानुषिक पशु-आदि-संभंधी तैर्यग्योनिक मैथुन नहीं हूं स्वयं सेवुं, नहीं भीलओ पासे सेवन करावुं अने नहीं सेवन करनारने भवौ न जलुं. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी चौभंगी ओमां पणु लगावनी, अर्थात् द्रव्यथी स्त्रीआदिनी साथे, क्षेत्रथी कोष्ठ पणु क्षेत्रमां; कालथी कोष्ठ कालमां अने भावथी कोष्ठ पणु भावे करीने त्रणु करणु त्रणु योगथी मैथुन सेवीश नहीं. (४) (११)

काएणं न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि ।  
तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।  
पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं  
॥१२॥ (५)

छाया—अथापरे पठचमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि, अथ अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जोवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुनामि भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । पठचमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात्परिग्रहाद्विरमणम् ॥१२॥ (५)

सान्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके बाद पंचमे = पांचवें महव्वए = महाव्रतमें परिग्गहाओ = परिग्रहसे वेरमणं = विरमण होता है, अतः मैं भंते = हे भगवन् सव्वं = सब प्रकारके परिग्गहं = परिग्रहको पच्चक्खाप्पि = त्यागता हूँ, से = अब से लेकर मैं अप्पंवा = अल्प बहुंवा = बहुत अणुंवा = अणु-छोटा थूलंवा = स्थूल मोटा चित्तमंतंवा = सचेतन अचित्तमंतंवा = अचेतन परिग्गहं = परिग्रहको सयं = स्वयं नेव = नहीं परिगिण्हाविज्जा = ग्रहण कराऊँगा, परिग्गहं = परिग्रहको परिगिण्हेतेवि = ग्रहण करनेवालेभी अन्ने = दूसरोंको न समणुजाणिज्जा = भला नहीं जानूँगा । जावज्जोवाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि न करूँगा, न कारवेमि = न कराऊँगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरोंको न समणुजाणामि = भला न समझूँगा । भंते = हे भगवन् ! तस्स = उसदंडसे पडिक्कमामि पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ । = हे भगवन् ! पंचमे = पांचवें महव्वए = महाव्रतमें उवट्ठिओमि = उपस्थित होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब परिग्गहाओ = परिग्रहसे वेरमणं—विरमण त्याग है ॥१२॥ (५)

(५) परिग्रहविरमणव्रतम्

टीका— हे भगवन् ! अथापरे पठचमे महाव्रते परिग्रहः 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' इति वचनात्, धर्मोपकरणभिन्नं सर्वमित्यर्थस्तस्माद्विरमणम् । हे भगवन् ! सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वेत्यादि प्राग्वद्वोद्धव्यम् ॥१२॥ (५)

मैथुनविरमण, परिग्रहके त्यागे विना नहीं हो सकता, इसलिए मैथुनविरमणके अनन्तर परिग्रहविरमणनामक पांचवां महाव्रत कहते हैं—'अहावरे पंचमे' इत्यादि ।

मैथुन-विरमण, परिग्रहना त्याग विना शक्य नही, तेही मैथुन-विरमणनी पछी परिग्रहविरमण नामनुं पांचवुं महाव्रत उडे छे—अहावरे पंचमे इत्यादि.

द्वाविंशतितीर्थकरशासने ऋजुप्रज्ञापुरुषापेक्षयाऽस्योत्तरगुणत्वेऽपि आद्यान्तिमतीर्थकरसाधु-  
नामृजुजड-वक्रजडत्वादनर्थप्रतिरोधार्थं स्फुटप्रतिबोधार्थं च महाव्रतानन्तरं मूलगुणत्वेनो-  
पादातुं षष्ठं रात्रिभोजनविरमणव्रतमाह—‘अहावरे छट्टे इत्यादि ।

मूलम्—अहावरे छट्टे भंते ! वए राइभायणाओ वेरमणं. सव्वं भंते !  
राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं  
वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं  
भुंजेतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं  
मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न  
समणुजाणामि । तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं  
वोसिरामि । छट्टे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ  
वेरमणं ॥१३॥ (६)

छाया—अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! रात्रिभो-  
जनं प्रत्याख्यामि, अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे,  
नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवया त्रिविधं  
त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।  
तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । तस्माद् भदन्त !  
व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१३॥ (६)

(५) परिग्रहविरमण.

हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रतके पश्चात् पाँचवें महाव्रतमें परिग्रहका पूर्ण प्रत्याख्यान किया जाता है । जिससे आत्मा जन्म-जरा, मरण-आदि-जनित नाना दुःखोंसे गृहीत होता है, अथवा जो मूर्च्छा-पूर्वक स्वोकार क्रिया जाता है वह परिग्रह कहलाता है, क्योंकि भगवानने मूर्च्छाको ही परिग्रह बतलाया है । अतएव तीन करण तीन योगसे ग्राम नगर आदिमें न स्वयं परिग्रह धारण करूँगा, न दूसरेसे धारण कराऊँगा, न धारण करते हुएको भला जानूँगा ॥१२॥ (५)

(५) परिग्रहविरमण.

हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रतकी पछी पांचवा महाव्रतमां परिग्रहनां पूर्ण प्रत्याख्यान करवाया आये छे. जेथी आत्मा जन्म जरा मरणाद्विजनित नाना प्रकारनां दुःखोथी अस्तथाय छे. अथवा जे मूर्च्छापूर्वक स्वीकारवांमां आये छे ते परिग्रह कडेवाय छे, कारणे के भगवाने मूर्च्छाने परिग्रहइय अतावी छे. तेथी करीने त्रण करणु त्रण येगे ग्राम नगर आदिमां न स्वयं परिग्रह धारणु डू करीश, न जीवन्तो द्वारा धारणु करीश, न धारणु करनारने लडे। णणीश. (५) (१२)



(६) रात्रिभोजनविरमण

सान्वयार्थः—भंते ! = हे भगवन् ! अहावरे = इसके अनन्तर छट्टे = छठे वण = व्रत-  
में राइभोयणाओ = रात्रिभोजनसे वेरमणं = विरमण होता है, (अतः मैं) भंते ! = हे  
भगवन् सर्व्वं = सब प्रकारके राइभोयणं = रात्रिभोजनको पचचक्खामि = त्यागता हूँ, से  
= अब से लेकर मैं-असणं वा = लड्डू पूरी घी सत्तू आदि अशन, पाणं वा = दूध  
शर्वत आदि पान-पीने योग्य, खाइमं वा = दाख खजूर आदि खाद्य, साइमं वा लोंग  
इलायची आदि स्वाद्य, नेव = न सयं = स्वयं राइं = रात्रिमें भुंजिज्जा खाजंगा, नेवन्नेहिं  
न दूसरों को राइं = रात्रि में भुंजाविज्जा = खिलाऊंगा, राइं = भुंजं तेवि अन्ने =  
रात्रिमें भोजन करनेवाले दूसरोंको भी न समणुजाणिज्जा = भला नहीं जानुंगा, जाव-  
ज्जीवाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करण से  
(तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचन से काएणं = कायसे न  
करेमि = न कळंगा न कारवेमि = न कराऊंगा, करंतंपि = करते हुए भी अन्नं = दूसरे  
को न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा। भंते ! = हे भगवन् तस्स = उस दण्डसे  
पडिक्रमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षी से निन्दाकरता हूँ, गरिहामि =  
गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्मा को वोसिरामि  
= त्यागता हूँ, भंते ! = हे भगवन् ! छट्टे-छठे वण = व्रतमें उवट्टिओमि = उपस्थित  
होता हूँ, इसलिये मुझे सव्वाओ = सब प्रकारके राइभोयणाओ = रात्रिभोजनसे वेरमण  
= विरमण-त्याग है ॥१३॥ (६)

(६) रात्रिभोजनविरमणव्रतम्

टीका—हे भगवन् ! अथापरे षष्ठे व्रते रात्रिभोजनात् = रात्रौ = निशि भोजनं  
रात्रिभोजनं तस्माद् विरमणम् । रात्रिभोजनेन हि सकलमहाव्रतेषु दोषो जन्यते, तथाहि-

जीजितनाथ भगवान्से लेकर श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र पर्यन्त बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य ऋजु (सरल  
स्वभावके) और प्राज्ञ (समझानेसे समझनेवाले) होते हैं । उन शिष्योंकी अपेक्षासे रात्रिभोजन उत्त-  
रगुण है । किन्तु ऋषभदेवके शिष्य ऋजु-जड़ तथा वर्द्धमान-स्वामीके शिष्य वक्र और जड़ होते  
हैं, अत एव अनर्थको रोकनेके लिए और स्पष्ट बोध करानेके लिए पंच महाव्रतोंके बाद मूल-  
गुणोंमें गिनानेके लिए छट्टे रात्रिभोजन विरमण व्रतको कहते हैं—'अहावरे छट्टे' इत्यादि ।

अजितनाथ भगवान्थी लधने पार्श्वनाथ जिनेन्द्र सुधीना आवीस तीर्थंकराना शिष्यो  
ऋजु (सरल स्वभाववाणा) अने प्राज्ञ (समझववाथी समझनारा) हुता, ते शिष्यानी अपे  
क्षाया रात्रिभोजन उत्तरगुण्ये छे, परंतु ऋषभदेवना शिष्यो ऋजु-जड तथा वर्द्धमानस्वामीना  
शिष्यो वक्र अने जड हुता तीर्थी अनर्थने रोकवाने भाटे अने स्पष्ट बोध कराववाने भाटे  
पार्श्व महाव्रतानी पछी मूल-गुणोभां गण्णववाने भाटे छट्टे रात्रिभोजनविरमण व्रत क  
छे—अहावरे छट्टे इत्यादि.

रात्रौ दिनकरकिरणाभावान्नानाविधसूक्ष्मतनुधारिजन्तुजातसमुत्पातावपातसञ्चारबाहुल्यात् हिंसाऽवश्यम्भाविनी, दीक्षाग्रहणसमये प्रतिज्ञा कृता यदद्यप्रभृति न कस्यापि प्राणिनः प्राणान् पौडयिव्यामीति, रात्रिभोजनेन तु प्राणिवधस्याऽनिवार्यत्वात्कृतप्रतिज्ञाभङ्गो भवितुमर्हतीति मृषावादः, यद्वा तीर्थकरैर्लोकालोकाऽव'-लोकिकेवलालोकैर्'-तत्संयमविराधकमाश्लेषाऽऽदित्यालोके आलोकितान्नपानाद्यदनमप्राणातिपातायोक्तम् । अपिच रात्रिभोजनव्यवस्थापने रात्रौ भुक्त्वाऽऽत्मनः साधुत्वकथने च मृषावादः । रात्राभ्यवहारेण हन्यमानप्राणिनिदेशमन्तरेण तत्प्राणापहरणाद्रजन्यधिकरणकभोजननिषेधलक्षणजिनाज्ञा-

### (६) रात्रिभोजनविरमण ।

हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंके पश्चात् छठे व्रतमें रात्रिभोजनसे विरमण किया जाता है । रात्रिभोजनसे समस्त महाव्रतोंमें दोष लगता है । रात्रिके समय सूर्यकी किरणोंके अभावसे सूक्ष्म-शरीरवाले भाँति-भाँतिके जन्तु इधर-उधर उड़ते हैं, नवीन उत्पन्न होते हैं, नीचे ऊपर आते-आते हैं, इसलिए हिंसा अवश्य ही होती है । दीक्षा लेते समय ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि-‘आजसे किसी प्राणीके प्राणोंको पीड़ा नहीं पहुँचाऊँगा’ जब रात्रिभोजन किया तो हिंसा अवश्य हुई, इसलिए मृषावादका भी दोष लगा । अथवा लोक और अलोकको अवलोकन करनेवाले अलौकिक केवल-आलोकसे अवलोकन करके केवली भगवान्ने कहा है कि-सूर्यके आलोकमें अवलोकन किया हुआ अशन आदिक सेवन करनेसे ही हिंसाका परिहार हो सकता है । रात्रिभोजनका कर्त्तव्य-रूपसे निरूपण करना और रात्रिभोजन करके अपनेको साधु कहना मृषावाद है ।

रात्रिभोजनसे विराधित होनेवाले प्राणियोंकी आज्ञाके विना ही उनके प्राणोंका अहरण करनेसे, तथा रात्रिभोजन न करनेकी जिन भगवानकी आज्ञाका लोप करनेसे, अदत्तादानका दोष

### (६) रात्रिभोजनविरमण

हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंकी पछी छठी व्रतमें रात्रिभोजनथी विरमण करवाभां आवे छे. रात्रिभोजनथी सर्व महाव्रतोंमें दोष लागे छे. रात्रिने समये सूर्यनां किरणोंना अभावथी सूक्ष्म-शरीरवाणा बात-भातना जन्तुओं अडुईं तडुईं उडे छे, नवीन उत्पन्न थाय छे, नीचे-ऊपर आव-आ करे छे. तेथी हिंसा जर थाय छे.

दीक्षा लेती व्रतते ऐवी प्रतिज्ञा करी હતી કે ‘આજથી કેઈ પ્રાણીના પ્રાણોને પીડા નહીં ઉપજાવું’. જે રાત્રિભોજન કર્યું તો હિંસા અવશ્ય થઈ, તેથી મૃષાવાદનો દોષ લાગ્યો. અથવા લોક અને અલોકનું અવલોકન કરનારા અલૌકિક કેવળ જ્ઞાનથી અવલોકન કરીને કેવલી ભગવાને કહ્યું છે કે સૂર્યના પ્રકાશમાં અવલોકન કરેલું અशन આદિ સેવવાથી જ હિંસાનો પરિહાર થઈ શકે છે. રાત્રિભોજનનું કર્તવ્યરૂપે નિરૂપણ કરવું અને રાત્રિભોજન કરીને પોતાને સાધુ કહેવડાવવો એ મૃષાવાદ છે.

રાત્રિભોજનથી વિરાધિત થનારા પ્રાણીઓની આજ્ઞા વિના જ એમતા પ્રાણીનું અપ-

૧ કેવલાલોકસ્ય કરણસ્ય કર્તૃત્વવિવક્ષયા ણિનિઃ । ૨ પતત્=રાત્રિભોજનમ્ ।

भङ्गाच्च स्तेयम् । रात्रि-भोजनशीलस्यावश्यमेव भिक्षार्थं रात्रावितस्ततः परिभ्रमतः स्या-  
दिसंसर्गाद्ब्रह्म-दोषप्रसङ्गः । रात्रिभोजने संग्रहोऽनिवार्यस्तेन च मूर्च्छाऽवश्यम्भाविनी,  
सैव परिग्रहः 'मुच्छा परिग्रहो वुत्तो' इति भगवता स्वयमेवाऽभिधानादतो निशा-  
शनमशेषदोषराशिभूतम्, न तस्यागादृते व्रतपरिपोषस्तस्मात्सर्वं भगवन् ! रात्रि  
भोजनं प्रत्याख्यामि, तदेव विशदयति-'से'इति, अथ=अनन्तरम्-अधारभ्य अशनम्=अश्य-  
ते=भुज्यते क्षुधोपशमनार्थं यत् तत्=ओदन-सूप-सक्तु-मुग्दमोदक-घृतपूर-लपन-श्रीप्रभृतिक-  
म्, पानं=पीयते यत्तत्पानं=दुग्धादिकं तिलतण्डुलादिधावनोदकं च । खाद्यं=खादितुं यो-  
ग्यं खाद्यम्=अचित्तद्राक्षाखजूरादि । स्वाद्यं=स्वादितुं योग्यं स्वाद्यं=लवङ्गचूर्णपूगीफलादि ।  
रात्रिभोजनमपि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भेदाच्चतुर्धा, तत्र द्रव्यतोऽशनपानादिकम्, क्षेत्रतो-  
ऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षितं, तद्वहिः प्रसिद्धदिनरात्र्यभावात्, कालतो रात्रौ, भावतो निशा-  
शनाभिलाषः । रात्रिभोजनस्य स्वरूपतश्चतुर्भङ्गी यथा-(१) रात्रौ गृहीत्वा रात्रौ भुङ्क्ते,

लगता है । रात्रिमें भोजन करनेवाला भिक्षाके लिए रात्रिमें भ्रमण भी करेगा, भ्रमण करते समय  
स्त्री आदिका संसर्ग होनेसे अब्रह्मचर्यका भी दोष लगेगा ।

रात्रिभोजन करनेसे अन्न आदि सामानका भी संग्रह करना पड़ेगा इससे संनिधि-दोष  
लगेगा । संग्रह करनेसे मूर्च्छा भी होगी, मूर्च्छाको भगवानने स्वयं परिग्रह कहा है, इसलिए  
रात्रिभोजन सब दोषोंका कोष है, उसका त्याग किये बिना व्रतोंका पालन नहीं हो सकता ।  
इसलिए हे भगवन् ! मैं समस्त-रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ । अर्थात् भात, दाल,  
सत्तू, मूंगके लड्डू, घेवर, लप्सी आदि अशन, दूध, तिल और चावलका धोवन आदि पान, प्रासुक  
दाख, खजूर आदि स्वाद्य, लोंगका चूर्ण, सुपारी आदि स्वाद्य, इन चार प्रकारके आहारोंमेंसे किसी  
एक प्रकारका भी आहार रात्रिमें नहीं करूँगा ।

रात्रिभोजन भी द्रव्य क्षेत्र काल भावसे चार प्रकारका है । अशन पान आदि द्रव्यसे रात्रि-

भुक्षण करवाथी तथा रात्रिभोजन न करवानी जिनलगवाननी आज्ञानो दोष करवाथी अह-  
त्ताहाननो दोष लागे छे. रात्रे भोजन करनाराओ भिक्षाने माटे रात्रे भ्रमण पणु करथे.  
भ्रमणु करती वपते स्त्रीआदिनो संसर्ग थवाथी अप्रद्वययने पणु दोष लागथे.

रात्रिभोजन करवाथी अन्न आदि सामाननो पणु संग्रह करवो पडथे. तेथी संनिधि  
दोष लागथे संग्रह करवाथी मूर्च्छा पणु उत्पन्न थथे. मूर्च्छाने लगवाने पोते परिग्रहइत्थ  
कही छे, तेथी रात्रिभोजन सर्व दोषोनो कोष छे.

अनेो त्याग कर्था विना व्रतानुं पालन थछं शकतुं नथी. तेथी हे लगवन् ! हुं सर्व  
रात्रिभोजननां प्रत्याख्यान करूं छुं. अर्थात्-भात, दाल, भोजन भगना लाडु, घेवर, लापसी  
आदि अशन दूध तल अनेो योपानुं धोवणु आदि पान, प्रासुक द्राक्ष पणु आदि भाद्य,  
लवंगनुं चूर्ण, सुपारी आदि स्वाद्य अनेो यारे प्रकारना आहारमाथी कोष पणु अनेक  
प्रकारनो आहार रात्रे हुं करीश नडीं.

रात्रिभोजन पणु द्रव्य=क्षेत्र-काल-भावथी चार प्रकारनुं छे. अशन-पान आदि द्रव्यथी

(२) रात्रौ गृहीत्वा दिवा भुङ्क्ते, (३) दिवा गृहीत्वा रात्रौ भुङ्क्ते, (४) दिवा गृहीत्वा रात्रिव्यवधानेन दिवा भुङ्क्ते । उक्तम् भगवता निशीथसूत्रस्यैकादशोद्देशे—

“जे भिक्खू दिया आसणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता दिया भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥सू. ७३॥ जे भिक्खू दिया असणं वा ४ पडिगाहिता रत्तिं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥सू. ७४॥ जे भिक्खू रत्तिं आसणं वा ४ पडिगाहिता दिया भुंअइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥सू. ७५॥ जे भिक्खू रत्तिं असणं वा ४ पडिगाहिता रत्तिं भुं-

भोजन करना क्षेत्र-रात्रिभोजन है, क्योंकि अढाई द्वीपके बाहर दिन रात्रिका व्यवहार नहीं है । रात्रिमें भोजन करना कालकी अपेक्षा रात्रिभोजन है । रात्रिमें भोजन करनेकी इच्छा करना भाव-रात्रिभोजन है । रात्रिभोजनकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- (१) रात्रिमें ग्रहण करके रात्रिमें ही भोजन करना ।
- (२) रात्रिमें ग्रहण करके दिनमें भोजन करना ।
- (३) दिनमें ग्रहण करके रात्रिमें भोजन करना ।
- (४) दिनमें ग्रहण करके (रात्रिभर रखकर दूसरे) दिनमें भोजन करना ।

भगवान्ने निशीथ सूत्रके ग्यारहवें उद्देशमें कहा है—

“जो भिक्षु दिनमें अशन पान खाद्य स्वाद्य ग्रहण करके (दूसरे) दिन भोगे, दूसरे को भोगवावे और अन्य भोगनेवालेको भला जाने ॥७३॥

जो साधु दिनमें अशनादिक लेकर रात्रिमें स्वयं भोगे दूसरेको भोगवावे और अन्य भोगनेवालेको भला जाने ॥सू. ७४॥

जो साधु रात्रिमें अशनादिक लेकर दिनमें भोगे भोगवावे या भोगनेवाले अन्यको भला जाने ॥सू. ७५॥

रात्रिलोचन छे. अढी-द्वीपमां रात्रिलोचन करवुं अे क्षेत्र-रात्रिलोचन छे, केभके-अढी द्वीपनी अडार द्विपस-रात्रिने व्यवहार नथी. रात्रे लोचन करवुं अे काणनी अपेक्षाअे रात्रिलोचन छे, रात्रे लोचन करवानी छच्छा करवी अे भावरात्रिलोचन छे.

रात्रिलोचननी चतुर्भंगी आ प्रमाणे छे:—

- (१) रात्रे अडणु करीने रात्रे न लोचन करवुं.
- (२) रात्रे अडणु करीने द्विपसे लोचन करवुं.
- (३) द्विपसे अडणु करीने रात्रे लोचन करवुं.
- (४) द्विपसे अडणु करीने (रातभर राप्पीने पीअे) द्विपसे लोचन करवुं.

भगवाने निशीथ-सूत्रना अगीआरभा उद्देशमां कहुं छे—

“अे भिक्षु द्विपसमां अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य अडणु करीने (पीअे) द्विपसे भोगवे, पीअने भोगवावे, अन्य भोगवनारने लढी भण्ठे. (सू. ७३)

अे साधु द्विपसे अशनादि लघने रात्रे पीते भोगवे, पीअने भोगवावे अने अन्य भोगवनारने लढी भण्ठे (सू. ७४)

अे साधु रात्रे अशनादि लघने द्विपसे भोगवे, भोगवावे या भोगवनारने लढी भण्ठे (सू. ७५)

णइ भुंजंतं वा साइज्जइ ×××आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं ॥सू. ७६॥” इति ।  
तच्च सर्वमशनादिकं रात्रौ नैव स्वयं भुञ्जे, इत्यादि सर्वं व्याख्यातपूर्वम् ॥१३॥  
सम्प्रति गृहीतमहाव्रतः शिष्य उपसंहरन्नाह-‘इच्चेयाइं’ इत्यादि ।

**मूलम्—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं  
अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ॥१४॥**

छाया—इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि आत्महितार्थोपसम्पद्य विहरामि ॥१४॥

**उपसंहारः**

सन्वयार्थः—इच्चेयाइं=ये पहले कहे हुए राइभोयणवेरमणछट्ठाइं=छठे रात्रिभोजन-विरमण व्रतके साथ पंच महव्वयाइं=पांच महाव्रतोंको अत्तहियट्ठयाए=आत्मकल्याणके लिये उवसंपज्जित्ताणं=स्वीकार करके विहरामि=संयममें विचरता हूँ ॥१४॥

टीका—इत्येतानि=समनन्तरोदीरितलक्षणानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि= रात्रौ भोजनं रात्रिभोजनं, रात्रिभोजनाद्विरमणं रात्रिभोजनविरमणं, षण्णां पूरणं षष्ठं=षट्संख्या-प्रपूरकं, रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं येषु तानि पञ्च महाव्रतानि आत्महितार्थाय=आत्मने हितम्=इष्टमिति आत्महितम्, आत्मनो हितं= मङ्गल मस्मादिति वाऽऽत्महितो मोक्षः, स एवार्थः=प्रयोजनम् आत्महितार्थस्तस्मै तद्योक्त्या उपसम्पद्य=सामस्त्येन स्वीकृत्य विहरामि=संयमविषये विचरामि ॥१४॥

जो साधु रात्रिमें अशनादिक लेकरके रात्रिमें भोगे दूसरेको भोगवावे और अन्य भोगने-वालेको भला जाने उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लगता है । ॥सू. ७६॥

इन सब अशन आदि चार प्रकारके आहारको रात्रिमें नहीं भोगूँगा, इत्यादिका व्याख्यान पहले कर चुके हैं ॥१३॥ (६)

अब महाव्रतोंको स्वीकार करनेवाला शिष्य उपसंहार करता हुआ कहता है—‘इच्चेयाइं’ इत्यादि ।

हे भगवन् ! मैं पांच महाव्रतोंको और छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतको आत्माके हित—मोक्ष—के लिए स्वीकार करके संयममार्गमें विचरता हूँ ॥१४॥

वे साधु रात्रे अशनादि बधने रात्रे भोगवे, भीजने भोगवावे अन्य भोगवनारने लये। लये. (सू. ७६) तेने चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लागे छे.”

वे सर्व अशनादि चार प्रकारना अहारने रात्रे नहि भोगवुं, इत्यादिनु व्याख्यान पढेलां करवाभां आवेछुं छे. (१३) (६)

हुये महाव्रतोंने स्वीकार करवावाणे शिष्य उपसंहार करतो छतो कहे छे—इच्चेयाइं इत्यादि.

हे भगवन् ! हुं पांच महाव्रतोंने अने छठा रात्रिभोजनविरमण व्रतने आत्माने हित-स्वल्प मोक्षने माटे स्वीकार करीने संयम-मार्गमां विचरूं छुं. (१४)

यतनापुरस्सरमेव व्रतग्रहणं सफलं भवतीत्यतस्तद्यतनास्वरूपं प्रदर्शयते—‘से भिक्खू वा’ इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खा यपावकम्भे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से पुढविं वा भित्ति वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्टेण वा किल्लि-  
चेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलि-  
हिज्जा न विलिहिज्जा न घट्टिज्जा न भिदिज्जा, अन्नं न आलि-  
हाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिदाविज्जा,  
अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा भिदंतं वा न समणु-  
जाणिज्जा. जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं  
न करेमि न कारवेमि कंतंपि अन्नं न समणुजाणामि ! तस्स  
भंने ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामिअप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥ १५॥

छाया—सभिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, स पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं वा सरजस्कं वा कायं सरजस्कं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किल्लि-  
ञ्चेन वा अङ्गुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा नाऽऽलिखेत् न विलिखेत् न घट्ट-  
येत् न भिन्धात्, अन्यं नाऽऽलेखयेन्न विलेखयेन्न घट्टयेन्न भेदयेद्, अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा क्रायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भद-  
न्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१॥ १५॥

(१) पृथ्वीकाययतना.

सान्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्भे=वर्तमानकालीन सावद्य व्या-  
पारोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावद्यव्यापारोंसे रहित, वर्तमान कालमें भी स्थिति  
और अनुभागको न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंको निन्दा करके सावद्य  
व्यापारके त्यागी, से=वह पूर्वोक्त भिक्खू वा= साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी दिया  
वा=दिनमें राओ वा= अथवा रात्रिमें एगओ वा= अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें  
स्थित सुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे, वहां से=वह पुढविं  
वा=पृथ्वीको भित्ति वा=भीत-दोवार-को सिलं वा=शिलाको लेलुं वा= ढेलेको ससर-

कखं=सचित्रजसहित कायं वा = शरीरको ससरकखं = सचि । सहित वत्थं वा = वस्त्र को हत्येण वा = हाथसे पाएण वा परसे कट्टेण वा = काष्ठसे किलिचेण वा = वांस आदि को खपच्चसे अंगुलियाए वा = अंगुलीसे सिलागाए वा = छडसे सिलागहत्येण वा = बहुतसी छड़ोसे न आलिहिज्जा = जराभी संघर्षण न करे न विलिहिज्जा = बारम्बार संघर्षण न करे, न घट्टिज्जा = न घट्टन करे-न चलावे न भिदिज्जा = न-भेदे, अन्नं = दूसरेसे न आलिहाविज्जा = जराभी संघर्षण न करावे, न विलिहाविज्जा = न बारम्बार संघर्षण करावे, न घट्टाविज्जा = न घट्टन करावे, न भिदाविज्जा = न भेदन करावे, आलिहंतं वा = संघर्षण करनेवाले विलिहंतं वा = बार-बार संघर्षण करनेवाले घट्टंतं वा = घट्टन करनेवाले भिदंतं वा = भेदन करनेवाले अन्नं = दूसरेको न समणुजाणिज्जा = भला न समझे । इसलिये मैं जावज्जीवाए = जीवनपर्यन्त ( इसको ) तिविहं = कृतकारित अनु-मोदनारूप तीन करणसे ( तथा ) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न करूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, करंतं पि = करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणुजाणामि = भला नहीं समझूंगा । भंते ! = हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडिकमामि = पृथक् होता हूँ, निदामि = आत्म-साक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि - गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवालेआत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ ॥१॥ १५॥

टीका-से = सः = भिक्षावृत्तिकत्वेन प्रसिद्धः, भिक्षुः = भिक्षितुं = याचितुं शीलं धर्मो वा यस्य स भिक्षुः । (‘भिक्ष याञ्चायामलाभे लाभे चै’-त्यस्माद्धातोः ‘आक्वेस्त-च्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु’ इत्यधिकारे ‘सनाशंसभिक्ष उः’ (३।२। १६२) इत्युप्रत्यये भिक्षुपदं सिध्यति) । अत्र ‘उ’ प्रत्ययेन ताच्छील्यद्योतनाद् भिक्षणशीलत्वं भिक्षुत्वमिति पर्यवस्यति ।

व्रतोंको यतनापूर्वक स्वीकार किया जाय तभी वे सफल होते हैं, इसलिए यतनाका कथन करते हैं-‘से भिक्खू’ इत्यादि ।

भिक्षावृत्तिसे प्रसिद्ध भिक्षु कहलाते हैं, अर्थात् याचना करके आहारादि लेनेवाले लैको भिक्षु कहते हैं ।

संस्कृत व्याकरणके अनुसार ‘भिक्षु’ पदमें ‘उ’ प्रत्यय लगा हुआ है । उससे यह प्रगट होता

मतानो यतनापूर्वक स्वीकार करवाभां आवेत्यारे ते सङ्ग थाय छे, तेथी यतनानुं कथन करे छे-जे भिक्खू० धत्यादि.

भिक्षावृत्तिथी प्रसिद्ध होय ते भिक्षु कहेवाय छे. अर्थात् याचना करीने आहारादि लेवावाणा ने भिक्षु कहे छे,

अ संस्कृत व्याकरणने अनुसरीने भिक्षु शब्दमां उ प्रत्यय लागेदो छे. तेथी अेभ प्रकट थाय छे के भिक्षु अेने कहेने अेअंअे के अे केअं वस्तुने भिक्षा विना दे नही, अर्थात् भिक्षु-शील होय ते भिक्षु कहेवाय छे.

ननु काषायाम्बरधारिणापि भिक्षोपजोवित्वेन तत्रोक्तभिक्षुलक्षणमन्विन्याप्तमिति चेव-

मिक्षावृत्तिकृत्वे सति भिक्षेतरवृत्तिरहितत्वं हि भिक्षुत्वम्, तथा च स्वायिनिदेशमन्तरेणापि जलाशयादितोऽपि स्वइस्तेनापि जलादिग्रहणस्य तद्गीयीजविक्रान्तर्यतत्त्वेन, तथा कदाचिद् भिक्षाया अलाभे पचन-पाचनादिक्रियया, कन्दमूलफलादिना च जीवननिर्याहाचेषामुक्तलक्षणभिक्षुत्वाभावात्।

न च 'भिक्षो यदा भिक्षमाणास्तदा तत्रास्तु भिक्षुत्वं परन्त्वभिक्षमाणात्वावस्थायां कथं तेषु भिक्षुशब्दः प्रवर्तत तदानो भिक्षणव्यापाराभावा?' 'दिति वयम् उभयवामप्य-

है कि-भिक्षु उसे कहना चाहिए जो किसी वस्तुको बिना भिक्षाके न लें, अर्थात् भिक्षणशील भिक्षु कहलाते हैं।

प्रश्न-गेरुआ या अन्य किसी प्रकारके रंगसे रंगे हुए कपड़े पहननेवाले संन्यासी आदि भी भिक्षा मांग कर अपने जीवनका निर्वाह करते हैं, इसलिए यह भिक्षुका लक्षण उनमें भी चला जाता है, वे भी भिक्षु कहलावेंगे ?

उत्तर-जो भिक्षासे ही अपना निर्वाह करते हैं और सिवाय भिक्षाके अन्य वृत्तिको कदापि स्वीकार नहीं करते वे ही भिक्षु कहलाते हैं, संन्यासी आदि स्वामीकी आज्ञाके बिना भी जलाशय आदिसे भी जल आदि अपने हाथोंसे ले लेते हैं। जब भिक्षा नहीं मिलती तब पचन-पाचनादि करते करते हैं, तथा कन्द-मूल-फल-आदिसे निर्वाह कर लेते हैं, इसलिए वे भिक्षु नहीं कहला सकते।

प्रश्न-अच्छा, जो भिक्षासे ही अपना निर्वाह करे उसे भिक्षु कहते हैं तो साधु जब भिक्षाकी गवेपणा करेंगे तब ही भिक्षु कहलावेंगे, जिस समय स्वाध्याय आदि अन्य क्रिया करते होंगे उस समय भिक्षु कैसे कहलावेंगे ?

प्रश्न-जेइथी या अन्य कोण प्रकारना रंगथी रंगेलां कपडा पहरेनारा संन्यासीआदि पणु भिक्षा मांगीने पोताना जीवननो निर्वाह करे छे. तेथी अे भिक्षुनुं लक्षणु अेने पणु लाशु पडे छे, तेअो पणु भिक्षु कडेवाशे ?

उत्तर-अेअो भिक्षाथी अे पोतानो निर्वाह करे छे अने भिक्षा सिवाय अन्यवृत्तिने कदापि स्वीकारता नथी तेअो अे भिक्षु कडेवाय छे. संन्यासी आदि स्वामीनी आज्ञा बिना पणु अण-शय आदिथी पणु अण आदि पोताना हाथे लथ दे छे, अ्यारे भिक्षा नथी भणती त्यारे रांधवा-रंधाववानी क्रिया करे छे, तथा कंद मूल इण आदिथी निर्वाह करी दे छे, तेथी तेअो भिक्षु कडेवाथ शकता नथी.

प्रश्न-ठीक, अेअो भिक्षाथी अे पोतानो निर्वाह करे तेअने भिक्षु कडे छे तो साधु अ्यारे भिक्षानी अवेपणा करशे त्यारे अे भिक्षु कडेवाशे, अे समये स्वाध्याय आदि अन्य क्रिया करता उशे ते समये भिक्षु केवी रीते कडेवाशे !



वस्थायां भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावेन भिक्षुशब्दप्रवृत्तिसंभवात्, तथाहि शब्दस्य द्वे निमित्ते व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं चेति, तत्र व्युत्पत्तिलभ्यार्थप्रतीतो प्रकारोभूतो धर्मो व्युत्पत्तिनिमित्तम्, यथा पङ्कजशब्दस्य पङ्कजनिकर्तृत्वम् । सङ्केतग्रहे प्रकारोभूतो धर्मः प्रवृत्तिनिमित्तम्, यथा पद्मत्वजातिः ।

न च शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति वाच्यम्, पाचकादिशब्दे तथा-त्वेऽपि पङ्कजादिशब्दे तद्व्यभिचारात् । तथाहि-पङ्कजपदं 'पङ्काज्जायते' इति व्युत्पत्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वावच्छिन्ने शक्ततया पद्मरूपार्थबोधकं सदपि शैवालादिष्वतिप्रसङ्गवारणाय

उत्तर-भिक्षाकी गवेषणा करते समय भी साधुको भिक्षु कह सकते हैं और न करते समय भी कह सकते हैं । दोनों अवस्थाओंमें भिक्षु शब्दकी प्रवृत्तिका कारण मौजूद है ।

शब्दोंकी प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है । जैसे कमलका वाचक एक पङ्कज शब्द है दूसरा पद्म शब्द है । पङ्कज शब्द का अर्थ है कीचड़से उत्पन्न होनेवाला, कमल कीचड़से उत्पन्न होता है इसलिए पङ्कजत्व व्युत्पत्तिनिमित्त है । अर्थात् पङ्कज शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे जो अर्थ निकलता है वही अर्थ उसके वाच्यमें (अर्थमें) ठीक-ठीक घट जाता है, इसे व्युत्पत्तिनिमित्त कहते हैं ।

दूसरा प्रवृत्तिनिमित्त है । शब्दके संकेतसे बोध्य अर्थमें विशेषणभूत धर्मको प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं, जैसे पद्मत्व या कमलत्व (कमलपन) जाति ।

यदि कोई कहे कि-जो व्युत्पत्तिनिमित्त है वही प्रवृत्तिनिमित्त है तो ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'पाचक' आदि शब्दोंमें जो व्युत्पत्तिनिमित्त है वही प्रवृत्तिनिमित्त है तथापि पङ्कज आदि शब्दोंमें यह कथन नहीं घटता, 'पङ्क' ( कीचड़ ) से उत्पन्न होनेवाला पङ्कज है" इस व्युत्पत्ति से पङ्कज शब्द कमलका बोध तो कराता है परन्तु साथही साथ शैवाल तथा इस प्रकारसे पैदा

उत्तर-भिक्षानी गवेषणा करती वपने साधुने भिक्षु कही शक्य छे. अने न करती वपने पणु कही शक्य छे. जेउ अवस्थाभां भिक्षु शब्दनी प्रवृत्तिनुं कारण मे व्युह छे.

शब्दोनी प्रवृत्ति जे प्रकारे थाय छे. जेमके-कमलने वाचक जेक पङ्कज शब्द छे, जीने पद्म शब्द छे. पङ्कज शब्दने अर्थ कादवमां उत्पन्न थजेव जेवा थाय छे. कमल कादवमां उत्पन्न थाय छे, तेथी पङ्कजत्व व्युत्पत्तिनिमित्त छे. अर्थात् पङ्कज-शब्दनी व्युत्पत्ति कर-वाथी जे अर्थ नीकगे छे तेज अर्थ तना वाच्यमां (अर्थमां) परापर अंध जेसे छे, तेथी तेने व्युत्पत्तिनिमित्त कडे छे.

जीने प्रवृत्तिनिमित्त छे शब्दना सङ्केतथी बोध्य अर्थमां विशेषणभूत धर्मने प्रवृत्ति-निमित्त कडे छे. जेमके-पद्मत्व या कमलत्व (कमलपणुं) जाति.

जे केध कडे के-जे व्युत्पत्तिनिमित्त छे तेज प्रवृत्तिनिमित्त छे, तो ते परापर नथी. कारण के जे के 'वाचक' आदि शब्दोमां जे व्युत्पत्तिनिमित्त छे तेज प्रवृत्तिनिमित्त छे, तथापि पङ्कज आदि शब्दोमां जे कथन अंध जेसतुं नथी, कारण के 'पङ्क' (कादव) मांथी उत्पन्न थायाणुं पङ्कज छे, -जे व्युत्पत्तिथी पङ्कज शब्द कमलने बोध तो करावे छे, परन्तु साथे

પદ્મ(જાતિ)રૂપં પ્રવૃત્તિનિમિત્તમાદાયૈવ પદ્મં बोधयति न त्वितरथा ।

एवमत्रापि भिक्षुशब्दस्य भिक्षणं व्युत्पत्तिनिमित्तम्, भिक्षत इत्येवंशीलो भिक्षुरिति व्युत्पत्तिः । तथा चाऽभिक्षमाणत्वावस्थायां भिक्षुत्वाप्रसक्तावपि ऐहिकपारत्रिकाऽऽशंसाविरहेण समितिगुप्त्यादिधारित्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तमादाय भिक्षुत्व-समित्यादिपालकत्वयोर्भिक्षु-लक्षणैकार्थसमवायेन कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणेन भिक्षमाणेऽभिक्षमाणे वा भिक्षौ भिक्षुशब्द-प्रवृत्तेः, वर्तमानपर्यायमात्रग्रहणलक्षणञ्च जुसूत्रनयाभिप्रायाच्च भिक्षुत्वसिद्धिः ।

ननु पूर्वोक्तलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तकाषायाम्बरधारिप्रभृतिष्वपि विद्यते, तेऽपि मार्गं

होनेवाळे गड्डुळे फूठ आदिचा अर्थ भी उससे निकलता है, क्योंकि वे भी कीचड़से पैदा होते हैं । यदि व्युत्पत्तिनिमित्तको ही शब्दकी प्रवृत्तिमें कारण माना जाय तो शैवाल आदिमें भी पंकज शब्दका प्रयोग हो जायगा, इस आपत्तिका निवारण करनेके लिए व्युत्पत्तिनिमित्तके सिवाय प्रवृत्तिनिमित्त कमलत्व धर्मकी भी आवश्यकता है, इससे शैवाल आदिका निराकरण हो जाता है, दोनों निमित्तोंसे ठीक-ठीक अर्थका प्रतिपादन हो जाता है कि जो कीचड़से उत्पन्न हो और जिसमें कमलस्वरूप सामान्य (जाति) पाया जाय उसे पङ्कज कहते हैं ।

इसी प्रकार यहाँ 'भिक्षु' शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त भिक्षण (याचना) धर्म है, जिस समय साधु भिक्षण नहीं करते उस समय व्युत्पत्तिनिमित्त से भिक्षु नहीं कहला सकते, फिर भी 'समितिगुप्तिपालकत्व'—रूप प्रवृत्तिनिमित्त से भिक्षु शब्दकी प्रवृत्ति होती है क्योंकि भिक्षुत्व और समितिगुप्तिपालकत्व दोनों धर्म भिक्षुमें कथाञ्चित् तादात्म्यसम्बन्धरूप एकार्थसमवायसे रहते हैं । इसलिए भिक्षा न करते समय भी 'समितिगुप्तिपालकत्व'—रूप प्रवृत्ति—निमित्तसे भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—समिति—गुप्तिपालकता तो गेरुआ आदि वृक्ष पहननेवालोंमें भी पाई जाती है । वे

शेવાળ તથા એ પ્રકારે પેદા થનારા ધીનેલાં શીંગોડા આદિનેા અર્થ પણ તેમાંથી નીકળે છે, કારણ કે તે પણ ક્રીયડમાંથી પેદા થાય છે. જે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તને જ શબ્દની પ્રવૃત્તિમાં કારણ રૂપ માનવમાં આવે તો શેવાળ આદિમાં પણ પંકજ શબ્દનેા પ્રયોગ થઈ જશે. એ આપત્તિનું નિવારણ કરવાને માટે વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત ઉપરાંત પ્રવૃત્તિનિમિત્ત કમળત્વ ધર્મની પણ આવશ્યકતા છે. તેથી શેવાળ આદિનું નિરાકરણ થઈ જાય છે. એ ઉ નિમિત્તથી બરાબર અર્થનું પ્રતિપાદન થઈ જાય છે કે જે ક્રીયડમાંથી ઉત્પન્ન થાય અને જેમાં કમલત્વરૂપ સામાન્ય (જાતિ) મળી આવે તેને પંકજ કહે છે.

એ રીતે અહીં 'ભિક્ષુ' શબ્દનેા વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત ભિક્ષણ (યાચના) ધર્મ છે જે સમયે સાધુ ભિક્ષણ કરતો નથી તે સમયે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તથી ભિક્ષુ નથી કહેવાતો, તો પણ 'સમિતિ-ગુપ્તિ-પાલકત્વ' રૂપ પ્રવૃત્તિનિમિત્તથી ભિક્ષુ શબ્દની પ્રવૃત્તિ થાય છે, કારણ કે ભિક્ષુત્વ અને સમિતિગુપ્તિ-પાલકત્વ એ ઉ ધર્મો ભિક્ષુમાં કોઈપણ રીતે તાદાત્મ્ય સંબંધરૂપ એકાર્થ—સમવાયથી રહે છે, તેથી ભિક્ષા ન કરતી વખતે પણ 'સમિતિગુપ્તિ પાલકત્વ' રૂપ પ્રવૃત્તિનિમિત્તથી ભિક્ષુ શબ્દની પ્રવૃત્તિ થાય છે.

पश्यन्त एव गच्छन्ति, तेन च तेषां समित्यादिपालकत्वं, मौनादिसमवलम्बनेन गुप्ति-पालकत्वं चास्ति, ततश्च समिति, गुप्तिपालकत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तस्य तेष्वपि सत्त्वे कुतो न तेषां भिक्षुशब्दव्यवहार्यत्वमिति चेत् ?

यत् इहलोकाद्याशंसाविरहिततया समित्यादिपालकत्वमेव भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, तच्च तेषु न विद्यते तेषां तथाविधप्रवृत्तेः, ऐहिककण्टकादिनिवृत्त्यर्थत्वात्, यशःकीर्त्यादि-सम्पादनार्थत्वाच्च, नातस्तेषां वस्तुतः समितिगुप्त्यादिपालकत्वं विद्यते । अन्यथा—‘याव-न्निगडबद्धोऽहं तावदेनं न हनिष्यामि, यावन्न समालपामि तावदहं मृषात्यागी, यावत्स-निद्रोऽहं तावदचौर्यव्रतो’—त्यादाभिमाना अपि केचिद् व्रतधारित्वेन व्यवह्रियेरन्, किन्तु तेषामान्तरिकेच्छायाः सततानुबन्धितया विद्यमानत्वान्न त्रतित्वमस्ति ।

भी मार्ग देखकर ही चलते हैं इसलिए वे समितिका पालन करते हैं । और कभी मौन रखते हैं इसलिए गुप्तिका भी पालन करते हैं । जब उनमें समिति-गुप्तिपालकता पाई जाती है तो उन्हें भी भिक्षु क्यों नहीं कहना चाहिए ?

समाधान—इहलोक और परलोक सम्बन्धी आकांक्षा या स्वार्थरहित होकर जो समिति-गुप्तिका पालन करते हैं वे ही भिक्षु कहलाते हैं । उनमें ऐसा नहीं पाया जाता । वे हिंसासे बचने के लिए मार्ग देख कर गमन नहीं करते, किन्तु क्रांति आदि लग जानेके भयसे मार्ग देखकर गमन करते हैं, और यश-कीर्ति सम्पादन करनेके लिए मौन रखते हैं, इसलिए वे वास्तवमें समिति-गुप्तिके पालक नहीं हो सकते । यदि उन्हें समितिगुप्तिका पालक माना जाय तो वह मनुष्य भी व्रती कहलायगा जो ऐसी प्रतिज्ञा करे कि “मैं जब तक बेड़ीमें जकड़ा हुआ हूँ तबतक इसे नहीं मारूँगा” “जब तक न बोदूँ तब तक मृषावादका त्यागो हूँ” “जब तक सोया रहूँगा

शंका—समितिशुप्ति पालकता तो गेड़्या आदि वस्त्र पहरेदारोंमें पशु जेवामें आवे छे. तेज्यो पशु मार्ग जेधने न थावे छे, तेथी तेज्यो समितिशुप्ति पालन करे छे, अने डाँध-डाँधवार मौन रहे छे तेथी शुप्तिशुप्ति पशु पालन करे छे, जे तेज्योमें समितिशुप्ति-पालकता जेवामें आवे छे, तो तेमने पशु भिक्षु केम न कहेवा जेधये ?

सामाधान—इहलोक अने परलोक संभंधी आकांक्षा अथवा स्वार्थरहित थधने जेज्यो समिति-शुप्तिशुप्ति पालन करे छे तेज्यो न भिक्षु कहेवाय छे तेज्योमें जेवुं जेवामें आवतुं नथी. तेज्यो हिंसाथी अथवाने माटे मार्ग जेधने गमन करता नथी, परन्तु डाँटा वगेरे वागी नवाना अथवा मार्ग जेधने थावे छे अने यश कीर्ति संपादन करवाने माटे मौन राखे छे, तेथी तेज्यो वस्तुताज्ये समिति-शुप्ति ॥ पालक नथी थध शकता. जे तेमने समिति-शुप्तिना पालक मानवामें आवे तो जे भाजुस पशु वती कडेवाशे के जे जेथी प्रतिज्ञा करे के—“ज्यां सुधी हुं जेडीथी अंधायजे छुं त्यांसुधी हुं तेने नहिं माइ” “ज्यां सुधी हुं न जेअहुं त्यां सुधी मृषावादनो त्यागी छुं” “ज्यां सुधी सुध रहीश त्यां सुधी अथौर्य वतनुं पालन

किञ्च भिक्षुम्मन्येषु काषायाम्बरधारिषु नैवाऽयं भिक्षुशब्द आत्मसत्तां लभते, तेषामु-  
द्गमोत्पादनादिदोषदुष्टान्नभोजित्व- सचित्ततयकन्दमूलाद्यासेवित्व- पचन-पाचनादिक्रिये-  
च्छानिवृत्त्यभावादोषदूषितत्वात्, अतो समितिगुप्तिधारका भिक्षामात्रोपजीविनोऽचि-  
त्तामेषणीयामुद्गमोत्पादनादिदोषराहित्येन विशुद्धां प्रमाणोपेतां च भिक्षां गृह्णन्ति, प्राणा-  
त्ययसमयेऽपि पचनपाचनादिनवकोटिविशुद्धिं नैव खण्डयन्ति त एव भिक्षु पदव्यवहारयो-  
ग्यतां लभन्ते, इति विदेलिमम् ।

यद्वा क्षोभते क्षुभ्यति वा=अन्तर्भावितप्यर्थतया क्षोभयति=संचालयति चतुर्गतिसंसारं  
सकलप्राणिन इति क्षुप्=अष्टविधं कर्म (अन्तर्भावितप्यर्थाद्भौवादिकाद् दैवादिकाद्वा 'क्षुभ  
सञ्चलने' अस्माद्धातोः 'सम्पदादित्वान् क्विप्) तद् ज्ञानदर्शनादिना भिनत्ति=क्षपयतीति  
भिक्षुः (पृषोदरादित्वात्सिद्धिः) ॥

भिक्षुकी=साध्वी । 'संजय०' इत्यादीनि भिक्षु विशेषणानि भिक्षुक्त्वा अपि बोध्यानि  
उभयोः समानाचारशीलत्वात् ।

तब तक अचौर्य व्रतका पालन करूँगा वास्तवमें ऐसे मनुष्य व्रती नहीं कहलाते हैं, क्योंकि  
उनकी आन्तरिक इच्छा पापोंसे निवृत्त नहीं हुई है

गेरुआ आदि वस्त्र धारण करनेवाले और अपनेको भिक्षु समझने वाले संन्यासी आदि वास्त-  
व में भिक्षु नहीं कहला सकते, क्योंकि वे उद्गम—उत्पादना आदि दोषोंसे दूषित अन्न आदि  
अंगीकार करते हैं, सचित्त जल लेते हैं, सचित्त कन्द मूल आदिका सेवन करते हैं, पचनपाच-  
नादि क्रियाएँ करते हैं और इच्छाका दमन नहीं करते हैं । अतः वास्तवमें वे ही भिक्षु कहलाने  
योग्य हैं जो समिति—गुप्तिके धारक तथा भिक्षामात्रसे उपजीवी हैं, अचित्त एषणीय उद्गम आदि  
दोषरहित विशुद्ध प्रमाणोपेत भिक्षा लेते हैं और प्राण जानेका अवसर आ जाने पर भी पचन—  
पाचन आदि नव कोटिकी विशुद्धताको खण्डित नहीं करते ।

अथवा संसारके समस्त शरीरधारियोंको क्षोभित करनेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों  
को भेदनेवाले भिक्षु कहलाते हैं ।

करीशु." वस्तुतः अथैवा भाष्यस्य मती नथा कडेवातो, कारण के अथैवा आन्तरिक इच्छा पापथी  
निवृत्त थथ नथी.

गेरुआं आदि वस्त्रो धारण करनारा अने पोताने भिक्षु माननारा संन्यासी आदि वस्तुतः  
भिक्षु कडेवाध शकता नथी, कारण के तेअो उद्गम उत्पादना आदि दोषोथी दूषित अन्न  
आदि अंगीकार करे छे, सचित्त जल ले छे, सचित्त कंद-मूल आदितुं सेवक करे छे पचन-  
पाचनादि क्रियाओ करे छे अने इच्छानुं दमन करता नथी. अथैवा करीने वस्तुतः तेअो न  
भिक्षु कडेवाया योग्य छे के अथैवा समिति-गुप्तिना धारक तथा भिक्षामात्रथी उपजीवी छे,  
अचित्त, अेषणीय, उद्गमादि-दोषथी रहित, विशुद्ध, प्रमाणोपेत भिक्षा ले छे, अने प्राण  
जानेना अवसर आवे तो पणु पचन-पाचनादि नव कोटिनी विशुद्धताने अडित करता नथी.

अथवा संसारना सर्व शरीरधारीअने क्षोभित करनारां ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मेनि  
लेदनारा भिक्षु कडेवाय छे.

(१) पृथ्वीकाययतना ।

संयत- विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा-संयतः- वर्तमानकालिकसर्वसावधानुष्ठान-निवृत्तः, विरतः अतीतकालिकपापाज्जुगुप्सापूर्वकं, भविष्यति च संवरपूर्वकमुपरतो निवृत्त इत्यर्थः अत एव प्रतिहतं=वर्तमानकाले स्थित्यनुभागहासेन नाशितं, प्रत्याख्यातं=पूर्वकृतातिचारनिन्दया भविष्यत्यकरणेन निराकृतं पापकर्म=पापानुष्ठानं येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, संयतश्चासौ विरतश्च (विशेषयोरपि परस्परविशेष्यविशेषण-भावविवक्षया समासो गतप्रत्यागतादिवत् ) संयतविरतश्चासौ प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चेति तथोक्तः, दिवा=दिवसे, रात्रौ=रजन्याम्, एकरुः=एकाकी द्रव्यतो ध्यानादिहेतो-रेकान्तस्थानस्थितोऽद्वितीयः, भावतो रागद्वेषरहितो वा, परिषदतः=परि=समन्ततः सीदन्ति=गच्छन्ति गत्वा संहता भवन्ति जना अस्यामिति परिषत्=सभा, तां गतः परिषदतः=साध्वादिसङ्घस्थित इत्यर्थः, सुप्तः=स्वाध्यायादिजनितश्रमापनोदार्थं रजनी मध्यमयामयुगलमात्रं निद्रितः, जाग्रत्=इन्द्रियादिकरणकविषयज्ञानयोग्यावस्था प्राप्तःनिद्रा-विमुक्तो भवेत् । एवंविधो भिक्षुर्वक्ष्यमाणरीत्या दुष्कृत्यं न करोतीति प्रदर्श्यते-‘से’ इति

भिक्षुकी साध्वीको कहते हैं । संजय आदि विशेषण साध्वीके साथ भी समझना चाहिए क्योंकि साधु और साध्वीका आचार प्रायः समान है ।

(१) पृथ्वीकाययतना ।

वर्तमान कालके सब प्रकारके सावद्य व्यापार से निवृत्त होने के कारण संयत, अतीतकालीन पापोंसे जुगुप्सा-पूर्वक और भविष्यत्कालीन पापोंसे संवर-पूर्वक निवृत्त होनेसे विरत, संयत और विरत होनेके कारण वर्तमान कालमें स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका हास करके पापकर्म को नष्ट करनेवाले, दिनमें, रात्रिमें, द्रव्यसे ध्यान आदिके लिए एकान्तमेंस्थित और भावसे राग-द्वेषरहित होनेसे एकाकी, अथवा साधुओंके संघमें स्थित, स्वाध्याय आदिसे उत्पन्न श्रमको दूर करनेके लिए रात्रिके बीचके दो प्रहरोंमें सोते हुए, तथा जागते हुए भिक्षु, आगे कहे हुए सावद्य व्यापार नहीं करते हैं ।

भिक्षुकी साध्वीने कहे छे. संजय आदि विशेषण साध्वीनी साथे पणु समझवानुं छे, कारण के साधु अने साध्वीने आचार प्रायः समान छे.

(१) पृथ्वीकाययतना

वर्तमानकालना सर्व प्रकारना सावद्य-व्यापारथी निवृत्त होवाने कारणे संयत, अतीतकालीन पापोंथी जुगुप्सापूर्वक अने भविष्यत्कालीन पापोंथी संवरपूर्वक निवृत्त होवाथी विरत, संयत अने विरत होवाने कारणे वर्तमान कालमां स्थितिबन्ध अने अनुभागबन्धना हास करीने पापकर्मने नष्ट करनासे, दिवसमां अने रात्रे, द्रव्यथी ध्यान आदिने माटे एकान्तमां स्थित अने भावथी राग-द्वेष आदिथी रहित होवाने कारणे ये काली अथवा साधुओंना संघमां स्थित, स्वाध्याय आदिथी उत्पन्न थता श्रमने दूर करवाने माटे रात्रिनी वन्धेना ये पहरमां सूता तथा जगता भिक्षु, आगण कहेला सावद्य व्यापारने करता नथी.

सः-भिक्षुः पृथिवीं=खनिसमुद्भूतमृत्तिकारूपाम्, भित्तिं=सरित्तीरमृत्तिकाम्, शिलां=विशालपापाणलक्षणाम् लेष्टुं=पिण्डात्मकमृत्खण्डम्, सरजस्कं=सचित्रजोऽवगुण्ठनम्, कायं=शरीरम्, वस्त्रं=चोलपट्टप्रमुखं च, पात्रादीनामप्युपलक्षणमेतत्, एतेषु अन्यतमं किमपि वस्तु हस्तेन=करेण, पादेन=चरणेन, काष्ठेन=खदिरादिदारुखण्डेन, किलिञ्चेन=वंशादिकश्चक्रया, अङ्गुल्या=करचरणवयवविशेषेण, शलाकया=कोहादिरचितया, शलाकाहस्तेन=पुञ्जीकृतशलाकाभिर्वा नाऽऽलिखेत्=सकृत् अल्पं वा न संघर्षयेत्. न विलिखेत्=बहुशोऽविरतं विशेषतो वा न घट्टयेत्=चालयेत्, न भिन्द्यात्=न विदारयेत्=न विदीर्णतां नयेत्, तथाऽन्येन=(सूत्रे त्वार्धत्वाद्वितीया) स्वव्यतिरिक्तजनेन नाऽऽलेखयेत्, न विलेखयेत्. न घट्टयेत्=न भेदयेत्, अलिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा अन्यं=व्यत्यन्तरं न समनुजानीयात्=नानुमन्येत, इत्येवं भगवदुपदिष्टाचारपद्धतिसंरक्षणपरायणान्तःकरणोऽहं यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेनेत्यादि पूर्ववत् ।१। ॥१५॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तमपकाययतनामाह—‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि ।

**मूलम्— भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्च-क्खायपावकम्मे दिया वा राजो वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हर—**

खानसें निकलीहुई मृत्तिकारूप पृथ्वीपर, नदी के किनारेकी मिट्टी पर, पत्थरकी शिलापर, मिट्टीके ढेलेपर, सचित्त धूलीसे धूसर काय, चोलपट्ट आदि वस्त्र तथा पात्र पर, अर्थात् इनमेंसे किसी भी पदार्थ पर हाथसे, पैरसे, काष्ठसे, बांस आदिको सटक (छड़ो-खापटो)से; अंगुलीसे, लोहे आदि की बनी हुई छड़से, अथवा बहुतसी छड़ों (सलाइयों)से, न स्वयं एकवार लकीर खींचे, न बार-बार लकीर खींचे अर्थात् इनको न घिसे तथा न हिलावे, न विदारै, न दूसरेसे ये सब क्रियाएँ करावे और न ये सब क्रियाएँ करते हुए अन्यको भला जाने ।

हे गुरुमहाराज ! इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदेश किए हुए आचारकी रक्षा करने में मनको तत्पर रखनेवाला मैं तीन करण तीन योगसे यह सब कार्य नहीं करूँगा ॥१॥१५॥

आणुमांथी नीकणेली माटीरूप पृथ्वी पर, नदीना किनारानी माटी पर पत्थरनी शिला पर, माटीनां ढेकां पर, सचित्त धूणथी धूसरःकाय, चोलपट्टो आदि वस्त्र तथा पात्र पर अर्थात् अमांथां काष्ठ पणु पदार्थ पर हाथथी, पगथी, काष्ठथी वांस आदिनी अपाटथी, आंगणीथी, बाठा आदिनी सणीथी अथवा काष्ठपणु सणीओथी न पोते अेकवार रेणा होरे, न वारंवार रेणा होरे, अर्थात् अेने न घसे तथा न हलावे, न विदारै, न भील्लओ पासे अे अधी क्रियाओ करावे अने न अे अधी क्रियाओ करनारा अन्यने लडो लओ

हे गुरु महाराज ! अे प्रकारे सर्वज्ञ भगवाने उपदेशेला आचारनी रक्षा करवाभां मनने तत्पर राअनारे अेवो हुं त्रणु करणु त्रणु योगथी अे अथां कार्य करीश नडीं. (१)(१५)

तणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमसिज्जा न संफुसिज्जा न आवि-  
लिज्जा, न पविलिज्जा न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आया-  
विज्जा, न पायाविज्जा, अन्नं आमसंतं वा, संफुसंतं वा अवीलंतं  
वा पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पया  
वंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं  
वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजा-  
णामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं  
वोसिरामि ॥२॥१६॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा  
वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स उदकं वा आवश्यक्यं वा हिमं  
वा मिहिकां वा करकं वा हरतनुं वा शुद्धोदकं वा उदकाद्र् वा कायं उदकाद्र् वा वस्त्रं,  
सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं नाऽऽमृशेन्न संस्पृशेन्नाऽऽपीडयेन्न प्रपीडयेन्नास्फो-  
टयेन्न प्रस्फोटयेन्नातापयेन्न प्रतापयेत्, अन्यमामृशन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं  
वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं  
वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि,  
न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ॥२॥१६॥

(२) अप्काययतना.

सान्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे=वर्तमानकालीन सावध व्यापा-  
रोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावध व्यापारोंसे रहित, वर्तमान कालमें भी स्थिति  
और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावध  
व्यापारके त्यागी से=वह पूर्वोक्त भिक्खु वा=साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी दिया  
वा=दिन में राओवा=अथवा रात्रि में एगओ वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें  
स्थित सुत्तेवा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे वहां से = वह उदगं  
वा=जलको हिमं वा=हिमको महियं वा=कुहरे-धुंभर-को करगं वा=ओलेको हरतणुगं  
वा=घास पर बूंद-बूंद पड़ा हुआ जलविशेषको सुद्धोदगं वा=आकाशसे गिरे हुए निर्मल  
जलको (और) उदउल्लं वा=जलसे भीने हुए-गीले कायं=शरीरको उदउल्लं वा वत्थं=  
जलसे भीगे हुए वस्त्रको ससिणिद्धं वा कायं=कुछ-कुछ गीले शरीरको ससिणिद्धं वा  
वत्थं=कुछ-कुछ गीले वस्त्रको न आमसिज्जा=जराभी स्पर्श न करे न संफुसिज्जा=

अधिक स्पर्श न करे, न आवीलिज्जा=पीडित न करे, न पवीलिज्जा=अधिक पीडित न करे, न अक्खोडिज्जा=स्फोटन न करे, न पक्खोडिज्जा=प्रस्फोटन न करे, न आयाविज्जा=तपावे नहीं, न पयाविज्जा=अधिक तपावे नहीं, अन्नं=दूसरेसे न आमुसाविज्जा=जराभी स्पर्श न करावे, न संफुसाविज्जा=अधिक स्पर्श न करावे, न आवीलाविज्जा=पीडित न करावे, न पवीलाविज्जा=अधिक पीडित न करावे, न अक्खोडाविज्जा=स्फोटन न करावे, न पक्खोडाविज्जा=प्रस्फोटन न करावे, न आयाविज्जा=तपवावे नहीं, न पयाविज्जा=अधिक तपवावे नहीं, आमुसंतं वा=जराभी स्पर्श करनेवाले संफुसंतं वा=अधिक स्पर्श करनेवाले आवीलंतं वा=पीडित करनेवाले पवीलंतं वा=अधिक पीडित करनेवाले अक्खोडंतं वा=स्फोटन करनेवाले पक्खोडंतं वा=प्रस्फोटन करनेवाले आयावंतं वा=तपानेवाले पयावंतं वा=अधिक तपानेवाले अन्नं=दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं=कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं=तीन प्रकारके मणेणं=मनसे वायाए=वचनसे काएणं=कायसे न करेमि=न करूंगा, न कारवेमि=न कराऊंगा, करंतंपि = करते हुएभी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि=भला नहीं समझूंगा । भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होता हूँ, निंदामि = आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं - दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको बोसिरामि = त्यागता हूँ ॥२॥१६॥

(२) अप्काययतरा ।

टोका—स भिक्षुर्वेत्यादि पूर्ववत् । उदकं = प्रसङ्गात्कूपादिजलम् भूगर्भोद्गतस्रोतो जलमित्यर्थः, अवश्यायं = मेघमन्तरेण रात्रौ पतितं सूक्ष्मतुषाररूपमपूकायम् । हिमं = शीतत्तौ शीताधिक्येन घनीभूतमपूकायम् - 'बर्फ' इति लोके प्रसिद्धम् । मिहिकां = हेमन्त-शिशिरयोः कदाचित् २ सान्द्रतया धूमवत्प्रतिभासमानस्वरूपां कुञ्जटिकाम् 'धूँअर' इति

अब अप्कायको यतनाका प्रतिपादन करते हैं—'से भिक्खुं' इत्यादि ।

(२) अप्काययतना ।

भिक्षु और भिक्षुकी आदि पदोंका अर्थ पहलेकी भाँति समझना चाहिए । कुएँका पानी अर्थात् भूमिमें सोता (झरना)से निकलनेवाला जल, ओस, पाला, कुहरा (धूँअर), क्षाला (गड़ा), हरतनु (भूमिमें बेद कर गेहूँ आदिके अंकुरोंपर जमनेवाले जलबिन्दु), वर्षाका निर्मल जल, इन

हवे अप्कायनी यतनानुं प्रतिपादन करे छे - 'से भिक्खुं' इत्यादि.

(२) अप्काययतना.

भिक्षु अने भिक्षुकी आदि शब्दोंने अर्थ पड़ेलांनी पेठे समजवे. इवानुं पाणी अर्थात् भूमिमें सोता (झरना)से निकलनेवाला जल, ओस, ठार, आसण, कर, हरतनु (भूमिमें बेदीने घडे) आदिना अंकुरो उपर जमनेवाले जलबिन्दु (अ) परसदेतुं निर्मल



लोकप्रसिद्धाम् । करकं = किरति = क्षरति पानीयमिति करकं = वर्षोपलम् । हरतनुम् = भूमिमुद्भिद्य तृणाङ्कुराद्युपरि बिन्दुरूपेण स्थितमपूकायविशेषम् । शुद्धोदकम् = आकाशात्पतितं स्वभावनिर्मलं सलिलम् । तथा उदकार्द्रं = जलक्लिनं कायं वस्त्रं च । सस्निग्धम् स्निग्धमिति भावत्कान्तम्, स्नेहः = स्निग्धत्वमिति तदर्थस्तेन सह वर्त्तमानं तत् = बिन्दुरहितमीषदार्द्रं कायं वस्त्रं च, स्वयं न आमृशेत् = आ = ईषत् 'आङ्गीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे' इति कोशात्, मृशेत् = स्पृशेत्, न स्पर्शयुक्तं कुर्यादित्यर्थः । न संस्पृशेत् = न सं = प्रकर्षेण स्पृशेत् । नापीडयेत्, न प्रपीडयेत् । नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत् । नाऽऽस्तापयेत्, प्रतापयेत् । शेषं सुगमम् । एषु ('आमृशेत् संस्पृशेत्' इत्यादिषु) सर्वत्र धात्वर्थोऽविशेषेऽप्युपसर्ग (आ. सं. प्र.) कृतवाच्यवैलक्षण्यान्न पौनरुक्त्यदोषावसर इति बोध्यम् ॥२॥१६॥

सम्प्रति तेजस्काययतनामाह—'से भिक्खु वा' इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्खु वा भिक्खुणी वा संजय—विरय—पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा; से अर्गणि वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चि वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा न उज्जालेज्जा न पज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा, अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा, न उज्जालावेज्जा न पज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा, अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा उज्जालंतं वा पज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं

सबको, तथा जलसे बहुत गीला या थोड़ा गीला शरीर या वस्त्र, इन सबको स्वयं एक बार स्पर्श न करे, बार—बार स्पर्श न करे, वस्त्रको एकबार न निचोड़े, बार—बार न निचोड़े, न एकबार झटके न बार—बार झटके, न एकबार धूपमें सुखावे, न बार—बार सुखावे, न ये सब क्रियाएँ दूसरे से करावे, न करते हुएको भला जाने, शेष सुगम है ॥२॥१६॥

७ण अये सर्वाने, तथा ७णथी अहु लीलु अथवा थोडुं लीलुं शरीर या वस्त्र, अये सर्वाने स्वयं अेकवार स्पर्श नही, कइं. वारंवार स्पर्श नही कइं. वस्त्रने अेकवार नही नीथोपुं, वारंवार नहि नीथोपुं, अेकवार नहि आटकुं, वारंवार नहि आटकुं, अेकवार तउकाभां नही सुकापुं, वारंवार नही सुकापुं, नही अे अधी क्रियाअेो थीण पासे न करापुं, अने करनारने नही लोो भाणुं शेष भाग सडेदो छे. (२) (१६)

न समणुजाणामि ! तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि  
अप्पाणं वोसिरामि ॥३॥१७॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरातप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, सः अग्निं वा अङ्गारं वा मुष्पुं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलांतं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यान्नो-ज्जालयेन्न प्रज्जालयेन्न निर्वापयेद्, अन्येन नीत्सेचयेन्न घट्टयेन्न भेदयेन्नोज्ज्वालयेन्न प्रज्जालयेन्न निर्वापयेद् अन्यमुत्सिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा प्रज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्माद् भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥३॥१७॥

(३) तेजस्काययतना.

सान्त्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्ममे=वर्त्तमानकालीन सावद्य व्यापारों से रहित, वर्त्तमान कालमें भी स्थिति और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावद्य व्यापारके त्यागी, से=ब्रह्म पूर्वोक्त भिक्षू वा=साधु भिक्षुणी वा=अथवा साध्वी; दिया वा=दिनमें राओ वा=अथवा रात्रिमें; एगओ वा=अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें स्थित, सुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे, वहां से=ब्रह्म अगणि वा=अग्निको इंगालं वा=अंगारेको मुष्पुं वा=मुष्पुं-भू भूदर-(तुषाग्नि) को अर्चि वा=ज्योति-मूलाग्निसे विच्छिन्न ज्वालाको, जालं वा=मूलाग्निसे अविच्छिन्न जलती हुई ज्वालाको, अलायं वा=जिसका अग्रभाग जल रहा हो ऐसे काठको, सुद्धाग्निं वा=शुद्ध अग्नि-लोहापिण्डमें संबद्ध अग्नि अथवा विजलीरूप अग्निको, उक्कं वा=चिनगारियोंको न उंजेज्जा=इंधन डालकर अग्निको बढ़ावे नहीं, न घट्टेज्जा=चलावे नहीं, न भिंदेज्जा=भेदे नहीं, न उज्जालेज्जा=थोडाभी जलावे नहीं, न पज्जालेज्जा=प्रज्वलित करे नहीं, न निव्वावेज्जा=बुझावे नहीं, अन्नं=दूसरेसे न उंजावेज्जा=बढ़ावे नहीं, न घट्टावेज्जा=बलवावे नहीं, न भिंदावेज्जा=भिदावे नहीं न उज्जालावेज्जा=न जलवावे, न पज्जालावेज्जा=न प्रज्वलित करावे, न निव्वावेज्जा=न बुझावावे, उंजंतं वा=बढानेवाले घट्टंतं वा=चलानेवाले भिंदंतं वा=भेदनेवाले उज्जालंतं वा=जलानेवाले पज्जालंतं वा=प्रज्वलित करनेवाले निव्वावंतं वा=बुझानेवाले अन्नं=दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त ( इसको ) त्रिविहं=कृत-कारित-अनुमोदनारूप तीन करणसे ( तथा ) त्रिविहेणं=तीन प्रकारके मणेणं=मनसे वायाए=वचनसे काएणं = कायसे न करेमि = न कहूंगा, न कारवेमि = न कराऊंगा, करंतंपि=करते हुएको भी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि=भला नहीं समझूंगा । भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होता हूँ, निंदामि =आत्म-

साक्षी से निन्दा करता हूँ, गरिहामि=गुरु साक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं=दण्डसेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि=त्यागता हूँ ॥३॥१७॥

टीका-अग्नि=वह्निम्, अङ्गारं=निधूमज्वालं ज्वलदिन्धनम्, मुम्भुरं=प्रविरलस्फु-  
लिङ्गसंमिश्रभस्मरूपं तुषानलं वा, 'मुम्भुरस्तु तुषानलः' इति वैजयन्तिकोशात्, अजालि-  
ण्डिकाग्निं वा, अर्चिः=मूलाग्निविच्छिन्नां ज्वालाम्, ज्वालां=दह्यमानतृणादिसम्बद्धाऽऽ-  
मूलोद्धर्ववप्रसारितेजोराशिम्, अलातं = ज्वलदग्रभागं काष्ठम्, शुद्धाग्निम् = अयः पिण्डा-  
नुसंबद्धं विद्युदादिरूपं वा, उल्का = मूलवह्निर्विच्छिद्यं समन्तात्प्रसर्पदग्निकणात्मिकाम्,  
(चिनगारी, तडंगिया, इति भाषा) स्वयं न उत्सिञ्चेत्=न तत्रेन्धनादिकं प्रक्षिपेत्, न  
घट्टयेत्=न सञ्चालयेत्, न भिन्धात्=दण्डेष्टकखण्डादिना न स्फोटयेत्, न उज्ज्वालयेत्=  
तालवृन्तादिना सकृदल्पं वा न ध्मापयेत्-न वधयेदित्यर्थः, न प्रज्वालयेत्=सततं बहुशो  
वा न प्रज्वलितं कुर्यात्, न निर्वापयेत्=न विध्यापयेत् न निर्वाणं नयेदित्यर्थः, अन्येन  
न उत्सेचयेदित्यादि सर्वं सुगमम् ॥३॥१७॥

वायुकाययतनामाह—'से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय—विरय पडिहय पच्च—  
क्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा परिसागओ वा एगओ वा  
परिसागओ वा सुत्तेवा जागरमाणेवा, से सिण्ण वा विहुणेण वा

अग्निकायकी यतना कहते हैं—'से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

### (३) तेजस्काययतना ।

अग्नि, अंगारा, भूमल (गर्म राख) बकरीकी लेंडीकी आग, मूलसे टूटी हुई ज्वाला, मूलसे  
अविच्छिन्न ज्वाला, लुआठा (जलती हुई लकड़ी), गर्म लोहेके गोलेकी या चिजलीकी अग्नि, अथवा  
चिनगारी आदिमें स्वयं इन्धन न डाले, न संचालन करे (न संघटा करे), न दंड ईंट आदि से  
उसे भेदे, न पंखा आदिसे एकबार प्रज्वलित करे, न बार-बार प्रज्वलित करे, न बुझावे । न ये  
सब क्रियाएँ दूसरेसे करावे, न करते हुएकी अनुमोदना करे. इत्यादि सब पूर्ववत् ॥३॥१७॥

अग्निकायनी यतना कडे छे—'से भिक्खू वा०' इत्यादि.

### (३) तेजस्काययतना.

अग्नि, अंगारा, गरभ राख, अकरीनी लीं डीनी आग. भूणथी तूटेली ज्वाला,  
भूणथी अविच्छिन्न ज्वाला, अणता लाकडा, गरभ लोखंडना गोणानो अथवा विजणीनो अग्नि,  
अथवा खीणुगारी आदिमां पोते इंधन (अणतणु) नहीं नांणे, नहीं संचालन करे (नहीं  
संघटन करे), नहीं दंड के ईंट आदिथी तेने लेहे, नहीं पंखा वगेरेथी तेने ओकवार  
प्रज्वलित करे नहीं बार-बार प्रज्वलित करे, नहीं बुझावे, नहीं ओ अधी क्रियाओ  
भीण पासे करावे नहीं, करनारनी नहीं अनुमोदना करे इत्यादि पूर्ववत् (३) (१७)

ताल्लिअंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकन्नेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पुग्गलं न फुमेज्जा न वीएज्जा, अन्नं न फुसावेज्जा न वीआवेज्जा, अन्नं फुमंतं वा वीअंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेणं वायाए काएणं न करेमि. न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंत ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥४॥१८॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा जाग्रद्रा, स सितेन वा विधूननेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा पत्रभङ्गेन वा शाखया वा पिहुनेन वा पिहुनहस्तेन वा चैलेन वा चैलकर्णेन वा हस्तेन मुखेन वा, आत्मनो वा कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलं न फूत्कुर्यात्, न वीजयेत्, अन्येन न फूत्कारयेन्न वीजयेद्, अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा वीजयन्तं वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥४॥१८॥

(४) वायुकाययतना.

सान्वायार्थः—संजयविरयपडिहयपञ्चखायपावकम्मे=वर्त्तमानकालीन सावद्य व्यापारोंसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावद्य व्यापारोंसे रहित, वर्त्तमान कालमें भी स्थिति और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावद्य व्यापारके त्यागी से = वह पूर्वोक्त भिक्षु वा= साधु भिक्षुणी वा=अथवा साध्वी दिया वा=दिनमें राओ वा=अथवा रात्रिमें एगओ वा अकेला परिसागओ वा=अथवा संघमें स्थित मुत्ते वा=सोया हुआ जागरमाणे वा=अथवा जागता हुआ रहे, वहाँ से=वह सिएण वा=चामरसे, विहुणेणवा=पंखेसे, ताल्लिअंटेण वा ताडके पंखेसे पत्तेण वा=पत्तेसे, पत्तभंगेण वा=बहुतसे पत्तोंसे, साहाए वा=शाखा-डाली-से, साहाभंगेण वा=शाखाके खण्डसे, पिहुणेण वा मोरपीछीसे, पिहुणहत्थेण वा=मोरपीछियोंके समूहसे, चेलेण वा कपडेसे, चेलकण्णेण वा=कपडेके छोर-पल्ले से, हत्थेण वा=हाथसे, मुहेणवा=मुखसे, अप्पाणो वा=अपने कायं=शरीरको, वा=अथवा बाहिरं वि पुग्गलं=बाहरी पुद्गलोंको भी न फुमेज्जा=फूक न मारे, न वीएज्जा=चँवर आदिसे हवा न करे, अन्नं=दूसरेसे न फुसावेज्जा=फूक न मरावे, न वीआवेज्जा=हवा न करावे, फुमंतं वा=फूंकनेवाले वीअंतं वा=हवा करनेवाले अन्नं=दूसरेको न समणुजाणिज्जा=भला न समझे । जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं=कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेण=तीन प्रकार

के मणेणं=मतसे वायाए=वचनसे काएणं=कायसे न करेमि=न करूंगा, न कारवेमि=न कराऊंगा, करंतंपि=करते हुए भी अन्नं=दूसरेको न समणुजाणामि= भला नहीं समझूंगा । भंते !=हे भगवन् ! तस्स=उस दण्डसे पडिक्कमामि=पृथक् होता हूँ, निंदामि=आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि=गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं=दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको बोसिरामि=त्यागता हूँ ॥४॥१८॥

### (४) वायुकाययतना ।

टीका-सितेन=चामरेण श्वेतत्वगुणवच्चेनोपचारात् , विधूननेन=बीजनकेन, तालवृन्तेन=ताले = करतले = वृन्तं = बन्धनमस्येति, तालस्येव वृन्तमस्येति, ताडयते = करादिनाऽऽहन्यत इति तालम् , उभयोरेकत्वस्मणात्, तादृशं वृन्तं यस्येति वा तालवृन्तं=तालपत्रादिरचितं व्यजनं तेन, उपलक्षणमिदं विद्युद्व्यजनादीनामपि, पत्रेण = कमलिनीदलादिना, पत्रभङ्गेन = दलशकलेन, शाखया = वृक्षभुजया, शाखाभङ्गेन = तदेकदेशेन, पिहुनेन = बर्हिबर्हेण (मयूरपिच्छेन) पिहुनइस्तेन = पुञ्जीकृतमयूरपिच्छेन' चैलेन = वस्त्रेण, चैलकर्णेन = अञ्चलेन (वस्त्रप्रान्तेन) हस्तेन = करेण, मुखेन = वदनेन, आत्मनः= स्वस्य कायं = शरीरं बाह्यमपि पुद्गलम् = उष्णदुग्धादिकं वा स्वयं न फूत्कुर्यात् न मुखेन धमेत् , न बीजयेत् = चामरादिना वातं न सञ्चालयेत् , अन्येन वा न फूत्कारयेत् , इत्याद्यन्यत्सुबोधम् ॥४॥१८॥

वायुकायकी यतना कहते हैं—'से भिक्खु वा०' इत्यादि ।

### (४) वायुकाययतना ।

चाँवरसे, पंखेसे, ताड़के बने हुए पंखेसे अथा अन्य बिजली आदिके किसी प्रकार के पंखेसे, कमल आदिके पत्तेसे, पत्तेके टुकड़ेसे, वृक्षकी शाखासे, शाखाके खण्डसे, मयूरके पिच्छसे मयूरके बहुतसे पिच्छोंसे, वस्त्रसे, वस्त्रके पल्ले (छोर) से, हाथसे, मुखसे, अपने शरीरको तथा अन्य गरम दूध आदि पुद्गलोंको न स्वयं फूँके न चाँवर आदिसे बीजे-वायुका संचालन करे, न दूसरेसे फूँकावे, न बीजावे, न फूँकते हुए तथा बीजते हुए अन्यको भला जाने, इत्यादि सुगम ही है ॥

वायुकायनी यतना कडे छे—'से-भिक्खू वा०' इत्यादि

### (४) वायुकाययतना.

आमरथी, पंभाथी, ताडना अनावेला पंभाथी अथवा अन्य विग्रणी आदिना कोष्ठ प्रकारना पंभाथी, कुमण आदिनां पांडडाथी, पांडडाना टुकडाथी, वृक्षनी शाभाथी, शाभाना भंडथी, मयूरना पिच्छथी, मयूरना अनेक पीछांथी, वस्त्रथी, वस्त्रना छेडाथी, हाथथी, मुण्ठथी, पोताना शरीरने, तथा भीष्ण गरम दूध आदि पुद्गलोंने नहि स्वयं फूँके नही आमर आदिथी वीजे-वायुतुं संचालन करे नही, नहि भीष्ण पांसे फूँकावे, तथा फूँकनार तथा वीजनार अन्यने लडो लडो नही. इत्यादि सरल छे. (४) (१८)

वनस्पतिकाययतनामाह—‘से भिक्खू वा०’ इत्यादि

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय पडिह  
य पच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसा  
गता वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से बीएण वा बीयपइट्ठेसु वा  
रूढेसु वा रूढपइट्ठेसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिणसु वा  
हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सचित्तेसु वा सचि-  
त्तकोलपडिनिस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसी  
इज्जा न तुयट्टिज्जा, अन्नं न गच्छाविज्जा न चिट्ठाविज्जा न  
निसीयाविज्जा न तुयट्ठाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसी  
यंतं वा तुयट्ठंतं वा न समणुजाणिज्जा । जावज्जोवाए तिवि तिहं  
विहेणं मणेणं वायोए काएणं न करेमि न कारवेमि कंतंपि अन्नं  
न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि  
अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥ १९ ॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा  
रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा, स बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा  
रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा  
छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्चितेषु वा न गच्छेन्नति-  
ष्ठेन्न निषीदेन्न त्वग्वर्त्तयेत् , अन्यं न गमयेन्न स्थापयेन्न निषादयेन्न त्वग्वर्त्तयेत् , अन्यं  
गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा त्वग्वर्त्तयन्तं वा न समनुजानीयात् । यावज्जीवया  
त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजा-  
नामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गहं आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥ १९ ॥

(५) वनस्पतिकाययतना.

सान्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे = वर्त्तमानकालीन सावद्य  
व्यापारोसे रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावद्य व्यापारोसे रहित, वर्त्तमान काल में स्थिति  
और अनुभागकी न्यूनता करके, तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके सावद्य  
व्यापारके त्यागी से = वह पूर्वोक्त भिक्खू वा = साधु भिक्खुणी वा = अथवा साध्वी दिया  
वा = दिनमें, राओ वा = अथवा रात्रिमें, एगओ वा = अकेला परिसागओ वा = अथवा  
संघमें स्थित सुत्ते वा = सोया हुआ जागरमाणे वा = अथवा जागता हुआ रहे, वहाँ से =

वह बीएसु वा = शालि आदि बीजों पर, बीयपइट्टेसु वा = बीजों पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, रूढेसु वा = अङ्कुरित वनस्पति पर रूढ पइट्टिएसु वा = अङ्कुरित वनस्पति पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, जाएसु वा = पत्ते आनेकी अवस्थावाली वनस्पति पर, जायपइट्टेसु वा = पत्ते आनेकी अवस्थावाली वनस्पति पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, हरिएसु वा = हरित पर, हरियपइट्टेसु वा = हरित पर रखे हुए शयन आसन आदि पर, छिन्नेसु वा = कटे हुए हरित पर छिन्नपइट्टेसु वा = कटे हुए हरित पर रखे हुए शयन आसन पर स चित्तसु वा = फिर अन्य सचित्त अण्डा आदि सहित वनस्पति पर, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा = घुने हुए-सड़े हुए काठ पर न गच्छेज्जा = गमन न करे, न चिट्टेज्जा = न खड़ा होवे न निसी-इज्जा = न बैठे, न तुअट्टिज्जा = न सोवे, अन्नं = दूसरेको न गच्छावेज्जा = न चलावे न चिट्ठावेज्जा = न खड़ा करे न निसीयावेज्जा = न बैठावे, न तुअट्टाविज्जा = न सुलावे, गच्छंतं वा = सोते हुए अन्नं = दूसरेको न समणुजाणेज्जा = भला न जाने । जावज्जी-वाए = जीवनपर्यन्त (इसको) तिविहं = कृत कारित अनुमोदनारूप तीन करणसे (तथा) तिविहेणं = तीन प्रकारके मणेणं = मनसे वायाए = वचनसे काएणं = कायासे नकरेमि न कळंगा न कारवेमि न कराऊंगा, करंतं पि = करते हुए भी अन्नं = दूसरेको न समणु जानामि = भला नहीं समझंगा भंते ! हे भगवन् ! तस्स = उस दण्डसे पडिकमामि = पृथक् होता हूँ, निंदामि = आमसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, गरिहामि = गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, अप्पाणं = दण्ड सेवन करनेवाले आत्माको वोसिरामि = त्यागता हूँ ॥५॥१९॥

#### (५) वनस्पतिकाययतना.

टोका—बीजेसु = शाल्यादिषु, बीजप्रतिष्ठितेषु = बीजोपरिस्थितेषु शयनाऽऽसना-दिषु, एवमग्रेऽपि प्रतिष्ठितपदव्याख्या कार्या, रूढेसु = अङ्कुरितेषु, जातेषु = प्ररोहणान-न्तरकालिकावस्थां सम्प्राप्तेषु पत्रितेष्वित्यर्थः, हरितेषु = कीरमयूरपक्षसच्छायतां गतेषु, छिन्नेषु = कुठारादिना संछिद्य पृथक्कृतेषु आर्द्रेषु = सचित्तेषु = अन्येष्वपि सजीवाण्डा-

वनस्पतिकायकी यतना कहते हैं—से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

#### (५) वनस्पतिकाययतना

शालि आदि बीजों पर, बीजों पर रखे हुए शयना आसन आदि पर, अंकुरों पर अंकुरोंपर रखे हुए शयन आदि पर, अंकुर अवस्थाके पश्चात् पत्रित अवस्थाको प्राप्त वनस्पतिपर, अथवा उसपर रखे हुए शयन आदिपर, कटो हुई वनस्पतिपर, हरी वनस्पतिपर, तथा इनके सिवाय

वनस्पतिकायकी यतना कहे छे—से भिक्खू वा० इत्यादि.

#### (५) वनस्पतिकाययतना.

डांगर आदि धीजे पर, धीजे पर भूकेलां शयना आसन आदि पर, अंकुरों पर, अंकुरों पर भूकेलां शयनादि पर, अंकुर अवस्था पक्षी पत्रित अवस्थाने प्राप्त थय्येदी वनस्पति पर, अथवा ते पर भूकेलां शयनादि पर, कोपेली वनस्पति पर, लीली वनस्पति

दिषु, सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु=सचित्तैः सचेतनैः, कोलैः=घुणैः प्रतिनिश्रितेषु=आश्रितेषु जीवद्घुणयुक्तकाष्ठादिष्वित्यर्थः, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषोदेत्=नोपविशेत्, न त्वग्वर्त्तयेत्=वर्त्तनं वर्त्तः=परिवर्त्तनम् (भावे घञ्) त्वचः=त्वगिन्द्रियस्य शरीरस्येत्यर्थात् वर्त्तः त्वग्वर्त्तः=वामपार्श्वतः परावृत्त्य दक्षिण पार्श्वेन दक्षिणपार्श्वतः परावृत्त्य वामपार्श्वेन वा स्वपनम्, त्वग्वर्त्तं करोति त्वग्वर्त्तयति (त्वग्वर्त्तशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि टिलोपे धातुत्वाल्लडादयः) तस्य विधौ त्वग्वर्त्तयेत्=सुप्यादित्यर्थः ॥५॥१९॥

अथ त्रसकाययतनामाह—'भिक्षू वा०' इत्यादि ।

मूलम्—से भिक्षू वा भिक्षुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवी-लियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुच्छ-णंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पम-ज्जिय एगंतमवणेज्जा नो संघायमावज्जेज्जा ॥६॥२०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स, कीटं वा पतङ्गं वा कुंथुं वा पिपी-लिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा पात्रे वा कम्बले वा पादप्रोच्छनके वा रजोहरणे वा गोच्छे वा उन्दके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा

सजीव अन्डा आदि पर, घुने (सुले) हुए काष्ठ आदिपर न स्वयं गमन करे, न खड़ा होवे, न बैठे, तथा बाँयाँ पसवाड़ा बदलकर दाहिने पसवाड़ेसे और न दाहिना पसवाड़ा बदलकर बायें पसवाड़े से सोवे अर्थात् पसवाड़ा न बदले, ये सब क्रियाएँ दूसरे से भी न करावे, न करते हुए को भला जाने । इसलिए तीन करण तीन योगसे इनका त्याग करता हूँ, इत्यादि व्याख्यान पूर्ववत् ॥५॥१९॥

पर तथा अये उपरांत सल्लव छंडां आदि पर, सडेला काष्ठ आदि पर नडि ह्नुं स्वयं गमन करे, नडीं उलो रहुं, नडीं भेसुं, तथा डालुं पडयुं अहलीने जमणे पडणे अने जमणुं पडयुं अहलीने डामे पडणे नडीं स्युं अर्थात् पडया नडीं अहलुं, अये अधी क्रियाअो पील पासे नडीं करावुं, नडीं करनारने ललो जालुं. अये रीते त्रयु करण त्रयु योगथी अने त्याग करे ह्नुं धत्यादि व्याख्यान पूर्ववत् (५) (१६)



शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयत एव प्रत्यु-  
पेक्ष्यर प्रमृज्यर एकान्तेऽपनयेन्नैनं संघातमापादयेत् ॥६॥२०॥

(६) त्रसकाययतना.

सान्त्वयार्थः—संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे = वर्त्तमानकालीन सावध  
व्यापारों से रहित, भूत-भविष्यत्कालीन सावध व्यापारोंसे रहित, वर्त्तमान कालमें भी  
स्थिति और अनुभागकी न्यूनता करके तथा पहले किये हुए अतिचारोंकी निन्दा करके  
सावध व्यापारके त्यागी से=वह पूर्वोक्त भिक्खू वा=साधु भिक्खुणी वा=अथवा साध्वी  
दिया वा=दिनमें राओ वा = अथवा रात्रिमें एगओ वा अकेला परिसागओ वा=अथवा  
संघमें स्थित सुत्ते वा=सोया हुआ अथवा जागरमाणे वा = जागता हुआ रहे, वहां से=वह  
कीडं वा = कीडेको पयंगं वा = पतंगेको कुंथुवा = कुंथुवाको पिवीअियं वा = कीड़ी-  
चिऊंटीको हत्थंसि वा हाथ पर पायंसि वा = पैरपर बाहुंसि वा = भुजापर ऊरंसि वा=  
जांघपर उदरंसि वा = पेट पर सीसंसि वा = सिरपर वत्थंसि वा = वस्त्रपर पडिगहंसि  
वा = पात्रपर कंबलंसि वा = कम्बल पर पायपुच्छणंसि वा = पैर पोंछनेके उपकरणवि-  
शेष पर रयहरणंसि वा = रजोहरण पर गोच्छगंसि वा = पूजनी पर उंडगंसि वा = स्थ-  
ण्डिलपात्र पर दंडगंसि वा = दंड पर पीढगंसि वा = चौकी पर फलगंसि वा = पाठे पर  
सेज्जंसि वा = शरीरपरिमित शयन करनेके उपकरण पर संथारगंसि वा = संस्तारक-साढे  
तीन हाथ परिमित बिछौने पर (अथवा) अन्नयरंसि वा = फिर दूसरे तहप्पगारे = इसी  
प्रकार के उवगरणजाए = उपकरणों पर (लगे हुए पूर्वोक्त कीडे आदिको) तओ = उस  
स्थान-हाथ पैर आदिसे संजयामेव = यतनाके साथही पडिलेहियर = बार-बार प्रति-  
लेखन करके पमज्जियर = बार-बार पूंजकर एगंतं = एकान्त-निरुपद्रव स्थान-में अव-  
णेज्जा = ले जाकर रखदे. (किन्तु उनको) नो णं संघायमावज्जेज्जा = एकट्ठा न करे ॥२०॥

(६) त्रसकाययतना ।

टीका-हस्ते, पादे, बाहौ, ऊरौ = जानूपरिभागे, उदरे, शीर्षे, वस्त्रे = मुख-वस्त्रि-  
काचोलपट्टादौ, प्रतिग्रहे = प्रतिगृह्णाति = आधत्ते स्वस्मिन् भक्तपानादिकमिति प्रतिग्रहः

अब त्रसकायकी यतना कहते हैं—'से भिक्खू वा०' इत्यादि ।

(६) त्रसकाययतना ।

हाथ, पैर, भुजा, जांघ, उदर, मस्तक, मुखवस्त्रिका, चोलपट्ट आदि वस्त्र, पात्र, कम्बल,  
पाद-प्रोच्छन=पैर पोंछने का वस्त्रखण्ड, रजोहरण, गोळा=पूजनी (पैरोंमें लगी हुई रजको पोंछने

हुवे त्रसकायनी यतना कडे छे- 'से भिक्खू वा०' इत्यादि.

(६) त्रसकाययतना.

हाथ, भुजा, लुम्ब, नाभ, उदर, मस्तक, मुखवस्त्रिका, शोणपट्टा आदि वस्त्र पात्र,  
कामणी, पगळुंछलुं, रणेडरखु, पूंजणी, स्थण्डिलपात्र, वृद्धावस्थाआदिने कारणे थालवाभां  
२९

= पात्रं तस्मिन्, कम्बले, पादप्रोञ्चने = प्रोञ्चयते = प्रमृज्यतेऽनेनेति प्रोञ्चनं = प्रमार्जनसाधनम्, पादयोः प्रोञ्चनं = पादप्रोञ्चनं तस्मिन् = पादप्रोञ्चन-साधने वस्त्रखण्डे, रजोहरणे, गोच्छे सचित्ररजः-संसृष्टचरणप्रमार्जनिकाम् 'पूँजनी' इति भाषा-प्रसिद्धाम्, उण्डके = स्थण्डिलपात्रे, दण्डे वृद्धत्वादिना प्रस्थानविप्लवगतिभिरवलम्बनाय धार्यमाणे, नान्यथा, "थेराणं थेरभूमिपत्तानं कप्पइ दंडए वा" इत्यादिना स्थविर-स्थविरभूमिप्राप्तातिरिक्तमुनीनां दण्डाग्राह्यत्वस्य भगवता स्पष्टं प्रतिपादितत्वात्, पीठके = काष्ठनिर्मितचतुरस्राद्यासनविशेषे 'चौकी, चौरंग' इति-भाषाप्रसिद्धे, फलके = शयनोपयोगि काष्ठविरचितपट्टादिरूपे, शय्यायां = शयनोपकरणरूपायां वसतौ वा, अस्या अपि धर्मोपकरणत्वात्, संस्तारके = संस्तार्यते=विस्तार्यते शयनार्थिभिरिति संस्तारः (सं+स्तृञः कर्मणि घञ्) स एव संस्तारकः = (स्वार्थिकः कः) अर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणस्तस्मिन्, दर्भादिनिर्मितास्तरणे इत्यर्थः । अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे = तत्सदृशे संयमोपयोगिनि उपकरणजाते = उपक्रियन्ते = उपयुज्यन्ते संयमादिदाढ्यकृते यानि तान्युपकरणानि-साधूनां संयमसाधनाङ्गीभूतोपकारकवस्त्रपात्रादीनि तेषां जातं = समूहस्तस्मिन् उपकरणमात्रे इत्यर्थः, समापतितं कीटादिकत्रसजीवम्, ततःतस्मात् हस्तादेः स्थानात् संयत एव=सम्यग् यतमान एव 'संजयामेव' इति मूलपाठे आर्षत्वाद्दीर्घो मकारश्च, प्रतिलेख्यर=प्रत्यवेक्ष्यर सम्यगवलोक्येत्यर्थः, प्रमृज्यर = पौनः पुन्येन प्रमार्जनिकादिद्वारा निस्सार्य एकान्ते = निरुपद्रवस्थाने अपनयेत् = नीत्वा स्थापयेत् किन्तु संघातम् = एकत्र पुञ्जीकरणेन पीडाजनकपरस्परशरीरसंघर्षकारणदृढसंयोगं सामान्येन सम्मेलनं वा नो = नैव आपादयेत् = संप्रापयेत्

का उपकरण), स्थण्डिलपात्र, वृद्धावस्था आदि के कारण गमन करनेमें असमर्थ मुनिके (चलनेमें) सहायक दण्ड, क्योंकि भगवानने "स्थविर और स्थविरभूमिको प्राप्त मुनियोंको ही दण्ड धारण करना कल्पनीय है" ऐसा कहा है, अन्यको दण्ड धारण करना मना है । अत एव उनके द्वारा गृहीत दण्ड पर तथा चौकी पाटा (पट्ट) शय्या अर्थात् उपाश्रय, क्योंकि यह भी एक धर्मोपकरण है, संस्तारक अर्थात् दर्भ आदिका बिछौना, तथा संयममें उपयोगी इस प्रकार का अन्य कोई उपकरण, इन सबमें कीट आदि त्रस जन्तु हों तो उन्हें संयमी स्वयं सम्यक् प्रकार प्रतिलेखन करके बार-बार पूँजनी आदिसे पूँजकर बाधारहित एकान्त स्थानमें यतनासे रक्खें, किन्तु उन्हें

असमर्थ मुनिने सहायक एवे दंड, कारण के लगवाने "स्थविर अने स्थविर (मुनिने प्राप्त मुनिअने भाटे न दंड धारण कल्पनीय छे" एवुं कल्लुं छे, अन्यने दंड धारणुनी भनार्थ छे, अटले अभणु धारणु करेला दंड पर, तथा चौकी, पाटा, शय्या अर्थात् उपाश्रय कारण के ए पणु अके धर्मोपकरणु छे संस्तारक अर्थात् दर्भ आदिनुं भिछानुं, तथा संयममां उपयोगी अे प्रकारना अन्य केअ उपकरणु, अे सर्वमां कीडी-कीडा आदि त्रस न्तु डोय तो तेने संयमी स्वयं सम्यक् प्रकारे प्रतिलेखन करीने वारंवार पूँजणी आदिथी पूँजने आधारहित एकान्त स्थानमां यतनाथी भूके, परन्तु अेने अेकठां करीने न राणे,

‘ण’-मिति वाक्चालङ्कारे । ‘संघातो दृढसंयोगः’ इति वाचस्पत्यम् । यत्तु केचित्-एकान्तप्रदेशे रक्षार्थं त्रसजीवानां स्थापने साधूनामसंयतिवैयावृच्यदोषेण महाव्रतभङ्गो भवतीत्याहुस्तदेतद्भगवदाज्ञाविरुद्धम्, अनेनापि सूत्रेण धर्मोपकरणस्थानां त्रसजीवानां निरुपद्रवप्रदेशे रक्षार्थं यतनया स्थापनविधानात् ॥६॥ ॥२०॥

इत्येवं षट्काययतनामभिधाय सम्प्रति तदपरिपालनपरिणामदारुणत्वं वर्णयते-‘अजयं चरमाणो’ इत्यादि ।

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं. तं से होइ कडुयं फलं ॥१॥

छाया—अयतं चरंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥१॥

यतना न पालन करने का बुरा फल कहते हैं—

सान्वयार्थः—अजयं= अयतनापूर्वक चरमाणो=गमन करता हुआ साधु पाणभूयाइं = त्रस स्यावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई = बांधता है, तं = उस कारण से=उस पाप कर्मका फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ = होता है ॥१॥

इकट्टा करके न रक्खें, क्योंकि ऐसा करनेसे उनको पीड़ा होने की संभावना है । कितनेक कहते हैं कि—रक्षाके लिए त्रस जीवको एकान्त स्थानमें रखनेमें साधुको असंयति की वैयावच करनेरूप दोष लगता है और उससे महाव्रतका भंग होता है । यह उनका कहना भगवानकी आज्ञासे विरुद्ध है, क्योंकि इस सूत्रसे भगवानने स्पष्ट विधान किया है कि धर्मोपकरणमें स्थित त्रस जीवोंको रक्षा के लिए निरुपद्रव स्थानमें यतनासे रखना चाहिये ॥६॥ ॥२०॥

इस प्रकार षट्कायकी यतना कहकर “उसकी रक्षा नहीं करनेसे भयंकर परिणाम होता है” इस बातका उपदेश देते हैं—‘अजयं चरमाणो’ इत्यादि ।

यतना रहित गमन करनेवाला संयत (साधु) द्वीन्द्रिय आदि प्राणोंकी तथा एकेन्द्रिय पृथ्वी-काय आदि भूतोंकी अर्थात् त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, और ज्ञानावरणीयादि पाप

कारणु के ओम करवाथी तेमने पीडा थवानी संभावना रहे छे. डेटलाडे कडे छे के रक्षाने माटे त्रस लुवने ओकांत स्थानमां राखवामां साधुने असंयतिनी वैयावच्य करवा इप होप लागे छे अने तेथी महाव्रतनेा लंग थाय छे. ओमनुं ओवुं कथन भगवाननी आज्ञाथी विरुद्ध छे, कारणु के आ सूत्रथी भगवाने स्पष्ट विधान कयुं छे के धर्मोपकरणमां स्थित त्रस लुवानी रक्षाने माटे निरुपद्रव स्थानमां यतनाथी तेमने भूकवा ओधओ. (६) (२०)

ओ रीते षट्कायनी यतना कहीने ‘ओमनी रक्षा नाहु करवाथी भयंकर परिणाम आवे छे, ओ वातनेा उपदेश आपे छे—अजयं चरमाणो इत्यादि.

यतनारहितपणु गमन करनार संयत (साधु) द्वीन्द्रिय आदि प्राणुनी तथा ओकेन्द्रिय पृथ्वीकाय आदि भूतानी अर्थात् त्रस अने स्थावर लुवानी हिंसा करे छे अने ज्ञानावरणी-

टीका—अयतं=यतनारहितं यथास्यात्तथा चरन्=गच्छन् 'संयतः' इति शेषः, प्राण-भूतानि=प्राणन्तीति प्राणः=उच्छ्वासादिमन्तो द्वीन्द्रियप्रभृत यो जीवाः; भूतानि=भवन-शीला एकेन्द्रिया पृथिव्यादयः, प्राणाश्च भूतानि चेति प्राणभूतानि (द्वन्द्वत्वात्परवल्लिङ्गता) तानि=त्रसस्थावराणीत्यर्थः, हिनस्ति=हन्ति, च=तथा पापकं = पं = पङ्किलमर्थान्मलिनं भावमापयति, = प्रापयतीति, पं = क्षेमम् आ = समन्तात् पिबति = नाशयतीति, पानं-पास्तमर्थात्प्राणिनामात्मानन्दरसपानम् आप्नोति प्राप्नोति = गृह्णातीति, नरकादिकुगतिषु जीवनं पातयतीति, कर्मरजोभिरात्मानं पांशयति' = मलिनयतीति वा पापं तदेव पापकं = (कुत्सायां कन्) ज्ञानावरणीयादि, कर्म = तत्सम्बन्धयतिस्वक्ष्मपुद्गलसञ्चयं बन्धाति = उपार्जयति, तत् = तेन हेतुना, तस्य = पापकर्मणः फलं = परिणतिः कटुकं = दुःखदम्, यद्वा 'कटुकफल' मिति च्छाया, तत् = पापकर्म तस्य अयतनया गच्छतः कटुकफलं = कटुकम् अनिष्टं फलं = परिणामो यस्य तत् अशुभफलप्रदमित्यर्थः, भवति=जायते । अत्र पक्षे 'कटुक'-मित्यत्रानुस्वार आर्षत्वात् ॥१॥

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं चिद्वमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥२॥

छाया—अयतं तिष्ठंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बन्धाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥२॥

सान्न्वयार्थः अजयं = अयतनापूर्वकं चिद्वमाणो = खड़ा होता हुआ साधु पाणभू-

कर्मका उपार्ज करता है । पाप (१) मलिनताको प्राप्त कराता है, (२) नरक आदि अधोगतिमें पहुँचाता है, (३) आत्माके हितका नाश करता है, (४) प्राणियों के आत्मिक आनन्द रसको सुखा डालता है, (५) आत्माको कर्मरूपी रजसे मलिन कर देता है, इसलिए उसे पाप कहते हैं । अर्थात् अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करनेसे जीवोंकी हिंसा होती है, और ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मोंका बन्ध भी होता है, और उस पापकर्मका परिणाम दुःखदायी होता है, तथा उसका कडुआ फल भोगना पड़ता है ॥१॥

याहि पापकर्मनुं उपार्जन करे छे. पाप-(१) मलिनताने प्राप्त करावे छे, (२) नरक याहि अधोगतिमां पहुँचावे छे, (३) आत्माना हितने नाश करे छे, (४) प्राणीओना आत्मिक आनन्द रसने सुखापी नांजे छे. (५) आत्माने कर्मरूपी रजसी मलिन करी नांजे छे, तेथी तेने पाप कडे छे. अर्थात् अयतनापूर्वक प्रवृत्ति करवाथी लोवोनी हिंसा थाय छे. अने ज्ञानावरणीय याहि अशुभ कर्मेना अंध पण उत्पन्न थाय छे. ओ पापकर्मनुं परिष्णाम दुःखदायी आवे छे, तथा ओनां कडवां इण भोगववां पडे छे. (१)

१ पांशयति = पांशु-धूलिः, 'पांशुर्नां न द्वयो रजः' इत्यमरः' सोऽस्यास्तोति पांशुमान् पांशुमन्तं करोति पांशयति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिबीष्ठवद्भावात् 'विम्मतोऽलुङ्' इति मनुषो लुक्' ततश्चलोपः ।

याइं = त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसइ = हिंसा करता है य = और पावयं कम्मं = पाप कर्म-  
को बंधई = बांधता है, तं = उस कारण से = पापकर्म का फलं = फल कडुयं = दुःखदा-  
यी होइ = होता है ॥२॥

टीका—‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि । अयतं = यतनारहितं तिष्ठन् = करचरणा-  
दिप्रसारणेनाऽनवहितं दण्डवद्धूर्ध्वावस्थानं कुर्वन् । प्राग्बद्धचारुयेयम् ॥२॥

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं आसमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३॥

छाया—अयतमासीनश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कडुकं फलम् ॥३॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वक आसमाणो=बैठता हुआ साधु पाणभूयाइं=त्रस-  
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=बांधता  
है, तं=उस कारण से=उस पापकर्म का फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥३॥

टीका—‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि । अयतमासीनः=प्रमार्जनं विनाऽनुपयुक्तोऽनवहित  
उपविशन्नित्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥३॥

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं सयमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४॥

छाया—अयतं स्वपंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कडुकं फलम् ॥४॥

सान्त्वयार्थः—अजयं=अयतना पूर्वक सयमाणो=सोता हुआ साधु पाणभूयाइं=त्रस-  
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=बांधता  
है, तं=उस कारण उस पापकर्म का फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥४॥

टीका—‘अजयं सयमाणो’ इत्यादि अयतं स्वपन्=शय्या प्रमार्जनादिकं विना  
प्रकामशय्यादिना दिवसे वा शयानः । शेषं पूर्ववत् ॥४॥

‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि । अयतनापूर्वक सड़ा होने, से पापकर्म बंधता है और उसका कडुआ  
फल होता ॥२॥

‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि । भूमि आदिकी विना प्रमार्जना किये ही अयतनापूर्वक बैठनेसे  
पापकर्म बंधता है और उसका कडुआ फल होता है ॥३॥

‘अजयं चिट्टमाणो’ इत्यादि. अयतनापूर्वक हुआ रहनेवाली पापकर्म अंधाय छे अने  
तेनां कडुवां इण अ वे छे (२)

‘अजयं आसमाणो’ इत्यादि. भूमि आदिनी प्रमार्जना कर्था विना अयतनापूर्वक बैठनेवाली  
पापकर्म अंधाय छे, अने तेनां कडुवां इण भणे छे. (३)

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं भुंजमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥५॥

छाशा—अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥५॥

सान्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वकं भुंजमाणो=खाता हुआ साधु पाणभूयाइं=त्रस-  
स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पाप-कर्मको बंधता है, तं=  
उस कारण से=उस पापकर्मका फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ=होता है ॥५॥

टीका—‘अजयं भुंजमाणो’ इत्यादि । अयतं भुञ्जानः=यथाकल्पलब्धान्त प्रान्ता-  
द्याहारं संयोजनादिमण्डलदोषापरिहारेण चपड़-चपड़-शब्दपूर्वकमभ्यवहरन् । अन्यत् सुबो-  
धम् ॥५॥

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।

८ ६ ७ ९ १० १३ १२ ११  
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥६॥

छाया—अयतं भाषमाणश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।

बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥६॥

सान्वयार्थः—अजयं=अयतना-पूर्वकं= भासमाणो=बोलता हुआ साधु पाणभूयाइं=  
त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसइ=हिंसा करता है, य=और पावयं कम्मं=पापकर्मको बंधई=  
बांधता है, तं=उस कारण से=उस पापकर्मके फलं=फल कडुयं=दुःखदायी होइ =होता  
है ॥६॥

टीका—‘अजयं भासमाणो’ । इत्यादि । अयतं भाषमाणः=अयतनया ब्रुवन् ।  
ननु यतनापूर्वकभाषणार्थमेव मुनिर्मुखवस्त्रिकां बध्नातीति तं प्रति पुनरयं विधि-

‘अजयं सयमाणो’ इत्यादि । अयतनासे अर्थात् शय्याकी प्रमार्जना न करके शयन करनेसे  
पापकर्म बंधता है और उसका कडुआ फल होता है ॥४॥

‘अजयं भुंजमाणो’ इत्यादि । साधुके कल्पके अनुसार प्राप्त हुए आहारका संयोजना आदि  
मण्डल दोषोंका परित्याग न करके ‘चपड़-चपड़’ आदि शब्द करते हुए भोजन करनेसे पापकर्म  
बंधता है और उसका फल कडुआ होता है ॥५॥

‘अजयं भासमाणो’ इत्यादि । अयतनापूर्वकं भाषण करनेसे हिंसा होती है और पापकर्मका

अजयं सयमाणो इत्यादि. अयतनाथी अर्थात् शय्याकी प्रमार्जना कर्त्वा विना शयन  
करवाथी पापकर्म अंधाय छे अने अनेनां कडवां इण भणे छे. (४)

अजयं भुंजमाणो इत्यादि. साधुना कल्पने अनुसार प्राप्त थयेला आहारना संयोजना  
आदि मंडल दोषोंने परित्याग कर्त्वा विना ‘चपड़-चपड़’ अवाज करतां लोचन करवाथी  
पापकर्म अंधाय छे. अने तेनां कडवां इण आवे छे. (५)

व्यर्थ एवेति चेन्न, यथाविधिनिबद्धमुखवस्त्रिरुस्यापि मुनेरनृतकर्कशादिसावद्य-भाषणेऽनावृतमुखेन भाषणवदयतना भवतीति सर्वथा भाषासमितिसमाराधनाऽवधानमाधातुमस्योपदेशस्य सार्थक्यात् । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥६॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८  
मूलम्—कहं चर कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।

९ १० ११ १२ १३ १४  
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ॥७॥

छाया—कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथरमासीत् कथं शयीत् ।

कथं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥७॥

सान्वयार्थः—शिष्य पूछता है—(अगर ऐसा है तो हे गुरु महाराज ! )कहं = कैसे चरे = गमन करे ?, कहं = कैसे चिट्ठे = खड़ा हो ?, कहं = कैसे आसे = बैठे ?, कहं = कैसे सए = सोवे ?, कहं = किस प्रकार भुंजंतो = आहार करता हुआ (तथा) भासंतो = बोलता हुआ पावकम्मं = पापकर्म न बंधई = नहीं बांधता है ॥७॥

शिष्यः पृच्छति—‘कहं चरे’ इत्यादि ।

टीका—हे भगवन् ! यद्येवं तर्हि संयतः कथं=केन प्रकारेण चरेत्=विहरेत् ?, कथं

बन्ध होता है । उस पापकर्मका फल कडुआ होता है ।

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! अयतनाको दूर करनेके लिए ही मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधी जाती है, फिर उनके प्रति ‘अजयं भासमाणो य’ ऐसा उपदेश देना कैसे संगत है ? ।

उत्तर—हे शिष्य ! सुनो; मुख पर मुखवस्त्रिका सदा बाँधी रहने पर भी असत्य कर्कश कठोर आदि बोलनेसे तथा सावद्य उपदेश देनेसे उसी प्रकार अयतना होती है जिस प्रकार खुले मुख बोलनेसे होती है । साधुको भाषासंबन्धी सब प्रकारकी अयतनाका त्याग करना चाहिए इस-लिए यह अयतनाके त्यागका उपदेश दिया गया है ॥६॥

शिष्य पूछता है—‘कहं चरे०’ इत्यादि ।

हे भगवन् ! यदि ऐसा है तो मुनि कैसे चले ? कैसे खड़ा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे शयन

अजयं भासमाणो इत्यादि अयतनापूर्वक भाषण करवाथी हिंसा थाय छे. अने पापकर्म अंधाय छे. अने पापकर्मनां इण कडवां आवे छे.

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! अयतनाने दूर करवाने भाटे मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधवामां आवे छे, पछी तेमनी प्रत्ये ‘अजयं भासमाणो य’ अवे उपदेश आपवे केवी रीते संगत छे ?

उत्तर—हे शिष्य ! मुख पर मुखवस्त्रिका सदा बाँधी रहैवा छतां पण असत्य कर्कश कठोर आदि बोलवाथी तथा सावद्य उपदेश आपवाथी अवे प्रकारनी अयतना थाय छे के अवे प्रकारनी अयतना उधाडे भेडांअे बोलवाथी थाय छे. साधुअे भाषासंबन्धी सर्व प्रकारनी अयतनाने त्याग करवे अेधअे, तेथी आ अयतनाने त्यागने उपदेश आपवामां आअे छे. (६)

शिष्य पूछे छे—‘कहं चरे०’ इत्यादि.

=केन प्रकारेण तिष्ठेत्=स्थितो भवेत् ?, कथं=केन रूपेण आसीत्=उपविशेत् ?, कथं शयीत्=स्वप्यात् ?, कथं वा भुञ्जानः=अभ्यवहरमाणः, भाषमाणश्च पापकर्म=व्याख्यातपूर्वं न बध्नाति ? ॥७॥

मूलम्—जयं चरे जयं चिद्वे, जयमासे जयं सए

जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ॥८॥

छाया—यतं चरेद् यतं तिष्ठेद्, यतमासीत् यतं शयीत् ।

यतं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥८॥

सान्त्वयार्थः—गुरु महाराज उत्तर देते हैं—जयं=यतनापूर्वक चरे=गमन करे जयं=यतनापूर्वक चिद्वे=खड़ा होवे जयं=यतनापूर्वक आसे=बैठे जयं=यतना पूर्वक सए=सोवे (और) जयं=यतना पूर्वक भुंजंतो=खाता हुआ तथा भासंतो=बोलता हुआ पावं कम्मं=पापकर्म न बंधई=नहीं बांधता है ॥८।

टीका—यतम्=ईर्यादिसमितिसमन्वितं यथा तथा चरेत्=विहरेत्, यतं तिष्ठेत्=कर-चरणादिकमविक्षिपन् समवहितो दण्डावस्थितिं विदध्यात्, यतमासीत्=यतनया—हस्तपादा-घ्राकुञ्चनप्रसारणादिकमकुर्वन् सोपयोगमुपविशेत्—दृढासनादिना स्थिरः सन्नावश्यककार्यमन्तरेण नेतस्ततो भ्रम्येदित्यर्थः, यतं शयीत्=प्रकाम-शयनीयादिपरिहारेण स्वप्यात्, यतं भुञ्जानः=यथाकल्पप्राप्ताहारं संयोजनादिमण्डलदोषवर्जनपुरस्सरं 'चपड़-चपड़' इति-

करे ; कैसे आहार करे ? और कैसे बोले ? जिससे पापकर्म न बंधने पावे ॥७॥

गुरु महाराज उत्तर देते हैं—'जयं चरे०' इत्यादि ।

हे शिष्य ! संयत ईर्यासमितियुक्त होकर चले, यतनासे खड़ा रहे, अर्थात् हाथ-पैर न हिलाता हुआ सावधान होकर दंडकी तरह खड़ा रहे यतनासे बैठे अर्थात् वृथा हाथ पैर न हिलावे, उपयोग-सहित दृढासन आदिसे बैठे, विना कार्यके इधर उधर न हिले, यतनासे शयन करे अर्थात् प्रकाम शय्याका परिहार करता हुआ सोवे, यतनासे आहार करे अर्थात् जैसा निरवद्य आहार मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहे और 'चपड़-चपड़' आदि शब्द न करते हुए भोजन करे, न भोजन

हे भगवन् ! जे जेम छे तो मुनि केवी रीते आले ? केवी रीते उलो रहे ? केवी रीते भेसे ? केवी रीते सूजे ? केवी रीते आहार करे ? अने केवी रीते जोले ? के जेथी पाप कर्म अंधवा न पाभे ? (७)

गुरु महाराज उत्तर आपे छे—'जयं चरे०' इत्यादि ।

हे शिष्य ! संयत ईर्यासमितियुक्त थधने आले, यतनाथी उलो रहे, अर्थात् हाथ-पग न हलावे ने दंडकी जेम उलो रहे. यतनाथी भेसे अर्थात् वृथा हाथ-पग न हलावे उपयोग सहित दृढासन आदिथी भेसे, कार्य विना आम-तेम हले नडी, यतनाथी शयन करे, यतनाथी आहार करे, अर्थात् जे निरवद्य आहार भणी जय तेमां ज संतुष्ट रहे अने 'चपड़-चपड़' अवाज कर्था विना लोअन करे, लोअनमां राग-द्वेष न करे यतनाथी



शब्दमकुर्वाणोऽभ्यवहरमाणः, यतं भाषमाणः=निबद्धमुखवस्त्रिकः सन् हितमितमृद्वादिनिरव-  
द्यभाषयाऽवसरे समालपन् पापकर्म न बध्नाति=न बध्नीयात् ॥८॥

किञ्च - 'सव्वभूय०' इत्यादि ।

मूलम्—सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।

पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधई ॥९॥

छाया—सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यग् भूतानि पश्यतः ।

पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापकर्म न बध्यते ॥९॥

सान्वयार्थः—सव्वभूयप्पभूयस्स=सब प्राणियोंको अपने समान समझनेवाले सम्मं  
=सम्यक् प्रकार-आगमानुसार भूयाइं=जीवोंको पासओ=देखने-समझने-वाले पिहिआस-  
वस्स=आस्रवको रोकनेवाले दंतस्स=जितेन्द्रिय साधुके पावकम्मं=पापकर्म न बंधई=नहीं  
बंधता है ॥९॥

टीका—सर्वभूतात्मभूतस्य=सर्वाणि च तानि भूतानि सर्वभूतानि=एकेन्द्रियादार-  
भ्य पञ्चेन्द्रियपर्यन्तं सर्वे जीवास्तेषु आत्मभूतः=आत्मसदृशः, जीव आत्मानं रक्षितुं यथा  
प्रयतते तथा यथाविधिसकलजीवरक्षासावधान इत्यर्थः, तस्य, भूतानि सम्यक्=प्रवचन-  
प्रतिपादितस्वरूपेण पश्यतः=प्रेक्षमाणस्य निखिलप्राणिगणस्वरूपं याथातथ्येन पर्यालोच-  
यत इत्यर्थः । पिहितास्रवस्य=पिहिताः=आच्छादिता आस्रवाः=कर्मागमहेतवो येन स  
पिहितास्रवः=प्रतिरुद्धकर्मद्वारस्तस्यः; दान्तस्य=दमयति वशं नयति इन्द्रियाऽश्चानिति दान्तः  
=जितेन्द्रियस्तस्य पापकर्म न बध्यते=तस्य पापलेपो न जायत इत्यर्थः ॥९॥

में राग-द्वेष करे । यतनासे भाषण करे अर्थात् हित मित मधुर और निरवद्य भाषा बोले, खुले मुंह  
न बोले, तथा कर्कश कठोर शब्दोंका उच्चारण न करे और निष्प्रयोजन न बोले । ऐसा करनेसे  
पापकर्म नहीं बंधता है ॥८॥

और—'सव्वभूय०' इत्यादि ।

समस्त प्राणियोंमें आत्मतुल्य बुद्धि रखनेवाले, तथा आगमके अनुसार जीवोंका स्वरूप  
समझनेवालेको, कर्मोंके आगमनके कारण (आस्रव) का निरोध करनेवालेको पापकर्मका बंध नहीं  
होता है ॥९॥

लाषण्य करे अर्थात् हित मित मधुर अने निरवद्य भाषा बोले, खुले मोठे बोले नहि.  
अने करवाथी पापकर्म अंधातुं नथी. (८)

अने-सव्वभूय० इत्यादि.

अधां प्राणीओमां आत्मतुल्य बुद्धि राधनारा, अने आगम अनुसार लुवेतुं स्पइप  
समझनाराने, कर्मोना आगमननां कारणे (आस्रवे) ने निरोध करनाराओने पापकर्मनुं  
अंधन धतुं नथी. (९)

३०

નનુ ક્રિયૈવ પાપકર્માવરોધશ્ચેત્તર્હિં તદર્થમેવ યતનીયં કૃતં જ્ઞાનેનેતિ ચેદત્રોચ્યતે—  
નહિ જ્ઞાનમન્તરેણ ક્રિયા કદાચિદપિ ફલાય કલ્પતે પ્રત્યુતોન્મત્તક્રિયાવદનર્થાનુબ-  
ન્ધિની સ્યાદિતિ જ્ઞાનવિરહિતકેવલક્રિયાપ્રવૃત્તિર્લોકાનાં મા સ્મ ભૂદતો જ્ઞાનસ્ય ક્રિયાપે-  
ક્ષયા પ્રાથમ્યં દર્શયતિ—‘પદમં નાણં’ इत्यादि ।

મૂલમ્—પદમં નાણં તઓ દયા, એવં ચિટ્ઠઈ સવ્વસંજણ ।

અન્નાણી કિં કાહી; કિં વા નાહી છેય-પાવગં ॥૧૦॥

છાયા—પ્રથમં જ્ઞાનં તતો દયા, એવં તિષ્ઠતિ સર્વસંયતઃ ।

અજ્ઞાની કિં કરિષ્યતિ, કિં વા જ્ઞાસ્યતિ છેક-પાપકમ્ ॥૧૦॥

સાન્યયાર્થઃ—પદમં=પહેલે નાણં જ્ઞાનં હૈ તઓ=અસકે પશ્ચાત્ દયા=દયા અર્થાત્ ચા-  
રિત્ર હૈ એવં=હીસી પ્રકાર સવ્વસંજણ=સર્વસંયત સાધુ ચિટ્ઠઈ=આચરણ કરતે હૈં, અન્નાણી=  
સમ્યગ્જ્ઞાનસે રહિત પુરુષ કિંકાહી=કયા કર સકતા હૈ—કૈસે સંયમ પાલ સકતા હૈ, અર્થાત્  
નહીં પાલ સકતા । (ઔર) કિં વા=કૈસે છેયપાવગં=અપાદેય ઔર હેયકો નહીં=જાન  
સકતા હૈ ?, અર્થાત્ નહીં જાન સકતા ॥૧૦॥

ટીકા—પ્રથમમ્=આદૌ જ્ઞાનં=જ્ઞાયન્તે—બુદ્ધ્યન્તે જીવાજીવાદયઃ પદાર્થા યેન ય-  
સ્માદ્ યસ્મિન્ વા તજ્ઞાનં=સ્વપરસ્વરૂપપરિચ્છેદલક્ષણમ્, અપેક્ષ્યં ભવતીત્યાશયઃ, ક્રિયા-  
માત્રસ્ય જ્ઞાનપૂર્વકત્વે હિ સ્વાભીષ્ટસિદ્ધિકત્વાત્, તતઃ=તદનન્તરં દયા=ક્લેશાકુલપ્રાણિસં-  
કષ્ટમોચનેચ્છાલક્ષણાઽનુકમ્પા, દયાશબ્દેન ચાત્ર ક્રિયામાત્રમુપલક્ષ્યતે, એવમ્=અનેન પ્રકા-

પ્રશ્ન — હે ગુરુમહારાજ ! યદિ કેવલ ક્રિયાસે પાપકર્મોંકા નિરોધ હો જાતા હૈ તો ક્રિયા  
હી કરની ચાહિણ, જ્ઞાનકી કયા આવશ્યકતા હૈ ?

અત્તર— હે શિષ્ય ! જ્ઞાનકે વિના ક્રિયાકા કુલ ફલ નહીં હોતા, જ્ઞાનરહિત ક્રિયા અન્મત્ત  
(પાગલ) પુરુષકી ક્રિયાકે સમાન અનર્થકો ઉત્પન્ન કરતી હૈ । ‘કોઈ જીવ જ્ઞાનરહિત ક્રિયા  
ન કરે’ હિસ અભિપ્રાયસે ‘પહેલે જ્ઞાન ફિર ક્રિયા હોની ચાહિણ’,—હિસ વાતકો શાસ્ત્રકાર કહતે  
હૈ—‘પદમં નાણં’ इत्यादि ।

જિસસે સ્વ-પરકા બોધ હોતા હૈ અસે જ્ઞાન કહતે હૈં । વહ જ્ઞાન પ્રથમ હૈ, ક્યોંકિ જીવ  
આદિ નવ પદાર્થકા જ્ઞાન હોને પર હી સંયમ અર્થાત્ ષડ્જીવનિકાયકી દયા કા પાલન હો સકતા

પ્રશ્ન—હે શુરૂ મહારાજ ! જે કેવળ ક્રિયાથી પાપકર્મોંનો નિરોધ થઈ જાય છે તો ક્રિયા  
જ કરવી જોઈએ, જ્ઞાનની શી આવશ્યકતા છે ?

અત્તર—હે શિષ્ય ! જ્ઞાન વિના ક્રિયાનું કશું ફળ હોતું નથી. જ્ઞાનરહિત ક્રિયા ઉન્મત્ત  
(ગાંડા) પુરૂષની ક્રિયાની પેઠે અનર્થને ઉત્પન્ન કરે છે. ‘કોઈ જીવ જ્ઞાનરહિત ક્રિયા ન કરે’ એવા  
હેતુથી ‘પ્રથમ જ્ઞાન પછી ક્રિયા હોવી જોઈએ આ વાતને સૂત્રકાર કહે છે—પદમં નાણં ઇત્યાદિ.  
જે વડે સ્વપરને બોધ થાય છે તેને જ્ઞાન કહે છે. એ જ્ઞાનપ્રથમ છે કેમકે જીવ આદિ નવ પદાર્થનું  
જ્ઞાન થયા પછી જ સંયમ અર્થાત્ ષડ્જીવનિકાયની દયાનું પાલન થઈ શકે છે. અહીં દયા

रेण क्रियाया ज्ञानपूर्वकत्वाऽवबोधरूपेण सर्वसंयतः=सर्वविरतः साधुरित्यर्थः, तिष्ठति=वर्त्तते, कथमिदमुच्यते ? इत्याशङ्क्यामाह-अज्ञानी=तत्त्वातत्त्वविवेकलक्षणज्ञानविरहितः किं करिष्यति=किं विधास्यति, किं वा=कथं वा छेकं-पापकं, छेकश्च पापकं, चानयोः समाहारे छेकपापकं, तत्र छेकं-कल्याणम् उपादेयमित्यर्थः, पापकम्=अकल्याणं हेयमित्यर्थः, ज्ञास्यति वेत्स्यति जन्मनाऽन्ध वदन्न किञ्चिदपीत्यर्थः, अतो ज्ञानार्थमेव प्रथमं यतनीयम् “हेया अन्नाणिणं क्रिया” इत्युक्तेः ॥१०॥

ज्ञानमहत्त्वं प्रदर्श्य सम्प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह-“सोच्चा जाणइ” इत्यादि ।

मूलम्-सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।

उभयंपि जाणई सोच्चा. जं सेयं तं समायरे ॥११॥

छाया—श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।

उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत्समाचरेत् ॥११॥

अब जानने का उपाय बताते हैं-

सान्वयार्थः-सोच्चा=गुरुमुखसे सुनकर कल्लाणं कल्याण-दयारूप संयमको जाणइ=जानता है, (तथा) सोच्चा=सुनकर ही पावगं=पाप हिंसारूप असंयमको जाणइ=जानता है, (और) उभयंपि=दोनोंको भी सोच्चा=सुनकर ही जाणई = जानता है। (अतः) जं = जो सेयं = आत्माके हितकारी हो तं = उसका समायरे = आचरण करे ॥११॥

टीका-श्रुत्वा = गुरुमुखादाकर्ण्य श्रुतज्ञानविषयीकृत्येत्यर्थः, कल्याणम् = कल्यो मोक्षः कर्मबद्धसकलोपाधिव्याधिबाधाविधुरत्वात्, तम् आ = समन्तादणति-प्रापयतीति,

है। यहाँ दया शब्दसे समस्त क्रियाओंका ग्रहण होता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्वक की हुई ही क्रिया सफल होती है, इसलिए मुनि ज्ञानपूर्वक ही क्रियाएँ करते हैं, क्योंकि तत्त्व और अतत्त्वके विवेकसे रहित अज्ञानी क्या करसकता है ? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता, और जन्मान्धके समान उसे हेय-उपादेयका ज्ञान ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः पहले ज्ञानके लिए प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है-“ज्ञानके विना क्रिया निरर्थक है” ॥१०॥

ज्ञानका महत्त्व बताकर अब उसकी प्राप्तिका उपाय कहते हैं-“सोच्चा जाणइ०” इत्यादि कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली समस्त आधि-व्याधि और बाधासे रहित मोक्षकी प्राप्ति कराने

शब्दार्थी अधी क्रियाओनुं अहणु थाय छे. अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्वक करेदी क्रिया न सङ्ग थाय छे तेथी मुनि ज्ञानपूर्वक न क्रियाओ करे छे. कारण के-तत्त्व अने अतत्त्वना विवेकथी रहित अज्ञानी शुं करी शके ? अर्थात् कशुं नथी करी शकते अने न-माधनी चेडे अने डेय-उपा-हेयनुं ज्ञान केवी रीते थर्ष शके ? अर्थात् नथी थर्ष शकतुं, तेथी पडेदा ज्ञानने माटेप्र यत्न करेवा नोथंओ. कल्लुं छे के-“ज्ञान विनानी क्रिया निरर्थक छे.” (१०)

ज्ञाननुं महत्त्व अतावीने डेवे अनी प्राप्तिने उपाय कडे छे-सोच्चा जाणइ० इत्यादि.

कल्येन = आरोग्येण आरोग्यकरणेनेत्यर्थः ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमोक्षमार्गोपदेशद्वारेति भावः, आनयति = जीवयति सांसारिकविशालविषयकाननसंलघ्वेष्टवियोगानिष्टसंयोगदावानलज्वालामालावलीढान् प्राणिन इति कल्याणं = दयाभिधानसंयमस्वरूपं, निपातनाष्णत्वम्, तदुपादेयभूतं जानाति, श्रुत्वा च पापकं = नरकादिकुगतिपातिनं हेयभूतमसंयमं जानाति, उभयमपि = उपादेयानुपादेयभूतसंयमासंयमलक्षणं द्वयमपि श्रुत्वैव जानाति । निष्कर्षमाह—अत्र यत् श्रेयः = हितं तत् समाचरेत् = विदध्यात् ॥११॥

मूलम्—जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणइ ।

जीवजीवे अयाणंतो, कंहं सो नाहीइ संजमं ॥१२॥

छाया—यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति ।

जीवाऽजीवानजानन् कथं, स ज्ञास्यति संयमम् ॥१२॥

सान्वयार्थः—जो=जो जीवेवि=जीवोंकोभी न याणेइ=नहीं जानता है (और) अजीवेवि=अजीवोंकोभी न याणेइ=नहीं जानता है, जीवाजीवे=जीवों और अजीवोंको अयाणंतो=नहीं जानता हुआ सो=वह संजमं=संयमको कंहं=कैसे नाहीइ=जानेगा ? अर्थात् नहीं जान सकता ॥१२॥

टीका—जो 'जीवेवि' इत्यादि । यः जीवान्=एकेन्द्रियादीन्, जीवलक्षणं तु मत्कृतात्तत्त्वप्रदीपाद्विशेषतोऽवगन्तव्यम्, न जानाति=न वेत्ति, तथा अजीवान्=जीवविपरीतलक्ष-

वालेको, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूपी आरोग्यसे, हितवचन अथवा उपदेशसे संसारके विषय रूपी विशाल वनमें धकती हुई इष्टवियोग अनिष्टसंयोगरूप दावाग्नि ज्वालाओंमें जलते हुए जीवोंको शान्ति देनेवालेको कल्याण कहते हैं । इस कल्याण (संयम) का ज्ञान गुरुमुखसे सुनकर ही होता है । पाप अर्थात् नरक आदि कुगतियोंमें गिरानेवाले असंयमका ज्ञान भी सुननेसे ही होता है, तथा इन दोनों का भी ज्ञान सुननेसे ही होता है । इसलिए इनमेंसे जो श्रेष्ठ (हितकर) हो उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥११॥

'जो जीवे वि०' इत्यादि । जो पुरुष एकेन्द्रिय आदि जीवोंके स्वरूपको नहीं जानता और न

कुर्मोथी उत्पन्न थनारी अथी आधि-व्याधि अने आधाथी रहित मोक्षनी प्राप्ति कराने अथवा ज्ञान-दर्शन आरित्ररूपी आरोग्यथी, हितवचन अथवा उपदेशथी सांसारिक विषयरूपी विशाल वनमां ललुकता इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगरूपी दावाग्नि ज्वालाओंमां जलता अथवा शान्ति देने अथवा कल्याण (संयम) तुं ज्ञान गुरुमुखथी श्रवण करवाथी न थाय छे । पाप अर्थात् नरक आदि कुगतियोंमां पाडनारा असंयमनुं ज्ञान पणु सांलणवाथी न थाय छे; तथा अने अहितनुं ज्ञान पणु सांलणवाथी न थाय छे; तेथी अनेमां ने श्रेष्ठ (हितकर) होय अनेमां प्रवृत्ति करवी अने अने । (११)

जो जीवे वि० इत्यादि- ने पुरुष अकेन्द्रिय आदि अथवा स्वरूपने ज्ञानतो नथी अने

गान् संयमपरिपन्थिनः काठ्वनरजतादीन् धर्मास्तिकायादीन् वा न जानाति, इत्थं जीवा-  
जीवान्=जीवान् अजीवाँश्चोभयानपि अजानन् सन् स.संयमं=प्राणातिपातविरमणादिलक्षणं  
सप्तदशविधं कथं=केन प्रकारेण ज्ञास्यति=वेत्स्यति, संयमस्य जीवाजीवोभयविषयकज्ञान-  
जन्यत्वात् ॥१२॥

ननु कर्तार्हं संयमं विज्ञातुमर्हती ? त्याह-‘जो जीवे वि० इत्यादि ।

मूलम्-जो जीवे वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।

जीवाजीवे वियाणंतो, सा हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

छाया—यो जीवानपि विजानाति (तथा) अजीवानपि विजानाति ।

(इत्थं) जीवाजीवानन् स खलु संयमं ज्ञास्यति ॥१३॥

सान्वयार्थः—जो=जो जीवे वि=जीवोंकोभी वियाणेइ=जानता है, (तथा) अजीवे  
वि=अजीवोंकोभी वियाणेइ=जानता है, इस तरह जीवाजीवे=जीवों और अजीवोंको  
वियाणंतो=जानता हुआ सो=वह हु=निश्चय ही संजमं=संयमको नाहीइ=जानेगा ॥१३॥  
टीका—यो जीवाजीवपदार्थान् जानाति स हु=खलु-निश्चयेन संयमं ज्ञास्यतीतिभावः॥१३॥

मूलम्-जया जीवमजीवे य, दोवि एए वियाणइ ।

तया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

छाया—यदा जीवमजीवाँश्च द्वावप्येतौ विजानाति ।

तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥१४॥

सान्वयार्थः—जया=जब जीवमजीवे य=जीव और अजीव एए=इन दोवि=दोनों-

जीवसे भिन्न पुद्गल आदि अजीवोंको जानता है । इस प्रकार दोनोंको ही नहीं जानता हुआ वह  
अज्ञानी प्राणातिपात आदिसे विरमणरूप सत्रह प्रकारके संयमको कैसे जानेगा ? अर्थात् नहीं जान  
सकेगा, क्योंकि संयम तब ही हो सकता जब जीव और अजीवका ज्ञान हो जाय ॥१२॥

संयमका ज्ञाता कौन हो सकता है ? सो कहते हैं—‘जो जीवे वि०’ इत्यादि ।

जो जीवोंको जानता है और अजीवोंको जानता है वही जीव और अजीवको जानता हुआ  
मुनि संयमका ज्ञाता हो सकेगा ॥१३॥

एवथी भिन्न पुद्गल आदि अणुवेने ळणुतो नथी, ये रीते ळेढेने ळणुतो नथी ते अज्ञानी  
प्राणातिपात आदिथी विरमणरूप सत्तर प्रकारना संयमने केरी रीते ळणुथे ? अर्थात् नहि ळणु  
शके, कारणु के संयम त्यारे न थर्ध शके छे के न्यारे एव अने अणुवन्तुं ज्ञान थाय छे. (१२)

संयमने ज्ञाता कोणु थर्ध शके छे ? ते हवे कडे छे-जो जीवे वि० धत्यादि.

ये एवेने ळणु छे, अने अणुवेने ळणु छे ते एव अने अणुवने ळणुनार मुनि  
संयमने ज्ञाता थर्ध शकेशे. (१३)

को वियाणइ=ज्ञानता है, तथा तत्र सव्वजीवाण=सब जीवोंकी बहुविहं=अनेक प्रकारकी गइं=गतिको जाणइ=ज्ञानता है ॥१४॥

टीका—‘जया जीव’ इत्यादि । यदा जीवाजीवो एतौ द्वावपि पदाथौ विजानाति तदा सर्वेषां जीवानां बहुविधां=नानाविधां देव मनुष्यतिर्यङ्गनारकरूपां गतिं=गम्यते—प्राप्यते स्वस्वकर्माकृष्टैर्जीवैरिति गतिः=भवाद्भवान्तरे गमनं, तां तथोक्त जानाति=अवगच्छति ॥१४॥

मूलम्—जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।

तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥१५॥

छाया—यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ।

तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥१५॥

सान्प्रयार्थः—जया=जब सव्वजीवाण=सब जीवोंकी बहुविहं=अनेक प्रकारकी गइं=गतिको जाणइ=ज्ञानता है, तथा=तब पुण्णं च पावं=पुण्य और पापको च=तथा बंधं=बन्ध को मुक्खं च=और मोक्षको जाणइ=ज्ञानता है ॥१५॥

टीका—‘जया गइं’ इत्यादि । यदा सर्वजीवानां बहुविधां गतिं जानाति तदा पुण्यम्=पुणति=शुभयत्यात्मानमिति तत् (‘पुण् शुभे’ इति धातोरौणादिको यत्) । यद्वा पूयते=पवित्रीक्रियते आत्माऽनेनेति, पुनात्यात्मानमिति वा पुण्यं=शुभकर्म, (‘पूञ् पवने’

‘जया जीव०’ इत्यादि । जब जीव और अजीवका ज्ञान हो जावेगा तब सब जीवों की नाना प्रकारकी देव मनुष्य तिर्यंच और नरक रूप गतियोंको भी जानेगा । एक भवसे दूसरे भव में जाने को गति कहते हैं ॥१४॥

‘जया गइं’ इत्यादि । जब सर्व जीवोंकी बहुत प्रकारकी गतियोंको जानेगा तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको भी जानेगा ।

जो आत्मा को पवित्र करता है शुभ बनाता है उसे पुण्य कहते हैं । संसार-सागरसे पार उतरनेके लिए पुण्य तरणि(नौका) के समान है । पुण्यसे ही आर्य देश तथा उत्तम कुलमें जन्म और बोधिबीज-जिन धर्मको प्राप्ति-होती है । अधिक क्या कहा जाय ? तीर्थङ्कर गोत्र भी पुण्यसे ही बंधता है ।

जया जीव० धत्थदि. जयारे लव अने अलवतुं ज्ञान थर्ध लय तयारे सर्व लवोनी नाना प्रकारनी देव मनुष्य तिर्यंच अने नारक रूप गतिओतुं पणु ज्ञान थाय. अेक लवभांथी पील लवभां जवाने गति कडे छे. (१४)

जया गइं धत्थदि. जयारे सर्व लवोनी धणुा प्रकारनी गतिओने लणुे तयारे पुण्य, पाप, अंध अने मोक्षने पणु लणुे.

वे आत्माने पवित्र करे छे, शुभ बनावे छे, तेने पुण्य कडे छे. संसारसागरथी पार उतरवाने माटे पुण्य अे तरणी (नौका) समान छे. पुण्यथी जे आर्यदेश तथा उत्तम कुल-

इत्यस्माधातोः पूजो यण्णुक्.ह्रस्वश्चे'—त्यौणादिकसूत्रेण सिद्धिः,) जानातीत्यग्रेण सम्बन्धः

पुण्यं हि संसारपारावारोत्तरणे तरणिभूतम्, अनेनैवाऽऽर्यजनपदाभिजनकुलबोधिबी-जजिनधर्मादिप्राप्तिर्जायते, किंबहुना तीर्थकरगोत्रमपि पुण्येनैव बध्यते, यो हि पुण्यं सर्वथा हेयं मन्यमानस्तच्च्यजति असौ समुपेक्षिततरिखाऽप्राप्तपरतीरो मध्येसमुद्रं मज्जन्नवसीदति ।

ननु पुण्यपापक्षयानन्तरमेव मोक्षप्राप्तिः शास्त्रे श्रूयते इति पापवत्पुण्यमप्यनुपादेयं मोक्षार्थिनामिति चेन्न,

द्विविधं हि पुण्यं-पुण्यानुबन्धि पापानुबन्धि च, तत्र पुण्यानुबन्धिपुण्यस्य लक्षणमुक्तम्—

“दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद्गुरुपूजनम् ।

विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥१॥ इति.

( स्थानाङ्गे १स्था. टीका )

जो पुण्यको सर्वथा हेय मानता हुआ उसका त्याग करता है वह संसार सागर में गोते लगाता है । जैसे मध्य समुद्रमें नौकाका त्याग कर देनेवाला पुरुष समुद्रमें डूबता हुआ दुःख पाता है ।

शङ्का—पुण्य और पाप दोनोंका क्षय होने के बाद मोक्षको प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रोंमें सुना जाता है, इसलिए पापकी तरह पुण्य भी मोक्षार्थियोंके लिए उपादेय नहीं है ।

समाधान— ऐसा कइना ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य दो प्रकारका है—(१) पुण्यानुबन्धि, (२) पापानुबन्धि पुण्य । पुण्यानुबन्धि पुण्यका लक्षण यह है—

प्राणियों पर दया रखना, वैराग्य—भाव होना, आगमके अनुसार गुरुओंकी भक्ति करना शुद्ध शील का पालन करना, यह पुण्यानुबन्धि पुण्य है । (स्थानाङ्ग० १स्था० टीका)

માં જન્મ અને બોધિબીજ-બિનધર્મની પ્રાપ્તિ થાય છે. વધારે શું કહેવું ? તીર્થ-કર-ગોત્ર પણ પુણ્યથી જ બંધાય છે.

જે પુણ્યને સર્વથા હેય માનીને તેનો ત્યાગ કરે છે, તે સંસાર-સાગરમાં ગોથાં ખાય છે, જેમકે મધ્ય-સમુદ્રમાં નૌકાનો ત્યાગ કરી નાંખનાર પુરૂષ સમુદ્રમાં ડુબતાં દુઃખ પામે છે.

શંકા—પુણ્ય અને પાપ એ બેઉનો ક્ષય થયા પછી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે, એવું શાસ્ત્રોમાં સાંભળવામાં આવે છે. તેથી પાપની પેઠે પુણ્ય પણ મોક્ષાર્થીઓને માટે ઉપાદેય નથી.

સમાધાન—એમ કહેવું તે ખરાબર નથી, કારણ કે પુણ્ય બે પ્રકારનાં છે. (૧) પુણ્યાનુબંધિ પુણ્ય, (૨) પાપનુબંધિ પુણ્ય. પુણ્યાનુબંધિ પુણ્યનું લક્ષણ એવું છે કે—

પ્રાણીઓ ઉપર દયારાખવી; વૈરાગ્યભાવ થવો, આગમને અનુસાર ગુરૂઓની ભક્તિ કરવી, શુદ્ધ શીલ પાળવું, એ પુણ્યાનુબંધિ પુણ્ય છે (સ્થાનાંગ૦ ૧સ્થા૦ ટીકા)

हरिभद्रसूरिरप्याह—

“गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः ।

याति यद्वत् सुधर्मेण, तद्वदेव भवान्भवम् ॥१॥” इति ।

एतच्च मोक्षार्थिनामप्यादरणीयमेव, पुण्यानुबन्धिपुण्यस्याऽपतनशीलमोक्षसम्पज्जनकत्वात्, तथा चोक्तम्—

“शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः ।

यत्प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्वसम्पदः ॥१॥” इति ।

किञ्च—मनुष्यजन्मनोऽपि मोक्षप्राप्तिकारत्वेन शास्त्रे प्रतिपादनात्पुण्यं मोक्षार्थिनामुपादेयमेवेत्यवसीयते, पुण्यमन्तरेण मनुष्यजन्मनो दुर्लभत्वात्, तथा चोक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे तृतीयाध्ययने—

हरिभद्रसूरिने भी कहा है—

“जसे कोई मनुष्य एक अच्छे गृहसे दूसरे बहुत ही अच्छे गृहमें जाता है वैसेही पुण्यके प्रभावसे जीव अत्यन्त शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१॥”

यह पुण्य मोक्षार्थी पुरुषोंके लिए भी उपादेय है, क्योंकि इससे अविनश्यर-शाश्वत -मोक्ष-रूपी सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती है । कहा भी है —

“मनुष्यों को पुण्यानुबन्धि पुण्य अवश्य करना चाहिए, जिसके प्रभावसे कभी नष्ट न होनेवाली सब प्रकार की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥१॥”

दूसरी बात यह है कि—शास्त्रोंमें मनुष्यभवकी प्राप्ति पुण्यके उदयसे कही गई है, मनुष्य-भय मोक्ष-प्राप्तिका कारण माना गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि पुण्य मुमुक्षुओंके लिए उपादेय है, क्योंकि पुण्यके बिना मनुष्य-पर्याय मिलना दुर्लभ है । उत्तराध्ययन सूत्रके तीसरे अध्ययनमें कहा है—

हरिभद्रसूरिએ. પણ કહ્યું છે કે—

“જેમ કોઈ મનુષ્ય એક સારા ગૃહમાંથી બીજા બહુ જ સારા ગૃહમાં જાય છે, તેમ પુણ્યના પ્રભાવથી જીવ અત્યંત શુભ ગતિને પામે છે.”

એ પુણ્ય મોક્ષાર્થી પુરુષોને માટે પણ ઉપાદેય છે, કારણ કે તેથી અવિનશ્ચર-શાશ્વત મોક્ષરૂપી સંપત્તિની ઉત્પત્તિ થાય છે. કહ્યું છે કે—

મનુષ્યોએ પુણ્ય અવશ્ય કરવું જોઈએ. જેના પ્રભાવથી કદાપિ નષ્ટ ન થાય તેવી સર્વ પ્રકારની સંપદાઓ પ્રાપ્ત થાય છે.”

બીજી વાત એ છે કે—શાસ્ત્રમાં મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ પુણ્યના ઉદયથી કહી છે અને મનુષ્યભય મોક્ષપ્રાપ્તિનું કારણ માન્યું છે, તેથી પણ એમ સિદ્ધ થાય છે કે પુણ્ય મુમુક્ષુઓને માટે ઉપાદેય છે, કારણ કે પુણ્ય વિના મનુષ્ય-પર્યાય મળવો દુર્લભ છે. ઉત્તરાધ્યયનમાં કહ્યું છે કે—



“चत्वारि<sup>१</sup> परमंगाणि, दुल्लहाणि य जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥” इति ।

संसारार्णवोत्तरणाय नरशरीरस्य नौकारूपत्वेन प्रतिपादान्मोक्षकारणत्वं गम्यते, तथा चोत्तराध्ययनसूत्रे त्रयोविंशाध्ययने—

“शरीरमाहु<sup>१</sup> नावत्ति, जीवो उच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महिसिणो ॥१॥” इति ।

तत्रैव दशमाध्ययने मनुष्यजन्मनो दौर्लभ्यं चोक्तम्—

“<sup>२</sup>दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेणवि सब्बपाणिणं” इति ।

स्थानाङ्गसूत्रेऽपि तृतीयस्थानके च—

“चार परमांग जीवके लिए दुर्लभ हैं—(१)मनुष्य भव, (२)शुचिता, (३) सत्य धर्ममें श्रद्धा, संयममें पराक्रम ॥”

मनुष्य संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिए नौकाके समान है, इसलिए ज्ञात होता है कि मनुष्य-शरीर मोक्षका कारण है । उत्तराध्ययन सूत्रके तेईसवें अध्ययनमें कहा है—

“(मनुष्यका)शरीर, नौकाके समान है, जीव, नाविक (खेवटिया) के सदृश है और संसार समुद्र सरीस्वा है, इसे महर्षि पार करते हैं ।”

इसी उत्तराध्ययनके दसवें अध्ययनमें मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता बताई है—

“चिरकाल तक सब प्राणियोंके लिए मनुष्य-भव अत्यन्त दुर्लभ है ।” स्थानाङ्गसूत्रमें तीसरे स्थानकमें कहा है—

“चार परमांग लुवने भाटे दुल्लंल छे—(१) मनुष्यलव, (२) शुचिता, (३) सत्यधर्मां श्रद्धा, (४) संयममां पराक्रम.”

मनुष्य शरीर संसाररूपी समुद्रने पार करवाने भाटे नौका-समान छे, तेथी समान्य छे के मनुष्य-शरीर मोक्षतुं कारण छे. उत्तराध्ययन सूत्रना तेवीसमा अध्ययनमां कल्लुं छेके—

“(मनुष्यतुं) शरीर, नौका समान छे, लुव, नाविक (पलासी) समान छे अने संसार, समुद्र सरणो छे, तेने महर्षि पार करे छे.”

अने उत्तराध्ययनना दसमा अध्ययनमां मनुष्य जन्मनी दुर्ललता पतावी छे—

“चिरकाल सुधी सर्व-प्राणीअने भाटे मनुष्यलव अत्यंत दुर्लंल छे.”

स्थानांग—सूत्रमां त्रीण स्थानकमां कल्लुं छे के—

“आ त्रणु गोदींनी अबिदाषा देव पणु राणे छे. (१) मनुष्यलव, (२) आर्यक्षेत्रमां

१ “चत्वारि परमाङ्गानि दुर्लभानि च जन्तोः ।

माणुषत्वं शुचिः श्रद्धा, संयमे च वीर्यम् ॥१॥”

१ ‘शरीरमाहुः नौः इति, जीव उच्यते नाविकः :

संसारः अर्णवः उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥१॥”

२ दुर्लभः खलु माणुष्यो भवः चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् ।

३१

“<sup>३</sup> तत्रो ठाणाइं देवेवीहेज्जा तं जहा—(१) माणुसंभवं, (२) आरिए खेते जम्मं (३) सुकुलपच्चायतिं ।” इति ।

उत्तराध्ययनसूत्रे त्रयोदशध्ययने पुण्यसंग्रहस्य परमावश्यकता प्रतिपादिता, तथाहि—  
‘इह जीविए राय ! असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणे ।

से सोयइ मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परम्मि लोए ॥२१॥”

किञ्चागमे साधुप्रभृतये आहारोपकरणादिवितरणलक्षणस्य पुण्यस्य कर्त्तव्यत्वेनोप-  
दिष्टतयाऽऽगमप्रमाणेनोपादेयत्वसिद्धिः, तथा चागमः—

“ नवविहे पुण्णे पणत्ते, तं जहा—(१) अन्नपुण्णे, (२) पाणपुण्णे, (३) वत्थपुण्णे, (४) लेणपुण्णे, (५) सयणपुण्णे, (६) मणपुण्णे, (७) वयपुण्णे, (८) कायपुण्णे, (९) नमो-  
वकारपुण्णे” इति ।

“इन तीन बोलोकी देव भी अभिलाषा रखते हैं—(१)मनुष्य-भव,(२)आर्यक्षेत्रमें जन्म (३) सुकुलकी प्राप्ति” ।

उत्तराध्ययनके तेरहवें अध्ययनमें पुण्यके संग्रह करनेकी अत्यन्त आवश्यकता प्रतिपादन की है—

“हे राजन् ! इस नश्वर जीवनमें पुण्य और धर्म न करनेवाले इहलोक पर लोकमें मृत्युके मुखमें गये हुए शोच करते हैं ।”

आगममें साधु आदिके लिए आहार—उपकरण आदिका दान करने रूप पुण्य कर्त्तव्य-  
माना है । आगममें कहा है कि—

“पुण्य नव प्रकारका है वह इस प्रकार (१)अन्न पुण्य (२) पान-पुण्य (३) वस्त्र पुण्य  
जन्म, (३) सुकुलनी प्राप्ति.”

उत्तराध्ययनना तेरभा अध्ययनभां पुण्यनेो संग्रह करवानी अत्यन्त आवश्यकता प्रति-  
पादन वरवाभां आवी छे—

“ हे राजन् ! आ नश्वर जीवनभां पुण्य अने धर्म न करनारा छल्लोके परलोकभां  
मृत्युना मुखभां गयेला शोच करे छे.”

आगमभां साधु आदिने माटे आहार—उपकरण आदिनुं दान करवाइप पुण्यने कर्त्तव्य  
मान्युं छे. आगमभां उल्लुं छे के—

“पुण्य नव प्रकारनुं छे ते आ प्रमाणे—(१) अन्न पुण्य, (२) पान-पुण्य, (३)

३ त्रीणी स्थानानि देवा अपीहेरन् तद्यथा—(१) मानुष्यं भवम् (२) आर्ये क्षेत्रे जन्म,  
(३) सुकुलप्रत्यायातिम् ।

छाया—इह जीविते राजन् ! अशाश्वते, अधिकं तु पुण्यान्यकुर्वाणः ।

स शोचति मृत्यु मुखोपनीतः, धर्ममकृत्वा परस्मिन् लोके ॥१॥

छाया—नवविधं पुण्यं प्रज्ञते, तद्यथा—(१) अन्नपुण्यम्, (२) पानपुण्यम्, (३) वस्त्र-  
पुण्यम् (४) लयनपुण्यम्, (५) शयनपुण्यम्. (६) मनः पुण्यम्, (७) वचः पुण्यम्, (८)  
कायपुण्यम्, (९) नमस्कारपुण्यम् । इति ।

“पुण्णाइं खलु आउसो ? किच्चाइं, तरणिज्जाइं, पायकराइं, धणकराइं, जसकराइं” इति ।

किञ्च पुण्ये हेयत्वहेतुभूतस्य मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकषायाऽशुभयोगाऽन्यतमजनकत्वस्याभावात् तस्यानुपादेयत्वापादनं गगनकुसुमायितमेव, प्रत्युताऽशुभभावपरिपन्थितया तस्य कर्त्तव्यत्वमेव सुतरां दृढीभवति, अशुभभावपरिपन्थिनः कर्त्तव्यकोटौ विनिविष्टत्वाद् यथा संयमस्य ।

“दुविहं खवेऊण य पुण्ण-पावं” (द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्य-पापम् ) इति यच्छ्रूयते शास्त्रे तत् पारमासाद्य तरणिपरित्यजनमिव मुक्तिप्राप्तिसमयापेक्षम् । यथा समुद्रस्य पर-  
(४) लयन पुण्य(५) शयन पुण्य (६) मनः-पुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य (९) नमस्कार पुण्य ।” इति । फिर भी कहा है—

“हे आयुष्मन्! पुण्य-कृत्य करने योग्य है, पुण्य ही पात्र बनाता है, पुण्य ही सम्पत्ति और यशको बढ़ाता है”—इति ।

जिससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग उत्पन्न हों या इनमेंसे कोई एक उत्पन्न होता हो, वह न्याज्य होता है । पुण्य इनमेंसे किसीको भी उत्पन्न नहीं करता अतः उसे अनुपादेय बतलाना आकाशके पुष्पके समान असत् है । पुण्य अशुभ भावोंको दूर करता है इसलिए उसकी कर्त्तव्यता स्वयंसिद्ध है । जो अशुभ भावोंका विरोधी होता है वह अवश्य कर्त्तव्य होता है, जैसे-संयम ।

शास्त्रोंमें यह कथन किया गया है कि—“पुण्य और पाप दोनोंका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ” सो इस प्रकार समझना चाहिए कि—जैसे समुद्र को पार करके फिर नौकाका त्याग किया जाता है । जैसे समुद्रके दूसरे किनारे पर बने हुए घरमें जानेकी इच्छा करनेवाला पथिक

वस्त्र-पुण्य, (४) लयन-पुण्य, (५) शयन-पुण्य, (६) मनः-पुण्य, (७) वचन-पुण्य, (८) काय-पुण्य, (९) नमस्कार-पुण्य.” इति.वर्णा कृष्णं छे के—

“ हे आयुष्मन् पुण्य-कृत्य करवा योग्य छे, पुण्य ज पात्र बनावे छे, पुण्य ज सम्पत्ति अने यशने वधारे छे ” इति.

जेथी मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय अने अशुभ योग उत्पन्न थाय, या अेमानुं केछ अेक उत्पन्न थाय, ते त्याज्य होय छे. पुण्य अेमाना केछने उत्पन्न करतुं नथी. तेथी तेने अनुपादेय अतावपुं अे आकाशना पुष्पनी समान असत् छे. पुण्य अशुभ लावोने दूर करे छे, तेथी तेनी कर्त्तव्यता स्वयंसिद्ध छे. जे अशुभ लावोनुं विरोधी होय छे ते अवश्य कर्त्तव्य होय छे. जेभके संयम

शास्त्रोभां अेम कृष्णं छे के—“पुण्य अने पाप जेजने क्षय थवाथी मोक्षनी प्राप्ति थाय छे” ते अे प्रकारे समञ्जसुं के—जेभ समुद्रने पार करीने पथी नौकाने त्याग करवाभां आवे

छाया—पुण्यानि खलु आयुष्मन् ! कृत्यानि करणीयानि, तरणीयानि, पात्रकराणि, धनकराणि, यशःकराणि ।

स्मिन् पारे विद्यमानं गृहं गन्तुकामः पथिकोऽपरतीरे विभावयति—‘कथमहं तरिष्यामी’ त्ति, तदानीं नावं विलोक्य “नौरियं परपारप्रापिकैव न तु मदीयगृहप्रापिका, अलमस्या आश्रयणेन” इत्यालोच्य यदि नावं नावलम्बते तदाऽसौ गृहं गन्तुं न शक्नोति । यदि कश्चिन्नावि संस्थितः समुद्रमध्ये पूर्वोक्तभावनां कुर्वाणो नावं परित्यजेत् तदाऽपि नासौ गृहसुपैति प्रत्युत समुद्रस्य तरलतरकल्लोलावर्त्तयुक्ताऽगाधजले पतितो निमज्जति म्रियते-ऽपि च । यस्तु पुनर्विवेकी पथिको नावमाश्रयति तथाऽसौ परं पारं चलितुमक्षमां तरणिं परित्यजति, एवं तरणितो विप्रयुक्तः पान्थः स्वालम्बनो भूत्वा सुखेन सत्वरं स्वकीयं धाम समवाप्नोति, तथा भव्यजीवः संसारतः परस्मिन् पारे विद्यमानं मोक्षं गन्तुकामोऽपरपारे मनुष्यशरीरे तिष्ठन् विभावयति—“कथमहं दुःखबहुलं चतुर्गतिकसंसारं तरिष्यामि?” इति, तदानीं मुनिजनोपदेशश्रवणतो जैनागमाद्वा दयादानादिपुण्यमहिमानमवगत्य तत्र यदि विवेकी पुण्यमाश्रयते तदा स सुखेन संसारसागरमुत्तरति ।

सोचता है कि ‘मैं समुद्रको कैसे पार कर सकूंगा ?’ उसी समय नौकाको देखकर वह पथिक यदि यह विचार करने लगे कि ‘इससे तो मैं परले पार तक ही पहुँच सकूंगा घर तक नहीं पहुँचूंगा ऐसे विचार से नौकाका अवलम्बन न करे तो कभी घर नहीं पहुँच सकता । यदि नौकामें बैठा हुआ कोई पथिक बीच समुद्रमें उक्त विचार करके नौकाका त्याग करदे तो भी घर नहीं पहुँच सकता, बल्कि समुद्रकी चंचल तरंगों और भवरोसे युक्त अथाह जलमें गिर पड़ेगा और मृत्युको भी प्राप्त हो जायगा किन्तु जो विवेकी पथिक नौकाका सहारा लेता है उसे नौका परले पार पहुँचा देती है, आगे गति करनेमें असमर्थ होनेसे पथिक उसका त्याग करके स्वावलम्बी बनकर अपने घर पहुँच जाता है ।

इसी प्रकार भव्य जीव संसार से परले पार पर अर्थात् मोक्ष को जाना चाहता है । वह मनुष्यशरीररूपी इस पार पर ठहरा हुआ विचार करता है कि— ‘मैं दुःखोंसे भरे हुए चतुर्ग-

छे. जेभ समुद्रना धीन किनारा पर अनेका घरमां जवानी छच्छा करनारो पथिक विचारै छे के “हुं समुद्रने केवी रीते जितरी शकेश ?” जे वपते नौकाने जेधने जे पथिक जे जेभ विचार करवा लागे के “आथी तो हुं पैला किनारा सुधी ज पडोन्थी शकेश, घर सुधी नही पडोन्थी शकुं,” जेवा विचारथी नौकानुं अवलम्बन न करे तो ते कदापि घर पडोन्थी शकेशे नहि. जे नौकांमां जेठेला केछ पथिक समुद्रनी वरये जेवा विचार करीने नौकाने त्याग करी दे तो पणु.घेर पडोन्थतो नथी. जेठके समुद्रना चंचण तरंगो अने लम्भरीजोथी युक्तअथाग जलमां पडी जशे अने भरणु पणु पाभशे. परन्तु जे विवेकी पथिक नौकाने आश्रय ले छे तेने नौका पैले पार पडोन्थाडी दे छे. नौका आगण गति करवांमां असमर्थ होवाथी पथिक जेने त्याग करीने स्वावलम्बी अनीने पौताने घेर पडोन्थी जय छे.

जे प्रकारे लव्य जव संसारने पैवैपार अर्थात् मोक्षे जवा छच्छेने होय छे ते मनुष्य शरीररूपी आ किनारा पर ठहो रहीने विचार करे छे के ‘हुं दुःखोथी भरेलां तुर्गतिक्य

अथवा यथाऽङ्गारकामस्तावत् काष्ठादिषु वह्निं प्रज्वलयति, अन्येन वा प्रज्वलितं वह्नि-  
मुपादत्ते, ततः काष्ठगतानलं जलेन निर्वापयति, वह्निविनाशे च सति अङ्गारोत्पत्तिर्भवति,  
एवं वह्न्युपादानं विनाऽङ्गारो लब्धुमशक्यः यथाऽङ्गारं प्रति वह्निध्वंसस्य कारणता, ध्वंसस्य  
च प्रतियोगिसापेक्षत्वेव प्रतियोगि वह्निरुपादेयो भवति, तद्वत् मोक्षं प्रति पुण्यध्वंसस्य कार-  
णतायां तत्प्रतिबोधितया पुण्यमप्युपादेयमेव । पुण्यमर्जयित्वा शुभपरिणामरूपं पुण्यं ध्यान-  
दिशुद्धपरिणामेन क्षपयित्वा मोक्षो लब्धुं शक्यते । इत्थं चाऽऽगमप्रामाण्येन पुण्यस्य भव्य-  
कर्त्तव्यता सुस्पष्टं सिध्यति, भव्यकर्त्तव्यतयाऽऽगमे प्रतिपादितत्वात्, शुद्धभावकारणत्वा-  
च्चेति ।

तिक संसार—सागरको कैसे पार कर सकूंगा ?' तब मुनिजनोंके उपदेशसे, अथवा शास्त्रोंसे दया  
दान आदि पुण्यकी महिमा जान कर पुण्यका आश्रय लेवे तो सुखपूर्वक संसार—सागरके पार  
पहुँच सकता है ।

अथवा जैसे कोयले चाहनेवाले पुरुष काष्ठ आदिमें अग्नि जलाता है, अथवा दूसरेके  
द्वारा जलाई हुई अग्निको ग्रहण करता है, फिर उस अग्निको बुझा देता है । अग्नि बुझ जाने  
पर कोयला उत्पन्न होता है । इस प्रकार अग्निका आश्रय लिए विना कोयला कदापि नहीं प्राप्त  
हो सकता । अर्थात् जैसे कोयलेकी प्राप्तीके लिए अग्निका ध्वंस कारण होता है और ध्वंस प्रति  
योगिसापेक्ष होता है इसलिए अग्निके ध्वंसका प्रतियोगी अग्नि भी उपादेय होती है । इसी  
प्रकार मोक्षका कारण पुण्यका ध्वंस है, अतः ध्वंसका प्रतियोगी पुण्य भी मोक्षके लिए उपादेय  
है । उसका उपादान किये विना मोक्षकी प्राप्ती नहीं हो सकती' क्योंकि पहले शुभ परिणाम रूप  
पुण्यका उपार्जन करके फिर ध्यान आदि शुद्ध परिणामोंसे उनका क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया जा  
सकता है ।

संसार—सागरने डेवी रीते पार करी शकेश ?' त्याहे मुनिजनोंना उपदेशथी, अथवा शास्त्रो  
द्वारा दया दान आदि पुण्यना महिमा जाणुनि पुण्यना आश्रय ले तो सुखपूर्वक संसार-  
सागरने पेढेपार पडेांची शकें छे.

अथवा जेने कोयला जेधता डोय छे ते पुरुष लाकडाने अग्नि लगाडे छे अथवा जील  
ज्योअे सणगावेला अग्निने ग्रहण करे छे, अने पछी अे अग्निने डोयवी नांजे छे. अग्नि  
डोयवाधे जतां कोयला उत्पन्न थाय छे, अे रीते अग्निने आश्रय लीधा विना कोयला  
कदापि प्राप्त थता नथी. अर्थात् जेभ कोयलानी प्राप्ति माटे अग्निना ध्वंस कारण अने छे  
अने ध्वंस प्रतियोगि—सापेक्ष डोय छे, माटे अग्निने ध्वंसने प्रतियोगी अग्नि पणु उपा-  
देय अने छे अेअ रीते मोक्षनुं कारण पुण्यने ध्वंस छे. अेटवे ध्वंसनुं प्रतियोगी पुण्य  
पणु मोक्षने माटे उपादेय छे. अेनुं उपादान कर्या विना मोक्षनी प्राप्ति थधे शकती नथी.  
कारण के पडेलां शुभ—परिणामरूप पुण्यनुं उपाजर्न करीने पछी ध्यान आदि शुद्ध परिणाम-  
अथी अेने क्षय करीने मोक्ष प्राप्त करी शकय छे.

પાપમ્=પાતયતિ=શુભપરિણામાદુધ્વંસયત્યાત્માનમિતિ, યદ્વા પાતિ=રક્ષત્યાત્મનોઽ-શુભપરિણામમિતિ પાપં=પુણ્યપરિપન્થિ તત્, વિસ્તરસ્તુ શ્રમણસૂત્રીય-મત્કૃતમુનિ-તોષિણીટી-કાતોઽવગન્તવ્યઃ । બન્ધમ્=બન્ધયતે=પરતન્ત્રીક્રિયતેઽનેનાઽઽત્મેતિ બન્ધઃ=અમીષિતસ્થાનપ્રાપ્તિગતિપ્રતિરોધલક્ષણઃ, જીવકર્મણોરયોગોલકવહ્ચોરિત્વ તાદાત્મ્યાપન્નત્વં વા, સ ચ દ્રવ્યતો નિગડાદિઃ, ભાવતો રાગદ્વેષાદિઃ, યથા દ્રવ્યબન્ધનબદ્ધો જનોઽભિમતસ્થાનલાભા-ભાવેન કારાગારાદાવેવ વિવિધવેદનાદારુણાં દશામાસાદયન્ વિષીદતિ, તથાઽયમાત્મા જ્ઞાના-વરણીયાદિકર્માષ્ટક-નિગડસન્દાનિતોઽનન્તાઽક્ષય્યસુખસમ્પદુલ્લસિતાઽવ્યાબાધાઽભિમતશિવ-સ્થાનપ્રાપ્તિ વિના જન્મજરામરણાદિજન્યાનન્યસામાન્યકષ્ટસમર્ષિષ્ટિ સ્પષ્ટમનુભવન્નિહૈવસંસાર-ગહ્વરે વિષીદતિ, તમ્ ।

इस प्रकार आगममें कर्त्तव्य रूपसे प्रतिपादन करनेसे शुद्ध भावका कारण होनेसे यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि पुण्य अवश्य कर्त्तव्य है ।

જો શુભ પરિણામોસે આત્માકો દૂર રક્ષતા હૈ-શુભ પરિણામ નહીં હોને દેતા ઉસે પાપ કહતે હૈ । વહ પુણ્યકા વિરોધી હૈ ।

આત્મા જિસસે બદ્ધ-પરતન્ત્ર હો જાતી હૈ' વહ અર્થાત્-અમીષ્ટ સ્થાનકી પ્રાપ્તિ કરાનેવાલી ગતિકો રોકનેવાલા બન્ધ કહલાતા હૈ । અથવા જૈસે લોહેકા ગોળા ઓર અગ્નિ એકમેકસે હો જાતે હૈ, ઉસી પ્રકાર જીવ ઓર કર્મોંમેં એકતાકા જ્ઞાન કરાનેવાલા બન્ધ હોતા હૈ । બેડી અદિ દ્રવ્યબન્ધ હૈ ઓર રાગદ્વેષ આદિ ભાવબન્ધ હૈં જેસે દ્રવ્યબન્ધ-નિગડ આદિ-સે બંધા હુઆ મનુષ્ય અભિમત સ્થાન પર ન પહુંચ સકનેકે કારણ કારાગાર આદિમેં વિવિધ વેદનાઓંકે દ્વારા દારુણ દશા પ્રાપ્ત કરતાહુઆ દુઃખ પાતા હૈ, વૈસે હી જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મ-સ્વરૂપ ભાવ-બન્ધરૂપી બેડીકે કારણ અનન્ત અવિનાશી સુખરૂપી સમ્પત્તિસે શોભિત, અવ્યાબાધ ઓર અમીષ્ટ મોક્ષ-સ્થાનકી પ્રાપ્તિકે વિના જન્મ જરા મરણ આદિસે હોનેવાલે અપરમિત દુઃખ ભોગતા હુઆહીસી સંસારરૂપી

એ રીતે આગમમાં કર્તવ્યરૂપે પ્રતિપાદન કર્યું હોવાથી તથા શુદ્ધ ભાવનું કારણ હોવાથી એ સારી રીતે સિદ્ધ થઈ ગયું કે પુણ્ય અવશ્ય કર્તવ્ય છે.

આત્માને શુભ પરિણામોથી દૂર રાખે છે—શુભ પરિણામ થવા દેતું નથી તેને પાપ કહે છે. તે પુણ્યનું વિરોધી છે.

આત્મા જેથી બદ્ધ-પરતન્ત્ર થઈ બંધ છે તે અર્થાત્ અમીષ્ટ સ્થાનની પ્રાપ્તિ કરાવનારી ગતિને રોકનાર બંધ કહેવાય છે. અથવા જેમ લોહાનો ગોળો અને અગ્નિ એક-મેક બની બંધ છે, તેમ જીવ અને કર્મોંમાં એકતાનું જ્ઞાન કરાવનાર બંધ હોય છે. બેડી આદિ દ્રવ્ય બંધ છે અને રાગ દ્વેષ આદિ ભાવ-બંધ છે. જેમ દ્રવ્ય-બંધ હોડ કે બેડી આદિથી બંધાયેલો મનુષ્ય ધારેલે સ્થાને ન પહોંચી શકવાને કારણે કારાગાર આદિમાં જ વિવિધ વેદનાઓ દ્વારા દારુણ દશા પ્રાપ્ત કરતાં દુઃખ પામે છે તેમ જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મસ્વરૂપ ભાવ-બંધ-રૂપી બેડીને કારણે, અનન્ત અવિનાશી સુખરૂપી સમ્પત્તિથી શોભિત, અવ્યાબાધ અને અમીષ્ટ

नन्वात्मनोऽमूर्त्तत्वात्कर्मणां च मूर्त्तत्वान्न तयोः परस्परं सम्बन्धः संभवति, अमूर्त्त-  
त्वेऽपि सम्बन्धस्वीकारे आकाशधर्माधर्मास्तिकायकालैः सहापि सम्बन्धप्रसङ्ग इति चेन्न,  
आत्मनः कर्मणा सह सम्बन्धाभावाऽऽपादने हेतुत्वेनोपन्यस्तममूर्त्तत्वं किं सर्वथा-  
रूपेण किं वा कथञ्चिद्रूपेण स्वीक्रियते ? नाद्यः, हेत्वसिद्धेः, सर्वथैवाऽमूर्त्तभूतस्य सिद्धा-  
त्मनः कर्मसम्बन्धाभावो मयाऽपीष्यत एव । आत्मत्वावच्छिन्नस्य सर्वथैवाऽमूर्त्तत्वं तु दुर्वचं,  
संसारिजीवानां कथञ्चिन्मूर्त्तत्वासद्भावात् । कथञ्चित् स्वीक्रियेत चेत्तदा यदपेक्षया मूर्त्त-  
त्वं तदपेक्षया सम्बन्धोऽसन्दिग्ध एव । मुक्तात्मनश्च मूर्त्तत्वाभावान्न सम्बन्धाभ्युपगमः ।

गङ्गदेमें पडा हुआ कष्ट उठाता है ।

प्रश्न—आत्मा अमूर्त्त (अरूपी) है और कर्म मूर्त्त (रूपी) है । इस कारणसे इन दोनोंका परस्पर बन्ध कैसे हो सकता है ? यदि मूर्त्तका बन्ध अमूर्त्तके साथ हो सकता है तो आकाशास्तिकाय धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालके साथ भी कर्मोंका बन्ध हो जायगा, क्योंकि वे भी अमूर्त्त हैं ।

उत्तर—तुम कहते हो कि आत्मा अमूर्त्त है, सो यह बताओकि आत्मा सर्वथा अमूर्त्त है या कथञ्चित् अमूर्त्त है ? यदि कहोगे कि आत्मा सर्वथा अमूर्त्त है तो हेतु असिद्ध हो जायेगा, क्योंकि आगममें आत्माको सर्वथा अमूर्त्त नहीं माना गया है ।

अगर 'कथञ्चित् अमूर्त्त' कहोगे तो कथञ्चित् मूर्त्त भी होगी, और जिस(संसारावस्थाकी) अपेक्षासे आत्मा मूर्त्त है उसी अपेक्षा से कर्मोंका बंध होता है । मुक्तात्मा मूर्त्त नहीं है इसलिए वहाँ बंध भी नहीं होता ।

अथवा जैसे आकाश अमूर्त्त है और घट मूर्त्त है तथापि उन दोनोंका संयोग सम्बन्ध होता है, और जैसे मूर्त्त हाथ तथा हाथसे होनेवाली अमूर्त्त क्रियाका दूसरोंने समवाय—सम्बन्ध

भोक्षस्थाननी प्राप्ति विना जन्म-जरा मरण आदिथी यतां अपरिमित दुःख लोगवतां एव आ संसाररूपी पाडाभां पडीने कष्ट लोगवे छे.

प्रश्न—आत्मा अमूर्त्त (अरूपी) छे अने कर्म मूर्त्त (रूपी) छे. अने कारणे अने जेउने परस्पर अंध केवी रीते थछे शके ? जे मूर्त्तने अंध अमूर्त्तनी साथे थछे शके तो आकाशा-स्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अने कालनी साथे पणु कर्मोंने अंध थछे जशे, कारणे के ते पणु अमूर्त्त छे.

उत्तर—तमे कहे छे के आत्मा अमूर्त्त छे, तो अतावे के आत्मा सर्वथा अमूर्त्त छे के कथञ्चित् अमूर्त्त छे ? जे कहेशे के आत्मा सर्वथा अमूर्त्त छे तो हेतु असिद्ध थछे जशे, कारणे के आगममां आत्माने सर्वथा अमूर्त्त मान्ये नथी.

अगर 'कथञ्चित् अमूर्त्त' कहेशे तो कथञ्चित् मूर्त्त पणु थछे, अने जे (संसारा-वस्थानी) अपेक्षाअने आत्मा मूर्त्त छे ते अपेक्षाअने कर्मोंने अंध थाय छे. मुक्तात्मा मूर्त्त नथी तेथी तेने अंध पणु थतो नथी.

अथवा जे आकाश अमूर्त्त छे अने घट मूर्त्त छे, तथापि अने जेउने संयोग-संअंध

किञ्च—यथा मूर्त्तामूर्त्तयोः घटाकाशयोः संयोगरूपः सम्बन्धः, करक्रिययोर्मूर्त्ता-  
मूर्त्तयोः समवायसम्बन्धः परैरङ्गीक्रियते तथाऽऽत्मकर्मणोरमूर्त्तमूर्त्तयोः सम्बन्धे न काचि-  
दनुपपत्तिर्नाम । अपि च यथा शरीरमिदमात्मसम्बद्धं प्रत्यक्षमुपलभ्यते तथा प्रेत्य भवा-  
न्तरगमननिमित्तं कार्मणलक्षणं शरीरान्तरमप्यात्मसम्बद्धमिति स्वीकर्त्तव्यम् ।

नन्वपूर्वापरपर्यायाऽदृष्टहेतुकमिदमेव शरीरं तत्रास्ति न कार्मणशरीरमिति चेत्, अदृ-  
ष्टममूर्त्तं मूर्त्तं वा ? अमूर्त्तत्वे कथं स्थूलमूर्त्तशरीरेण तत्सम्बन्धः? भवन्मते तदसम्भवात् ।  
सम्भवे चाऽऽत्मकर्मसंयोगेन किमपराद्धम् ?, अथ मूर्त्तत्वमङ्गीक्रियते तदाऽन्धसर्पबिल-  
प्रवेशन्यायेन मूर्त्तामूर्त्तयोः सम्बन्धः स्वीकृत एव ॥

स्वीकार क्रिया है, उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा और मूर्त्त कर्मका बन्ध भी युक्ति—युक्त ही है ।

अथवा जैसे आत्मासे संबद्ध यह शरीर प्रत्यक्षसे सिद्ध है उसी प्रकार परलोकमें गमन  
करनेवाला कार्मण शरीर भी आत्मासे सम्बन्ध है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

यदि ऐसा कहो कि—‘अपूर्व’ ‘अदृष्ट’ के कारण यही शरीर परलोकके लिए गति कराता  
है तो हम पूछेंगे कि वह अदृष्ट अमूर्त्त है या मूर्त्त ? अमूर्त्त है तो स्थूल मूर्त्त शरीरके साथ अदृष्टका  
संयोग कैसे हुआ ? क्योंकि तुम्हारे मतसे ऐसा होना असंभव है । बिना अदृष्टके सम्बन्धके  
स्थूल शरीरमें चेष्टा नहीं हो सकती । संभव मानों तो आत्मा और कर्मके संयोगने क्या अपराध  
किया है ? अर्थात् जब अमूर्त्त अदृष्ट और मूर्त्त शरीरका सम्बन्ध हो सकता है तो आत्मा और  
कर्मका भी संयोग हो सकता है ।

अगर अदृष्ट(भाग्य) को मूर्त्त मानो तो अमूर्त्त आत्माके साथ उसका सम्बन्ध स्वीका  
करनेसे यह मान लियाकि अमूर्त्त और मूर्त्तका सम्बन्ध होता है । जैसे अंधा सर्प इधर उधर भट-  
ककर फिर बिलमें प्रवेश करता है वैसेही तुमने कल्पनासे इधर उधर दौड़कर अंतमें अमूर्त्तका मूर्त्त  
के साथ संबन्ध स्वीकार करही लिया ।

थाय છે, અને જેમ મૂર્ત હાથ તથા હાથથી થનારી અમૂર્ત ક્રિયાનો ધીબઓએ સમવાય-  
સંબંધ સ્વીકાર્યો છે, એ પ્રકારે અમૂર્ત આત્મા અને મૂર્ત કર્મનો બંધ પણ યુક્તિયુક્ત જ છે.

અથવા જેમ આત્માથી સંબંધ આ શરીર પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે તેમ પરલોકમાં ગમન  
કરાવનારું કાર્મણુ શરીર પણ આત્માથી સંબંધ છે એવો સ્વીકાર કરવો જોઈએ.

જે એમ કહેા કે ‘અપૂર્વ’ યા ‘અદૃષ્ટ’ ને કારણે આ શરીર પરલોકને માટે ગતિ કરાવે  
છે, તો અમે પૂછીશું કે એ અદૃષ્ટ અમૂર્ત છે કે મૂર્ત ? અમૂર્ત છે તો સ્થૂલ મૂર્ત શરીરની  
સાથે અદૃષ્ટનો સંયોગ કેવી રીતે થયો ?, તમારે મતે એમ થવું અસંભવિત છે. અદૃષ્ટના  
સંબંધ વિના સ્થૂલ શરીરમાં ચેષ્ટા થઈ શકતી નથી. સંભવ માનો તો આત્મા અને કર્મ  
ના સંયોગે શો અપરાધ કર્યો છે ? અર્થાત્ જે અમૂર્ત અદૃષ્ટ અને મૂર્ત શરીરનો સંબંધ  
થઈ શકે છે તો આત્મા અને કર્મનો પણ સંયોગ થઈ શકે છે.

અગર અદૃષ્ટ (ભાગ્ય) ને મૂર્ત માનો તો અમૂર્ત આત્માની સાથે એનો સંબંધ સ્વી-



ननु कर्मसंयोगादात्मनो मूर्त्तत्वं संपद्यते, तस्मिंश्च सति बन्धसम्बन्धो युज्यते, कर्मबन्धात्पूर्वं तु आत्मनो मूर्त्तत्वाभावात् कथमिव बन्धः संभावनासरणिमारोहं प्रभवेदिति चेन्न, जीवकर्मणोः खनौ सुवर्णोपलयोरिव संयोगस्याऽनादिकालिकत्वात् ।

नच 'जीवकर्मणोः सम्बन्धस्याऽनादित्वे मोक्षो नैव संभवति अनादेरन्ताभावादाकाशात्मनोरिवे'-ति वाच्यम् अनाद्यनन्तत्वयोरविनाभावाऽभावात्, अनादेरपि घटादिप्रागभावस्य सान्तत्वोपलम्भात्, अनादेरपि बीजाङ्कुरादिसन्तानस्य दाहादिकारणवशात्सान्ततादर्शनाच्च, इत्यलमतिविस्तरेण । बन्धस्वरूपमुच्यते—

प्रश्न—कर्मका संयोग होनेपर आत्मा मूर्त्त होती है और मूर्त्त हो जाने पर बंध हो सकता है किन्तु कर्मबंध होनेसे पहले तो आत्मा मूर्त्त नहीं थी, फिर बंधकी संभावना कैसे हो सकती है ।

उत्तर—जैसे खानमें रहे हुए सुवर्ण तथा पाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन है, वैसेही जीव और कर्मका भी सम्बन्ध अनादिकालीन है ।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जिसकी आदी नहीं होती उसका अंत भी नहीं होता है, जैसे जीव और आकाशका सम्बन्ध कभी नष्ट नहीं होता, इस नियमके अनुसार यदि जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिन है तो कभी उसका भी अंत न होगा, फिर किसीको मोक्ष मिल ही नहीं सकेगा ।

उनका यह कथन दूषित है, क्योंकि घट आदिका प्राग् अभाव यद्यपि अनादिकालीन है फिर भी घट उत्पन्न होते ही उसका अन्त हो जाता है ।

बीज तथा वृक्षकी परम्परा भी अनादिकालीन है तथापि यदि बीज जल जाय तो उस

कारणवती अम मानी लीधुं के अभूतं अने भूतंनो संबंध थाय छे, नेम आंधणो सर्प अही-तहीं लटकीने पछी दरमां प्रवेश करे छे, तेम तमे कल्पनाथी अही-तहीं होडीने छेवटे अभूतंनो भूतंनी साथे संबंध स्वीकार करी लीधो।

प्रश्न-कर्मनो संयोग थया पछी आत्मा भूतं थाय छे अने भूतं थया पछी अंध थर्ष शके छे, परन्तु कर्मबंध थया पछेलां तो आत्मा भूतं न छतो, अभूतं छतो, पछी अंधनी संभावना केवी रीते छोछ शके छे ?

उत्तर-नेम आणुमां रहेला सुवर्ण तथा पाषाणुनो संबंध अनादि काणनो छे. तेम अणु अने कर्मनो पणु संबंध अनादिकाणनो छे.

कौंछ-कौंछ अम कडे छे के नेनी आदि नथी तेनो अंत पणु होतो नथी, नेमके अणु अने आकाशनो संबंध कदापि नष्ट थतो नथी. अे नियमानुसार ने अणु-कर्मनो संबंध अनादिकाणनो छे तो कदापि तेनो अंत थशे नहिं, पछी कौंछने मोक्ष मणी शकशे नहिं.

अेनुं अे कथन दूषित छे, कारणु के घट आदिने प्राग् अलाव ने के अनादिकाणनो छे; तोपणु घट उत्पन्न थतां न तेनो अंत थर्ष जय छे. भीन तथा वृक्षनी परंपरा पणु अनादिकाणनी छे तथापि ने भीन मणी जय तो अे परंपरानो अलाव थर्ष जय छे, तेथी

बन्धश्चतुर्विधः—प्रकृति-स्थित्य-नुभाग-प्रदेशभेदात्, तत्र—प्रकृति = स्वभावः आत्म-गृहीतकर्मपुद्गलानां तत्तच्छक्तिरूपतया परिणमनलक्षणः, यथा=निम्बस्य तिक्रत्वम्, गुड-स्य मधुरत्वमित्यादि, तथा ज्ञानावरणीयस्य जीवादिपदार्थानवबोधकत्वम् (१), दर्शनाव-रणीयस्य जीवादीनामनालोचकत्वम् (२), वेदनीयस्याऽव्याबाधकत्वम् (३), मोहनीयस्य तत्त्वारुचित्वमव्रतित्वं च (४), आयुषो भवाधायकत्वम् मोक्षस्य साधनन्तस्थित्याच्छादक-त्वमित्यर्थः (५), नाम्नोऽमूर्त्तत्वगुणनिरोधकत्वम् (६), गोत्रस्यागुरुलघुगुणघातकत्वम् (७), अन्तरायस्य च दानादिप्रतिघातकत्वम् (८), तद्रूपो बन्धः प्रकृतिबन्धः १ ।

परम्पराका अभाव हो जाता है, इसलिए आत्मकर्म संयोग अनादि होनेपर भी सान्त हो सकता है ।

बन्धका स्वरूप कहते हैं—बन्ध चार प्रकारका है—(१) प्रकृतिबंध, (२) स्थितिबंध, प्रदेशबंध (३) अनुभागबन्ध, और (४)

(१) प्रकृतिबंध—प्रकृति स्वभावको कहते हैं । अर्थात् आत्माके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मों में अमुक अमुक प्रकारकी शक्तिका आजाना । जैसे—नीमका स्वभाव कटुकता, गुडका स्वभाव माधुर्य इत्यादि । इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव है—आत्माके ज्ञानको आच्छादित करना १ दर्शनावरण का स्वभाव है—दर्शनको रोकना २ । अव्याबाध गुणको प्रगट न होने देना वेदनीय कर्मका ३ । जीवादि तत्त्वोंमें रुचि न होने देना तथा चारित्रको रोकना मोहनीय कर्मका ४ । किसी शरीरमें रोक रखना आयुर्कर्मका ५ । अमूर्त्तत्व गुणको प्रगट न होने देना नामकर्मका ६ । अगुरुलघुत्व गुणका नाश कर देना गोत्रकर्मका ७ । तथा दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका स्वभाव है । ८ । इसीको प्रकृतिबन्ध कहते हैं ।

आत्म-कर्म-संयोग अनादि होवा छतां यत् सान्त थछ शके छे अंधनु स्वरूप कडे छे-  
अंध चार प्रकारने छे. (१) प्रकृति-अंध, (२) स्थिति-अंध, (३) अनुभागअंध अने प्रदेश-अंध.

(१) प्रकृति-अंध—प्रकृति स्वभावने कडे छे, अर्थात् आत्मा वडे प्रकृत करायलां कर्मोंमां अमुक-अमुक प्रकारनी शक्ति आवि जवी ते. जेम लींअडाने स्वभाव कटुता (कडवाश) छे, गोलने स्वभाव मधुरता (मिठाश) छे, धत्यादि. जे रीते ज्ञानावरणीय कर्मने स्वभाव आत्माना ज्ञानने आच्छादित करवाने (ढांकवाने) छे १. दर्शनावरणने स्वभाव दर्शनने रोकवाने छे २. अव्याबाध गुणने प्रकट न थवा हेवा जे वेदनीय-कर्मने स्वभाव छे ३. जीवादि तत्त्वोंमां रुचि न थवा हेवीः तथा चारित्रने रोकवुं जे मोहनीय-कर्मने स्वभाव छे ४. कोई शरीरमां आत्माने रोकरी राखवे जे आयु-कर्मने स्वभाव छे ५. अमूर्त्तत्व गुणने प्रकट थवा न हेवे जे नामकर्मने स्वभाव छे ६. अगुरु-लघुत्व गुणने नाश करवे जे गोत्रकर्मने स्वभाव छे ७. तथा दान लाभ भोग उपभोग अने वीर्यमां विघ्न नाखवुं जे अन्तराय-कर्मने स्वभाव छे ८. जेने प्रकृति-अंध कडे छे.

स्थितिः=जघन्यादिभेदेन कर्मणामात्मना सहावस्थानं, तल्लक्षणो बन्धः स्थिति-  
बन्धः २ ।

अनुभागो=रसः=कर्मणां फलदातृत्वशक्तितारतम्यं, तत्स्वरूपो बन्धोऽनुभागबन्धः ३ ।

प्रदेशः=कर्मदलसञ्चयस्वरूपः=अनन्तानन्तकर्मप्रदेशानामियत्तारूपेण जीवप्रदेशेषु  
सम्बन्धस्तल्लक्षणो बन्धः प्रदेशबन्धः ४ । उक्तञ्च—

“स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥१॥” इति ।

एतेषां स्वरूपं च सुखावबोधाय मोदकदृष्टान्तेन प्रदर्श्यते—

यथा कस्यचिदौषधमोदकस्य प्रकृतिर्वातहारिका, कस्यचित्पित्तहारिका, कस्यचि-  
त्कफहारिणी, कस्यचिद् बुद्धिनाशिनी, तथा कस्यचित्कर्मणः प्रकृतिर्ज्ञानावरणकारिणी,  
कस्यचिद्दर्शनावरणविधायिनीत्येवमादिविभिन्नशक्तिमतां कर्मणां बन्धः प्रकृतिबन्धः (१) ।

(२) स्थितिबन्ध—बंधे हुए कर्म आत्माके साथ अघन्य कितने काल तक रहेंगे और उत्कृष्ट  
कितने काल तक रहेंगे, इस कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं ।

(३) अनुभागबन्ध—फल देनेवाली कर्मोंकी शक्तिके तरतम्यको अनुभागबन्ध कहते हैं ।

(४) प्रदेशबन्ध—कितने कर्म आत्माके साथ बन्धको प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार कर्मप्रदेशों-  
की परिगणनाको प्रदेशबन्ध कहते हैं । कहा भी है—

“स्वभावको प्रकृतिबन्ध, कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध, रसको अनुभागबन्ध और कर्मपु-  
द्गल्लोके समूहको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१॥”

सरलतासे समझानेके लिए मोदकका दृष्टान्त देकर चारों बन्धोंका स्वरूप दिखलाते हैं—

(१) जैसे किसी औषध—मोदककी प्रकृति वातको हरने वाली होती है किसी की पित्तको  
हरने वाली होती है, किसी की कफको हरने वाली होती है और किसी मोदककी प्रकृति बुद्धिको

(२) स्थितिबंध—बंधावस्थां कर्म आत्मानि साथे अघन्य केटला काणसुधी रडेशे  
अने उत्कृष्ट केटला काणसुधी रडेशे अने काणनी मर्नादाने स्थितिबंध कडे छे.

(३) अनुभाग बंध—इण आपनारी कर्मोनी शक्तिना तारतम्यने अनुभाग—बंध—कडे छे.

(४) प्रदेशबंध—केटलां कर्मो आत्मानि साथे बंधने प्राप्त थयां छे, अने प्रकारे कर्म  
प्रदेशोनी परिगणनाने प्रदेश—बंध कडे छे. कल्युं छे के—

“स्वभावने प्रकृतिबंध, काणनी मर्यादाने स्थितिबंध, रसने अनुभाग—बंध अने कर्म  
पुद्गलाना समूहने प्रदेशबंध कडे छे.” (१)

सरणताथी समझवाने माटे मोदकनुं दृष्टान्त आपीने आरे अंधानुं स्वरूप अतावे छे—

(१) जेभ कोर् औषध—मोदकनी प्रकृति वायुने हरवावाणी छे. कोर्नी शक्ति पित्तने  
हरवावाणी छे, अने कोर् मोदकनी प्रकृति बुद्धिने नष्ट करवावाणी होय छे. अने रीते कोर्  
कर्मनी प्रकृति ज्ञाननुं आवरणु करनारी होय छे, कोर्नी दर्शननुं आवरणु करनारी होय छे

यथा कस्यचिन्मोदकस्य स्थितिः सप्ताहोरात्रव्यापिनी, कस्यचित्पक्षव्यापिनी, कस्य-  
चनैकादिकमासं यावत् स्थितिस्तथा कस्यचित्कर्मणस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमा स्थितिः,  
कस्यचिद्विंशतिकोटीकोटीसागरोपमा, कस्यचन सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमा, कस्यचि-  
च्चान्तर्महूर्त्तपरिच्छिन्ना, एवं विभिन्नकर्मणां नियतकालावस्थानं स्थितिबन्धः (२) ।

यथा कस्यचिन्मोदकस्यानुभागो(रसो) ऽतिमधुरः स्वल्पमधुरो वा, कस्यचिदति-  
कटुकः स्वल्पकटुको वा, कस्यचिच्च नातिमधुरो नाप्यतिकटुको भवति, द्विगुणीकरणा-  
दिना च स एव मन्द-मन्दतरत्वादिव्यपदेशं च लभते, तथा कर्मणामपि 'शुभाशुभादिरू-

नष्ट करनेवाली होती है। इसी प्रकार किसी कर्मकी प्रकृति ज्ञानका आवरण करनेवाली होती है  
और किसीकी दर्शनका आवरण करनेवाली होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शक्तिवाले कर्मोंका  
बन्ध होना प्रकृतिबन्ध है।

(२) जैसे किसी मोदककी स्थिति एक सप्ताहकी होती है, किसी मोदककी स्थिति एक पक्ष  
(पखवाड़े) की होती है, किसी मोदककी स्थिति एक मासकी होती है, वैसे ही किसी कर्मकी स्थि-  
ति तीस कोडाकोडी सागरोपमकी होती है, किसीकी बीस कोडाकोडी सागरोपमकी होती है, किसी  
की सत्तर कोडाकोडी सागरोपमकी होती है, किसी कर्मकी अन्तर्मुहूर्त्त मात्रकी होती है, इस  
प्रकार विभिन्न कर्मोंका अमुक समय तक आत्माके साथ स्थित रहना स्थितिबन्ध कहलाता है।

(३) जैसे किसी मोदकका स्वाद (रस) बहुत मीठा होता है, किसी मोदकका कम मीठा  
होता है, किसीका स्वाद बहुत कडुआ होता है, किसीका कम कडुआ होता है, किसी का  
स्वाद न अधिक मीठा होता है, न अधिक कडुआ होता है, उसे ही द्विगुण आदि करदेनेसे  
वही मन्द मन्दतर आदि कहलाने लगता है। वैसे ही कर्मोंका रस शुभ अशुभ रूपसे तीव्र,  
तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द मन्दतर और मन्दतम आदि भेदोंसे विविध प्रकारका होता है उसे ही

એ રીતે ભિન્ન-ભિન્ન શક્તિવાળાં કર્મોના બંધ થવો એ પ્રકૃતિબંધ કહેવાય છે.

(૨) જેમ કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક સપ્તાહની હોય છે, કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક  
પક્ષ (પખવાડિયું) ની હોય છે, કોઈ મોદકની સ્થિતિ એક માસની હોય છે, તેમજ કોઈ  
કર્મની સ્થિતિ ત્રીસ કોડાકોડી સાગરોપમની હોય છે, કોઈની વીસ કોડાકોડી સાગરોપમની  
હોય છે; કોઈની સત્તર કોડાકોડી સાગરોપમની હોય છે., કોઈ કર્મની સ્થિતિ માત્ર અંત  
મુહૂર્તની હોય છે. એ પ્રકારે વિભિન્ન કર્મોનું અમુક સમય સુધી આત્માની સાથે સ્થિત  
રહેવું એ સ્થિતિબંધ કહેવાય છે,

(૩) જેમ કોઈ મોદકનો સ્વાદ (રસ) બહુ મીઠો હોય છે. કોઈ મોદકનો એછો  
મીઠો હોય છે, કોઈ મોદકનો સ્વાદ બહુ કડવો હોય છે, કોઈનો એછો કડવો હોય છે,  
કોઈનો સ્વાદ ન વધુ મીઠો કે ન વધુ કડવો હોય છે, તેને દ્વિગુણ (બેવડો) કરવાથી તે મંદ-  
મંદતર આદિ કહેવાવા લાગે છે, એજ રીતે કર્મોના રસ શુભ અશુભ રૂપથી તીવ્ર, તીવ્ર-  
તર, તીવ્રતમ, મંદ, મંદતર, મંદતમ આદિ ભેદોએ કરીને વિવિધ પ્રકારનો થાય છે. એને

पेण तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द-मन्दतर-मन्दतमत्वादिभेदभिन्नो बन्धोऽनुभागबन्धो रस-  
बन्धव्यपदेश्यः (३) ।

१ शुभकर्मणामनुभागो (रसो) द्राक्षेक्षुक्षीरमाक्षीकवदतिमधुरो भवति, यदनुभवेन जीवः  
सान्द्रानन्दसन्दोहदुन्दिलान्तःकरणो जायते । अशुभकर्मणां रसस्तु निम्बकिराततिकादिवद-  
तितरां तिको भवति, यदनुभवेन जोवोऽनिर्वचनीयं व्याकुलीभावं भजते, तीव्रतीव्रतरत्वा-  
दिवोघनार्थं च दृष्टान्तः प्रदर्श्यते इक्षुनिम्बयोरन्यतरस्य चतुःशेटकपरिमितो रसः 'स्वाभा-  
विकरस' इत्युच्यते, वङ्कितापद्वारोत्कालितो यदा शेटकचतुष्टयस्थाने शेटकत्रितयमात्रोऽव-  
शिष्येत तदाऽसौ 'तीव्र' इत्युच्यते, पुनस्तकालनेन शेटकद्वितयमात्रोऽवशिष्यते तदा तीव्र-  
तर' इत्यभिधीयते, पुनरप्युत्कालनेन शेटकैकमात्रेऽवशिष्टे 'तीव्रतम' इति कथ्यते ।

इक्षु निम्बयोरेव शेटकैकमात्रो रसः 'स्वाभाविकरसः' इत्युच्यते, एकशेटकजलमेलनेन  
'मन्दरस' इति, द्विशेटकजलसंयोजनेन 'मन्दतरो रस' इति, शेटकत्रितयपरिमितजलसम्बन्धेन  
'मन्दतमो रस' इति व्यपदेशं लभते ।

अनुभागबन्ध कहते हैं । शुभ कर्मोंका अनुभाग (रस) दाख, सांठा, गन्ना दूध या मधुके समान  
अतिमधुर होता है, इसके उपभोगसे आत्मामें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होता है । अशुभ  
कर्मोंका फल नीम चिरायता आदिके समान अत्यन्त तिक्त होता है, इसका अनुभव करनेसे जीव  
अतिशय व्याकुलता प्राप्त करता है । तीव्र तीव्रतर आदि समझाने के लिये उदाहरण देते हैं  
इक्षु या नीममें से किसका चार सेर रस 'स्वाभाविक रस' कहलाता है यदि अग्निमें उकालने पर  
तीन सेर रह जाय तो वह तीव्रतम कहलाता है ।

इक्षु और निम्बका एक सेर रस स्वाभाविक रस, उसमें एक सेर जल मिला दिया जाय तो  
मन्द, दो सेर मिलानेसे मन्दतर, तीन सेर मिलानेसे मन्दतम रस कहलाता है ।

७ अनुभागबन्ध या रसबन्ध कडे छे.

१. शुभ कर्मोना अनुभाग (रस) द्राक्ष, शेरडी, दूध या मधना जेवो अतिमधुर होय छे.

जेना उपलोग्थी आत्माभां अत्यंत आनंद उत्पन्न थाय छे. अशुभ कर्मोनां इण  
लीणडा, करियातुं आदिनी पेठे अत्यंत तिक्त होय छे. जेना अनुभव करवाथी एव अति-  
शय व्याकुलता प्राप्त करे छे. तीव्र तीव्रतर आदि समभववाने उदाहरणु आपे छे-शेरडी या  
लीणडाभांथी कडेवो कडनेनार शेर रस 'स्वाभाविक रस' कडेवाय छे. जे तेने अग्नि पर  
उकाणवाथी त्रणु शेर रडे तो ते तीव्र कडेवाय छे, इरी उकाणवाथी जे शेर रडे तो ते तीव्र-  
तर कडेवाय छे. अने तेने इरीथी उकाणता मात्र शेर आकी रडे तो ते तीव्रतम कडेवाय छे.

शेरडी अने लीणडाना जेक शेर स्वाभाविक रसभां जे जेक शेर पाणी भेणववाभां  
आवे तो मंद जशेर पाणी भेणवतां मंदतर अने त्रणु शेर पाणी भेणववाथी मंदतम रस  
कडेवाय छे.

યથા કસ્યચિન્મોદકસ્ય પ્રદેશઃ=કણિકાદિદલસશ્ચયઃ પરિમાણેન દ્વિકર્ષમિતઃ,,  
કસ્યચિત્કર્ષત્રયમિતઃ, एवं कस्मिंश्चित् कर्मदले परिमाणतोऽधिकसंख्याकाः, कस्मिंश्चिन्न्यून-  
नसंख्याकाः, इत्येवं न्यूनाधिक्यरूपेण कर्मवर्गणाभिरात्मनोऽभिसम्बन्धः प्रदेशबन्धः (४)।

મોક્ષમ્=મોક્ષર્ણ મોક્ષઃ સ ચ દ્રવ્યભાવભેદાદ્દ્વિવિધઃ, તત્ર દ્રવ્યતો નિગઢાદિતઃ,  
ભાવતો જ્ઞાનાવરણીયાઘટ્ટવિધકર્મપાશતઃ પૃથગ્ભવનમાત્મનઃ, પ્રકૃતે ચ ભાવમોક્ષસ્ય આત્મનઃ  
પુનરપ્રાદુર્ભાવપેશકર્મક્ષયાદનન્તજ્ઞાનશાશ્વતાવસ્થિતિ --કૃતકૃત્યત્વાઽવ્યાબાધસુખસ્વરૂપસ્ય  
ગ્રહણમ્ ।

અત્ર બૌદ્ધા-“દીપનિર્વાણવદાત્મનો નિર્વાણં મોક્ષઃ” યથોક્તમ્—

“દીપો યથા નિર્વૃત્તિમભ્યુપેતો, નૈવાવર્નિ ગચ્છતિ નાન્તરિક્ષમ્ ।

દિશં ન ક્ષાશ્ચિદ્દિશં ન કાશ્ચિત્, સ્નેહક્ષયાત્કેવલમેતિ શાન્તિમ્ ॥૧॥

(૪) जैसे किसी मोदकमें आटे आदिके प्रदेश, परिमाणमें दो तोला होता है, किसीका  
तीन तोला होता है । इसी प्रकार किसी कर्मदलमें अधिक संख्यावाले प्रदेश हैं, किसी कर्मदलमें  
कम संख्यावाले प्रदेश होते हैं, अतः न्यूनाधिक रूपसे कर्मवर्गणाओंके साथ आत्माका सम्बन्ध  
होना प्रदेशबन्ध है ।

छूटनेको मोक्ष कहते हैं, मोक्ष भी दो प्रकारका है—(१) द्रव्यमोक्ष और (२) भावमोक्ष  
बेड़ी आदिसे छूटना द्रव्यमोक्ष है और ज्ञानावरण आदि आठ कर्मरूपी पाशसे आत्माका मुक्त हो  
जाना भावमोक्ष है ।

यहां समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक अभावसे उत्पन्न होनेवाले अनन्त ज्ञान, शाश्वत स्थिति,  
कृत-कृत्यता, अव्याबाध सुखस्वरूप भाव-मोक्षका ग्रहण किया गया है ।

बौद्धमतावलम्बी मानते हैं कि—“जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्माका अभाव  
हो जाना मोक्ष है” । कहाभी है—

(४) જેમ કેઈ મોદકમાં આટા આદિનો પ્રદેશ પરિમાણમાં બે તોલા હોય છે, કેઈમાં  
ત્રણ તોલા હોય છે; એજ રીતે કેઈ કર્મદળમાં અધિક સંખ્યાવાળા પ્રદેશો હોય છે, કેઈ  
કર્મદળમાં ઓછી સંખ્યાવાળા પ્રદેશો હોય છે, એમ ન્યૂનાધિક રૂપે કર્મવર્ગણાઓની સાથે  
આત્માનો સંબંધ થવો એ પ્રદેશબંધ છે.

છૂટવાને મોક્ષ કહે છે. મોક્ષના પણ બે પ્રકાર છે. (૧) દ્રવ્ય-મોક્ષ અને (૨) ભાવમોક્ષ  
બેડી વગેરેથી છૂટવું એ દ્રવ્યમોક્ષ છે અને જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મરૂપી પાશથી આત્મા-  
નું મુક્ત થઈ જવું તે ભાવમોક્ષ છે.

અહીં સર્વ કર્મોના આત્યન્તિક અભાવથી ઉત્પન્ન થનારાં અનન્ત જ્ઞાન, શાશ્વત-સ્થિતિ  
કૃતકૃત્યતા, અવ્યાબાધ-સુખ-સ્વરૂપ ભાવમોક્ષને અહણ કરવામાં આવેલ છે.

બૌદ્ધમતાવલંબીઓ માને છે કે—“જેમ દીપક ખુટી જાય છે તેમ આત્માનો અભાવ  
થઈ જવો એ મોક્ષ છે,” કહ્યું છે કે—

जीवस्तथा निवृत्तिमभ्युपेतो, नैवावर्नि गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥२॥”

इत्याहुस्तच्छाश्वतावस्थितिपदेन निराकृतम्, सतोऽत्यन्तविनाशाभावात्, तस्मादात्मनः सकलकर्ममलविरहिता सद्भावस्वरूपा काचिदवस्थाऽवश्यम्भाविनी ।

न च 'दीपस्याभ्रस्य वा निरन्वयविनाशदर्शनादात्मनः स (निरन्वयविनाशः) कथं ने-’ति शङ्कनीयम् ; तयोरपि निरन्वयविनाशानभ्युपगमात्, यथा कर्पूरस्य 'पिपरमेष्ट' इति ख्यातपदार्थस्य वा वातेन द्वियमाणस्य परिणमनसौक्ष्म्यादिन्द्रियगोचरत्वापायेऽपि न सर्व-

जैसे दीपककी ज्वाला जब नष्ट हो जाती है, तब न भूमिकी ओर जाती है न आकाशकी ओर जाती है, न किसी दिशामें जाती है, न किसी विदिशामें जाती है, किन्तु स्नेह (तेल) का अभाव हो जानेसे शान्त हो जाती है ॥१॥

इसी प्रकार मुक्त जीव न भूमिकी ओर जाता है, न आकाशकी ओर जाता है, न किसी दिशामें जाता है, न विदिशामें जाता है; हां, दुःखोंका क्षय होजानेसे शान्त हो जाता है, अर्थात् मुक्त अवस्थामें जीवका अभाव हो जाता है ॥२॥”

ऐसा माननेवाले बौद्धोंका खण्डन मौक्षके लक्षणमें आये हुए 'शाश्वत अवस्थिति' पदसे किया गया हैं, क्योंकि सत् पदार्थका कभी अभाव नहीं होता जब सत् पदार्थका आभाव नहीं हो सकता तो आत्माकी भी समस्त कर्मोंसे रहित विद्यमान अवस्था अवश्य होनी चाहिये ।

बौद्ध—जब दीपककी ज्वालाका तथा मेघका निरन्तर नाश देखा जाता है तो आत्माका निरन्वय (सर्वथा) नाश क्यों नहीं हो सकता ? ।

जैन—यह कहना सत्य नहीं है कि दीपककी ज्वाला और मेघ का निरन्वय नाश होजाता है । वह सूक्ष्म रूपसे परिणमन होनेसे यद्यपि इन्द्रियगोचर नहीं होता तथापि उसका सर्वथा अभाव

“जेम दीपकनी ज्वाला ज्यारे नष्ट थर्ध जय छे, त्यारे नथी ते भूमिनी तरक्ष जती, नथी विदिशाभां जती परंतु स्नेह (तेल) नो अलाव थवाथी शान्त थर्ध जय छे. (१)

जे रीते मुक्त ज्व नथी भूमिनी तरक्ष जतो, नथी आकाशनी तरक्ष जतो, नथी केध दिशाभां जतो, डा, दुःखेनो क्षय थर्ध जवाथी शान्त थर्ध जय छे, अर्थात् मुक्त अवस्थाभां ज्वनो अलाव थर्ध जय छे.” (१)

जेम माननारा बौद्धोनुं ञंडन मोक्षना लक्षणुभां आवेला 'शाश्वत अवस्थिति' शब्द वडे करवाभां आव्युं छे, कारणु के सत् पदार्थनो कदापि अलाव थतो नथी. जे सत् पदार्थनो अलाव थर्ध शकतो नथी तो आत्मानी पणु सर्व कर्मोथी रहित विद्यमान अवस्था अवश्य होवी जेधजे.

बौध—जे दीपकनी ज्वालानो तथा मेघनो निरन्वय नाश जेवामां आवे छे, तो आत्मानो निरन्वय (सर्वथा) नाश केम न थर्ध शके ?

जैन—जेम कडेवुं सत्य नथी के दीपक ज्वालाअने मेघनो निरन्वय नाश थर्ध जय

थाऽभावः किन्त्ववस्थान्तरेण परिणतिमात्रम्, तथैव प्रदीपपर्यायाऽऽपन्नाः पुद्गलास्तम-  
स्त्वेन परिणमन्ति, एवमभ्रस्यापि विशीर्यमाणस्य पुद्गलपुञ्जः परिणामसूक्ष्मत्वेन दृष्टिपथम-  
प्राप्तोऽपि न पुद्गलत्वेनाऽसद्भूतः। एवमेवाऽऽत्मापि कृत्स्नकर्मकलापविप्रमुक्तः शुद्धः-  
सिद्धो बुद्धोऽनन्तगुणसमृद्धो मोक्षावस्थायामपि विद्यत एवेति।

अत्र 'अनन्तज्ञाने'- तिविशेषणेन नैयायिकवैशेषिकाभिमतं मतं निरस्तम्। तथाच

“बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष प्रयत्न-धर्मा-अधर्म-संस्कारस्वरूपाणां नवानामात्मविशेष-  
णगुणानामत्यन्तविच्छेदो मोक्षः” इति। अत्रोच्यते-बुद्ध्यादयो गुणा आत्मनो भिन्ना अभि-  
न्ना वा?, अभिन्नाश्चेत्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशोऽवश्यम्भावी तत्स्वरूपत्वात्, औ-  
ष्ण्यविनाशे वह्निविनाशवत्, तथा च तदानीं कस्य मोक्षः?। भिन्नाश्चेत्तर्हि वह्निशैत्ययो-

नहीं होजाता, वः दूसरी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होजाता है। इसी तरह प्रदीप अवस्था वाले  
पुद्गल अन्धकाररूपमें परिणत होजाते हैं। मेघ जब छिन्न-भिन्न हो जाता है तो सूक्ष्मरूपमें परि-  
णत होजाने से इन्द्रियोंद्वारा गृहीत नहीं हो सकता तथापि पुद्गल के रूपमें विद्यमान रहता हो है।  
ऐसे ही समस्त कर्मोंसे रहित, शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, और अनन्त गुणों से समृद्ध आत्मा मोक्ष-  
अवस्थामें भी विद्यमान रहती है।

‘अनन्तज्ञान’ विशेषण से नैयायिक-वैशेषिक मत का निराकरण किया गया है।

उनकी मान्यता है कि “बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और  
संस्कार, इन आत्मा के नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है।”

यहाँ पूछना यह है कि-बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न  
है तो गुणोंका नाश होने पर आत्माका भी नाश हो जायगा, क्योंकि आत्मा और गुण भिन्न  
नहीं हैं-एक ही है, जैसे उष्णता का नाश होनेपर अग्निका नाश हो जाता है। जब आत्मा का

छे. सूक्ष्मरूपमा परिणमन यथाथी जे के ते इन्द्रियगोचर यतां नथी, तथापि जेना सर्वथा  
अभाव थय जतो नथी. ते भीष्ण सूक्ष्म अवस्थाने पाये छे. जे रीते प्रदीप अवस्थावाणां  
पुद्गल अंधकाररूपमां परिणुत थय जय छे. मेघ ज्यारे छिन्न-भिन्न थय जय छे त्यारे  
ते सूक्ष्मरूपमा परिणुत थय जवाथी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण थय शकतो नथी, तोपण्य पुद्गलना  
रूपमां विद्यमान तो रडे ज छे, जेवी ज रीते सर्व कर्मोथी रडित, शुद्ध, सिद्ध, पुद्ध अने  
अनंत गुणोथी समृद्ध आत्मा मोक्ष अवस्थांमां पण्य विद्यमान रडे छे.

‘अनन्त ज्ञान विशेषणथी नैयायिक-वैशेषिक मतनुं निराकरण करवांमां आण्युं छे.

तेनी मान्यता जेवी छे के “बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म अने  
संस्कार, जे आत्माना नव विशेष गुणोना अत्यन्त विनाश थय जवे जे मोक्ष छे.”

अही पूछवानुं जे छे के-बुद्धि आदि गुण आत्माथी भिन्न छे के अभिन्न? जे  
अभिन्न छे तो गुणोना नाश थया आद आत्मानो पण्य नाश थय जशे, कारण के आत्मा  
अने गुण भिन्न नथी-जेमके उष्णतानो नाश थवाथी अग्नियो पण्य नाश थय जय छे, जे



रिव तयोर्गुणगुणिभावोऽनुपपन्नः समवायस्याऽसिद्धत्वात्, अत एव न बुद्ध्यादीनामात्म-  
गुणत्वम् । अस्तु वा अयौक्तिकोऽपि गुणगुणिभावस्तथापि ज्ञानसुखाद्यभावादात्मानं को  
जडीकर्तुमुद्यच्छेदिच्छेदपि ? ईदृशाद्भवदभिमतान्मोक्षात्संसारवस्थैव सम्यक्तराऽस्माकम-  
स्तु, यस्मिन् सत्यपि क्लेशे कादाचित्कं स्वल्पमपि सुखं लभ्यत एव ।

लोकेऽपि भवदभिमतमोक्षमाहात्म्यमुपहस्यते यथा—

“वरं वृन्दावने रम्ये, शृगालत्वं ब्रजाम्यहम् ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, प्रार्थयामि कदाचन ॥१॥” इति ।

नाश होजायगा तो मोक्ष किस का होगा ? अगर कहो कि ये गुण आत्मा से भिन्न हैं तो उन-  
का आत्मा के साथ गुण-गुणि सम्बन्ध कैसे हुआ ? भिन्न होनेके कारण जैसे अग्नि और शीतलता  
में गुण-गुणी सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही आत्मा और बुद्धि आदि का भी सम्बन्ध नहीं हो  
सकता । यदि समवाय सम्बन्ध से गुण गुणिभाव मान लोगे तो बुद्धि आदि गुणों का नाश  
नहीं हो सकता क्योंकि समवाय सम्बन्धको तुमने नित्य माना है, अतः बुद्धि आदि आत्मा  
के गुण ही सिद्ध नहीं होते । यद्यपि यह सम्बन्ध युक्ति से तो सिद्ध नहीं होता फिर भी मान  
लोगे तो जबकी मोक्ष में ज्ञान और सुख आदिका अभाव हो जाता है तो कौन बुद्धिमान् अपनी  
आत्मा को इन गुणोंसे रहित जड़ के समान बनाने का प्रयत्न करेगा ? तुम्हारे इस मोक्षसे तो  
संसार ही भला जिसमें दुःखोंके साथ-साथ कभी-कभी थोड़ा बहुत सुख भी मिल जाता है ।  
लोकमें भी तुम्हारे माने हुए मोक्षकी हँसी उड़ाई जाती है, सुनो—

“मैं मनोहर वृन्दावन में शृगाल हो जाना पसंद करता हूँ, किन्तु वैशेषिकका मोक्ष नहीं  
चाहता ॥१॥”

आत्मानो नाश थध जशे तो पछी मोक्ष केनो थशे ? अगर जे कडे के जे शुष्ण आत्मा-  
थी लिन्न छे तो आत्मानो साथे जेनो शुष्ण-शुष्णीनो संभंध केवी रीते थये ? लिन्न  
डोवाने कारणे जेभ अग्नि अने शीतलतामां शुष्ण-शुष्णी संभंध नथी छेतो. तेवी रीते  
आत्मा अने बुद्धि आदिनो पण संभंध नथी छोड शकतो. जे समवाय संभंधथी शुष्ण-  
शुष्णीभाव मानी देशो तो बुद्धि आदि शुष्णोना नाश नथी थध शकतो, कारणे के समवाय  
संभंधने तमे नित्य मान्यो छे. जेथी बुद्धि आदि आत्मानो शुष्ण ज सिद्ध थता नथी.  
जे के जे संभंध युक्तिथी तो सिद्ध नथी थतो, तोपण मानी देशो तो जे मोक्षमां ज्ञान  
अने सुख आदिनो अभाव थध जय छे तो कथो बुद्धिमान पोताना आत्माने जे शुष्णोथ  
रहित जउनी समान बनवावाने प्रयत्न करशे ? तभारा जेवा मोक्ष करतां तो संसार ज  
सारे के जेमां दुःखोनी साथे साथे कोठ-कोठवार थोडुं-धणुं सुख पण मणी जय छे दोको-  
मां पण तभारा मानेला मोक्षनी डांसी उठाववामां आवे छे. सांलणो—

“हुं मनोहर वृन्दावनमां शृगाल ( शियाण ) थध जवानुं पसंद करूं छुं, परंतु  
वैशेषिकानो मोक्ष नथी पसंद करतो.” (१)

યત્તુ “અનન્તસુખરૂપો મોક્ષઃ” ઇતિ તદપ્યસમીચીનમ્ , તથાહિ—તદનન્ત-સુખં મુક્તાત્મનો જ્ઞાનગોચરં ભવતિ ન વા ? , આદ્યે પક્ષે જ્ઞાનાઽઽનન્ત્યપ્રસન્નઃ, સાતસંવેદનસ્યૈવ સુખત્વાત્ , અત ઇવાઽનન્તજ્ઞાનવિરહિતસુખસ્વભાવત્વં મોક્ષસ્ય ન સિધ્યતિ । “પ્રકૃતાવુપરતાયાં” પુરુષસ્ય સ્વસ્વરૂપેણાઽવસ્થાનં મોક્ષઃ” ઇતિ હિ સાહ્ચ્યાઃ, તદ્ આત્મનઃ’ ઇતિપદેન પ્રત્યાદિષ્ટમ્ । કિન્ચ—તન્મતે પ્રકૃતિ-પુરુષયોઃ સંયોગોઽપિ ન ઘટતે કુતો મોક્ષચર્ચા ? , તથાહિ—નિત્યા પ્રકૃતિઃ પ્રવૃત્તિસ્વભાવા તદિતરસ્વભાવા વા ? તયોરાઘઃ સાવઘઃ પક્ષઃ, તત્ર ત-

જો કહતે હૈં કિ—“મોક્ષ અનન્તસુખસ્વરૂપ હૈ” અર્થાત્ મોક્ષ મેં સુખ હી અવશિષ્ટ રહ જાતા હૈ ઓર કુલ્લ નહીં રહતા । ઁનકા યહ માનના સમીચીન નહીં હૈ । વહ અનન્ત સુખ મુક્તાત્મા કે જ્ઞાન કા વિષય હૈ યા નહીં ? પહલા પક્ષ સ્વીકાર કરો તો અનન્ત સુખકો જાનનેકે લિષ્ઁ અનન્ત જ્ઞાન ઓ ઁાહિષ્ઁ । અનન્ત જ્ઞાનકે વિના અનન્ત સુખકા ઓધ નહીં હો સકતા । ઢૂસરા પક્ષ અંગીકાર કરો તો સુખસ્વભાવતા સિદ્ધ નહીં હો સકતી, ક્યોંકિ, સાતારૂપ સંવેદનકો હી સુખ કહતે હૈં । જબ સંવેદન હી નહીં તો સુખ હો હી નહીં સકતા હૈ, ઇસલિષ્ઁ “અનન્ત જ્ઞાનસે રહિત સુખસ્વભાવલા મોક્ષ” નહીં માનના ઁાહિષ્ઁ ।

“પ્રકૃતિ જબ ડપરત હો જાતી હૈ તબ પુરુષ અપને સ્વરૂપમેં સ્થિત હો જાતા હૈ, ઇસી અવસ્થા કા મોક્ષ કહતે હૈં । ”

એસી સાંખ્યમતાનુયાયિઓંકી માન્યતા હૈ । ‘આત્મનઃ’ પદસે ડસકા નિરાકરણ કિયા ગયા હૈ । સાંખ્યમતમેં પ્રકૃતિ ઓર પુરુષકા સંયોગ હી સિદ્ધ નહીં હોતા તબ મોક્ષ કી ઁર્ચા હી ક્યા કરના ? સો હી આગે દિલ્લાતે હૈ કિ—પ્રકૃતિ કા સ્વભાવ પ્રવૃત્તિ કરનેકા હૈ યા નહીં ? , પહલા પક્ષ ઢૂષિત હૈ, ક્યોંકિ પ્રકૃતિકા સ્વભાવ યદિ સર્વઢા પ્રવૃત્તિ કરને કા હૈ તો ડસ પ્રવૃત્તિકી નિવૃત્તિ

એઓ કહે છે કે “મોક્ષ અનન્ત સુખસ્વરૂપ છે” અર્થાત્ મોક્ષમાં સુખ જ અવશિષ્ટ રહી જાય છે. ઓળું કશું નથી રહેતું, તેઓતું એ માનવું પણ સમીચીન નથી એ અનન્ત સુખ મુક્તાત્માના જ્ઞાનને વિષય છે કે નહિ ? પહેલો પક્ષ સ્વીકારો તો અનન્ત સુખને જાણવાને માટે અનન્ત જ્ઞાન પણ જોઈએ અનન્ત જ્ઞાન વિના અનન્ત સુખને ઓધ થઈ શકતો નથી. ઓજો પક્ષ સ્વીકારો તો સુખ-સ્વભાવતા સિદ્ધ થઈ શકતી નથી. કારણ કે સાતારૂપ સંવેદનને જ સુખ કહે છે જો સંવેદન જ હોતું નથી તો સુખ થઈ જ શકતું નથી. તેથી “અનન્ત જ્ઞાનથી રહિત સુખ-સ્વભાવવાળો મોક્ષ” નહિ માનવો જોઈએ.

પ્રકૃતિ જ્યારે ડપરત થઈ જાય છે ત્યારે પુરુષ પોતાના સ્વરૂપમાં સ્થિત થઈ જાય છે;”

એવી સાંખ્યમતાનુયાયિઓની માન્યતા છે આત્મનઃ સ્વરૂપથી એવું નિરાકરણ કરવામાં આવ્યું છે. સાંખ્યમતમાં પ્રકૃતિ અને પુરુષને સંયોગ જ સિદ્ધ નથી થતો તો મોક્ષની ઁર્ચા જ શું કરવી ? તેજ આગળ ખતાવવમાં આવે છે કે—પ્રકૃતિને સ્વભાવ પ્રવૃત્તિ કરવાને છે કે નહિ ? પહેલો પક્ષ ઢૂષિત છે, કારણ કે પ્રકૃતિને સ્વભાવ જો સર્વઢા પ્રવૃત્તિ કરવાને

૧ ડપરતાયાં = નિવૃત્તાયામ્ ।

त्वृत्तेरुपरत्यभावेन मोक्षासम्भवात्, उपरत्यभ्युपगमे च प्रकृतेरनित्यत्वप्रसङ्गः । द्वितीयो-  
ऽपि पक्षो न क्षौद्रक्षमः प्रवृत्तेरेवासम्भवतः कथमिवः भवसम्भवतः ?, भवाभावे कस्य  
मोक्षः ? एवं तन्मते मोक्षस्यैवायौक्तिकत्वात्कथं तल्लक्षणस्य समीचीनत्वं सिध्येत् ? ।

यच्चाऽऽजीवकाः (सम्प्रदायविशेषाः) मुक्तेः सकाशादात्मनः पुनरागमनमामनन्ति,  
तथाहि—

“ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् ।

गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥” इति,

तत् “पुनरप्रादुर्भावतये”—ति पदेनाऽपाकृतम्, यतो मोक्षः कर्मनाशे सति सम्पद्यते,  
कर्म च कर्मणैव जन्यते, ततश्च मुक्तावस्थायां कर्माभावात्कुतः पुनः कर्मोत्पत्तिः ?, तदभावे  
च कुतस्तरां संसारागमनम् ? संसारस्य कर्महेतुकत्वात्, न कारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिरिति  
सर्वसंमतत्वाच्चेति ।

नहीं हो सकती और इसी कारणसे कभी मोक्ष भी नहीं होगा । दूसरा पक्ष भी विचार करनेसे  
बाधित हो जाता है । जब प्रकृति प्रवृत्ति ही नहीं करेगी तो संसार कैसे होगा ?, और जब संसार  
(कर्मसहित अवस्था) ही नहीं तो मोक्ष किससे होगा ?, अर्थात् किसी प्रकार मोक्ष ही नहीं बनता  
जब मोक्ष नहीं बनता तो उसके लक्षण की निर्दोषता भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

आजीवक सम्प्रदाय वाले ऐसा कहते हैं कि—“आत्मा मोक्ष से वापस लौट आती है ।  
कहा भी है—

“ धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले ज्ञानी परम पदको प्राप्त होकर जब तीर्थका अनादर  
होने लगता है तब मोक्षसे फिर संसारमें आ जाते हैं ॥१॥”

इनका यह मत ‘पुनरप्रादुर्भावतया’ इस विशेषण से खण्डित हो गया है । क्योंकि कर्मोंके  
नाश होने पर ही मोक्ष होता है, और कर्म कर्मोंसे ही उत्पन्न होते हैं । मोक्षमें कर्मोंका अभाव

छे तो अे प्रवृत्तिनी निवृत्ति थछ शकती नथी, अने ते कारणे कदापि मोक्ष पषु थशे नछि  
थीने पक्ष पषु विचार करवाथी आधित थछ नय छे, ने प्रकृति प्रवृत्ति न नछि करे तो  
संसार केवी रीते थशे ? अने ने संसार (कर्मसहित अवस्था) न नथी तो मोक्ष शानाथी  
थशे ? अर्थात् कोछ प्रकारे मोक्ष न नथी अनतो, ने मोक्ष नथी अनतो तो तेना लक्षणनी  
निर्दोषता पषु सिद्ध थछ शके नछि.

आजीवक सम्प्रदायवाला अेम कहे छे के—“आत्मा मोक्षथी पाछे इरी आवे छे. कहुं  
छे के—

“धर्मतीर्थनी स्थापना करनारा ज्ञानीअो परम पदने प्राप्त थछने न्यारे तीर्थने अ-  
नादर थवा लागे छे त्यारे मोक्षमांथी पाछा संसारमां आवी नय छे.” (१)

अेने अे मत ‘पुनरप्रादुर्भावतया’ अे विशेषणथी अंछित थछ अथे छे. कारण के  
कर्मोने नाश थवाथी न मोक्ष थाय छे. अने कर्म कर्मोथी न उत्पन्न थाय छे. मोक्षमां  
कर्मोने अभाव थछ नवाथी कर्मोनी उत्पत्ति थती नथी, तेथी संसारमां इरी आववाने।

“આત્મનઃ સતતમૂર્ધ્વગતિર્મુક્તિ” —રિતિ મળ્ડલીમતાનુયાયિનઃ, તત્ત્વ પ્રમત્તપ્રલ-  
પનપ્રાયમ્, લોકાકાશાનન્તરં ધર્માસ્તિકાયસ્યાસ્તિત્વાભાવાત્ । ધર્માસ્તિકાયસ્ય જીવપુ-  
દ્ગલાનાં ગતિનિમિત્તત્વં પ્રમાણાસિદ્ધં, તથાહિ—ગમનોન્મુખાનાં જીવપુદ્ગલાનાં ગતિર્વાહ્યનિ-  
મિત્તસાપેક્ષા ગતિત્વાત્, બાહ્યનિમિત્તમત્ર ધર્માસ્તિકાયોઽન્યસ્યાસમ્ભવાત્, લોકાકાશા-  
ઽનન્તરં તદભાવાન્ન તસ્માદૂર્ધ્વ ગતિસંભવઃ । અત એવાઽગર્હણાર્હમાર્હતમતાભિમતમુક્તિસ્વ-  
રૂપમવેતિ ।

નનુ નરામરતિર્યઙ્નારકપર્યાયસ્વરૂપ એવ સંસારસ્તેભ્યઃ પૃથગ્ભાવેન ન કસ્યચિદા-  
ત્મન ઉપલબ્ધિસ્તતશ્ચ મનુષ્યાદિસ્વરૂપસંસારાભાવે તલ્લક્ષણસ્યાઽઽત્મનોઽપિ વિનાશઃ, અત  
એવ ‘અભાવલક્ષણો મોક્ષઃ’ ઇતિ ચેદત્રોચ્યતે—

નારકાદયો જીવસ્ય પર્યાયાઃ, નહિ પર્યાયનાશે પર્યાયિણોઽપિ નાશઃ પ્રત્યુત પર્યા-  
યાન્તરોત્પત્તિરેવ સંજાયતે, યથા કટકાઽઽકૃતિવિનાશેઽપિ સુવર્ણસ્ય ન વિનાશઃ કિન્તુ  
કુણ્ડલાઘાકારાન્તરોત્પત્તિર્દૈશ્યતે, તથૈવ નારકાદિપર્યાયનાશે નાત્મનોઽપિ નાશઃ કિન્તુ

હો જાને સે કર્મોંકી ઉત્પત્તિ નહીં હતી, ઇસલિએ સંસારમેં આગમન સંભવ નહીં હૈ । કારણકે વિના  
કાર્યકી ઉત્પત્તિ નહીં હો સકતી, એસા સબ સિદ્ધાન્ત વાલે સ્વાકાર કરતે હૈ ।

મળ્ડલીમત કે માનનેવાલે કહતે હૈ કિ—“આત્મા સદા ઉપર ચલી જાતી હૈ કહીં ઠહરતી  
નહીં હૈ ” યહ કથન ઉન્મત્ત પુરુષકે પ્રલાપકે સદૃશ હૈ, ક્યોંકિ લોકાકાશકે વાદ ધર્માસ્તિકાયકા  
સદ્ભાવ નહીં હૈ । યહ વાત પ્રમાણ સે સિદ્ધ હૈ કિ ધર્માસ્તિકાયકે વિના જીવ ઓર પુદ્ગલોંકી ગતિ  
વિના બાહ્ય કારણ કે નહીં હો સકતી, ક્યોંકિ—‘વહ ગતિ હૈ, જો જો ગતિ હોતી હૈ વહ બાહ્ય  
નિમિત્તકી અપેક્ષા રસ્તી હૈ’ । ગતિ મેં બાહ્ય નિમિત્ત ધર્માસ્તિકાય હો હો સકતા, ક્યોંકિ અન્ય  
કિસીમેં એસી શક્તિ નહીં હૈ । યહ ધર્માસ્તિકાય લોકાકાશસે આગે નહીં હૈ, ઇસલિએ લોકાકાશસે  
આત્મા ગમન મી નહીં કર સકતી’ । અત એવ સિદ્ધ હુઆ કિ ‘આર્હતમત (જિનમત) મેં માના  
હુઆ મોક્ષકા લક્ષણ હી સર્વથા નિર્દોષ હૈ’ ।

સંભવ નથી, કારણ વિના કાર્યની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી, એવું સર્વ સિદ્ધાન્તવાળાઓ  
સ્વીકારે છે.

મંડલીમતના માનનારાઓ કહે છે કે “આત્મા સદા ઉપર ચાલ્યો જાય છે, ક્યાંય થાભતો-  
રહેતો નથી” આ કથન ઉન્મત્ત પુરુષના પ્રલાપ એવું છે, કારણ કે લોકાકાશની પછી ધર્મા-  
સ્તિકાયનો સદ્ભાવ જ નથી. એ વાત પ્રમાણથી સિદ્ધ થએલી છે કે ધર્માસ્તિકાય વિના જીવ  
અને પુદ્ગલોની ગતિ બાહ્ય કારણ વિના થઈ શકતી નથી, કારણ કે ‘એ ગતિ છે, જે જે  
ગતિ હોય છે તે તે બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષા રાખે છે,’ ગતિમાં બાહ્ય નિમિત્ત ધર્માસ્તિકાય  
જ હોઈ શકે છે. કારણ કે અન્ય કોઈમાં એવી શક્તિ નથી. એ ધર્માસ્તિકાય લોકાકાશથી  
આગળ નથી, તેથી લોકાકાશથી આગળ આત્મા ગમન કરી શકતો નથી. એટલે સિદ્ધ થયું  
કે “આર્હતમત (જૈનમત)માં માનેલું મોક્ષનું લક્ષણ જ સર્વથા નિર્દોષ છે.”

પ્રશ્ન—મનુષ્ય, દેવ, તિર્યંચ અને નારકી—પર્યાયસ્વરૂપ જ સંસાર છે. એ ચારે અવ-

सिद्धत्वपर्यायान्तरं सम्पद्यते । किञ्च नारकादयः तर्थायाः कर्मकृताः सन्त्यतो हि कर्माभावे पर्यायाभावः, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावाद् बह्वच्यभावे धूमाभावात्, जीवत्वं तु न कर्मकृतं तस्य स्वाभाविकत्वादतो न खलु कर्माभावे जीवाभावस्तन्त्वभावे घटाभाववत्, तस्मान्नाऽ-भावलक्षणमोक्षः किन्तु शाश्वतिकावस्थितिरूपः ।

असौ (मोक्षः) च सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूपरत्नत्रयहेतुकः, अन्यतमाभावे तद-सम्भवात् कारुचनोपलवियोगवत्, यथा हि न केवलं ज्ञानमात्रेणोपलात्सुवर्णवियोगः सुस-

प्रश्न-मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकी-पर्यायस्वरूप ही संसार है इन चारों अवस्थाओं से भिन्न किसी आत्माकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए संसारका अभाव होने से आत्माका भी अभाव हो जायगा, अतएव मोक्षको अभावस्वरूप मानना चाहिए ।

उत्तर-नारक आदि जीवकी पर्यायें हैं । पर्यायोंका नाश होनेसे पर्यायी (आत्मद्रव्य) का नाश नहीं होता । बल्कि दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है । जैसे सोनेके कडेका नाश होनेसे सोनेका नाश नहीं होता किन्तु कुण्डल आदि दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही नारक आदि पर्यायोंका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता किन्तु सिद्ध पर्याय उत्पन्न हो जाती है।

अथवा-नारक आदि पर्यायें कर्मकृत है अतः कर्मके कभाव होनेपर उनका भी अभाव होता है, क्योंकि कारणके अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव हो जाता है, जैसे अग्निका अभाव होनेसे धूमका अभाव होता है । आत्मा कर्मकृत नहीं है, वह स्वाभाविक है, अतएव कर्मका अभाव होनेसे आत्माका नाश संभव नहीं है । जैसे तन्तुओंका नाश होनेसे घटका अभाव नहीं होता, इसलिए मोक्ष अभाव स्वरूप नहीं है किन्तु शाश्वत स्थितिवाला है ।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य स्वरूप रत्नत्रय मोक्षका कारण है । रत्नत्रयमेंसे

स्थाथी लिन्न केळ आत्मानो उपलब्धि थती नथी, तेथी संसारने अलाव डोवाथी आत्मानो पणु अलाव थध जशे. तेथी मोक्षने अलावस्वरूप मानवो जेधये.

उत्तर-नारक आदि ज्यना पर्यायो छे. पर्यायोना नाश थवाथी पर्यायी (आत्मद्रव्य) ने नाश नथी थतो, अडके थिजे पर्याय उत्पन्न थध जय छे. जेभके सोनाना कडानो नाश थवाथी सोनानो नाश नथी थतो, परन्तु कुंडल आदि थिजे पर्याय उत्पन्न थाय छे. तेवी रीते नारक आदि पर्यायोना नाश थतां पणु आत्मानो नाश नथी थतो किन्तु सिद्धपर्याय उत्पन्न थाय छे अथवा—

नारक आदि पर्यायो कर्मकृत छे. तेथी कर्मने अलाव थतां तेना पणु अलाव थाय छे. कारणने अलाव थवाथी कार्यने पणु अलाव थध जय छे, जेवी रीते अग्निने अलाव थवाथी धुमाडानो पणु अलाव थाय छे. आत्मा कर्मकृत नथी, जे स्वाभाविक छे. तेथी कर्मने अलाव थतां आत्मानो नाश संलवित नथी, जेभ तंतुज्येनो नाश थवाथी घटने अलाव थतो नथीज्येथी करीने मोक्ष जे अलावस्वरूप नथी शाश्वत स्थितिवाणो छे.

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अने सम्यक्चारित्र्य-स्वरूप रत्नत्रय मोक्षतुं कारण छे. रत्न-

म्पाद्यो भवितुमर्हति श्रद्धान-क्रिययोरभावात् (१), न श्रद्धानमात्रेण ज्ञान-क्रिययोरभावात् (२), नापि क्रियामात्रेण ज्ञान-श्रद्धानयोरभावात् (३), न ज्ञान-श्रद्धानमात्रेण क्रियाया अभावात् (४), न ज्ञान-क्रियामात्रेण श्रद्धानाभावात् (५), नापि श्रद्धानक्रियामात्रेण ज्ञानाऽभावात् (६) । एवमेव मोक्षोऽप्यन्यतमाभावे न संभवत्यपि तु समुदितरत्नत्रयादेवेति । तं मोक्षं च जानीयात्=विद्यादित्यर्थः ॥१५॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९  
मूलम्-जया पुण्णं च, पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।

१० १७ १६ १९ १२ १३ १४ १५  
तया निव्विदए भोए, ज दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥

कोई एक न हो तो मोक्ष नहीं हो सकता, जैसे सुवर्ण और पाषाणका वियोग । अर्थात् जैसे (१) अकेले ज्ञान द्वारा पाषाणसे सुवर्णको पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि श्रद्धान और क्रियाका अभाव है । (२) केवल श्रद्धानसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान और क्रियाका अभाव है । (३) केवल क्रियासे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान और श्रद्धान नहीं है । (४) ज्ञान और श्रद्धानसे ही सुवर्ण और पाषाणको पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ क्रिया नहीं है । (५) ज्ञान और क्रियामात्रसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि श्रद्धान नहीं है । (६) श्रद्धान और क्रिया मात्रसे भी पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानका अभाव है । इसी प्रकार मोक्ष भी समुदित तीनोंसे प्राप्त होता है, किसी एकके अभावमें नहीं हो सकता ।

जिस प्रकार वन में आग लगने पर, वहाँ रहे हुए अन्धा नेत्रोंके अभावसे, पङ्गु चरणों के अभावसे और अश्रद्धालु अग्निकी दाहकता-शक्ति के प्रति श्रद्धा के अभावसे उस वन से नहीं निकल सकते हैं उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों से रहित होनेके कारण अन्ध जीव, सम्यक्चारित्र्य से रहित होने के कारण पंगु जीव और सम्यग्दर्शन के अभाव से अश्रद्धालु जीव भी जन्म-जरा-मरण रूपी भीषण दुःस्त्रोंकी प्रचण्ड अग्नि से जलते हुए इस संसार रूपी वन से नहीं निकल

त्रयमांथी केडं अेक न डोय तो मोक्ष थडं शकतो नथी जेम के सुवर्णुं अने पाषाणुने वियोग, अर्थात् जेम-(१) अेकला ज्ञानद्वारा पाषाणुथी सुवर्णुं अलग करी शकतुं नथी, कारण के श्रद्धान तथा क्रियाने अभाव छे. (२) केवल श्रद्धानथी पणु अलग करी शकतुं नथी, कारण के ज्ञान अने क्रियाने अभाव छे. (३) केवल क्रियाथी पणु अलग करी शकतुं नथी कारण के ज्ञान अने श्रद्धान नथी (४) ज्ञान अने श्रद्धानथी पणु सुवर्णुं अने पाषाणु अलग करी शकतां नथी कारण के त्यां क्रिया नथी. (५) ज्ञान अने क्रिया मात्रथी पणु अलग करी शकतां नथी कारण के श्रद्धान नथी. (६) श्रद्धान अने क्रियाथी पणु अलग करी शकतां नथी कारण के ज्ञानने अभाव छे. अे रीते मोक्ष पणु समुदित त्रणुथी प्राप्त थाय छे, केडं अेकने अभाव डोय तो मोक्ष प्राप्त थतो नथी.

जेम वनमां आग लागवाथी, त्यां रडेवो आंधणो नेत्रो न डोवाथी, लंगडो पणो न डोवाथी, अने अश्रद्धाणु अग्निनी दाहकता-शक्ति प्रत्ये श्रद्धा न डोवाथी ते वनमांथी नीकणी शकता नथी तेम सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रो न डोवाथी आंधणो एव, सम्यक् चारित्र्य न

छाया—यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।

तदा निर्विन्दते भोगान्, ये दिव्या ये च मानुषाः ॥१६॥

सान्वयार्थः—जया=जब पुण्यं च पापं च=पुण्य और पापको, च=तथा बंधं मुक्त्वं=बंध और मोक्षको जानइ=जानता है, तथा=तब जे दिव्ये=जो देव सम्बन्धी य= और जे माणुसे=जो मनुष्यसम्बन्धी (भोग हैं, उन) भोए=भागोंको निर्विन्दए=तत्त्वसे विचारता है, अर्थात् निस्सार समझने लगता है ॥१६॥

टीका—‘जया पुण्य’ मित्यादि । यदा पूर्वप्रतिपादितलक्षणलक्षितं पुण्यादिकं जानाति तदा ये दिव्याः=दिवि=स्वर्गे भवाः देवसम्बन्धिनः, च=तथा ये मानुषाः=मनुष्य-सकते हैं । जैसे-अन्ध, पंगु, और अश्रद्धालु वनाग्नि में जल मरते हैं उसी प्रकार ये भी संसाराग्नि में जल मरते हैं । परन्तु जिनके नेत्र और दोनों चरण अक्षत हैं, और अग्नि की दाहकता-शक्ति के प्रति भी श्रद्धा है वे जिस प्रकार दावाग्नि-प्रज्वलित वनको पार कर जाते हैं उसी प्रकार जो जीव सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शनसे युक्त हैं वे भी जन्म-जरा-मरणरूप भीषण दुःखों के प्रचण्ड-अग्नि से जलते हुए इस संसाररूपी वनको पार कर जाते हैं ।

इससे सिद्ध है कि रत्नत्रयमेंसे किसी एककी भी कमी होनेसे सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती । उस प्रकारके मोक्षको जाने ॥१५॥

‘जया पुण्यं०’ इत्यादि । जब पूर्वोक्तस्वरूपवाले पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जानता है तब देवों तथा मनुष्योंके सम्बन्धी भोगोंका वास्तविक विचार करता है । इन्द्रिय और मनकी अनुकूलतारूपसे जिनका उपयोग किया जाता है उन्हें भोग कहते हैं । भोगोंके विषयमें साधु ऐसा विचार करते हैं कि—‘ये भोग भुजंगके समान भयंकर हैं, अशुचि हैं, अशुचि पदार्थोंसे उत्पन्न होते हैं, सड़ जाते हैं, गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, नित्य नहीं रहते । कौन विवेकी ऐसे भोगों को

होवाथी लंगडो लुव, अने सम्यक्दर्शन न होवाथी अश्रद्धालु लुव पणु जन्म-जरा-मरणरूपी भीषण दुःखोना प्रयत्न अग्निथी प्रज्वलित आसंसाररूपी वनमांथी नीकणी शक्तो नथी. जेभ आंधणो, लंगडो अने अश्रद्धालु वनाग्निमां अणी भरे छे तेभ आलुवो पणु संसाराग्निमां अणी भरे छे. परन्तु जेना नेत्रो अने जेउ अरणो साधूत छे, अने अग्निनी दाहकता-शक्ति प्रत्ये पणु श्रद्धा छे ते जेभ दावाग्नि थी प्रज्वलित वनने पार करी जाय छे तेज प्रकारे जे लुवो सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अने सम्यग्दर्शनथी युक्त छे ते लुवो पणु जन्म-जरा-मरणरूप भीषण दुःखोना प्रयत्न अग्निथी प्रज्वलित आसंसाररूपी वनने पार करी जाय छे.

अथी सिद्ध थाय छे के जे रत्नत्रयमांथी केअच्छेक पणु जे ओखुं होय तो सिद्धि प्राप्त थई शकती नथी, जे प्रकारना मोक्षने जाणु (१५)

जया पुण्यं० इत्यादि जयारे पूर्वोक्त-स्वरूपवाणा पुण्य पाप अंध अने मोक्षने जाणु छे तयारे हेवो तथा मनुष्यो संबंधी लोगोना वास्तविक विचार करे छे. इन्द्रिय अने मननी अनुकूलतारूपे जेना उपयोग करवामां आवे छे अने लोग कडे छे. लोगोना विषयमां साधु

સમ્બન્ધિનઃ (ભોગાઃ સન્તિ તાન્ સર્વાનપિ) ભોગાન્=શુજ્યન્તે=નિર્વિશ્યન્તે=તત્તદિન્દ્રિ-  
યનોન્દ્રિયાનુકૂલતયોપયુજ્યન્તે इति भोगाः=शब्दादिविषयास्तान् निर्विन्ते=तत्त्वतो विचा-  
रयति-‘भोगि भोगोपमा खल्विमं भोगा अशुचयोऽशुचिसम्भवाः शटन-पतन-विध्वंस-  
नस्वभावा अशाश्रताश्च, को नाम विवेकी एवंविधानिमान् भोगानुपभोक्तुमभिलषेदिति ?  
कस्य वा विवेकिनो वान्ताशनेच्छा, अतिपूतिगन्धिपूयरुधिरप्रवाहेऽवगाहनाऽऽकाङ्क्षा,  
शादूलसदननिवासाभिलाषः, कलकलायमाने सीसककटाहादौ पतनस्पृहा, समन्ततो दन्द-  
ह्यमान भवनान्तरालपरिभ्रमणसाहसम् अजगर विषधरमुपधानीकृत्य शयनेच्छा वा जायेत? ।  
“खणमिच्चसुक्खा बहुकालदुक्खा” इत्यादि पर्यालोचयन् निर्वेदं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१६॥

१ ८ १२ १ १ १ १ १ १ १  
મૂલમ્-જયા નિર્વિણ ભોણ, જે દિવ્વે જે ય માણુસે ।

તયા ચથઈ સંજોગં, સર્ભિમતર-બાહિરિયં ॥૧૭॥

છાયા-યદા નિર્વિન્તે ભોગાન્ , યે દિવ્યા યે ચ માનુષાઃ ।

તદા ત્યજતિ સંયોગં, સામ્યન્તર-બાહ્યમ્ ॥૧૭॥

ભોગનેકી અભિલાષા કરેગા ?, કિસ વિવેકશીલ વ્યક્તિકો વમન ભક્ષણ કરનેકી ઇચ્છા હોગી ?, અહા ! કૌન ચાહેગા કિ-‘મૈં અત્યન્ત દુર્ગન્ધવાલે પીપ ઓર રુધિરકે પ્રવાહમેં અવગાહન (સ્નાન) કરૂં ?, કયા કોઈ સિંહકી માંદ (ગુફા) મેં નિવાસ કરનેકી ઇચ્છા કરતા હૈ ?, ઉકલતે હુણ શીશે કી કડાહાંમેં કૌન બુદ્ધિમાન્ કૂદનેકી કામના કરતા હૈ ? કોઈ નહીં કરતા હૈ । અથવા ચારોં ઓર સે ઘઘકતે હુણ ઘરમેં ઘુસનેકા કૌન સાહસ કર સકતા હૈ ?, ઓર અજગર સર્પકો ઉપધાન (ઝસીસા -સિરહાના) બનાકર કૌન શયન કરના ચાહેગા ? । યે વિષય-ભોગ ક્ષણમાત્ર સુખ દેનેવાલે હૈ ઓર બહુત કાલ તક દુઃખ દેને વાલે હૈ ॥” ઈસા વિચાર કર મુનિ જન નિર્વેદ (વૈરાગ્ય) કો પ્રાપ્ત કરતે હૈ ॥૧૬॥

એવો વિચાર કરે છે કે “એ લોગો ભુજંગ (સર્પ)નાં જેવા ભયંકર છે, અશુચિ છે, અશુચિ પદાર્થોથી ઉત્પન્ન થાય છે. સડી જાય છે, ગળી જાય છે, નષ્ટ થઈ જાય છે, નિત્ય રહેતા નથી. કયો વિવેકી મનુષ્ય એવા લોગો ભોગવવાની અભિલાષા કરશે ? કઈ વિવેકશીલ વ્યક્તિને વમન કરેલાંનું ભક્ષણ કરવાની ઇચ્છા થશે ? અહા ! કોણ ઇચ્છશે કે-હું અત્યંત દુર્ગન્ધવાળા પણ અને રુધિરના પ્રવાહમાં અવગાહન (સ્નાન) કરીશ ? શું કોઈ સિંહની ગુફામાં નિવાસ કરવાની ઇચ્છા કરે છે ? ભિક્ષતા સીસાંની કડાઈમાં કયો બુદ્ધિમાન્ મનુષ્ય કૂદી પડવાની કામના કરે ? કોઈ કરે નહિ. અથવા ચારે બાજુએથી અગ્નિથી ઘળી રહેલા ઘરમાં પેસવાનું સાહસ કોણ કરી શકે ? અને અજગર સર્પનું ઉપધાન (ઓશીકું) બનાવીને સૂવાની કોણ ઇચ્છા કરશે ? એ વિષય-ભોગ ક્ષણમાત્ર સુખ દેવાવાળા છે અને ઘણા કાળ સુધી દુઃખ દેવાવાળા છે.” એવો વિચાર કરીને મુનિજન નિર્વેદ (વૈરાગ્ય) ને પ્રાપ્ત કરે છે. (૧૬)



सान्त्वयार्थः—जया=जब जे दिव्वे=जो देवसंबंधी और जे य=जो माणुसे=मनुष्य-सम्बन्धी भोए=भोगोंको निर्विदए=तत्त्वसे विचारता है, तथा=तब सर्भिभतरबाहिरियं=आभ्यन्तर और बाह्य संजोगं=संयोगको चयइ=त्याग देता है ॥१७॥

टीका—‘जया निर्विदए’ इत्यादि । यदा दिव्य-मानुष-भोगोपभोगेषु निर्वेदो जायते तदा साऽऽभ्यन्तरबाह्यम्=बहिर्भवो बाह्यः=सुवर्णमणिमाणिक्यादिः, अभ्यन्तरे=अन्तःकरणे भवं आभ्यन्तरः=क्रोधादिः, आभ्यन्तरेण सहितः साऽऽभ्यन्तरः स चासौ बाह्यश्चेति साभ्यन्तरबाह्यस्तम्, संयोगं=संयुज्यते=सम्बध्यतेऽनेनाऽऽत्मेति संयोगः=ममत्वकृतसम्बन्धस्तम् त्यजति=परिहरति ॥१७॥

मूलम्—जया चयइ संयोगं, सर्भिभतर—बाहिरियं ।

तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

छाया—यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर-बाह्यम् ।

तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारिताम् ॥१८॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब सर्भिभरबाहिरियं=आभ्यन्तर और बाह्य संजोगं=संयोगको चयइ=त्याग देता है, तथा=तब मुंडे=द्रव्यभावसे मुण्डित भवित्ता=होकर अणगारियं=साधुपनेको पव्वइए=प्राप्त होता है ॥१८॥

टीका—‘जया चयइ’ इत्यादि । यदा बाह्याऽऽभ्यन्तरसंयोगविरहितो भवति तदा मुण्डः=मुण्डनं मुण्डः (‘मुडि खण्डने इत्यस्माद्भावे घञ्’) स च द्वेषा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मस्तककेशापनयनम्, भावतो रागद्वेषापनयनम्, मुण्डनधर्मयोगाद्धर्म्यपि

‘जया निर्विदए०’ इत्यादि । जब देवसम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको जान लेता है, तब सुवर्ण-मणि-माणिक्य आदि बाह्य परिग्रहका तथा क्रोधादि आन्तरिक परिग्रहका अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर देता है ॥१७॥

‘जया चयइ’ इत्यादि । जब बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग करता है तब मुण्डित हो जाता है । मुण्डन दो प्रकारका होता है—

(१) द्रव्य मुण्डन, (२) भावमुण्डन । मस्तकके केशोंका लञ्चन करना द्रव्यमुण्डन कहलाता है । राग द्वेष आदिको दूर करना भावमुण्डन है । दोनों प्रकारोंसे मुण्डित होकर सर्वविरतिरूप

जया निर्विदए० इत्यादि. न्यारे देवसंबंधी अने मनुष्य संबंधी लोगोने लक्ष्मी दे त्यारे मुनि सुवर्ण-मणि-माणिक्यादि बाह्य परिग्रहने तथा क्रोधादि आंतरिक परिग्रहने अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहने त्यज्जे हे छे. (१७)

जया चयइ० इत्यादि. न्यारे बाह्याभ्यन्तर परिग्रहनेो मुनि परित्याग करे छे त्यारे मुंडित थर्छे लय छे. मुंडन छे प्रकारनां होय छे—(१) द्रव्य-मुंडन अने (२) भाव मुंडन. मस्तकना केशुं लुञ्चन करवुं अने द्रव्यमुंडन कडेयाय छे. राग-द्वेष आदिने दूर करवा अने

मुण्डः=मुण्डित इत्यर्थः, भूत्वा अनगारिताम्=अनगारिणो भावोऽनगारिता=साधुत्वं सर्व-  
विरतिलक्षणं सामायिकादिकमित्यर्थः, ताम् प्रव्रजति=प्राप्नोति-प्रव्रजितो भवतीत्यर्थः ॥१८॥

१ २ ३ ५ ४  
मूलम्—जया मुंड भवित्ताणं, पव्वइ अणगारियं ।

६ ९ ५ १० ११ ८  
तया संवरमुक्किट्टं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

छाया—यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारिताम् ।

तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥१९॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब मुंडे=द्रव्यभावसे मुण्डित भवित्ता=होकर अणगारियं=साधु-  
पने को पव्वइए=प्राप्त होता है, तया=तब उक्किट्टं=अत्यन्त प्रशस्त अणुत्तरं=सर्वश्रेष्ठ संव-  
रं=संवर धम्मं=धर्मको फासे=स्पर्श करता है-प्राप्त होता है ॥

टीका—‘जया मुंडे०’ इत्यादि । यदा मुण्डो भूत्वाऽनगारितां प्रव्रजति=प्राप्नोति, तदा  
उत्कृष्टम्=अतिप्रशस्तम्, अनुत्तरं=निरतिचारतया सर्वश्रेष्ठम् । यद्वा स्थिरं=निश्चलम् ।  
अथवा जिनागमसिद्धत्वात् प्रतिजल्पविवर्जितम्, यद्वा ‘अनुत्तर’ मित्येतत् क्रियाविशेषणम्  
अनुत्तरम्=उक्तार्थकं यथा स्यात्तथा स्पृशतीति सम्बन्धः । संवरं=संत्रियते=निरुध्यते  
आस्रवत्कर्म येन सः, यद्वा संवरणं संवरः=स्थगनम् । स द्रव्य-भावभेदाभ्यां द्विविधः ।  
तत्र द्रव्यतस्तथाविधद्रव्येण (ममृणमृत्तिकादिना) सलिलोपरि तरत्तरण्यादेरनारतप्रविशन्नी-

सामायिक आदि चारित्रको प्राप्त होता है ॥१८॥

‘जया मुंडे०’ इत्यादि । जब मुण्डित होकर सर्वविरतिको प्राप्त होता है तब अत्यन्त प्रशस्त निरति-  
चार होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ निश्चल आचरणीय संवर धर्मको स्पर्श करता है । आते हुए कर्म जिस  
आत्मपरिणामसे रुक जाते हैं उसे संवर कहते हैं । संवर, द्रव्य-भावके भेदसे दो प्रकारका है । जल  
पर चलती हुई नौकाके छेदोंसे उसमें प्रवेश करनेवाले जलको चिकनी मिट्टी वल्ल आदिसे बन्द  
कर देना द्रव्य-संवर है । आत्मारूपी नौकामें आस्रवरूपी छिद्रों द्वारा आनेवाले कर्मरूपी जलको  
रोक देना भाव-संवर है । यहां भाव-संवर अर्थात् चारित्रका अधिकार है । अर्थात् सर्वविरत मुनि

भाव-मुंडन छे. जेठ प्रकारे मुंडित थपने सर्वविरतिइय सामायिक आदि चारित्रने प्राप्त  
थाय छे. (१८)

जया मुंडे० इत्यादि. जयारे मुंडित थपने सर्व विरतिने प्राप्त थाय छे. अत्यंत प्रशस्त  
निरतिचार थवाने कारणे सर्वश्रेष्ठ निश्चल आचरणीय संवरधर्मने स्पर्श करे छे. आवतां  
कर्म जे आत्मपरिष्ठाभयी रोकार्थ जय छे तेने संवर कडे छे. संवर द्रव्य-भावना लेहे करीने  
जे प्रकारने छे. जणपर आदती नौकाना छिद्रवाटे नौकामां प्रवेश करना जणने यीकषी  
भाटी, वल्ल आदिथी अंध करी देवुं ते द्रव्यसंवर छे. आत्माइपी नौकामां आस्रवइपी  
छिद्रोद्वारा आवनारा कर्मइपी जणने रोकरी देवुं जे भाव-संवर छे. अही भावसंवर अट्ठे

अनुत्तरम् श्रेष्ठं, प्रतिजल्पविवर्जितम्, स्थिरमिति शब्दकल्पद्रुमः ।

राणां विवराणां पिधानम् , भावतः समिति-गुप्तिप्रभृतिभिरात्मतरण्यां क्षरत्कर्मसल्लानां स्थगनम् । अत्र च भावसंवरश्चारित्रलक्षणो गृह्यते, तं तल्लक्षणं धर्मं स्पृशति=प्राप्नोति, अन्तःकरणत आत्मना सम्बन्धयतीत्यर्थः ॥१९॥

मूलम्—जया संवरमुक्किट्टं धम्मं फासे अणुत्तरं ।

तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसंकडं ॥२०॥

छाया—यदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।

तदा धुनाति कर्मरजो-ऽबोधिकलुषकृतम् ॥२०॥

सान्वयार्थः—जया=जब उक्किट्टं=अत्यन्त प्रशस्त अणुत्तरं=सर्वश्रेष्ठ संवरं=संवर धम्मं=धर्मको फासे=स्पर्श करता है, तया=तब अबोहिकलुसंकडं=आत्माके मिथ्यात्व परिणाम द्वारा उपार्जित किये हुए कम्मरयं=कर्मरूपी रजको धुणइ=हटा देता है ॥२०॥

टीका—‘जया संवरं’ इत्यादि । यदा उत्कृष्टम् अनुत्तरं धर्मं स्पृशति तदा अबोधिकलुषकृतम्=बोधनं बोधिः=आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामः, तद्विपरीतोऽबोधिः=मिथ्यात्वाध्यवसायः स एव कलुषं=पापं तेन कृतं=जनितम् अबोधिकलुषकृतम् , तत् , ‘कलुष’ मित्यत्रानुस्वर आर्षः । कर्मरजः=क्रियते=मिथ्यात्वादिपरिणामैः सम्पाद्यते यत्तत् कर्म, तद्विधा-द्रव्य-भावभेदात् , तत्र द्रव्यतः कूपिकासंभृतकज्जलवत् सकललोकसंभृता आत्मना

भाव-संवर रूपी धर्मको प्राप्त करते हैं अथवा अनुत्तर रूपसे स्पर्श करते हैं, क्योंकि ‘अनुत्तर’ यह क्रियाविशेषण भी हो सकता है ॥१९॥

‘जया संवरं’ इत्यादि । जब साधु उत्कृष्ट अनुत्तर संवरधर्मको स्पर्श करते हैं तब आत्मा के मिथ्यात्वपरिणामरूपी पापसे उत्पन्न हुए कर्मरूपी रजको धो डालते हैं ।

कर्मरज दो प्रकार हैं (१) द्रव्यकर्मरज, और (२) भावकर्मरज । कुप्पीमें भरे हुए कज्जल की तरह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त तथा आत्माके साथ बंधे हुए या बंधनेवाले और बंधते हुए विशेष प्रकारके (कार्मण जातिके) पुद्गलपरमाणुओंको द्रव्यकर्म कहते हैं । आत्माके राग-द्वेष आदि विभाव-परिणामोंको भावकर्म कहते हैं । वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है और बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता

२. रित्रने। अधिकार छे. अर्थात् सर्वविरत भुनि लावसंवरइपी धर्मने प्राप्त करे छे, अथवा अनुत्तर-इपे स्पर्श करे छे, कारण्ते ‘अनुत्तर’ अे क्रियाविशेषणु पणु डोई शके छे. (१६)

जया संवरं इत्यादि. जयारे साधु उत्कृष्ट अनुत्तर संवरधर्मने स्पर्श करे छे तयारे आत्माना मिथ्यात्व-परिणामइपी पापथी उत्पन्न थय्येअे कर्मइप रजने धोई नांथे छे.

कर्मरज अे प्रकारनी छे :- (१) द्रव्यकर्मरज, अने (२) लावकर्मरज कुप्पीमां लरेला कज्जलनी पेटे समस्त लोकाकाशमां व्याप्त तथा आत्माना साथे अंधायला तथा अंधानारा अने अंधाता विशेष प्रकारना (कार्मणु जतिना) पुद्गलपरमाणुअेने द्रव्य कर्म कडे छे. आत्माना राग-द्वेष आदि विभाव-परिणामेने लावकर्म कडे छे. वृक्षथी भीज उत्पन्न थाय

સહ વદ્ધા વધ્યમાના વન્ધાર્હાશ્ચ તથાવિધ પુદ્ગલપરમાણવઃ । ભાવતસ્તુ આત્મનો રાગદ્વેષાદિ પરિણામઃ અનયોશ્ચ બીજવૃક્ષયોરનાદિકાલિકકાર્યકારણભાવવત્ પારસ્પરિકાર્યકારણભાવઃ, તથા ચ—દ્રવ્યકર્મભાવકર્મણઃ કારણં કાર્યં ચ । ભાવકર્મ ચ દ્રવ્ય-કર્મણઃ કારણં કાર્યં ચ । ઉક્તશ્ચ—

“જીવસ્યાશુદ્ધરાગાદિભાવાનાં કર્મ કારણમ્ ।

કર્મણસ્તસ્ય રાગાદિભાવઃ પ્રત્યુપકારિવત્ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

સંસારી સ્વલ્વાત્માઽનાદિકાલતઃ કર્મ વદ્ધાતિ તદુદયાદાત્મનિ રાગદ્વેષાદ્યુત્પત્તિઃ તદનુ યથા વહ્નિસંતપ્તાયઃપિન્ડઃ સમન્તાત્ સ્વસંસૃષ્ટજલમાકર્ષતિ તથાઽઽત્મૈકક્ષેત્રાવગાહિકર્મપુદ્ગલાનાદત્તે, તૈશ્ચ રાગાદિકં ભાવકર્મોત્પાદયતે, તચ્ચ પુનરપિ દ્રવ્યકર્મોત્પાદયતિ, તદેવ રજ્જ્વ ઇવ રજો જીવસ્ય માલિન્યહેતુત્વાત્ ધાતિકર્મચતુષ્ટયમિત્યર્થઃ તદ્ ધુનાતિ=વ્યપનયતિ=દૂરીકરોતીત્યર્થઃ ।

હૈ । દોનોં મેં કાર્ય-કારણભાવ અનાદિકાલીન હૈ । ઇસી પ્રકાર દ્રવ્યકર્મ ઓર ભાવકર્મમેં કાર્ય-કારણ ભાવ હૈ, અતઃ દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મકા કારણ મી હૈ ઓર કાર્ય મી હૈ । કહા મી હૈ—

“જીવકે રાગ આદિ અશુદ્ધ ભાવોંકા કારણ દ્રવ્યકર્મ હૈ ઓર રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવ દ્રવ્ય-કર્મકે કારણ હૈ । જૈસે કોઈ પુરુષ કિસીકા ઉપકાર કર દેતા હૈ તો વહ ઉપકૃત પુરુષ ઉસ ઉપ-કારીકા પીછા ઉપકાર કરતા હૈ ॥૧॥”

સંસારી જીવ અનાદિકાલસે કર્મોંકા બન્ધ કર રહા હૈ । ઉન બંધે હુએ કર્મોંકે ઉદય હોને પર આત્મામેં રાગદ્વેષ આદિકી ઉત્પત્તિ હોતી હૈ । રાગાદિકે ઉદય હોનેપર જૈસે તપા હુઆ લોહે કા ગોળ આસ પાસકે જલકો આકર્ષિત કર લેતા હૈ વૈસે હી આત્મા એક ક્ષેત્રાવગાહી અર્થાત્ જિસ આકાશકે પ્રદેશમેં આત્મા સ્થિત હૈ ઉસી આકાશ પ્રદેશમેં સ્થિત કર્મકે પુદ્ગલોંકો પ્રહ્ણ કરતી હૈ, ઉન રાગાદિ-ભાવોસે ફિર દ્રવ્યકર્મ બંધતે હૈ । ઇસ પ્રકાર દ્રવ્યકર્મ ઓર ભાવકર્મ એક

છે અને બીજી વૃક્ષ ઉત્પન્ન થાય છે. બેઉ કાર્ય--કારણભાવ અનાદિકાળનો છે. એ પ્રકારે દ્રવ્યકર્મ અને ભાવકર્મમાં કાર્ય-કારણભાવ રહેલો છે. તેથી દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મનું કારણ છે અને કાર્યપણ છે, તેમજ ભાવકર્મ દ્રવ્યકર્મનું કારણ છે અને કાર્યપણ છે. કહ્યું છે કે—

“જીવના રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવોંકા કારણ દ્રવ્યકર્મ છે, અને રાગાદિ અશુદ્ધ ભાવ દ્રવ્ય-કર્મનું કારણ છે, જેમ કોઈ પુરુષ કોઈનો ઉપકાર કરે છે તો એ ઉપકૃત પુરુષ એનો પાછો ઉપકાર કરે છે. (૧)”

સંસારી જીવ અનાદિ કાળથી કર્મોંનો બંધ કરી રહ્યો છે. એ બંધાયલાં કર્મોંનો ઉદય થતાં આત્મામાં રાગદ્વેષ આદિની ઉત્પત્તિ થાય છે. રાગાદિનો ઉદય થતાં જેમ તપાવેલો ડોળખંડનો ગોળો આસપાસના જળને આકર્ષિત કરી લે છે તેમ આત્મા એક-ક્ષેત્રાવગાહી અર્થાત્ જે આકાશના પ્રદેશમાં આત્મા સ્થિત છે એ આકાશપ્રદેશમાં રહેલાં કર્મોંના પુદ્ગલોંને પ્રહ્ણ કરે છે, એ રાગાદિ-ભાવોથી ફરી દ્રવ્યકર્મ અને ભાવકર્મ એક બીજાનાં ઉત્પાદક

कर्मरजोधुननं च यद्यपि धर्मध्यानेनापि जायते तथापि आत्यन्तिकतद्विधूननं शुक्ल-  
ध्यानेनैव भवति, यथा मलापगमेन शुचिताधर्माभिसम्बन्धात् पटः शुक्ल इत्युच्यते तथा  
रागद्वेषमलापनयनाच्छुचिधर्मसम्बन्धाद् ध्यानमपि शुक्लमित्युच्यते, तच्चतुर्विधम्—(१) पृथ-  
क्त्ववितर्कसविचारम्, (२) एकत्ववितर्काविचारम्, (३) सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति, (४) समुच्छि-  
न्नक्रियाऽप्रतिपाति, इति ।

तत्र पूर्वगतश्रुतज्ञानानुसारेण ध्येयविशेषगतोत्पादादिनानापर्यायाणां द्रव्यार्थिक-  
पर्यायार्थिकादिनानान्यैरर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिसहितानुचिन्तनं पृथक्त्ववितर्कसविचारम् ।

तत्रार्थसंक्रान्तिस्तावत्—ध्येयस्यैकपर्यायपरित्यागेन पर्यायान्तरे, व्यञ्जने, योगे वा

दूसरेके उत्पादक हैं । इन्हीं कर्मोंको रज कहते हैं, क्योंकि ये आत्मामें मलिनता उत्पन्न कर देते  
हैं । संवरधर्मको ग्रहण करनेसे यह चार-घातिकर्मरूपी रज दूर हो जाती है ।

कर्मरजका दूर होना यद्यपि धर्म ध्यानसे होता है तथापि आत्यन्तिक रूपसे तो शुक्ल-ध्यान  
से ही होता है । जैसे मैलको दूर करनेसे शुचिताधर्म आ जाता है, इसलिए वस्त्रको शुक्ल (सफेद)  
वस्त्र कहते हैं, इसी प्रकार राग-द्वेषरूपी मैलके हट जानेपर शुचिताधर्मके सम्बन्धसे ध्यान भी शुक्ल  
ध्यान कहलाता है ।

शुक्लध्यान चार प्रकारका है—(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क-अविचार;  
(३) सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्त्ति, (४) समुच्छिन्नक्रियअप्रतिपाति ।

पृथक्त्ववितर्क-पूर्वगत श्रुतज्ञानके अनुसार किसी ध्येय पदार्थकी उत्पाद आदि पर्यायोंका  
द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक आदि विविध नयोंसे, अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति सहित चिन्तन  
करना पृथक्त्ववितर्क शुक्ल ध्यान है । ध्येय वस्तुको एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायका  
ध्यान करना या व्यञ्जन अथवा योगमें संक्रान्त होजाना अर्थसंक्रान्ति है । यहाँ चौदह पूर्वरूप

छे. ओज कमेने रज कडे छे, कारणु के ते आत्माभां मलिनता उत्पन्न करे छे. संवरधर्म  
ने अहणु करवाथी ओ आर घातिकर्मरूपी रज दूर थर् भय छे,

जे के कर्मरज धर्मध्यानथी दूर थाय छे तोपणु आत्यन्तिक रूपथी तो शुक्ल ध्यान-  
थीय थाय छे. जेम मेल दूर करवाथी शुचिता-धर्म आवी भय छे तेथी वस्त्रने शुक्ल  
(सफेद) वस्त्र कडे छे, तेम रागद्वेषरूपी मेल हठी जतां शुचिताधर्मना संबंधथी ध्यान पणु  
शुक्लध्यान कडेवाय छे.

शुक्ल ध्यानना आर प्रकार छे. (१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क-अवि-  
चार, (३) सूक्ष्मक्रिय अनिवर्त्ति, (४) समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति.

(१) पृथक्त्ववितर्क-पूर्वगत श्रुतज्ञान अनुसार कौंछ ध्येय पदार्थना उत्पाद आदि  
नाना प्रकारना पर्यायानुं द्रव्यार्थिक वा पर्यायार्थिक आदि नयोथी, अर्थ व्यञ्जन अने  
योगनी संक्रान्तिसहित चिन्तन करवुं ओ पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान छे, ध्येयवस्तुना ओक  
पर्यायने छोडीने भीअ पर्यायानुं ध्यान करवुं या व्यञ्जन अथवा योगभां संक्रान्त थर् जवुं

संक्रमः । व्यञ्जनं चात्र चतुर्दशपूर्वात्मकश्रुतसम्बन्धिशब्दाः, तत्रत्यं किञ्चिदेकं व्यञ्जन-  
मुपादाय ध्यानमारभ्य व्यञ्जनान्तरेऽर्थे योगेवा संक्रमणं व्यञ्जनसंक्रान्तिः । योगसंक्रा-  
न्तिश्च पुनः काययोगतो मनोयोगे, मनोयोगतो वाग्योगे, इत्येवमेकस्माद् योगादन्यतर-  
स्मिन् योगे संक्रमणम् । त्रिविधमेतत्संक्रमणं च ध्यातुरनिच्छायामपि तादृश—(असंक्रान्त)  
—ध्यानसंपादनसामर्थ्याभावाज्जायते ।

इदमत्र तात्पर्यम् —

अत्र पूर्वगताः शब्दास्तदार्था वा ध्येया भवन्ति, परन्तु ध्यातुस्तादृशं सामर्थ्यं न भ-  
वति येन स कञ्चिदेकं शब्दं वाऽर्थं वा ध्यायेत्, अत एव कञ्चिदेकमर्थं तत्पर्यायं वा  
परित्यज्येतरमर्थमितरपर्यायं वा ध्यायति । इदमेव च परिवर्तनं संक्रमणशब्देनोच्यते ।  
उक्तञ्च—

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।

योगाद् योगान्तरे यत्र, सविचारं तदुच्यते ॥

श्रुतके शब्दोंको व्यञ्जन कहा है । उन शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका ध्यान आरम्भ करके फिर  
किसी दूसरे व्यञ्जनका ध्यान करने लगना, अथवा अर्थ या योगमें संक्रान्त होजाना व्यञ्जनसं-  
क्रान्ति है । काययोगसे मनोयोगमें, मनोयोगसे वचनयोगमें, इस प्रकार एक योगसे दूसरे योगमें  
संक्रान्त होजाना योगसंक्रान्ति है । यह तीनों तरहका संक्रमण ध्याताको इच्छा न होनेपर भी  
उतनी अधिक सामर्थ्य न होनेके कारण होता है ।

तात्पर्य यह है कि—इस ध्यानमें पूर्वगत शब्द या उसके अर्थका ध्यान किया जाता है,  
किन्तु इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि एक ही शब्द या एक ही अर्थका ध्यान करते रहें, अत  
एव एक पदार्थ या उसकी पर्यायको छोड़ कर दूसरी पर्यायका ध्यान करते हैं । इसी प्रकारके  
परिवर्तन या बदलनेको संक्रमण करते हैं । कहा भी है—

ये अर्थसंक्रान्ति छे, अही यौह पूर्वरूप श्रुतना शब्दाने व्यञ्जन कहेल छे, ये शब्दाभांथी  
कोईक शब्दनुं ध्यानआरंभाने पछी कोई भील व्यञ्जननुं ध्यान लगावतुं अथवा अर्थ  
या योगभां संक्रान्त थर्ष जवुं ये व्यञ्जनसंक्रान्ति छे, काययोगथी मनोयोगभां, मनोयोगथी  
वचनयोगभां, ये प्रकारे एक योगथी भील योगभां संक्रान्त थर्ष जवुं ये योगसंक्रान्ति  
छे, ये त्रणे नतनुं संक्रमणु, ध्यातानी धिच्छा न होवा छतां पणु ओट्ठुं अधिक सामर्थ्य  
न होवाने कारणे थाय छे.

तात्पर्य ये छे के—आ ध्यानभां पूर्वगत शब्द या तेना अर्थनुं ध्यान करवाभां आवे  
छे, किन्तु ओट्ठुं सामर्थ्य होतुं नथी के ओकज शब्द या ओकज अर्थनुं ध्यान करतो रहे  
तेथी करीने ओक पदार्थ या तेना पर्यायने छोडीने भील पर्यायनुं ध्यान करे छे, आ  
प्रकारना परिवर्तनने या बदलवाने संक्रमणु कहे छे, कहुं छे के—

“ओक अर्थथी भील अर्थभां, ओक शब्दथी भील शब्दभां तथा ओक योगथी भील

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद् याति गुणान्तरम् ।

पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥” इति,

नन्वर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रान्तस्य मनसः स्थैर्यासम्भवाद् ध्यानत्वमनुपपन्नमिति चेन्न, एकमेव ध्येयं लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तस्य ध्यानस्यार्थादौ संक्रमणेऽपि ध्येयैकमात्रोद्देश्यक-  
तया मनःस्थिरीकरणरूपाया ध्यानक्रियायास्तत्रापि सद्भावात् ।

इदं च ध्यानं भङ्गिऋतपाठकानां योगत्रयवतां वा मुनिपुङ्गवानां भवति । अनेन ध्यानेन क्षपकश्रेण्यां समारूढो मुनिरष्टमगुणस्थानादारभ्य क्रमशो दशमगुणस्थानचरमसमये बलवदपि मोहनीयकर्म क्षपयित्वा द्वितीयध्यानमाश्रित्य द्वादशं गुण-स्थानमधिरोहति ।

उपशमश्रेण्यां समारूढस्तु तदानीं मोहनीयकर्म क्षमयित्वा एकादशमुपशान्तमोहगुण-

“एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक शब्दसे दूसरे शब्दमें, तथा एक योगसे दूसरे योगमें संक्र-  
ान्त होता है, अतः उसे सविचार (संक्रान्ति) कहते हैं ॥१॥

अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति रूप होते हुए निज शुद्ध आत्मद्रव्यको एक गुणसे दूसरे गुणको, एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको प्राप्त होता है, अतः उसे सपृथक्त्व कहते हैं ॥२॥

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! इस ध्यानमें अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमें मन संक्रान्त होता रहता है, इस कारण स्थिरता नहीं रह सकती; फिर इसे ध्यान कैसे कह सकते हैं ? ।

उत्तर—हे शिष्य ! परिवर्तन तो होता रहता है, परन्तु ध्येय एक ही रहता है । ध्येयकी एक-  
ताके कारण यह ध्यान कहलाता है ।

यह ध्यान पूर्वधारी तीन योगवाले श्रेष्ठ मुनियोंको ही होता है । इस ध्यान से दशवें गुणस्थानके अन्त समयमें क्षपकश्रेणीमें आरूढ मुनि बलवान् मोहनीय कर्मका क्षय करके बारहवें गुणस्थानमें पहुँच जाते हैं, और यदि उपशमश्रेणीमें आरूढ हों तो ग्यारहवें उपशान्तमोह गुण-  
स्थानमें जाते हैं । यह प्रथम ध्यान उपशमश्रेणीकी अपेक्षासे आठवें गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें

योगमां संक्रमण्णु थाय छे, तेथी तेने अविचार (संक्रान्ति) कडे छे. (१)

अर्थ व्यञ्जन अने योगनी संक्रान्तिरूप थता निज शुद्ध आत्म-द्रव्यने, अेक गुणुथी  
णील गुणुने, अेक पर्यायथी णील पर्यायने प्राप्त थाय छे, तेथी तेने सपृथक्त्व कडे छे.” (२)

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! आ ध्यानमां अर्थ व्यञ्जन अने योगमां मन संक्रान्त थया  
करे छे ते कारणुथी स्थिरता रही शकती नथी, तो पछी तेने ध्यान केम कडी शकथ ?

उत्तर—हे शिष्य ! परिवर्तन तो थया करे छे, परन्तु ध्येय अेकअ रहे छे. ध्येयनी  
अेकताने कारणे अे ध्यान कडेवाय छे.

अे ध्यान पूर्वधारी त्रणु योगवाणा श्रेष्ठ मुनिअेने न थाय छे. आ ध्यानथी दसमा  
गुणुस्थानना अंत समये क्षपकश्रेणीमां आरूढ मुनि णणवान् मोहनीय-कर्मने क्षय करीने  
पारमा गुणुस्थानमां पहुँची णथ छे; अने जे उपशम-श्रेणीमां आरूढ होय तो अग्यारमा  
उपशान्तमोह गुणुस्थानमां णथ छे. अे प्रथम ध्यान, उपशम-श्रेणीनी अपेक्षाअे करीने

स्थानमारोहति । इदं च प्रथमं ध्यानमष्टमगुणस्थानादारभ्य क्षपकश्रेण्यपेक्षया दशमगुणस्थानं यावद्भवतीति विवेकः ।

(२) ततश्चैकत्ववितर्काऽविचारमारभते, यथा सिद्धगारुडिकादिमन्त्रः सकलशरीरस्यापि विषमं विषं मन्त्रसामर्थ्येन सर्वात्रयवेभ्यः समाकृष्य दशस्थाने समानीय संस्तम्भयति, तथा पूर्वगतश्रुतानुसारतोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिराहित्येनाशेषविषयेभ्यः संहृत्यैकस्मिन्नेव पर्याये योगस्य निर्वातस्थाने दीपशिखावत्स्थिरीकरणम्-एकत्ववितर्काऽविचारम् ।

अयमाशयः—प्रथमं ध्यानं सपृथक्त्वं भवति इदं तु पृथक्त्वरहितम् । अत्रैकमर्थं विहायाऽर्थान्तरे, तथैकं शब्दं विहाय शब्दान्तरे, तथा योगाद् योगान्तरे संक्रमणं न

गुणस्थान तक होता है । क्षपकश्रेणीकी अपेक्षासे तो अष्टमसे लेकर दशम गुणस्थान तक होता है, ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तमोह होने से क्षपकश्रेणीमें आरूढ मुनि उसका स्पर्श न करते हुए दूसरे ध्यानका आरम्भ करके बारहवें गुणस्थान में जाते हैं ।

(२) एकत्ववितर्क-अविचार-जैसे मन्त्र जाननेवाला पुरुष समस्त शरीरमें व्याप्त विषको मंत्रकी शक्तिद्वारा अन्य-अन्य अवयवोंसे खींचकर दशस्थान (जहां विषैला जन्तुने काटा है उस जगह) पर स्तंभित कर देता है, वैसे ही पूर्वगत श्रुतके अनुसार अर्थ, व्यञ्जन और योगोंके परिवर्तनसे रहित होकर समस्त विषयोंसे विमुक्त होकर एक ही पर्यायके ध्यानमें वायुरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी शिखा के समान स्थिर होजाना 'एकत्ववितर्क' ध्यान कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि पहला ध्यान पृथक्त्व (अनेकप्रकारता) सहित होता है किन्तु दूसरे भेदमें पृथक्त्व नहीं रहता । इसमें एक अर्थसे दूसरे अर्थमें संक्रमण नहीं होता, इसलिए इसे एकत्ववितर्क-ध्यान कहते हैं ।

आठमा गुणस्थानथी लधने अग्यारमा गुणस्थान सुधी थाय छे. क्षपक-श्रेणीनी अपेक्षाये करीने आठमाथी लधने दसमा गुणस्थान सुधी थाय छे; अग्यारमुं गुणस्थान उपशान्तमोह डोवाथी क्षपक श्रेणीमां आरूढ मुनि येने स्पर्श न करतां भील ध्यानने आरंभ करीने आरमा गुणस्थानमां लय छे.

(२) ऐकत्ववितर्क-अविचार-जेम मंत्र लणुवावाणे पुरुष आभा शरीरमां व्यापेला विषने मंत्रनी शक्तिद्वारा अन्य-अन्य अवयवोमांथी जेथी लधने दशस्थान (ज्यां जेरी जंतु करडयो डोय ते स्थान) पर स्तंभित करी दे छे, तेम पूर्वगत श्रुत अनुसार अर्थ व्यञ्जन अने योगना परिवर्तनथी रहित यधने अथा विषयोथी विमुक्त यध ऐकज पर्यायना ध्यानमां रापेला दीपकनी शिखानी पेठे स्थिर यध जवुं ये 'ऐकत्ववितर्क' कडेवाय छे.

तात्पर्य ऐ छे के पडेखुं ध्यान पृथक्त्व (अनेक-प्रकारता) सहित डोय छे किन्तु भील तेदमां पृथक्त्व रहेतुं नथी. येमां ऐक अर्थमांथी भील अर्थमां, ऐक शब्दमांथी भील शब्दमां अने ऐक योगमांथी भील योगमां संक्रमण थतुं नथी, तेथी येने ऐकत्ववितर्क ध्यान कडे छे.



भवति तस्मादिदमेकत्ववितर्काभिधानं ध्यानमिति । इदं च ध्यानं मनोवाक्काययोगान्य-  
तमवतामेव महासुनीनां जायते, अत्र योगानां संक्रमणाभावात् ।

तथ चोक्तम्—“निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम् ।

निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥१॥

यद्व्यञ्जनार्थयोगेषु, परावर्त्तविवर्जितम् ।

चिन्तनं तदविचारं, स्मृतं सद्दधानकोविदैः ॥२॥” इति ॥

इदं ध्यानं क्षीणमोहनीयगुणस्थाने एव भवति, एतद्ध्यानचरमसमये क्षपकश्रेण्यारू-  
डो मुनिर्ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयमन्तरायाख्यं च, त्रीणि कर्माणि युगपत् क्षपयति, अस्य  
ध्यानस्य फलं च केवलज्ञानकेवलदर्शनाऽनन्तवीर्यप्राप्तिरेव, प्रकृतध्यानद्वयमन्तरेण केवलज्ञा-  
नं लब्धुमशक्यम् । एतच्चोभयं ध्यानं छद्मस्थानां जायते, तृतीयचतुर्थे तु केवलिनामेध  
भवत इति बोद्धव्यम् ॥२०॥

यह ध्यान मन वचन काय योगोंमेंसे किसी एक योगवाले मुनिराजको ही होता है,  
अर्थात् इस ध्यानके समय एक ही योगमें स्थिर रहते हैं, क्योंकि इसमें योगोंका संक्रमण नहीं  
होता । कहा भी है—

“जिस ध्यानमें केवल निज आत्मा का अथवा उसकी एक पर्यायका या एक गुणका  
ध्यान किया जाता है उसे ‘एकत्व’ कहते हैं ॥१॥ जो व्यञ्जन अर्थ और यागोंके परिवर्तनसे  
रहित चिन्तन किया जाता है उसे ‘अविचार’ कहते हैं ॥२॥”

यह ध्यान क्षीणमोहनीय गुणस्थानमें ही होता है । इस ध्यानके अन्तमें ज्ञानावरणीय, दर्श-  
नावरणीय और अन्तराय नामक तीन घातिकर्मोंका एक साथ ही क्षय हो जाता है । इस  
ध्यानका फल केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तवीर्यकी प्राप्ति है । इन दोनों ध्यानोंके विना केव-  
लज्ञान नहीं प्राप्त होसकता । ये दोनों ध्यान छद्मस्थोंको होते हैं, तथा तीसरा और चौथा ध्यान  
केवलियों को होता है ॥२०॥

એ ધ્યાન મન વચન કાયાના યોગોમાંના કેઈ એક યોગવાળા મુનિરાજનેજ થાય છે,  
અર્થાત્ એ ધ્યાનને સમયે એકજ યોગમાં સ્થિર રહે છે, કારણ કે એમાં યોગોનું સંક્રમણ  
થતું નથી. કહ્યું છે કે—

“જે ધ્યાનમાં કેવળ નિજ આત્માનું અથવા એના એક પર્યાયનું યા એક ગુણનું ધ્યાન  
કરવામાં આવે છે, તેને ‘એકત્વ’ કહે છે. (૧) વ્યંજન અર્થ અને યોગોના પરિવર્તનથી  
રહિત ચિંતન કરવામાં આવે છે તેને ‘અવિચાર’ કહે છે. (૨)”

એ ધ્યાન ક્ષીણમોહનીય ગુણસ્થાનમાં જ થાય છે. એ ધ્યાનના અંતમાં જ્ઞાનાવરણીય  
અને અન્તરાય નામનાં ત્રણ ઘાતિ-કર્મોના એકીસાથે જ ક્ષય થઈ જાય છે. એ ધ્યાનનું  
ફલ કેવળજ્ઞાન, કેવળદર્શન અને અનંત વીર્યની પ્રાપ્તિ છે. એ એક ધ્યાન વિના કેવળ  
જ્ઞાન પ્રાપ્ત થઈ શકતું એ એક ધ્યાન છદ્મસ્થાને થાય છે, તથા ત્રીજું અને ચોથું ધ્યાન  
કેવળીઓને થાય છે. (૨૦)

घातिकर्मक्षयजनितफलं प्रदर्शयितुमुक्रमते—‘जया धुणइ’ इत्यादि ।

१ ४ ३ २  
मूलम्—जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसंकडं ।

५ ६ ७ ८ ९  
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥२१॥

छाया—यदा धुनाति कर्मरजोऽबोधिकलुषकृतम् ।

तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ॥२१॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब अबोहिकलुसंकडं=आत्माके मिथ्यात्वपरिणामद्वारा उपाजित किये हुए कम्मरयं=कर्मरूपी रजको धुणइ=घटा देता है, तया=तब सव्वत्तगं=सब जगह जाननेवाले-सब पदार्थों को जाननेवाले नाणं=ज्ञानको च=और दंसणं=दर्शनको अभिगच्छ-के=प्राप्त करता है ॥२१॥

टीका—यदाऽबोधिकलुषकृतं कर्मरजो धुनाति तदा सर्वत्रगं=सर्वत्र गच्छति=व्या-जीवीति सर्वत्रगं=सकललोकव्यापि तत्, ज्ञानं=ज्ञायन्ते=परिच्छिद्यन्ते द्रव्य-गुण-पर्यायाद-योऽनेनेति ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थस्तत्, दर्शनं=दृश्यन्ते=साक्षात्कियन्ते द्रव्यादयो येनेति दर्शनम्=केवलदर्शनमित्यर्थस्तत् । “सामान्यार्थावबोधो दर्शनं, विशेषार्थावबोधो ज्ञान” —मित्युभयोर्भेदः, तथाहि—

“जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं नाणं” इति, चः समुच्चये, अभिगच्छति=कर्मजनित-सकलाऽऽवरणाभावादतिशयेन सम्प्राप्नोति सयोगिकेवल्लिगुणस्थानमारोहतीत्यर्थः ॥२१॥

घातिकर्मोंके क्षय होनेसे उत्पन्न होनेवाला फल बतलाते हैं—‘जया धुणइ’ इत्यादि ।

जब साधु मिथ्यात्वरूपी पापसे उत्पन्न हुए कर्मरजको नष्ट कर देते हैं तब समस्त लोकाकाश और अलोकाकाशमें व्यापी द्रव्य पर्यायोंको जाननेवाला केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त होता है । पदार्थोंका सामान्य ज्ञान होना दर्शन है और विशेष ज्ञान होना ज्ञान है, वही दोनोंमें भेद है, कहाभी है—

“सामान्यका ग्रहण होना दर्शन है और विशेष का ग्रहण होना ज्ञान है ।”

कर्मोंसे उत्पन्न हुए समस्त आवरणोंके अभावसे इन दोनों (ज्ञानदर्शन) को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

घाताऽऽनेना क्षय तथाथी उत्पन्न थनाइं इण अतावे छे-जया धुणइ इत्यादि.

अ्यारे साधु मिथ्यात्वरूपी पापथी उत्पन्न थअेली कर्मरजने नष्ट करी नाये छे, त्यारे समस्त लोकाकाश अने अलोकाकाशमां व्यापेला द्रव्य पर्यायिने लक्षणज्ञान तथा केषणदर्शन प्राप्त थाय छे. पदार्थानुं सामान्य ज्ञान थनुं अे दर्शन छे अने विशेष ज्ञान थपुंते ज्ञान छे अे अेठिमां लेद छे. कलुं छे के-

“सामान्यनुं अहलु थपुं दर्शन छे. अने विशेषनुं अहलु थपुं अे ज्ञान छे.”

कर्मथी उत्पन्न थअेलां सर्व आवरणेना अभावथी अे अेठि (ज्ञान-दर्शन) ने प्राप्त करे छे, (२१)

केवलज्ञान-केवलदर्शनयोः फलमाह-‘जया सव्वत्तगं’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५  
मूलम्-जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।

६ ९ १० ११ ७ १२ ८

तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

छाया--यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ।

तदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ॥२२॥

सान्वयार्थः-जया=जब सव्वत्तगं=सब जगह जानेवाले-सब पदार्थोंको जाननेवाले नाणं=ज्ञानको च=और दंसणं=दर्शनको अभिगच्छइ=प्राप्त करता है, तथा=तब जिणो=वीतराग केवली=केवलज्ञानी होते-हुए लोगमलोगं च=लोक और अलोकको जाणइ=जानते हैं ॥२२॥

टीका--यदा केवलज्ञानं केवलदर्शनं च प्राप्नोति तदा जिनः=घातिकर्मविजेता, केवली=केवलज्ञानी सन् लोकं=लोकवत् इति लोकस्तं जानाति=करतलामलकवज्ज्ञानविषयीकरोति ।

आह-ननु कोऽयं लोकपदार्थः ? यदि केनचिदेको ग्रामोऽवलोकितस्तर्हि किं तावानेव लोकः ? न, अपरेण ततोऽप्यधिकग्रामदर्शनात् । तर्हि यावद् ग्रामादिकमस्माभिरवलोक्यते तावानेव लोकः ?, नहि अनन्तज्ञानसम्पन्नेन सर्वज्ञेन यो लोकव्यते स लोक इति ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन का फल कहते हैं-‘जया सव्वत्तगं’ इत्यादि ।

जब सर्वव्यापी ज्ञान तथा दर्शनको प्राप्त करते हैं तब केवली होकर लोक और अलोकको जानते हैं ।

जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं ।

प्रश्न-यदि किसीने एक ग्राम देखा हो तो लोक क्या उतना ही होगा ?

उत्तर-उतना ही नहीं होगा, क्योंकि दूसरे उससे अधिक ग्राम देखते हैं ?

प्रश्न-तो हमलोग जितने ग्रामोंको देखते हैं उतना ही लोक है ?

उत्तर-उतना ही नहीं है । अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् द्वारा जितना देखा जाता है उतना

केवलज्ञान अने केवलदर्शननुं इण कडे छे-जया सव्वत्तगं इत्यादि.

न्यारे सर्वव्यापी ज्ञान तथा दर्शनने प्राप्त करे छे त्यारे केवली थधने लोक अने अलोकने जाणु छे.

जे जेध शक्य तेने लोक कडे छे.

प्रश्न-जे कडेअे अेक ग्राम जेयुं होय तो लोक शुं अेटलो न होय ?

उत्तर-अेटलो न नहि होय, कारण के भीलअे अेथी वधारे आमो ज्युअे छे.

प्रश्न-तो आपणु अेटला आमोने जेधअे छीअे अेटलो न लोक छे ?

उत्तर-अेटलो न नहि. अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवानद्वारा अेटलो जेवाय छे अेटलो लोक छे;

નન્વેતેનાઽલોકસ્યાપિ લોકત્વપ્રસન્નસ્તસ્યાપિ સર્વજ્ઞેનાવલોકિતત્વાત્ , તથાચાઽલો-  
કોઽપિ કિં લોકઃ ? ન, યતો લોકચતે ધર્માસ્તિકાયાદ્યાધારભૂત આકાશવિશેષો યઃ સ  
લોક इत्यवधार्यम् । स च कटितटोभयपार्श्वतो निहितहस्तद्वयो विस्फारितपादयुगलोऽव-  
स्थितः पुरुष इव नृत्यद्भैरवोपासकाकृतिको वा ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशरज्जु-  
परिमितोऽसंख्यातप्रदेशात्मक आकाशविशेषस्तम् । तद्विपरीतोऽलोकः ।

अस्तु लोको जीवपुद्गलादीनामनाधारतयाऽवस्थानासम्भवात् , अलोकस्तु कथम् ? ,  
तस्याऽमूर्त्तत्वेनेन्द्रियागोचरतयाऽस्तित्वसाधकप्रमाणाभावात् , इन्द्रियागोचरे चार्थे मनः-

लोक है ।

પ્રશ્ન—કેવલી ભગવાન્ અલોકકો મી દેસતે હૈં તો ઉનકે દેસનેસે અલોક મી લોક હો  
જાયગા ?

ઉત્તર—નહીં હોગા । ભગવાન્ને ધર્માસ્તિકાય આદિ દ્રવ્યોં કા આધારભૂત જો આકાશ  
દેલા હૈ ઉસે લોક કહતે હૈ, એસા સમજના ચાહિયે ।

વહ લોક કમરપર દોનો હાથ રસકર, પૈર ફૈલાકર સ્વહે હુએ પુરુષ કે આકારકા, અથવા  
નાચતે હુએ ભૈરવીપાસક (ભોપા) કી આકૃતિકા હૈ । ઇસકે ત્રીન ભેદ હૈ—(૧) ઉર્ધ્વલોક, (૨)  
મધ્યલોક, (૩) અધોલોક । યહ ચૌદહ રાજૂ જિતના ઝંચા ઓર અસંખ્યાત—પ્રદેશમય હૈ । અલો-  
કાકાશ ઇસસે વિપરીત હૈ ।

પ્રશ્ન—જીવ ઓર પુદ્ગલ આદિ વિના આધારકે નહીં ઠહર સકતે; અતઃ લોકાકાશ માનના  
તો ઠીક હૈ, પરન્તુ લોકાકાશકે અસ્તિત્વમેં કયા પ્રમાણ હૈ ? , કારણ યહ કિ ઇન્દ્રિયોંકા યહ  
વિષય નહીં હૈ, ક્યોંકિ અમૂર્ત હૈ । જિસ વિષયમેં ઇન્દ્રિયોંકી પ્રવૃત્તિ નહીં હોતી ઉસમેં મન મી  
પ્રવૃત્તિ નહીં હો સકતા । અત ઇવ ન ઇન્દ્રિયોંસે અલોકાકાશકો જાન સકતે હૈં ઓર ન મનસે ।

પ્રશ્ન—કેવળી લગવાન્ તો અલોકને પણ બુઝે છે તો એમના બેવાથી અલોક પણ  
લોક થઈ જશે ?

ઉત્તર—નહિં થાય. લગવાને ધર્માસ્તિકાય આદિ દ્રવ્યોંનુ' આધારભૂત બે આકાશ બેયુ'  
છે એને લોક કહે છે, એમ સમજવું બેધએ.

એ લોક કમર પર બેઠે હાથ રાખીને, પગ ફેલાવીને બિલેલા પુરુષના આકારનો, અથવા  
નાચતા ભૈરવીપાસક (બુવા) ની આકૃતિનો છે. તેના ત્રણ ભેદ છે. (૧) ઉર્ધ્વલોક, (૨)  
મધ્યલોક, (૩) અને અધોલોક. એ ચૌદ રાજુ બેવડો ઉંચો અને અસંખ્યાત પ્રદેશમય છે.  
અલોકાકાશ એથી વિપરીત છે.

પ્રશ્ન—જીવ અને પુદ્ગલ આદિ આધાર વિના રહી શકતા નથી, તેથી લોકાકાશ માનવું  
એ તો ખરાબ છે, પરન્તુ અલોકાકાશના અસ્તિત્વનું શું પ્રમાણ છે ? કારણ એ છે કે  
ઇન્દ્રિયોંનો એ વિષય નથી કેમકે અમૂર્ત છે. બે વિષયમાં ઇન્દ્રિયોંની પ્રવૃત્તિ થતી નથી તેમાં  
મન પણ પ્રવૃત્તિ થઈ શકતું નથી. એથી કરીને ઇન્દ્રિયોંથી અલોકાકાશને બાણી શકાતું  
નથી તેમજ મનથી પણ બાણી શકાતું નથી.

प्रवृत्तेः कदाऽप्यसम्भवादिति न शङ्कनीयम्, इन्द्रियनोइन्द्रियविषयत्वाभावमात्रदर्शनेन तदस्तित्वनिराकरणस्याऽशक्यत्वात्, अन्यथा हि प्रपितामहादीनामपि तत एवाभावः प्राप्नुयात् । यतः 'आसन् प्रपितामहादयोऽस्मादादिशरीरस्याऽन्यथाऽनुपपन्नत्वात्' इत्यनुमानेन तेषामस्तित्वं साध्यते चेदलोकस्याप्यनुमानेन सिद्धिरनवधैव, तथाहि—

लोकः सप्रतिपक्षः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वात्, यो हि व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः स सप्रतिपक्ष एव भवति, यथा घटः । यश्च लोकप्रतिपक्षः स एव सद्भूतोऽलोकः, अस्तित्ववत एव प्रतिपक्षित्वसम्भवात् ।

ननु 'न लोकोऽलोकः' इति व्युत्पत्त्या घटादिष्वन्यतम एवालोकः सिध्यति किं

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और मनका विषय न होनेसे उसके अस्तित्वका स्वप्न नही हो सकता, अन्यथा दादे परदादे आदि पूर्वजोंका भी अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मनके विषय नहीं होते । यदि कोई इस अनुमानसे पूर्वजोंका अस्तित्व सिद्ध करे कि—पितामह (दादा) आदि पूर्वजोंका किसी समयमें अस्तित्व था, क्योंकि उनके बिना हमारा शरीर नहीं बन सकता तो अनुमानसे ही अलोककी भी सिद्धि मान लेनी चाहिए । अनुमान यह है—

लोक अपने प्रतिपक्ष (विरोधी-अलोक) की अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह व्युत्पत्तिवाले समासरहित पदका वाच्य (अर्थ) है । जो जो व्युत्पत्तिवाले समासरहित पदका वाच्य होता है वह प्रतिपक्षसहित ही होता है, जैसे घट । घट व्युत्पत्तिवाला है और समासरहित है, अर्थात् दो पद मिल कर नहीं बना हुआ है, अत एव घटके प्रतिपक्ष-अघट-पट, मुकुट शकट, कट आदि भी अवश्य होते हैं । लोकका जो प्रतिपक्ष है वह अस्तित्ववान् अलोक है, क्योंकि अस्तित्ववान् पदार्थ किसीका प्रतिपक्ष हो सकता है । गधेका सींग आदि नास्तित्ववान् पदार्थ किसीके प्रतिपक्ष नहीं होते ॥

उत्तर—ये प्रश्न भ्राम्यमान नहीं । उभके ईन्द्रिय अने मनना विषय न होवाथी तेना अस्तित्वानुं अंउन थई शकतुं नथी । ऐम तेा दादा परदादा आदि पूर्वजानुं पणु अस्तित्व सिद्ध नहि थाय, उभके ते पणु ईन्द्रिय अने मनना विषय नथी होता । जे कोई अनुमानथी पूर्वजानुं अस्तित्व सिद्ध करे के पितामह (दादा) आदि पूर्वजानुं कोई समये अस्तित्व हुतुं, कारण के अनेना विना आपणुं शरीर अनी शके नहि, तेा अनुमानथी न अलोकनी पणु सिद्धि मानी लेवी जेईअे, अनुमान अे छे के—

लोक पितामहा प्रतिपक्ष (विरोधी-अलोक) नी अपेक्षा राखे छे, कारण के अे व्युत्पत्तिवाणा समासरहित शब्दनेा वाच्य (अर्थ) छे । जे जे व्युत्पत्तिवाणा समासरहित शब्दनेा वाच्य होय छे ते प्रतिपक्षसहित न होय छे । जेम घट, घट-व्युत्पत्तिवाणो छे अने-समासरहित छे, अर्थात् जे शब्दो भगवाथी अनेदो नथी, तेथी घटनेा प्रतिपक्ष-अघट-पट, मुकुट, शकट, कट आदि पणु अवश्य होय छे । लोकनेा जे प्रतिपक्ष छे ते अस्तित्ववान् अलोक छे, कारण के अस्तित्ववान् पदार्थ न कोईनेा प्रतिपक्ष थई शके छे । गधेडानु शींगडुं वगेरे नास्तित्ववान् पदार्थ कोईनेा प्रतिपक्ष थतो नथी ।

पदार्थान्तरकल्पनया ? इति चेदुच्यते—‘न लोकः’ इत्यत्र नञः पर्युदासार्थकत्वात्, ‘पर्यु-  
दासः सदृशग्राही’-ति नियमान्निषेध्यसदृशेनैव भाव्यम्, निषेध्यश्चात्र जीवाऽजीवाऽऽदि-  
द्रव्याधारभूत आकाशविशेषात्मको लोकः, अतोऽलोकोऽप्याकाशविशेषरूप एव भवितुं योग्यः  
यथा ‘अधनोऽयम्’ इत्युक्ते धनरहितो मनुष्य एव गृह्यते न तु घटपटादिः, तथेहाऽप्य-  
लोको लोकानुरूप एव बोद्धव्य इति ॥२२॥

प्रश्न—‘जो लोक नहीं वह अलोक है’ ऐसा माननेसे लोकसे भिन्न जितने घट पट आदि  
पदार्थ हैं वे सब अलोक होंगे, क्योंकि वे लोक नहीं हैं—लोकसे भिन्न हैं। फिर घट आदि पदा-  
र्थोंसे भिन्न एक अलग अलोक क्यों मानते हो ?

उत्तर—जो लोक नहीं वह अलोक है। यहाँ नञ्समास है। नञर्थ दो प्रकारका होता  
है। एक नञर्थ ऐसा होता है कि वह जिसका निषेध किया जाता है उस निषेध्यके  
समानका ही ग्रहण करनेवाला होता है उसे पर्युदास कहते हैं। कहा भी है कि—“पर्युदास  
सदृशका बोधक होता है।” अत एव लोकका निषेध रूप अलोक भी लोकहीके समान होना  
चाहिए। निषेध्य यहाँ जीव अजीव आदि द्रव्योंका आधारभूत आकाशविशेष है, अतः अलोक  
भी आकाशविशेष (जीव अजीव आदि द्रव्योंके आधारसे भिन्न) होना चाहिए। जैसे किसीने  
काहाकि यह ‘अधन’ है। इस वाक्यमें ‘अधन’ शब्दसे यह नहीं समझा जाता है कि यह घड़ा  
है या कपड़ा है, किन्तु धनरहित मनुष्य अर्थ ही समझा जाता है। इसी प्रकार यहाँ ‘अलोक’  
शब्दसे घड़ा नहीं समझना चाहिए किन्तु आकाशविशेष ही समझना चाहिए। केवली भगवान्  
इन लोक अलोक दोनोंको जानते हैं ॥२२॥

प्रश्न—‘जे लोक नथी ते अलोक छे’ जेभ मानवाथी लोकथी लिन्न जेटला घट पट  
आदि-पदार्थी छे ते अधा अलोक थरो, कारणु के ते लोक नथी-लोकथी लिन्न छे. पछी  
घट आदि पदार्थीथी लिन्न जेक बूढो अलोक केम मानो छे ?

उत्तर—जे लोक नथी ते अलोक छे. जेभां नञ् समास छे. नञर्थ जे प्रकारना होय  
छे. जेक नञर्थ जेवो होय छे के ते जेना निषेध करवाभां आवे छे जे निषेध्यनी समानने  
ज अहणु करनार होय छे, तेने पर्युदास कहे छे, कह्युं छे के—“पर्युदास सदृशना बोधक  
होय छे” तेथी करीने लोकना निषेधरूप अलोक पणु लोकनी ज समान होवो जेधजे. अही  
निषेध्य जव-अजव आदि द्रव्योना आधारभूत आकाश-विशेष छे, तेथी अलोक पणु  
आकाश विशेष (जव अजव आदि द्रव्योना आधारथी लिन्न) होवो जेधजे, जेभके  
केधजे कह्युं के जे ‘अधन’ छे, जे वाक्यभां ‘अधन’ शब्दथी जेभ नथी समजतुं के जे  
घटो छे या कपडुं छे, किन्तु ‘धनरहित मनुष्य’ जेवो अर्थ ज समजय छे. जे रीते अही  
‘अलोक’ शब्दथी घटो या कपडुं नसमजवुं जेधजे, किन्तु आकाशविशेष ज समजवुं जेधजे.  
केवणी भगवान् जे लोक अने अलोक जेउने जाले छे. (२२)

१ ४ ५ ६ २ ७ ३  
मूलम्-जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।

८ ९ १० ११ १२  
तया जोगे निरुंभित्ता. सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

छाया—यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।

तदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥२३॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब जिणो=वीतराग केवली=केवलज्ञानी होये हुए. लोगम-लोगं च=लोक और अलोकको जाणइ=जानते हैं, तया=तब जोगे=मनवचन-क्रायके योगों का निरुंभित्ता=निरोध करके सेलेसिं=शैलेशीकरणको पडिवज्जइ=प्राप्त करते हैं ॥२४॥

टीका—‘जया लोग’-मित्यादि । यदा जिनः केवली लोकालोकं जानाति तदा योगान्=मनोवाक्कायलक्षणान् निरुध्य, तथाहि—मुक्तिपदेऽन्तर्मुहूर्त्तभाविनि आयुष्यन्तर्मुहूर्त्त-मात्रविशेषे सति यद्यघातिर्कर्मचतुष्टयं स्वभावतः समस्थितिकं स्यात्तदा निष्कलङ्कः परम-कल्याणाऽऽस्पदीभूतःकेवली सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्याख्यं ध्यानमारभते । उत्कृष्टत आयुषः षण्मा-सावशेषे समुत्पन्नकेवलस्य भगवतस्तु तदायुषोऽल्पत्वाद् वेदनीयनामगोत्रकर्मणां च स्थि-तिबाहुल्याच्च नियतसमुद्घातत्वात्, तत्कृत्वा वेदनीयादिषु चतुषु, समस्थितिकेषु सत्सु तदारम्भः ।

“जया लोग०” इत्यादि । जब घातीकर्मोंको जीतनेवाले केवली भगवान् लोक और अलो-कको जान लेते हैं तब योगोंका निरोध करके शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करते हैं ।

(३) अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहने पर यदि बाकी रहे हुए चारों अघातिया कर्मोंकी स्थिति स्वभावसे ही बराबर हो तो निष्कलङ्क परम कल्याणके आश्रयभूत केवली प्रभु सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्ल ध्यानके तीसरे पायेका ध्यान प्रारम्भ करते हैं, किन्तु जिन्हें उत्कृष्ट आयुकर्म छह मास अवशेष रहने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है उन्हें नियमसे केवलिसमुद्घात करना पड़ता है, क्योंकि उनका आयुकर्म अल्प होता है और उनके वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है, इसलिए वे पहले समुद्घातके द्वारा चारों कर्मोंकी स्थिति बराबर करके फिर तीसरे पायेका ध्यान आरम्भ करते हैं ।

जया लोगं० इत्यादि. न्यारे घाती कर्मोंने छतवावाणा केवली भगवान् लोक अने अलोक ने लक्ष्मी ले छे तयारे योगोंने निरोध करीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त करे छे.

(३) अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहतां पाडी रहेला न्यारे अघाती कर्मोंने स्थिति स्वभावथी परापर होय तो निष्कलंक परम कल्याणना आश्रयभूत केवली प्रभु सूक्ष्मक्रिय नामना शुक्ल ध्यानना त्रीण पायानुं ध्यान प्रारंभे छे. किन्तु जेभने उत्कृष्ट आयुकर्म छे मास अवशेष रहतां केवणज्ञान उत्पन्न थाय छे, तेभने नियमथी केवली समुद्घात करवे पडे छे, कारण के अमनुं आयुकर्म अल्प होय छे अने जेभनां वेदनीय नाम गोत्र कर्मोंने स्थिति पधारे होय छे. तेथी करीने ते पडेलां समुद्घातनी द्वारा न्यारे कर्मोंने स्थिति

यदा जघन्ययोगवतः सञ्ज्ञिपर्याप्तस्य मनोद्रव्याणि समयेर निरुन्धन् असंख्यात-  
समयैः सम्पूर्ण मनोयोगं, तत्पश्चात्पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य वाग्योगपर्यायतोऽसंख्यातगुणन्यूनवाग्यो-  
गपर्यायान् प्रतिसमयं निरुन्धन् असंख्यातसमयैः सम्पूर्णवाग्योगं, ततश्च प्रथमसमयसमुत्पन्न-  
निगोदजीवस्य जघन्यकाययोगपर्यायतोऽसंख्यातगुणहीनकाययोगं प्रतिसमयं निरुन्धन्  
असंख्यातसमयैर्बादरकाययोगं च सर्वथा निरुणाद्धि तदेदं सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्तिध्यान-  
मुपक्रमते । तत्र श्वासोच्छ्वासस्वरूपं सूक्ष्ममपि काययोगं निरुध्य=अयोगित्वं प्राप्ये-  
त्यर्थः, शैलीशीम्=शैलाः=पर्वतास्तेषामीशः शैलेशः=सुमेरुस्तद्वत् स्थैर्यं यस्यामवस्थायां

जब जघन्य योगवाले सञ्ज्ञी पर्याप्तके मनोद्रव्य और मनोद्रव्य के व्यापारोंसे असंख्यात  
गुणहीन मनोद्रव्योंका प्रतिसमयमें निरोध करते हुए असंख्यात समयोंमें सम्पूर्ण मनोयोगका  
निरोधक कर देते हैं । तब मनोयोगका निरोध करके पर्याप्त द्वीन्द्रियके वचनयोगकी पर्यायोंसे  
असंख्यात गुणहीन वचनयोगकी पर्यायोंका प्रतिसमय निरोध कहते हुए समस्त वचनयोगका  
निरोध करते हैं । वचन योगका सपूर्ण निरोध करके प्रथम समयमें उत्पन्न निगोदिया जीवके  
जघन्य काययोग की पर्यायों से असंख्यातगुणहीन काययोगका प्रतिसमय निरोध करते हुए  
असंख्यात समयोंमें बादर काययोगका भी सर्वथा निरोध कर देते हैं । अर्थात् समस्त मनोयोग  
और वचनयोगका तथा बादर काययोगका निरोध होने पर सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति नामक तीसरे  
ध्यानको आरंभ करते हैं । तीसरे ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासरूप काययोगकी सूक्ष्मक्रिया ही  
रहती है । इस ध्यानसे उस सूक्ष्मक्रियाका भी निरोध करके अयोगी हो जाते हैं । अयोगी होकर  
अर्थात् तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचकर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ।  
जिसमें शैलों (पर्वतों) के ईश (स्वामी) सुमेरु पर्वतके समान स्थिरता रहती है उसे शैलेशी अवस्था  
कहते हैं । अथवा—शोल (यथाख्यातचारित्र) के ईश (स्वामी) को शैलेश कहते हैं, उनकी  
भराभर करीने पछी त्रीण पायानुं ध्यान आरंभे छे.

न्यारे जघन्य योगवाणा संज्ञी पर्याप्तकना मनोद्रव्य अने मनोद्रव्यना व्यापारेथी  
असंख्यातगुणहीन मनोद्रव्योना प्रति समये निरोध करतां असंख्यात समयोमां संपूर्ण  
मनोयोगना निरोध करीने पर्याप्त द्वीन्द्रियना वचनयोगना पर्यायोथी असंख्यातगुणहीन  
वचनयोगना पर्यायोना प्रतिसमय निरोध करतां समस्त वचनयोगना निरोध करे छे.  
वचनयोगना संपूर्ण निरोध करीने प्रथम समयमां उत्पन्न निगोदिया गुणना जघन्य काय-  
योगना पर्यायोथी असंख्यातगुणहीन काययोगना प्रतिसमय निरोध करतां असंख्यात समयो-  
मां बादर काययोगना पणु सर्वथा निरोध करी नांजे छे. अर्थात् समस्त मनोयोग अने  
वचनयोगना तथा बादर-काययोगना निरोध थतां सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति नामना त्रीण ध्यानना  
आरंभ करे छे. त्रीण ध्यानने समये श्वासोच्छ्वासरूप काययोगनी सूक्ष्म-क्रिया न रहे छे,  
ये ध्यानथी ते सूक्ष्म-क्रियाने पणु निरोध करीने अयोगी थछ नय छे. अयोगी थछने  
अर्थात् तेरहे गुण स्थान थी यौदमां गुणस्थानमां पडोचीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त  
थाय छे. जेमां शैलो (पर्वतो)ना ईश (स्वामी) सुमेरु पर्वतनी पेठे स्थिरता रहे छे तेने



सा, यद्वा शीलं=यथाख्यातचारित्रं तस्येशः=स्वामी शीलेशस्तस्येयमवस्था शैलेशी तां प्रतिपाद्यते मध्यमकालेन 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' इत्येवंरूपपञ्चलध्वक्षरोच्चारणसमकालस्थितिकं समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिध्यानमनुभवतीत्यर्थः,

ननु सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्याख्यस्य शुक्लध्यानस्य कथं ध्यानपदप्रतिपाद्यता ?, ध्यानं हि नाम मनःस्थैर्यम्, केवलिनश्च तदानीं मनसोऽसत्त्वादिति चेन्न,

स्थैर्यावस्थापन्नत्वमेव ध्यानत्वम्, तच्च यथा स्थिरीभावमापन्नस्य छद्मस्थीयमनसस्तथैव केवलिकाययोगस्यापि सुस्थिरतया सुवचम् ।

नन्वेवमपि समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपात्याख्यस्य शुक्लध्यानस्य कथं ध्यानत्वम् ? तत्र काययोगस्याप्यभावात्, इति चेदुच्यते—यथा कुम्भकारचक्रं तद्भ्रामकदण्डादिसम्बन्धा-

अवस्थाको शैलेशी कहते हैं । इस शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होकर न धीमे न जल्दी अर्थात् मध्यम काल से 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' इन पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समय तक चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थानमें रहकर समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान ध्याते हैं ॥

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! मनकी स्थिरताको ध्यान कहते हैं । केवली भगवान के उस समय मन नहीं रहता; अतः सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति शुक्लध्यान को ध्यान कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं । वह स्थिरता जैसे छद्मस्थके मनोयोगकी होती है वैसे ही केवलीके काययोगकी स्थिरता होती है इसीलिए उसे ध्यान कहते हैं ।

प्रश्न—तो समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति—शुक्ल—ध्यानको ध्यान कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि वहां काययोगका भी अभाव है ? ।

उत्तर—जैसे कुंभारका चाक, घुमानेवाले दण्ड आदिके संयोग न होनेपर भी पूर्वकालके

शैलेशी अवस्था कहे छे, अथवा शील (यथाख्यात-चारित्र) ना धेश (स्वामी) ने शीलेश कहे छे, ऐनी अवस्थाने शैलेशी कहे छे. ऐ शैलेशी अवस्थाने प्राप्त थधने, नही धीमे के नहि जल्दी अर्थात् मध्यम कालथी अ-इ-उ-ऋ-लृ ऐ पांच ह्रस्व अक्षराना उच्चारणमां जेटला समय लागे जेटला समय सुधी यौदमे अयोगिकेवली शुक्लस्थानमां रहीने समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान ध्यावे छे.

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! मनकी स्थिरताने ध्यान कहे छे. केवली भगवानने ऐ समये मन रहेतुं नथी, जेटले सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति शुक्लध्यानने ध्यान केवी रीते कही शक्य ?

उत्तर—स्थिरताने ज ध्यान कहे छे. ऐ स्थिरता जेवी छद्मस्थना मनोयोगनी डाय छे तेवीज केवलीना काययोगनी स्थिरता डाय छे; तेथो तेने ध्यान कहे छे.

प्रश्न—तो समुच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाति—शुक्ल—ध्यानने ध्यान केवी रीते कही शक्य ? कारण के त्यां काययोगनो पणु अभाव छे.

उत्तर—जेम कुंभारने आकडे, तेने ईरवनार दंड आदिनो संयोग न थवा छतां पणु पूर्वकालना वेगथी घुम्या करे छे, तेमज मन वचन कायनो निरोध थई गया पछी

भावेऽपि प्राक्कालीनवेगतो भ्रमति तथा मनोवाक्काययोगनिरोधेऽप्ययोगिनः प्राक्कृतध्यानधारावेगतो ध्यानं सम्पद्यते ।

किञ्च—तत्र द्रव्ययोगाभावेऽपि भावयोगस्य सत्त्वाद् ध्यानमुपपद्यते, जीवोपयोगरूपस्य भावमनसस्तत्रापि सद्भावात् । अथ च—यथा पुत्रभिन्नोऽपि पुत्रकार्यकरणेन पुत्र उच्यते तथा भवोपग्राहिकर्मनिर्जरणरूपस्य ध्यानकार्यस्य करणेन ध्यानत्वोपाचाराद् ध्यानशब्दाभिधेयत्वं सिद्धम् ।

अथ च—ययैकस्य नानार्थकशब्दस्य बहवोऽर्था भवन्ति, तथा धातूनामनेकार्थत्वाद् ध्यैधातुनिष्पादितस्य ध्यानशब्दस्यापि समुच्छिन्नक्रियाख्यं शुक्लध्यानमप्यर्थः । अपरं च—उक्तशुक्लध्यानस्य ध्यानत्वेन जिनागमप्रतिपाद्यतया ध्यानत्वं निर्बाधमित्यलम् ॥२३॥

मूलम्—जया<sup>१</sup> जोगे<sup>२</sup> निरुंभित्ता<sup>३</sup> सेलेसि<sup>४</sup> पडिवज्जइ<sup>५</sup> ।

तया<sup>६</sup> कम्मं<sup>७</sup> खवित्ताणं<sup>८</sup>, सिद्धिं<sup>९</sup> गच्छइ<sup>१०</sup> नीरओ<sup>११</sup> ॥२४॥

वेगसे घुमता रहता है वैसे ही मन वचन कायका निरोध होजाने परभी पूर्व ध्यानकी धारा के वेगसे अयोगी केवलीके ध्यान होता है ।

अथवा—द्रव्ययोगका अभाव होने पर भाव योगके सद्भावसे ध्यान होता है, क्योंकि जीवका उपयोगरूप भावमन उस अवस्थामें भी रहता है । अथवा जैसे पुत्र न होकर भी यदि कोई पुत्रका कार्य करता है तो वह पुत्र कहलाता है । वैसे ही भवोपग्राही कर्मोंकी निर्जरारूप ध्यान का कार्य करनेसे उपचार से वह ध्यान कहलाता है । अथवा—जैसे नानार्थक शब्दके बहुत से अर्थ होते हैं वैसे ही धातुओंके भी अनेक अर्थ होते हैं इसलिए यहाँ 'ध्यै' धातुसे बने हुए ध्यान शब्द का अर्थ समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यान अर्थात् अयोगी गुणस्थानवालों की क्रिया भी समझ लेना चाहिए । अथवा जिनागममें इसको ध्यान कहा है अतः इसमें ध्यानत्व निर्बाध है ॥२३॥

पणु पूर्व ध्याननी धाराना वेगथी अयोगी केवलीने ध्यान डोय छे.

अथवा द्रव्ययोगने अभाव तथा छतां पणु भावयोगना सद्भावथी ध्यान थाय छे. कारणु के लवना उपयोगरूप भावमन ये अवस्थाभां पणु रहे छे. अथवा जेभ पुत्र न होवा छतां जे कोई पुत्रनुं कार्य करे छे तो ते पुत्र कहेवाय छे, तेभज भवोपग्राही कर्मोनी निर्जरारूप ध्याननुं कार्य करवाथी उपचारे करीने ते ध्यान कहेवाय छे. अथवा जेभ विवि. धार्थक शब्दना घणुय अर्थो थाय छे तेभ धातुओना पणु अनेक अर्थो थय छे, अही ध्यै धातुथी अनेवा ध्यान शब्दने अर्थ समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यान अर्थात् अयोगी शुक्लस्थान वाणओनी क्रिया पणु समणु लेवी. अथवा जिनागमभां अने ध्यान कलुं छे तेथी ओभां ध्यानत्व निर्बाध छे. (२३)

छाया—यदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।

तदा कर्म क्षययित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥२४॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब जोगे=यागोंका निरंभित्ता=निरोध करके सेलेसि=शैले-  
शीकरणको पडिवज्जइ=प्राप्त करते हैं, तथा=तब कम्मं=कर्ममात्रको खवित्ता=खपा करके  
नीरओ=कर्मरजरहित=सब कर्मों से मुक्त=होकर सिद्धि=मोक्षको गच्छइ=जाते हैं ॥२४॥

टीका—‘जया जोगे०’ इत्यादि । यदा योगनिरोधं कृत्वा शैलेशीं प्राप्नोति तदा  
कर्म=वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्राख्यमघातिकर्मचतुष्टयलक्षणं क्षययित्वा=क्षयं नीत्वा सर्वथा  
विनाश्येत्यर्थः ‘ण’-मिति वाक्चालङ्कारे, नीरजाः=निर्गतं रजः=सकलकर्ममलं यस्मादिति,  
रजसः=उक्तलक्षणान्निष्क्रान्तो वा नीरजाः=सकलर्मोपाधिरहितः साधितात्मा प्रभुः सिद्धिं=  
सिध्यन्ति=निष्ठितार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः=धुक्तिलक्षणा तां गच्छति=प्राप्नोति; गत्य-  
र्थधातुनां प्राप्त्यर्थत्वात् ॥२४॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७  
मूलम्—जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।

८ ९ १० ११ १२  
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

छाया—यदा कर्म क्षययित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।

तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥२५॥

सान्त्वयार्थः—जया=जब कम्मं=कर्ममात्रको खवित्ता=खपा करके नीरओ=कर्मर-  
जरहित होकर सिद्धिं=मोक्षको गच्छइ=जाते हैं, तथा=तब लोगमत्थयत्थो=लोगके अग्र-  
भाग पर स्थित सासओ=शाश्वत=नित्य सिद्धो=सिद्ध हवइ=हो जाते हैं ॥२५॥

टीका—‘जया कम्मं’ इत्यादि । यदा सर्वकर्मक्षयं कृत्वा नीरजाः सिद्धिं गच्छति  
तदा लोकमस्तकस्थः=सर्वलोकोपरिस्थितः, शाश्वतः=दग्धकर्मबोजत्वात्पुनः संसारसंसरण-  
रहितो नित्यः, सिद्धः=कृतकृत्यो भवतीति ।

‘जया जोगे’ इत्यादि । जब योगोंका निरोध करके शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब  
वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मोंका क्षय करके सर्व कर्मोंसे मुक्त होकर  
भगवान मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥२४॥

‘जया कम्मं’ इत्यादि । जब सब कर्मोंका क्षय करके निष्कर्म होकर मोक्षगमन करते है  
तब लोकके अग्रभाग पर स्थित, सब कर्मोंसे रहित होनेके कारण सभी संसार में न आनेसे

ज या जोगे इत्यादि. न्यारे योगेने निरोध करीने शैलेशी अवस्थाने प्राप्त थाय छे,  
त्यारे वेदनीय, आयु, नाम अने गोत्र अने चार अघाती कर्मोंने क्षय करीने सर्व कर्मोंथी  
मुक्त थधने भगवान मोक्षने प्राप्त थाय छे. (२४)

जया कम्मं इत्यादि. न्यारे सर्व कर्मोंने क्षय करीने निष्कर्म थधने मोक्षगमन करे  
छे, त्यारे लोकना अग्रभाग पर स्थित, सर्व कर्मोंथी रहित होवाने कारणे कदापि संसारमां

ननु सिद्धानां सर्वकर्मक्षयात् त्रसनामकर्मणोऽप्यविद्यमानत्वेन कथं गतिसम्भवः ? इति चेदुच्यते—

यथा धनुर्मुक्तस्य बाणस्य तद्विरहेऽपि पूर्वप्रयोगसामर्थ्याद्गतिर्भवति तथा संसारावस्थायामपवर्गप्राप्तये कृतानेकविधप्रणिधानबलान्मुक्तात्मनोऽपीति ।

ननु भवतु गतिः किन्तु सा तिर्यग्धस्ताद्वा न भूत्वोर्ध्वमेव भवतीति कथमवसीयते ? इति चेच्छ्रूयताम्—तेषां गुरुत्वगुणाभावान्नाधस्तात्, कायादियोगपरप्रेरणयोरभावाच्च न तिर्यग्गतिर्भवति,

यथा-नीरन्ध्रामतिशुष्कामनुपहतां चाऽलाबुं कुशादितृणैः परितः संवेष्ट्य तदुपरि शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं ।

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! सिद्धोके समस्त कर्मोका नाश होजाता है अत एव त्रस नाम कर्म भी नहीं रहता, फिर सिद्ध भगवान लोकके अग्र भाग तक किस प्रकार गमन कर सकते हैं ।

उत्तर—हे शिष्य जैसे धनुषसे छूटा हुआ बाण धनुषका सम्बन्ध न होने पर भी गति करता है, क्योंकि उसमें पहलेका व्यापार का सामर्थ्य रहता है । वैसे ही संसार अवस्थामें मोक्ष प्राप्त करनेके लिए किये हुए अनेक प्रकारके अनुष्ठानके बेगसे मुक्तात्मा भी गमन करते हैं ।

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! गति तो होती है पर ऊर्ध्व गति ही क्यों होती है ? नीचेकी ओर अथवा तिरछी गति क्यों नहीं होती ?

उत्तर—हे शिष्य ? नीचे की ओर उसीकि गति होती है, जिसमें गुरुत्व गुण (भारी पन) पाया जाता है । सिद्धोंमें गुरुत्व गुण नहीं है अत एव उनकी गति नीचेकी ओर नहीं होती काय आदि योग और दूसरेकी प्रेरणा न होनेसे तिरछी गति भी नहीं होती ।

न आववाथी शाश्वत सिद्ध थछ जय छे.

प्रश्न—हे शुर् महाराज ! सिद्धेनां अधां कर्मोना नाश थछ जय छे, ज्येठ्ठे त्रसनाम-कर्म पणु रडेत्तुं नथी, तो पछी सिद्ध लगवान् लोकना अग्रभाग सुधी केवा प्रकारे गमन करी शके छे ?

उत्तर—हे शिष्य ! जेवी रीते धनुष्यथी छूटेत्तुं आणु धनुष्यने स'अंध न डोवा छतां गति करे छे, कारणु के तेमां पडेलांना व्यापारतु सामर्थ्यं रडेत्तुं छे, तेवी रीते संसार अवस्थांमां मोक्ष प्राप्त करवाने माटे करेलां अनेक प्रकारनां अनुष्ठानोना वेगथी मुक्तात्मा पणु गमन करे छे.

प्रश्न—हे शुर् महाराज ! गति तो डोय छे पणु उर्ध्वं गति ज केम थाय छे ? नीचेनी आणुज्ये अथवा तिछीं गति केम नथी थती ?

उत्तर—हे शिष्य ! नीचेनी आणुज्ये तेनी गति थाय छे के जेमां शुर्त्वगुणु (भारे-पणु) डोय छे. सिद्धोमां शुर्त्व गुणु नथी, तेथी तेमनी गति नीचेनी आणुज्ये नथी थती काय आदि योग अने जीजनी प्रेरणा न डोवाथी तिछीं गति पणु थती नथी.

स्निग्धमृत्तिकया सान्द्रं विलिप्याऽऽतपे संशोषयेत्, इत्थमष्टवारानुक्तप्रक्रियया यथाक्रमं तृणवेष्टन-मृल्लेपन-संशोषणादीनि विधायाऽगाधसलिले प्रक्षिप्ता साऽलाबूरष्टकृत्वोदत्तमृल्लेपजनितगौरवेणोर्ध्वसलिलतलमतिक्रम्य तदधस्ताद् भूतलसंलग्ना भवति, तदनु मन्दमन्दमनुक्रमतस्तेष्वष्टवारविनिहितमृल्लेपेषु सार्द्रतामुपगम्य विशीर्णेषु सत्सु मृत्तिकालेपजन्य-भारराहित्येन लघुतामुपगता साऽलाबूरधोभूतलमतिक्रम्य जलोपरिप्रतिष्ठाना भवति तथाऽष्टविधकर्मलेपसंभारभराक्रान्त आत्मा जगज्जलधौ निमज्जति, तद्विरहितश्चोर्ध्वगतिधर्मत्वादूर्ध्वमेव गच्छति ।

तथा चोक्तं भगवता—

“जह मिउलेवालित्तं, गरुयं तुवं अहो वयइ एवं ।

आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१॥

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं ।

जह तह कम्मविमुक्का, लोयगपइट्टिया होंति ॥२॥” इति ।

जैसे—छिद्ररहित बिलकुल सूखी हुई, विना टूटी-फूटी तुम्बीको चारों ओर तृणपुञ्जसे बांध करके धूपमें सुखा ले, आठ बार ऐसा करके अगाध जलमें तुम्बी को डाल दे तो आठबार के लेप के भारीपनसे जलके तलमें पहुँचकर वह पृथ्वी से लग जाती है । उसके पश्चात् गीलेपनसे जब धीरे धीरे वह मिट्टीका लेप छूटने लगता तो क्रमशः मिट्टीके भारसे रहित होकर लघुता(हलकापन) पाकर वह तुम्बी नीचेसे उठकर जलके ऊपर आजाती है । इसी प्रकार आठ कर्मरूपी लेपके भारसे भारी आत्मा संसाररूपी समुद्रमें डूबी रहती है । जब कर्मरूपी लेपसे रहित हो जाती है तब ऊर्ध्व गमनका स्वभाव होनेसे ऊर्ध्वगमन करती है । भगवान ने कहा भी है—

“जैसे मिट्टीके लेपसे लिप्त तुम्बी भारी होनेसे नीचेकी ओर जाती है वैसेही आसवसे उत्पन्न कर्मोंसे आत्मा अधोगतिको प्राप्त होती है ॥१॥ जैसे तुम्बी लेपसे मुक्त होनेपर लघु

जेम छिद्ररहित, बिलकुल सुकायली, तूट्या फूट्या विनानी तुंभडीने चारे आनुजे धास-तरण्ठाथी आंधीने तेनी उपर थीकणी माटीने सारी चेडे वेप करीने तडकाभां सूकवी नांजे, आठ वार जेम करीने अगाध जलभां जे तुंभडीने नांणी दे तो आठ वारना वेपना बारे पण्ठाथी जणने तणीये पडोंथीने ते पृथ्वीने अडीने रडे छे. पछी ज्यारे लीलापण्ठाथी धीरे धीरे जे माटीने वेप छूटवा लागे छे त्यारे क्रमशः माटीना बारथी रडित थधने लघुता (हलकापण्ठु) पावीने जे तुंभडी नीचेथी उडीने जणनी उपर आवी जय छे. जेज प्रकारे आठ कर्मइपी वेपना बारथी बारे जेवे आत्मा संसारइपी समुद्रभां दुणी रडे छे. ज्यारे कर्मइपी वेपथी रडित थध जय छे त्यारे उर्ध्वगमनने स्वभाव होवाथी उर्ध्व गमन करे छे. भगवाने कहु पण्ठु छे के—

“जेम माटीना वेपथी लिप्त तुंभडी बारे होवाथी नीचेनी आनुजे जय छे, तेमज आसवथी उत्पन्न थजेवां कर्मोथी आत्मा अधोगतिने प्राप्त थाय छे. (१) जेम तुंभडी

छाया—“ यथामृल्लेपाऽऽलिप्तं, गुरुकं तुम्बमधो व्रजत्येवम् ।

आश्रवकृतकर्मगुरवो, जीवा व्रजन्ति अधरगतिम् ॥१॥

तदेव (तुम्बं) तद्विमुक्तं (मृल्लेपविमुक्तं), जलोपरि तिष्ठति जातलघुभावम् ।

यथा तथा कर्मविमुक्ता (सिद्धाः) लोकाग्रप्रतिष्ठिता भवन्ति ॥२॥

अथवा—यथा वातादिरूपबाधक विरहादूर्ध्वगतिस्वभावायाः प्रदीपकलिकायाः, बीज-  
बन्धविच्छेदाद्बीजकोशगतैरण्डबीजस्थ चोर्ध्वगतिः संजायते तथाऽऽत्मनोऽपि तादृशगति-  
स्वभावस्य विरोधिकर्मबन्धविच्छेदादूर्ध्वगतिरेवेति ।

यथैरण्डबीजमूर्ध्वं गत्वा पुनःपतति तथा तु न मुक्तात्मनः पातसम्भवः, अधःपतन-  
हेतुभूतगुरुत्वगुणाभावादिति प्रागुक्तमेव ।

ननु शरीराभावात्तेषामात्मप्रदेशाः पारदद्रव्यवत् कथं न विकीर्णा भवन्तीति चेन्न,  
तद्विसर्पकनामकर्माभावात्प्रदेशवच्चगुणसद्भावाच्च ।

होकर जलके ऊपर आजाती है उसी प्रकार कमसे मुक्त होकर आत्मा लोकके अग्रभाग पर  
विराजमान हो जाती है ॥२॥”

अथवा—जैसे हवा आदि किसी बाधकके न होनेसे दीपककी लौ ऊपरको जाती है, बीज-  
कोषके बन्धके टूटनेपर एरण्डका बीज ऊपरको जाता है, उसी प्रकार आत्माके ऊर्ध्वगमन  
के विरोधी कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाने से आत्मा ऊर्ध्वगति करती है

जैसे एरण्डका बीज पहले ऊपरको जाकर फिर नीचे गिर पड़ता है वैसे आत्मा नहीं गिर  
सकती, क्योंकि नीचे गिरानेका कारण गुरुत्वगुण आत्मामें नहीं है, यह पहले ही कह चुके हैं ।

प्रश्न—हे गुरुमहाराज ! शरीरका अभाव होनेसे सिद्धोंके आत्माके प्रदेश पारेके समान  
फैल क्यों नहीं जाते ?

उत्तर—हे शिष्य । आत्मप्रदेशोंको फैलानेवाले नामकर्मका अभाव होनेसे तथा प्रदेशवत्त्व  
गुणके सद्भावसे सिद्धोंके आत्मप्रदेश नहीं फैलते हैं ।

दोपथी मुक्त यतां लघु यधने जलनी उपर आवी जय छे, तेम कर्मथी मुक्त यधने आत्मा  
लोकना अग्रभाग पर विराजमान थध जय छे. (२)”

अथवा, जेम हवा आदि कैध आधक न होवाथी दीपनी जयेत उपर ज जय छे,  
धीजकोषने आध तूटवाथी अेरंडानुं धीज उपर ज जय छे, तेम आत्माना उर्ध्वगमनना  
विरोधी कर्मबन्धने सर्वथा अभाव थध जवाथी आत्मा उर्ध्वगति ज करे छे.

जेम अेरंडानुं धीज पडेलां उपर जधने पधी नीचे पडी जय छे, तेम आत्मा पडी  
शकते नथी कारणु के नीचे पाडवानुं कारणु गुरुत्व गुणु आत्मांमां नथी अे पडेलां कडेलांमां  
आवेतुं ज छे.

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! शरीरने अभाव होवाथी सिद्धोना आत्माना प्रदेशो पारानी  
पेडे ईलाध केम जता नथी ?

उक्तस्वरूपाः सिद्धाश्चरमशरीरतस्तृतीयभागन्यूना उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदङ्गुलसमधिक-  
त्रयस्त्रिंशदुत्तरशतत्रयधनुः परिमिताः, जघन्यतोऽष्टाङ्गुलाधिकरत्रिप्रमाणाः ।

यच्च मरुदेवीदेहप्रमाणस्य सपादपञ्चशतधनुष्ठात्तृतीयभागे पातिते तस्याः सार्द्धत्रि-  
शतधनुः परिमिताऽवगाहना भवति तेनात्र न विरोधः, गजाधिरूढत्वेन वृद्धत्वेन वा शरी-  
रसङ्कोचसम्भवात् ।

यत्तु जघन्यतः सप्तहस्तोच्छ्रितानां सिद्धिः शास्त्रेषु श्रयते तत्तीर्थकरापेक्षया, अन्ये  
तु द्विहस्तोच्छ्रिता अपि सिध्यन्ति, तदपेक्षया हि प्रोक्तस्वरूपा जघन्याऽवगाहनाऽवसेया ।

एवमुक्तस्वरूपो जन्म-जरा-मरणा-ऽऽधिव्याधिवाधापटलीकलङ्कलीभावगर्भनिवासत्रास-

सिद्धोके चरम शरीरसे त्रिभाग कम, उत्कृष्ट तीनसौ तेंतीस (३३३) धनुष और बत्तीस  
(३२) अंगुलकी, तथा जघन्य एकरत्नि (एकहाथ) और आठ अंगुलकी अवगाहना होती है ।

मरुदेवीके शरीरकी अवगाहना सवा पाँचसौ (५२५) धनुषकी थी, उसमेंसे तीसरा  
हिस्सा कम करनेसे साढे तीनसौ (३५०) धनुषकी अवगाहना होती है, किन्तु यहाँ पर उत्कृष्ट  
अवगाहना तीनसौ तेंतीस धनुष और बत्तीस अंगुलकी बताई गई है, इससे यहाँ विरोध नहीं  
समझना चाहिये, क्योंकि मरुदेवी हाथी पर आरूढ थी, इसलिए या वृद्धावस्थाके कारण  
शरीरका (संकुचित होना) संभव है ।

यह जो आगममें सुना जाता है कि जघन्य सात हाथ ऊँचे शरीरवालोंको मोक्ष प्राप्त  
होता है सो यह नियम तीर्थकरोंको अपेक्षासे समझना चाहिए । तीर्थकरोंके सिवाय अन्य भव्य  
जीव दो हाथ ऊँचे शरीरवाले होनेपर भी मुक्त हो जाते हैं । उनको अपेक्षासे ही सिद्धोंकी जघन्य-  
अवगाहना एकरत्नि (एकहाथ) और आठ अंगुलकी कही गई है ।

उत्तर--डे शिष्य ! अत्मप्रदेशाने इलावनारा नामकभने अलाव डेवाथी तथा प्रदेश-  
वत्त्व गुणुने सद्भाव डेवाथी सिद्धोना आत्मप्रदेश इलाता नथी.

सिद्धोना अरभ शरीरथी त्रिभाग ओधी, ओकहाथत्रणुसो तेत्रीस (३३३) धनुष अने अत्रीस  
(३२) आंगणनी तथा जघन्य ओक रत्नि अने उत्कृष्ट आठ आंगणनी अवगाहना डेय छे.

मरुदेवीना शरीरनी अवगाहना सवा पांचसो (५२५) धनुष्यनी डती, तेमांथी त्रीजे  
लाग ओछे करवाथी साडा त्रणुसो (३५०) धनुष्यनी अवगाहना थाय छे. किन्तु अही  
उत्कृष्ट अवगाहना त्रणुसोने तेत्रीस धनुष अने अत्रीस आंगणनी अतावी छे, तेथी विरोध  
समजवो नही, कारण के मरुदेवी हाथी पर आरूढ डती. तेने लीधे या वृद्धावस्थाने कारणे  
शरीरनुं संकुचित थवुं अे संलपित छे.

आगममां जे संलणाय छे के-जघन्य सात हाथ उंचा शरीरवाणायोने ज मोक्ष  
प्राप्त थाय छे ते नियम तीर्थकरानी अपेक्षाअे समजवो जेधअे. तीर्थकरे सिवायना जीज  
लव्य लवो जे हाथ उंचा शरीरवाणा डेवा छतां पणु मुक्त थध जय छे. अेमनी अपे-  
क्षाअे ज सिधोनी जघन्य अवगाहना ओक रत्नि अने आठ आंगणनी कडेवामां आवी छे.

सन्ततिविनिष्क्रान्तः शाश्वतः सिद्धो भवतीत्यर्थः । 'शाश्वत' पदेन चात्र "सम्प्राप्तसिद्धि-  
पदो ह्यात्मा न पुनः संसारित्वमवाप्नोति हेतोरभावात् , न च कारणमन्तरेण कार्योत्पत्ति-  
र्जायते" इति बोधितम् ॥२५॥

उक्तं सुगतिरूपं धर्मफलं, सम्प्रति तत् कस्य दुर्लभं भवती ?—तिदर्शति—'सुहसाय-  
गस्स०' इत्यादि ।

१ ६ २ ३  
मूलम्—सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।

२ ८ ७ ५  
उच्छोलणापहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

छाया—सुखास्वादकस्य श्रमणस्य, शाताकुलस्य निकामशायिनः ।

उत्क्षालनाप्रधौतस्य दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२५॥

सुगति की दुर्लभता बतलाते हैं—

सान्वयार्थः—सुहसायगस्स=सुखकी आसक्ति रखनेवाले सायाउलगस्स=सुख के  
लिए व्याकुल रहनेवाले निगामसाइस्स=मर्यादासे अधिक सोनेवाले उच्छोलणापहोय-  
स्स=शरीरकी विभूषा करनेवाले तारिसगस्स=ऐसे समणस्स=साधुको सुगई=सुगति दु-  
ल्लहा=दुर्लभ है ॥२६॥

टीका-सुखास्वादकस्य=सुखस्य=प्राप्तमनोरमशब्दाधुपभोगस्य आस्वादकः=आस-  
त्त्या ग्राहकस्तस्य, शाताकुलकस्य=शातार्थम् आकुलकः=व्यग्रः उद्विग्नो वा तस्य, निकाम-

ऐसे सिद्ध जन्म-जरा-मरण, आधि, व्याधि, बाधा, कलङ्कलीभाव(संसारपरिभ्रमण), गर्भ  
वासके दुःखोंसे रहित शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं । यहाँ 'शाश्वत' पदसे यह बोधित किया जाता  
है कि सिद्धि पदको प्राप्त आत्मा फिर संसार अवस्थाको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि संसारमें  
आनेके कारणभूत कर्मोंका अभाव है । कारणके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ॥२५॥

यहाँ तक धर्मका सुगतिरूप फल कहा यह फल किसे दुर्लभ होता है सो दिखाते हैं—  
'सुहसायगस्स' इत्यादि ।

प्राप्त हुए मनोज्ञ शब्दादि उपभोगोंको आसक्तिपूर्वक ग्रहण करनेवाले, सुखप्राप्ति के लिए

येवा सिद्धो जन्मजरा-मरण, आधि-व्याधि, बाधा, कलङ्कलीभाव (संसार-परिभ्र-  
मण), गर्भवासनां दुःखेभ्यो रहित शाश्वत सिद्धिर्भवति इत्यर्थः । अर्थात् 'शाश्वत' शब्दार्थी अर्थ  
बोधित करवाया आत्युत्तमं सिद्धिपदने प्राप्त भवेत् । आत्मा इरी संसारी अवस्थाने  
प्राप्तं भवति नथी, कारणं के संसारमां आववानां कारणभूत कर्मोना अभावः । कारणं विना  
कार्यं नोत्पत्ति भवति नथी. (२५)

अर्थात् सुधी धर्मज्ञ सुगतिरूपं फलं कथं, ये फलं केने दुर्लभं भवति ते दृशयि-  
ते—सुहसायगस्स इत्यादि.

प्राप्तं भवेत् । मनोज्ञ शब्दादि उपभोगाने आसक्तिपूर्वकं ग्रहणं करणारा, सुखप्राप्तिने



शायिनः=निकामम्=अतिशयितं मध्यवर्त्तियामद्वयादधिकं रात्रौ, निष्कारणं दिवसे वा शेते  
=स्वपिति तच्छीलो निकामशायी=सूत्रार्थमननादिसमयमुल्लङ्घ्य शयानस्तस्य, उत्सालना-  
प्रधौतस्य=उत्सालनया=प्रक्षालनया प्र=प्रकर्षार्थं=विभूषार्थं धौतानि=उज्ज्वलीकृतानि नयन-  
बदन-कर-चरण-वस्त्रादीनि येन स तस्य शरीरादिविभूषाकारिण इत्यर्थः। तादृशकस्य=तीर्थ-  
कराऽऽज्ञाऽनाराधकस्य, श्रमणस्य=श्रमणब्रुवस्य वेशमात्रेण साधोः सुगतिः=सिद्धिलक्षणा  
गतिः दुर्लभा=दुष्प्रापा 'भवती'-ति शेषः।

'सुखास्वादकस्ये'-त्यनेन सम्प्राप्तमनोज्ञशब्दादिविषयकाऽऽसक्तिर्निराकृता। 'शा-  
ताकुलकस्ये' त्यनेनाऽप्राप्तसुखव्याप्तिर्निरस्ता। 'निकामशायिनः' इत्यनेन च प्रमाद-  
निवृत्तिः सूचिता। 'उत्सालनाप्रधौतस्ये'-त्यनेन च ब्रह्मचर्यरक्षार्थं विभूषाऽपाकृता। २६।  
एवं तर्हि कस्य मुक्तिः सुलभा ! इति जिज्ञासायामाह--'तवोगुण०' इत्यादि।

मूलम्—तवोगुणपहाणस्य, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।

परीसहे जिणंतस्य, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७॥

छाया—तपोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।

परीषहान् जयतः, सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२७॥

व्याकुल रहनेवाले, दो मध्य प्रहरोंसे अधिक रात्रिमें, या कारणविशेष विना दिनमें अर्थात् सूत्रार्थके  
मनन करनेके समयका उल्लंघन होने तक सोनेवाले, तथा विभूषा के लिए आंख, मुख, नस  
हाथ-पैर वस्त्र आदि को धोनेवाले अर्थात् शरीर को विभूषित करनेवाले, अतः तीर्थकरकी  
आज्ञाके विराधक, ऐसे श्रमणको सिद्धिगतिकी प्राप्ति दुर्लभ है।

'सुहसायगस्स' पदसे यह सूचित किया है कि साधुको प्राप्त, शब्दादि विषयोंमें आसक्ति  
नहीं रखनी चाहिए। 'सायाउलगस्स' पदसे अप्राप्त विषयसुखोंके लिए आकुल नहीं होना चाहिए,  
ऐसा सूचित किया है। 'निगामसाइस्स' पदसे प्रमादका परित्याग करना प्रदर्शित किया है।  
'उच्छोलणापहोयस्स' पदसे ब्रह्मचर्यके संरक्षणके लिए शरीरको विभूषित करनेका निषेध किया  
गया है ॥२६॥

भाटे व्याकुण रडेनारा, जे मध्य प्रडशेथी वधु रात्रिमां या कारण-विशेष विना द्विवसमां  
अर्थात् सूत्रार्थनुं मनन करवाना समयनुं उल्लंघन थाय त्यां सुधी सूतारा तथा विभूषा  
(शिला) ने भाटे आंभ, मुण, नभ हाथ-पग वस्त्र आदिने धोनारा अर्थात् शरीरने विभूषित  
करनारा अेटवे के तीर्थकरनी आज्ञाना विराधक, अेवा श्रमणने सिद्धगतिनी प्राप्ति दुर्लभ छे।

सुहसायगस्स शब्दथी अेभ सूचित करवाभां आंभुं छे के साधुअे प्राप्त शब्दादि  
विषयभां आसक्ति राभवी न जेधअे, सायाउलगस्स शब्दथी अप्राप्त विषयसुअेने भाटे  
आकुण न थवुं जेधअे अेवुं सूचित कथुं छे। निगामसाइस्स शब्दथी प्रमादने परित्याग  
करवानुं प्रदर्शित कथुं छे। उच्छोलणापहोयस्स शब्दथी ब्रह्मचर्यना रक्षणने भाटे शरीरने  
विभूषित कवारने निषेध करवाभां आंभे छे। (२६)

सान्वयार्थः—तवोगुणपहाणस्स=तपरूपी गुणोंको मुख्य समझनेवाले उज्जुमइ=सरल बुद्धिवाले खंतिसंजमरयस्स=क्षान्ति और संयममें लीन परीसहे=परीषहोंको जिणंतस्स=जीतनेवाले तारिसगस्स=ऐसे (श्रमणोंको) सुगई=सुगति सुलहा सुलभ है ॥२७॥

टीका— तवोगुणप्रधानस्य तपति=अन्तर्भावितपर्यंतया तापयति दहत्यष्टविधं कर्मेति तपः=षष्ठभक्तादि तदेव गुणस्तवोगुणः स प्रधानं=मुख्यो यस्य स तस्य, ऋजुमतेः=ऋज्वी=सरला मति=बुद्धिर्यस्य स तस्य, क्षान्तिसंयमरतस्य=क्षान्तिः=कषायनिग्रहः संयमः सावद्यव्यपारोपरतिस्तयोः रतः=तत्परस्तस्य, परीषहान्=अनुकूललक्षणान् जयतः=अभिभवतः, तादृशकस्य=रत्नत्रयाराधकस्य 'श्रमणस्ये' -त्यनुषज्यते; सुगतिः सुलभा ।

'तवोगुणप्रधानस्ये'-त्यनेनेन्द्रिय-नोइन्द्रिविजेतृत्वं सूचितम् । 'ऋजुमते'-रित्यनेन मोक्षार्थिना कपटकदाग्रहरहितेन भवितव्यमिति बोधितम् । 'क्षान्तिसंयमरतस्ये'-त्यनेन क्षमायुक्त एव संयमः फलदः' इति द्योतितम् । 'परीषहान् जयतः' इत्यनेन च मनःस्थैर्यं शरीरममत्वपरित्यागश्चेति ध्वनितम् ॥२७॥

यदि ऐसा है तो सुगति किसके लिए सुलभ होती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'तवोगुणपहाणस्स' इत्यादि ।

जो आठ कर्मोंको भस्म करनेवाले षष्ठ अष्टम आदि तप-गुणसे प्रधान हैं, सरल-बुद्धी हैं । तथा क्रोधादि कषाय के निग्रह और सावध व्यापारके त्याग स्वरूप संयममें लीन हैं, अनुकूल-प्रतिकूल-परीषहोंको जीतनेवाले हैं, उन मोक्षके मार्ग-रत्नत्रय-के आराधक मुनियोंको सिद्धिस्वरूप सुगतिकी प्राप्ति सुलभ है ।

'तवोगुणपहाणस्स' इस पदसे इन्द्रियों तथा मनका जीतना सूचित किया है । 'उज्जुमइ' पदसे यह सूचित किया गया है कि मोक्षार्थीको कपट और कदाग्रहसे रहित होना चाहिए । 'खंतिसंजमरयस्स' पदसे सूचित होता है कि वही संयम फलदाता होता है जो क्षमासे युक्त हो । 'परीसहे जिणंतस्स' पदसे मनकी स्थिरता शरीरकी ममताका त्याग बतलाया है ॥२७॥

जे એમ છે તે સુગતિ કેને માટે સુલભ હોય છે? એવી જિજ્ઞાસા થતાં, કહે છે—તવોગુણપહાણસ્સ ઇત્યાદિ.

જે આઠ કર્મેને ભસ્મ કરનારા છટ્ટ અઠમ આદિ તપગુણથી પ્રધાન છે, સરલ-બુદ્ધિ છે, તથા ક્રોધાદિકષાયના નિગ્રહ અને સાવધ વ્યાપારના ત્યાગસ્વરૂપ સંયમમાં લીન છે, અનુકૂળ-પ્રતિકૂળ-પરીષહોને હતાવાવાળા, એવા મોક્ષના માર્ગ-રત્નત્રયના આરાધક મુનિઓને સિદ્ધિ-સ્વરૂપ સુગતિની પ્રાપ્તિ સુલભ છે.

તવોગુણપહાણસ્સ એ શબ્દથી ઇન્દ્રિયો તથા મનને હતાવાનું સૂચિત કરેલું છે. ઉજ્જુમઇ શબ્દથી સૂચ્યું છે કે મોક્ષાર્થીએ કપટ અને કદાગ્રહથી રહિત થવું જોઈએ. ક્ષાન્તિસંજમરયસ્સ એ પદથી સૂચિત થાય છે કે તેજ સંયમ ફળદાતા થાય છે કે જે ક્ષમાથી યુક્ત હોય. પરીસહે જિણંતસ્સ પદથી મનની સ્થિરતા તથા શરીરની મમતાનો ત્યાગ બતાવેલો છે. (૨૭)

चारित्र्यस्य महत्त्वमाह—‘पच्छावि ते’ इत्यादि ।

११ १० १२ १३ १५ १४  
मूलम्—पच्छावि ते पयाया, खिप्यं गच्छन्ति अमरभवणाइं ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७  
जेसि पिओ तवो संजमो य खंती य बंभचेरं च ॥२८॥

छाया—पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्त्यमरभवनानि ।

येषां प्रियं तपः संयमश्च, क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥२८॥

चारित्र्य का महत्त्व बतलाते हैं—

सान्वयार्थः—जेसि=जिनको तवो=तपस्या संजमो=संयम य=और खंती=क्षमा य= तथा बंभचेरं=ब्रह्मचर्यं पिओ=प्रिय है, ते = वे पच्छावि = पश्चात्भी अर्थात् एकवार चारित्र्य खण्डित हो जानेपर वापस, अथवा वृद्धावस्थामें भी पयाया = आये हुए अर्थात् चढते परिणामोंसे संयम स्वीकार कियेहुए खिप्यं = शीघ्र अमरभवणाइं = स्वर्ग अथवा अपवर्ग—मोक्ष—कोभी गच्छन्ति = प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥

टीका—येषां (श्रमणानां) तपः = अनशनदि द्वादशविधम्, संयमः = सावधव्यापारविरतिलक्षणः सप्तदशविधः, क्षान्तिः = अमर्षोत्पादकाऽऽक्षेपवचनादिसहन स्वरूपा, ब्रह्मचर्यं = विषयसेवनपरिहारलक्षणम्, चकाराः समुच्चायार्थाः, प्रियम् = अभीष्टं रुचिरमित्यर्थः ते (श्रमणाः) पश्चादपि = चारित्र्यखण्डनानन्तरमपि वृद्धत्वेऽपि वा प्रयाताः = प्रवृद्धभावेन गृहीतसंयमाः सन्त आर्द्रकुमार-पुण्डरीकादिवत्, क्षिप्रं = शीघ्रम् अमरभवनम् = न म्रियन्त इत्यमराः = सिद्धा आयुषोऽभावत्, तेषां भवनम् = आलयः सत्ता वा तत् सिद्धक्षेत्रं

चारित्र्यको महत्त्व दिखाते हैं—‘पच्छावि ते—इत्यादि ।

जिनश्रमणोंको अनशन आदि बारह प्रकारका तप, सावध व्यापारका त्यागरूप सत्रह प्रकारका संयम, क्रोधजनक आक्षेपपूर्ण वचनोंका सहन करनारूप क्षान्ति, सर्वथा मैथुनका परित्याग, ये प्रिय होते हैं, वे कदाचित् मोहकर्मके उदयसे खण्डित—चारित्र्य होकर भी, अथवा वृद्ध होनेपर भी चढते परिणामोंसे आर्द्रकुमार, पुण्डरीक आदिके समान फिर संयमको ग्रहण करके शीघ्रही अमर भवन—(सिद्धिस्थान अथवा स्वर्गलोक) को प्राप्त होते हैं ।

‘अमरभवन’ के दो अर्थ होते हैं—(१) जहां मृत्यु नहीं होती ऐसा स्थान मोक्ष है, क्यों-

चारित्र्यतुं महत्त्व यतावे छे—पच्छावि ते० इत्यादि.

जे श्रमणोंने अनशन आदि बार प्रकारना तप, सावध व्यापारना त्यागइय सत्तर प्रकारने संयम, क्रोधजनक आक्षेपपूर्ण वचनोने सहन करवाइय क्षान्ति, सर्वथा मैथुनने परित्याग, ये प्रिय होय छे, तेओ कदाचित् मोहकर्मना उदयथी अण्डितचारित्र्य थधने पणु अथवा वृद्ध होवा छतां पणु यस्ता परिष्णामोथी आर्द्रकुमार, पुंडरीक आदिनी पेठे कुरी संयमने ब्रह्मणु करीने शीघ्र अमरभवन (सिद्धस्थान अथवा स्वर्गलोक) ने प्राप्त थाय छे. ‘अमरभवन’ ना ये अर्थ थाय छे. (१) जयां मृत्यु होतुं नथी ओतुं स्थान मोक्ष

सिद्धस्वरूपं वेत्यर्थः । अथवा न म्रियन्ते अकालमृत्युना इत्यमराः = देवास्तेषां भवनं तत् स्वर्गलोकमित्यर्थः । बहुवचनं चोभयार्थद्योत नार्थम्, गच्छन्ति = यान्ति ॥२८॥  
अथवा न म्रियन्ते अकालमृत्युना इत्यमराः = देवास्तेषां भवनं तत् स्व

उपसंहारमाह—‘इच्छेयं’ इत्यादि ।

मूलम्—इच्छेयं<sup>७</sup> छज्जीवणियं<sup>८</sup>, सम्मदिट्ठी<sup>९</sup> सया<sup>३</sup> जए<sup>२</sup> ।

दुल्लहं<sup>४</sup> लहित्तु<sup>६</sup> सामन्नं<sup>५</sup>, कम्मणा<sup>९</sup> न विराहिज्जासि<sup>१०</sup>—त्तिवमि<sup>११</sup> २९।

छाया—इत्येतं षड्जीवनिकायं, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।

दुर्लभं लब्ध्वा श्रमण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥२९॥ इति ब्रवीमि ।

उपसंहार करते हैं—

सान्वयार्थः—सम्मदिट्ठी=सम्यक्त्वी मनुष्य सया=सदैव जए=यतनावान् होकर दुल्लहं =दुर्लभ ऐसे सामन्नं=साधुपनेको लहित्तु=प्राप्त करके इच्छेयं=इस पूर्वोक्त स्वरूपवाले छज्जीवणियं=षड्जीवनिकाय-छह प्रकारके जीवसमूह-की कम्मणा=मन वचन कायके व्यापारसे न विराहिज्जासि=विराधना न करे त्तिवमि=श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि मैंने भगवान् महावीर स्वामीसे जैसा सुना है वैसा ही तुमसे कहता हूँ ।२९।

॥इति चतुर्थार्धनस्य शब्दार्थः ॥४॥

टीका—सम्यग्दृष्टिः=सम्यक्-यथाऽवस्थितत्वेनाऽविपर्यस्ता दृष्टिः=तत्त्वचरिभिप्रायो वा यस्य स तथोक्तः, सम्यग्दर्शनवानित्यर्थः, सदा=नित्यं यतः=यतनावान् दुर्लभं=दुष्प्रापं, श्रमण्यं=श्रमणभावं लब्ध्वा=सम्प्राप्य इत्येतम्=उक्तलक्षणम्, षड्जीवनिकायं कर्मणा= कि वहां आयुकर्मका सर्वथा अभाव है, और (२) अमरभवन स्वर्गलोकको भी कहते हैं, क्योंकि स्वर्गलोकमें अकाल मृत्यु नहीं होती ॥२८॥

उपसंहार करते हैं—‘इच्छेयं’ इत्यादि ।

तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभ श्रमणताको प्राप्त करके सदैव पहले कहे हुए स्वरूपवाले षड्जीवनिकायकी मन वचन कायसे एकदेशसे या सर्व देशसे

छे, कारण के त्यां आयुकर्मना सर्वथा अभाव होय छे. अने (२) अमरभवन स्वर्गलोकने पणु कडे छे, कारण के स्वर्गलोकमां अकालमृत्यु थतुं नथी (२८)

उपसंहार करे छे—इच्छेयं० इत्यादि.

तत्त्वोंना यथार्थ स्वरूपतुं श्रद्धान करवावाणो सम्यग्दृष्टि एव दुर्लभ श्रमणताने प्राप्त करीने सदैव पहले कडेला कडेलास्वरूपवाणा षड्जीवनिकायनी मन वचन कायाथी एकदेश या सर्वदेशे करीने कदापि विराधना न करे.पीडान उपजवे. श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीने कडे

मनोवाकायव्यापारेण न विराधयेत्=देशतः सर्वतो वा न प्रमर्दयेत् न पीडयेदित्यर्थः ।  
'इति ब्रवीमी'-ति प्राग्वत् ॥२९॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित—  
कलापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक—  
शाहूछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनशास्त्राचार्य-पद-भूषित-  
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रोदशवैकालिकसूत्र--  
स्याऽऽचारमणिमञ्जूषारख्यायां व्याख्यायां चतुर्थं  
'षड्जीवनिकाया'-ऽऽख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥४॥

\*

कभी विराधना न करे 'पीड़ा न पहुँचावे ॥ श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूवामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीरस्वामीसे जैसे मैंने सुना है वैसा ही तुझे कहा है—इत्यादि परले के समान समझ लेना ॥२९॥

इति "षड्जीवनिकाया"—नामक चौथा  
अध्ययनका हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥४॥

\*

छे-डे जम्बू ! अन्तिम तीर्थङ्कर श्री भगवान् महावीर स्वामी पासेथी जेवुं मे' सांभज्युं छे  
तेवुं ज तने कब्बुं छे-धत्यादि पडेवांनी पेठे समण देवुं. (२९)  
इति "षड्जीवनिकाया" नामक चौथा अध्ययनने।  
गुजरातीभाषानुवाद समाप्त (४)

## અથ પશ્ચમાધ્યયનમ્ ।

ગતં ચતુર્થાધ્યયનમ્, તત્ર ચ ષડ્જીવનિકાયરક્ષણલક્ષણો ભિક્ષોરાચારઃ પ્રતિપાદિતઃ, સ હિ શરીરસ્થિત્યધીનપાલનકઃ, શરીરં ચાક્ષમ્નક્ષોળમન્તરેણ શકટમિવ ઇજ્જાલં વિના વાષ્પ-યન્ત્રમિવ જઠરાનલતાપવ્યાધિબધોપશમનોષધીભૂતમાહારમન્તરેણ વર્તિતુમક્ષમમતોઽસ્મિન્ પશ્ચમાધ્યયને 'સંયમિના કદા, કસ્માત્, કેન વિધિના, કીદગાહારો ગ્રહીતવ્યઃ !' इति सविस्तरं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

यद्वा—चतुर्थाध्ययने मूलगुणाः सन्दर्शिताः, इह तु मूलगुणपोषकोत्तरगुणान्तर्गता पिण्डैषणाऽभिधीयते । पिण्डैषणा च पिण्डस्य-समयभाषया प्रसिद्धस्यान्नपानस्यैषणारूपा, तत्र पिण्डनं पिण्डः=एकत्र स मुदितबहुपदार्थसमुदायः, स द्विविधः—द्रव्यपिण्डो भावपिण्ड-

## पांचवां अध्ययन ।

चौथे अध्ययनमें षड्जिवनिकायकी रक्षा—रूप भिक्षुका आचार प्रतिपादित किया गया है । इस आचारका पालन शरीरकी स्थिति पर निर्भर है । जैसे विना औंगन (वांगण) के गाड़ी नहीं चल सकती, विना कोयलेके रेलगाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार जठराग्निके संताप रूप व्याधिकी बाधाको शान्त करनेके लिए औषधिके समान आहारको ग्रहण किये विना शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती । इसलिए पांचवें अध्ययनमें विस्तारसे यह प्रतिपादन करते हैं कि 'संयमी-को कब, किससे किस विधिसे, और किस प्रकारका आहार ग्रहण करना चाहिये ?' ।

अथवा—चौथे अध्ययनमें मूल गुणोंका वर्णन किया गया है, इस अध्ययनमें मूलगुणोंको पुष्ट करनेवाले उत्तर गुणोंमेंसे पिण्डैषणाका कथन करते हैं । 'पिण्ड' शास्त्रीय भाषामें अन्न-पान नामसे प्रसिद्ध है, उसकी एषणा करना 'पिण्डैषणा' है । एक स्थानपर बहुत पदार्थोंका समुदाय होना पिण्ड कहलाता है । पिण्ड दो प्रकारका है—(१) द्रव्यपिण्ड और (२) भावपिण्ड अशन

## पांचमुं अध्ययन.

ચોથા અધ્યયનમાં ષડ્જીવનિકાયની રક્ષારૂપ ભિક્ષુનો આચાર પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યો છે. આ આચારનું પાલન શરીરની સ્થિતિ પર નિર્ભર છે. જેમ ઉંજણુ વિના ગાડું ચાલી શકતું નથી અને કોયલા વિના રેલગાડી ચાલી શકતી નથી. તેમ જઠરાગ્નિના સંતાપ રૂપ વ્યાધીની બાધાને શાન્ત કર્યા વિના શરીરની સ્થિતિ રહી શકતી નથી. તે માટે પાંચમા અધ્યયનમાં વિસ્તારથી એ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે કે 'સંયમીએ ક્યારે, કેવી પાસેથી, કેવી વિધિથી અને કેવા પ્રકારનો આહાર ગ્રહણ કરવો જોઈએ ?

અથવા—ચોથા અધ્યયનમાં મૂળ ગુણોનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે, આ અધ્યયનમાં મૂળ ગુણોને પુષ્ટ કરનારા ઉત્તર ગુણોમાંથી પિંડૈષણાનું કથન કરવામાં આવે છે. 'પિંડ' શબ્દ શાસ્ત્રીય-ભાષામાં અન્નપાનના નામે ઓળખાય છે, તેની ઓષણા કરવી એ પિંડૈષણા કહેવાય છે. એક સ્થાન પર ઘણા પદાર્થોનો સમુદાય હોવો એ 'પિંડ' કહેવાય છે, પિંડ એ પ્રકારના હોય છે, (૧) દ્રવ્ય-પિંડ અને (૨) ભાવપિંડ. અશન આદિને દ્રવ્યપિંડ કહે છે.

श्च, तत्र क्षुधाविघातकत्वेनाशनादिरूपो द्रव्यपिण्डः, कर्मविघातकत्वेन ज्ञानादिलक्षणः प्रशस्तभावपिण्डः, अप्रशस्तभावपिण्डस्त्वसंयमादिरूपः प्रकृतानुपयोगित्वादुपेक्षितः । द्रव्यपिण्डो हि प्रशस्तभार्वपिण्डपरिपोषकस्तं विना तस्यासम्पाद्यत्वात्, तथाहि—ज्ञानाद्यात्मकप्रशस्तभावपिण्डस्याराधना शरीरस्थित्यधीना, शरीरपरिस्थितिश्चाहारं विना न यथावत्साधनायालम्, आहारादिकश्च द्रव्यपिण्ड एवेति सिद्धं द्रव्यपिण्डस्य प्रशस्तभावपिण्डपरिपोषकत्वम् तस्य च सावद्यनिरवद्यभेदाभ्यां द्वैविध्येऽपि संयमिभिर्निरवद्यपिण्ड एव ग्राह्य इति तदेषणाधिकारः—‘संपत्ते’ इत्यादि ।

मूलम्—संपत्ते<sup>२</sup> भिक्खकालम्मि<sup>१</sup>, असंभंता<sup>३</sup> अमुच्छिओ<sup>४</sup> ।

इमेग<sup>५</sup> कमजोगेण<sup>६</sup>, भत्तपाणं<sup>७</sup> गवेसए<sup>८</sup> ॥१॥

छाया—सम्प्राप्ते भिक्षाकालेऽसम्भ्रान्तोऽमुच्छितः ।  
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥१॥

॥अथ पञ्चमाध्ययनम् ॥

सान्वयार्थः—मुनिको आहारपानी लेनेकी विधि कहते है—भिक्खकालम्मि=गोचरीका समय संपत्ते=होनेपर असंभंतो=उद्वेगरहित (और) अमुच्छिओ=आसक्तिरहित हो

आदिको द्रव्यपिण्ड कहते हैं, क्योंकि उससे क्षुधाका नाश होता है । ज्ञानादि प्रशस्त-भावपिण्ड है, क्योंकि वह कर्मोंका नाश करनेवाला है, अप्रशस्त-भावपिण्ड असंयमादिरूप है, उसका यहाँ अधिकार नहीं है ।

द्रव्यपिण्ड, प्रशस्त-भावपिण्डका पोषक है, क्योंकि उसके विना प्रशस्त-भावपिण्डकी प्राप्ति नहीं होसकती, अर्थात् ज्ञानादिरूप प्रशस्त-भावपिण्डकी आराधना शरीरकी स्थितिके अधीन है, और शरीरकी स्थिति आहारके विना नहीं हो सकती । आहार आदि द्रव्यपिण्ड ही है । इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यपिण्ड प्रशस्त भावपिण्डका पोषक है । द्रव्यपिण्ड, सावद्य भी होता है और निरवद्य भी होता है । संयमीको निरवद्य पिण्ड ही ग्रहण करना चाहिए; इसलिए द्रव्यपिण्डकी एषणाका अधिकार आरम्भ किया जाता है ‘संपत्ते’ इत्यादि ।

कारण के तेथी क्षुधानो नाश थाय छे. ज्ञानादि अे प्रशस्त-भावपिंड छे, कारण के ते कर्मोने नाश करवावाणुं छे. अप्रशस्त-भावपिंड असंयमादिरूप छे, अेनो अही अधिकार नथी.

द्रव्यपिंड अे प्रशस्त-भावपिंडने पोषक छे. कारण केतेना विना प्रशस्त-भावपिंडनी प्राप्ति थछं शकती नथी. अर्थात् ज्ञानादि-रूप प्रशस्त-भावपिंडनी आराधना शरीरनी स्थितिने अधीन छे, अने शरीरनी स्थिति आहार विना होछं शकती नथी. आहारादि द्रव्यपिंड छे तेथी अे सिद्ध थयुं के द्रव्यपिंड प्रशस्त भावपिंडने पोषक छे. द्रव्यपिंड सावद्य पणु होय छे अने निरवद्य पणु होय छे. संयमीअे तो निरवद्यपिंड अे ग्रहण करवे. अेथअे अेठला भाटे द्रव्यपिंडनी अेषणानो अधिकार आरंभवाभां अवे छे—संपत्ते भिक्खकालम्मि इत्यादि.

कर इमेण कमजोगेण=इस आगे बताई जानेवाली विधिसे भक्तपाणं=भात-पानीकी गवे-  
सए=गवेषणा करे ॥

टीका—भिक्षाकाले=गोचरीसमये, सम्प्राप्ते=स्वाध्यायाद्यनन्तरं द्रव्यक्षेत्रकालभा-  
वानुकूलतया समायाते: 'मुनि'-रिति शेषः, असम्भ्रान्तः=यत्किञ्चिन्निमित्तजनितचित्तव्या-  
क्षेपजन्यत्वरारहितः अनाक्षिप्तचित्त इत्यर्थः, इर्योपयोगवानिति भावः, 'कदा कुत्र वाऽशना-  
दिप्राप्तिर्भविष्यती' त्यादिचिन्ताऽऽहितचाञ्चल्यरहित इति यावत्, अमूर्च्छितः=आहारादौ  
मनोरमशब्दादिविषयेषु वा नासक्तः सन् अनेन=वक्ष्यमाणेनैतदध्ययनव्यावर्णितस्वरूपेण  
क्रमयोगेन=प्रकारेण भक्तपाणं=भक्तं च पाणं चेत्यनयोः समाहारे भक्तपाणम्, =भक्तम्, =  
ओदनादिकम्, पाणं=द्राक्षादिजलं मुनियोग्यं गवेषयेत्=अन्वेषयेत् (अन्विच्छेत्) । संपत्ते'  
इत्यनेन मुनिना यथासमयं कार्यं सम्पादनीय' मित्याविष्कृतम् । 'असंभतो' इत्यतो मनः  
स्थैर्यं विधेयमित्युपदिष्टम् । 'अमुच्छिओ' इत्यनेन विषयगृध्नुत्वमपाकृतम् ॥१॥

गवेषणाविधिमाह—'से गामे वा' इत्यादि ।

मूलम्—से गामे वा नयरे वा, गोयरग्गओ मुणी ।

चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेषसा ॥२॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार स्वाध्याय आदि क्रियाओंके पश्चात् जब गोचरीका समय  
हो तब मुनि किसी कारणवश उत्पन्न हुए चित्तविक्षेपजन्य भ्रान्तिरहित होकर, अर्थात् ईर्या (ग-  
मन में उपयोग रखकर, अथवा 'कब और कहाँ अशन आदिकी प्राप्ति होगी ?' इस प्रकारकी चिन्ता-  
जन्य चंचलतासे रहित होकर आहार तथा मनोज्ञ शब्दादि विषयोंमें आसक्त न होता हुआ, जैसा  
इस अध्ययनमें वर्णन किया गया है उस विधिसे, मुनिके योग्य ओदन आदि भक्त तथा दास  
आदिका धोवनरूप पानकी गवेषणा करे ।

गाथामें 'संपत्ते' पदसे यह सूचित किया है कि मुनिको समय पर ही कार्य करना चाहि-  
ए । 'असंभतो' पदसे यह प्रगट किया है कि साधुको मनकी स्थिरता रखनी चाहिए । 'अमुच्छि-

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावने अनुसार स्वाध्यायादि क्रियाओंकी पछी न्यारे गोचरीके  
समय थाय त्यारे मुनि केछे कारणवश उत्पन्न थयेला चित्तविक्षेपथी नन्मेली भ्रान्तिथी  
रहित थधने अर्थात् धर्या (गमन) मां उपयोग राणीने, अथवा क्यारे अने कथां अशन  
आदिनी प्राप्ति थथे ? ये प्रकारनी चिन्ताजन्य चंचलताथी रहित थधने आहार तथा  
मनोज्ञ-शब्दादि विषयोमां आसक्त न थतां. आ अध्ययनमां वञ्चुंया प्रमाणेनी विधिथी,  
मुनिने योग्य ओदन आदि लकत तथा द्राक्ष आदिना धोवणुरूप. पाननी गवेषणा करे.

गाथामां संपत्ते शब्दथी अेम सूचित करवामां आण्युं छे के मुनिअे समय पर न  
कार्यं करवुं नोधअे असंभतो शब्दथी अेम प्रकट कर्युं छे के साधुअे मननी स्थिरता राभनी  
नोधअे अमुच्छिओ शब्दथी विषयोमां आसकितवुं निराकरण करवामां आण्युं छे. (१)



छाया—स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः ।

चरेन्मन्दमनुद्विग्नोऽव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२॥

सान्वयार्थः—से=वह मुणी=साधु गामे=गाँव वा=अथवा नगरे=नगरम वा=निश्चयसे गोचरगगओ=निर्दोष भिक्षाके लिए गया हुआ अणुव्विग्नो=उद्वेगरहित होता हुआ अव्वक्खित्तेण=शान्त-स्थिर चेतसा=चित्तसे मंदं=इर्यासमिति सोधता हुआ चरे=जावे ॥२॥

टीका—से=अथ = पिण्डगवेषणासमये, यद्वा 'से' इति तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनरूपं तेन सः=प्रक्रान्तः मुनिः = मुणिति=प्रतिजानीते सर्वसावद्यव्यापारोपरतिमिति, मन्यते=जानाति जिनाज्ञयाऽनेकान्तात्मकजीवाऽजीवादिपदार्थसार्थमिति वा 'मुनिः=अनगारः, स च द्विविधः-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः-मुनिकर्तव्यक्रियाकलापविकलो लिङ्गमात्रोपजीवी, भावतस्तु मोहनीयकर्मक्षय-क्षयोपशमसमुद्भूतज्ञानादिरत्नत्रयप्रकटीभूतात्मस्वरूपः, प्रकृते च भावमुनिः प्रसङ्गम्यः ।

१ आद्ये 'मुण प्रतिज्ञाने' अस्मादीणादिक इन्, पृषोरदादित्वाणस्य नः । द्वितीये 'मन ज्ञाने' इति धातोः 'मनेरुच्चे'-स्यौणादिकसूत्रेण इन्प्रत्ययः स च कित् अकारस्योकारादेशश्च । यद्वा 'मुणी' इति प्राकृतसमः संस्कृत एव, शब्दसिद्धिरप्युक्तैव, तदा छायायां मुणिः', इत्यपि समावेशमर्हति ।

ओ' पदसे विषयोमें आसक्तिका निराकरण किया गया है ॥१॥

अब गवेषणाकी विधि बताते हैं—'से गामे वा' इत्यादि ।

'मुनि' शब्दके अनेक अर्थ हैं—(१) जो समस्त सावद्य व्यापारके त्यागकी प्रतिज्ञा करते हैं उन्हें मुनि कहते हैं । (२) जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञाके अनुसार जीव अजीव आदि पदार्थों को अनेकान्तस्वरूप जानने वाले मुनि कहलाते हैं । मुनि दो प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्यमुनि और (२) भावमुनि । मुनियोंके आचार का पालन न करनेवाला मुनिवेषधारी द्रव्यमुनि कहलाता है । मोहनीय कर्मके क्षय और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके द्वारा जिनकी आत्माका स्वरूप प्रकट हो गया है उन्हें भावमुनि कहते हैं । यहां भावमुनिका अधिकार समझना चाहिए ।

इसे गवेषणाकी विधि बतावे छे—से गामे वा० इत्यादि.

मुनि शब्दना अनेक अर्थो छे. (१) जे सर्व सावद्य व्यापारना त्यागनी प्रतिज्ञा करे छे—तेने मुनि कहे छे. (२) जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा अनुसार जीव अजीव आदि पदार्थो ने अनेकान्तस्वरूप जानवावाणा मुनि कहेवाय छे. मुनि जे प्रकारना होय छे. (१) द्रव्यमुनि अने (२) भावमुनि मुनियोना आचारनु' पालन न करनारा मुनिवेषधारी द्रव्यमुनि कहेवाय छे, मोहनीय कर्मना क्षय अने क्षयोपशमथी उत्पन्न थयेला सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन अने सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयना द्वारा जेना आत्मानु स्वरूप प्रकट थय गयु' छे. तेने भावमुनि कहे छे. अही' भावमुनिनो अधिकार समझवे जेधये,

ग्रामे वा = अथवा नगरे, द्वितीय-‘वा’-शब्दात् खेटकर्वाटादौ, गोचराग्रगतः गोरिव चरणं = यथायोग्यं स्वल्पस्वल्पग्रहणं गोचरः, अग्रः = आधाकर्मादिदोषरहिततया श्रेष्ठः, स चासौ गोचरश्चेति गोचराग्रः, आर्षत्वाद्विशेषणपूर्वनिपाताभावः, अग्रगोचर इत्यर्थः, तत्र गतः = वर्तमानः गोचराग्रगतः अव्याक्षिप्तेन = स्थिरेण भिक्षागतसकलदोषोपयोगवत्तेत्यर्थः, चेतसा = चित्तेन अनुद्विग्रः = अलाभादिपरीषहजनितक्षोभरहितः, मन्दं = शनैर्यथास्यात्तथा ईर्यापथं शोधयन्नित्यर्थः, चरेत् = गच्छेत् ।

‘गोयरग्गओ’ इत्यनेन नवकोटिविशुद्धाहारो ग्रहीतव्य इति सूचितम् । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इत्यनेन चित्तस्थैयणैव भिक्षादिशुद्धिर्भवतीति ध्वनितम् । ‘अणुव्विग्गो’ इत्यतः परीषहसहनसामर्थ्यं बोधितम् ॥२

गोचरीगमनप्रकारानाह-‘पुरओ’ इत्यादि ।

मूलम्-पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महि चरे ।

वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

छाया—पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् ।

वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणाँश्च दकमृत्तिकाम् ॥३॥

गोचरी में चलने की विधि कहते हैं—

सान्वयार्थः—पुरओ = सामने जुगमायाए = धूसर प्रमाण दृष्टिसे महि = पृथिवी-

वह भावमुनि पिण्ड-गवेषणका समय होने पर ग्राम, नगर खेडा, कर्वट आदिमें यथायोग्य थोड़ा-थोड़ा निर्दोष आहार ग्रहण करता हुआ भिक्षाके समस्त दोषोंका उपयोग रखनेवाले अर्थात् अव्याक्षित चित्तसे अलाभ आदि परीषह जनित क्षोभसे रहित होकर ईर्यापथ शोधते हुए मन्दगति से चले ।

‘गोयरग्गओ’ पदसे यह सूचित हुआ है कि साधुको नवकोटिविशुद्ध आहार लेना चाहिए । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इससे यह द्योतित होता है कि चित्तको स्थिरतासे ही भिक्षाकी शुद्धि निभ सकती है । ‘अणुव्विग्गो’ पदसे परीषह सहनेका सामर्थ्य प्रगट किया है ॥२॥

એ ભાવ મુનિ પિંડગવેષણાનો સમય થતાં ગ્રામ, નગર, ગામડું, કર્વટ આદિમાં યથા-યોગ્ય થોડો થોડો નિર્દોષ આહાર ગ્રહણ કરતાં કરતાં, ભિક્ષાના અધા દોષોનો ઉપયોગ રાખવા વાળા અર્થાત્ અવ્યાક્ષિત-ચિત્તથી અલાભ આદિ પરીષદથી ઉત્પન્ન થતા ક્ષોભથી રહિત થઈને ઈર્યાપથ શોધતા મંદ ગતિએ ચાલે.

ગોયરગ્ગઓ શબ્દથી એમ સૂચિત થયું છે કે સાધુએ નવકોટિએ વિશુદ્ધ આહાર લેવો. બેઠએ અવ્વક્કિત્તેણ ચેયસા એથી એમ પ્રકટ થાય છે કે ચિત્તની સ્થિરતાથી જ ભિક્ષાની શુદ્ધિ નભી શકે છે, અણુવ્વિગ્ગો શબ્દથી પરીષદ સહવાતું સામર્થ્ય પ્રકટ કર્યું છે. (૨)

को पेहमाणो=देखता हुआ बीजहरियाइं=बीज, हरी, पाणे = द्वीन्द्रियादिक प्राणी य = और दगमद्वयं — सचित्त जल तथा सचित्त मिट्टीको वर्जंतो = वर्जता हुआ चरे = चले ॥३॥

टीका—युगमात्रया=जूसरप्रमाणया तत्प्रमाणप्रसृतयेत्यर्थः 'दृष्टये'ति शेषः । वस्तु-तस्तु 'क्वचिद्द्वितीयादेः' इति नियमादत्र द्वितीयार्थे पष्ठी, तेन 'जुगमायाए' इत्यस्य 'युग-मात्रा' मितिच्छाया, तथाच-युगमात्रां= प्रोक्तार्थां स्वशरीरप्रमितामिति भावः, महीं= भूमि मार्गभूमिमिति भावः, पुरतः=स्वाग्रतः प्रेक्षमाणः=सम्यगवलोकयन् बीजहरितानि= प्रसिद्धानि, प्राणान्=द्वीन्द्रियादिप्राणिनः, दकमृत्तिकां=सचित्तं जलं मृत्तिकां च वर्जयन्= परिहरन् चरेत्=गच्छेत् ॥३॥

मूलम्—ओवायं<sup>३</sup> विसमं<sup>४</sup> खाणुं<sup>५</sup>, विजलं<sup>६</sup> परिवज्जए<sup>७</sup> ।

संक्रमेण<sup>८</sup> न गच्छिज्जा<sup>९</sup> विज्जमाणे<sup>१०</sup> परक्कमे<sup>१</sup> ॥४॥

छाया—अवपातं विषमं स्थाणुं, विजलं परिवर्जयेत् ।

संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥४॥

सान्वयार्थः—पराक्रमे=दूसरे मार्गके बिज्जमाणे=होनेपर (साधु) ओवायं=जिस मार्गमें गिर पड़नेकी शंका हो विसमं=खड्डे आदिके कारण विकट हो खाणुं=काटे हुए धान्यके डंठलोंसे युक्त (और) विजलं=कीचड़वाला हो उस मार्गको परिवज्जए=छोड़े, तथा संक्रमेण=कीचड़ आदिके कारण जिस मार्गमें ईंट काठ आदि लांघनेके लिए रखे हों उससे भी न गच्छेज्जा=नहीं जावे ॥४॥

टीका—'ओवायं०' इत्यादि । 'परक्कमे' इति आक्रमणमाक्रमः=अवलम्बनं पर-श्चासावाक्रमश्च पराक्रमः परस्याऽऽक्रमो वा पराक्रमस्तस्मिन्, यद्वा 'पराक्रमे' इतिच्छाया, ततश्च परश्चासौ क्रमश्च परक्रमस्तस्मिन् 'सर्वथा गत्यन्तरे' इत्यर्थस्तथा च-पराक्रमे अथवा

गोचरीके लिए गमनविधि बताते हैं—'पुरोओ' इत्यादि ।

अपने शरीर प्रमाण रास्ता सामने भलो भाँति अवलोकन करता हुआ, बीज, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणी सचित्तजल और सचित्त मृत्तिकाको बचाता हुआ गमन करे ॥३॥

'ओवायं०' इत्यादि । पर अवलम्बको यहाँ पर परक्रम अथवा पराक्रमसे कहा गया है अत एव अर्थ यह है कि दूसरे मार्गके रहते हुए, जिसमें चलनेसे गिर पड़नेकी संभावना हो, दुर्गम

गोचरीने भाटे गमनविधि बतावे छे—पुरओ धत्यादि.

पोताना शरीर प्रमाण रास्ता सामे सारी रीते अवलोकन करता, बीज, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित्त जल अने सचित्त माटीने अथावी छेतां गमन करे. (३)

ओवायं० धत्यादि. पर अवलम्बन अहीं पराक्रम अथवा पराक्रमथी कडेवाभां आवेले छे, अथी अवेो अथं थाय छे के बीजे मार्ग छोवा छतां, जेभां आवेवाथी पडी जवानी

परक्रमे उपाये विद्यमाने-वर्तमाने सति अवपातः<sup>१</sup>=स्खलनस्थानं सत्यप्यालोके येन सञ्चरणे स्खलनमवश्यसम्भाव्यं तम् , विषमं<sup>२</sup>=दुर्गमत्वाद्विकटं मार्गं स्थाणुं<sup>३</sup>=लूनसस्यादिस्थुडं तद्बहुलं क्षेत्रादिमार्गमित्यर्थः, विजलं<sup>४</sup>=विगतं जलं यस्मात्तत् तथोक्तं पङ्किलस्थलं परिवर्जयेत्<sup>५</sup>=परित्यजेत् , संक्रमेण<sup>६</sup>=संक्रम्यते=समुल्लङ्घ्यते जलरुर्दमादिवहुलविषमस्थानं येन स संक्रमः<sup>७</sup>=इष्टका-काष्ठ-पाषाणादिनिर्मितमार्गविशेषस्तेन न गच्छेत्=न सञ्चरेत् । 'विज्जमाणे परक्कमे' इत्यनेनोपायान्तराभावे नायं प्रतिषेध इत्यपवादः सूचितः ॥४॥

तत्र गच्छतो हानिमाह-'पवडंते' इत्यादि ।

मूलम्-पवडंते<sup>२</sup> व<sup>३</sup> से<sup>६</sup> तत्थ<sup>१</sup> पक्खलंते<sup>४</sup> व<sup>५</sup> संजए<sup>७</sup> ।

हिंसेज्ज<sup>१२</sup> पाणभूयाइं<sup>११</sup> तसे<sup>६</sup> अदुव<sup>१०</sup> थावरे<sup>९</sup> ॥५॥

छाया—प्रपतंश्च स तत्र प्रस्खलंश्च संयतः ।

हिंस्यात्प्राणभूतानि, त्रसान् अथवा स्थावरान् ॥५॥

होनेके कारण विकट हो, जिसमें काटे हुए ज्वार आदिके डंठल हों, और जो कोचड़वाला हो, जल-कीचड़ आदिकी अधिकता होनेसे लांघनेके लिए ईंट, काष्ठ, पत्थर आदि रखे हुए हों, उस विषम मार्गसे गमन न करे ।

'विज्जमाणे परक्कमे' इस पद से यह सूचित किया है कि दूसरा मार्ग न हो तो यह निषेध नहीं है—अर्थात् अन्य मार्गके अभावमें ऐसे मार्गसे भी जा सकते हैं ॥४॥

ऐसे मार्गमें चलनेसे होनेवाली हानी बताते हैं—'पवडंते०' इत्यादि ।

यदि अवपात आदि पूर्वोक्त मार्गोंमें गमन करनेसे गिर पड़े या रपट जावे तो द्वीन्द्रिय आदि त्रस या पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीवोंकी अथवा दोनों प्रकारके जीवोंकी हिंसा होती है तथा गिरने आदिसे आत्मविराधना भी अवश्य होती है ॥५॥

संलापना डोय, दुर्गम डोवाने कीधे विकट डोय, जेमां कापेली लुवार आदिनां कुंठा डोय, अने जे कीयडवाणे डोय, पाणी-कीयड वगेरे वधु डोवाना कारणे ओणंगवा माटे धट, लाकडुं के पत्थर आदि राणेलीं डोय. जेवा विषम मार्गथी गमन न करे.

विज्जमाणे परक्कमे जे शण्होथी जेम सूयंथुं छे के जीने मार्ग न डोय ते जेने निषेध नहीं—अर्थात् अन्य मार्गने अभावे जेवा मार्गथी पणु जे शक्य छे. (४)

जेवा मार्गमां यादवाथी थनारी लीति जतावे छे पवडंते० धत्यादि.

जे अवपात आदि पूर्वोक्त मार्गमां गमन करवाथी पडी जय या लपसी जय ते द्वीन्द्रयादि त्रस या पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जेवानी अथवा जे उ प्रकारना जेवानी हिंसा थाय छे, तथा पडवाथी आत्मविराधना पणु अवश्य थाय छे. (५)

१ गर्तमयतया संभावितस्खलनकम् ।

२ उन्नताऽवनतत्वाद्दुर्गमम् ।

पूर्वोक्त मार्गसे जाने में दोष बताते हैं—

सान्वयार्थः—से=उस मार्गसे जानेवाला वह संजए=साधु व=यदि तत्थ=वहां पव-  
डंते=गिर जाय व=अथवा पक्खलंते=रपट पड़े तो तसे=त्रस-द्वीन्द्रियादि अदुव=अथवा  
थावरे=स्थावर-पृथिव्यादि पाणभूयाइं=प्राणी भूतोंकी हिंसेज्जा=हिंसा करे । अर्थात् एसे  
मार्गमें जानेसे साधुको आत्म और संयम दोनोंकी विराधनाका संभव है ॥५॥

टीका— तत्र=तस्मिन् अवपातादौ प्रपतन् प्रस्खलंश्च स संयतः=साधुः त्रसान्=द्वी-  
न्द्रियादिलक्षणान्, स्थावरान्=पृथिव्याद्येकेन्द्रियान्, अथवा प्राणभूतानि=त्रसस्थावरोभय-  
विधान् प्राणिनो हिंस्यात्=मर्दयेत् पीडयेदिति यावत् । पतनादिना चाऽऽत्मविराधनाद्यपि  
नियतं भवतीति भावः ॥५॥

१ ७ ८ ९ ३ २  
मूलम्—तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिण् ।

६ ४ ५ १० ११  
सइ अन्नेण भग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

छाया—तस्मात् तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः ।

सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रामेत् ॥६॥

सान्वयार्थः—तम्हा=इसलिए सइ अन्नेण भग्गेण=दूसरे मार्गके होते हुए सुसमाहि-  
ण्=भगवान्की आज्ञाका आराधक संजए=साधु तेण=उस मार्गसे न गच्छिज्जा=नहीं जावे,  
(अगर दूसरा मार्ग न हो तो साधु उसी मार्गसे) जयमेव=जीवोंकी यतना करता हुआ  
परक्कमे=गमन करे ॥ ६ ॥

टीका—‘तम्हा, इत्यादि । तस्मात्=त्रसस्थावरादिहिंसाभयाद्धेतोः सुसमाहितः=  
सकलप्राणिगणसंरक्षणप्रवणान्तःकरणः संयतः अन्यस्मिन् मार्गे सति=विद्यमाने तेन=  
गर्त्तादिमार्गेण न गच्छेत् । अन्यमार्गाभावे तु तेनापि गर्त्तादिमार्गेणापि यतमेव=सयत्नमेव  
यतनयैवेत्यर्थः, पराक्रामेत्=गच्छेत् । ‘संजए’ इत्यनेनाऽनगारस्य यत्नवत्त्वम्, ‘सुसमा-  
हिण्’ इत्यनेन चोपयोगवत्त्वं प्रतिपादितम् । अत्रेदमवधेयम्—चतुर्थगाथया प्रतिज्ञातेऽर्थे

‘तम्हा’ इत्यादि । त्रस स्थावरको विराधनाके भयसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेकी इच्छा-  
वाले मुनि अन्य मार्ग होनेपर उस खड्डे आदिवाले मार्गसे गमन न करे । दूसरा मार्ग न हो तो  
उसी मार्गसे यतनापूर्वक गमन करे । ‘संजए’ पदसे साधुकी यतनापरायणता और ‘सुसमाहिण्’  
पदसे उपयोगवत्ता प्रगट की है ।

तम्हा इत्यादि. त्रस स्थावरनी विराधनाना लयथी अथां प्राणीओनी रक्षा करवानी  
इच्छावाणा मुनि भीजे मार्ग छोवा छतां ये भाडा आदिराणा मार्गथो गमन करे नडि.  
भीजे मार्ग न छोय तो ये मार्गे यतनापूर्वक गमन करे. संजए शब्दथी साधुनी यतना-  
परायणता अने सुसमाहिण् शब्दथी उपयोगवत्ता प्रकट करवामां आवी छे. अड्डीं ये वात  
समजवानी छे के, योथी पांयमी अने छडीं ये त्रसु गाथाओथी प्रकार दर्शावामां आव्ये।

पञ्चमगाथया हेतुमुपन्यस्यानया षष्ठगाथयोपसंहारः कृत इति परार्थानुमानप्रकारो दर्शितो गाथाभिराभिस्तिष्ठभिरिति ६।

पृथिवीकाययतनामाह—‘इंगालं’ इत्यादि ।

मूलम् <sup>५</sup> इंगालं <sup>६</sup> छारियं <sup>८</sup> रासिं, <sup>९</sup> तुसरासिं <sup>१०</sup> च <sup>७</sup> गोमयं ।

<sup>२</sup> ससरक्खेहिं <sup>३</sup> पाएहिं, <sup>१</sup> संजओ <sup>४</sup> तं <sup>११</sup> नइक्कमे ॥७॥

छाया—आङ्गारं क्षारिकं राशिं, तुषराशिं च गोमयम् ।

सरजस्काभ्यां पादाभ्यां, संयतस्तं नातिक्रामेत् ॥७॥

पृथिवीकाय की यतना कहते हैं—

सान्वयाथः—संजओ=साधु ससरक्खेहिं=सचित्त रजसे भरे हुए पाएहिं=पैरोसे तं=उस इंगालं=कोयलेके तथा छारियं=राखके रासिं=पुठ्ज-ढेर-को तुसरासिं=भूसेके पुंजको च=भौर गोमयं=गोबरके पुठ्जको नइक्कमे=आक्रमण न करे अर्थात् इन पर पैर रखकर न जावे ॥७॥

टीका—संयतः सरजस्काभ्यां=सचित्तधूलिधूसरिताभ्यां पादाभ्याम्=चरणाभ्याम् तं=परिहार्यतया प्रसिद्धम् अङ्गारम्=अङ्गारसम्बन्धिनम्, क्षारिकं=भस्मसम्बन्धिनम् गोमयं=गोमय-(गोपुगीष)-सम्बन्धिनम् राशिं=पुठ्जम् तुषराशिं=धान्यत्वक्पुठ्जं च नातिक्रामेत्=तदुपरि सचित्तरजोऽवगुण्ठितचरणावारोप्य न चरेदित्यर्थः, पृथिवीकायविराधनासंभवात् । उपलक्षणतश्च यत्र पृथिवीकायोपमर्दनं संभवति तत्सर्वमतिक्रम्य न क्रामेदिति ॥७॥

यहाँ पर यह बात समझनेकी है कि चौथी, पाँचवीं और छठी, इन तीनों गाथाओंसे परमार्थानुमानका प्रकार दर्शाया गया है, अर्थात् चौथी गाथासे प्रतिज्ञा पाँचवीं गाथासे हेतु और छठी गाथासे उपसंहार किया गया है ॥६॥

अब पृथिवीकायकी यतना कहते हैं—‘इंगालं’ इत्यादि ।

साधु सचित्तधूलियुक्त पैरोसे अंगार, भस्म (राख) और गोबर आदि की राशिको न लाँवे तथा तुष राशिका भां उल्लंघन करके न जावे । क्योंकि इससे पृथ्वीकायको हिंसा होती है । उपलक्षणसे यहभी समझना चाहिए कि जिससे पृथ्वीकायकीविराधना हो उसको लांघकर गमन न करे ॥

छे अर्थात् ऐथी गाथाथी प्रतिज्ञा, पांचमी गाथाथी हेतु अने छठी गाथाथी उपसंहार करवाभां आये छे. (६)

इवे पृथिवीकायनी यतना कहे छे—इंगालं इत्यादि.

साधु सचित्त-धुणयुक्त पगे अंगार लस्म (राख) अने छाषु आदिना ढगलाने न अणजे तथा तुष (भूसुं) ना ढगलानुं पशु उल्लंघन करीने न जाय; कारणु के ऐथी पृथ्वी-कायनी हिंसा थाय छे. उपलक्षणे करीने ऐम पशु समज्जपुं के ऐथी पृथिवीकायनी विराधना थाय अने उल्लंघनीने गमन न करे. (७)

अपकायादियतनामाह—‘न चरेज्ज’ इत्यादि ।

मूलम्—<sup>१०</sup>न <sup>१</sup>चरेज्ज <sup>११</sup>वासे <sup>२</sup>वासंते, <sup>३</sup>मिहियाए <sup>४</sup>पडंतिए ।

महावाए <sup>५</sup>व <sup>६</sup>वायंते, <sup>७</sup>तिरिच्छसंपाइमेषु <sup>८</sup>वा ॥८॥

छाया—न चरेद् वर्षे वर्षति, मिहिकायां पतन्त्याम् ।

महावाते वा वाति, तिर्यक्संपातेषु वा ॥८॥

अपकाय आदिकी यतना कहते हैं—

सान्त्वयार्थः—वासे वासंते=वर्षा बरसते हुवे मिहियाए पडंतिए=धूँअर-कुहरागिरते हुए व=तथा महावाए वायंते=महावायु-आँधी-के चलते हुए वा=और तिरिच्छसंपाइमेषु=तीड-पतंगादिकोके उडते हुए (साधु) न चरेज्ज=गोचरी न जावे ॥८॥

टीका—वर्षे वर्षति=वृष्टौ सत्याम्, मिहिकायां=धूमिकायां पतन्त्यां सत्यां महावाते=प्रचण्डपवने वाति=वहति सति, तिर्यक्संपाते=तिर्यकूपतनशीलेषु शलभादिषु सत्सु न चरेत् । ‘वासे वासंते’ इत्यनेन शीकरपातसमयेऽपि गमननिषेधः तस्यापि वृष्टावन्तर्भावात् अपकायविराधनासाधनत्वाच्च ॥८॥

उक्ता प्रथममहाव्रतविराधनाऽधुना चतुर्थमहाव्रतविराधनाया इतरमहाव्रतविराधना हेतुभूततया तामाह—‘न चरेज्ज वेस०’ इत्यादि ।

मूलम्—<sup>३</sup>न <sup>४</sup>चरेज्ज <sup>२</sup>वेससामंते, <sup>१</sup>बंभचेरवसाणुए ।

बंभयारिस्स <sup>५</sup>दंतस्स, <sup>६</sup>हुज्जा <sup>७</sup>तत्थ <sup>८</sup>विसुत्तिया ॥९॥

छाया—न चरेद् वेशसामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानुगः ।

ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥९॥

अपकायादिकी यतना कहते हैं—‘न चरेज्ज वासे०’ इत्यादि ।

जब वर्षा बरस रही हो, कुहरा (धूँअर) पड़ रहाहो, आंधी चल रही हो, टिड्डी आदि उड़ रहे हों, तब साधु गमन न करे । ‘वासे वासंते’ इस पद से यह भी ग्रहण कर लेना चाहिए कि जब फुहारे पड़ रहे हो तब भी गमन न करे. क्योंकि वह भी वर्षाहीमें अन्तर्गत है और उस समय जाने से अपकाय की विराधना होती है ॥ ८ ॥

प्रथम महाव्रतकी विराधना बतानेके बाद अब अन्य महाव्रतोंकी विराधना के कारण होने

अपकायादिनी यतना कडे छे—न चरेज्ज वासे० इत्यादि. न्यारे वरसाह वरसी रह्यो, डोय, धुमस (आकण) पडी रह्यो डोय आंधी आली रही डोय, टीड उडी रखां डोय, त्यारे साधु गमन न करे. वासे वासंते अे शण्ठथी अेम पणु ग्रहण करी लेवुं अेअे के न्यारे वरसाहनी इरइर पडी रही डोय त्यारे पणु गमन न करे; कारण के ते पणु वरसाहमां अे आनी अय छे, अने ते सभये अवाथी अपकायनी विराधना थाय छे. (८)

ब्रह्मचर्य ही सब व्रतों का कारण है, अतः चतुर्थव्रत की यतना कहते हैं—

सान्वयार्थः—बंभचेरवसाणुए=ब्रह्मचर्यकी रक्षा चाहनेवाला साधु वेससामंते=वेश्या पाकेड़े-मुहल्ले-में न चरेज्ज=गोचरी नहीं जावे, (क्योंकि) तत्थ=वहां (गोचरी जानेसे) दंतस्स=इन्द्रिय और मनको काबूमें रखनेवाले बंभयारिस्स=ब्रह्मचारी साधुके भी विसुत्तिया=मानसिक विकार हुज्जा=पैदा हो जाता है, साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या ? उसके मानसिक विकार जरूर उत्पन्न हो जाता है ॥९॥

टीका—ब्रह्मचर्यवशानुगः=ब्रह्मचर्य=कामवासनापरित्यागलक्षणव्रतं, वशं=स्वायत्तताम् अनुगमयति=प्रापयतीति स तथोक्तः ब्रह्मचारीत्यर्थः । यद्वा 'ब्रह्मचर्यावसानके' इति 'ब्रह्मचर्यवशाऽऽनये' इति वा संस्कृतं, तस्य 'वेशसमन्ते' इत्यनेन विशेषणतया सम्बन्धस्तथा च—ब्रह्मचर्यस्यावसानम्=अन्तो यस्मात्स तस्मिन्—ब्रह्मचर्यविनाशके इति प्रथमस्यार्थः । ब्रह्मचर्यं वशमानयति = दर्शनादिना स्वाधीनं करोतीति ब्रह्मचर्यवशानयस्तस्मिन् ब्रह्मचर्यभ्रंशके इति द्वितीयस्यार्थः । वेशसामन्ते = वेशः = वेश्यागृहम् 'वेशो वेश्यागृहे गृहे' इति कोशात्, तस्य सामन्ते = समीपे वेश्यापाटके वा न चरेत् = न गच्छेत् । का हानि ? रित्याह—'ब्रह्मे'-ति, तत्र = वेशसामन्ते गमनेनेति प्रसङ्गलभ्यम्, दान्तस्य = जितेन्द्रियस्यापि ब्रह्मचारिणः = साधोर्विस्रोतसिकाः तद्रूपलावण्यावलोकनचिन्तनादि'कचवरेण चेतो नलिकासमागच्छद्भावनासलिलप्रवाहनिरोधे श्रद्धाभूमिसमुत्पन्नब्रह्मचर्यमूलकाऽ-से चतुर्थ महाव्रत की विराधनाका कथन करते हैं—'न चरेज्ज वेस०' इत्यादि ।

ब्रह्मचारी साधु गोचरी के लिए ब्रह्मचर्यका नाश करने वाला वेश्याघरके समीप में या वेश्याके पाड़े (मुहल्ले) में न जावे । वहाँ जाने से क्या हानि है ? सो बताते हैं—वेश्याके पाड़े में गमन करने से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी साधुके भी मनमें विकार उत्पन्न हो सकता है । अर्थात् वेश्या के रूप लावण्य का अवलोकन करने और विचार करनेरूप कचरे से चित्तरूपी नलद्वारा आत्मामें आता हुआ विशुद्ध भावनारूप जलका प्रवाह रुक जाता है । भावना जलका प्रवाह रुक जानेसे वह संयमी रूपी तरु सुख जाता है, जो तरु श्रद्धारूपी भूमी में उत्पन्न होता है, ब्रह्म

प्रथम महाव्रतनी विराधना अताव्या पछी हुवे धीण' महाव्रतानी विराधनाना कारणु डोवाने धीधे यतुर्थ महाव्रतनी विराधनानु' कथन करे छे : न चरेज्ज वेस० धत्यादि.

ब्रह्मचारी साधु गोचरीने भाटे, ब्रह्मचर्यने नाश करवावाणा वेश्यागृहनी समीपे या वेश्याओना भडोदलाभां न नय, त्यां जवामां शी हानी छे ते शंकांनुं निवारणु करतां कडे छे डे वेश्याना भडोदलाभां गमन करवाथी जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी साधुना मनमां पणु विकार उत्पन्न थर्ध शके छे. अर्थात् वेश्याना रूप-लावण्यनुं अवलोकन, विचार, धत्यादिरूप कथराथी चित्तरूपी नणद्वारा आत्मामां आवता विशुद्ध भावनाजणने प्रवाह रोकार्ध जवाथी ओ संयम रूपी तर् सुकार्ध नय छे, छे जे तर् श्रद्धारूपी भूमिमां उत्पन्न थाय छे, ब्रह्मचर्य



हिंसासत्याऽस्तेयाऽपरिग्रहरूपाऽऽलवालसंवर्द्धित-ज्ञान-क्रियास्कन्धसुदृढ-समितिगुप्त्या-  
दिशारवप्रशाखावितता-ऽष्टदशसहस्रशीलाङ्गपत्र-ध्यान-कुसुमाऽपवर्ग-फलसम्पत्समृद्धसंयमदु-  
मशोषिणी चित्तविकृतिर्भवेदिति सूत्रार्थः ॥९॥

सकृद्गमनदोषं प्रतिपाद्येदानीमसकृद्गमनदोषान् प्रदर्शयति-‘अणाययणे’ इत्यादि ।

मूलम्-अणाययणे चरंतस्स, संसर्गीए अभिक्खणं ।

हुज्ज वयाणं पीला सामन्नम्मि य संसओ ॥१०॥

छाया-अनायतने चरतः संसर्गेणाऽभीक्षणम् ।

भवेद्व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥१०॥

वेश्या के पाडे में एकबार जाने का दोष कह कर अब अनेक बार जानेका दोष कहते हैं—

सान्वयार्थः—अणाययणे = वेश्याके पाडेमें अथवा इस प्रकारके दूसरे अयोग्य स्थानोंमें चरंतस्स = गोचरी जानेवाले साधु-अभिक्खणं = बारंवार संसर्गीए = संसर्ग होने के कारण वयाणं = महाव्रतोंको पीला = पीडा हुज्ज = होती है अर्थात् वे दूषित हो जाते हैं । (इतना ही नहीं किन्तु उस साधुके) सामन्नम्मि य = चारित्रसाधुपने-में भी संसओ = सन्देह हो जाता है ॥१०॥

टीका—अनायतने = अयोग्यस्थाने वेश्यागृहसमीपादौ अभीक्षणं = बारंवारम् चरतः = पर्यटतः साधोः संसर्गेण = प्रेक्षणादिसंपर्केण (मूले प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्) व्रतानां =

चर्य जिसकी जड़े हैं, अहिंसा-सत्य-अस्तेय-अपरिग्रह-रूपी क्यारी है, जो ज्ञान और क्रिया रूपी स्कन्धसे दृढ है, समिति गुप्ति आदि शाखा प्रशाखाएँ जिसकी फैली हुई हैं। अठारह हजार शीलाङ्ग जिसके पत्तेहैं, ध्यान ही जिसके पुष्प हैं, और मुक्ति-सम्पत्तिही जिस वृक्ष के फल हैं ॥९॥

एकबार गमन करनेके दोष बताकर बारंवार गमन करनेके दोष कहते हैं—‘अणाययणे० इत्यादि ।

वेश्या-घरके समीप या ऐसेही अन्य अयोग्य स्थानोंमें बार बार गमन करनेवाले साधुके वेश्याको देखने आदि संसर्गसे ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंमें पीड़ा हो जाती है, अर्थात् व्रत दूषित हो

नेनां भूणं छे, अहिंसा सत्यअस्तेय-अपरिग्रहरूपी क्यारी छे, जे ज्ञान अने क्रियारूपी थड वडे दृढ छे, समिति-गुप्ति आदि शाखा-प्रशाखा नेनी इलाय रहीं छे, अठार डळार शीलांग नेनां पांढडां छे, ध्यान जे नेनां पुष्प छे अने मुक्तिसंपत्तिजे ते तरेनां फल छे. (९)  
એકવાર ગમન કરવાના દોષ બતાવીને વારંવાર ગમન કરવાના દોષો બતાવે છે-અણાયયણે ૦ ઇત્યાદિ.

वेश्यागृहनी समीपे या એવાજ અન્ય અયોગ્ય સ્થાનોમાં વારંવાર જવાવડે વેશ્યાને

१ कूड़ा-करकट’ ‘कचरा’ इति भाषा ।

ब्रह्मचर्यादीनां पीडा = विराधना, चकारोऽप्यर्थे, नैतावत्येव हानिः किन्त्वन्याऽपीत्याह-  
श्रामण्ये = चारित्र्येऽपि संशयः = पालनीयतासन्देहो भवेत् तथाहि—

“दुश्चरब्रह्मचर्यादेर्भविष्यति फलं न वा ? ।

चेन्न जाने कियत् कीदृक्, कदा वा तद्भविष्यति ॥१॥

तथाऽप्राप्तसुखप्राप्ति-मुद्दिश्य विहितो मया ।

उपस्थितसुखत्याग उचितः किं न वोचितः ॥२॥” इत्यादि ।

यद्वा—‘चकारादत्र’ काङ्क्षा-विचिकित्सा-भेदो-न्माद-दीर्घकालिकरोग-केवलि-प्रज्ञप्तध-  
र्मभ्रंशादयो दोषाः संगृह्यन्ते ॥१०॥

उपसंहरति—‘तम्हा एयं’ इत्यादि ।

मूलम्—तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्डणं ।

वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

छाया—तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।

वर्जयेद्वेशसामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥११॥

सान्वयार्थः—तम्हा=इसलिए दुग्गइवड्डणं=दुर्गतिको बढ़ानेवाले एयं=इस  
दोसं=दोषको वियाणित्ता=जानकर एगंतमस्सिए=मोक्षाभिलाषी मुणी=मुनि वेससा-

जाते हैं । यही एक हानी नहीं है किन्तु उसके श्रामण्य (चारित्र) में भी संदेह हो जाता है कि—

“इस दुश्चरब्रह्मचर्य का फल मिलेगा या नहीं? यदि मिलेगा भी तो न जाने कितना मिलेगा, कैसा मिलेगा, और कब मिलेगा ? ॥ १ ॥

मैंने अप्राप्त सुखकी प्राप्तिके लिए प्राप्त सुखका त्याग कर दिया है सो यह—उचित किया है या अनुचित ? ॥ २ ॥” इत्यादि ।

अथवा गाथामें आये हुए ‘च’ शब्दसे विषयसेवनकी आकांक्षा; संयमसे घृणा, भेद उन्माद दीर्घकालिक रोग और केवलीप्ररूपित धर्मसे भ्रष्टता आदि अनेक दोष समझ लेना चाहिये अर्थात् ऐसे अयोग्य स्थानोंमें गमन करने से पूर्वोक्त दोष होते हैं ॥ १० ॥

जेवा आदि संसर्गथी साधुना प्रहय्यर्यं आदि वतोमां पीडा थर्धं जय छे, अर्थात् वत  
इषित थर्धं जय छे आ अेक ज हानि नथी परन्तु जेनाथी श्रामण्य ( चारित्र ) मां पणु  
संदेह उत्पन्न थाय छे के—“ आ दुश्चर प्रहय्यर्यं तु कण भणशे के नहि ?, जे भणशे तो  
पणु शी भणर केटु भणशे, केम भणशे अने कयारे भणशे ? (१). मे अप्राप्त सुखनी  
प्राप्तिने माटे प्राप्त सुखनो त्याग करी नांणो छे तो जे उचित कयुं छे के अनुचित ?  
(२) ” इत्यादि,

अथवा गाथामां आवेला च शण्दथी विषय-सेवननी आकांक्षा, संयमथी घृणा, भेद,  
उन्माद, दीर्घकालिक रोग अने केवली-प्रज्ञित धर्ममांथी भ्रष्टता आदि अनेक दोषो समल  
जेवा. अर्थात् जेवा अयोग्य स्थानोमां गमन करवाथी जे प्रकारना दोष थाय छे. (१०)

मंते = वेश्याके पाड़े-मोहल्ले-को वज्जए = वर्जे अर्थात् भिक्षाके लिए वहां नहीं जावे । भावार्थ—इस प्रकारके संसर्गसे साधुका मन उद्विग्न हो जानेसे मनमें अनेक कुतर्कणाएं होने लग जाती हैं, तब उसका मन ज्ञान-ध्यान-आदि शुभ कार्योंमें नहीं लगकर आर्त्त-रौद्र-ध्यान करने लगता है । इसलिए साधु ऐसे संसर्गको ही टाले ॥

टीका— तस्माद्धेतोः एतं = पूर्वोक्तं दुर्गतिवर्द्धनं = दुर्गतिप्रापकं दोषं = व्रतविश्र-धनादि लक्षणं विज्ञाय = अवबुध्य एकान्तम् = एकः = अद्वितीयः अन्तो = निश्चयो व्रत-रक्षणविषयको मोक्षप्राप्तिविषयको वा एकान्तस्तम् आश्रितः = आस्थितो मुनिः वेशसा-मन्तं = वेश्यापाटकगमनं वर्जयेत् = परित्यजेत् ।

‘वियाणित्ता’ इत्यनेन सभ्यगवबोधमन्तरेण दोषपरित्यागो याथातथ्येन न संभव-तीति, ‘एगंतमस्सिए’ इत्यनेन च मुनिना सततं मोक्षैकलक्ष्येण भवितव्यमिति सूचितम् । मार्गयतनामेव विशिष्याऽऽह—‘साणं’ इत्यादि ।

मूलम्—साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।

संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

छाया—श्वानं सूतां गां दृप्तं गोणं हयं गजम् ।

संडिब्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२॥

साधु जहाँ भिक्षा के लिये न जावे उन स्थानों को विशेष रूपसे कहते हैं—

सान्वयार्थः—साणं = जहां काटनेवाला कुत्ता ही सूइयं=थोड़े कालकी व्याई हुई गाविं = गाय हो दित्तं = मदमस्त गोणं = गोधा साण्ड अथवा बैल (और) हयं = घोड़ा

उपसंहार करते हैं ‘तम्हा एयं’ इत्यादि ।

इसलिए इस-दुर्गतिको बढ़ानेवाले व्रतोंकी विराधनारूप-दोषको जानकर व्रतोंकी रक्षा और मोक्ष की प्राप्ति के निश्चयमें स्थित मुनि वेश्या के पाड़े (चकले) में भिक्षा आदिके लिए न जावे ।

‘वियाणित्ता’ पदसे यह सूचित किया है कि भली भाँति जाने बिना दोषका अच्छी तरह परित्याग नहीं हो सकता । ‘एगंतमस्सिए’ पद से यह प्रगट किया है । कि मुनि को सदा मोक्ष प्राप्तिका लक्ष्य रखना चाहिये ॥ ११ ॥

उपसंहार करे छे—तम्हा एयं इत्यादि.

अटका भाटे, अे दुर्गतितने पधारवावाणा, व्रतानी विराधनाइप दोषने नशाने व्रतानी रक्षा अने मोक्षनी प्राप्तिना निश्चयमां स्थित मुनिअे, वेश्याना भडोदसाभां लिखा आदिने भाटे जवुं नडि.

वियाणित्ता शब्दथी अेम सूचित कयुं छे के—सारी रीते नशया बिना दोषाने सारी पेठे पारत्याग थर्ध शकते नथी. एगंतमस्सिए शब्दथी अेम प्रकट कयुं छे के मुनिअे सदा मोक्षप्राप्तिनुं लक्ष्य राजवुं अेधअे. (११)

(अथवा) गयं = हाथी हो (तथा) संडिभं = जहां बच्चे खेल रहे हो कलहं = परस्पर वाग्युद्ध गाली-गलोच होरहा हो जुद्ध = शस्त्र आदिसे युद्ध होता हो (ऐसे स्थानको साधु) दूरओ = दूरसे ही परिव्रजण = व्रजे, अर्थात् ऐसी जगह साधु कदापि गोचरी नहीं जावे । भावार्थ—ऐसे स्थानमें गोचरी जाने से कुत्ते आदिके काटखाने आदिके कारण तथा पात्रे फूटजाने आहार गिरजाने आदि अनेक प्रकारसे संयम और आत्मा दोनोंकी विराधना होती है ॥१२॥

टीका—श्वानं कुक्कुरं, 'दृप्त'—मितीहाऽपकृष्य सम्बध्यते, तथाच—दृप्तम् = उद्ध-  
तं दंशनस्वभावम् उन्मादिनं वेत्यर्थः, नवप्रसूतशून्या अप्युपलक्षणमेतत् । सूतां = नवप्रसू-  
तां गां = सौरभेयीं, नवप्रसूतमहिष्या अप्युपलक्षणाद् ग्रहणम्, दृप्तं = चण्डस्वभावं गोणं =  
वृषभं, हयं = घोटकं, गजं = हस्तिनं च, संडिभं = शिशुक्रीडनस्थानं, कलहं = वाग्युद्धं,  
युद्धम् = दण्डादण्डि-शस्त्राशस्त्रि-प्रभृतिकम् दूरतः परिवर्जयेत्, आत्मसंयमोभयविराधना-  
हेतुत्वात् ॥१२॥

गमनप्रकारमाह—'अणुन्नए' इत्यादि ।

मूलम्—अणुन्नए नावणए अप्पाह्द्वे अणाउले ।

इंदियाइ जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥

छाया—अनुन्नतो नावनतोऽप्रहृष्टोऽनाकुलः ।

इन्द्रियाणि यथाभागं, दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥१३॥

गोचरी में घूमते हुए साधु को किस प्रकार की चेष्टा रखनी चाहिये सो बताते

हैं—

मार्ग की यतना को विशेषरूप से बताते हैं—'साणं' इत्यादि ।

जहाँ उन्मत्त (पागल-हड़क्या) या काटनेवाला कुत्ता, नयी बियाई हुई (प्रसूता) कुतिया, नवप्रसूता गाय या नव प्रसूता भैस आदि, मदोन्मत्त बैल, घोड़ा हाथी हों उस स्थानको, तथा बच्चोंके खेलनेके, कलह (मुँहकी लड़ाई) के और युद्ध (शस्त्रकी लड़ाई) के स्थान को साधु दूरसे त्यागे । अर्थात् जहाँ ये सब हों वहाँ न जावे—दूर ही रहे, क्योंकि इससे आत्मविराधना होती है ॥ १२ ॥

भागनी यतनाने विशेषरूपे बतावे छे साणं० धत्यादि ।

न्यां उन्मत्त ( गांडो-हडकायो ) अथवा करउनारो कृतरो, नवी वीयायदी ( प्रसूता ) कृतरी, नवप्रसूता गाय या नवप्रसूता भैश आदि, मदोन्मत्त अणह घोडो हाथी धत्यादि डोय ते स्थानने, तथा आणकोअे रभवाना, कलह ( भडोनी लडाई ) ना अने युद्ध ( शस्त्र-नी लडाई ) ना स्थानने साधु दूरथी न त्यागे; अर्थात् न्यां अे अधां डोय त्यां न अय-दूर न रहे, कारण के तेथी आत्मविराधना, संयमविराधना अने उभयविराधना थाय छे ( १२ )

सान्वयार्थः—मुष्णी=गोचरीमे' घूमता हुआ साधु अणुन्नए=द्रव्यसे ऊंचा नहीं देखनेवाला, भावसे जात्यादिगर्वरहित नावणए=द्रव्यसे शरीरको अत्यन्त नहीं नमानेवाला, भावसे दीनतारहित अप्पहिट्टे=मिलनेवाले आहार आदिके विचारसे रहित अणाउले=इष्ट अनिष्ट आहार आदिकी प्राप्ति होना न होना आदि व्याकुलतासे रहित (साधु, इन्द्रियाइं=श्रोत्र आदि इन्द्रियोका जहाभागं=यथाक्रम अर्थात् जिस समय जिस इन्द्रियका विषय उपस्थित हो उस समय उस इन्द्रियका दमइत्ता=दमन-निग्रह करके-चरे=विचरे ॥१३॥

टीका—अनुन्नतः=अनुच्छित्तः, स च द्रव्यत ऊर्ध्वानवलोकयिता, भावतो जात्यादिगर्वरहितः, नावनतः=नातिप्रहः, स द्रव्यतो नातीवनताङ्गः भावतो दैन्यरहितः । अप्रहृष्टः=अप्रमुदितः उपलप्स्यमानाहारवस्त्रपात्रादिभावनाजन्यप्रमोदरहित इत्यर्थः, अनाकुलः=अक्षुब्धः इष्टऽलाभाऽनभीष्टलाभभावनानाजानत मनःक्षीभवर्जित इत्यर्थः, मुनिः इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनी यथाभागं=भज्यते-सेव्यते इति भागो=विषयः, भागमनतिक्रम्य यथाभागं=यथाविषयं-यस्येन्द्रियस्य यो विषयः सम्प्राप्तस्तमनुसृत्येत्यर्थः, दमयित्वा=निगृह्य मनोज्ञा-ऽमनोज्ञशब्दादिविषयेषु रागापरागपरित्याग कृत्वेत्यर्थः, चरेत् ।

'अणुन्नए' 'नावणए' इत्येताभ्यामीर्यायतनाऽहङ्कारवर्जनदैन्यराहित्यानि सूचितानि । 'अप्पहिट्टे' इत्यनेन माध्यस्थ्यं बोधितम् । 'अणाउले' इतिपदेन साधो रसलोलुप-

चलनेका प्रकार कहते हैं—'अणुन्नए०' इत्यादि ।

मार्ग में चलते समय साधु अनुन्नत अर्थात् द्रव्य से ऊपरकी ओर न देखता हुआ, और भाव से जाति कुल आदिके अभिमान से रहित नावनत अर्थात् द्रव्य से अत्यन्त न झुका हुआ तथा भाव से दीनतारहित अप्रहृष्ट अर्थात् मिलनेवाले आहार आदिके विचार से प्रमोद रहित अनाकुल अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति के विचारसे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलता से रहित मुनि जहाँ जिस इन्द्रिय का विषय उपस्थित हो वहाँ उस इन्द्रिय का दमन करके अर्थात् मनोविषयमें राग और अमनोज्ञ विषयमें द्वेषका परित्याग करता हुआ भिक्षा आदिके लिए विचरे ।

'अणुन्नए' और 'नावणए' इन दो पदोंसे ईर्याकी यतना, अहङ्कारका परिहार और दीनता का त्याग सूचित किया है । 'अप्पहिट्टे' पद से मध्यस्थता प्रगट की है । 'अणाउले' पद से

याक्षवानो प्रकार कहे छे—अणुन्नप० इत्यादि.

भागंभां याक्षती वभते साधु अनुन्नत अर्थात् द्रव्यथी उपरनी षालुये न जेतां अने लापथी ञतिकुगता अलिमानथी रहित, नावनत अर्थात् द्रव्यथी अत्यन्त न नभ्या विना तथा लावथी दीनता-रहित, अप्रहृष्ट अर्थात् भणवावागा आहारादिना विचारथी प्रमोदरहित, अनाकुल अर्थात् ईष्टनि अप्राप्ति तथा अनिष्टनी प्राप्तिना विचारथी उत्पन्न थनारी व्याकुलताथी रहित ञयां जे ईद्रियेनो विषय उपस्थित होय त्यां ते ईद्रियनुं दमन करीने अर्थात् मनोज्ञ-विषयभां राग अने अमनोज्ञ-विषयभां द्वेषनो परित्याग करतां, भिक्षा आदिने माटे विचरे.

अणुन्नप अने नावणप ये ये शब्दोथी ईर्यानी यतना अहंकारनो परिहार अने दीन-

त्वं निराकृतम् । 'जहाभागं' इत्यनेन च यत्र यस्येन्द्रियस्य विषयप्राप्तिस्तत्र तस्यैव दमनं वास्तविकमिन्द्रियदमनं, न तु दर्शनविषये कर्णपिधानमित्यादि बोध्यम् ॥१३॥

मूलम्-<sup>२</sup>द्वदवस्स<sup>३</sup> न<sup>४</sup> गच्छेज्जा<sup>५</sup>, भासमाणो<sup>६</sup> य<sup>७</sup> गोयरे<sup>१</sup> ।

हसंता<sup>९</sup> नाभिगच्छेज्जा<sup>८</sup>, कुलं<sup>१०</sup> उच्चावयं<sup>९</sup> सया<sup>११</sup> ॥१४॥

छाया-द्रुतद्रुतस्य न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे ।

हसन् नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥१४॥

सान्वयार्थः—गोयरे=भिक्षाचरीमे (साधु) द्वदवस्स=अति शीघ्रतासे दड़बड़र दौड़ता हुआ य=तथा भासमाणो=बोलता हुआ न गच्छेज्जा=नहीं जावे, (तथा) उच्चावयं=उच्च-द्रव्यसे सप्तभूमिक महलोंवाले, भावसे-धन-धान्यादिरहित समृद्ध, नीच-द्रव्य से घास फूसकी झोंपडी वाले, भावसे धन-धान्यादिरहित कुलं=कुलमें सया=हमेशा जावे । (२ श्रु.१अ.२उ.) आचाराङ्गसूत्रमें बताये हुए सब कुलोंमें भिक्षाके लिए जावे अर्थात् जिस समय जिस देश में जो कुल दुगुंछित न हों उन सब कुलोंमें गोचरी जावे, साधुको चाहिए कि ईर्यासमिति शोधता हुआ रागद्वेषरहित होकर भिक्षाके लिए विचरे ॥

टीका—गोचरे=भिक्षायां भिक्षार्थमित्यर्थः, द्रुतद्रुतस्य=शीघ्र-शीघ्रम् 'द्वदवे' त्यस्याव्ययत्वेऽप्यार्षत्वात्सविभक्तिकत्वम्, यद्वा क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तेत्वौचित्येऽप्यार्षत्वात्षष्ठ्यन्तत्वम्, न गच्छेत्=न यायात् । भाषमाणः=संलपन च=तथा हसन्=हास्यं कुर्वन् नाभिगच्छेत् । उच्चावचम्=उदक् च अवाक् च इत्युच्चावचम्— ( 'मयूरव्यं-

साधु की रसलोलुपताका निराकरण किया है । 'जहाभागं' पदसे यह प्रदर्शित किया है कि जहाँ जिस इन्द्रियका विषय उपस्थित हो वहाँ उसका दमन करना ही वास्तवमें इन्द्रियदमन कहलाता है, किन्तु चक्षुइन्द्रियका विषय उपस्थित होनेपर यदि कान मूँद लिए जायँ तो इन्द्रिय दमन नहीं कहला सकता, इत्यादि ॥ १३ ॥

'द्वदवस्स०' इत्यादि । साधु गोचरीके लिए जल्दी २(दड़बड़र) न चले । बातचीत करता हुआ, तथा हंसता हुआ भी गमन न करे । उच्चनीच अर्थात् धनवान और निर्धन आदि

तानो त्याग सूचित कर्थो छे. अप्पहिहे शब्दथी मध्यस्थता प्रकट करी छे अणाउल्ले शब्दथी साधुनी रसलोलुपतातुं निराकरण कथुं छे. जहाभागं शब्दथी अेम प्रदर्शित कथुं छे के ल्यां ने इन्द्रियेना विषय उपस्थित होय त्यां तेतुं दमन करुं अेय वस्तुतः इन्द्रियदमन कहेवाय छे, किंतु अक्षु इन्द्रियेना विषय उपस्थित थतां ने कान संकेयवामां आवे तो ते इन्द्रियदमन कहेवातुं नथी. इत्यादि. (१३)

द्वदवस्स० इत्यादि. साधु गोचरीने माटे उतावणो उतावणो न थावे. वात-चीत करतो के डसतो-डसतो पण न थावे. उच्च-नीच अर्थात् धनवान-निर्धन आदिना कुणोमां

१ घातूपात्तभावनां प्रति फलांशस्य कर्मीभूततया फलसामानाधिकरण्ये द्वितीया ।

सकादयश्च' (२।१।७२) इति निपातनात्समासः सिद्धिश्च) उच्चनीचात्मकमनेकदिधमित्यर्थः । 'उच्चावचं नैकभेद'-मित्यमरः । कुलं=गृहम् । तत्र द्रव्यत उच्चगृहं-सप्तभूमिकप्रासादादिकम् , शारदशशाङ्क-धनसार-हार-नीहार-कुन्दा-वदातसुधोज्ज्वलहर्म्यादिकं प्रोत्तुङ्गतोरणादिकं च । भावत उच्चगृहं-धनधान्यादि सम्पदा समृद्धम् । द्रव्यतो नीचगृहं-धनधान्यादिरहितं दरिद्रगृहम् , सदा=सर्वदा अभिगच्छेत्=चरेत् ।

अथवा उच्चावचशब्देन उग्रकुलादीनि गृह्यन्ते, तथाहि—

'उगगकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इधखागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसिध कुलाणिकावा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुवाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अगरहिएसु असणं वा४ फासुयं जाव पडिगाहिज्जा (सू. ११ आचाराङ्ग. २ श्रु० १ अ. २ उ.) ।

के कुलों में सदा भिक्षा के लिए जावे ।

उच्च कुल दो प्रकार का है—(१) द्रव्य से उच्च और (२) भाव से उच्च । सतमंजिला आदि, शरदऋतु के चन्द्रमा, कपूर, हार, वर्फ, या कुन्द पुष्प के समान स्वच्छ, कलई (चूना) पोतने से जगमगाता हुआ और जिसका फाटक खूब ऊँचा हो ऐसे महल आदि द्रव्य-उच्च कहलाते हैं ।

(२) धन-धान्यरूपी सम्पत्ति से समृद्ध कुल भाव से उच्च कहलाता है । नीचा कुल भी दो प्रकारका है—

(१) द्रव्य से नीचा और (२) भाव से नीचा ।

१. वांस, लकड़ी, घास फूस से बने हुए झोपड़े को द्रव्यसे नीचा कहते हैं । (२) धन-धान्य आदि सम्पत्तिसे रहित निर्धन के कुल को भावसे नीचा कहते हैं । इन सब प्रकारके घरोंमें साधु भिक्षा के लिए जावे ।

अथवा 'उच्चावच' शब्द से उग्रकुलादि समझ लेना चाहिए । वे बारह प्रकारके कुल आ

सदा भिक्षाने माटे जय.

उच्चकुल जे प्रकारनां छे : (१) द्रव्यथी उच्च अने (२) भावथी उच्च. (१) सात=मज्जला डोय, शरदऋतुने अंद्रमा कपूर, (मोतीने) डार, अरुं या कुंदपुष्पनी पेठे स्पन्द (श्वेत) डोय, यूना धौणवाथी अगमगती डोय अने जेतुं शटक भूण उंयुं डोय अवे भडेल आदि द्रव्य-उच्च कडेवाय छे. (२) धन-धान्यरूपी संपत्तिथी समृद्ध कुल भावथी उच्च कडेवाय छे.

नीचकुल पण जे प्रकारनां डोय छे :—

(१) द्रव्यथी नीचुं अने (२) भावथी नीचुं. (१) वांस, लाकडां, घास-पांढाथी अनेवां जुपडाने द्रव्यथी नीचुं कडे छे. (२) धन-धान्यादि संपत्तिथी रक्षित निर्धनना कुलने भावथी नीचुं कडे छे. जे प्रकारनां अधाज धरोमां साधु भिक्षाने माटे जय.

१ 'कुलं जनपदे गोत्रे, सजातीयगणेऽपि च भवने च तनौ क्लीब-मिति मेदिनी ॥

અત્ર 'અદુગુંછિણ્ણસુ' 'અગરહિણ્ણસુ' ઇતિ પદાભ્યાં યસ્મિન્ સમયે યત્કુલમજુગુપ્સિ-  
તમગર્હિતં ભવેત્તદા તસ્મિન્નેવ કુલે ગન્તવ્યમિતિ બોધ્યતે ।

અત્ર 'દવદવસ્સે'-ત્યાદિના ષટ્કાયરક્ષણવિચક્ષણતા સમાહ્યાતા । 'ભાસમાણો' પ-  
દેનૈકસ્મિન્ સમયે કાર્યદ્વયં સોપયોગં નિષ્પત્તું ન સંભવતીતિ, 'હસંતો' ઇત્યનેન ગામ્ભી-  
ર્યમ્, 'ઉચ્ચાવચં' ઇત્યાદિના પ્રતિબન્ધરાહિત્યં ચ ઘોતિતમ્ ॥૧૪॥

૨ ૩ ૪ ૫ ૬ ૭  
મૂલમ્-આલોઅં યિગ્ગલં દારં, સંધિં દગ્મભવણાણિ યં ।

૧ ૮ ૯ ૧૦ ૧૧  
ચરંતો ન વિણિજ્ઞાણ, સંકટ્ટાણં વિવજ્જણ ॥૧૫॥

છાયા—આલોકં યિગ્ગલં દારં, સંધિં દગ્મભવનાનિ ચ ।

ચરન્ ન વિનિઘ્યાયેત્, શક્કાસ્થાનં વિવર્જયેત્ ॥૧૫॥

સાન્વયાર્થઃ—ચરંતો=મિક્ષાકે લિણ્ણ ઘૂમતા હુઆ સાધુ આલોચં=જાલી-શ્વરોચ્ચેકી  
તરફ યિગ્ગલં=ઈટ આદિસે ભરે હુણ્ણ મીંતકે છિદ્રકો તરફ દારં=દરવાજેકી તરફ સંધિં-  
=મીંતકી સાંધકી તરફ અથવા ચોરોંદ્વારા કિયે હુણ્ણ મીંતકે છેદકી તરફ ય=તથા દગ્મ-  
ભવણાણિ=પલ્લેણ્ણા આદિકી તરફ ન વિણિજ્ઞાણ=ટક-ટકી લગાકર નહીં દેચ્ચે, (ક્યોંકિ  
યે સબ) સંકટ્ટાણં=શક્કાકે સ્થાનં હેં, (ઇસલિણ્ણ ઇન્હેં) વિવજ્જણ=વિશેષરૂપસે ત્યાગે ।  
માવાર્થઃ—એસે સ્થાનોંકો દેચ્ચનેસે ગૃહસ્થકો સાધુકે પ્રતિ ચોર લમ્પટ આદિકા સન્દેહ  
ઉત્પન્ન હો જાતા હે, તથા ણ્ણાકી યથોચિત્ત શુદ્ધિ મી નહીં હોતી ॥૧૫॥

ચરાંગ સૂત્રમેં (૨શ્રુ૦ ૧અ૦ ૨૩૦ સુ. ૧૧ મેં) મગવાનને કહા હેં । આચારાંગ સૂત્રમેં આચે હુણ્ણ  
'અદુગુંછિણ્ણ' ઓર 'અગરહિણ્ણ' પદસે યહ સૂચિત કિયા હે કિ જિસ દેશ ઓર જિસ સમયમેં જો  
કુલ અનન્દિત ઓર અગર્હિત હો ડસમેં મુનિ, મિક્ષાકે લિણ્ણ જાવે ।

યહાં 'દવદવસ્સ' ઇત્યાદિ પદ સે ષટ્કાયકી રક્ષા મેં સાવધાની પ્રગટ કી હે ।

'ભાસમાણો' પદસે યહ પ્રગટ કિયા હે કિ ઇક હી સાથ ડો કાર્ય ઉપયોગપૂર્વક નહીં હો  
સકતે । હસંતો પદસે ગંભીરતા ઘોતિત કી હે ઓર ઉચ્ચાવચં ઇત્યાદિ પદસે પ્રતિબન્ધ(નેસરાય)  
રહિતતા ઓર સમતાસે સહિતતા પ્રગટ કી હે ॥૧૪॥

અથવા ઉચ્ચાવચ શબ્દથી ઉચ્ચાવચ સમજાવેલાં લેવાં બોધ્યે એ બાર પ્રકારનાં કુળો  
આચારાંગ સૂત્રમાં ( ૨શ્રુ૦ ૧અ ૨૩૦સૂ૦ ૧૧ માં ) ભગવાને કહ્યા છે. આચારાંગ સૂત્રમાં  
આવેલા અદુગુંછિણ્ણ અને અગરહિણ્ણ શબ્દોથી એમ સૂચિત કયું છે કે જે દેશ અને જે  
સમયમાં જે કુળ અનિહિત અને અગર્હિત હોય તેમાં મુનિ ભિક્ષાને માટે જાય.

અહીં દવદવસ્સ ઇત્યાદિ શબ્દોથી ષટ્કાયની રક્ષામાં સાવધાની પ્રકટ કરી છે. ભાસ-  
માણો શબ્દથી એમ પ્રકટ કયું છે કે એકીસાથે જે કાર્યો ઉપયોગપૂર્વક થઈ શકતાં નથી.  
હસંતો શબ્દથી ગંભીરતા પ્રકટ કરી છે અને ઉચ્ચાવચ ઇત્યાદિ શબ્દોથી પ્રતિબન્ધ (નેસ-  
રાય) રહિતતા અને સમતા સહિતતા પ્રકટ કરી છે. (૧૪)



टीका—‘आलोअं०’ इत्यादि । चरन्=भिक्षितुं गच्छन् मुनिः आलोकं=वातायन-जालिकाप्रभृति, थिगमलं=देशीयभाषया प्रसिद्धं भिन्त्यामिष्टकादिरचितम्, द्वारं=विवरम्, सन्धि=तस्करादिखातभित्तिभागं दकभवनानि=जलस्थानानि, ‘वे’ति समुच्चये; न=नैव विनिर्ध्यायेत्=सविशेषं विलोकयेत् । यत एतानि (आलोकादीनि) शङ्कास्थानानि=साधो-राचारविषयकसन्देहोत्पादकस्थानानि, सूत्रे जातावेकवचनम्, अतस्तानि विवर्जयेत्=विशेषेण परित्यजेत् ॥१५॥

मूलम्—<sup>१</sup>रन्नो <sup>२</sup>गिहवईणं च, <sup>३</sup>रहस्सारक्खियाण य ।

<sup>४</sup>संकिलेसकरं <sup>५</sup>ठाणं, <sup>६</sup>दूरओ <sup>७</sup>परिवज्जए ॥१६॥

छाया—राज्ञो गृहपतीनां च, रहस्यमारक्षकाणां च ।

संकलेशकरं स्थानं, दूरतः चरिवर्जयेत् ॥१६॥

सान्त्वयार्थः—रन्नो=चक्रवर्ती आदि राजा महाराजाओंके च=तथा गिहवईणं=सेठ आदि सद्ग्रहस्थोंके च=और आरक्खियाण=नगरके रक्षक-कोतवाल आदिके रहस्सं=सलाह करनेके एकान्त स्थानको (साधु) दूरओ=दूरहीसे परिवज्जए=त्यागे; (क्योंकि ऐसे) ठाणं=स्थान संकिलेसकरं=असमाधिको पैदा करनेवाले होते हैं । भावार्थ=राजा आदिकोंके एकान्त स्थानकी तर्फ देखनेसे अथवा वहां जानेसे उनको साधुके प्रति क्रोध अश्रद्धा होना आदि अनेक दोषोंकी संभावना है ॥१६॥

टीकाः—‘रन्नो०’ इत्यादि । राज्ञः=चक्रवर्द्धचक्रिप्रभृतेः, गृहीपतीनां=गृहस्वामिनां श्रेष्ठ्यादीनाम् आरक्षकाणां=नगररक्षिणां च रहस्यं=रहसि=एकान्ते भवं रहस्यं=मन्त्र-

‘आलोअं०’ इत्यादि । भिक्षा लेनेके निमित्त गमन करता हुआ मुनी झरोखा, जाली, भीत, दरवाजा, सेंध, (चोरों द्वारा दीवार में किया हुआ छेद—सन्धि) और उदक भवन अर्थात् परेंडा आदि की तरफ दृष्टि न डाले, क्योंकि ये शंकास्थान हैं, इनकी ओर देखने से लोगों को साधुके चरित्रमें संदेह उत्पन्न होता है, अतएव इन शंकास्थानों का विशेष रूपसे परित्याग करना चाहिए ॥ १५ ॥

‘रन्नो०’ इत्यादि । जिस एकान्त भवनमें चक्रवर्ती, अर्द्धचक्री, माण्डलिक आदि राजा, श्रेष्ठी (सेठ) आदि गृहस्थ और नगरकी रक्षा करनेवाले (कोटवाल) आदि सलाह करते हों उस भवन

आलोअं० इत्यादि । भिक्षाने माटे गमन करते मुनि ज३णो, ञणी, ली०त, इरवाने, शेरे पाडेळुं आंङुं (भानरीयाथी पाडेळुं आंङोउं) अने उदकलवन अर्थात् पाणीआरानी तरङ्ग दृष्टि न नांणे, कारणु के अे अथां शंकास्थानो छे. तेनी तरङ्ग नेवाथी लोकेने साधुना आरित्रमां स०दंड उत्पन्न थाय छे. तेथी अे शंकास्थानोने विशेषरूपे परित्याग करवो. (१५) रन्नो० इत्यादि, अे एकान्त लवनमां अकवर्ती, अर्धचक्री, मांडलिक आदि राजा, श्रेष्ठी (सेठ) आदि गृहस्थ अने नगरनी रक्षा करनारा (कोटवाल) वगेरे सलाह (मंत्रणा) करता

गृहम्, संक्लेशकरम्=असमाधिजनकं स्थानं हेतुगर्भमिदं विशेषणं तथा च संक्लेशकरत्वा-  
दित्यर्थः, दूरतः परिवर्जयेत्=सर्वथा संत्यजेत् ॥१६॥

१ २ ३ ४ ५ ६  
मूलम्-पडिकुट्टं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।

७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४  
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

छाया--प्रतिकुष्टं कुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्जयेत् ।

अचियत्तं कुलं न प्रविशेत्, चियत्तं प्रविशेत्कुलम् ॥१७॥

सान्वयार्थः--पडिकुट्टं=शास्त्रनिषिद्ध कुलं = कुल घर में न पविसे=प्रवेश नहीं करे  
मामगं = कृपणके घरको परिवज्जए = वरजे-नहीं जावे, अचियत्तं = प्रतीतिरहित अथवा  
प्रीतिरहित कुलं = कुल-घरमें न पविसे = प्रवेश न करे, (किन्तु) चियत्तं = प्रतीति और  
प्रीतिवाले कुलं = घरमें पविसे = प्रवेश करे ॥१७॥

टीका--'पडिकुट्टं०' इत्यादि । प्रतिकुष्टं = निषिद्धं, कुलं = गृहं न प्रविशेत्,  
मामकं = 'मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्तु'-इति प्रतिषेधकारिणो गृहं तथा सामयिक-  
व्याख्यादर्शनात्, परिवर्जयेत् । अचियत्तं=देशीयशब्दोऽयम्-अपीतिमत्, यत्र साधुप्रवेशेन  
गृहिणामप्रीतिर्भवेत् तत्, अप्रतीतिमद्वा अविश्वस्तमित्यर्थः, यत्र गमनेन परेषां साधुविष-  
येऽप्यविश्वासो भवेत्, तादृशं कुलं न प्रविशेत्, गृहस्थानां संक्लेशसंभवात् । नन्वेवं तर्हि  
कुत्र प्रविशेत्तदाह-चियत्तं = प्रीतिमत् प्रतीतिमद्वा कुलं प्रविशेत् ॥१७॥

को दूरहीसे त्यागे, क्योंकि ऐसे स्थान असमाधि को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ १६ ॥

'पडिकुट्टं' इत्यादि । शास्त्रोंमें निषेध किये हुए घर में साधु प्रवेश न करे । जिसने अपने  
घर में आने का निषेध कर दिया हो कि 'श्रमण निर्ग्रन्थ हमारे घर पर न आवे' उन घरोंका भी  
साधु त्याग करे । साधु के प्रवेश करने से जिस घरवालों को अप्रीति उत्पन्न हो, या जिस  
कुलमें विश्वास न हो ऐसे कुलमें भी प्रवेश न करे, क्योंकि इससे दूसरोंका साधुपरसे भी विश्वास  
हट जाता है । साधु उस घरमें प्रवेश करे जिसमें प्रवेश करने से गृहस्थको प्रीति और विश्वास  
हो ॥ १७ ॥

छाया, जे लवतने मुनि दूरथी न त्यागे, कारण के जेवां स्थानो असमाधिने उत्पन्न कर-  
वावाणां छाय छे. (१६)

पडिकुट्टं इत्यादि. शास्त्रोभां निषेध करेला गृहमां साधु प्रवेश न करे. जेणे पोताना  
घरमां आववानो निषेध कर्यो छाय के 'श्रमण निर्ग्रन्थे अमारा घरमां आववुं नडि' जेवा  
घरोनो पण साधु त्याग करे. साधुने प्रवेश करवाथी जे घरवाणाने अप्रीति उत्पन्न थाय,  
या जे कुणमां विश्वास न छाय जेवा कुणमां पण साधु प्रवेश न करे, कारण के जेथी साधु  
परथी पीलज्जोना पण विश्वास छडी नथ छे साधु जे घरमां प्रवेश करे के जेमां प्रवेश  
करवाथी गृहस्थने प्रीति अने विश्वास उपजे. (१७)

मूलम्-साणीपावारपिहियं, अप्पणा नवपंगुरे ।

कवाडं नोपणुल्लिज्जा, उग्गहं सि अजाइया ॥१८॥

छाया-शाणी-प्रावारपिहितम् आत्मना नाऽपवृणुयात् ।

कपाटं नो प्रणुदेत्, अवग्रहं तस्याऽयाचित्वा ॥१८॥

सान्वयार्थः-सि (से) = उस गृहस्वामी को उग्गहं = आज्ञा अजाइया = लिये विना साणीपावारपिहियं = सन आदिके बने हुए परदेसे ढके हुए घरको अप्पणा = साधु खुद नावपंगुरे = नहीं खोले, (तथा) कवाडं = किवाडको भी नोपणुल्लिज्ज = नहीं उघाड़े, तात्पर्य यह है कि गृहस्वामीको पूछकर ही उघाड़ना चाहिए ॥१८॥

टीका-‘साणीपावार०’ इत्यादि । तस्य = गृहस्वामिनः अवग्रहं = निदेशम्, अयाचित्वा = अगृहीत्वा आज्ञामन्तरेणेत्यर्थः, शाणीप्रावामपिहितं = शाणी=शणवलकलनिर्मित-ज्वनिका, प्रावारः = ऊर्णादिरचितकम्बलादिस्ताभ्यां पिहितम् = आवृतम्, यद्वा शाणीप्रावारेण = शणरचितपदया स्थगितं ‘द्वार’-मितिशेषः, आत्मना = स्वयम् न अपवृणुयात् = नापसारयेत् । तथा कपाटम् = अररम् ‘किवाडे’-ति भाषाप्रसिद्धं नो प्रणुदेत् = न प्रेरयेत् नोद्धाटयेदित्यर्थः, तदुद्धाटनस्य स्नानभोजनादिसमाप्तकानां स्न्यादीनामप्रतीतिकारणत्वात्, तादृशव्यवहारानौचित्याच्च, तस्मादावश्यकतायां तत्स्वामिनं पृष्ट्वोद्धाटयेदिति भावः ॥१८॥

मूलम्-गोयरग्गपविट्ठो य, वच्च-मुत्तं न धारए ।

ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥१९॥

छाया-गोचराग्रप्रवष्टिश्च, वर्चो-मूत्रं न धारयेत् ।

अत्रकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्यत्सजेत् ॥१९॥

सात्वयार्थः-गोयरग्गपविट्ठो=गोचरीमें गया हुआ मुनि वच्च-मुत्तं=मल और मूत्रको न धारए=नहीं रोके अर्थात् मल-मूत्र-को बाधा उपस्थित होनेपर उनके वेगका अवरोध न

‘साणीपावार’ इत्यादि । गृहस्वामीकी आज्ञा लिये विना टट्टर या कम्बल आदि किसी वस्तुसे ढके हुए या सनके परदासे बंद द्वारको तथा किवाडको स्वयं न खोले, क्योंकि ऐसा करना स्नानादि करती हुई स्त्री आदिको अप्रतीतिका कारण है, तथा लोकव्यवहारसे भी अनुचित है, अतः आवश्यकता होने पर उसके स्वामीको पूछ करके ही किवाड़ परदा आदि खोलना चाहिए ॥ १८ ॥

साणीपावार० इत्यादि. गृहस्वामीनी आज्ञा लीधा विना टाट या कांभणी आदि डोई वस्तुथी ढांकेलुं या सणुना पडदाथी अध करेलुं जेवु द्वार तथा कभाड, साधु पोते न भोले; कारण के जेम करवुं जे स्नानादि करती स्त्री आदिने अप्रतीतितुं कारण भने छे, तथा लोकव्यवहारथी यणु अनुचित छे. तेथी जरूर पडतां तेना स्वामीने पृष्ठी लधने जे कभाड पडहे आदि भोलेवां भेधजे. (१८)

१ परदा-परान् परपुरुषान् दर्शनादानेन दत्ति=खण्डयतीति परदा ।

करे, (किन्तु) फासुयं=प्राशुक-जीवरहित ओगासं=स्थण्डिलभूमिको नच्चा=जानकर अणु-  
न्नविय=गृहस्थकी आज्ञा लेकर बोंसिरे =मल-मूत्रका त्याग करे ॥१९॥

टीका—‘गोयरग०’ इत्यादि । पूर्वं निवृत्तबाधोऽपि गोचराग्रप्रविष्टो मुनिः पुनस्त-  
द्राधायामुपस्थितायां वर्चो-मूत्रं=मलं प्रस्रवं च न-धारयेत्=नाघरुन्ध्यात् । यत उक्तम्—  
‘जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ असोहण य  
आयविराहणा, इत्यादि ।

नन्वेवं तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—प्रासुकं=निर्जन्तुकं निरवद्यमित्यर्थः, अवकाशं=  
स्थण्डिलं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य=गृहस्थं संस्रच्य तदाज्ञान्मादायेत्यर्थः, व्युत्सृजेत्=परित्यजेत् ।

मूलम्—<sup>१</sup>णीयद्वारं <sup>२</sup>तमसं <sup>३</sup>कुट्टगं <sup>४</sup>परिवज्जए ।

अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

छाया—नीचद्वारं तामसं, कोष्ठकं परिवर्जयेत् ।

अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणाः दुष्प्रतिलेखकाः ॥२०॥

सान्त्वयार्थः—णीयदुवारं=नीचे द्वारवाले तमसं=प्रकाशरहित कुट्टगं=कोठेको परि-  
वज्जए=वरजे अर्थात् वहां आहार पानी नहीं लेवे, क्योंकि जत्थ=जहां अचक्खुविसओ=  
आँखका प्रसार नहीं होता (वहां) पाणा=द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोंका दुप्पडिलेहगा=प्रति-  
लेखन नहीं हो सकता ॥२०॥

टीका—‘णीयदुवारं०’ इत्यादि । नीचद्वारं=नीचं = निम्नं द्वारं प्रवेश-निर्गममार्गो

‘गोयरग०’ इत्यादि । गोचरी जाने के पहले लघुनीत और बड़ीनीतकी शंकाको निवृत्त  
कर लेने पर भी यदि गोचरी के लिए चले जाने पर पुनः लघुशंका हो जाय तो मल-मूत्र को  
रोके नहीं, क्योंकि कहा है—

‘मूत्रके निरोध करने से नेत्रों को हानि होती है और मलका निरोध करने से जीवन को  
हानि पहुंचती है, तथा बुरी तरह आत्मविराधना होती है ।’

तो क्या करे सो बताते हैं—जीवरहित (निरवद्य) स्थान देखकर गृहस्थ की आज्ञा लेकर  
उस स्थानमें मल-मूत्र का त्याग करे ॥ १९ ॥

गोयरग० इत्यादि. गोचरीये जतां पडेलां लघुनीति अने षडीनीतनी शंकांने  
निवृत्त करवा छतां पणु जे गोचरी माटे नीकणी गया पछी इरी लघुशंका आदिनी शंका  
थई जय तो भण-मूत्रने रोकवां नडि, कारणु के कहुं छे के—

मूत्रने निरोध करवाथी नेत्रोने हानी थाय छे अने भणने निरोध करवाथी जवनने  
हानि पडेांछे छे, अने भराभ रीते आत्म-विराधना थाय छे,

तो शुं करवुं, ते डवे अतावे छे-जवरहित (निरवद्य) स्थान जेधने गृहस्थनी आज्ञा  
लधने जे स्थानमां भण-मूत्रने त्याग करे. (१९)

यस्य स तं तथोक्तम् , तादृशप्रदेशे प्रवेश-निर्गमाभ्यामात्मसंयमविराधनायाः संभवात् , तामसम्=तमोयुक्तमप्रकाशमित्यर्थः, कोष्ठकं=गृहाभ्यन्तरमपवरकादिकं परिवर्जयेत् न तत्राऽऽहारादिकं गृह्णीयादित्यर्थः । किं सामान्येनायं निषेधः ? नेत्याह-यत्र=यस्मिन् कोष्ठकादौ, अचक्षुर्विषयः=अत्र 'अ' 'चक्षुर्विषयः' इति पृथक् पदद्वयं, तत्र 'अ' इति निपातो नवर्थकः 'अभावे नह्य-ऽ-नो-नाऽपि'-त्यमरात् , तथाच-चक्षुर्विषयः=चक्षुरिन्द्रियजन्य-व्यारप्रसरः अ=न भवेदिति शेषः, ततः किमित्याह=प्राणाः=द्वीन्द्रियादयः दुष्प्रतिलेखकाः =दुर्निरोक्ष्या 'भवन्ती' ति शेषः, तत्र भिक्षां गृह्यतः साधोरीयै-षणयोः शुद्धिर्न जायते ॥२०॥

१ ३ ४ ५ २  
मूलम्-जत्थ पुष्पाइं बीजाइं, विष्पईन्नाइं कुट्टए ।

६ ७ ८ ९ १०  
अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्टणं परिवज्जए ॥२१॥

छाया—यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।

अधुनोपलिप्तमार्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥२१॥

सान्वयार्थः—जत्थ=जिस कुट्टए=कोठेमें पुष्पाइं=फूल (और) बीयाइं=बीज विष्प-इन्नाइं=विखरे हुए हों उस कोठेको, तथा अहुणोवलित्तं=तुरन्तके लिपे हुए उल्लं=गीले कोठेको दट्टणं=देखकर परिवज्जए=वरजे ॥२१॥

टीका—'जत्थ' इत्यादि । यत्र कोष्ठके गृहे वा सचित्तानि पुष्पाणि बीजानि वा विप्रकीर्णानि=इतस्ततः प्रसृतानि भवेयुः, यद्वा तत्काललिप्तमत एवार्द्रं कोष्ठकादि तत् साधुः परिवर्जयेत्=तत्र न गच्छेदित्यर्थः ॥२१॥

'णोयदुवारं०' इत्यादि । नीचे द्वारवाले कोठेमें भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिये, क्योंकि उसमें जाने आने से आत्मा और संयमकी विराधनाका संभव है । तथा अन्धकारयुक्त कोठेमें भी आहार आदि ग्रहण न करे । तात्पर्य यह है कि जिस कोठे में अन्धकार के कारण नेत्राँकी प्रवृत्ति न होती हो, और इसीलिए द्वीन्द्रिय प्राणी सरलता से दिखाई न देते हों उसमें भिक्षा लेने से ईर्ष्या और एषणा की शुद्धि नहीं होती है ॥ २० ॥

'जत्थ पुष्पाइं०' इत्यादि । जिस कोठे आदिमें सचित्त पुष्प सचित्त बीज विखरे हुए हों, तथा तत्काल लिपने से जो गीला हो उस कोठे या अन्य गृह आदि में प्रवेश न करे ॥२१॥

णोयदुवारं० इत्यादि. नीचा द्वारवाणा ओरडामां भिक्षाने माटे न जपुं, कारणु के तेमां जवा आववाथी आत्मा अने संयमनी विराधनाने संभव छे. तथा अंधकारयुक्त ओरडामां पणु आहार आदि ग्रहणु न करवा; तात्पर्यं अे छे के जे ओरडामां अंधकारने कारणे नेत्रे काभ न करी शकतां होय अने तेथी करीने द्वीन्द्रियादि प्राणी सहेलाधुथी न जेध शकतां होय तेमां भिक्षा देवाथी साधुनी धर्षा तथा ओषणुनी शुद्धि जणवाती नथी. (२०)

जत्थ पुष्पाइं० इत्यादि. जे ओरडा आदिमां सचित्त पुष्प सचित्त पीज वेरायलां होय तथा तत्काललीपवामां आण्ये होवाथी लीला होय ते ओरडामां अथवा गृहादिमां प्रवेश न करवा. (२१)

२ ३ ४ ५ ६ १०  
मूलम्—एलगं दारंगं साणं, वच्छगं वावि कोट्टए ।

७ ११ १२ ८ ९ १  
उल्लंघिया न पविसे, विउहत्ताण व संजए ॥२२॥

छाया—एडकं दारकं श्वानं, वत्सकं वाऽपि कोष्ठके ।

उल्लङ्घय न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥२२॥

सान्त्वयार्थः—एलगं=भेड़ दारकं=बालक साणं=कुत्ते वच्छगं=बछड़े अपिवा=इस प्रकार दूसरे अर्थात् बकरा-बकरी पाडा-पाडी आदिको उल्लंघिया=लांघ-करके, वा=अथवा विउहत्ताण=हाथ आदिसे हटाकर संजए=साधु कोट्टए=कोठ-घर-में न पविसे=प्रवेश नहीं कर ॥२२॥

टीका—‘एलगं’ इत्यादि। संयतः=भिक्षुः, एडकं=गडकं, दारकम्=भर्भकम्=श्वानं=कुक्कुरं, वत्सकं=गोशिशुं वा, अपिशब्दादजामहिष्पादिशिशुग्रहणन्, उल्लङ्घय=अतिक्रम्य व्यूह्य=अपोह्य हस्तादिनाऽपसार्यैत्वर्थः, कोष्ठके न प्रविशेत् ॥२२॥

१ २ ४ ३ ५  
मूलम्—असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए ।

६ ७ ८ १० ९  
उप्फुल्लं न विणिज्जाए नियद्विज्ज अयंपिरो ॥२३॥

छाया—असंसत्तं प्रलोकेत, नातिदूरमवलोकेत ।

उत्फुल्लं न विनिर्ध्यायेत् निवर्त्तताऽजल्पन् ॥२३॥

सान्त्वयार्थः—असंसत्तं=आसक्तिरहित होकर पलोइज्जा=देखे अर्थात् रागादिपूर्वक किसीको न देखे, नाइदूरावलोयए=अत्यन्त दूर दृष्टि डालकर-लम्बी दृष्टिसे न देखे तथा उप्फुल्लं=आँखें फाड़-फाड़कर अथवा मुसकराता हुआ टकटकी लगाकर न विणिज्जाए=न-

‘एलां०’ इत्यादि। भेड़ तथा बकरा, बालक, कुत्ता, बछड़ा, तथा पाडा-पाडी आदिका उल्लंघन करके, अथवा उनको हाथ आदि से हटाकर साधु कोठे आदि में प्रवेश न करे ॥२२॥

‘असंसत्तं०’ इत्यादि। आसक्त होकर रागादिपूर्वक किसीका अवलोकन न करे। दाता जिम स्थान से आता हो उस स्थान से ज्यादा दूर न देखे, क्योंकि दूर तक देखने से किसीको ऐसी शंका हो जाय कि ‘यह चोर है’ इत्यादि। किसी पदार्थ की ओर आँखें फाड़ २ कर न देखे। यदि भिक्षा की प्राप्ति न हो तो दीन वचन न बोले न बडबडावे, किन्तु मौन सहित पीछा फिर जावे।

पलगं० इत्यादि. घेतुं तथा अकइं, आणक, कूतइं, वाछडे। तथा पाडा-पाडी आदिने ओण० गीने अथवा तेने हाथ आदिथी डडावीने साधु ओरडाभां प्रवेश न करे. (२२)

असंसत्तं० इत्यादि. आसक्त भएने रागादिपूर्वक केअर्त्तुं अवलोकन न करव दाता के स्थानभांथी आवतो हाथ ओ स्थानथी वधारे दूर न लेवुं, कारण के दूर सुधी लेवाथी केअने ओवी शंका आवी जाय के ‘आ ओर छे’ इत्यादि. ले भिक्षानी प्राप्ति न थाय तो दीन वचन न बोलवां, के न अउअउवुं, परन्तु मौनसहित पाछां इरवुं.

हीं देखे, (भिक्षाकी प्राप्ति न हो तो) अयंपिरो=कुछ भी नहीं बोलता हुआ अर्थात् बड़बड़ाहट नहीं करता हुआ वहां से नियट्टिज्ज=वापस लौट जावे ॥२३॥

टीका—‘असंसत्तं०’ इत्यादि । असंसत्तम्=आसक्तिरहितं यथास्यात्तथा प्रलोकेत=पश्येत्, अन्यथा रागादिसम्भवात् । अतिदूरं=दातुरागमनप्रदेशात्परं नावलोकितं, साधौ तस्करतादिशङ्कासंभवात् । उत्फुल्लं=स्मेरं यथा स्यात्तथा नेत्रे विस्फार्येत्यर्थः न विनिर्ध्यायेत्=न पश्येत् । कदाचिद्धिक्षाया अलाभे अजल्पनं=दैन्योपालम्भवचनानि अभ्रुवन् निबर्त्तत = प्रत्यावर्त्तत ।

‘असंसत्तं’ इति पदेन दृष्टचतुरागोऽपाकृतः । ‘नाइदूरा०’ इत्यादिना साधौ चौ-रत्वाद्याशङ्का निराकृता । ‘उत्फुल्लं०’ इत्यादिना, वराक्रेणानेन साधुना नावलोकितो ना-प्यनुभूत एतादृशो विभवोऽतोऽयं दीन’ इत्याद्याशङ्का व्युदस्ता ॥२३॥

मूलम्—अइभूमिं न गच्छिज्जा गोयरग्गओ मुणी ।

कुलस्स भूमिं जाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

छाया—अतिभूमिं न गच्छेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ।

कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥२४॥

सान्त्वयार्थः—गोयरग्गओ = गोचरीमें गया हुआ मुणी=साधु अइभूमिं=गृहस्थकी मर्यादित भूमिसे अगाड़ी उसकी आज्ञाके विना न गच्छिज्जा = नहीं जावे, (किन्तु) कु-लस्स=गृहस्थके घरकी भूमिं = मर्यादित भूमिको जाणित्ता=जानकर मियं भूमिं=जिस घर में जहांतक जानेकी मर्यादा हो वहांतक ही परक्कमे = जावे ॥२४॥

टीका—‘अइभूमिं०’ इत्यादि । गोचराग्रगतो मुनिः अतिभूमिं=परप्रवेशाय गृह-

‘असंसत्तं’ पद से नेत्रविषयक अनुराग का त्याग प्रगट किया है । ‘नाइदूरा०’ इत्यादि पद से यह सूचित किया है कि साधुको ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे किसी को चोर आदि होने का संदेह न हो । ‘उत्फुल्लं०’ इत्यादि पद से इस संदेह को दूर किया है कि कोई यह न समझे कि—‘अरे ! इस बेचारे साधुने ऐसी विभूतो न कभी देखी है और न कभी भोगी है इसलिए यह बड़ा दीन है ॥ २३ ॥

‘अइभूमिं०’ इत्यादि । जिस घर में भूमि की जितनी मर्यादा हो उसे उल्लंघन करके

असंसत्तं० शब्दही नेत्रविषयक अनुरागने। त्याग प्रकट कर्यो छे। नाइदूरा० धत्यादिही ओभ सूचित करवाभां आ०युं छे के साधुओ ओवुं आयरब्बु क्तुवुं नेधओ के नेथी केधने थार आदि होवाने। संदेह न पडे। उत्फुल्लं० धत्यादि शब्दही ओ संदेह दूर कर्यो छे के केध ओभ न समझे के ‘अरे ! आ भियारा साधुओ ओवी विभूति नथी केधवार नेध ओने नथी केधवार लेगवी तेथी ओ अहुं न हीन छे। (२३)

अइभूमिं० धत्यादि। ओ घरभां भूमिनी ओटली मर्यादा होय ओने उल्लंघने मुनि

स्थाननुमतां भूमिमतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य न गच्छेत् । तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—कुलस्य भूमिं = मर्यादां स्थित्यवधिं ज्ञात्वा मितां = परिच्छिन्नां स्वावस्थानयोग्यां भूमिं = स्थानं पराक्रामेत् = गत्वा तिष्ठेत् , विपरीताचरणे हि गृहस्थरोपादिसम्भवः ॥२४॥

मूलम्—तत्थेव<sup>२</sup> पडिलेहिज्जा<sup>४</sup> भूमिभागं<sup>३</sup> वियक्खणो<sup>१</sup>

सिणाणस्स<sup>५</sup> य<sup>७</sup> वच्चस्स<sup>६</sup> संलोगं<sup>८</sup> परिवज्जए<sup>९</sup> ॥२५॥

छाया—तत्रैव प्रतिलिखेत् , भूमिभागं विचक्षणः ।

स्नानस्य च वचसः संलोकं परिवर्जयेत् ॥२५॥

सान्वयार्थः—तत्थेव = जिस मर्यादित भूमि पर खड़ा है उसी भूमिभागे = भूमि-भागको वियक्खणो = विचक्षण साधु पडिलेहिज्जा = प्रतिलेखन करे, अर्थात् वहाँकी भूमि को पूंजकर खड़ा रहे और सिणाणस्स = स्नानघरकी तर्फ य = तथा वच्चस्स = दही-पेशाब-घरकी तर्फ संलोगं = दृष्टि परिवज्जए = न डाले ॥२५॥

टीका—‘तत्थेव०’ इत्यादि । विचक्षणः = निपुणः तत्रैव = स्वाधिष्ठातस्थान एव भूमि-भागं प्रतिलिखेत् = संपश्येत्, स्नानस्य = स्नानगृहस्य वर्चसः = वर्चोऽगृहस्य च मलपरित्यागगृहस्येत्यर्थः, संलोकं = प्रेक्षणं परिवर्जयेत् । ‘वियक्खणो’ इत्यनेनाऽगीतार्थस्य स्वतन्त्रतया गोचरीगमनं निषिद्धम् । ‘सिणाणस्स’ इत्यादिना च नम्रस्थ्यादिदर्शनाद्रागादिसंभव इति सूचितम् ॥२५॥

मुनि गृहस्थकी आज्ञा विना आगे नहीं जावे, किन्तु उस कुलकी मर्यादा को जानकर गमन करने योग्य परिमित स्थान तक ही जाकर खड़ा हो जाय—अर्थात् किसीकी मर्यादा का उल्लंघन न करे । इसके विपरीत आचरण करने से गृहस्थ को क्रोध आने आदि की संभावना रहती है ॥

‘तत्थेव०’ इत्यादि । विचक्षण भिक्षु जिस मर्यादित भूमि पर खड़ा है वहाँके भूमिभागका प्रतिलेखन करे, स्नान घर तथा उच्चार आदिके स्थान की ओर दृष्टि न डाले । ‘वियक्खणो’ पद से अगीतार्थ साधु को स्वतन्त्र गोचरी करने का निषेध किया गया है । ‘सिणाणस्स’ इत्यादि पदों से नग्नस्त्री आदि दिख जाने के कारण रागादि भाव उत्पन्न होना संभव है यह सूचित किया गया है ॥ २५ ॥

गृहस्थनी आज्ञा विना आगण न जय, परन्तु जे कुणनी मर्यादाने जण्णीने गमन करवा योग्य परिमित स्थान सुधी न नर्धने जिलो रडे, अर्थात्—कोछनी मर्यादानुं उल्लंघन न करे, जेथी विपरीत आचरण करवाथी गृहस्थने क्रोध आदि उत्पन्न थवानी संभावना रडे छे. (२४)

तत्थेव० इत्यादि. विचक्षण भिक्षु जे मर्यादित भूमि पर जिलो डाय त्यांना भूमिभागनुं प्रतिलेखन करे, स्नान-घर तथा उच्चार आदिना स्थान (जगउ) नी तरई दृष्टि न ईके वियक्खणो शब्दथी अगीतार्थ साधुने स्वतंत्र गोचरी करवानो निषेध करवाभां आये छे. सिणाणस्स इत्यादि पदोथी ‘नम्र स्त्री आदि देखाथे नवाने कारणे रागादि भाव उत्पन्न थवानो संभव छे’—जेभ सूचित करवाभां आव्युं छे. (२५)



मूलम्-दगमद्वियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य ।

परिवर्जंतो चिद्विज्जा, सर्विदियसमाहिए ॥२६॥

छाया—दकमृत्तिकाऽऽदानं, बीजानि हरितानि च ॥२६॥

परिवर्जयंस्तिष्ठेत्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥२६॥

सान्त्वयार्थः—(और वहांभी) दगमद्वियआयाणे = सचित्त जल और मिट्टीयुक्त मार्ग-को बीयाणि=शाली आदि बीजोंको य =और हरियाणि=हरित कायको परिवर्जंतो = वरजता हुआ अर्थात् उससे हटकर सर्विदियसमाहिए=सब इन्द्रियोंको गोपता हुआ चिद्विज्जा = खड़ा रहे ॥२६॥

टीका 'दगमद्विय०' इत्यादि । 'दकमृत्तिकाऽऽदानं=दकं च मृत्तिका चेति दक-मृत्तिके, आदीयते=आनीयतेऽनेनेत्यादानं=मार्गः, दकमृत्तिकयोरादानं दकमृत्तिकाऽऽदानं=जलमृत्तिकाऽऽनयनमार्गस्तत् । बीजानि = सचित्तानि शाल्यादीनि, हरितानि=वनस्प-तिमात्राणि, चकारादन्यान्यप्यकल्प्यवस्तुजातानि परिवर्जयन् = परित्यजन् सर्वेन्द्रियसमा-हितः = तत्तदिन्द्रियविषयव्यासङ्गरहितस्तिष्ठेत्=अवस्थितिं कुर्यात् ॥२६॥

मूलम्-तत्थ स चिद्वमाणस्स, आहारे पाणभोयणं ।

अकल्पियं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥२७॥

छाया—तत्र तस्मै तिष्ठते, आहरेत्पान-भोजनम् ।

अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥२७॥

सान्त्वयार्थः—तत्थ = वहां चिद्वमाणस्स=खड़े हुए तस्स = उस साधुके लिए (गृह-स्थ) पाणभोयणं = आहार-पानी आहारे = लाकर देवे तो (साधु उसमें) अकल्पियं = अकल्पनीय आहार आदि न गेण्हिज्जा = नहीं लेवे, (किन्तु) कप्पियं = कल्पनीय होवे तो पडिगाहिज्ज = लेवे ॥२७॥

टीका—'तत्थ से०' इत्यादि । तत्र = गृहस्थगृहे तिष्ठते तस्मै<sup>१</sup> भिक्षवे गृहि-

'दगमद्विय०' इत्यादि । सचित्त जल और मृत्तिका लाने का मार्गका, और शालि आदि सचित्त बीज, वनस्पतिकाय तथा अन्य अकल्प्य पदार्थोंका वर्जन करता हुआ-उनसे दूर हट कर सब इन्द्रियोंका संयम करता हुआ खड़ा होवे ॥ २६ ॥

दगमद्विय० इत्यादि. सचित्त जल અને भाटीनु<sup>१</sup> અને શાલિ (ડાંગર) આદિ સચિત્ત ખીજ, વનસ્પતિકાય તથા અન્ય અકલ્પ્ય પદાર્થોનું વર્જન કરતા-તેનાથી દૂર હટીને સર્વ ઇન્દ્રિયોનો સંયમ કરતા થકા ઉભા રહે. (૨૬)

૧ દકશબ્દો જલપર્યાયવચન:-'પ્રોક્તં પ્રાજ્ઞેભુ<sup>૧</sup>વનમતં જીવનીયં દકં ચ । ઇતિ હાલા-યુધકોશાત્ । ૨ સૂત્રે પ્રાકૃતત્વાચ્ચતુર્થ્યાઃ ષષ્ઠી ।

ण्यादिः पानभोजनं = पानं-पेयं तिलतण्डुलादिधावनजलम् भोजनं = भोज्यमन्नादिकम्  
आहरेत् = उपनयेत्-दद्यादित्यर्थः । तत्रायं विशेषः = उपनतेषु पानभोजनादिषु अक-  
ल्पिकं = कल्पितुमयोग्यमनेषणीयमित्यर्थः, न गृह्णीयात् = नाददीत्, कल्पिकं = कल्प्यं  
निरवद्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥२७॥

१ २ ३ ५ ४  
मूलम्-आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं ।

६ ७ ८ ११ १० १२ ९  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२८॥

छाया—आहरन्ती स्यात्तत्र, भोजनं परिशाटयेत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत्, न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

सान्प्रयार्थः—और—आहरंती = आहार-पानी देती हुई वह-दात्री सिया = कदाचित्  
अगर तत्थ = वहां भोयणं = भोजन-पान परिसाडिज्ज = नीचे गिरावे तो दितियं =  
देती-हुई उस बाईसे (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार-पानी  
मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥२८॥

टीका—‘आहरंती०’ इत्यादि । आहरन्ती = भिक्षामानीय ददती गृहिणी स्यात् =  
कदाचित् तत्र स्थाने भोजनम् = आहारं परिशाटयेत् = इतस्तो विकिरेत् जानुप्रमाणोच्चप्र-  
देशात् कणादिमात्रमपि, तदधःप्रदेशाच्च निरन्तरं पातयेदिति वृद्धः, तदा ददतीं प्रति  
भिक्षुः आचक्षीत्=ब्रवीत्, तादृशम् = उक्तप्रकारकमन्नादिकं मे = मम न-कल्पते = न-  
युज्यते न ग्राह्यमिति भावः ।

पाकादिगृहकार्याणां प्रायः स्व्यधीनत्वेन तत्रोपस्थितिप्राधान्यात्तद्ग्रहणम् ॥२८॥

‘तत्थ से’ इत्यादि । गृहस्थके घरमें खड़े हुए साधु की गृहिणी (स्त्री) आदि तिल तण्डुल  
आदिका धोवन तथा अन्नादिक देवे तो उनमें से अकल्पनीय (अनेषणीय) पदार्थों का ग्रहण न  
करे, कल्पनीयका ग्रहण करे ॥ २७ ॥

‘आहरंती’ इत्यादि । अशनादि देते समय दाता के हाथसे घुटनेसे ऊपरके प्रदेशसे यदि  
एक भी कण गिर जाय, अथवा घुटने से नीचेके प्रदेश से निरन्तर गिर रहा हो तो भिक्षु दाता  
से कहे कि ऐसा अन्नादिक मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ।

तत्थ से धत्यादि. गृहस्थना घरमां जिलेला साधुने गृहिणी (स्त्री) आदि तल तंडुल  
(आप्ता) आदिनुं धोवणु तथा अन्नादिक आपे तो जेमांथी अकल्पनीय (अनेषणीय) पदा-  
र्थोने ग्रहणु न करे, कल्पनीयने ग्रहणु करे. (२७)

आहरंती० धत्यादि. अशनादि देती वधते दाताना हाथमांथी घुंठणुनी उपरना प्रदे-  
शथी जे जेक पणु कणु पडी जय, अथवा घुंठणुथी नीचेना प्रदेशथी निरंतर पडी रहणु  
डाय तो भिक्षु दाताने कडे के जेवां अशनादि मारे ग्राह्य नथी.

रसोद्यनुं काम प्रायः स्त्रीजोने अधीन रहे छे अने रसोद्यमां मुज्यत्वे स्त्री हाज्य

मूलम्-संमद्दमाणो पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।

असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥२९॥

छाया—संमर्दयन्ती प्राणान्, बीजानि हरितानि च ।

असंयमकरीं ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत् ॥२९॥

सान्त्वयार्थः—तथा-पाणाणि=वेइन्द्रियादिक प्राणियोंको बीयाणि=शालि आदि बीजोंको य=और हरियाणि=हरि वनस्पतिकायको संमद्दमाणो=पैरोंसे कुचलती हुई (आहार पानी देवे तो) उसे असंजमकरिं=साधुके लिये अयतना करनेवाली नच्चा=जानकर (साधु) तारिसं=सदोष आहार देने वाली उसे परिवज्जए=वरजे अर्थात् उसके हाथसे आहार-पानी नहीं लेवे ॥२९॥

टीका—‘संमद्दमाणी०’ इत्यादि । प्राणान् बीजानि हरितानि च संमर्दयन्ती=पाद-संगठनादिना पीडयन्ती अशनादिकं दद्यादिति शेषः, तदा असंयमकरीं=साधुनिमित्तमयतनाकारिणीम् ज्ञात्वा तादृशीम्=उक्तस्वरूपां सदोषमाहारादिकं ददतीं तां परिवर्जयेत् प्रत्यादिशेत्, तद्वस्ततो नान्नादिकं गृह्णीयादित्यर्थः । इयं भिक्षादानार्थमागच्छन्ती प्राणादीनि मर्दयतीति तद्विराधना मध्यप्यापद्येतेति भावयन् भिक्षां न गृह्णीयादिति भावः ॥

मूलम्-साहट्टु निक्खवित्ताणं, सच्चित्तं घट्टियाणि य ।

तहेव समणट्टाए. उदगं संपणुल्लिया ॥३०॥

रसोई का काम प्रायः स्त्रियों के अधीन रहता है और रसोईमें मुख्यतया स्त्री मौजूद रहती है, अत एव गाथा में स्त्रीका ग्रहण किया है ॥ २८ ॥

‘संमद्दमाणी०’ इत्यादि । प्राण बीज वनस्पति आदि सच्चित्त को कुचलती-रौंदती हुई अन्नादि देवे तो साधुके लिए अयतना करनेवाली समञ्जकर उसे त्याग देवे, अर्थात् उसके हाथसे अन्नादि ग्रहण न करे । तात्पर्य यह है कि—‘यह भिक्षा देनेके लिए जो अयतना कर रही है ऐसी अवस्थामें आहार लेनेसे मुझे भी इस हिंसाका भागना बनना पड़ेगा’ ऐसा विचार करके मुनि उससे आहार न ले ॥ २९ ॥

रडे छे, तेथी गाथाभां स्त्रीने अडुणु करवाभां आवी छे. (२८)

संमद्दमाणो० इत्यादि प्राणु पीज वनस्पति आदि सच्चित्तने कुचलती-ढोणती (स्त्री) अन्नादि आपे तो साधुने भाटे अयतना करनारी समञ्जने तेने त्यज्ज हे. अर्थात् अना हाथथी अन्नादि अडुणु न करे तात्पर्य अे छे के—‘आ भिक्षा आपवाने अे अयतना करी रही छे, अेवी अवस्थाभां आहार लेवाथी भारे पणु अे डिंसाना लागी अतवुं पडशे’ अेवा विचार करीने मुनि तेना हाथथी आहार ले नहिं.

९ १० १२ ११  
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहर पाणभोयणं ।

१३ १४ १० १५ १८ १६  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥

छाया—संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा ।

तथैव श्रमणार्थम्, उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥

अवगाह्य चालयित्वाऽऽहरेत्पानभोजनम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥

सान्त्वयार्थः—समणद्वारु=साधुके लिए साहदु=संहरण करके अर्थात् एक वर्तनसे दूसरे वर्तनमें डालकरके, निक्खवित्ताणं=सचित्त वस्तु पर आहारादिको रखकर अथवा आहारादिके ऊपर सचित्त वस्तुको रखकर, सचित्तं=सचित्त वस्तुका घट्टियाणिय=संघटा-स्पर्श-करके, तथैव=उसीप्रकार उदकं=सचित्त अप्कायको संपणुल्लिया=इधर-उधर रखकर, ओगाहइत्ता=वर्षासे आंगनमें भरे हुए पानीमें अवगाहन-प्रवेश-करके, चलइत्ता=रुके हुए जलको नालीद्वारा या हाथसे बाहर निकालकर यदि पाणभोयणं=आहार-पानी आहरे=देवे तो दितियं=देती हुई उस बाईसे (साधु) पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारपानी ये =मुझे न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥३०-३१॥

टीका—‘साहदु’ इत्यादि, ‘ओगाहइत्ता’ इत्यादि च । यदि श्रमणार्थं=भिक्षु-निमित्तं संहृत्य=भाजनाद्भाजनान्तरे संहरणं कृत्वा,

संहरणस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) सचित्ते सचित्तस्य, (२) सचित्तेऽचित्तस्य, (३) अचित्ते सचित्तस्य, (४)

‘साहदु’ इत्यादि, और ‘ओगाहइत्ता’ इत्यादि । यदि श्रमणके लिए एक वर्तन से दूसरे वर्तनमें संहरण करके (निकालकर), निक्षेपण करके (एकके ऊपर दूसरेको रखकर), सचित्तके साथ संघटा करके (जलको हिलाकर), तथा अवगाहन करके—वर्षा ऋतुमें घरके आंगनमें रुके (भरे) हुए वारिसके जलमें प्रवेश करके या उसे नालीद्वारा निकालकर पान-भोजन देवे तो देनेवालीसे श्रमणकहे कि ‘ऐसा अन्न-पान आदि मुझे ग्राह्य नहीं है ।

पहले संहरणका वर्णन करते हैं—संहरणकी चौभंगी इस प्रकार होती है—

साहदु० इत्यादि. अने ओगाहइत्ता० इत्यादि. जे श्रमणने माटे अेक वासणुमांथी थील वासणुमां संहरणु करीने (काठीने), निक्षेपणु करीने (अेकनी उपर थीलने राणीने), सचित्तनी साथे संघटे करीने, जणनुं उपभर्दन करीने (जणने डलावीने) तथा अवगाहन करीने, वर्षा ऋतुमां घरना आंगणुमां लरेला वरसादना पाणुमां प्रवेश करीने या अेने नाणी (भाण) वडे काठी नांणीने लोअन-पान आपे तो अे आपनारीने श्रमणु कडे के “अेवां अन्न-पान मारे आह्य नथी.”

पडेलां संहरणुनुं वर्णन करे छे. संहरणुनी चौभंगी आ प्रकारे थाय छे—

अचित्तेऽचित्तस्य संहरणम् । एषु चतुर्थो भङ्गो ग्राह्यः । अस्यापि चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—

(१) शुष्के शुष्कस्य, (२) शुष्के आर्द्रस्य, (३) आर्द्रे शुष्कस्य, (४) आर्द्रे आर्द्रस्य संहरणम् ।

एतेऽपि पुनः प्रत्येकं स्वगताल्पत्वबहुत्वाभ्यां भिन्नाश्चतुर्भङ्गान् भजन्ते । तत्र [१] 'शुष्के शुष्कस्ये'—त्येतदाख्यप्रथमभङ्गस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अल्पशुष्के अल्पशुष्कस्य, (२) अल्पशुष्के बहुशुष्कस्य, (३) बहुशुष्केऽल्पशुष्कस्य, (४) बहुशुष्के बहुशुष्कस्य संहरणम् ।

[२] 'शुष्के आर्द्रस्ये'—त्येतद्द्वितीयभङ्गस्य चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अल्पशुष्केऽल्पार्द्रस्य, (२) अल्पशुष्के बह्वार्द्रस्य, (३) बहुशुष्केऽल्पार्द्रस्य, (४)

(१) सचित्तमें सचित्तका, (२) सचित्तमें अचित्तका (३) अचित्तमें सचित्तका, (४) अचित्तमें अचित्तका ।

इन चार भंगोंमेंसे चौथा भंग साधुको कल्पनीय है । इसके भी चार भंग होते हैं—

(१) सूखेमें सूखेका (२) सूखेमें गीलेका ।

(३) गीलेमें सूखेका, (४) गीलेमें गीलेका ।

ये चारों भंग भी अल्पता और बहुलताके भेदसे चार चार प्रकारके होते हैं—

[१] 'सूखेमें सूखेका' इस प्रथम भंगकी चौभंगी इस तरह है—

(१) थोड़े सूखेमें थोड़े सूखेका, (२) थोड़े सूखेमें बहुत सूखेका । (३) बहुत सूखेमें थोड़े सूखेका, (४) बहुत सूखेमें बहुत सूखेका ।

[२] 'सूखेमें गीलेका' इस दूसरे भंगकी चौभंगी—

(१) थोड़े सूखेमें थोड़े गीलेका, (२) थोड़े सूखेमें बहुत गीलेका, (३) बहुत सूखेमें

(१) सचित्तमां सचित्तनुं, (२) सचित्तमां अचित्तनुं, (३) अचित्तमां सचित्तनुं, (४) अचित्तमां अचित्तनुं.

એ ચાર ભાંગામાંથી ચોથો ભાંગો સાધુને માટે કલ્પનીય છે. એના પણ ચાર ભાંગા થાય છે.—

[૧] સૂકામાં સૂકાનું, (૨) સૂકામાં લીલાનું, (૩) લીલામાં સૂકાનું અને (૪) લીલામાં લીલાનું.

એ ચાર ભાંગો પણ અલ્પતા અને બહુલતાના ભેદ કરીને ચાર ચાર પ્રકારના થાય છે:—

[૧] 'સૂકામાં સૂકાનું' એ પ્રથમની ચોભંગી આ પ્રમાણે છે:—

(૧) થોડા સૂકામાં થોડા સૂકાનું, (૨) થોડા સૂકામાં બહુ સૂકાનું, (૩) બહુ સૂકામાં થોડા સૂકાનું, (૪) બહુ સૂકામાં બહુ સૂકાનું.

[૨] 'સૂકામાં લીલાનું' એ બીજા ભાંગાની ચોભંગી—

વહુશુષ્કે વહાર્દ્રસ્ય સંહરણમ્ ।

[૩] 'આર્દ્રે શુષ્કસ્યે'-તિ તૃતીયમજ્ઞસ્ય ચતુર્મજ્ઞી યથા —

(૧) અલપાર્દ્રેડલપશુષ્કસ્ય (૨) અલપાર્દ્રેવહુશુષ્કસ્ય, (૩) વહાર્દ્રેડલપશુષ્કસ્ય, (૪) વહાર્દ્રે વહુશુષ્કસ્ય સંહરણમ્ ।

[૪] 'આર્દ્રે આર્દ્રેસ્યે'-તિ ચતુર્થમજ્ઞસ્ય ચતુર્મજ્ઞી યથા —

(૧) અલપાર્દ્રેડલપાર્દ્રસ્ય, (૨) અલપાર્દ્રે-વહાર્દ્રસ્ય, (૩) વહાર્દ્રેડલપાર્દ્રસ્ય, (૪) વહાર્દ્રે વહાર્દ્રેસ્ય સંહરણમ્ ।

આમુ પૂર્વોક્તમજ્ઞીષુ પ્રત્યેકચતુર્મજ્ઞચા: 'અલપશુષ્કેડલપશુષ્કસ્ય' વહુશુષ્કેડલપશુષ્કસ્યે—ત્યાદિરૂપૌ પ્રથમ-તૃતીયમજ્ઞૌ કલ્પ્યૌ શેષાવકલ્પ્યૌ, તથાગ્રહણે પાત્રોત્થાપનાદિના દાતુ: કષ્ટ-પાત્રસ્ફુટન-તદ્રતવસ્તુવિકરણાડપ્રીત્યાદિસમ્ભવાત્

થોડે ગીલેકા, (૪) વહુત સૂલેમેં વહુત ગીલેકા ।

[૩] 'ગીલેમેં સૂલેકા' ઇસ તોસરે મંગ ઠી ચૌમંગી—

(૧) થોડે ગીલેમેં થોડે સૂલેકા, (૨) થોડે ગીલેમેં વહુત સૂલેકા, (૩) વહુત ગીલેમેં થોડે સૂલેકા (૪) વહુત ગાલેમેં વહુત સૂલેકા ।

[૪] 'ગીલેમેં ગીલેકા' ઇસ ચૌથે મંગકી ચૌમંગી—

(૧) થોડે ગીલેમેં થોડે ગીલેકા (૨) થોડે ગીલેમેં વહુત ગીલેકા । (૩) વહુત ગીલેમેં થોડે ગીલેકા, (૪) વહુત ગીલેમેં વહુત ગીલેકા ।

ઇન ચારોં ચૌમંગિયોમેંસે 'થોડા સૂલેમેં થોડા સૂલ્લા મિલાના' ઓર વહુત સૂલેમેં થોડા સૂલ્લા મિલાના' યે પહેલે ઓર તોસરે મંગ ગ્રાહ્ય હૈં । ઢૂસરે ઓર ચૌથે મંગ ગ્રાહ્ય નહીં હૈં । ઇસ પ્રકારકે ગ્રહણ કરને સે વર્તન ઠાનેકે કારણ દાતા કો કષ્ટ, વર્તનકા ફૂટજાના, ઓર વસ્તુકા

(૧) થોડા સૂકામાં થોડા લીલાનું, (૨) થોડા સૂકામાં બહુ લીલાનું (૩) બહુ સૂકામાં થોડા લીલાનું, (૪) બહુ સૂકામાં બહુ લીલાનું.

[૩] 'લીલામાં સૂકાનું' એ ત્રીજા ભાંગાની ચૌલંગી—

(૧) થોડા લીલામાં થોડા સૂકાનું, (૨) થોડા લીલામાં બહુ સૂકાનું, (૩) બહુ લીલામાં થોડા સૂકાનું, (૪) બહુ લીલામાં બહુ સૂકાનું.

[૪] લીલામાં લીલાનું' એ ચોથી ચૌલંગી—

(૧) થોડા લીલામાં થોડા લીલાનું, (૨) થોડા લીલામાં બહુ લીલાનું. (૩) બહુ લીલામાં થોડા લીલાનું, (૪) બહુ લીલામાં બહુ લીલાનું.

આ ચાર ચૌલંગીઓમાંથી 'થોડા સૂકામાં થોડું સૂકું મેળવવું' અને 'બહુ સૂકામાં થોડું સૂકું મેળવવું' એ પહેલો અને ત્રીજો એ બે ભાંગા ગ્રાહ્ય છે. બીજા અને ચોથા ભાંગા ગ્રાહ્ય નથી. એ પ્રમાણે ગ્રહણ કરવાથી વાસણ ઉપાડવાને કારણે દાતાને કષ્ટ, વાસણ ફૂટી જવું અને વસ્તુ વેરાઈ-ઢોળાઈ જવી, અને અપ્રીતિ થવી આદિ દુષણ થાય છે, જેમકે કોઈ

निक्षिप्य=एकस्योपर्यन्यस्य निक्षेपणं कृत्वा । निक्षेपणं च त्रिधा-सचित्तमचित्त-  
मिश्रं चेति, एतानाश्रित्य तिस्रश्चतुर्भङ्गयो भवन्ति । तत्र-

[१] सचित्ता-ऽचित्तयोश्चतुर्भङ्गी यथा—

(१) सचित्ते सचित्तस्य, (२) सचित्तेऽचित्तस्य, (३) अचित्ते सचित्तस्य, (४) अ-  
चित्तेऽचित्तस्य निक्षेपणम् ।१।

[२] सचित्तमिश्रयोश्चतुर्भङ्गी यथा—

(१) सचित्त सचित्तस्य, (२) सचित्ते मिश्रस्य, (३) मिश्रे सचित्तस्य, (४) मिश्रे  
मिश्रस्य निक्षेपणम् ।२।

[३] अचित्त-मिश्रयोश्चतुर्भङ्गी यथा—

(१) अचित्तेऽचित्तस्य, (२) अचित्ते मिश्रस्य, (३) मिश्रेऽचित्तस्य, (४) मिश्रे मिश्र-  
स्य निक्षेपणमिति ।३।

विखरजाना और अप्रीति होना आदि दूषण होते हैं । जैसे किसी दाताने बहुत गीलेका या बहुत  
सूखेका संहरण करनेके लिए बड़ा भारी वर्तन उठाया तो उसे कष्ट होगा ।

निक्षेपण दोष तीन प्रकारका है—(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र । इन तीनोंको  
आश्रित करके तीन चौभंगियाँ होती हैं ।

[१] सचित्त-अचित्तको चौभंगी—

(१) सचित्तपर सचित्तका, (२) सचित्त पर अचित्तका, (३) अचित्त पर सचित्तका,  
(४) अचित्त पर अचित्तका ॥१॥

[२] सचित्त-मिश्रकी चौभंगी—

(१) सचित्त पर सचित्तका, (२) सचित्त पर मिश्रका, (३) मिश्रपर सचित्तका, (४) मिश्र  
पर मिश्रका निक्षेप करना ॥२॥

[३] अचित्त-मिश्रकी चौभंगी

दातामे अहुं लीदानुं या अहुं सूकानुं संहरणं करवाने भाटे अहुं लारे वासणु उपाडयुं  
हेय तेने कष्ट थाय.

निक्षेपणु दोष त्रणु प्रकारने छे. (१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) मिश्र. अत्र त्रणुने  
आश्रित करवाथी त्रणु चौभंगीयो थाय छे.

[१] सचित्त-अचित्तनी चौभंगी.

(१) सचित्त पर सचित्तनुं, (२) सचित्तपर अचित्तनुं, (३) अचित्त पर सचित्तनुं.  
(४) सचित्त पर अचित्तनुं ।१। (२) सचित्त मिश्रनी चौभंगी—

(१) सचित्तपर सचित्तनुं (२) सचित्तपर मिश्रनुं (३) मिश्रपर सचित्तनुं ४))  
मिश्र पर मिश्रनुं, निक्षेपणु करवुं ।२।

[३] अचित्त-मिश्रनी चौभंगी—

पुनरपि पृथिव्यादिकायषट्कोपरि पृथिव्यादीनां निक्षेपणेन प्रथमचतुर्भङ्गीस्थित-  
प्रथमभङ्गस्य 'सचित्ते सचित्तस्ये'-त्येवंरूपस्य षट्त्रिंशद्धेदा भवन्ति, तद्यथा --

(१) पृथिव्यां पृथिव्याः, (२) अपाम्, (३) तेजसः (४) वायोः, (५) वनस्पतेः,  
(६) त्रसस्य निक्षेपणमिति षट् (६)।

एवमप्यादावपि प्रत्येककायस्य निक्षेपणेन षट्त्रिंशद् भेदा जायन्ते । एवं शेषभ-  
ङ्गत्रयस्यापि प्रत्येकं षट्त्रिंशद् भेदा भवन्ति । संकलनया प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुश्चत्वारिंशदु-  
त्तरमेकशतं भङ्गा भवन्ति । उक्तप्रकारेण शेषचतुर्भङ्गीद्विकस्यापि भङ्गसम्पादने संकलनया  
सर्वे भेदा द्वात्रिंशदधिकानि चतुः शतानि (४३२)सम्पद्यन्ते ।

(१) अचित्त पर अचित्तका, (२) अचित्त पर मिश्रणका । (३) मिश्रपर अचित्तका, (४)  
मिश्रपर मिश्रका नक्षेप करना ॥३॥

फिर भी पृथिवी आदि षट्काय पर पृथिवीकायका निक्षेपण करनेसे प्रथम चतुर्भङ्गीके 'सचि-  
त्त पर सचित्तका' इस प्रथम भङ्गके छत्तीस भङ्ग होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

(१) पृथिवी पर पृथिवीका, (२) अपका, (३) तेजका, (४) वायुका, (५) वनस्पतिका  
और (६) त्रसका निक्षेपण करना ।

इसी प्रकार अप्काय आदि पर पृथिवीकाय आदि छह कायोंका निक्षेपण करनेसे छत्तीस  
भङ्ग होते हैं, अर्थात् छह काय पर छह कायका निक्षेपण होता है अतः छहसे छहका गुणन करने  
से प्रथम भङ्गके छत्तीस भेदोंकी संख्या निकलती है । ऐसे 'सचित्त पर सचित्तका' 'सचित्त पर  
मिश्रका' मिश्र पर सचित्तका, और मिश्र पर मिश्रका' इन सब (४) भङ्गोंको छत्तीस छत्तीस संख्या  
जोड़ देनेसे (३६+३६+३६+३६)—एकसौ चँवालीस (१४४) भङ्ग हो जाते हैं । दूसरी दो  
चौभङ्गियोंके भी इतने ही भङ्ग होते हैं, उनको जोड़नेसे चारसौ बत्तीस (४३२) भङ्ग होते हैं ।

(१) अचित्त पर अचित्तनुं, (२) अचित्त पर मिश्रनुं (३) मिश्र पर अचित्तनुं,  
(४) मिश्र पर मिश्रनुं निक्षेपणुं करवुं. ॥३॥

वणी पणु पृथिवी आदि षट्काय पर पृथिवीकायनुं निक्षेपणुं करवाथी प्रथम अङ्गलंगीना  
'सचित्त पर सचित्तनुं' अये प्रथम लांगाना छत्रीस लांगा थाय छे. ते आ प्रमाणे छे—

(१) पृथिवी पर पृथिवीनुं, (२) अपू (अण) नुं (३) तेजनुं (४) वायुनुं, (५) वन-  
स्पतिनुं, (६) त्रसनुं निक्षेपणुं करवुं.

अये रीते अप्काय आदि पर पृथिवीकाय आदि छ कायानुं निक्षेपणुं करवाथी छत्रीस  
लांगा थाय छे, अर्थात् छ काय पर छकायनुं निक्षेपणुं थाय छे. अये छे छने अये  
शुणवाथी प्रथम लंगाना छत्रीस लेहोनी संख्या नीकणे छे. अये 'सचित्त पर सचित्तनुं'  
'सचित्त पर मिश्रनुं' 'मिश्र पर सचित्तनुं' अने 'मिश्र पर मिश्रनुं' अये अथा (४)  
लांगानी छत्रीस-छत्रीस संख्या जेडी हेवाथी (३६+३६+३६+३६) अयेकसौ चुंवाणीस (१४४)  
लांगी थाय छे. अये अये अङ्गलंगीना पणु अयेकसौ लेह थाय छे, अने जेडवाथी चार-



इमे एककायस्योपर्येकस्यैव कायस्य निक्षेपणभेदाः प्रदर्शिताः, किन्तु 'एककाये काय-द्वयस्य चैकस्ये' -त्यादिनिक्षेपणेन चाऽन्येषामपि संभवः, यथा—

'पृथिव्यां पृथिव्यपूकाययोरित्यादिपृथिव्यपूकाययोर्वनस्पते'-रित्यादि च स्वय-मवसेयमिति विस्तरभयाद्विरम्यते ।

पूर्वोक्तेषु भङ्गसमुदयेषु 'अचित्तेऽचित्तनिक्षेपण'-लक्षणभङ्गस्य कल्प्यत्वम्, शेषा आन-न्तर्यस्वरूपाः पारम्पर्यस्वरूपा वा निखिला अकल्प्या एवेति बोद्धव्यम् ।

सचित्तं=सचित्तपृथिव्यादिकं घट्टयित्वा=संपृश्य संचाल्य वा, संस्पर्शनं सचित्ताऽ-चित्त-मिश्रभेदात्त्रिविधं, तदपि पृथिव्यादिकायषट्केन भिद्यमानमष्टादशविधं, पुनर्दात्-देय-भेदाभ्यां द्विविधतया संकलनया षट्त्रिंशद् भेदा जायन्ते, एतेषामपि पुनः—आनन्तर्य-पारम्पर्यभेदाद् द्वासप्ततिर्भेदा भवन्ति । एवं कायद्वयकायत्रिकादिसंस्पर्शनेनोत्तरोत्तरभूरिभे-

ये चारसौ बत्तीस (४३२) भंग एक काय पर एक कायका निक्षेपण करनेसे होते हैं, किन्तु एक काय पर दो कायका, जैसे—

पृथिवीकाय पर पृथिवीकायका और अपूकायका निक्षेपण करनेसे, तथा दो कायों पर एक काय का, जैसे पूर्वोक्त दो कायों पर वनस्पति आदि किसी एक कायका निक्षेपण करनेसे और भी बहुतेरे भंग होते हैं । संयोगसे बननेवाले इन उत्तर भंगोंको स्वयं समझ लेना चाहिए, विस्तार भयसे यहाँ नहीं बताते ।

पूर्वोक्त भंगोंमेंसे अचित्त पर अचित्तका निषेक्षण करनेरूप एक भंग कल्पनीय है, अवशेष साक्षात् या पारम्परिक निक्षेपणरूप सब भंग अकल्प्य हैं ।

संस्पर्शन तीन प्रकारका है— (१) सचित्त संस्पर्शन, (२) अचित्त संस्पर्शन, और (३) मिश्र संस्पर्शन । इन तीनोंके पृथिवी आदि षट्कायके भेदसे अठारह भेद होते हैं । और अनन्तर

सेाने अत्रीस (४३२) भांगा थाय छे.

अ ४३२ भांगा अके काय पर अके कायनुं निक्षेपणु करवाथी थाय छे. परन्तु अके काय पर अे कायनुं, नेभके—

पृथिवी काय पर पृथिवी कायनुं अने अपूकायनुं निक्षेपणु करवाथी, तथा अे काये पर अके कायनुं नेभ पूर्वोक्त अे काये पर वनस्पति आदि केअ अके कायनुं निक्षेपणु करवाथी पीअ पणु धणु भांगा थाय छे. अे संयोगथी थता अित्तर भांगा पोतानी भेअे समणु देवा; अहुं विस्तार थवाने क्तरणुे अहीं आप्या नथी.

पूर्वोक्त भागाभांथी अचित्त पर अचित्तनुं निक्षेपणु करवाइप अके भांगा कल्पनीय छे, अकीना साक्षात् अथवा पारंपरिक निक्षेपणुइप अथा भांगा अकल्पनीय छे.

संस्पर्शन त्रणु प्रकारनां छे:—(१) सचित्त संस्पर्शन, (२) अचित्त संस्पर्शन, अने (३) मिश्र संस्पर्शन. अे त्रणुना पृथिवी आदि षट्कायना लेटे करीने अठार लेह थाय छे. दाता अने देय (वस्तु) ना लेटे करीने अत्रीस लेह थाय छे. अने पछी तेवी अ परंपराना

દાઃ સ્વયમૂહનીયાઃ પ્રેક્ષાવદ્ભિરિતિ ।

નતુ પારમ્પરિકસંઘટ્ટનેન દીયમાનાઽઽહારાદિવર્જને પૃથ્વીસંઘટ્ટનમનિવાર્યમિતિતત્સંઘટ્ટનેઽપિ વર્જનપ્રસક્તૌ ભિક્ષૂણાં સર્વદાઽઽહારપ્રતિષેધપ્રસજ્ઞ ઇતિ ચેન્ન, પૃથિવ્યા અચલતયા તત્સશ્ચલનાદ્યભાવેન તત્સંઘટ્ટને જીવબાધાયા અસમ્ભવાત્, તત્સંઘટ્ટિતાઽઽહારાઽઽદાનં ભિક્ષૂણામપ્રતિષેધ્યમિતિ ભાવઃ ઉક્તપરમ્પરિકસંઘટ્ટિતાઽઽહારાઽઽદાનવિષયે પ્રતિષેધશ્ચલાઽઽધારવિષયઃ, તત્ર પ્રાણિપીડાસંભવાત્ વ્યવહારદોષાચ્ચેતિ ભાવઃ ।

एतेषु मध्ये गाथोक्तं सचित्तम्, अन्तर्गर्भितत्वान्मिश्रं च संस्पृश्य सञ्चाल्य वा तथैव= पुनरपि उदकम्= अष्कायं 'सचित्तं' - मित्यनुवर्त्तते सम्प्रणुद्य=संप्रेर्य इतस्ततः कृत्वेत्यर्थः ॥३०॥ तथा—अवगाह्य=वर्षाकाणे 'गृहाङ्गणप्रतिरुद्धजलान्तः प्रविश्य, चालयित्वा= प्रणालिकादिना निस्सार्य च पानभोजनमाहरेत् तदा ददतीमित्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

તથા પરમ્પરાકે ભેદસે બહુત્તર (૭૨) ભેદ હોજાતે હૈં । इनके सिवाय दो कायका या तीन कायका स्पर्श करनेसे और भी भेद होजाते हैं, वे भेदबुद्धिमानोंको स्वयं विचार लेने चाहिए ।

પ્રશ્ન— હે ગુરુમહારાજ ! યદિ પારમ્પરિક સંઘટ્ટનસે દિયે હુણ આહાર આદિકા મી ત્યાગ ક્રિયા જાયગા તો સાધુ કમી આહાર નહીં લે સકેંગે ક્યોંકિ પૃથ્વીકા સંઘટ્ટન અનિવાર્ય હૈ —આ હાર આદિ પૃથિવીપર રહતે હૈં ઓર સચિત્ત જલ મી પૃથ્વી પર રહતા હૈ, અતઃ સચિત્ત જલકા પૃથિવીકા સંઘટ્ટા હૈ ઓર પૃથિવીકા આહારાદિકે સાથ સંઘટ્ટા હૈં, ઇસલિણ આહારાદિ તથા સચિત્ત જલકા પારમ્પરિક સંઘટ્ટા હોતા હી હૈ ।

उत्तर—हे शिष्य ! पृथिवी अचल है, उसका संचलन नहीं होता; अत एव ऐसे संघट्टेसे जीवोंको बाधा नहीं होती, इसलिए पृथिवीसे संघट्टित आहारका ग्रहण करना साधुओंके लिए निषिद्ध नहीं है । पहले पारम્परिक संघट्टित आहारका जो त्याग बताया गया है उसे चल-आधार विषयक ही समझना चाहिये, क्योंकि उस संघट्टनसे प्राणियोंको पीडा होती है तथा व्यवहारदोष लेटे करीने ओतेर (७२) लेह थाय छे. ते उपरांत ये कायना या त्रणु कायना स्पर्श करवाथी भीन पणु लेह थाय छे. ते लेहो बुद्धिमानोअये स्वयं विचारी लेवा.

પ્રશ્ન—હે ગુરુ મહારાજ ! જે પારમ્પરિક સંઘટ્ટનથી આપેલા આહારાદિનો પણ ત્યાગ કરવામાં આવશે તો સાધુ કદાપિ આહાર લઈ શકશે નહિ, કારણ કે પૃથિવીનું સંઘટ્ટન અનિવાર્ય છે—આહારાદિ પૃથિવી પર રહે છે અને સચિત્ત જળ પણ પૃથિવી પર જ રહે છે. એટલે સચિત્ત જળનું પૃથિવી સાથે સંઘટ્ટન છે. અને પૃથિવીનું આહારાદિ સાથે સંઘટ્ટન છે, તેથી કરીને આહારાદિનું તથા સચિત્ત જળનું પારમ્પરિક સંઘટ્ટન થતું જ હોય છે.

उत्तर—हे शिष्य ! पृथिवी अचल छे, तेनुं संचलन थतुं नथी, तेथी एवा संघट्टनथी ज्येने भाधा थती नथी एथी करीने पृथिवीथी संघट्टित आहारनुं अडणु करवुं अये साधु-ज्येने माटे निषिद्ध नथी. पूवे पारम્परिक संघट्टित आहारने जे त्याग अताववाમાં आन्थे छे, तेने अल-आधार विषयक ज समजवे जेधअये, कणु के अये संघट्टनथी प्राणीज्येने

,गृहाङ्गणे'ति तु सम्यक् तवर्गपञ्चमान्तरस्याङ्गनस्यैवाकारग्रन्थेषु निर्णतत्वादिति श्रीरुचिपत्युपाध्यायाः ।

पुरःकर्मदोषमाह—‘पुरेकम्मेण’ इत्यादि ।

मूलम्—पुरेकम्मेण<sup>१</sup> हत्थेण<sup>२</sup>, दव्वीए<sup>३</sup> भायणेण<sup>४</sup> वा ।

दितियं<sup>६</sup> पडिआइक्खे<sup>७</sup>, न मे<sup>१०</sup> कप्पइ<sup>९</sup> तारिसं<sup>११</sup> ॥३२॥

छाया—पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, तादृशं मे न कल्पते ॥ ३२ ॥

पुरःकर्म दोष कहते हैं—

सान्वयार्थः—पुरेकम्मेण=साधु के आनेके पहले या सामने साधुके लिए सचित जलसे किया हुआ हस्तादिधावन पुरःकर्म कहलाता है, उस पुरःकर्मवाले हत्थेण=हाथसे दव्वीए=उस प्रकारकी कुडछी अथवा चमचासे वा=अथवा भायणेण=दूसरे बरतनसे (आहारादि) दितियं=देती हुईको पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥ ३२ ॥

टीका—पुरःकर्मणा = पुरः = पूर्वम् अग्रतो वा कर्म = क्रिया पुरःकर्म, तेन पुरः कर्मणा, लक्षणया पुरःकर्मयुक्तेनेत्यर्थः अस्य च हस्तादिभिस्त्रिभिः सम्बन्धः हस्तेन = करेण, दर्व्या = खजाकया भाजनेन = अमत्रेण वा ददतीं प्रत्याचक्षीतैत्यादि पूर्ववत् ।

नन्वेवं गृहस्थानां पचन पाचनादिक्रियामन्तरेणाऽऽहाराद्यसंभव इति साध्वागमनात्प्राक् पचनादिक्रियाऽवश्यं कर्तव्या, तथा सति पुरःकर्मदोषदूषितत्वेन साधूनामाहारग्रह-

भी लगता है ॥३०॥३१॥

अब पुरःकर्मदोष कहते हैं—‘पुरेकम्मेण०’ इत्यादि

साधुके आनेसे पहले या सामने की जानेवाली क्रिया को पुरः कर्म कहते हैं । पुरःयुक्त हाथसे, कुडछी (चमचा) से, अथवा वर्तनसे देनेवालीके प्रति साधु कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ।

प्रश्न— हे गुरुमहाराज ! गृहस्थ जबतक पचन पाचन आदि क्रिया न करे तब तक आहार बन नहीं सकता है’ अत एव मुनिके आगमनके पहले पचन पाचन आदि सावध क्रिया अवश्य करनी पडती है । ऐसा करनेसे वह आहार पुरः कर्म से दूषित होगा तो भिक्षु कभी भिक्षा ग्रहण

पीडा थाय छे तथा व्यवहारदोष पणु लागे छे. (३०-३१)

डवे पुरःकर्मदोष कहे छे—पुरेकम्मेण० इत्यादि.

साधु आवतानी पडेलां या साधुनी सासे करवाभां आवती क्रियाने पुरःकर्म कहे छे, पुरःकर्मयुक्त कुडछीथी के वासणुथी हेनारीनी प्रत्ये साधु कहे के ओवे आहार भने कल्पतो नथी:

प्रश्न—हे गुरु महाराज ! गृहस्थ न्यांसुधी पचन-पाचन आदि क्रिया करतो नथी, त्यां-सुधी आहार अनी शकतो नथी ओटवे मुनिना आगमन पडेलां पचन-पाचनादि क्रिया न करवी पडे छे. ओम करवाथी ओ आहार पुरःकर्मथी दूषित थाय तो भिक्षु कदापि

णाप्रसक्तिः साधुसमक्षं क्रियमाणानां क्रियाणां पुरःकर्मत्वे गृहस्थकृताऽभ्युत्थानाक्रियाणा-  
मपि पुरःकर्मत्वापत्तौ तद्गृहस्थप्रदत्तभिक्षाया अपि पुरःकर्मदोषयुक्तत्वेन ग्रहणाभावप्रसङ्गः  
? इति चेत्, अत्रोच्यते—

व्युत्पत्त्याऽभ्युत्थानगमनपचनपाचनादीनामपि पुरःकर्मत्वसंभवेऽपि समयपरिभा-  
षाबलात् केवलं भिक्षादानतः प्राक् साधुमुद्दिश्य सचिचोदकेन हस्तभाजनादिप्रक्षालनस्यैव  
पुरःकर्मत्वेन सिद्धान्तितत्वम्, न तु पचन-पाचनाभ्युत्थानादेरपीति ।

अत्र दातृ-द्रव्य-गृहाण्याश्रित्याष्टौ भङ्गा भवन्ति यथा—

(१) स दाता (पुरःकर्मकर्त्ता), अन्यद्, द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।

(२) स दाता, अन्यद्द्रव्यम् तद्गृहम् (यत्र पुरःकर्म कृतम्) ।

(३) स दाता, तद्द्रव्यम् (यद्द्रव्यमुद्दिश्य पुरःकर्मः कृतम्), अन्यद्गृहम् ।

नहीं कर सकते, साधुके सामने की जानेवाली क्रियाको भी पुरः कर्म माना जाय तो गृहस्थकी  
अभ्युत्थान - वन्दन आदि क्रियाएँ भी पुरः कर्म कहलायेंगी, इसलिए उसके द्वारा दिया हुआ  
पुरः कर्मसे दूषित आहार साधु कैसे ग्रहण करेंगे ?

उत्तर— हे शिष्य ! व्युत्पत्तिसे पचन पाचन आदि क्रियाएँ भले ही पुरःकर्म कहलावें,  
किन्तु समय- (शास्त्र)- की परिभाषासे भिक्षादान से पहले साधुके उद्देश्य करके सचित्त जलसे  
हाथ या वर्तन आदिका प्रक्षालन करना ही पुरःकर्म कहलाता है, पचन पाचन आदि क्रियाओं  
को अथवा खड़े होने आदिको पुरः कर्म नहीं कहते ।

इस पुरःकर्मके, दाता, द्रव्य और गृहकी विवक्षासे आठ भंग होते हैं, वे यहाँ बताते हैं—

१— वही (पुरः कर्म करनेवाला ) दाता, अन्य द्रव्य, अन्य गृह ।

२— वही दाता, अन्य द्रव्य, वही गृह ।

३— वही दाता, वही द्रव्य, अन्य गृह ।

લિક્ષા ગ્રહણ કરી શકે નહિ, સાધુની સામે કરવામાં આવનારી ક્રિયાને પણ જો પુરઃકર્મ  
માનવામાં આવે તો ગૃહસ્થની અભ્યુત્થાનવંદન-આદિ ક્રિયાઓ પણ પુરઃકર્મ કહેવાશે, તો  
પછી તેને હાથે આપવામાં આવેલો પુરઃકર્મથી દૂષિત આહાર સાધુ કેવી રીતે ગ્રહણ કરશે. ?

ઉત્તર—હે શિષ્ય વ્યુત્પત્તિથી પચન-પાચન-આદિ ક્રિયાઓ ભલે પુરઃકર્મ કહેવાય,  
પરંતુ સમય (શાસ્ત્ર)-ની પરિભાષા પ્રમાણે ભિક્ષાદાનની પહેલાં સાધુને ઉદ્દેશ્ય કરીને સચિત્ત  
જલથી હાથ યા વાસણ આદિ ધોવાં એ જ પુરઃકર્મ કહેવાય છે. પચન-પાચન-આદિ ક્રિયા  
ઓ અથવા ઊભા થવા આદિની ક્રિયા એ પુરઃકર્મ કહેવાતાં નથી,

આ પુરઃકર્મના, દાતા દ્રવ્ય અને ગૃહની વિવક્ષાએ કરીને આઠ ભાંગા થાય છે, તે  
અહીં બતાવે છે—

૧	એજ (પુરઃકર્મ કરનાર) દાતા,	અન્ય દ્રવ્ય,	અન્ય ગૃહ
૨	એજ દાતા,	અન્ય દ્રવ્ય,	એજ ગૃહ
૩	એજ દાતા,	એજ દ્રવ્ય,	અન્ય ગૃહ

- (४) स दाता, तद्द्रव्यं, तद्गृहम् ।  
 (५) अन्यो दाता, तद्द्रव्यम्, तद्गृहम् ।  
 (६) अन्यो दाता, तद्द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।  
 (७) अन्यो दाता, अन्यद्द्रव्यं, तद्गृहम् ।  
 (८) अन्यो दाता, अन्यद्द्रव्यम्, अन्यद्गृहम् ।

एष्वष्टसु भङ्गेषु प्रथमाऽष्टमौ भङ्गौ साधूनां कल्प्या, तदितरे भङ्गा अकल्प्याः ।  
 साधूनुद्दिश्य करद्वर्यादिप्रक्षालने पुरःकर्मनिमित्तको दोषो भवत्येवेति न तद्दिने  
 तत्राशनादिकं ग्राह्यम् ।

ननु कस्मिंश्चिद्भवने येन पुरःकर्माचरितं तदितरस्य करतो भिक्षोपादाने कथं  
 दोषः ? इति चेदुच्यते—

४— वही दाता,	वही द्रव्य,	वही गृह ।
५— अन्य दाता,	वही द्रव्य'	वही गृह ।
६— अन्य दाता,	वही द्रव्य,	अन्य गृह ।
७— अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	वही गृह ।
८— अन्य दाता,	अन्य द्रव्य,	अन्य गृह ।

इन आठ भंगोंमेंसे पहला भंग और आठवाँ भंग साधुके लिये कल्प्य हैं और अन्य सब अ  
 कल्प्य हैं ।

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यदि साधुके निमित्त हाथ या कुड़की आदिको धोया  
 हो तो पुरःकर्म दोष लगता ही है, इसलिये उस घरमें साधु, भिक्षा नहीं लेवे ।

प्रश्न— हे गुरुमहाराज ! किसी मकानमें एकने पुरःकर्म किया तो उससे आहार आदि  
 न लेकर, दूसरे वर्तन या दूसरे व्यक्तिके हाथसे लिया जाय तो क्यों दोष लगता है ?

४	એજ દાતા,	એજ દ્રવ્ય,	એજ ગૃહ
૫	અન્ય દાતા,	એજ દ્રવ્ય,	એજ ગૃહ
૬	અન્ય દાતા,	એજ દ્રવ્ય,	અન્ય ગૃહ
૭	અન્ય દાતા,	અન્ય દ્રવ્ય,	એજ ગૃહ
૮	અન્ય દાતા,	અન્ય દ્રવ્ય,	અન્ય ગૃહ

આ આઠ ભાંગામાંથી પહેલો ભાંગો અને આઠમો ભાંગો સાધુને માટે કલ્પનીય છે  
 અને બીજા બધા અકલ્પનીય છે.

એ વાત સદા યાદ રાખવી કે જો સાધુને નિમિત્તે હાથ યા કુડકી આદિને ધોવાં હોય  
 તો પુરઃકર્મ દોષ લાગે છે જ, તેથી એ દિવસે એ ઘરમાં સાધુ ભિક્ષા લે નહીં.

પ્રશ્ન—હે ગુરૂ મહારાજ ! કેઈ મકાનમાં એકે પુરઃકર્મ કર્યું હોય તો ત્યાં તેનાથી  
 આહારાદિ ન લેતાં, બીજા વાસણથી યા બીજી વ્યક્તિના હાથથી લેવામાં આવે તો કેમ દોષ  
 લાગે ?

યથા યેન વિષાક્રમન્નં સમ્પાદ્યતે તદિતરસ્ય હસ્તાદપ્યુપાદીયમાનં તદેવાન્નં મહત્તે-  
જનર્થાય કલ્પતે, તથા પુરઃકર્મદૂષિતમપિ । અત્રાયં વિશેષઃ—યત્ર ગૃહે પુરઃકર્મ સમાચરિતં  
તત્ર તસ્મિન્ દિવસે સર્વં દ્રવ્યમકલ્પ્યમેવ ॥૩૨॥

મૂલમ્—<sup>૧</sup>એવં <sup>૨</sup>ઉદઉલ્લે <sup>૩</sup>સસિણિદ્ધે <sup>૪</sup>સસરક્ષ્વે <sup>૫</sup>મટ્ટિયા <sup>૬</sup>ઝસે ।

<sup>૭</sup>હરિયાલે <sup>૮</sup>હિંગુલે, <sup>૯</sup>મણોસિલા <sup>૧૦</sup>અંજણે <sup>૧૧</sup>લોણે ॥૩૩॥

<sup>૧૨</sup>ગેરુયઃ <sup>૧૩</sup>વન્નિય—<sup>૧૪</sup>સેડિય, —<sup>૧૫</sup>સોરટ્ટિજ—<sup>૧૬</sup>પિટ્ટ—<sup>૧૭</sup>કુક્કુસકળ ય ।

<sup>૧૮</sup>ઉક્કિટ્ટ—<sup>૧૯</sup>મસંસટ્ટે, <sup>૨૦</sup>સંસટ્ટે <sup>૨૧</sup>ચેવ <sup>૨૨</sup>બોદ્ધવ્વે ॥૩૪॥

છાયા—<sup>૨૩</sup>એવમ્ <sup>૨૪</sup>ઉદકાર્દઃ <sup>૨૫</sup>સસ્નિગ્ધઃ, <sup>૨૬</sup>સરજસ્કો <sup>૨૭</sup>મૃત્તિકા <sup>૨૮</sup>ઝષઃ ।

<sup>૨૯</sup>હરિતાલં <sup>૩૦</sup>હિંગુલકં, <sup>૩૧</sup>મનઃશિલાઽઙ્ગનં <sup>૩૨</sup>લવણમ્ ॥૩૩॥

<sup>૩૩</sup>ગૈરિક—<sup>૩૪</sup>વર્ણિક—<sup>૩૫</sup>સેટિકા, —<sup>૩૬</sup>સૌરાષ્ટ્રિકા—<sup>૩૭</sup>પિષ્ટ—<sup>૩૮</sup>કુવકુમાઃ <sup>૩૯</sup>કૃતશ્ચ ।

<sup>૪૦</sup>ઉત્કૃષ્ટમસંસૃષ્ટઃ, <sup>૪૧</sup>સંસૃષ્ટ એવ <sup>૪૨</sup>બોદ્ધવ્યઃ ॥૩૪॥

સાન્વયાર્થઃ—<sup>૪૩</sup>એવં=ઇસી પ્રકાર <sup>૪૪</sup>ઉદઉલ્લે = ટપકતે <sup>૪૫</sup>હુણ <sup>૪૬</sup>જલસહિત <sup>૪૭</sup>સસિણિદ્ધે=ગીલે  
<sup>૪૮</sup>રેખાઓસે <sup>૪૯</sup>સહિત યા <sup>૫૦</sup>સસરક્ષ્વે = સચિત્ત રજસે <sup>૫૧</sup>ગુણિત <sup>૫૨</sup>સહિત <sup>૫૩</sup>હાથ <sup>૫૪</sup>આદિ <sup>૫૫</sup>હો, (તથા)  
<sup>૫૬</sup>મટ્ટિયા = સચિત્ત <sup>૫૭</sup>મિટ્ટી <sup>૫૮</sup>ઝસે = સાજીખાર <sup>૫૯</sup>હરિયાલે = હરિતાલ <sup>૬૦</sup>હિંગુલે = હિંગૂલૂ <sup>૬૧</sup>મણો-  
<sup>૬૨</sup>સિલા = મૈનસિલ <sup>૬૩</sup>અંજણે = સૌવીરાઝજન <sup>૬૪</sup>લોણે = સચિત્ત <sup>૬૫</sup>નમક ॥ <sup>૬૬</sup>ગેરુય = ગેરુ <sup>૬૭</sup>વન્નિ  
= પીલી <sup>૬૮</sup>મિટ્ટી <sup>૬૯</sup>સેડિય = શ્વેત <sup>૭૦</sup>મિટ્ટી-<sup>૭૧</sup>ખડ્ડી <sup>૭૨</sup>સોરટ્ટિજ = સોરઠી <sup>૭૩</sup>મિટ્ટી-<sup>૭૪</sup>ગોપીચન્દન <sup>૭૫</sup>પિટ્ટ =  
<sup>૭૬</sup>તત્કાલકા <sup>૭૭</sup>પીસા <sup>૭૮</sup>હુઆ <sup>૭૯</sup>આટા (તથા) <sup>૮૦</sup>કુવકુસ = તત્કાલકે <sup>૮૧</sup>ખાંડેહુણ <sup>૮૨</sup>ધાન્યકે <sup>૮૩</sup>તુષ-<sup>૮૪</sup>ખૂસે-<sup>૮૫</sup>સે  
<sup>૮૬</sup>ખરે <sup>૮૭</sup>હુણ ય = ઔર <sup>૮૮</sup>ઉક્કિટ્ટં = ચાકૂસે <sup>૮૯</sup>વનાયે <sup>૯૦</sup>હુણ <sup>૯૧</sup>કોલે, <sup>૯૨</sup>તૂંચે, <sup>૯૩</sup>કકડી <sup>૯૪</sup>આદિકે <sup>૯૫</sup>કોમલ  
<sup>૯૬</sup>કોમલ <sup>૯૭</sup>ટુકડે, <sup>૯૮</sup>ઇન <sup>૯૯</sup>પૂર્વોક્ત <sup>૧૦૦</sup>કિસી <sup>૧૦૧</sup>વસ્તુસે <sup>૧૦૨</sup>મી <sup>૧૦૩</sup>અસંસટ્ટે = <sup>૧૦૪</sup>ખરડે-<sup>૧૦૫</sup>લિપે-<sup>૧૦૬</sup>હુણ <sup>૧૦૭</sup>હાથ <sup>૧૦૮</sup>આદિકો  
<sup>૧૦૯</sup>સાધુકે <sup>૧૧૦</sup>લિપે <sup>૧૧૧</sup>કિસી <sup>૧૧૨</sup>પ્રકારસે <sup>૧૧૩</sup>અલિપ્ત <sup>૧૧૪</sup>વનાયા <sup>૧૧૫</sup>હો, <sup>૧૧૬</sup>ધોકર <sup>૧૧૭</sup>યા <sup>૧૧૮</sup>પૂંછકર <sup>૧૧૯</sup>સાફ <sup>૧૨૦</sup>કિયા <sup>૧૨૧</sup>હો,

ઉત્તર—હે શિષ્ય ! જૈસે—કિસીને વિષ-મિશ્રિત આહાર બનાયા હો તો બનાવે વાલેસે ન લેકર  
દુસરેકે હાથસે લિયા જાય તો મી વહ આહાર મહાન્ અનર્થકારી હોતા હૈ, ઉસી પ્રકાર, પુરઃકર્મ-  
દૂષિત આહાર આદિ મી અનર્થકારક હોતા હૈ ।

ઇતની ફિર વિશેષતા સમજ્ઞની ચાહિયે કિ, જિસ ઘરમેં પુરઃકર્મ કિયા ગયા હો ઉસ ઘરમેં ઉસ  
દિન સબ દ્રવ્ય અકલ્પ્ય હોતે હૈ ॥૩૨॥

ઉત્તર—હે શિષ્ય ? જેવી રીતે કોઇએ વિષમિશ્રિત આહાર ખનાવ્યો હોય તો ખના-  
વનારના હાથથી ન લેતાં ખીજના હાથથી લેવામાં આવે તો પણ એ આહાર મહાન અનર્થ-  
કારી થાય છે, તેમ પુરઃકર્મદૂષિત આહારાદિ પણ અનર્થકારક થાય છે.

એટલી વિશેષતા સમજવી જેઈએ કે, જે ઘરમાં પુરઃકર્મ કરવામાં આવ્યું હોય તે  
ઘરમાં એ દિવસે બધાં દ્રવ્યો અકલ્પનીય બને છે. (૩૨)

ऐसे हाथको संसृष्टे = चेव कए लिप्तही बोद्धवे = जान लेवे, अर्थात् इस प्रकारके असंसृष्ट हाथ आदिसे अथवा इनसे संसृष्ट हाथ आदि से साधु आहार-पानी नहीं लेवे, यह प्रकरणगत सम्बन्ध है ॥३३-३४॥

टीका—‘एवम् उदउल्ले०’ इत्यादि । एवम् = इत्थमेव पुरःकर्मवदित्यर्थः । उद-  
कार्द्रः = गलत्सचित्तजलबिन्दुकः, सस्निग्धः = ईषदार्द्रः = आर्द्रीभूतहस्तरेखादिकः—बिन्दु  
निपातरहित इति यावत्, सरजस्कः = सचित्तरजोऽवगुण्ठितः, हस्तादिर्बीद्धव्यः, तथा  
मृत्तिका = साधारणसचित्तमृत्तिका, ऊषः = क्षारमृत्तिका, हरितालं = स्वनामप्रसिद्धपीतव-  
र्णधातुविशेषः, हिङ्गुलकं = स्वनामख्यातपार्थिवरागद्रव्यविशेषः, मनःशिला = स्वनामख्या-  
तरक्तवर्णधातुविशेषः ‘मेनसील’ इतिप्रसिद्धः अञ्जनं = सौवीराञ्जनम्, लवणं = सचित्तसा-  
मुद्रिकलवणम्, गैरिक-वर्णिक-सेटिका-सौराष्ट्रिका-पिष्ट-कुक्कुसा इति, मूले आर्षत्वाल्लु-  
प्तविभक्तिकं पदम्, तत्र गैरिकः = स्वनामप्रसिद्धो धातुः, वर्णिका = पीतवर्णमृत्तिका से-  
टिका = श्वेतमृत्तिका ‘खडी’ इतिभाषाप्रसिद्धा, सौराष्ट्रिक = गोपीचन्दनं पिष्टं = गोधू-  
मादिचूर्णम्, कुक्कुसः = तत्कालकण्डितधान्यतुषः, च = पुनः उत्कष्टं = कूष्माण्डा-लाबू-  
त्रपुष-तरम्बुजादीनां शस्त्रकृतं श्लक्ष्णखण्डम्, एतैर्मृत्तिकादिभिरसंसृष्टः = साधवे भिक्षां  
ददामीति कृत्वा संसर्गसम्मार्जनेन तदलिप्तः, संसृष्टः = तत्संसर्गसम्मार्जनेनापि तल्लिप्त  
एव कृतः = विहिती हस्तादिर्वोध्यः । पुरःकर्मयुक्तेन हस्तादिनेव उदकार्द्रादिहस्तादिना,  
तथा मृत्तिकादिसंसृष्टहस्तादिकं केनापि विधिना साधुनिमित्तमसंसृष्टीकृत्य सम्माज्यं, एवं  
मृत्तिकादिसंसृष्टहस्तादिना च ददतीं प्रत्याचक्षीत—तादृशं मे न कल्पत इति ॥३३॥३४॥

‘एवं उदउल्ले’ इत्यादि, ‘गेरुय’ इत्यादि ।

इसी प्रकार, गिरते हुए सचित्त जलकी बुंदोंसे युक्त, थोडा, गीला (हाथकी रेखा गीली हो), सचित्त रजसे सहित तथा साधारण सचित्त मिट्टी, खारो मिट्टी, हरताल, हिंगुल मैनसील, अंजन, सचित्त नमक, गेरू, पीलो मिट्टी, खडिया मिट्टी, गोपीचन्दन, ताजा पीसा हुआ गेहूं आदिका आटा, तत्काल खांडा हुआ धान्यका तुष (बुस्सा), कुम्भड़ा (कद्दु), तुम्बा (ककड़ी), तथा तरबूजके छोटेर खंड, इन सबसे हाथ लिप्त हो अथवा किसी प्रकारसे साधुके लिये उसे (सचित्तसे लिप्त हाथको) अलिप्त किया हो और उस हाथसे भिक्षा देवे तो साधु कहें कि ‘ऐसा

एवं उदउल्ले इत्यादि गेरुय इत्यादि.

ये प्रमाणे, पउतां सचित्त जणनां जिदुओथी युक्त, थोडा लीला (हाथनी रेखाओ लीली डोय, ) सचित्त रजथी सहित, तथा साधारण सचित्त माटी, भारी माटी, हरताल, हिंगुलो मखसील, सुरभो, सचित्त मीडुं, गेरू, पीली माटी, अडीनी माटी, गोपीचन्दन, ताल हणैला घठ आदिना आटे, ताल आंडेला धान्यना तुष (थूंडुं), कडलुं, इधी तथा तडपू-  
यना कडडा, ये अधाथी हाथ लिप्त डोय अथवा कौर्ष प्रकारे साधुने माटे तेने (सचित्तथी भरडायेला, हाथने) अलिप्त कर्या डोय अने ये हाथथी भिक्षा आपे तो साधु कडे के ‘ओवे

मूलम्-असंसृष्टेण<sup>४</sup> हृत्थेण<sup>५</sup>, दव्वीए<sup>६</sup> भायणेण<sup>७</sup> वा ।

दिज्जमाणं<sup>९</sup> न इच्छिज्जा<sup>१०</sup>, पच्छाकम्मं<sup>११</sup> जहिं भवे<sup>१२</sup> ॥३५॥

छाया—असंसृष्टेन हस्तेन, दव्वीयां भाजनेन वा ।

दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

सान्त्वयार्थः—जहिं = जहां पच्छाकम्मं = पश्चात्कर्म-साधुको आहार आदि देनेके बाद सचित्त जलसे हाथ आदिका धोना भवे = होनेवाला हो उस प्रकारके असंसृष्टेण = व्यञ्जन शाक कढ़ी आदि-से अलिप्त याने साफ 'ऐसे' हृत्थेण = हाथ दव्वीए = कड-छी वा = अथवा भायणेण = बरतनसे दिज्जमाणं = दिये जानेवाले आहार आदिकी साधु न इच्छिज्जा = इच्छा न करे, अर्थात् उस आहारादिको साधु न लेवे ॥३५॥

टीका—पश्चात्कर्म-दोषमाह—'असंसृष्टेण०' इत्यादि । यत्र = हस्तादौ पश्चात् = दानानन्तरं कर्म भवेत् = सम्भवेत् तादृशेन असंसृष्टेण = व्यञ्जनादिनाऽलिप्तेन हस्तेन दव्वीयां भाजनेन वा 'असंसृष्टेने'—त्येतत्प्रत्येकं सम्बध्यते, दीयमानमाहारादिकं नेच्छेत् = नाभिलषेत मनसाऽपीत्यर्थात् । यत्र स्वार्थं व्यञ्जनादिना हस्तादिकं नोपलिप्तं किन्तु भिक्षुमुद्दिश्य भक्तादिदानार्थं हस्ताद्युपलेपो जायते, तत्र दानानन्तरं सचित्तजलेन तत्करादिक्षालनसम्भवः, तच्च प्रक्षालनादिकं भिक्षुनिमित्तकमिति पश्चात्कर्मदोषो विज्ञेयः, यद्ये-

आहार हमें नहीं कल्पता है' ॥३३॥३४॥

अब पश्चात्कर्मदोष बताते हैं—'असंसृष्टेण' इत्यादि । भिक्षा देनेके अनन्तर गृहस्थको साधुके निमित्तसे सचित्त जल आदिके द्वारा हाथ आदि प्रक्षालन करनेकी संभावना हो तो साधु ऐसे व्यञ्जन आदिसे अलिप्त हाथ, कुडछी अथवा वर्तनसे दिये जानेवाले आहारकी अभिलाषा न करे ।

गृहस्थके हाथ अपनेलिये व्यञ्जन आदिसे लिप्त न हों तो उन हाथोंसे साधुको भिक्षा देवे, तदनन्तर सचित्त जलसे हाथका धोना सम्भव है और वह प्रक्षालन साधुके निमित्तसे होगा, इसलिये वहाँ पश्चात्कर्म दोष लगता है । यदि ऐसे (लिप्त किये हुए) ही हाथसे स्वयं भोजन करे

आहार मने कल्पता नहीं. (३३-३४)

हुवे पश्चात्कर्मदोष भूतावे छे—असंसृष्टेण इत्यादि.

भिक्षा आभ्या पछी साधुने निमित्त सचित्त जल आदि द्वारा हाथ आदि धोई नांभ-यानी गृहस्थने माटे संभावना होय, तो साधु जेवा व्यञ्जन आदिथी अलिप्त हाथ, कड-छी अथवा वासणुथी आपवासां आवनारा आहारनी अलिप्ता न करे.

गृहस्थना हाथ पोताने माटे व्यञ्जनादिथी लिप्त न होय तो जे हाथथी साधुने भिक्षा आपे, पछी सचित्त जलथी हाथ धोवाने संभव छे अने जे प्रक्षालन साधुना निमित्त थाय तेथी तेमां पश्चात्कर्मदोष लागे छे. जे जेवा (लिप्त करेला—भरदायला) ज हाथथी पोते



विधेनापि हस्तादिना स्वयं भुञ्जीतान्यस्मै वा परिवेषयेत्तदा न पश्चात्कर्मदोषः, तत्र पश्चाद्भाविनः प्रक्षालनादेर्भिभूनिमित्तत्वाभावात्, यत्र दर्व्यादौ पश्चात्कर्मदोषसम्भावनाया अभावस्तत्र नायं प्रतिषेध इत्याशयः ॥३५॥

मूलम्—संसृष्टेण<sup>१</sup> य<sup>३</sup> हत्थेण<sup>२</sup> दर्वीए<sup>४</sup> भायणेण<sup>६</sup> वा<sup>५</sup> ।

दिज्जमाणं<sup>७</sup> पडिच्छिज्जा<sup>८</sup> जं<sup>९</sup> तत्थसणियं<sup>१०</sup> भवे<sup>११</sup> ॥३६॥

छाया—संसृष्टेन च हस्तेन, दर्व्यां भाजनेन वा ।

दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

सान्वयार्थः—संसृष्टेण = व्यञ्जनादिसे लिप्त हत्थेण=हाथ य=या दर्वीए=कडछी वा=अथवा = भायणेण = बरतनसे दिज्जमाणं = दियाजानेवाला आहारादि हो तत्थ= वहां-उस आहारादिमें जं=जो एसणियं = उद्गम-उत्पादना-आदि-दोषरहित भवे = हो, उसे पडिच्छिज्जा = लेवे ॥३६॥

टीका—‘संसृष्टेण’ इत्यादि । टीका स्पष्टा ॥३६॥

मूलम्—दुण्हं<sup>२</sup> तु<sup>४</sup> भुंजमाणं<sup>३</sup>, एगो<sup>५</sup> तत्थ<sup>१</sup> निमंतए<sup>६</sup> ।

दिज्जमाणं<sup>७</sup> न इच्छिज्जा<sup>८</sup>, छंदं<sup>९</sup> से पडिलेहए<sup>१०</sup> ॥३७॥

छाया—द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।

दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

सान्वयार्थः—तत्थ=वहां भुंजमाणं = भोजन करते हुए दुण्हं = दोनोंमेंसे तु = यदि एगो=एक आदमी निमंतए=निमन्त्रित करे-आहारादि देना चाहे तो दिज्जमाणं= वह दियाजानेवाला आहारादि (साधु) न इच्छिज्जा = न चाहे-न लेवे; (किन्तु) से = उस नहीं निमन्त्रण करनेवालेके छंदं = अभिप्रायकी पडिलेहए=देखे ॥३७

या दूसरेको परोसे तो पश्चात्कर्मदोष नहीं लगता, क्योंकि बादमें होनेवाले उस प्रक्षालन आदि कर्मका निमित्त, साधु नहीं रहता है— अर्थात् जिस कुडछी आदिमें पश्चात्कर्म होनेकी सम्भावना न हो वहाँ यह निषेध नहीं है— यानी वह लेना कल्पता है ॥ ३५ ॥

‘संसृष्टेण’ इत्यादि । संसृष्ट हाथ, कुडछी और बरतनसे दिये जाने- वाले आहारमेंसे जो एषणीय अर्थात् उद्गम— उत्पादना— आदिदोषरहित हो वह साधु ग्रहणकरें ॥ ३६ ॥

लोअन करे या भीअने पीरसे तो पश्चात्कर्मदोष लागतो नथी; कारणु के त्थारणाए थनाइं प्रक्षालन-आदि कर्मनुं निमित्त साधु रहतो नथी. अर्थात् जे कुडछी आदिंमां पश्चात्कर्म थवानी संभावना नहि होय. त्यां जे निषेध नथी. जेट्ठे के जे आहार लेवे साधुने कल्पे छे. (३५)

संसृष्टेण इत्यादि. संसृष्ट हाथ, कुडछी अने वासणुथी आपवामां आपता आहारमांथी जे एषणीय अर्थात् उद्गम-उत्पादन-आदि दोषथी रहित होय ते साधु अडणु करे. (३६)

टीका—‘दुण्हं तु’ इत्यादि । तत्र=तयोः = एकवस्तु स्वामित्वेन प्रसिद्धयोः, द्वयोः भुञ्जानयोः = (अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी भुजधातुश्च पालनाभावहारोभयार्थकस्ततश्च) पालयतोः, भोक्तुमुद्यतयोश्च मध्ये (पालनार्थकत्वे तु परस्मैपदं स्वयमूहनीयम्) (यदि) एकः = अन्यतरः निमन्त्रयेत् = दातुमुद्यतेत, तदा दीयमानम् (आहारादि) भिक्षुः नेच्छेत्, किन्तु तस्य = दानोद्यतेतरस्य छन्दं=अभिप्रायं भू-नेत्राविकारादिरूपचिन्हैः प्रतिलेखयेत्= प्रेक्षेत-‘दानमस्येष्टं न वे’-ति निश्चिनुयादित्यर्थः ॥३७॥

ततः किं कुर्यादित्याह—‘दुण्हं तु’ इत्यादि ।

मूलम्—दुण्हं<sup>२</sup> तु<sup>४</sup> भुंज<sup>३</sup>माण<sup>५</sup>ाणं, दो<sup>१</sup>वि<sup>६</sup> तत्थ<sup>९</sup> निमंत<sup>९</sup>ए ।

दिज्ज<sup>११</sup>माणं पडिच्छिज्जा<sup>१२</sup>, जं<sup>८</sup> तत्थे<sup>९</sup>सणि<sup>१०</sup>यं भवे ॥३८॥

छाया—द्वयोस्तु भुञ्जानयो,-द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम् ।

दीयमानं प्रतीच्छे,-द्यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

सान्वयार्थः—अगर-भुंजमाणं = भोजन या खाद्य पदार्थोंके रक्षण करते हुए दुण्हं = दोमेंसे तु = यदि तत्थ=वहां दोवी = दोनों ही निमंतए = निमन्त्रण करे-आहारादि धामे तो तत्थ = उस आहारादिमेंसे जं = जो एसणियं = एषणीय-निर्दोष हो वह दिज्जमाणं = दिया जानेवाला आहारादि पडिच्छिज्जा = लेवे ॥३८॥

टीका—यद्युभावपि निमन्त्रयेतां तदा तत्र यदेषणीयं तद् गृह्णीयादित्यर्थः ॥३८॥

मूलम्—गु<sup>१</sup>ण्विणी<sup>२</sup>ए<sup>३</sup> उवण्ण<sup>४</sup>त्थं, विविहं<sup>५</sup> पाण<sup>६</sup>भोयणं ।

भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३९॥

‘दुण्हं तु०’ इत्यादि । यदि एक वस्तुके दो स्वामी हों तथा दो गृहस्थ भोजन करनेके लिये उद्यत हुए हों, और उन दोनोंमेंसे एक व्यक्ति आहार देनेके लिये उद्यत हो तो ऐसे आहारको इच्छा भिक्षु न करें, किन्तु दूसरेके भोह नेत्र आदि विकारसे अभिप्रायका अनुभव करे कि वहराने (देने)में इसकी सम्मति है या नहीं ? ॥३७॥

इसके पश्चात् क्या करे ? सो कहते हैं—‘दुण्हं तु०’ इत्यादि । यदि वे दोनों आहार देनेको उद्यत हों और वह आहार एषणीय हो तो ग्रहण कर लेवे ॥३८॥

दुण्हं तु० इत्यादि. जे एक वस्तुना जे स्वामी होय तथा जे गृहस्थे भोजन करता होय अने जे जेमांथी एक आहार आपवा भाटे उद्यत होय तो जेवा आहारनी इच्छा भिक्षु न करे. परंतु भीजना ‘अमरो’, नेत्र, आदिना विकारथी अभिप्रायने अनुभव करे के वडोरावपामां जेनी सम्मति छे के नहि ? (३७)

जे पछी शुं करे ? कडे छे—दुण्हं तु० इत्यादि.

जे आहार आपवामां जे जेउ उद्यत होय अने जे आहार एषणीय होय तो साधु ते अहणु करे. (३८)

छया—गुर्विण्यै उपन्यस्तं, विविधं पान-भोजनम् ।  
भुज्यमानं विवर्जयेद्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

सान्त्वयार्थः—गुर्विणीए = गर्भवतीके लिए उपणत्थं = बनाकर रखा हुआ विविहं = नाना प्रकारका पाणभोयणं = खान-पान (यदि वह) भुंजमाणं = खा रही हो तो (उस आहारादिको साधु) विवर्जिज्जा = वरजे-न लेवे, (किन्तु) भुक्तसेसं = गर्भवतीके भोजन करलेनेके बाद जो शेष रहा हो तो उसे पडिच्छेत् = लेवे ॥३९॥

टीका—‘गुर्विणीए’ इत्यादि । गुर्विण्यै = गर्भवत्यै, उपन्यस्तं = गर्भपोषणार्थं = तदीयरुच्यनुकूलतया सम्पादितं स्थापितं वा विविधं = नैकप्रकारकं पानभोजनं = पानं = पेयं-प्रपाणकादिकं, भोजनं = भोज्यं मोदकादिकं (तया) भुज्यमानम् = उपभुज्यमानं च विवर्जयेत् = न गृह्णीयात् यस्तदर्थोपकल्पिताऽऽहारादिग्रहणे यथारुच्याहाराद्यभावात्तदिच्छाभङ्गस्ततश्च गर्भपीडा-तत्पातादिसम्भवः । ननु तर्हि किं सर्वथा विवर्जयेदित्याह—‘भुक्तेति-भुक्तशेषं = भुक्तादवशिष्टं प्रतीच्छेत् = उपाददीत ॥३९॥

मूलम्—सिया य समणट्टाए, गुर्विणी कालमासिणी ।

उट्टिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्टाए ॥४०॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥

‘गुर्विणीए०’ इत्यादि । गर्भवती स्त्रीकी इच्छा के अनुसार अर्थात् उसके लिये बनाये हुए तथा गर्भको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकारके पान और भोजन (मोदक आदि ) का और वह जिसका उपभोग कर रही हो उस आहारका (साधु) त्याग करे—ग्रहण न करे । क्योंकि उसके लिये बनाये हुए भोजनको ग्रहण करनेसे उसकी इच्छाका भंग होकर गर्भको पीडा पहुँचेगी, कौर गर्भपात तक होनेका सम्भव होजायगा । तो क्या वैसा आहार लेवे ही नहीं ? सो कहते हैं—गर्भवती के भोजन कर लेने बाद जो आहार अवशेष रहे उसे ग्रहण करनेमें दोष नहीं है ॥३९॥

‘गुर्विणीए०’ इत्यादि: गर्भवती स्त्रीनी इच्छाने अनुसारिने अर्थात् ओने माटे बना-वेलां तथा गर्भने पुष्ट करनारां अनेक प्रकारनां पान अने भोजन (मोदक आदि) ने अने ते ओने उपभोग करी रही होय ते आहारने साधु त्याग करे—ग्रहण न करे, कारण इ ओने माटे बनाववाभां आवेला भोजनने ग्रहण करवाथी तेने इच्छिने अनुसार भोजन नहि मणे, तेथी ओनी इच्छाने भंग थरी अने गर्भने पीडा पडोअरी, अने गर्भपात पणु थय जावोना संभव रडेशे तो शुं ओवे आहार देवोअ नहि ? ते माटे कडे छे के—गर्भवती भोजन करी रडे त्यारपथी ने आहार अवशेष रडे तेने ग्रहण करवाभां होय नथी. (उ६)

छाया—स्याच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासिनी ।

उत्थिता वा निषीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

सान्वयार्थः—य = और कालमासिणी = नजदीक प्रसवकालवाली गुर्विणी = गर्भवती स्त्री सिया = यदि-कदाचित् उट्टिया व = पहले से खड़ी हो (किन्तु) समणट्टाए = साधुके लिए अर्थात् साधुको आहारादि देनेके लिए निसीएज्जा = बैठे वा = अथवा निसन्ना = पहलेसे बैठी हुई (साधुके लिए) पुण = फिर उट्टिए = ऊठे, तं तु = तो वह भक्तपाणं = आहार-पानी संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पियं = अकल्पनीय भवे = होता है, (अतः) दितियं = देनेवाली से (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥४०॥४१॥

टीका—‘सिया य०’ ‘तं भवे’ इत्यादि । च = पुनः उत्थिता = दण्डवत्समवस्थिता, कालमासिनी = कालमासशब्देनात्र प्रसवकालमासो गृह्यते, स च सप्तमासादारभ्य सार्द्धसप्तरात्राधिकं नवमासं यावत्, तद्वती-प्राप्तप्रसवयोग्यसमयेत्यर्थः, गुर्विणी = गर्भवती, स्यात् = कदाचित्, श्रमणार्थं = साधुनिमित्तं-साधवे दातुमित्यर्थः- निषीदेत् = उपविशेत्, वा = अथवा, निषण्णा = उपविष्टा पुनरुत्तिष्ठेत्, तदा तत् = तथा दीयमानं भक्तपाणं तु संयतानां = संयमवताम् अकल्पक(त)म् = अग्राह्यम्, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीतेत्यादि पूर्ववत् ।

‘सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती’-तिन्यायेन उत्थिता यदि दातुमुपविशेदेव, उपविष्टा वोत्तिष्ठेदेव तदादीयमानमाहारादिकमकल्पकं(तं) स्यादिति । तत्तात्पर्याऽवधारणेनेदमा-

‘सिया य०’ इत्यादि ‘तं भवे०’ इत्यादि च । प्रसव-काल- मासवाली अर्थात् सातवें महीनेसे आरम्भ करके साठे सात रात सहित नववें महीने तक, अर्थात् सात वें महीनेके बाद प्रसव होनेतकके समय वाली स्त्री, यदि खड़ी हुई हो और साधुको भिक्षा देनेके लिए बैठे, अथवा बैठी हुई हो किन्तु भिक्षा देनेके लिये उठे तो उसके द्वारा दिया जानेवाला आहार, संयमियोंके लिये कल्प्य नहीं है, ॥ अतः देनेवाली (स्त्री) से कहे कि ‘ऐसा आहार हमें कल्पता नहीं है ॥’

सब वाक्य, ‘सावधारण अर्थात् निश्चय करानेवाले होते हैं’ इस न्यायके बल से यहाँ पर

सिया य० इत्यादि तं भवे० इत्यादि. प्रसवकाल-मासवाणी अर्थात् सातमा महीनाथी आरंभ होने साठे सात रात सहित नवमा महीना सुधी, अटके के सातमा महीना पछी प्रसव थाय त्यांसुधीना समयवाणी स्त्री ने उठी होय अने साधुने भिक्षा आपवाने माटे जेसे, अथवा जेठी होय परन्तु भिक्षा आपवाने माटे उठे तो तेषु आपेक्षी आहार संय-भीत्याने माटे कल्पनीय नहीं, हेनारी स्त्रीने कहेपुं के ‘अवे आहार मने कल्पता नहीं.’

अर्थात्-वाक्ये ‘सावधारण अर्थात् निश्चय करानेवालां होय छे’ अने न्यायानुसार अर्धी

याति-उत्थिता तादृशी गर्भवती यद्युत्थितैव, उपविष्टा वोपविष्टैव दद्यात्तदा साधूनां नाऽकल्पिकं(तं) किन्तु ग्राहमेवेति स्थविरकल्पिकापेक्षमिदम् । जिनकल्पिभिस्तु प्रथमदिवसादेव तथा दीयमानं न गृह्यते इति वृद्धाः ।

‘कालमासिनी’ पदेन, षष्ठमासानन्तरं गर्भस्य गुरुत्वेनोत्थानादिक्रियायां तत्सञ्चलनादिना तस्या गर्भस्य च पीडाऽवश्यंभाविनीति संस्रचितम् ॥४०॥४१॥

मूलम्-थणगं पिज्जमाणी (य), दारगं वा कुमारियं ।

तं निक्खवित्तु रोयंतं, आहरे पाण-भोयणं ॥४२॥

तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडियोइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥

छया—स्तन्यं पाययन्तो (च), दारकं वा कुमारिकाम् ।

तं निक्षिप्य रुदन्त, -माहरेत्पान-भोजनम् ॥४२॥

यह तात्पर्य निकलता है कि यदि देनेवाली बैठी हो और खड़ी होकरके ही आहार देवे, या खड़ी हो किन्तु बैठ करके ही आहार देवे तो उससे दिया जानेवाला आहार अकल्प्य होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी गर्भवती स्त्री यदि बैठी हो और बैठी बैठी ही आहार देवे या खड़ी हो और खड़ी-खड़ी ही आहार देवे तो साधुओंके लिये अकल्प्य नहीं है, किन्तु कल्पनीय ही है । यह बात, स्थविर-कल्पको अपेक्षासे समझनी चाहिए । वृद्धोंका मत है कि जिन कल्पो महाराज, गर्भके प्रथम दिनसे ही गर्भवती स्त्रीके हाथसे दिया जानेवाला आहार सर्वथा नहीं लेते हैं ।

‘कालमासिनी’ पदसे यह सूचित किया है कि -छठे महीनेके बाद गर्भ भारीहो जाता है, इस कारण हिलने डोलनेसे गर्भवती को तथा उसके गर्भको पीडा अवश्यहोती है ॥ ४० ॥ ४१॥

ये तात्पर्य नीकणे छे के जे आपनारी जेडी डोय अने जिला थधने न आहार आपे या जिला डोय परन्तु जेसोने न आहार आपे तो जे रीते आपवामां आपतो आहार अकल्प्य अने छे जेतुं तात्पर्य जे थयुं के जेवी गर्भवती स्त्री जे जेडी-जेडी न आहार आपे या जिला डोय तो जिला-जिला आहार आपे तो साधुने माटे ते अकल्प्य नहीं, परन्तु कल्पनीय छे. आ बात स्थविर-कल्पनी अपेक्षाजे समझवी जेधजे. वृद्धोने मत जेवे छे के जिनकल्पी महाराज गर्भना प्रथम दिवसथी न गर्भवती स्त्रीना हाथथी आपवामां आपतो आहार सर्वथा देता नहीं.

कालमासिनी जे शष्ठथी सूचित करवामां आव्युं छे के छडा भडिना पञ्ची गर्भ लारे थध जय छे तेथी हीद-याद करवाथी गर्भवती तथा जेना गर्भने अवश्य पीडा थाय छे. (४०-४१)

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

सान्त्वयार्थः—दारगं = लडके कुमारियं = लडकी वा = अथवा नपुंसक किसीभी बच्चेको थणगं = स्तन्य-दूध पिज्जमाणी = पिलाती हुई तं = उस बच्चेको रोयंतं = रोते हुएको निक्खवित्तु = भूमि आदि पर रखकर (यदि) पाण-भोयणं = आहार-पानी आहरे = देवे, तं तु = तो वह भत्तपाणं = आहार-पानी संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पनीय भवे = होता है, (अतः) दितियं = देनेवाली से पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥४२-४३॥

टीकी—‘थणगं’ इत्यादि । दारकं = शिशुम्, कुमारिकां = बालिकाम्, ‘वा’ शब्दात्संगृहीतं नपुंसकञ्च, स्तन्यं = दुग्धं पाययन्ती, तं = पिबन्तं शिशुप्रभृतिकं रुदन्तं = क्रन्दन्तं निक्षिप्य = भूम्यादौ निधाय पान-भोजनमाहरेत् तदा तद्भक्त-पानं तु संयतानाम-कल्पिकं(तं) भवेत्, अतो ‘ददतीं प्रत्याचक्षीत—तादृशं मे न कल्पत इति ।

अत्रायमभिसन्धिः—यदि दारकादिः केवलं स्तन्यपानोपजीवी स्तन्यपानान्नभोजनो-भयोपजीवी वा भवेत् तं पाययन्ती स्तन्यपानं सन्त्यज्य पानभोजनं दद्यात्, अथवा यः शिशुः स्तन्यमपिबन्ङ्के समीपे वा तिष्ठेत्तं परित्यज्य दातुं पृथग्भूतायां तस्यां यदि स रुद्यात् तदापि तथा दीयमानमाहारादिकं संयतानामकल्पिक(त)म्, शिश्वाद्याहारान्तराय-कर्कशहस्त-भूमि-मञ्चकादिस्पर्शजनितपीडा-मांसाशि-माज्जर-कुक्कुरादिजन्तुकृतोपघातादि-

‘थणगं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि ।

स्त्री यदि, लडके, लडकी या नपुंसकको दूध पिलाती हो और उस पीनेवाले रोते हुए बालक आदिको, जमीन पर रख कर, पान भोजन देवे तो साधु कहे कि ‘ऐसा आहार, मुझे नहीं कल्पता है, ‘यहाँ तात्पर्य यह है कि, यदि बालक दूधमुहाँ हो अथवा दूध भी पीता हो और अन्न भी खाता हो, उस बालकको स्तनपान छोड़ा कर आहार पानी देवे, या कोई बालक, स्तन पान न करता हुआ भी गोदमें या समीपमें बैठा हो, उसे छोड़कर स्त्री आहार देनेके लिये जावे और बालक रोने लगे तो भी उसके द्वारा दिया जानेवाला आहार, संयमियोंको ग्राह्य

थणगं० इत्यादि, तं भवे० इत्यादि.

जे स्त्री पुत्र पुत्री के नपुंसकने दूध पाती होय अने जे पीनारा रीता आणक आदिने जमीन पर भूझीने भोजन-पान आपे तो साधु कहे के ‘अवे। आहार भने कल्पतो नथी।’ अही तात्पर्य अे छे के जे आणक दूधमुअ (दूध पर ज) होय अथवा दूध पीतुं होय तथा अन्न पणु आतुं होय, तो अेवा आणकने स्तनपान छोडापीने आहार पाणी आपे; अथवा केअ आणक स्तनपान न करतुं होय पणु आणामां या समीपमां जेकुं होय, तेने छोडीने स्त्री आहार आपवाने माटे अथ अने आणक रीवा लागे तोपणु तेणु आपेते। आहार संयमी-

सम्भवात्, दृश्यते हि कचन निर्जनादौ स्थाने शृगालादयो बालानपहृत्य पलायन्त इति ॥४२॥४३॥

मूलम्-<sup>१</sup>जं भवे<sup>६</sup> भक्तपाणं<sup>२</sup> त,<sup>३</sup> कप्पाकप्पमि<sup>४</sup> संकियं<sup>५</sup> ।

दितियं<sup>७</sup> पडियाइक्खे,<sup>८</sup> न मे कप्पइ<sup>११</sup> तारिसं<sup>१०</sup> ॥४४॥<sup>१२</sup> ९

छाया-यद्भवेदक्त-पानन्तु, कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तदृशम् ॥४४॥

सान्वयार्थः-जं = जो भक्तपाणं तु = अशनादि कप्पाकप्पमि = कल्प्य अकल्प्यके विषयमें संकियं = शङ्कित-शङ्कास्पद भवे = हो तो दितियं = देनेवालीसे पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥४४॥

टीका-‘जं भवे०’ इत्यादि । यद्भक्तपानं तु कल्प्याकल्प्ये = कल्प्यं च अकल्प्य-ठचेति समाहारद्वन्द्वे कल्प्याकल्प्यं तस्मिन्, भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततश्च कल्प्यत्वेऽकल्प्यत्वे चेत्यर्थः, कल्प्यत्वमुद्रमादिदोषरहितत्वमकल्प्यत्वं च तत्सहितत्वम्, तत्र शङ्कितं = शङ्का(संशय)युक्तत्वम् ‘इदं भक्तपानं कल्प्यमकल्प्यं वे’ -त्येवंबिधसंशयविषयीभूतमित्यर्थः, भवेत् तत् ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पत इति ॥४४॥

नहीं है, क्योंकि इससे उसके बालकके आहारमें अन्तराय पड़ती है, मातृ-विरहजन्य दुःख होता है, कठोरहाथ, भूमि, खाट आदिके स्पर्शसे पीड़ा होती है और मांसभोजी बिलाव कुत्ते आदि जानवरोंके द्वारा उपघात होनेका सम्भव रहता है । कहीं२ (पहाडो प्रदेशोंमें) शृगार (गीदड़), बालकोंको उठा कर ले भागते हैं ऐसा देखा जाता है ॥४२ ॥४३॥

‘जं भवे’ इत्यादि । ‘यह भक्त-पान कल्प्य है या अकल्प्य’ इस प्रकार जिसमें सन्देह हो वह भक्त-पान देनेवाली से साधु कहे कि ऐसा आहार मुझे ग्राह्य नहीं है ॥ ४४

એને માટે આહ્ય નથી, કારણ કે તેથી તેના બાળકનાં આહારમાં અંતરાય પડે છે, માતૃ-વિરહજન્ય દુઃખ થાય છે, કઠોર હાથ, ભૂમિ, ખાટલા આદિના સ્પર્શથી પીડા થાય છે અને માંસભોજી ખીલાડાં કૃતરાં આદિ જનવરો દ્વારા ઉપઘાત થવાનો પણ સંભવ રહે છે. ક્યાંક ક્યાંક (પહાડી પ્રદેશોમાં) શિયાળ બાળકોને ઉઠાંચી જાય છે, એવું પણ જોવામાં આવે છે. (૪૨-૪૩)

जं भवे० इत्यादि. ‘आ लोचन-पान कल्प्य छे के अकल्प्य ?’ ऐ प्रकारने जेमां सन्देह उत्पन्न थाय ते लोचन-पान आपनारीने साधु कहे के एवो आहार मने ग्राह्य नथी. (४४)

‘दकवारेण०’ इत्यादि, तं च इत्यादि.

जन्थी लरेला वासज्जथी. धंटीना पउथी, भसालो वाटवाना पत्थर-शिलाथी जालेकथी,

१ ११ २ ३ ४  
मूलम्-दग्वारेण पिहियं, नीसाए पीढएण वा ।

५ ६ ७ ९ १० ८  
लोढेण वा विलेवेण 'सिलेसेण वि केणइ ॥४५॥

१२ १३ १५ १६ १४ १८ १७  
तं च उब्भिदिआ दिज्जा, समणट्टाए व दावए ।

१९ २० २३ २२ २४ २१  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥

छाया--दकवारेण पिहितं, निश्रया पीठकेन वा ।

लोष्टेन वाविलेपेन, श्लेषेण वा केनापि ॥४५॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दापयेत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत्, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

सान्त्वयार्थः--दग्वारेण=जलके भरे हुए घड़ेसे नीसाए=घंटोके पुडियेसे या पीसनेकी शिलासे वा=अथवा पीढएण=पीढेसे लोढेण=लोढेसे वा=अथवा विलेवेण=मिट्टी आदिके लेपसे वि=अथवा केणइ=दूसरे किसी प्रकारके सिलेसेण=मोम लाख आदि चिकने पदार्थसे पिहियं=आच्छादित या मुद्रित कियाहुआ अशनादिका बरतन हो, तं च=उसे यदि समणट्टाए=साधुके लिए उब्भिदिआ=उघाड़ (खोल) कर दिज्जा=खुद देवे वा=अथवा दावए=दूसरेसे दिलावे तो दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=ऐसा आहारादि मे=मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥४५-४६॥

टीका--'दग्वारेण०' 'तं च' इत्यादि । दकेति दकं=जलं (प्रोक्तं आत्रैर्भुवनममृतं जीवनीयं दकं च' इति हलायुधः,) वारयति=बहिर्निःसरणतो निरुणद्धीति दकवारः=जलसंभृत-कलशादिभाजनं तेन, निश्रया=घरट्टेन-पेषणचक्रेण शिलापट्टेन (पेषणार्थपाषाणेन) वा, पीठकेन=काष्ठनिर्मिताऽसनेन, लोष्टेन=शिलादिखण्डेन, विलेपेन=मृत्तिकादिलेपेन, केनापि श्लेषेण=सिक्थ-लाक्षादिना वा पिहितम्=आच्छादित मुद्रितं वा यदन्नादिभाजनमिति प्रसङ्गलभ्यं भवेत्, तच्च श्रमणार्थमुद्भिद्य=उद्धाटय (स्वयं) दद्यादापयेद्वा तदा गुरुतरवस्तूत्थापनक्लेशहिंसादिसम्भावनया ददतीं प्रत्याचक्षीतेत्यादि पूर्ववत् ॥४५ ॥४६॥

'दकवारेण०' इत्यादि, 'तं च' इत्यादि ।

जलसे भरेहुए बर्तनसे, चककी के पुडसे, (मलासा आदि पीसनेके वजनदार पत्थर) से ढके हुए, तथा मिट्टी आदिके लेपसे, अथवा अन्य किसीसे छांटे या लाखआदिसे मुद्रित किया हुवा अन्न-पान, साधु केलिये उघाड़कर स्वयं देवे या दूसरे से दिलावे तो क्लेश और हिंसाकी स

भसादी पाटवाना वजनदार पत्थरथी, ढांडेलुं तथा भाटी आदिना लेपथी अथवा अन्य ढाँध पदार्थथा छाँडेलुं के साथ आदिथी अंध डरेलुं वासाण साधुने भाटे उघाडीने अन्न-



२ ३ ५ ४ ६ ८ ७  
मूलम्-असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तथा ।

१ १२ १३ १४ ९ ११ १०  
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥४७॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भवे-भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे, न म कप्पइ तोरिसं ॥४८॥

छाया—अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

सान्त्वयार्थः—जं=जो असणं=ओदन आदि अशन पाणगं=दाख आदिका धोवन वावि=अथवा खाइमं=केला आदि खाद्य तथा=और साइमं=एलची लूंग आदि स्वाद्य इमं=यह 'दाणट्ठा' पथिकोंको देनेके लिए पगडं=उपकल्पितनिकाला हुआ है जो अपने या अपने कुटुम्बके लिए काममें नहीं लाया जावे ऐसा जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणिज्जा=किसीसे सुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाणं=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः) दितियं=देती हुईसे साधु पडिया-इक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥४७-४८॥

टीका—'असणं' इत्यादि, 'तं भवे' इत्यादि च । यत् अशनं=भोज्यमोदन-पूरि-कादिकं, पानकं=द्राक्षादिजलम्, अपि वा=अथवा खाद्यं=कदलीफलादिकं, स्वाद्यम्=एला-

म्भावनाके कारण देनेवालीको कहे कि ऐसाआहार हमें ग्राह्य नहीं है । तात्पर्य यह है कि, भारी वस्तुके उठानेमें स्व-पर-विराधना आदि दोषोंकी सम्भावना होनेसे यह निषेध किया गया है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

'असणं' इत्यादि, तथा 'तं भवे' इत्यादि ।

ओदन-आदि अशन, दाखका जल आदि पान, केला आदि खाद्य, लोंग, कपूर, इलायची,

पान पीते आपे या थील पासे अपावे तो क्लेश अने हिंसानी संभावनाथी आपनारीने साधु कहे के अवे। आहार अने आद्य नथी। तात्पर्य अे छे के लारे वस्तु उपाडवाभां स्वपर-विराधना आदि अनेक दोषोनी संभावना होवाथी अे निषेध करवाभां आंथे छे। (४५-४६)

असणं इत्यादि, तथा तं भवे' इत्यादि.

ओदन आदि अशन, द्राक्षना धोवणुतुं अण आदि पान, केलां आदि खाद्य, लवींग,

४४

लवङ्ग-कर्पूर-पूगीफलादिकम्, 'दानार्थं=देशान्तरादागतेन वणिगादिना साधुवादार्थं स्वकी-  
यप्रशंसानिमित्तं दातुम्, इदं प्रकृतं=नियतरूपेणोपकल्पितम्' इति जानीयात्=आमन्त्रणा-  
दिना अवगच्छेत्, शृणुयाद्वा=कुतश्चिदाकर्णयेद्वा तद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पकं भवेत्,  
अतस्तद्दतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पत इति ॥४७॥४८॥

२ ३ ५ ४ ६ ८ ७  
मूलम्-असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।

१ १२ १३ १४ ९ ११ १०  
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥४९॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५०॥

छाया- -अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयच्छृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥४९॥

तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५०॥

सान्वयार्थः-जं असणं पाणगं वावि खाइमं तहा साइमं=जो अशन पान खादिम  
स्वादिम इमं पुण्णट्ठा पगडं='यह करुणाबुद्धिसे दीन-हीन-जनोके लिए पुण्यार्थं निकाल  
रखा है' इस प्रकार जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसी दूसरेसे सुन लेवे  
तो तं=वह भत्तपाणं तु =आहार-पानी संजयाणं =साधुओंके लिए अकप्पियं =अकल्प-  
नीय भवे =होता है, (अतः) दितियं =देती हुईसे साधु पडियाइक्खे =कहे कि  
तारिसं =इस प्रकारका आहारादि मे =मुझे (लेना) न कप्पइ =नहीं कल्पता है ॥४९॥  
-५०॥

सुपारी आदि स्वाद्य, 'यह देशान्तरसे आये हुए वणिक् आदिने अपनी प्रशंसाके निमित्त  
देनेके लिये रक्खा है ।' ऐसा जो समझे या किसीसे सुने तो वह अशनादि, संयमियोंको कल्प  
नीय नहीं है, इसलिये ऐसा भक्त-पान आदि देने वाली से कहे कि यह मुझे नहीं कल्पता है  
॥ ४७ ॥ ४८ ॥

'असणं' इत्यादि, तथा 'तं भवे' इत्यादि ।

जो 'अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य दया-बुद्धिसे दीन हीन जनोको देनेके लिये है-अर्थात् पुण्या-

कपूर, धलायथी, सोपारी आदि स्वाद्य "आ देशान्तरथी आवेला वणिक् आदिसे पोतानी  
प्रशंसाने दीधे आपवाने माटे राजेल छे." अवेणं जे समजवामां के काठ पांसेथी सांल-  
णवामां आवे तो अे अशनादि संयमीओने माटे कल्पनीय नथी. तेथी अेवां लोअन-पान  
आदि आपनारीने साधु कडे के अे भने कल्पतां नथी. (४७-४८)

असणं० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि.

"आ अशन, पान, खाद्य, दया-बुद्धिथी दीन-हीन जनोने आपवाने माटे छे, अर्थात्

टीका— 'असणं०' इत्यादि, 'तं भवे' इत्यादि च । यदशनादिकं 'पुण्यार्थं=पुण्या-  
य=सुकृतायेदं दयाधिया, वनीय (प)क-श्रमणार्थोपकल्पितस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्वा दीने-  
भ्यो वितरणार्थमिदं प्रकृतम्=उपकल्पितम्-स्व-स्वपोष्यवर्गोभयोपभोग्यभिन्नतया स्था-  
पितमिति यावत् ' इति जानीयात् शृणुयाद्वा तद्भक्तपानमित्यादि पूर्ववत् । पूर्वगाथायां  
'दाण्डा' इत्यत्र दान-शब्देन स्वप्रशंसार्थं दानं गृह्यते, प्रकृते 'पुण्ड्रा' इत्यत्र पुण्य-शब्देन  
स्वप्रशंसाव्यतिरिक्तफलाभिसन्धानेन दानं गृह्यते, इति दानपुण्ययोर्भेदः । 'महाव्रतधारि-  
भ्य एव यद्दीयते तत्रैव पुण्यं न तु तदितरेभ्यः प्रदाने, तथा सति ही प्रत्युत पापकलापः  
समुत्पद्यते' इति केचिदाहुः, ('तेरहपंथी' शब्देन प्रसिद्धाः साधव आहुः,) तद् भ्रान्ति-  
विलसितम्, भगवता हि 'पुण्ड्रा पगडं' इत्यनेन 'पुण्यार्थमुपकल्पितं द्रव्यं साधुनामक-  
ल्प्य'-मिति बोधितं, तत्र महाव्रतधारकेतरेभ्यः प्रदातुमुपकल्पितस्य द्रव्यस्य तन्मते पुण्या-  
र्थत्वाभावेन 'पुण्ड्रा पगडं' इति वाक्यं निर्विषयतामापद्येत ।

र्थ बनाया गया है' ऐसा जाने या सुने तो वह संयमीके लिये ग्राह्यनहीं है, अत एव ऐसा आ-  
हार देनेवालीसे कहे कि—' यह भक्त-पान लेना मुझे नहींकल्पता है' । पहलो गाथामें आये हुए 'दा-  
ण्डा' पदके 'दान' शब्दसे 'अपनी प्रशंसाके लिये दिया जाने वाला दान अर्थ' ग्रहण किया है' कि-  
न्तु इस गाथामें 'पुण्ड्रा' के 'पुण्य' शब्दसे अपनी प्रशंसाके सिवाय अन्य किसी प्रयोजनसे दिया  
जानेवाला 'दान' अर्थ होता है— दान और पुण्यमें यही अन्तर है ।

'कोई-कोई कहते हैं कि—'महाव्रतधारी मुनियोंको जो दान दिया जाता है उसीमें पुण्य है  
— दूसरोंको देनेमें नहीं, दूसरोंको देनेसे उलटा पाप लगता है' । उनका यह कहना भ्रान्ति-मूलक  
है, क्योंकि, भगवान्ने 'पुण्ड्रा पगडं' इस कथनसे पुण्यके लिये निकाले हुए द्रव्यको साधुओंके

पुण्यार्थं अनाववाभां आण्यं छे." अणुं न्णुवामां या सांलगवामां आवे तो अणुं संयमीने  
भाटे आण्य नथी. तेथी करीने अणुं आहार आपनारीने साधुं कडे के-अणुं लोअन-पान  
लेवां भने कल्पतां तथी. पडेली गाथामां आवेला दाण्डा पदना दान शब्दथी 'पे तानी  
प्रशंसाने भाटे आपवामां आवतुं दान' अणुं अर्थ अणुं कर्था छे; पणुं आ गाथामां  
पुण्ड्रा माना पुण्य शब्दथी 'पेतानी प्रशंसा सिवायना अन्य कौं प्रयोजनथी आपवामां  
आपतुं दान' अणुं अर्थ थाय छे. दान अने पुण्यमां अणुं अंतर छे.

'कौं-कौं कडे छे के "महाव्रतधारी मुनियोने के दान आपवामां आवे छे तेमां  
पुण्य छे. भीअणुंने देवामां पुण्य नथी, भीअणुंने देवामां उलटुं पाप लागे छे." अणुं  
अणुं कडेणुं भ्रान्तिमूलक छे, कारणुं के भगवाने पुण्ड्रा पगडं अणुं कथन वडे पुण्यने भाटे  
कडेला द्रव्यने साधुअणुंने भाटे अकल्पनीय अताणुं छे. अणुं महाव्रतीअणुं सिवायना भीअ-  
णुंने आपवामां पुण्य न डोय तो भगवाने करेला अणुं निषेध केने दाणुं पडशे ?, तात्पर्य

१ तेरह संप्रदाय के साधु

२ तेरहपंथी संप्रदायना साधुअणुं ।

ननु पुण्यार्थोपकल्पितद्रव्यस्याकल्पत्वस्वीकारे साधोः शिष्टकुले भिक्षाग्रहणमेवाकल्प्यं स्यात्, पुण्यार्थमेव तेषां पाकप्रवृत्तेन तु क्षुद्रजन्तुवत्स्वोदरपूर्तिमात्रार्थमिति चेन्न तथाहि—यद्यपि शिष्टकुले सम्पादितमन्नं पुण्यार्थप्रकृतं तथापि यदन्येभ्यो दातुमेव निष्पादितं न तु स्वोपभोगार्थं तदेवान्नं 'पुण्यार्थप्रकृत'—शब्देनात्र गृह्यते, एतदेव देयमित्युच्यते । ईदृशस्यैव ग्रहणे प्रतिषेधः, आरम्भान्तरायादिदोषप्रसङ्गात् । यत्तु स्वस्य स्वपोष्यवर्गस्य चोपभोगार्थमुदारबुद्ध्या सम्पादितं, तच्चानियतदानार्थत्वाददेयमित्युच्यते । अस्य

वास्ते अकल्पनीय बताया है । यदि महात्रतियोंको छोड़कर अन्य किसीको देनेमें पुण्य न हो तो भगवान्का किया हुआ यह निषेध किस पर लागू पड़ेगा है तात्पर्य यह है कि पुण्यके लिये निकाले हुए द्रव्यको मुनियोंके लिये अकल्प्य बतानेसे यह सिद्ध होता है कि दूसरोंको दान देनेसे भी पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

शंका— यदि पुण्यार्थ निकाला हुआ द्रव्य, साधुओंको प्राह्य नहीं है तो शिष्टकुलमें साधु, कभी भिक्षा ग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि शिष्ट जन, पुण्यके लिये ही रसोईका आरम्भ करते हैं, साधारण (क्षुद्र) प्राणियोंकी तरह अपने ही उदरकी पूर्तिके लिये नहीं ।

समाधान— यद्यपि शिष्टकुलमें तैयार किया हुआ आहार पुण्यके लिये ही संपादित होता है तथापि जो आहार दूसरोंको ही देनेके लिये बनाया जाता है अपने उपभोगके लिये नहीं 'पुण्य द्वा पगडं' (पुण्यार्थ निष्पादित) और वही 'देय' कहलाता है । इस प्रकारके आहारको ही ग्रहण करनेका निषेध किया गया है । क्योंकि, उसे लेलेनेसे आरंभ और अन्तराय आदि दोषोंका प्रसंग आने का संभव होता है ।

जो आहार, अपने और अपने आश्रित जनोंके उपभोगके लिये उदार बुद्धिसे निष्पन्न किया जाता है, वह अनियत दानके लिये होनेसे 'अदेय' कहलाता है । इस अदेय आहारको ग्रहण

એ છે કે પુણ્યને માટે કાઢેલા દ્રવ્યને મુનિઓને માટે અકલ્પ્ય બતાવ્યું હોવાથી એમ સિદ્ધ થાય છે કે બીજાઓને દાન આપવાથી પણ પુણ્યની પ્રાપ્તિ થાય છે.

શંકા—જો પુણ્યાર્થ કાઢેલું દ્રવ્ય સાધુઓને માટે ગ્રાહ્ય ન હોય તો શિષ્ટ કુળમાં સાધુ કદાપિ ભિક્ષા ગ્રહણ કરી શકશે જ નહિ, કારણ કે શિષ્ટજન પુણ્યને માટે જ રસોઇનો આરંભ કરે છે. સાધારણ (ક્ષુદ્ર) પ્રાણીઓની પેઠે માત્ર પોતાનું જ ઉદર ભરવાને માટે નહિ.

સમાધાન—જો કે શિષ્ટ કુળમાં તૈયાર કરવામાં આવતો આહાર પુણ્યને માટેજ સંપાદિત હોય છે, તેપણ જો આહાર બીજાઓને માટે બનાવવામાં આવે છે,—પોતાના ઉપભોગને માટે નહિ, તે પુણ્યદ્વા પગડં (પુણ્યાર્થ નિષ્પાદિત) અને એજ 'દેય' કહેવાય છે. એ પ્રકારના આહારને પણ ગ્રહણ કરવાનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે; કારણ કે એ દેવાથી આરંભ અને અંતરાય આદિ દોષોનો પ્રસંગ ઉત્પન્ન થાય છે.

જો આહાર પોતાને માટે અને પોતાનાં આશ્રિત જનોના ઉપભોગને માટે ઉદાર-બુદ્ધિથી નિષ્પન્ન કરવામાં આવે છે તે અનિયત દાનને માટે હોવાથી 'અદેય' કહેવાય છે. એ

ग्रहणे साधोर्नारम्भ,दिदोषप्रसङ्गः, साध्वर्थपाकप्रवृत्तेरभावात् । किञ्च-शास्त्रे, शिष्टकुले क्षि-  
प्ताग्रहणस्य विधानान्न तथाविधाऽऽहारग्रहणे दोष इत्यलं पल्लवितेन ॥४९॥५०॥

मूलम्—असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

मूलम्—तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥५२॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छुणुयाद्वा, वनीय-(प)-कार्थं प्रकृतमिदम् ॥५१॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५२॥

सान्वयार्थः—जं असणं पाणगं वावि खाइमं तथा साइमं=जो अशन पान खादिम  
स्वादिमं इमं वणिमट्ठा पगडं=यह भिखारी और दरिद्रोंके लिए उपकल्पित है ऐसा जा-  
णेज्ज=ज्ञान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसी दूसरे से सुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं  
तु=आहार-पानी संजयाणं=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः)  
दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=  
मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥५१॥५२॥

टीका—‘असणं’ इत्यादि ‘तं भवे’ इत्यादि च । यद् अशनादिकं वनीय-(प)  
कार्थम्=वनीय(प)कः=याचकमात्रं, यद्वा सिद्धान्नमात्रोपजीवी, अथवा वनी=स्वकोयदुर-

करनेसे साधुको आरम्भ -आदि दोष नहीं लगते हैं, क्योंकि वह साधुके निमित्त नहीं बनाया  
जाता है, तथा शास्त्रमें, शिष्टकुलमें भिक्षा ग्रहण करनेका विधान है, इसलिये भी शिष्टकुलमें आहार  
ग्रहण करनेमें दोष नहीं आसकता, इतना ही समाधान काफी है ॥४९॥५०॥

‘असणं’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे’ इत्यादि ।

याचकमात्रको अथवा सिद्ध (तैयार) भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करनेवालेको वनीपक कहते  
हैं, ‘वनीपक पाठ पक्षमें—दाताके माननीय गुरु आदिमें भक्ति प्रकट करके लोजानेवाली भिक्षाकी

अद्वेय आहार अद्वेष्य करवाथी साधुने आरंभ-आदि दोषो लागत नथी, कारण के असाधुने  
भाटे अनाववाभां आवेले. छोटो नथी. तथा शास्त्रमां शिष्टकुलमां भिक्षा अद्वेष्य करवानुं  
विधान छे, तेथी पक्ष शिष्टकुलमां आहार अद्वेष्य करवाभां दोष लागी शकते नथी. अक्खुं  
न समाधान पुरतुं छे. (४९—५०)

असणं० इत्यादि तथा तं भवे० इत्यादि.

याचक-मात्रने अथवा सिद्ध (तैयार) भिक्षा लधने लवन (नर्वाहकरनाराने ‘वनीपक’  
कडे छे. वनीपक पाठथी पक्षमां-दाताना माननीय शुद्ध-आदिमां लक्षित प्रकट करीने दीवामा

वस्थाप्रदर्शनपुरःसरं प्रियाऽऽलापादिना लभ्यद्रव्यं, तां याति=प्राप्नोतीति वनीयः, स एव वनीयकः, 'वनीपके'तिपाठपक्षे तु तां पूर्वोक्तां वनीं पिबति=आस्वादयतीति, पाति=रक्षति वा वनीपः, स एव वनीपकः, अथवा वनुते=प्रायो दातुः सम्माननीयेष्वात्मनो भक्तिं प्रकटयन् याचत् इति वा, ('वनु याचने' अस्माद्धातोरौणादिक ईषकप्रत्ययः । यदिवा वं=सान्त्वनं-बुभुक्षाजनिततापोपशमनलक्षणं नयति=प्रापयतीति वनीः, यद्वा वन्यते=याचयत=सिद्ध्यते इतिवनी=भिक्षणीयद्रव्यम्, ('वनु याचने' अस्मादौणादिक इन् कृदिकारादिति ङीष्) तां पाति=उपकल्प्य रक्षतीति वनीपः=गृहस्थस्तं कायति=प्रार्थयते प्रियोक्त्यादि-नेति वनीपकस्तदर्थमिदं प्रकृतमित्यादि पूर्ववत् ॥५१॥५२॥

मूलम्-असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।

१ १२ १३ १४ १ ११ १०  
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥५३॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भव भत्त-पाणं त संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे न म कप्पइ तारिसं ॥५४॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

यज्जानीयाच्छ्रणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५४॥

सान्त्वयाथः—जं असणं पाणगं वावि खाइमं तथा साइमं=जो अशन पान खादिम स्यादिम इमं समणट्ठा पगडं=यह निर्ग्रन्थ शाक्य तापस गैरिक और आजीवक, इन पांच प्रकारके श्रमणोंके लिए उपकल्पित है, ऐसा जाणेज्ज=जान लेवे वा=अथवा सुणेज्जा=किसी दूसरेसे सुन लेवे तो तं=वह भत्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाणं=साधुओंके लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=होता है, (अतः) दितियं = देती हुईसे साधु पडियाइक्खे =

वनी कहते हैं, और ऐसी भिक्षा लेनेवाला 'वनीपक' कहलाता है, अथवा जो, भूखका तापमिटानेकर सान्त्वना प्रदान करे उसे वनी (भिक्षा देनेके लिये रखा हुआ अन्नादि) कहते हैं, उसको सुरक्षित रखनेवाला (गृहस्थ) से प्रार्थना करके भिक्षा प्राप्त करने वालेको 'वनीपक' कहते हैं । उस वनीपकके लिये बनाया हुआ देवे तो देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार मुझे कल्पता नहीं है ॥ ५१॥५२॥

आपत्ती लिक्षाने वनी कडे छे, अने अेवी लिक्षा लेनार वनीपक कडेवाय छे, अथवा जे भूभने ताप मिटावीने सांत्वना आपे तेन वनी (लिक्षा आपवाने रापेलां अन्नादि) कडे छे अने सुरक्षित राखनार ने प्रार्थना करीने लिक्षा प्राप्त करनारने वनीपक कडे छे. अे वनीपकने माटे जनावेलेो आहार आपे तो आपनारीने साधु कडे के अेवां आहार भने कल्पतो नथी (५१-५२)

कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कपड़ = नहीं कल्पता हूँ ॥५३॥५४॥

टीका—‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे’ इत्यादि । श्रमणाय=श्रमणाः लोक-प्रसिद्धयनुरोधतो निर्ग्रन्थ-शाक्य-गैरिका-ऽऽजीवकभेदेन पञ्चधा, तत्र निर्ग्रन्थाः = पञ्चम-हाव्रतधारिणः, शाक्याः = सौगताः, तापसाः = जटाधारिणः, गैरिकाः = रक्तवर्णधातुविशेषरञ्जितवस्त्रधारिणः, परिव्राजका इत्यर्थः, आजीवकाः = गोशालकमतानुयायिनस्तदर्थमिदं प्रकृतमित्यादि प्राग्वत् ॥५३॥५४॥

१ २ ३ ४  
मूलम्-उद्देशियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं ।

५ ६ ७ ८ ९  
अज्झोयरय पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥५५॥

छाया—औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म चाभ्याहृतम् ।

अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं विवर्जयेत् ॥५५॥

सान्वयार्थः—उद्देशियं = औद्देशिक-किसी एकको उद्देश करके बनाये हुए अशनादिको कीयगडं = खरीदे हुएको पूइकम्मं = आधाकर्मादिदोषसे दूषित ऐसे आहारसे मिले हुए को आहडं = सामने लाये हुए को पामिच्चं = उधार लाये हुए को च = और मीसजाए = अपने तथा साधुओंके लिए मिश्रित (भेला) करके बनाये हुए अशनादिको (साधु) विवज्जए = वरजे, अर्थात् ऐसा आहार हो तो नहीं लेवे ॥ ५५ ॥

टीका—‘उद्देशियं०’ इत्यादि । १-औद्देशिकम्=उद्देशनमुद्देशस्तेन कृत-मौद्देशिकम्

‘असणं०’ इत्यादि तथा ‘तं भवे०’ इत्यादि ।

लोकमें पाँच प्रकारके श्रमण होते हैं—(१) निर्ग्रन्थ (पंच-महाव्रतधारी), (२) सौगत (बुद्धके अनुयायी), (३) तापस (जटाधारी गैरिक (गेरुआ वस्त्र पहिनेवाले), (४) आजीवक (गोशालके मतानुयायी) । इनके लिये जो आहार बनाया गया हो वह, संयमियोंके लिये कल्प्य नहीं है, अत एव ऐसा आहार देनेवालीसे साधु कहे कि मुझे नहीं कल्पता है ॥५३॥५४॥

‘उद्देशियं०’ इत्यादि । [१]—किसीको उद्देश करके बनाया हुआ आहार, औद्देशिक कह-

असणं० इत्यादि तथा तं भवे० इत्यादि ।

दोषकां पांच प्रकारना श्रमणो ढोय छे. (१) निर्ग्रन्थ (पंचमहाव्रतधारी), (२) सौगत (बुद्धना अनुयायी), (३) तापस (जटाधारी), (४) गैरिक (गेरुआ वस्त्रो पहिनेवाला), (५) आजीवक (गोशाणना मतानुयायी). अने भाटे ने आहार अनाववाभां आये छे ते संयमीअने भाटे कल्प्य नथी, तेथी अवे आहार आपनारीने साधु कहे के ते अने कल्पता नथी. (५३-५४)

उद्देशियं० इत्यादि (१) कोअने उद्देशीने अनावेदो आहार औद्देशिक कहेवाय छे ते

तद्विनिधं—सामान्यौद्देशिकं विशेषौद्देशिकं च, तत्राद्यं—प्रतिदिनं स्वार्थं सम्पाद्यते तावत्सम्पादानप्रवृत्तौ सत्यां 'भिक्षादानं गृहस्थाऽऽचारः' इति बुद्ध्या 'यः कश्चित्साधुरागच्छेत्तस्मै देय' मिति सामान्यत उद्दिश्य समधिकं निष्पादिनम् । द्वितीयं—कमप्येकं साधुं व्यक्ति विशेषरूपेणोद्दिश्य सम्पादितम् । २—क्रीतकृतं=क्रयणं गृहस्थकर्त्तकं, तेन सम्पादितं क्रीतकृतं क्रीतमित्यर्थः तत्रिविधं—द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं, मिश्रक्रीतञ्च, तत्र द्रव्य-क्रीतं=स्वपरतदुभयभेदेन त्रिधा—स्वद्रव्यक्रीतं परद्रव्यक्रीतम्, उभयद्रव्यक्रीतञ्च । तदपि सचित्ताऽ-चित्त-मिश्रभेदात्प्रत्येकं त्रिविधं सचित्तस्वद्रव्यक्रीतम्, अचित्तस्वद्रव्यक्रीतं, मिश्रस्वद्रव्यक्रीतं, सचित्तपरद्रव्यक्रीतम्, अचित्तपरद्रव्यक्रीतं, मिश्रपरद्रव्यक्रीतं, सचित्तोभयद्रव्यक्रीतम्, अचित्तोभयद्रव्यक्रीतं, मिश्रोभयद्रव्यक्रीतञ्चेति । इत्थं द्रव्यक्रीतं नवधा भवति ।

भाव-क्रीतं द्विविधं—स्वभावक्रीतं परभावक्रीतञ्च; तत्र स्वभावक्रीतं—साधुं समुपागते तदर्थं गृहस्थेन स्वविद्या' मन्त्रादि दत्त्वा क्रीतम् । परभावक्रीतं—विद्यामन्त्रादि दत्त्वा

लाता है । वह दो प्रकारका है—१—सामान्य-औद्देशिक और २-विशेष-औद्देशिक । जितना अहार, प्रतिदिन गृहस्थ बनाता है उतना आहार बनाते समय ऐसा विचार करना कि 'भिक्षा देना गृहस्थका कर्त्तव्य है, इसलिये जो कोई साधु आवेगा उसे दे देंगे' ऐसा विचार कर बनाया हुआ आहार 'सामान्य-औद्देशिक' और किसी एक साधुके निमित्त बनाया हुआ आहार, 'विशेष-औद्देशिक' कहलाता है ।

[२] खरीद किया हुआ आहार क्रीतकृत कहलाता है । वह तीन प्रकारका है (१)—द्रव्यक्रीत (२)—भावक्रीत (३)—मिश्रक्रीत द्रव्यक्रीत तीन प्रकारका है—(१)—अपने द्रव्यसे खरीदा हुआ, (२)—पराये द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३)—दोनों द्रव्योंसे खरीदा हुआ, । ये तीनों भेद तीन प्रकारके हैं । स्वद्रव्य क्रीतके भेद—(१) अपने सचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ, (२)—अपने अचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३)—अपने सचित्त और अचित्त, दोनों प्रकारके द्रव्यसे खरीदा हुआ ।

परद्रव्यक्रीतके भेद—(१)—दूसरेके अचित्त द्रव्यसे खरीदा हुआ, (३) दूसरेके दोनों प्रका-

रके प्रकारके होय छे । (१) सामान्य औद्देशिक अने (२) विशेष-औद्देशिक । जेटलो आहार प्रतिदिन गृहस्थ अनावे छे जेटलो आहार अनावती वअते जेवो विचार करेवो के 'भिक्षा आपवी जे गृहस्थनु' कर्त्तव्य छे, तेथी जे केअ साधु आवेशे तो तेने आपीश.' जेवो विचार करीने अनावेवो आहार सामान्य-औद्देशिक, अने केअ जेअ साधुने निमित्ते अनावेवो आहार विशेष औद्देशिक कडेवाय छे ।

(२)-अरीद करेवो आहार क्रीतकृत कडेवाय छे । ते त्रय प्रकारने छे—(१) द्रव्यक्रीत, (२) भावक्रीत, (३) मिश्रक्रीत, द्रव्यक्रीत त्रय प्रकारने छे—(१) पोताना द्रव्यथी अरीदेवो, (२) पराया द्रव्यथी अरीदेवो, (३) जेअ द्रव्यथी अरीदेवो । जे त्रये लेअ त्रय-त्रय प्रकारने छे । स्वद्रव्यक्रीतना लेअ—(१) पोताना सचित्त द्रव्यथी अरीदेवो, (२) पोताना अचित्त द्रव्यथी अरीदेवो, (३) पोताना सचित्त अने अचित्त जेअ प्रकारना द्रव्यथी अरीदेवो ।

१ विद्या-ससाधना रोहिणी प्रज्ञप्त्यादिरूपा, मन्त्रः-असाधनो वशीकरणादिः ।



साधुकृते परेण क्रीतमुपलभ्यान्येन गृहस्थेन दीयमानं तदनेकविधं स्वयमूहम् ।

मिश्र-(द्रव्य-भावरूप)-क्रीतस्य च नव भङ्गाः, यथा—

- १ स्वकीयेन द्रव्येण स्वकीयेन भावेन ।
- २—स्वकीयेन द्रव्येण परकीयेण भावेन ।
- ३—परकीयेण द्रव्येण स्वकीयेन भावेन ।
- ४—परकीयेण द्रव्येण परकीयेण भावेन ।

रके द्रव्यसे स्वरीदा हुआ ।

उभयक्रीतके भेद-(१)-दोनोंके सचित्त द्रव्यसे स्वरीदा हुआ (२) दोनोंके अचित्त द्रव्यसे स्वरीदा हुआ (३) दोनोंके सचित्त और अचित्त द्रव्यसे स्वरीदा हुआ । ये सब द्रव्यक्रीत हैं ।

भाव-क्रीत, दो-प्रकारका है-(१)-स्व-भावक्रीत, (२)-पर-भावक्रीत । साधुके आने पर, साधुके लिये, अपनी विद्या या अपना मन्त्र दे कर, गृहस्थद्वारा स्वरीदा हुआ आहार स्व-भाव-क्रीत है, दूसरेने विद्या-मन्त्र देकर, साधुके लिये आहार आदि स्वरीदा हो और साधुके आने पर उस आहारको दूसरा लेलेवे तो उसे परभाव-क्रीत कहते हैं, वह अनेक प्रकारका है सो स्वयं समझ लेना चाहिये ।

मिश्र-(द्रव्य-भावरूप)-क्रीतके नौ भंग होते हैं—

- १-अपने द्रव्यसे अपने भावसे ।
- २-अपने द्रव्यसे परके भावसे ।
- ३-परके द्रव्यसे अपने भावसे ।
- ४-परके द्रव्यसे परके भावसे ।

परद्रव्यक्रीतना लेह-(१) पीजना सचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (२) पीजना अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (३) पीजना भेड प्रकारना द्रव्यथी भरीहेलो.

उभयक्रीतना लेह-(१) भेडना सचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (२) भेडना अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो, (३) भेडना सचित्त अने अचित्त द्रव्यथी भरीहेलो. ओ भधा द्रव्यक्रीत छे.

भावक्रीत भे प्रकारने छे. (१) स्व-भावक्रीत, (२) पर-भावक्रीत, साधु आवे त्यारे साधुने भाटे पोतानी विद्या या पेतानो मंत्र आपीने गृहस्थद्वारा भरीहेलो आहार अने स्व-भावक्रीत छे. पीजने विद्या-मंत्र आपीने साधुने भाटे आहारादि भरीहेलां डोय अने साधु आवे त्यारे अने आहारने पीजे लछ ले तो ते परभावक्रीत कडेवाय छे. ते अनेक प्रकारने डोय छे ते पोतानी भेजे समल लेवुं.

मिश्र (द्रव्य-भावरूप) क्रीतना नव लांगा थाय छे.

१ पोतानावद्रव्यथी पोताना भावथी.

२ पोतानाद्रव्यथी परना भावथी.

३ परना द्रव्यथी पोताना भावथी.

४५

૫—સ્વકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાં પરકીયેણ દ્રવ્યેણ ।

૬—સ્વકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાં પરકીયેણ ભાવેન ।

૭—પરકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાં સ્વકીયેન દ્રવ્યેણ ।

૮—પરકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાં સ્વકીયેન ભાવેન ।

૯—સ્વકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાં પરકીય-દ્રવ્ય-ભાવાભ્યાંચ ક્રીતમ્ , ઇતિ ।

एष च दोष उद्गमदोषान्तर्गतत्वेन गृहस्थोत्थितः, उक्तञ्च—

“सोलस उगम-दोसे, गिहिणो उ समुद्विष्ट वियाणाहि ।

ऊप्पायणा य दोसे, साहूओ समुद्विष्ट जाण ॥ १ ॥ इति’

૩—પૂતિકર્મ=પૂતેઃ=અપવિત્રસ્ય કર્મ=મિલનરૂપં પૂતિકર્મ લક્ષણયા તેન યુક્તં પૂતિ-કર્મ । પૂતિકરણં દ્રવ્યભાવભેદાદ્દ્વીપ્રકારકમ્ તત્ર—

દ્રવ્યતો યથા-શુચિદ્રવ્યેऽપવિત્ર-સમ્મેલનં, યથા પેય-પયઃપરિપૂરિતપાત્રેऽલ્પીયાનપિ સુરાસંસર્ગઃ, યદ્વા પાયસાદિપવિત્રભોક્તવ્યપદાર્થે ક્ષતાદિક્ષરદ્રક્ત-પૂયાદિવિન્દુમાત્રસ્યાપિ મિશ્રણમ્ ।

૫—અપને દ્રવ્ય-ભાવસે પરકે દ્રવ્યસે ।

૬—અપને દ્રવ્ય-ભાવસે પરકે ભાવસે ।

૭—પરકે દ્રવ્ય-ભાવસે અપને દ્રવ્યસે ।

૮—પરકે દ્રવ્ય-ભાવસે અપને ભાવસે ।

૯—અપને દ્રવ્ય-ભાવસે ઓર પરકે દ્રવ્ય-ભાવસે સ્વરીદા હુઆ ।

यह क्रीतकृत दोष, उद्गमदोषोंके अन्तर्गत है, इसलिये गृहस्थके द्वारा लगता है । कहा भी है—

“सोलह उद्गम दोष, गृहस्थके द्वारा लगते हैं और उत्पादना दोष, साधु द्वारा लगते हैं ।

[૩] પૂતિકર્મ—પવિત્ર વસ્તુકે મિલ જાનેકો પૂતિકર્મ કહતે હૈં, યહ દો પ્રકારકા હૈ—(૧)—

૪ પરના દ્રવ્યથી પરના ભાવથી.

૫ પોતાના દ્રવ્ય-ભાવથી પરના દ્રવ્યથી.

૬ પોતાના દ્રવ્ય-ભાવથી પરના ભાવથી.

૭ પરના દ્રવ્ય-ભાવથી પોતાના દ્રવ્યથી.

૮ પરના દ્રવ્ય-ભાવથી પોતાના ભાવથી.

૯ પોતાના દ્રવ્ય-ભાવથી અને પરના દ્રવ્ય ભાવથી ખરીદેલો.

એ ક્રીતકૃત દોષની અંદર રહેલો છે, તેથી કરીને ગૃહસ્થની દ્વારા લાગે છે. કહ્યું છે  
૩—“સોળ ઉદ્ગમદોષ ગૃહસ્થદ્વારા લાગે છે અને ઉત્પાદનાદોષ સાધુદ્વારા લાગે છે.”

(૩) પૂતિકર્મ—પવિત્ર વસ્તુમાં અપવિત્ર વસ્તુ મળી બંધ તેને પૂતિકર્મ કહે છે. એ આ પ્રકારનું છે. (૧) દ્રવ્ય-પૂતિકર્મ અને (૨) ભાવ-પૂતિકર્મ. (૧) પવિત્ર દ્રવ્યમાં અપવિત્ર

भावतः—विशुद्ध आहारादावाधाकर्मादिदोषदूषितान्नादेः सिक्थमात्रेणापि मेलनम् तदक्षणेन च साधूनां चारित्रमालिन्यं भवतीति भावपूतिरभिधीयते ।

दोषोऽयमाधाकर्मादिदोषदूषितान्नादिसंसृष्टहस्तभाजनादिनिमित्तेनापि सम्भवति ।

४-आहतं=साधुनिमित्तं गृहादितोऽभिमुखमानीतम् । ५-‘अज्ज्ञोयरय’ इति लुप्तवि-  
भक्तिकं पदम् ‘अध्यवपूरक’ मिति तच्छाया, स्वार्थं पाकक्रियायां समारब्धायां ग्रामे साधु-  
समागमनं निश्चय्य तदर्थमधिकनिक्षेपणेन सम्पादितमिति तदर्थः । इदमत्र हृदयम्—यद्ये-

द्रव्य-पूतिकर्म और (२) भाव-पूतिकर्म । (१)-पवित्र द्रव्यमें अपवित्र द्रव्य मिलाना द्रव्य-पूतिकर्म है, जैसे पीने योग्य दूधसे भरे हुए वर्तनमें थोड़ीसी भी मदिराका मिलजाना, अथवा खाने योग्य खीर आदिमें रक्त पीप आदि अपवित्र पदार्थका मिल जाना ।

विशुद्ध आहार आदिमें आधाकर्मी आदि दोषोंसे दूषित अन्नका एक भी सीध (कण) मिल जाना, भाव-पूतिकर्म है । ऐसा आहार लेनेसे मुनियोंके चारित्रमें मलिनता आजाती है, इस कारण इसे भावपूति कहते हैं ।

आधाकर्मी दोषसे दूषित अन्न आदि से भरे हुए हाँथ या बर्तन के निमित्तसे भी यह दोष लग जाता है ।

(४)-आहत-साधु के लिये साधुके सामने लाया हुआ आहार आदि अभ्याहत कहलाता है, ऐसा आहार लेना अभ्याहत-दोष-दूषित आहार है ।

[५] अध्यवपूरक-अपने लिए भोजन बनाना प्रारम्भ किया हो उस समय, ‘गाँवमें साधु पधारे हैं’ यह सुनकर और अधिक मिला कर बनाया हुआ आहार अध्यवपूरक कहलाता है, तात्पर्य यह कि यदि अन्यलिङ्गियोंके निमित्त अधिक आहार मिला कर बनाया हो तो उन्हें दे

द्रव्य भेगवतुं अे द्रव्य-पूतिकर्मं अे, नेमके पीवा योग्य दूधथी लरेला वासलुमां थोडीक मदिरानुं मणी नवुं, अथवा पीवा योग्य भीर आदिमां लोडी पड् आदि अपवित्र पदार्थानुं पडी नवुं (२) विशुद्ध आहारादि आधाकर्मी आदि दोषोथी दूषित अन्नने अेक पलु कलु मणी नवे अे लावपूति कर्म अे अेवा आहार लेवाथी मुनियेना चारित्रमां मलिनता आवी नय अे. तेथी तेने लावपूति कडे अे.

आधाकर्मी दोषोथी दूषित अन्नादिथी लरेला हाथ या वासलुना निमित्तथी पलु अे दोष लागी नय अे.

(४) आहत-साधुने माटे साधुनी सामे लावेले आहार आदि अभ्याहत कडेवाय अे. अेवा आहार अभ्याहत-दोष-दूषित आहार अे,

(५) अध्यवपूरक-पोताने माटे लोचन अनाववाने प्रारंभ कथो लोय, ते समये ‘गावमां साधु पधार्था अे’ अेम सालणीने णीणुं वधारे भेगवीने अनावलेला आहार अध्यवपूरक कडेवाय अे. तात्पर्य अे अे के अे अन्यलिङ्गीअे (अन्यधर्मीअे) ने निमित्ते वधारे

वमन्यलिङ्गनिमित्तमधिकं पूरितं, तत्र तद्दानानन्तरमवशिष्टमन्नादिकं साधुभिर्ग्राह्यं, तत्रान्त-  
रायदोषानवतारादिति । ६-प्रामित्यं=साधुनिमित्तमुद्धाररूपेण कुतश्चिदानीय दीयमानम् ।  
७-मिश्रजातं=मिश्रेण मिश्राभावेन 'पूर्वत एव दातु-भिक्षा-चरोभयानुसन्धानेनेत्यर्थः जातं  
=निष्पन्नम् तद्द्विविधं सामान्यमिश्रजातं विशेषमिश्रजातं चेति, तत्र-सामान्यमिश्रजातं=  
सामान्यरूपेण स्वपोष्यवर्गार्थं गृहस्थागृहस्थसाधु-पाखण्डिप्रभृतिभिक्षाचरार्थञ्चैकत्र रन्धि-  
तम्, विशेषमिश्रजातं यद्दातुनिमित्तं केवलं साधुनिमित्तञ्च सहैव निष्पन्नमन्नादिकम्,  
तद् विवर्जयेत्=परित्यजेत् न गृह्णीयादित्यर्थः, साधुरिति शेषः । औद्देशिका-अध्यवपूरक-  
मिश्राजातेषु परस्परमेष विशेषः-औद्देशिकं-पाकप्रवृत्त्यनन्तरं साध्वागमनात्प्रागेकमेव साधुं

देनेके बाद बचा हुआ आहार साधुओंको ग्राह्य है, क्योंकि वहाँ अन्तराय-दोष नहीं लगता ।

(६) प्रामित्य-साधुके निमित्त कहींसे उधार लेकर दिया जानेवाला आहार, प्रामित्य कहलाता है ।

[७] मिश्रजात-पहलेसे ही दाता और भिक्षु दोनों के लिये बनाया हुआ आहार मिश्र-जात है ।

मिश्रजातके दो भेद हैं-(१)-सामान्य मिश्रजात और (२)-विशेष मिश्रजात । (१)-साधारण तौर पर अपने पोष्यवर्गके लिये तथा गृहस्थ, अगृहस्थ, साधु, पाखण्डी आदिके लिये मिलाकर रांधा हुआ आहार 'सामान्य मिश्रजात' कहलाता है । (२)-जो आहार आदि अपने लिये और साधुके लिये मिलाकर बनाया जाय उसे 'विशेषमिश्रजात' कहते हैं । ऊपर कहे हुए सब प्रकारके आहारका अनगार को परिहार करना चाहिये ।

औद्देशिक, अध्यवपूरक और मिश्रजात दोषोंमें यह भेद है-भोजन बनानेमें प्रवृत्त होनेके पश्चात् और साधुके आनेसे पहले, किसी भी एक साधुके लिये अथवा अमुक एक साधुके लिये आहार भेजनेके अनायासे होय तो तेने आपी दीया पछी वधेवो आहार साधुकोने माटे ग्राह्य अने छे, कारण के तेमां अन्तराय दोष लागतो नथी।

(६) प्रामित्य-साधुने निमित्त कहींसे उधार लावने आषवामां आवेवो आहार प्रामित्य कहेवाय छे।

(७) मिश्रजात-पहलेमां न दाता अने भिक्षु अनेने माटे अनावेवो आहार मिश्रजात छे। मिश्रजातना अे लेह छे। (१) सामान्य-मिश्रजात (२) विशेष-मिश्रजात। (१) साधारण रीते पोताना पोष्यवर्गने माटे तथा गृहस्थ, अगृहस्थ, साधु पाखण्डी आदिने माटे अेकठो करीने रांधेवो आहार 'सामान्य-मिश्रजात' कहेवाय छे। (२) अे आहार आदि पोताने माटे अने साधुने माटे अेकठो करीने अनाववामां आवे तेने विशेष मिश्रजात कहे छे। उपर कहेला अथा प्रकारना आहारने अणुगारे परिहार करवो अेधये।

औद्देशिक, अध्यवपूरक अने मिश्रजात दोषोमां आ लेह छे-लोअन अनाववामां प्रवृत्त थया पछी अने साधु आया पहिलां, केअ पणु अेक साधुने माटे अथवा अमुक अेक

१ पूर्वतः=पाकार्थं प्रवृत्तेः प्रागेव २ इतर भिक्षाचरव्यतिरेकेण

सामान्यरूपेण विशेषरूपेण बोद्दिश्य सम्पादिते सम्भवति । अध्यवपूरकं=साधुसमागमश्रवणसमनन्तरमधिकनिक्षेपेण जायते । मिश्रजातं-पाकप्रवृत्तिसमय एव गृहस्थ-भिक्षाचरयोः कृते संमिश्रितेऽन्नादौ समुत्पद्यते ॥ ५५ ॥

७ ५ ६ ८ ९ २ ३ ४  
मूलम्-उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं ? ।

९ ११ १२ १३ १०  
सुच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहिज्ज संजओ ॥५६॥

छाया उद्गमं तस्य च पृच्छेत्कस्यार्थं केन वा कृतम् ? ।

श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात्संयतः ॥५६॥

सान्वयार्थः-से=उस आहारादिकी उग्गमं=उत्पत्ति पुच्छिज्जा=पूछे कि-(यह अशनादि) कस्सट्ठा=किसके लिए वा=और केण=किसने कडं=बनाया है । फिर सुच्चा=गृहस्थ के मुख से अशनादिकी उत्पत्ति सुनकर (यदि वह) निस्संकियं=औद्देशिक आदि शङ्का-रहित य=और सुद्धं=निर्दोष हो तो संजए=साधु पडिगाहिज्ज=ग्रहण कर लेवे ॥५६॥

टीका--'उग्गमं' इत्यादि । कस्यार्थं=किन्निमित्तम्, केन वा कर्त्ता कृतं=निष्पादितम्, अन्नादौ 'विशुद्धमविशुद्धं वे' ति संशये तन्निराकरणाय तस्य संशयितस्यान्नादेः उद्गमम्=उद्गमनमुद्गमस्तम् उत्पत्तिमित्यर्थः, पृच्छेत्=प्रतिवचनेन ज्ञातुमिच्छेत्, श्रुत्वा 'प्रतिवचन' मितिशेषः संयतः=शङ्किताऽऽहारग्रहणभीरुः साधुः निःशङ्कितं=दोषशङ्कावर्जितम् अत एव शुद्धं=निरवद्यं प्रतिगृह्णीयात्-निरवद्यत्वेन निश्चये सतीति भावः ॥ ५६ ॥

बनाये हुए आहारमें औद्देशिक दोष होता है । आहार बनाते समय, साधुका आगमन सुन कर अधनमें अधिक ऊर (डाल) कर बनानेसे अध्यवपूरक दोष होता है भोजन बनाते समय, गृहस्थ और भिक्षु दोनोंके लिये भोजन बनानेसे मिश्रजात दोष लगता है ॥५५॥

'उग्गमं०' इत्यादि । 'आहार अशुद्ध है' इस प्रकारका सन्देह होने पर साधु, ऐसा पूछ लेवे कि यह आहार, किसके लिये बनाया गया है और किसने बनाया है ?, इसका उत्तर सुनकर निरवद्यताका निश्चय करके निः शङ्कित अत एव निरवद्य आहार हो तो साधु, ग्रहण करें ॥५६॥

साधुने भाटे अनावेला आहारमां औद्देशिक दोष लागे छे. आहार अनावती वपते साधुनुं आगमन सांलणीने आंध्रुमां वधारे ओरी देवाथी अध्यवपूरक दोष लागे छे. लोअन अनावती वपते गृहस्थ अने भिक्षु अेठेने भाटे लोअन अनाववाथी मिश्रजात दोष लागे छे. (५५)

उग्गमं० इत्यादि. 'आहार अशुद्ध छे के विशुद्ध छे' अे प्रकारने स'दंड पडतां साधु अेणुं पूछी ले के आहार केने भाटे अनावेलां छे अने केणु अनावेलां छे ?, अेने उत्तर सांलणीने निरवद्यताने निश्चय करीने निःशङ्कित, अेठेले निरवद्य आहार डोय तो साधु अडणु करे. (५६)

१ २ ४ ३ ५ ७ ६  
मूलम्-असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।

८ १३ १२ ९ १० ११  
पुष्फसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥५७॥

१४ १९ १५ १६ १७ १८  
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२० २१ २४ २३ २५ २२  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥

छाया-- अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा

पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिक (त) म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥

सान्वयार्थः—असणं पाणगं वावि खाइमं तहा साइमं=अशन पान खादिम तथा स्वादिम (यदि) पुष्फेसु=सचित्त फूलों से बीएसु=शालि आदि बीजोंसे वा=अथवा हरिएसु=हरित कायसे उम्मीसं=मिश्रित होज्ज=हो तो तं=वह भत्तपाणं तु=अशनादि संजयाणं=साधुओं के लिए अकप्पियं=अकल्पनीय भवे=है, (अतः) दितियं=देती हुईसे साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=मुझे (लेना) न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥५७॥-५८॥

टीका—'असणं०' इत्यादि, 'तं भवे०' इत्यादि च । यदशनादिकं सचित्त-पुष्प-बीज-हरितकायैरुन्मिश्रं=संयुक्तं भवेत्तदकल्प्यमिति वाक्यार्थः । सूत्रे 'पुष्फेसु' इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी ॥५७॥५८॥

१ २ ४ ३ ५ ७ ६  
मूलम्-असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।

८ १२ ११ ९ १०  
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिगपणगेसु वा ॥५९॥

१३ १८ १४ १५ १६ १७  
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

१९ २० २३ २२ २४ २१  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥

'असणं०' इत्यादि, तथा 'तं भवे०' इत्यादि । जो अशन पान आदि, सचित्त पुष्प, सचित्त बीज और हरितकायसे युक्त हो वह, संयमीके लिये कल्पनीय नहीं है, अतः ऐसा आहार देनेवाली से साधु कहे कि—ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥५७॥५८॥

असणं० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि. ७ अशनपान आदि, सचित्त पुष्प. सचित्त बीज अने हरितकाय (वनस्पति) थी युक्त होय ते संयमीने माटे कल्पनीय नहीं, अटले अवे आहार आपनारीने साधु कहे के—अवे आहार अने कल्पते नहीं. (५७-५८)

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु चा ॥५९॥

तद्भवेद्भक्त-पानं तु, संयतानामकल्पिक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥

सान्त्वयार्थः—असणं पाणगं वापि खाइमं तहा साइमं = जो अशनादि चार प्रकारका आहार (यदि) उदगम्भि = सचित्त जलके ऊपर वा = अथवा उत्तिंगपणगेषु = कीड़ियोंके दरके ऊपर या लीलन-फूलन पर निक्खित्तं = रखा हुआ होज्ज = हो तं = वह भक्तपाणं तु = अशनादि संजयाणं = साधुओंके लिए अकप्पियं = अकल्पनीय भवे = है (अतः) दितियं देती हुई से साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥५९॥६०॥

टीका—‘असणं०’ इत्यादि, तं भवे०’ इत्यादि च । यदशनादिकमुदके = सचित्त-जलोपरि, उत्तिङ्गपनकादिषु = उत्तिङ्गाः = भूमौ वर्तुलविवरविधायिनो गर्दभमुखाऽऽकृतयः क्षुद्रकीटविशेषाः, कीटिकानगरादयो वा, पनकः = अङ्कुरितोऽनङ्कुरितो वा पञ्चवर्णानन्तकायवनस्पतिविशेषः, तत्र निक्षिप्तं = स्थापितं भवेत्, तद्भक्त-पानं संयतानामकल्पिक (त)-मित्यादि पूर्ववत् ॥५९॥६०॥

१ २ ४ ३ ५ ७ ६  
मूलम्—असणं पाणगं वापि, खाइमं साइमं तहा ।

८ १० ९ ११ १३ १२ १४  
तेउम्भि हुज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिया दए ॥६१॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥

छाया—अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।

तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च संघट्टय दद्यात् ॥६१॥

तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिक(त)म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥

‘असणं०’ इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि । जो अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य सचित्त जल पर रखा हुआ हो तथा कीडीनगर ( चिऊँ-टियोंके समूह ) या लीलन-फूलन पर रखा हो वह, संयमियोंके लिये कल्प्य नहीं है, अतः ऐसा आहार देनेवालीसे कहे कि ‘ऐसा आहार मुझे कल्पता नहीं है’ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

असणं इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि. जे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य सचित्त जल पर राखेले. होय, तथा कीडीनगर (कीडीयारा) या लीलन-फूलन पर राखेले होय ते संयमीओने माटे कल्पनीय नथी. ओटले ओवे आहार आपनारीने साधु कडे के-ओवे आहार मने कल्पते; नथी. (५९-६०)

सान्वयार्थः—असणं पाणं वा वि खाइमं तथा साइमं = जो अशन पान खादिम स्वादिम तेउम्मि = तेजस्काय पर निक्खित्तं = रखा हुआ हुआ = हो च = अथवा तं = उस तेजस्कायको संघट्टिया = संघट्टा (छू) करके दिए = देवे तो तं = वह भक्तपाणं तु = अशनादि संजयाणं = साधुओंके लिए अकप्पियं = अकल्पनीय भवे = है, (अतः) दितियं = देती हुईसे साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥६१॥६२॥

टीठा—‘असणं०’ इत्यादि, तं भवे०’ इत्यादि च । यदशनादिकं तेजसि = तेजस्कायोपरिनिक्षिप्तं = निहितं भवेत्, यच्च तत् = तेजः-अग्निकायमित्यर्थः, संघट्टच्च = संस्पृश्य दद्यात्, तत् = उभयविधं भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकं (तं) भवेत्, अतस्तद्दतीं प्रत्याचक्षीत—तादृशं मे न कल्पत इति ॥६१॥६२॥

१ २ ३ ४ ५  
मूलम्—एवं उस्सिक्कया ओसिक्किया, उज्जालिया पज्जालिया ।  
६ ७ ८ ९ १० ११  
निव्वाविया उस्सिचिया, निस्सिचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥६३॥  
१२ १३ १४ १५ १६  
तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।  
१७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४  
दितियं पडियाइक्खे. न मे कप्पइ तारिसं ॥६४॥

छाया—एवम् उत्क्षिप्य अवक्षिप्य, उज्ज्वालय प्रज्वालय ।

निर्वाप्य उत्सिच्य, निषिच्य अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

तद्भवेद्भक्त-पाणं तु, संयतामनामकल्पिक(त) म् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।

अग्निकायके साक्षात् संघट्टेका निषेध करके अब परम्परा-संघट्टेका निषेध करते हैं—

सान्वयार्थः=एवं=जिस प्रकार अग्निकायको स्पर्श करके दिया जानेवाला अशनादि नहीं लेते, उसी प्रकार उस्सिक्किया = चूल्हे आदिमें इन्धनको अन्दर सरका कर ओसिक्किया=अधिक इन्धनको चूल्हेके अन्दरसे बाहर निकालकर उज्जालिया = बुझी हुई अग्निको फूंक आदि से उद्दीपित—सलगा—कर पज्जालिया = जलती हुई अग्निको अधि-

‘असणं०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे०’ इत्यादि । जो अशन पान आदि, तेजस्काय पर रखा हो अथवा अग्निकायका संघट्टा करके देवे तो वह, साधुके लिये ग्राह्य नहीं है । अतः देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

असणं० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि. जे अशन पान आदि तेजस्काय पर राखेले होय अथवा अग्निकायको संघट्टन करीने आये तो ते साधुने भाटे ग्राह्य नहीं. अट्टेके ते आपनारीने साधु कडे के ‘अवे आहार भने कल्पतो नहीं.’ (६१-६२)



क प्रदीप्त कर निव्वाविया = एग्निको पानी आदिसे बुझाजर उस्सिचिया = अग्नि पर पकते हुए अन्नादिको कुछ बाहर निकाल कर निस्सिचिया = उभरते हुए दुग्धादिमें जल छिड़ककर ओवत्तिया = अग्नि पर रहे हुए अन्नादिको दूसरे बरतनमें निकालकर ओयारिया = अग्नि पर रहे हुए अन्नादिके बरतनको नीचे उतारकर अर्थात् अग्निकायका परम्परासे संघट्टा करके दए = अशनादि देवे तो तं = वह भक्तपाणे तु अशनादि संजयाणं = साधुओंके लिए अकल्पियं = अकल्पनीय भवे = है, (अतः) दितियं = देती हुई से साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥६३॥६४॥

टीका—‘एवं’ इत्यादि तं भवे०’ इत्यादि च । एवम्=उक्तप्रकारेण तेजस्काय-विषय इवेति भावः, उत्क्षिप्य=यावत्कालं साधवेऽन्नादिकं ददामि तावत्कालमग्निर्मा प्रशाम्यतु’ इति बुद्ध्या चुल्ल्यादाविन्धनमुत्सार्य अवक्षिप्य=दाहभयादिन्धनं निःसार्य उज्ज्वाल्य अनुज्ज्वलितं फूत्कारादिनोद्दीप्य=प्रज्वाल्य=उद्दीप्तं प्रकर्षेण संवर्ध्य निर्वाप्य=उत्सिच्य =अग्न्युपरिस्थितमन्नादिकं किञ्चिद्बहिष्कृत्य, निषिच्य=उद्बलद्दुग्धादिकं जलेन प्रशाम्य अपवर्च्य=भाजनान्तरे निधाय, अवतार्य=अन्नादिसहितं भाजनमेवोत्तार्य वा दद्यात्, तद्भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकं (तं) भवेदतस्तद्दतीं प्रत्याक्षीत—तादृशं मे न कल्पते’ इति ॥६३॥६४॥

‘एवं उत्सिक्किया०’ इत्यादि, तथा ‘तं भवे’ इत्यादि ।

‘जब तक आहार देती हूँ तब तक, अग्नि न बुझ जाय’ ऐसा विचार कर चूहेमें इंधन सुलगाकर, अन्न आदि जलनेके भयसे इंधन बाहर निकाल कर फूँक आदिसे चूहा जला कर, जलती अग्निको तेज कर या बुझा कर, अग्नि पर पकते हुए आहार को कुछ एक ओर कर, तथा पानी डाल कर उबाल (उफान) को शान्त कर, अथवा अन्न आदि सहित बर्तन को नीचे उतार कर यदि आहार देवे तो वह आहार अनगारके लिये ग्रहण योग्य नहीं है । अतः देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है’ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

एवं उत्सिक्किया० इत्यादि, तथा तं भवे० इत्यादि.

‘ज्यां सुधी आहार आपती होळि’, त्यां सुधी अग्नि होळवाध न जय,’ जेवो विचार करीने यूलाभां धंधणां सणगावीने, अन्नादि जणी जवाना लयथी धंधणां अहार काठीने कुंड आदिथी यूला सणगावीने, जणता अग्निने तेज करीने या लुजावीने, अग्नि पर पाकता आहारने केध अक आणुअे करीने तथा पाणुी नांणीने जलराने शांत करीने, अथवा अन्नादि सहित वासणुने नीचे जितारीने जे आहार आपे तो ते आहार अनगार ने भाटे अहणु करवा योग्य नथी अेटवे ते आपनारीने साधु कडे के—जेवो आहार मने कल्पतो नथी. (६३-६४)

११ २ ५ ४ ३ ८ ७ ६ १  
मूलम्—हुज्ज कट्टं सिलं वावि इट्टालं वावि एगया ।

१० ८ १२ १३ १५ १४  
ठवियं सकमट्टाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥६५॥

१९ १६ १८ २० २६ २४ २५  
न तेण भिक्खु गच्छेज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो ।

२२ २३ २१ १७  
गंभीरं झुसिरं चैव सर्व्विदिय समाहिए ॥६६॥

छाया—भवेत्काष्ठं शिला वाऽपि, इट्टालं वाऽप्येकदा ।

स्थापितं संक्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलम् ॥ ६५ ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्दृष्टस्तत्रासंयमः ॥

गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्व्वेन्द्रिय-समाहितः ॥ ६६ ॥

सान्वयार्थः—एगया=किसी समय अर्थात् वर्षा आदिके समय संकमट्टाए=जाने आने के लिए कट्टं=काठ वावि=या सिलं=शिला वावि=अथवा इट्टालं=ईंटका टुकड़ा ठवियं रखा हुआ हुज्ज=हो च=और तं=वह (यदि) चलाचलं=अस्थिर-डगमगाता हुज्ज हो तो तेण=उस मार्गसे तथा जो गंभीरं=ऊंडा गहरा और झुसिरं=पोला स्थान हो उससे सर्व्विदियसमाहिए=समस्त इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला भिक्खु=साधु न गच्छे ज्जा=नहीं जावे (क्योंकि) तत्थ=वहां पर केवली भगवान ने असंजमो=असंयम दिट्ठो=देखा है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

टीका—‘हुज्ज कट्टं’ इत्यादि, ‘न तेण०’ इत्यादि च । एकदा=एकस्मिन् काले वर्षादौ यत् काष्ठं=सञ्चरणोपयोगि दारु, अपिवा शिला=प्रस्तरखण्डम् अपिवा इट्टालम्=इष्टकाशकलं, संक्रमार्थं गमनागमनर्थं स्थापितम्=आरोपितम् भवेत्, तच्च काष्ठादिकं यदि चलाचलम्=अस्थिरं कम्पमानं भवेत् तदा तेन काष्ठादिना सर्व्वेन्द्रियसमा-

‘हुज्ज कट्टं’ इत्यादि, तथा ‘न तेण०’ इत्यादि ।

नदी आदिमें बरसात आदिके समय, जाने-आनेके लिये जो काठ, पत्थर या ईंट आदि रोप दिया हो और यदि वह हिलता हो तो समाधिमान् संयमी, उस मार्गसे गमन न करे । और जो प्रदेश, नीचा होनेसे अन्धकारमय हो या खड्ढेवाला हो उससे भी साधुको गमन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे मार्गमें गमन करनेसे स्व-पर-विराधना-रूप असंयम केवली भगवान् ने देखा है ।

हुज्ज कट्टं० इत्यादि तथा न तेण० इत्यादि.

नदी आदिमां बरसादने वधते आववा-ज्वा म.टे जे लाकडां, पत्थर, ध'ट वगेरे शिपेला डोय अने जे ते डलतां डोय तो समाधिमान् संयमी जे मार्गे गमन न करे अने जे प्रदेश नीचा डोवाथी अन्धकारमय डोय या खाडावाणे डोय ते मार्गे पखु साधुजे गमन करवुं न जेधजे, कारखु के जेवा मार्गे गमन करवाथी स्व-पर-विराधनाइप असं-यम केवली भगवाने जेथे छे.

हितः = वशीकृतसकलेन्द्रियो भिक्षुः = साधुः न गच्छेत् । 'चेव' शब्दः समुच्चये अपिचे-  
त्यर्थः । गम्भीरं निम्नत्वेन प्रकाशशून्यं, शुषिरं = गह्वरवत्सावकाशं 'प्रदेश' मिति शेषः,  
न गच्छेदिति पूर्वेण सम्बन्धः । अगमने हेतुमाह-तत्रेति, तत्र = तस्मिन् असंयमः =  
स्वपरविराधनादिरूपो दृष्टः = अवलोकितः केवलिभिरिति शेषः । चलाचलविशेषणककाष्ठा-  
दिपदेन प्रस्खलन पतनादिनाऽऽत्मविराधना, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिप्राणिगणोपमर्दनेन पर-  
विराधनासम्भावना च सूचिता । गम्भीरादिप्रदेशगमनेनापि श्रोक्तदोषसमधिकर्हिंसादि-  
जन्तुजनितोपघातादिप्रचुरदोषसम्भवः सूचितः ।

'सर्व्विदियसमाहिष्' इतिपदेन साधोरिन्द्रियविषयाऽऽसक्तिनिराकरणपरायणता  
प्रतिपादिता । 'भिक्षु' पदेन च यमनियमपूर्वकमेवभिक्षाग्राहित्वमिति बोधितम् ॥ ६५ ॥  
॥ ६६ ॥

मूलम्-<sup>४</sup>निस्से<sup>५</sup>णि<sup>६</sup> फलं<sup>१०</sup> पीठं<sup>१२</sup> उस्सवित्ताणमारुहे ।

मंचं<sup>७</sup> कीलं<sup>८</sup> च<sup>९</sup> पासायं<sup>११</sup> समणट्ठाए<sup>२</sup> व दावए<sup>३</sup> ॥६७॥

दुरूहमाणी<sup>१३</sup> पवडेज्जा<sup>१४</sup> हत्थं<sup>१५</sup> पायं<sup>१६</sup> च लूसए<sup>१७</sup> ।

पुढवीजीवेवि<sup>१९</sup> हिंसेज्जा<sup>२०</sup> जे<sup>२१</sup> य तन्निसिया<sup>२२</sup> जगे<sup>२३</sup> ॥६८॥

एयारिसे<sup>२६</sup> महादोसे<sup>२७</sup> जाणिऊण<sup>२८</sup> महेसिणो<sup>३०</sup> ।

तम्हा<sup>२५</sup> मोलोहडं<sup>२९</sup> भिक्खं<sup>३२</sup> न पडिगिण्हंति<sup>३३</sup> संजया<sup>३४</sup> ॥ ६९ ॥

हिलते हुए काठ आदि पर चलने से रपटने या गिर पड़नेसे आत्मविराधनाकी और एके-  
न्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोंके उपमर्दन से पर-विराधनाकी सम्भावना सूचित की है । गहरे(नीचे)  
प्रदेशमें गमन करनेसे उक्त दोषों के सिवाय हिंसक जन्तुओंसे उत्पन्न होने वाला उपघात आदि  
बहुतसे दोषों का होना सूचित किया है । 'सर्व्विदियसमाहिष्' पदसे यह प्रगट किया गया है कि  
साधुओंको इन्द्रिय-चपलता का त्याग करना चाहिये । 'भिक्षु' पदसे बोधित किया गया है कि  
साधुओंको यमनियमों का पालन करते हुए ही भिक्षा ग्रहण करना चाहिये ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

इलतां लाकडां आदि पर आलवाथी लपसी जवाथी या पडी जवाथी आत्मविरा-  
धनानी अने ऐकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय प्राणीयोना उपमर्दनथी पर-विराधनानी संभावना सूचित  
करी छे. नीचाणवाणा प्रदेशमां गमन करवाथी उक्तदोषो उपरांत हिंसक जंतुओथी उत्पन्न  
थनारे उपघात आदि घणुा दोषो होवानुं सूचित कयुं छे. सर्व्विदियसमाहिष् पदथी  
ओम कहेवामां अयुं छे के साधुओओे इन्द्रिय चपलतानो त्याग करवा जेधओे भिक्षु  
शुद्धथी ओम प्रकट करवामां आयुं छे के साधुओओे यम-नियमोनुं पालन करतारहूनी ज  
बिक्षा ग्रहण करवी जेधओे (६५-६६)

छाया—निश्रेणिं फलकपीठम् , उत्सृज्य आरोहेत् ।

मञ्चं कीलञ्च प्रासादं, श्रमणार्थमेव दायिका ॥६७॥

दुरा (दू) रोहन्ति प्रपतेत् , हस्तौ पादौ च लूषयेत् ।

पृथ्वीजीवानपि हिंस्या, घानि च तन्निःश्रितानि जगन्ति ॥६८॥

एतादृशान्महादोषान् , ज्ञात्वा महर्षयः ।

तस्मान्मालापहृतां भिक्षां, न गृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

सान्वयार्थः—दावए = दान देने वाली स्त्री यदि समणट्टा एव = साधुके लिए ही निस्सेणि = नसैनी-निसरणी-सीढी फलग = पाटे पीठं = पीठे मंच = खाट व = और कीलं = कीलेको उस्सवित्ताणं = ऊंचा-खड़ा करके पासायं = प्रासाद-मंजिल पर आरुहे = चढे तो दुरूहमाणी = इस प्रकार कष्टसे चढती हुई वह पवडेज्जा = शायद गिर जायगी व = और अपना हत्थं = हाथ पायं = पैर लूसए = तोड़ बैठेगी तथा पुढवीजीवे अवि = पृथ्वीकायके जीवोंको भी च = और जे = जो तन्निस्सिया = उस पृथ्वी की नेसरायमें रहे हुए जगे = द्वीन्द्रियादि जीव हैं उन्हें भी हिंसेज्जा = मारेगी ॥ ६७ ॥ ॥ ६८ ॥

तम्हा = इसीलिए एयारिसे = ऐसे पूर्वोक्त प्रकारके महादोसे = दाताकी मृत्यु तक होनेकी संभावनाके कारण महादोषोंको जाणिऊण = जानकर संजया = सकल सावध व्यापार से विरत हुए महेसिणो = महर्षि लोग मालोहडं = मालापहत (मालसे लाई हुई) भिक्खं = भिक्षाको न पडिगिण्हंति = नहीं लेते हैं ॥६९॥

टीका—मालापहतभिक्षादोषमाह 'निस्सेणि' इत्यादि । 'दावए' इत्यत्र प्राकृतत्व-ल्लिङ्गव्यत्ययस्तथा च दायिका = दात्री श्रमणार्थमेव = साधुनिमित्तमेव साधवे भिक्षा-दानार्थमेवेत्यर्थः, निश्रेणिं = वंशादिनिर्मितं सोपानं फलकं = शयनोपयोगी दारुमयाऽऽ-सनं, पीठं = काष्ठनिर्मितोपवेशनोपयोगि लघ्वासनं 'पीठा' इति प्रसिद्धं, मञ्चं = खट्वां वंशदलादिरचितोच्चासनं वा कीलं = शङ्कुं चकारान्मुसलादिकम् उत्सृज्य = ऊर्ध्वीकृत्य,

मालापहत भिक्षा के दोष बताते हैं-'निस्सेणि' इत्यादि, 'दुरूहमाणी' इत्यादि, तथा एयारिसे' इत्यादि ।

दाता, यदि साधुके लिये नसैनी, सीढी (निसरणी), पाटा, पीठा (बाजोट), मांचा, खूटी अथवा मुसल आदिको ऊंचा करके ऊंचे मकान की दूसरी मंजिल पर चढ़ कर, आहार लावे तो वह आहार आदि, मालापहत कहलाता है । नसैनी (सीढी) आदि पर चढनेसे यदि गिर पड़े तो

हुवे माहापहुत भिक्षाना दोषो अतावे छे-निस्सेणि इत्यादि. दुरूहमाणी. इत्यादि, तथा एयारिसे इत्यादि.

जे दाता साधुने माटे सीढी (निसरणी), पाटा, आलेठ, मांचो, खूटी अथवा मुसल (सांभेडु) आदिने उंचा करीने उंचा मकानना पीठ मजला पर अहीने आहार लावे तो ते आहार माहापहुत कडेवाय छे. सीढी आदि पर अउवाथी जे पडी जाय तो हाथ-पग

प्रासादम् = उच्चगृहं तत्रानेकभूमिकासम्भवेनाऽऽरोहणादिकं युज्यत इति तद्भूमिकायां लक्षणा तथा च-उच्चगृहभूमिकामित्यर्थः, आरोहेत् = उपलक्षण्या गच्छेदित्यर्थः । तेन तिसृषु वक्ष्यमाणासु मालापहतासु भिक्षासु समन्वयः । निश्रेण्यादिना सदुःखमारोहणं भवतीत्यत आह-दूरा (दू) रोहन्तो = सदुःखमूर्ध्वप्रदेशमासादयन्ती सती प्रपतेत् हस्तौ पादौ च लूषयेत् = त्रोटयेत् पृथ्वीजीवानपि हिंस्यात् = पीडयेत्, यानि च तन्निःश्रितानि पृथिव्याश्रितानि जगन्ति = प्राणिनस्तानि हिंस्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः तस्मात् = यतो निश्रेण्यादिना समारोहणे पतनादिद्वारा दातुः स्व-परोभयविराधना सम्भवति अतः कारणात् एतादृशान् महादोषान् = दातृपभृतीनां मृत्योरपि सम्भवेन दारुणकर्मविपाकहेतुत्वात्प्रकृष्टदूषणानि ज्ञात्वा संयताः = सकलसावद्ययोगसमुपरताः महर्षयः = घोरपरीषहोपसर्गसहिष्णुत्वान्महामुनयः मालापहतां = मालो भूमिकावाची देशीयशब्दः, ततः अपहताम् = आनीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति = न स्वीकुर्वन्ति ।

मालापहता भिक्षा भूमिकाया ऊर्ध्वधस्तिर्यग्भेदेन त्रिविधा ऊर्ध्वमालापहता, अधो-मालापहता, तिर्यङ्मालापहता चेति । तत्रोर्ध्वमालापहता पूर्वं व्याख्याता । अधोमालापहता = यस्या भूमिकाया निश्रेण्यादिनाऽवरुह्य आनीता । तिर्यङ्मालापहता तु यस्यां भूमिकायां दायिका तिष्ठेत्तस्यामेव, नद्यादौ जलप्रवाहावरोधिसेतुवन्निश्रेण्यादिकं तिर्यक्

हाथ पैर टूट जायँ पृथ्वीकाय-आदि जीवोंकी विराधना हो जाय तथा जो प्राणी, पृथ्वीपर सञ्चार कर रहे हों उनकी भी हिंसा हो जाय इसलिए ऐसी अवस्थामें स्व, पर और उभयकी विराधना का होना संभव है, यहाँ तककि दाताकी मृत्यु भी हो जा सकती है, अतः इन महादोषों को अत्यन्त दुःखदायी जानकर, संयमी महामुनी नसैनी (सीढ़ी) आदि द्वारा माला (मंजिल) से उतारा हुआ आहार आदि स्वीकार नहीं करते ॥

मालाके भेदसे मालापहत भिक्षा, तीन प्रकार की है—(१)ऊर्ध्व-मालापहत (२) अधो-मालापहत और (३)—तिर्यग्मालापहत । इनमें ऊर्ध्वमालापहत भिक्षाका विवेचन पहले कह आये हैं । ऊपरके मंजिलसे नीचेकी ओर नसैनी (निसरणी) लगाकर, लाई हुई भिक्षा, अधोमालापहत कहलाती

तूटी जाय, पृथ्वीकाय आदि जीवोंकी विराधना थाय, तथा जे प्राणी पृथ्वी पर सञ्चार करी रह्या होय तेमनी पणु हिंसा थय जाय; तेथी जेवी अवस्थाभां स्व, पर अने उलयनी विराधना थवी संलवित छे, जेटले सुधी के दातानुं मृत्यु पणु थय जय शके छे; तेथी करीने जे महादोषेने अत्यन्त दुःखादायी जाणीने संयमी महामुनि नीसरणी आदि द्वारा भाजथी उतारैला आहार आदि ने स्वीकारे नहि.

भाज-मञ्जला-ना लेहे करीने मालापहत भिक्षा त्रय प्रकारनी छे. (१) ऊर्ध्वमालापहत, (२) अधोमालापहत अने (३) तिर्यग्मालापहत जेभां ऊर्ध्वमालापहत भिक्षानुं विवेचन पहलेलां करवाभां आब्युं छे. उपरना मञ्जलाथी नीचेनी जानुजे नीसरणी लगावीने लावेकी

१ मालः 'मंजिल' इति भाषा प्रसिद्धः

संस्थाप्य तद्वारा असंश्लिष्टापरभागे गमनागमनेनाऽऽनीता । दुष्प्रापशिव्यादिस्थस्याति-  
गम्भीरकुसुलादिस्थस्य चान्नादेर्ग्रहणे चरणोन्नमनादिनाऽनेकविधकष्टसम्भवादेवविधापि  
भिक्षा तदन्तर्ज्ञेयेति ॥६७॥६८॥६९॥

<sup>१</sup> मूलम्—<sup>२</sup>कंदं <sup>४</sup>मूलं <sup>३</sup>पलंबं <sup>५</sup>वा, <sup>७</sup>आमं <sup>६</sup>छिन्नं <sup>८</sup>च <sup>९</sup>सन्निरं ।

<sup>९</sup>तुंबागं <sup>१०</sup>सिगवेरं <sup>११</sup>च, <sup>१२</sup>आमगं <sup>१३</sup>परिवज्जए ॥७०॥

छाया—कन्दं मूलं प्रलम्बं वा आमं छिन्नं च सन्निरम् ।

तुम्बकं शृङ्गवेरञ्च, आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

सान्न्वयार्थः—आमं=सचित्त कंदं=सूरण आदि कन्द मूलं=विदारिकादि मूलं पलंबं=  
ताल आदिके फल वा =तथा छिन्नं च =काटो हुई भी सन्निरं =बथुए आदिकी  
भाजीको (तथा) आमगं = सचित्त तुंबागं = तुंबे च = और सिगवेरं = अदरख—आदे-को  
साधु परिवज्जए = वरजे ॥७०॥

टीका—‘कंदं’ इत्यादि । कन्दं, मूलम्, इमे प्राग्व्याख्याते, वा = अथवा प्रलम्बं  
= तालादिफलम् आमम् = अपक्वं-सचित्तमित्यर्थः । च = पुनः छिन्नं = कर्तितमपि  
सन्निरं = पत्रशकं-वास्तूकादिकं, तुम्बकम् = अलाबूविशेषं, शृङ्गवेरम् = आर्द्रकं चकारा-  
दन्यदपि प्रत्येकसाधारणवनस्पतिमात्रम् आमकम् = अपक्वं सचित्त परिवर्जयेत् = त्य-  
जेत्—न गृह्णीयादित्यर्थः ॥७०॥

है । जिस मंजिलमें देनेवाली मौजूद हो उसी की बराबरी पर दूसरी ओर जाने के लिये पुल की  
तरह नसैनी (निसरणो) या लकड़ी आदिको तिरछा रख कर चढे तो वहाँसे लाई हुई भिक्षा,  
तिर्यग्मालापहत कहलाती है । बड़ी कठिनाईसे पहुंचने योग्य छींके या आलेमें तथा गहरी कोठरी  
में रक्खी हुई भिक्षा ग्रहण करनेसे पैर उठाने आदि अनेक कष्ट होते हैं । इसलिये ऐसी भिक्षा भी  
इसी मलापहत भिक्षा में अन्तर्गत समझनी चाहिये यह सब प्रकार की भिक्षा साधु को अकल्प्य  
है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

‘कंदं’ इत्यादि । सचित्त कन्द, मूल, ताड-फल आदि तथा कटा हुआ भी सचित्त पत्तोंका  
शाक-त्रयुआ आदि, और सचित्त तुम्बा तथा अदरख भी साधु ग्रहण न करे । ‘च’ शब्दसे यह

भिक्षा अधोमालापहत कहेवाय छे. जे मज्जलामां भिक्षा आपनारी डाजर डोय, तेनी  
अराअर, भील आबुअे जवाने माटे पूवनी पेटे नीसरणी या लाकडुं-पाटियुं तीछुं  
राभीने यडे तो त्यांथी लावेवी भिक्षा तिर्यग्मालापहत कहेवाय छे. अहु मुशकेवीथी पडोन्नी  
शकय अेवां सीकां, या छाजवीमां तथा उंड़ी कोटडीमां राभेला अशनादि अडणु करवाथी  
पग उपाडवा आदिनां अनेक कष्टो पडे छे, तेथी अेवी भिक्षापणु आ (मालापहत) भिक्षा-  
मांअ सभायली समलु लेवी. अे सर्व प्रकारनी भिक्षा साधुने माटे अकल्प्य छे. (६७-६८-  
६९)

कंदं० इत्यादि. सचित्त कंद, मूल, ताडकण अदि तथा कापेलां डोवा छतां सचित्त

१ २ ३ ११  
मूलम्-तद्देव सत्तचुन्नाइं कोल-चुन्नाइं आवणे ।

४ ५ ६ ८ १० ९ ७  
सक्कुलिं फाणियं पूअं अन्नं वावि तहाविहं ॥७१॥

१२ १४ १३ १५  
विक्कायमाणं पसदं, रणं परिफासियं ।

१६ १७ २० १९ २१ १८  
दितियं पडियाइक्खे, न म कप्पइ तारिसं ॥७२॥

छाया--तथैव सक्तु-चूर्णानि, कोल-चूर्णानि आपणे ।

शङ्कुलीं फाणितं, पूपमन्यद्वापि तथाविधम् ॥७१॥

विक्रीयमाणं प्रसह्य, रजसा परिस्पृष्टम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

सान्वयार्थः--तद्देव = जिसप्रकार सचित्त कन्दादि अग्राह्य हैं उसीप्रकार सत्तु-  
न्नाइं = भुने हुए जौ या चनेका आटा-सत्तू कोलचुन्नाइं = बेरोंका चूरा सक्कुलिं =  
तिलपापड़ी फाणियं = गीला गुड़ पूयं = मालपूवा (तथा) तहाविहं = उसीप्रकारके अन्नं  
वावि = औरभी पदार्थ जो आवणे = दुकानपर विक्कायमाणं = बेचनेके लिए रखे हुए  
हैं वे (यदि) पसदं = वस्त्रसे आच्छादित होनेपर भी रणं = सचित्त सूक्ष्म रजसे परि-  
फासियं = व्याप्त हों तो दितियं = देनेवालीसे पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस  
प्रकारका आहारादि मे = मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता हैं ॥७२॥

टीका—‘तद्देव’ इत्यादि, ‘विक्कायमाणं’ इत्यादि च । तथैव = यथा पूर्वोक्तं  
सचित्तकन्दादिकमग्राह्यं तेनैव प्रकारेण सत्तु-चूर्णानि = सक्तव एव चूर्णानि तानि सक्त्-  
नित्यर्थः, भृष्टयवादिचूर्णान्येव सक्तव उच्यन्ते, कोल-चूर्णानि = बदरीफलचूर्णानि, शङ्कुलीं  
= तिलपर्पडिकां, फाणितं = द्रुतगुडं, पूपम् = अपूपम्, तथाविधं = तादृशम् अन्यदपिवा

भी समझना चाहिये कि इनके सिवाय कोई भी सचित्त-प्रत्येक या साधारण वनस्पति, साधुको  
नहीं कल्पती है ॥ ७० ॥

‘तद्देव’ इत्यादि, तथा ‘विक्कायमाणं’ इत्यादि ।

जैसे, सचित्त कन्द, मूल आदि त्याज्य हैं वैसेही सत्तू ; बेरोंका चूर्ण, तिलपापड़ी, पिघला  
हुआ गुड, पूआ तथा ऐसी दही आदि अन्यान्य वस्तुएँ, बेचनेके लिये दुकानमें रक्खी हों, और

पांडुआंनुं शाक-अथुआनी लाल आदि अने सचित्त हूधी आदि तथा आहु पणु साधु  
अह्राणु न करे. च शब्दथी अेम पणु समञ्जुं के ते उपरांत केरु पणु सचित्त-प्रत्येक या  
साधारण वनस्पति साधुने कल्पती नथी. (७०)

तद्देव इत्यादि तथा विक्कायमाणं इत्यादि.

अेम सचित्त कंद-मूल आदि त्याज्य छे, तेमञ्ज सत्तू, अेरनुं यूर्णु. ततपापड़ी, नरम  
गोण, तथा अेवा प्रकारनी पीलु हडी आदि नरम वस्तुअेवा वेथवाने माटे दुकानमां रापी

दध्यादिकम्, आपणे = क्रय-विक्रयस्थाने, विक्रीयमाणं = विक्रयार्थं स्थाप्यमानं, रजसा= सच्चित्तरेणुना, प्रसह्य=इडात् वस्त्रादिनाऽऽच्छादनेऽपि यथाकथञ्चित्प्रकारेणेति भावः, परिस्पृष्टं=व्याप्तं-वायुसमुत्थितरजः सम्स्पृष्टम् ददतीं प्रत्याचक्षीत-‘तादृशं मे न कल्पत’ इति ॥७१॥७२॥

१ मूलम्-बहुअद्वियं २ पुग्गलं, ३ अणिमिसं वा ४ बहुकंटयं ५ ।

६ अच्छियं ७ मिदुयं ८ बिल्लं, ९ अच्छुखंडं व १० सिबलिं ११ ॥७३॥

१३ अप्पे १६ सिया १२ भोयणजाए, १५ बहु १४ उज्झणधम्मिए ।

१७ दितियं १८ पडियाइक्खे, २१ न मे २० कप्पइ २२ तारिसं १९ ॥७४॥

छाया--बहुष्टिकं पुद्गलम्, अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।

अक्षीवं तिन्दुकं बिल्वम्, इक्षुखण्डं वा शालमलिम् ॥७३॥

अल्पं स्याद्भोजनजातं, बहुज्जनधर्मिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

सान्वयार्थः--बहुअद्वियं = बहुबीजा अर्थात् सीताफल अणिमिसं = अनन्नास बहु-कंटयं = पनस-कटहल अच्छियं = शोभाञ्जनकी फली, जो ‘मुनगा’ नामसे प्रसिद्ध है; तिन्दुयं = तेन्दु बिल्लं = बेल सिबलिं=सेमल इन नामके पुग्गलं = फलोंको व=और उच्छुखंडं = गन्ने-शेरडी-के टुकड़ोंको, तथा जिस पदार्थमें भोयणजाए = खानेयोग्य अंश अप्पे सिया = थोड़ा हो और उज्झणधम्मि=डालदेनेयोग्य अंश बहु = बहुत हो ऐसे फल आदि दितियं=देनेवाली से साधु पडियाइक्खे=कहे कि तारिसं=इस प्रकारका आहारादि मे=मुझे (लेना) न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥७३॥७४॥

टीका--‘बहुअद्वियं’ इत्यादि, ‘अप्पे सिया’ इत्यादि च । बहुस्थिकम्=बहूनि, अस्थीनि = बीजानी-अस्थि=बीजमिति रायमुकुटः, वैद्यकश्चेति शब्दकल्पद्रुमः; यस्मिन् यद्वा

सचित्त रजसे व्याप्त हों, अर्थात् वस्त्रसे ढँक रखने पर भी पवनके द्वारा पहुँची हुई सूक्ष्म सचित्त रजसे युक्त हों तो वह आहार कल्पनीय नहीं है । इसलिये साधु, देनेवालीसे कहे कि ‘ऐसा आहार, मुझे नहीं कल्पता है ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

‘बहुअद्वियं’ इत्यादि तथा ‘अप्पे सिया’ इत्यादि । ‘अस्थि’ शब्दका अर्थ बीज होता है, रायमुकुट तथा वैद्यकोषोंमें ‘अस्थि, शब्दका बीज ही अर्थ है, ऐसा ‘शब्दकल्पद्रुम’ अभिधानमें

होय अने सचित्त रज्ज्थी व्याप्त होय अर्थात् वस्त्रथी ढांकी राज्या छतां पवनद्वारा पडो-येदी सूक्ष्म सचित्त रज्ज्थी युक्त होय तो ते आहार कल्पनीय नहीं. तेथी साधु ते आप-नारीने कहे के ओवो आहार अने कल्पतो नहीं. (७१, ७२)

बहुअद्वियं० इत्यादि, तथा अप्पे सिया० इत्यादि. ‘अस्थि’ शब्दको अर्थ बीज (बीजथी) थाय छे. रायमुकुट तथा वैद्यकोषोंमें अस्थि शब्दको अर्थ बीज अर्थ छे,



बहूनि अस्थिकानि 'अस्थिकं = बीजे मेदोजघातौ चेति राजनिघण्टुः' इति वैद्यकशब्द-  
सिन्धुः ; यस्मिंस्तत् , बहुबीजकं-योगरूढमेतत् , सीताफलादिकमित्यर्थः—

“ सीताफलं गण्डमात्रं, वैदेहीवल्लभं तथा ।

कृष्णबीजं चाग्निमाख्यमातृप्यं बहुबीजकम् ॥ १ ॥” इति निघण्टुकोषः ।

यद्वा बहुअद्वियं इत्यस्य 'बहुषिक' मितिच्छाया, 'फलबीजे पुमानष्टिः' इति कोषात् ,  
अर्थस्तूत एव । पुग्दलम् = रसवृद्धयात्मकपूरण परिपाकानन्तराद्यः पतनात्मकगलनधर्म-  
कत्वात्पुग्दलः फलसामान्यं तम् , अग्रेऽप्यस्य सम्बन्धः, सीताफलादिनामकं फलमिति  
भावः अनिमिषम् = अनन्नासम् अन्तर्बहिः सकण्टकं बज्रादिदेशप्रसिद्धम् । बहुकण्टकं = कण्टकि-  
फलं-पनसं 'कटहर' इत्यनेन प्रसिद्धम् , अस्य त्वग्भावे, सर्वावयवावच्छेदेन कण्टकव्या-

भी लिखा है । अत एव बहुस्थिक शब्दका अर्थ है-बहुत बीजोंवाला । यह शब्द योगरूढ है,  
अत एव सीताफल अर्थ होता है । निघण्टुमें भी सीताफल (सरीफा) के इतने नाम गिनाये हैं—

“सीताफल, गण्डमात्र, वैदेहीवल्लभ, कृष्णबीज, अग्निम, आतृप्य और बहुबीजक ॥ १ ॥”

इनमें 'बहुबीजक' शब्द भी सीताफलके लिये आया है, और यह ऊपर बताया ही जा  
चुका है कि 'अस्थि' शब्दका अर्थ बीज होता है । इसलिये बहुबीजक और बहुस्थिक एक ही है,  
अतः बहुस्थिकका अर्थ सीताफल ही है । अथवा 'अद्विय' 'की छाया, 'अष्टिक' होती है, कोषमें  
लिखा है कि फलके बीजको 'अष्टि' कहते हैं । इससे भी पूर्वोक्त अर्थ ही सिद्ध होता है, इसलिये,  
सीताफलको तथा बंग आदि अन्य अन्य देशोंमें प्रसिद्ध अनन्नास (अनास) फल विशेष, कटहर,  
मुनिगा (सोहिंजन) की फली, तेन्दू, बेल, गन्नेका खण्ड एवं सेमल आदि फल, जिनमें खाद्य अंश  
कम हो तथा त्याज्य अंश अधिक हो उन सब फल आदिको देनेवालीसे कहे कि ऐसा आहार,  
मुझे नहीं कल्पता है ।

अत्र 'शब्दकल्पद्रुम' मां पञ्च लक्ष्युं' छे. अटले वहवस्थिक शब्दनेो अर्थ थाय छे अहु  
भीने वाणुं, अे शब्द योगरूढ छे, अटले सीताङ्ग अर्थ थाय छे. निघंटुमां पञ्च सीता-  
ङ्गनां आटलां नाम गण्णान्यां छे-

“सीताङ्ग, गंडमात्र, वैदेहीवल्लभ, कृष्णबीज अग्निम, आतृप्य अने अहुभीजक.”

अत्रां 'अहुभीजक' शब्द पञ्च सीताङ्गने माटे आण्ये छे, अने उपर अताववामां  
आण्युं न छे के 'अस्थि' शब्दनेो अर्थ 'भीज' थाय छे अटले अहुभीजक अने अहस्थिक  
अेक न छे, अर्थात् अहस्थिकनेो अर्थ सीताङ्ग न छे. अथवा अद्विय नी छाया अष्टिक  
थाय छे, कोषमां लक्ष्युं' छे के ङ्गना भीजने 'अष्टि' कहे छे. तेथी पञ्च पूर्वोक्त अर्थ न  
सिद्ध थाय छे. अे रीते सीताङ्ग, तथा अंग आदि अन्य-अन्य देशोमां प्रसिद्ध अन-  
नास, कटहर, मुनिगानी (अेक प्रकारनी) ङ्गी, तेन्दू, अिलवङ्ग, (भीला) शेरडीनी कातणी,  
सेमल आदि ङ्ग, अेमां आद्य अंश अोछो होय तथा त्याज्य अंश पधारे होय अे अधां  
ङ्ग आदि आपनारीने साधु कहे के-अेवो आहार मने कल्पतो नथी.

प्त्या बहुकण्टकत्वं सिध्यति, अनिमिषपदार्थस्य त्वन्तर्बहिः सकण्टकत्वेऽपि विरलकत्वा-  
दस्माद्भेदः । अक्षीवं=शोभाञ्जनम् फलप्रकरणत्तत्फलिकाम्, त्वचः स्थौल्य-कार्कश्याधि-  
क्यदोषेभ्यो बीजानां बाहुल्याच्चात्यधिकत्याज्यभागां 'मुनिगा' इति देशविशेषप्रसिद्धाम्  
तिन्दुकम्=अण्डाकृतिकं फलविशेषम् अल्पाकारस्याप्यस्य फलस्य बीजानां स्थौल्यबाहुल्या-  
दिदं त्याज्यांशबहुलं 'तैदु' इति प्रसिद्धम्, इक्षुखण्डं, शालमलिं च, एतानि प्रसिद्धार्थका-  
नि । तथा यत्र भोजनजातं=भोज्यांशः अल्पं=स्वल्पम्, उज्ज्वनधर्मिकं=त्याज्यांशः बहु-  
अधिकं स्यात्=भवेत् तत्फलादिकमन्यदपि इदतो प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पते  
इति । कतिचित्फलानि प्रदर्श्य त्याज्यसामान्यलक्षणं निरूपितं तेन न पुर्वगाथायास्ता-  
त्पर्यानुपपत्तिरिति दिक् ॥७३॥७४

मूलम्— तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वार-धोयणं ।

संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए ॥७५॥

छाया-तथैवोच्चावचं पान, मथवा वारकधावनम् ।

संस्वेदिमं तण्डुलोदकम्, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

अब पान ग्रहण करनेकी विधि बताते हैं

सान्वयार्थः—तहेव = जैसे अशन उसीप्रकार पाणं = पान उच्चावयं = उच्चा-सुन्दर  
वर्णादिसे युक्त, जैसे दाख आदिका धोवन, अथवा-सुन्दर वर्णादिसे रहित जैसे मेथी केर  
आदिका धोवन वारधोयणं = गुड़के घड़ेका धोवन संसेइमं = भाजीका अथा आटेकी

अनन्नासमें भीतर भी काँटे होते हैं और बाहर भी, और कटहरके छिलकेमें सर्वत्र काँटे  
ही काँटे होते हैं । दोनों बहुकण्टक हैं, किन्तु अनन्नासमें काँटे कम और तीखे होते हैं, अतः वह  
कटहरसे भिन्न है । अन्य भेद लोक-प्रसिद्ध ही हैं ।

सामान्य लक्षण करनेसे त्यागने योग्य फलोंका ज्ञान शिष्योंको कठिनतासे होता है, अतः  
पहले कुछ विशेष फलोंके नाम गिना कर, उस प्रकारके सभी-फलोंका त्याग बताया है । इसलिये,  
पहली गाथासे इसका सम्बन्ध ठीक बैठता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

अनन्नासमां अंदर कांटा डोय छे अने अहार पणु डोय छे, अने कटहरना छोतरामां  
सर्वत्र कांटा न डोय छे. जेठ अहुकंटक छे, परन्तु अनन्नासमां कांटा ओछा अने तीभां  
डोय छे, तेथी ते कटहरथी नूडं इण छे. अन्य लेह लोक-प्रसिद्ध छे.

सामान्य लक्षण अतापवाथी त्यागया योग्य इणोनुं ज्ञान शिष्योने मुश्किलीथी थाय  
छे, अेटले पडेलां डेटलांक विशेष इणोनां नाम गण्णावीने अे प्रकारनां अघां इणोने त्याग  
अतांथे छे. तेथी पडेली गाथाथी आने संबंध ठीक अंध अेसे छे. (७३-७४)

थालीका धोवन अदुवा = अथवा चाउलोदगं = चाँवलोंका धोवन (ये सब यदि) अहु-  
णाधोयं = तुरन्त का धोया हुआ हो तो उसे (साधु) विवज्जए = वर्जे - न लेवे ॥७५॥

टोका-अशनग्रहणविधेरनन्तरं पानग्रहणविधिमाह' 'तहेवुच्चावयं' इत्यादि । तथैव  
यथाऽशनं तेनैव प्रकारेण, पानं = पेयं, कर्मणि ल्युट्, उच्चावचमिति-उदक् च अवाक् च  
उच्चावचम् अनेकप्रकारम्, उत्कृष्टानुत्कृष्टमित्यर्थः' तत्र उत्कृष्टं = रुचिरवर्णगन्धर-  
सस्पर्शयुक्तं द्राक्षादिधावनजलं प्रपाणकादिकं च, अनुत्कृष्टं = रुचिरवर्णादिहीनं मेथिका-  
करीर-शमीफलिका-तिलादिधावनजलम् । वारकधावनं = गुड-घट-घृतघटादि धावनजलं,  
संस्वेदिमं = क्वथितशाकादिजलं पिष्टस्थालीप्रक्षालनजलञ्च, तण्डुलोदकं = तण्डुलधावन-  
जलम् । एतत्सर्वम् अधुनाधौतम् = तत्काल-धौतम्-अन्तमूर्हृत्तान्तधौतं चेदित्यर्थस्तदा वि-  
वर्जयेत् = न गृह्णीयात् । उपलक्षणमेतत्, उक्तञ्चाऽऽचाराङ्गं श्रीभगवता—

“से भिक्खू वार जाव अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तं जहा-  
उस्सेइमं वा संसेइमं वा चाउलोदगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं अहुणाधोयं अ-  
णंबिलं अवोक्कंतं अपरिणतं अविद्धत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । अह पुण एवं  
जाणेज्जा चिराधोयं अंबिलं वोक्कंतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा । से  
भिक्खू वार जाव अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा तं जहा-तिलोदगं  
वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा अणणयरं वा तहप्पगारं

अशन ग्रहण करनेकी विधी बताकर अब पान ग्रहण करनेको विधी दिखाते हैं—‘तहेवुच्चा-  
वयं’ इत्यादि ।

उच्च (उत्कृष्ट) मनोज्ञ वर्ण गन्ध रस स्पर्शवाला दाख आदिका धोवन तथा शर्बत आदि  
पान, अथवा (अनुत्कृष्ट) अमनोज्ञ वर्ण गन्ध रस स्पर्शवाला मेथी केर साँगरी तथा तिब छाल आदिका  
धोवन आदि पान, गुड़ या घोके घड़ेका धोवन, औटाये ( उबाले ) हुए हरा शाक आदिका  
पानी, आटेकी थाली आदिका धोवन, चावलका धोवन । ये सब यदि तत्कालके धोये हूँ हों  
अर्थात् अन्तर्मुहूर्तके अभ्यन्तरके धोये हों तो इनको ग्रहण न करे । ये ती उपलक्षण मात्र है,  
आचारांग सूत्रमें भगवानने कहा है—

अशन ग्रहण करवानी विधि अतापीने डवे पान ग्रहण करवानी विधि अतावे छेः—  
तहेवुच्चावयं धत्थादि.

उच्य (उत्कृष्ट) मनोहर वषुं गंध रस स्पर्शवाणुं द्राक्ष आदितुं धोवणु तथा शरभत  
आदि पान, अथवा (अनुत्कृष्ट) अमनोहर वषुं गंध रस स्पर्शवाणुं मेथी, केरां, भीजडानी  
इणी (सागरियो) तथा तद छःश आदितुं धोवणु आदि पान, गोण या धीना घडानुं धोवणु,  
डिआनेला दीला शाक आदितुं पाणी, आटानी थाणी आदितुं धोवणु, योआनुं धोवणु  
अे अधां ने तान् धोअेलां डोय अर्थात् अंतर्मुहूर्तनी अंदर अंदर धोअेलां डोय ते  
तेने ग्रहण करवां नडि. अे ते उपलक्षमात्र छे. आचारांगसूत्रमां लगवाने क्खुं छे के-

“साधु अथवा साध्वी पाणीने माटे गूडस्थना घरमां प्रवेश करीने, दोटना वासणुनुं  
धोवणु, शाक आदि नेमां आइलां डोय ते पाणी, योआनुं धोवणु, तथा अे प्रकारनुं

पाणगजायं पुत्रामेव आलोएज्जा-आलोएज्जा-आउसोत्ति वा० ७ । से भिक्खू वा २ जा-  
व समाणे से जं पुण जाणज्जा तं जहा-अंबपाणगं वा अंबाडगपाणगं वा कविट्टपाणगं वा  
मातुल्लिगपाणगं वा मुद्धियापाणगं वा दीलिमपाणगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं  
’ इत्यादि ।

छाया—“अथ भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यावत्-अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनः पानक-जातं  
जानीयात्, तद्यथा-उत्स्वेदिमं वा संस्वेदिमं वा तण्डुलोदकं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं  
पानकजातम् अधुनाधौतम् अनम्लम् अव्युत्क्रान्तम् अपरिणतम् अविध्वस्तम् अप्रासुकं यावत्  
नो प्रतिगृह्णीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात्-चिरधौतम् अम्लं व्युत्क्रान्तं परिणतं विध्वस्तं  
प्रासुकं यावत् प्रतिगृह्णीयात् । अथ भिक्षुर्वा २ यावत् अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनः पानकजातं  
जानीयात्, तद्यथा-तिलोदकं वा तुषोदकं वा यवोदकं वा आयामं वा सौवीरं वा शुद्धवि-  
ह्वते वा अन्यतरत् वा तथा प्रकारं पानकजातं पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन् ! इति वा  
७३। अथ भिक्षुर्वा २ यावत् अनुप्रविष्टः सन् स यत्पुनर्जानीयात्, तद्यथा—आम्रपानकं वा  
आम्रातकपानकं वा कपित्थपानकं वा मातुलुङ्गपानकं वा मृद्धीकापानकं वा दाडिमपानकं वा  
खर्जूरपानकं वा नालिकेरपानकं वा करीरपानकं वा कोलपानकं वा आमलपानकं वा  
चिञ्चापानकं वा, अन्यतरद्वा तथाप्रकारं पानकजातम्” इत्यादि ।

“साधु अथवा साध्वी पानीके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश करके—आटेके बरतनका धोवन, शाक  
आदि का बाफा हुआ पानी, चावलका धोवन तथा इस प्रकारका और भी कोई पानी तुरतका  
धोया हुआ हो, स्वादसे च्लित न हुआ हो अर्थात् जिसका धोवनहो उस वस्तुका स्वाद न आता  
हो, जिसका वर्ण रस गन्ध स्पर्श—न बदला हो—सर्वथा अचित न हुआ हो शस्त्र-परिणत न हो तो  
ग्रहण न करे । यदि तुरतका धोया हुआ न हो—बहुत देरका धोया हुआ हो, स्वादसे च्लित हो  
गया हो और शस्त्रपरिणत हो तो ग्रहण करे । तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामण, सोवीर  
(अगलण), उष्णोदक तथा इस प्रकारका और भी अंबाडगका धोवन, कविठ ( कैथ) का धोवन,  
बिजौरेका धोवन, द्राक्षका धोवन, अनारका धोवन, खजूरका धोवन, नारियलका पानी (धोवन),  
केरका धोवन, वेरका धोवन, आँवलेका धोवन, इमलीका धोवन, अथवा इस प्रकारका और भी

पीणुं पशुं क्कां पाणुं तुरतनुं धोयेत्तुं डोय, स्वादधी यत्तित थयुं न डोय, अर्थात् जेनुं  
धोवणुं डोय ते वस्तुनो स्वाद न आवतो डोय, जेनां वल्लुं रस गंध स्पर्शं न षड्दायां  
डोय-सर्वथा अचित्त न थयुं डोय, शस्त्रपरिणत न डोय, तो ते अडणुं न करे जे तुरतनुं  
धोयेत्तुं न डोय षडु वभतनुं धोयेत्तुं डोय, स्वादधी यत्तित थयुं डोय, अने शस्त्रपरिणत  
डोय तो अडणुं करे । तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामण, सौवीर, उष्णोदक तथा अमे  
प्रकारनुं पीणुं पशुं पाणुं गृहस्थे आपेत्तुं डोय ते कल्पे छे । जे साधुकेरीनुं धोवणुं  
अंभाडग (आंभेणियांनुं) धोवणुं, क्कांनुं धोवणुं, पीणेरानुं धोवणुं, द्राक्षनुं धोवणुं, अना-  
रनुं धोवणुं, खजूरनुं धोवणुं, नारियेणनुं पाणुं (धोवणुं), केरानुं धोवणुं, वेरानुं धोवणुं,  
आंभेणानुं धोवणुं, आंभेदीनुं धोवणुं, अथवा अमे प्रकारनुं पीणुं पशुं धोवणुं षडु अने

उक्तं दिगम्बराचार्येण वट्टकेरस्वामिनाऽपि मूलाचारे—

“तिलतंडुल-उसणोदय, चणोदय-तुसोदय-अविद्धत्थं ।

अण्णं तहाविहं वा, क्षपरिणतं णेय गेण्हिज्जा ॥४७३॥” इति

छाया—तिलतण्डुलोष्णोदकं चणकोदकं तुषोदकम् अविध्वस्तम् ।

अन्यत्तथाविधं वा अपरिणतं नैव गृह्णीयात् ॥४७३॥

इति गाथार्थः ॥७५॥

तर्हि कीदृशं पानं गृह्णीयात् ? इत्यत आह—‘जं जाणेज्ज’ इत्यादि, ‘अजीवं’ इत्यादि च ।

मूलम्—<sup>७</sup>जं <sup>९</sup>जाणेज्ज <sup>८</sup>चिराधोयं, <sup>१</sup>मईए <sup>२</sup>दंसणेण <sup>३</sup>वा ।

<sup>४</sup>पडिपुच्छिऊण <sup>५</sup>सुच्चा <sup>६</sup>वा, <sup>१०</sup>जं <sup>११</sup>च <sup>१२</sup>निस्संकियं <sup>१३</sup>भवे ॥७६॥

<sup>१४</sup>अजीवं <sup>१५</sup>परिणयं <sup>१६</sup>नच्चा, <sup>१८</sup>पडिगाहिज्ज <sup>१७</sup>संजए ।

<sup>१९</sup>अह <sup>२०</sup>संकियं <sup>२१</sup>भविज्जा, <sup>२२</sup>आसाइत्ताण <sup>२३</sup>रोयए ॥७७॥

छाया—यज्जानीयाच्चिराद्धौतं, मत्या दर्शनेन वा ।

प्रतिपृच्छथ श्रुत्वा वा, यच्च निश्शङ्कितं भवेत् ॥७६॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात्संयतः ।

अथ शङ्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

धोवन जाने और यदि वह अत्यम्ल न हो, तुरतकाधोया हुआ न हो, स्वादचलित हो और शस्त्रपरिणत हो तो कल्पता है ।”

दिगम्बराचार्य वट्टकेर—स्वामीने भी मूलाचारमें कहा है—

“तिलोदक, तन्दुलोदक, उष्णोदक, चनेका पानी तुषका पानी, तथा इस प्रकारका और भी जल यदि अविध्वस्त (सचित्त हो और शस्त्रपरिणत न हो तो ग्रहण नहीं करना चाहिए अर्थात् शस्त्रपरिणत हो तो लेना कल्पता है ॥१॥” (मूलाचार गा. (४७३) ॥७५॥

जे ते अहु अम्ल (आटुं) न डोय. तुरतनुं धोअधुं न डोय, स्वादथलित डोय अने शस्त्रपरिणत डोय तो कल्पे छे.”

दिगम्बराचार्य वट्टकेर—स्वामीने पणु मूलाचारमां कथुं छे—

“तिलोदक, तन्दुलोदक, उष्णोदक, यज्जानुं पाणी तुपनुं पाणी, तथा अने प्रकारनुं णीणुं पणु ऋण जे अविध्वस्त (सचित्त) डोय अने शस्त्रपरिणत नुं डोय तो अकणु करवु न जेअने अर्थात् शस्त्रपरिणत डोय तो लेवुं कल्पे छे (मूलाचार गा. ४७३) (७५).

सान्वयार्थः-मईए=बुद्धिसे वा=अथवा दंसणेण=देखनेसे पडिपुच्छिऊण=पूछकर वा= अथवा सुच्चा= बात करते हुए सुनकर जं=जिस धोवनको चिराधोयं= चिराधौत-बहुत देरका धोया हुआ जाणेज्ज=जाने, च=तथा जं=जो निस्संकियं= 'इससे तृषा शान्त होगी या नहीं?' इस प्रकारकी शङ्कारहित भवे=हो तो उसे अजीवं= जीवरहित-अचित्त और परिणयं=शस्त्रपरिणत नच्चा=जानकर संजए= साधु पडिग्गाहिज्ज=लेवे; अह=अथ-अगर वह संकियं='इससे तृषाबूझेगी या नहीं?' इस प्रकारकी शङ्कासे युक्त भविज्जा= हो तो उसे आसाइत्ताण=चखकरके रोयए=निर्णय करे ॥७६॥७७॥

टीका—मत्या=बुद्ध्या दर्शनेन=दृष्ट्या वा धौतजले तदीयवर्णादिपरिज्ञानाय तत्रा-ऽऽगमानुगामिन्या मनीषया दृष्टिनिपातेन वेति भावः, प्रतिपृच्छच=सम्यक् पृष्ठा श्रुत्वा वा तत्प्रतिवचनं प्रश्नमन्तरेणाऽपि कस्यचिन्मुखाद्वा निश्चयं यत् चिराद्धौतं जानीयात्, यच्च निश्शङ्कितम्= अनुपयोगित्वशङ्कारहितं भवेत् तद् अजीवं=प्रासुकं परिणतं=स्वपरशस्त्रादिनाऽवस्थान्तरं प्राप्तं ज्ञात्वा संयतः=साधुः प्रतिगृह्णीयात् ।

ये तु 'घटिकाद्वयानन्तरं धावनजलं सचित्तं भवतीति गृहूर्तात्परं ततोयमनुपादेय' मित्याहुः, तन्न समीचीनम्, व्यञ्जनाद्युपलिप्तकरदर्वीधावनार्थं पाकप्रदेशे पूर्वस्थापित-जलस्य गृहूर्तानन्तरं तन्मते सचित्ततायां तदानीं तदुदकक्षालितकरदर्व्यादिना निरवघा-

कैसा धोवन ग्रहण करना चाहिए ? सो बताते हैं—'जं जाणेज्ज' इत्यादि, 'अजीवं' इत्यादि ।

आगमानुसार बुद्धि अथवा दृष्टिसे धोवनका वर्ण आदि जान कर पूछ कर अथवा किसीसे सुन कर धोवन बहुत देरका धोया हुआ हो तो ग्रहण करे । तथा उपयोगी है या अनुपयोगी ? इस प्रकारकी शंकाका निर्णय करके प्रासुक तथा अवस्थान्तरको प्राप्त होगया जानकर साधु ग्रहण करे ।

जो लोग यह कहते हैं कि—'धोवन जल दो घड़ोके बाद सचित्त होनेसे अग्राह्य है' यह उनका कहना ठीक नहीं, क्योंकि, यदि दो घड़ोके बाद धोवन जल सचित्त हो जाय तो शाक आदिसे लिप्त हाथ या कुडली आदि धोनेके लिये गृहस्थ (रसोया) रसोईके समय अपने पास

डेवुं धोवणु अडणु करवुं नेधंअ ? ते जतावे छेः—जं जाणेज्ज० इत्यादि, तथा अजीवं इत्यादि.

आगमानुसारबुद्धि अथवा दृष्टिथी धोवणुनो वर्यादि नल्ली-पूछीने अथवा डेअ पासेथी सांलणीने धोवणु अडु वपतथी धोअेलुं डोय तो ते अडणु करे तेमज 'उपयोगी छे के अनुपयोगी ?' अे प्रकारनी शंकाको निश्चय करीने प्रासुक तथा अवस्थान्तरने प्राप्त थअेलुं नल्लीने साधु ते अडणु करे.

ने दोके कडे छे के-धोवणुतुं पाणु अे घडी पछी सचित्त डोवार्थी अग्राह्य छे' ते तेमनुं कडेवतुं अराअर नथी. कारणु के ने जे घडी पछी धोवणुतुं नण सचित्त थअ नय तो शाक आदिथी अरडायला हाथ या कडली-आदि धोवाने माटे गृहस्थ (रसोयै) रसोअने

शनग्रहणमपि तेषां दोषावहं भवेत् , तत्संमतसचित्तजलसंसृष्टकरदर्वीसंसर्गवत्त्वात् । मुहूर्तात्परमेव धावनजलस्य सचित्तत्वाङ्गीकारे 'अहुणाधोयं विवज्जए' इति प्रकृतसूत्रस्य च विरोधापत्तिः, तथाहि-अधुनाधौतस्य मुहूर्तान्तर्गततया तत्र तन्मते सचित्तताया अभावे तद्वर्जनोपदेशाऽसङ्गतिः चिराद्भौतस्य च मुहूर्तानन्तरं तन्मते सचित्तताया अभावे तद्वर्जनोपदेशासङ्गतिः स्यात् , तस्मात् पिपासापनोदनशक्तिशालिनश्चिराद्भौतस्य ग्रहणं शास्त्रसंमतमित्यवधेयम् ।

अथ शङ्कितं='पिपासाऽपनोदकं न वा ?' इति संशयविषयो भवेत्तदा आस्वाद्य=उक्तसंशयापनोदनार्थं किञ्चित्पीत्वा रोचयेत्=निर्णयेत् ॥

'अजीव'-मित्यनेन जीवराहित्यं 'परिणत'- मित्यनेन च सर्वथाऽचित्तत्वं सूचितम् ॥७६॥७७॥

एक पानीका बरतन रखता है, उस जलसे हाथ और कुडली धो धो कर दाल आदि परोसता है, ऐसी दशामें उक्त मतसे देर तक रखे रहनेके कारण यदि वह हाथ या कुडली आदिका धोवन सचित्त हो जाता है तो उस धोवनमें घोषी हुई कुडली या हाथसे दिया जानेवाला निरवध अन्नादि भी उनको अग्राह्य हो जायगा । 'तहेवुच्चावयं' इस गाथा के अन्तिम चरणमें 'अहुणाधोयं विवज्जए' यह कह कर भगवानने यह स्पष्ट कर दिया है कि तुरतका धोया हुआ जल अग्राह्य है, और इसीको 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे 'जं जाणेज्ज चिराधोयं' इस गाथासे सुस्पष्ट कर दिया है कि देरका धोया हुआ धोवन ग्रहण करना चाहिए । अतः दो घड़ीके बाद धोवन में जीवोंकी उत्पत्ति मानना जैनागमसे विरुद्ध है और उत्सूत्र-प्ररूपणका भागी बनना है ।

तथा 'इससे प्यास मिट जायगी या नहीं ?' ऐसा सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उस सन्देह को दूर करनेके लिए थोड़ासा पानी चख कर निर्णय करे ।

'अजीवं' पदसे जीवराहित्य और 'परिणयं' पदसे मिश्रकी शंकाका अभाव सूचित किया है ॥७६॥७७॥

समये पोतानी पासे पाणीनुं अेक वासणु राणे छे, अे जणथी हाथ अने कडली धोय-धोयने हाण आदि पीरसे छे, अेवी दशामां उक्त मत प्रमाणे केटलाक समय सुधी रहेलुं होवाने कारणे जे अे हाथ या कडली आदिनुं धोवणु सचित्त थई नय तो अे धोवणुमां धोअेवी कडली या हाथथी आपवामां आवतुं निरवध अन्नादि पणु अेभने अग्राह्य भनी नय. तहेवुच्चावयं अे गथाना अंतिम अरणुमां अहुणाधोयं विवज्जए अेभ कडीने लगवाने अे स्पष्ट करी आप्युं अे के तुरतनुं धोअेलुं जण अग्राह्य छे, अने अेने द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति अे न्याये करी जं जाणेज्ज चिराधोयं अे गाथाथी सुस्पष्ट करी आप्युं छे के केटलाक समय पडेलानुं धोअेलुं धोवणु अहणु करणुं जेअे अेटले जे घडी पछी धोवणुमां ज्योनी उत्पत्ति मानवी अे जैनागमथी विरुद्ध छे अने उत्सूत्रप्ररूपणाना लागी भनणुं पडे छे.

तेमअ 'अेधी तरस भट्ठे के नडि ?' अेवे सन्देह उत्पन्न थाय तो अे सन्देह दूर

आस्वादनविधिं प्रदर्शयन् निर्णयप्रकारमाह—‘थोव०’इत्यादि ।

२ १ ४ ५ ३  
मूलम्—थोवमासायणद्वाए, हत्थगम्मि दलाहि मे ।

१२ ११ ६ ७ १० ८ ९  
मा मे अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए ॥७८॥

छाया— स्तोकमास्वादनार्थे, हस्तके देहि मे ।

मा मे अत्यम्लं पूति, नालं तृष्णां विनेत्तुम् ॥७८॥

सान्वयार्थः—( निर्णय करनेके लिए साधु दातासे कहे कि-हे आयुष्मन् ! )

आसायणद्वाए=चखनेके लिए थोवं=थोड़ासा धोवन मे=मेरे हत्थगम्मि=हाथमें दलाहि=दो, (हाथमें लेकर चखने पर यदि निश्चय हो जाय कि वह धोवन) अच्चंबिलं=अत्यन्त खटा पूयं=दुर्गन्धित और तिण्हं=प्यास विणित्तए=बुझानेके लिए नालं =समर्थ नहीं है इसलिए यह मे=मेरे लिए उपयोगी मा=नहीं है॥७८॥

टीका—आस्वादनार्थम् = उपयोगित्वाऽनुपयोगित्वज्ञानार्थं स्तोकं स्वल्पं तिल-तण्डुलादिजलं मे = मम हस्ते ‘देहि’ इति दात्रीमुद्दिश्य वदेदिति भावः । तद्वत् धौत-जलमास्वाद्य निश्चिनुयात्-इदम् अत्यम्लं पूति = अनिष्टगन्धयुक्तं तृष्णां = पिपासां विने-त्तुम् = अपाकर्तुं नालं = न समर्थम्, इति मे = मम मा = नहि उपयोगीति शेषः॥७८॥

आस्वादन (चखने) की विधि बताते हुए निर्णय करनेका प्रकार बताते हैं —‘ थोव० ’ इत्यादि ।

‘धोवन उपयोगी है या नहीं ?’ इस शंकाका निवारण करनेके लिए देनेवाले बाईसे साधु कहे कि—‘मेरे हाथमें थोड़ासा पानी दो ।’ उस दिये हुए धोवनका आस्वादन करके निश्चय करे कि—‘यह बहुत खटा है, दुर्गन्धवाला है प्यास शांत करनेके लिए समर्थ नहीं है अतः मेरे लिए उपयोगी नहीं है ॥७८॥’

ऐसा निश्चय करके क्या करना चाहिए ? सो कहते हैं—‘तं च’ इत्यादि ।

करवाने भाटे थोडुं पाण्णी आणीने निश्चय करवो अजीबं शब्दथी एवराहित्य अने परिणयं शब्दथी मिश्रणी शंकाणे। अलाव सूचित कथो छे. (७६-७७)

आस्वादन (आभवा) नी विधि अतापतां निश्चय करवानो प्रकार अतावे छे—थोव० इत्यादि.

‘धोवणु उपयोगी छे के नहि ?’ ओ शंकातुं निवारणु करवाने भाटे धोवणु आप-नारी आधने साधु कहे के “भारा हाथमां थोडुं पाण्णी आपो.” ओ आपेला धोवणुतुं अस्वा-दन करीने निश्चय करे के ‘आ अहुं आहुं छे, दुर्गंध वाणुं छे, तरस शांत करवा भाटे समर्थ नथी, तेथी मारे भाटे उपयोगी नथी.’ (७८)

ओवो निश्चय करीने शुं करवुं ओधओ ? ते ह्ये कहे छे—तं च० इत्यादि.



निश्चयानन्तरं कर्त्तव्यमाह—‘तं च’ इत्यादि ।

मूलम्—तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए ।

दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

छाया—तच्चाऽत्यम्लं पूति, नालं तृष्णां विनेतुम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

तव वह साधु क्या करे ?, सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—अच्चंबिलं = अत्यन्त खट्टे पूयं = दुर्गन्धियुक्त और तिण्हं विणित्तए नालं = प्यास मिटाने के लिए असमर्थं तं च = उस धोवनको दितियं = देनेवालीसे साधु पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका धोवन मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

टीका—तच्च धौतजलमत्यम्लं पूति तृष्णां विनेतुं नालमिति ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं मे न कल्पते इति ॥ ७९ ॥

मूलम्—तं च होज्ज अकामेणं, विमणेण पडिच्छयं ।

तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावए ॥ ८० ॥

छाया—तच्च भवेद् अकामेन, विमनसा प्रतिगृहीतम् ।

तद् आत्मना न पिबेत्, नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥ ८० ॥

सान्वयार्थः—तं = वह उस प्रकारका धोवन यदि अकामेणं = विना इच्छासे दाताके अनुरोधसे च = तथा विमणेणं = मनके दूसरी तरफ होनेके कारण पडिच्छयं = लेलिया गया हो तो तं = उस धोवनको न = न तो अप्पणा = अपने खुद पिबे = पिबे और नो = न अन्नस्स अवि = दूसरोंकोभी दावए = देवे ॥ ८० ॥

टीका—‘तं च’ इत्यादि । तच्च धौतजलं यदि अकामेन = स्वानिच्छया, दान्यनुरोधेनेति भावः; विमनसा = अन्यमनस्कतया, ‘हेतौ तृतीया प्रतिगृहीतं तद् आत्मना स्वयं न पिबेत् नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥ ८० ॥

उस बहुत खट्टे, दुर्गन्धित और प्यास बुझानेमें असमर्थ धोवनको देनेवाली बाईसे कहे कि ऐसा धोवन मुझे नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

‘तं च’ इत्यादि । यदि ऐसा पानी अनिच्छापूर्वक दाताके अनुरोधसे अथवा विना ध्यानसे ग्रहण कर लिया हो तो स्वयं उसे न पिये और न दूसरेको पिलावे ॥ ८० ॥

એવા બહુ ખાટા, દુર્ગંધિત અને તરસ છીપાવવામાં અસમર્થ ધોવણને આપનારી બાઈને સાધુ કહે કે એવું ધોવણ મને કલ્પતું નથી. (૭૯)

તં ચ ઇત્યાદિ. જો એવું પાણી અનિચ્છાપૂર્વક દાતાના અનુરોધથી અથવા બે-ધ્યાનથી ગ્રહણ કરી લીધું હોય તો પોતે ન પીએ અને ન બીજાને પીવડાવે (૮૦)

तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—'एगंत०' इत्यादि ।

मूलम्—एगंतमवक्रमिक्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।

जयं परिट्टविज्जा, परिट्टप्प पडिकमे ॥ ८१ ॥

छाया—एकान्तमवक्रम्याऽचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।

यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥८१॥

उसका धोवन का क्या करे ? सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—एगंतं = एकान्त स्थानम् अवक्रमिक्ता = जाकरके अचित्तं = एकेन्द्रियादिप्राणीरहित अचित्त स्थानको पडिलेहिया = पूंजकर उस धोवनको जयं = यतनासे परिट्टविज्जा = परिठवे-डाले, परिट्टप्प = परिठवके आकर पडिकमे = इरियावहिया पडिकमे प्रतिक्रमण करे ॥८१॥

टीका—एकान्तं विविक्तप्रदेशम्, अवक्रम्य = गत्वा तत्र अचित्तम् = एकेन्द्रियादिप्राणिवर्जितं प्रत्युपेक्ष्य = निरीक्ष्य यतं = सयत्नं यथास्यात्तथा परिष्ठापयेत्, सविधि-“बोसिरे” इति त्रिरुच्चार्य व्युत्सृजेत् । परिष्ठाप्य = परिष्ठापनानन्तरं ग्रामाद्बहिरवहियाऽऽसन्नभूमिमागत्य प्रतिक्रामेत् = ऐर्यापथिकीं कुर्यात् ॥८१॥

अशनपानग्रहणविधेरनन्तरं भोजनविधिमाह—‘सिया’ इत्यादि, ‘अणुन्नवित्तु’ इत्यादि च ।

मूलम्—सिया य गोयरग्गओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुं ।

कुड्ढगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥८२॥

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।

हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥८३॥

छाया—स्याच्च गोचराग्रगतः इच्छेत् परिभोक्तुम्

कोष्ठकं भित्तिमूलं वा, प्रत्युपेक्ष्य प्रासुकम् ॥८२॥

फिर क्या करे सो कहते हैं—‘एगंत०’ इत्यादि ।

एकान्त स्थानमें जाकर एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंसे रहित स्थान देखकर यतनापूर्वक “बोसिरे” ऐसा तीन बार उच्चारण करके पारिठवे परिठवनेके पश्चात् गाँवमें या गाँवके बाहर ठहरने के स्थान पर आकर इरियावहियाका प्रतिक्रमण करे ॥८१॥

पछी शुं करे ते कडे छे—एगंत० इत्यादि.

अेकांत स्थानमां अथने अेकेन्द्रिय आदि प्राणीअेथी रहित स्थान अेधने यतनापूर्वक ‘बोसिरे’ अेपुं त्रधुवार उच्चारण करीने परिठवे. परिठव्या पछी गाममां या गामनी अडार रहेवानास्थान पर आवीने धरियावडियानुं प्रतिक्रमण करे. (८१)

अशन-पान अडधु करवानी विधि अताव्या आह आडार करवानी विधि अतावे छे-

अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृते ।

हस्तकं संपमृज्य तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

सान्त्वयार्थः—गोचरगगओ = गोचरीमें गया हुआ मेधावी = सामाचारीका जानकार संजए = साधु सिया य = कदाचित् अगर बाल्यावस्थाके अथवा ग्लानपनेके कारण वहीं परिभुत्तुं = आहार करना इच्छिञ्जा = चाहें तो वहां फासुयं = प्रासुक-एकेन्द्रियादिप्राणी रहित कुट्टंगं = कोठेको वा = अथवा भित्तिमूलं = भीतके समीपके स्थानको पडिलेहि-त्तान = पूंजकर तथा दृष्टिसे देखकर अणुन्नवित्तु = गृहस्थकी आज्ञा मांगकर तत्थ = वहां षडिच्छन्नम्मि = ऊपरसे छाये हुए और संवुडे = चारों तर्फसे घिरे हुए स्थानमें हत्थगं = हाथोंको अथवा अपने शरीरको संपमज्जिता = पूंजकरके (साधु) भुंजिञ्ज = आहार करे ॥८२॥८३॥

टीका— स्याच्च = कदाचित् गोचराग्रगतः = भिक्षामनुप्रविष्टो मुनिः, बाल्य-ग्लानत्व-पिपासादिकारणवशात्परिभोक्तुमिच्छेत् तदा प्रासुकम् = एकेन्द्रियादिप्राणिविवर्जितं कोष्ठकम् = अन्तर्मुहूर्त्तादिकं वा = अथवा भित्तिमूलं = कूडचसमीपवर्तिप्रदेशं प्रत्युपेक्ष्य = दृष्ट्या विलोक्य अनुज्ञाप्य = तत्स्वामिनोऽनुज्ञामादाय तत्र प्रतिच्छन्ने = ऊर्ध्वतस्तृणादि-भिराच्छादिते, संवृते किन्तु प्रकाशयुक्ते प्रदेशे, यद्वा 'संवृतः' इति प्रथमान्तं संयतस्य विशेषणं तेन, मेधावी = साधुसामाचारीकुशलः संयतः = साधुः संवृतः = मनोवाकायगुप्तः सत् हस्तकं = हस्तौ संप्रमृज्य = संशोध्य, अथवा 'हस्तकम्' इति तृतीयार्थे प्रथमा, तथा

अशन-पान ग्रहण करनेको विधि बतानेके बाद आहार करनेकी विधि बताते हैं—'सिया य' इत्यादि, 'अणुन्नवित्तु' इत्यादि ।

यदि भिक्षाके लिए गये हुए भिक्षु बालकपन, ग्लानता अथवा प्यास आदि किसी कारणसे आहार करनेकी इच्छा हो जाय तो वहाँ प्रासुक कोठा अथवा भीतके पास कोने आदिकी प्रति-लेखना करके मकानके स्वामीकी आज्ञा लेकर ऊपरको तृण आदिसे छाये हुए चारों ओरसे बन्द किन्तु प्रकाशयुक्त स्थानमें स्थित होकर मन वचन कायकी सम्यक्-प्रकार प्रवृत्ति करता हुआ साधुसामाचारीका ज्ञाता मुनि हाथोंको प्रमार्जित (साफ) करके या हस्तक अर्थात् हस्तगत रजोहरणसे काय और स्थानकी प्रमार्जना करके आहार करे ।

सिया य धृत्यादि तथा अणुन्नवित्तु धृत्यादि.

जे भिक्षाने माटे गयेला भिक्षुने जाणकपणा, ग्लानता अथवा तरस आदि केाई कारणे आहार करवानी धृच्छा थध जय तो त्यां प्रासुक केाठी अथवा लींतनी पास धूणु आदिनी प्रतिक्षेपना करीने मकानना स्वामीनी आज्ञा लधने उपर घास आदिथी छायेला यादे जाणुथी अंध परन्तु प्रकाशयुक्त स्थानमां रहीने मन वचन कायानी सम्यक् प्रकारे प्रवृत्ति करतां साधु सामाचारीने ज्ञाता मुनि हाथने प्रमार्जित करीने(साफ करीने) या हस्तक (हस्तगत रजोहरण) थी काय अने स्थाननी प्रमार्जना करीने आहार करे.

च-हस्तकेन = हस्तं कायति - धातूनामनेकार्थत्वात्प्राप्नोतीति हस्तकम्, ('आतोऽनुप-सर्गे कः' इति कप्रत्ययः,) रजोहरणं तेन, तस्य धारणे हस्तस्य सर्वथा निमित्तत्वात्, प्रायः कक्षप्रदेशे धारणेऽपि हस्ताश्रयं विना तदीयधारणासम्भवाच्च ।संप्रमृज्य = तत्थानं कायं च संशोध्य भुञ्जीत = अभ्यवहरेत् ।

यत्तु "हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपमादाय तेन कायं संप्रमृज्य" इति व्याख्यातं तदयुक्तं 'हस्तक' पदार्थस्य 'संप्रमृज्य' पदार्थेऽन्वयसम्भवे 'आदाये'-ति पदान्तराक्षेपपूर्वकमन्यपदा-र्थेऽन्वयकल्पनाया अनौचित्यात् । किञ्च कोष व्याकरणादिषु हि हस्तकशब्दो मुखवस्त्रि-कारूपेऽर्थे न दृश्यते । शास्त्रेऽपि-"मुहपत्तिं पडिलेहित्ता" इत्यादि दृश्यते न तु 'हत्थगं पडिलेहित्ता' इत्यादि ।

यच्च "विधिना तेन मुखवस्त्रिकारूपेण हस्तकेन कायं प्रमृज्य तत्र भुञ्जीत" इति व्याख्यातं तदप्ययुक्ततरम् । हस्ते मुखवस्त्रिकाधारणे मुखवस्त्रिकाधारणोद्देश्यभूतायाः सूक्ष्म-

किसी-किसीने 'हस्तकं संप्रमृज्य' का ऐसा अर्थ किया है कि 'मुखवस्त्रिका लेकर उससे शरीर-प्रमार्जना करे' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि मुखवस्त्रिकाके साथ प्रमार्जन करनेका सम्बन्ध मिलते न देख उन्हें एक 'आदाय' शब्द (लेकर) अपनी ओरसे मिला दिया है । इस प्रकार सम्बन्ध मिलाना उचित नहीं है । इसके सिवाय कोषोंमें कहीं 'हस्तक' शब्द का अर्थ मुख-वस्त्रिका नहीं किया है और न व्याकरणमें ही ऐसा देखाजाता है । आगमोंमें 'मुहपत्तिं पडिले-हित्ता' इत्यादि पद देखे जाते हैं, किन्तु 'हत्थगं पडिलेहित्ता' कहीं नहीं देखा जाता ।

तथा "मुखवस्त्रिकारूप हस्तकसे कायकी प्रमार्जना करके आहार करे"

ऐसा व्याख्या करना भी अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि मुखवस्त्रिका धारण करनेका प्रयोजन सूक्ष्म, व्यापी, सम्पातिम तथा वायुकाय आदि जीवोंकी हिंसाका परिहार करना है । मुखवस्त्रिकाको हाथमें रखनेसे उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इससे यह सिद्ध होता है कि मुखवस्त्रिका

કોઈ-કોઈએ હસ્તકં સંપ્રમૃજ્ય નો એવો અર્થ કર્યો છે કે-'મુખવસ્ત્રિકા લઈને તેથી શરીરની પ્રમાર્જના કરે,' પણ એવો અર્થ કરવો એ ખરાખર નથી, કારણ કે મુખ-વસ્ત્રિકાની સાથે પ્રમાર્જન કરવા સંબંધ મળતો નહિ જોવાથી તેમણે એક આદાય શબ્દ લઈને પોતાની તરફથી મેળવી દીધો છે. આ પ્રમાણે સંબંધ મેળવી દેવો એ ઉચિત નથી. વળી કોષોમાં કયાંય 'હસ્તક' શબ્દનો અર્થ મુખવસ્ત્રિકા કર્યો નથી અને વ્યાકરણમાં પણ એવો અર્થ જોવામાં આવતો નથી, આગમોમાં મુહપત્તિ પડિલેહિત્તા ઇત્યાદિ પદ જોવામાં આવે છે, કિન્તુ હત્થગં પડિલેહિત્તા કયાંય જોવામાં આવતું નથી.

તથા "મુખવસ્ત્રિકા૩૫ હસ્તકથી કાયની પ્રમાર્જના કરીને આહાર કરે" એવી વ્યાખ્યા કરવી એ પણ અત્યંત અયુક્ત છે, કારણ કે મુખવસ્ત્રિકા ધારણ કરવાનું પ્રયોજન સૂક્ષ્મ, વ્યાપી, સંપાતિમ તથા વાયુકાય આદિ જીવોની હિંસાનો પરિહાર કરવો એ છે. મુખવસ્ત્રિકાને હાથમાં રાખવા ઉક્ત પ્રયોજન સિદ્ધ થતું નથી. એથી એમ સિદ્ધ થાય છે

व्यापिसम्पातिमवायुकायादिजीवर्हिसानिवृत्तेरसिद्ध्या मुखवस्त्रिका मुख एव धारणीयेत्या-  
शयस्य जागरुकत्वात्, अत एव भगवताऽपि सूक्ष्मव्यपिसम्पातिमवायुकायादिजीवाऽय-  
तनानिवृत्तये मुखोपरि धारणीयसदोरकाष्टपुटमुखप्रमाणवस्त्रखण्डरूपेऽर्थे मुखवस्त्रिकाशब्दः  
प्रयुक्तो, न तु हस्तवस्त्रिकाशब्द इति कथमपि हस्तकशब्देन मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थो न लभ्यते  
एवं च तेन कायप्रमार्जनकथनं सर्वथाऽऽगमविरुद्धमेवेति बोध्यम् ॥८२॥८२॥

१ ३ २ ४ ५ १२  
मूलम्—तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्टियं कंटओ सिया ।

८ ७ ६ ९ १० ११  
तण-कट्ट-सकरं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ॥८४॥

१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९  
तं उक्खवित न निक्खवे, आसएण न छड्डए ।

२१ २० २२ २३ २४  
हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ॥८५॥

छाया—तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अष्टिकं कण्टकः स्यात् ।

तृण-काष्ठ-शर्करं वाऽपि, अन्यद्वापि तथाविधम् ॥८४॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्, आस्येन होञ्जेत् ।

हस्तेन तद् गृहीत्वा, एकान्तमपक्रामेत् ॥८५॥

सान्त्वयार्थः— तत्थ=वहां कोठे आदि में भुंजमाणस्स=आहार करते हुए से=उस  
साधु के (आहारमें) अट्टियं=बीज कंटओ=कांटा तण=तिनका कट्ट=काठ वावि=और  
सक्करं=छोटा कंकर वा=तथा अन्नं वावि=और भी तहाविहं=उस प्रकार का पदार्थ सिया  
=आगया हो तो तं=उसे उक्खवित्तु=निकालकर न निक्खवे=इधर उधर नहीं डाले तथा  
आसएणं=मुखसे भी न छड्डए=न फेंके न थूँके (किन्तु) तं=उसे हत्थेण=हाथ से  
गहेऊण=लेकर एगंतं=एकान्त स्थानमें अवक्कमे=जावे ॥८४॥८५॥

मुखपर ही धारण करनी चाहिए । इसलिए मुखके निमित्तसे होनेवाली, सूक्ष्म, व्यापी, सम्पात्तिन  
और वायुकाय आदि जीवोंकी विराधनाकी निवृत्तिके लिए मुख पर धारण करने योग्य उस मुख  
परिमाण सदोरक और आठ पुड़वाले वस्त्रखण्डको भगवानने 'मुखवस्त्रिका' शब्दसे कहा है, 'हस्त-  
वस्त्रिका' शब्दका प्रयोग कहीं नहीं कियों, अत एव 'हस्तक' शब्दसे मुखवस्त्रिकाका अर्थ किसी  
भी प्रकार नहीं निकल सकता । इस प्रकार 'उससे कायकी प्रमार्जना करना ' यह अर्थ आग-  
मसे सर्वथा विरुद्ध है ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

हे भुभयस्त्रिका भुभ पर ७ धारण करवी जेधजे. तेथी भुभना निमित्ते थनारी सूक्ष्म,  
व्यापी, संपातिम अने वायुकाय आदि जीवोंकी विराधनानी निवृत्तिने भाटे भुभ पर धारण  
करवा योग्य जे भुभपरिमाणे होरा साथेना अने आठ पुडवाणा वस्त्र अने भगवाने 'भुभ-  
वस्त्रिका' कही छे, 'हस्तवस्त्रिका' शब्दने प्रयोग क्यो नथी. जेठेले 'हस्तक' शब्दथी भुभ-  
वस्त्रिकाने अर्थ होध पद्य प्रकारे नीकणी शकते नथी. जे रीते 'भुभवस्त्रिकाथी कायानी  
प्रमार्जना करवी' जे अर्थ आगमथी सर्वथा विरुद्ध छे. (८३-८३)

टीका—‘तत्थ से’ इत्यादि, ‘तं उक्खवित्तु’ इत्यादि च । तत्र कोष्ठकादिस्थाने भुञ्जानस्य तस्य भिक्षोर्भोजने अष्ठिकं=बीजं, कण्टकः=तीक्ष्णाग्रो द्रुम-गुल्म-लता-घङ्गविशेषः, अपिवा तृण-काष्ठ शर्करं=तृणं च काष्ठं च शर्करा चैतेषां समाहारः । तत्र तृणं=कुशादिकं काष्ठं=खदिरादिसमुद्भवं दारु शर्करा=क्षुद्रपाषाणखण्डम् । अन्यदपि वा तथाविधं=तज्जातीयं स्यात्=भवेत् तद्=अष्ठिकादिकम् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्=उत्क्षेपणं कृत्वा यत्र तत्र न क्षिपेत्, आस्येन=मुखेनापि नोज्जेत=यूत्कृत्य न क्षिपेत् । तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—तद् हस्तेन गृहीत्वा एकान्तमपक्रामेत् गच्छेत् ॥८४॥८५॥

मूलम्—ए०गंत०मवकमिता, अचित्तं पडिलेहिया ।

जयं परिट्टविज्जा, परिट्टप्प पडिक्कमे ॥८६॥

छाया—एकान्तमपक्रम्याऽचित्तां प्रत्युपेक्ष्य ।

यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

एकान्त में जाकर क्या करे ? सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—ए०गंतं=एकान्त स्थान में अवकमिता=जाकरके अचित्तं=एकेन्द्रियादि-प्राणीरहित अचित्त स्थान को पडिलेहिय =पूँजकर उस धोवन को जयं=यतनासे परिट्टविज्जा=परिठवे डाले, परिट्टप्प=परिठवके आकर पडिक्कमे=इरियावहिया पडिकमे कर ॥८६॥

टीका—‘ए०गंत०’ इत्यादि । विजनप्रदेशं गत्वा अचित्तां भूमिं चक्षुषा निरीक्ष्य बीजादिकं सयत्नं व्युत्सृजेत्, तदनु स्थानमागत्य प्रतिक्रामेत्=ऐर्यापथिकीं कुर्यादिति भावः ॥८६॥

‘तत्थ से’ इत्यादि, ‘तं उक्खवित्तु’ इत्यादि । उस कोठे आदिमें आहार करनेवाले भिक्षुके भोजनमें बीज, कांटा, तिनका, लकड़ी, किरकिरी—कंकर या और कोई उस प्रकारकी वस्तु हो तो उसे निकाल कर जहाँ-तहाँ न डाले तथा मुखसे भी न थके किन्तु उसको हाथमें लेकर एकान्त स्थानमें जावे ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

‘ए०गंत०’ इत्यादि । एकान्तमें जाकर अचित्त भूमि देख कर वहाँ यतनाके साथ उस बीज कांटे आदिको डाले । फिर अपने स्थान पर आकर इरियावहियाका प्रतिक्रमण करे ॥ ८६ ॥

तत्थ से० इत्यादि, तथा तं उक्खवित्तु० इत्यादि. ये कोठामां आहार करनारा भिक्षुना भोजनमां पीज, कांटा, तणुअदां लाकडुं, कंकिरी-कांकरा या अेवा प्रकारनी पीलु कोअ वस्तु डोय तो ते कादी नांभी जयां-त्यां नांभे नडि, तथा मुअथी पणु थूके नडि, परंतु तेने हाथमां लधने अेकान्त स्थानमां जय. (८४-८५)

ए०गंत०इत्यादि. अेकान्तमां जधने अचित्त भूमि जेधने त्यां यतनापूर्वक अे पीज कांटा आदिने नांभे. पथी पोताना स्थान पर आपीने धरियावडियातुं प्रतिकमणु करे. (८६)

४ १ २ ७ ३ ५ ६  
मूलम्-सिया य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तं ।

८ ९ १३ १२ १४  
सपिण्डपायमागम्म उंडुअं से पडिलेहिया ॥८७॥

१० ११ १६ १५ १९  
विणएणं पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।

२० २१ १७ १८ २२  
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

छाया—स्याच्च भिक्षुरिच्छेत् , शय्यामागम्य भोक्तुम् ।

सपिण्डपातमागम्य, उन्दुकं से (तत्र) प्रत्युपेक्ष्य ॥८७॥

विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः ।

एयौपथिकीमादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥८८॥

सान्वयार्थः—सिया य=अगर भिक्खू=साधु सिज्जं=वसति उपाश्रयमें ही आगम्म आकर भुत्तुं=आहार करना इच्छिज्जा=चाहे तो सपिण्डवार्यं=भिक्षाके सहित आगम्म=आकर विणएणं =मत्थएण वंदामि निस्सीहि' इस प्रकार बोलनेरूप विनय से पविसित्ता उपाश्रयमें प्रवेश करके से—वहां उंडुअं = भोजनके स्थानको पडिलेहिया = अच्छी तरह देखकर गुरुणो = रत्नाधिक के सगासे = समीप आगओ य = आया हुआ मुणी = मुनि इरियावहियं = इरियावहियाका पाठ आयाय = छेकर पढकर पडिक्कमे = कायोत्सर्ग करे तात्पर्य यह है कि प्रबल पिपासा आदि खास कारण के बिना तो उपाश्रयमें आकर ही साधुको आहार करना चाहिये किन्तु गृहस्थके घर में नहीं करे ॥८७॥८८॥

टोका—सिया य' इत्यादि, 'विणएणं' इत्यादि च । भिक्षुः = वाधुः शय्यां = वसति स्यात् = एव आगम्य भोक्तुमिच्छेत् । अत्र स्यादित्यव्ययमवधारणार्थं तेन प्रबलपिपासा-दिकारणाभावे वसति विहायाऽन्यत्र न भोक्तव्य' मिति तात्पर्यं गम्यते । तदा सपिण्डपातं = पिण्डपातो-भिक्षालाभस्तेन सहाऽऽगम्य विनयेन = "मत्थएण वंदामि निस्सीहि" इतिपठनलक्षणेन प्रविश्य उपाश्रयमिति शेषः, से = यद्वा से शब्दो मगधदेशप्रसिद्धः 'तत्र'

'सिया य' इत्यादि, 'विणएणं' इत्यादि । साधु उपाश्रयमें आकर ही आहार करनेकी इच्छा करे । यहाँ 'स्यात्' अव्यय निश्चय बोधक है इससे यह तात्पर्य प्रगट होता है कि पिपासा आदि किसी प्रबल कारणके बिना उपाश्रयके सिवाय अन्यत्र आहार नहीं करना चाहिए । अत एव भिक्षा लाकर "मत्थएण वंदामि निस्सीहि ?" यह पाठ उच्चारण करके उपाश्रयमें प्रवेश करे फिर

सिया य० इत्यादि, तथा विणएणं इत्यादि, साधु उपाश्रयमां आपीने न आहार कर-  
वानी इच्छा करे, अही स्यात् अव्यय निश्चयबोधक छे, तेथी ये तात्पर्यं प्रकट थाय छे के  
तरस आदि केछे प्रथम करण विना उपाश्रय सिवाय अन्यत्र आहार न करवे जेछेये  
येटवे भिक्षा लापीने मत्थएण वंदामि निस्सीहि ये पाठ उच्चारिने उपाश्रयमां प्रवेश करे,  
पछी लोअन करवाना स्थाननी सम्यक् प्रकारे प्रतिलेअना करिने दीक्षामां भेटा मुनिनी

शब्दार्थे वर्तते तेन से = तत्र उन्दुकं = स्थानं प्रत्युपेक्ष्य = सम्यक् निरीक्ष्य गुरोः =  
रत्नाधिकस्य सकाशे आगतश्च मुनिः पेर्यापथिकीम् इच्छामि पडिक्कमिउं” इत्यादिलक्ष-  
णाम् आदाय = पठित्वा प्रतिक्रामेत् = कायोत्सर्गं कुर्यात् ॥८७॥८८॥

तत्र (कायोत्सर्गे) किं कुर्यात् ? इत्याह—आभोइत्ताण इत्यादि ‘उज्जुप्पन्नो’ इत्यादि च ।

<sup>१०</sup> मूलम्—आभोइत्ताण <sup>१</sup> नीसेसं <sup>८</sup> अइयारं <sup>९</sup> जहकमं ।

<sup>२</sup> गमणागमणे <sup>३</sup> चैव, <sup>४</sup> भक्ते <sup>५</sup> पाणे <sup>६</sup> य संजए ॥९८॥

<sup>११</sup> उज्जुप्पन्नो <sup>१२</sup> अणुव्विग्गो, <sup>१३</sup> अव्वक्खित्तेण <sup>१४</sup> चैयसा ।

<sup>१९</sup> आलोए <sup>१५</sup> गुरुसगासे, <sup>१६</sup> जं <sup>१७</sup> जहा-गहियं <sup>१८</sup> भव ॥९०॥

छाया—आभोग्य निश्शेषम्, अतिचारं यथाक्रमम् ।

गमनागमने चैव, भक्ते पाने च संयतः ॥८९॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।

आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

सान्बयार्थः—संजए=कायोत्सर्गमे रहा हुआ मुनि गमणागमणे=जानेआनेमें चैव  
=और भक्ते=आहार य=तथा पाणे=पानी के ग्रहण करने में (लगे हुए) नीसेसं=सब प्रकार  
के अइयारं=अतिचारोंको तथा जं=जो अशनादि जहा=जिस प्रकार गहियं भवे=ग्रहण  
किया हुआ हो उसे भी जहकमं=यथाक्रम अनुक्रमसे आभोइत्ताण=उपयोगसहित चिन्तन  
करके, उज्जुप्पन्नो=सरल बुद्धिवाला अणुव्विग्गो=उद्वेगरहित वह मुनि अव्वक्खित्तेण=  
विक्षेपरहित—एकाग्र चैयसा=चित्तसे गुरुके समीप आलोवे ॥८९॥९०॥

टीका—संयतः=कायोत्सर्गस्थो मुनिः, गमनागमने=गतागतं चैव भवते पाने च  
संचालं निश्शेषं=समग्रम् अतिचारं=मुनिमयीदालङ्घनलक्षणम् यथाक्रमम् आभोग्य=सोप-

मोजन करनेके स्थानकी सम्यक् प्रकार प्रतिलेखना करके दीक्षामें बड़े मुनिके समीप आकर  
“इच्छामि पडिक्कमिउं” इत्यादि ईरियावहिया का पाठ बोल करके कायोत्सर्ग करे ॥८७॥८९॥

कायोत्सर्गमें क्या करना चाहिए सो कहते हैं—‘आभोइत्ताण’ इत्यादि, ‘उज्जुप्पन्नो’  
इत्यादि ।

कायोत्सर्गमें स्थित होकर गमनाऽऽगमनमें, तथा-आहार पानोके लेनेमें जो अतिचार लो  
हों उन सबका क्रमशः चिन्तन करके सरल बुद्धि-शान्तचित्तवाला संयमीव्याकुलतारहित चित्तसे

समीपे आनीने इच्छामि पडिक्कमिउं इत्यादि ईरियावहियाने पाठ भोलीने कायोत्सर्ग  
करे (८७-८८)

कायोत्सर्गमां शुं करवुं नेधये ते ठडे छे-आभोइत्ताण० इत्यादि. तथा उज्जुप्पन्नो०  
इत्यादि.

कायोत्सर्गमां स्थिर थधने गमनागमनमां, तथा आहारपाणी लेवामां ने अतिचार  
लाग्या डोप ते सर्वानुं क्रमशः चिन्तन करीने सरलबुद्धि शान्त-चित्तवाणे संयमी व्याकु-



योगं विचिन्त्य ऋजुपन्नः=सरलबुद्धिः अनुद्विग्निः=प्रशान्तः, अव्याक्षिप्तेन=अव्याकुलेन चेतसा=मनसा गुरुसकाशे=शुद्धं प्रमादादिवशेनाऽशुद्धं वा यद् यस्माद् यत्र वा यथा गृहीतं भवेत् तदपि गुरु समीपे कथयेदित्यर्थः ।

‘उज्जुप्पन्नो’ इत्यनेनाऽकुटिलमतिरेव सम्यगालोचयतीति सूचितम् । अणुव्विग्नो अनेन क्षुधादिपरिषहजेतृत्वमावेदितम् । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ इत्यनेन ‘एकाग्रचित्तेनैवाऽतिचारस्य सम्यक् स्मरणं भवती’—ति स्पष्टीकृतम् ॥८९॥९०॥

८ ६ ७ ९ २ ३ ४ १ ५  
मूलम्-न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुर्व्वि पच्छा व जं कडं ।

११ १२ १० १३ १५ १४  
पुणो पडिक्कमे तस्स वोसट्टो चित्ते इमं ॥९१॥

छाया—न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।

पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य, व्यत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥९१॥

सान्त्वयार्थः—जं=जो अतिचार पुर्व्वि=पहले व=तथा पच्छा=पीछे कडं=क्रिया है वह सम्मं=सम्यक् प्रकारसे-अच्छी तरह याने पहले लगे हुए पापको पहले आलोचे और पीछे लगे हुए पापको पीछे आलोचे’ इस प्रकार आलोइयं=आलोचित न कुज्जा=नहीं किया हो तो तस्स=उस अतिचारको पुणो=फिरसे पडिक्कमे=आलोचे, (और) वोसट्टो=कायोत्सर्गमें रहा हुआ साधु इमं=इस ‘आगे कहा जानेवाला’ प्रकार चित्ते=चिन्तन करे ॥९१

टीका ‘न सम्म०’ इत्यादि । यत्=यस्माद्धेतोः पूर्वं पश्चाद्वा कृतमतिचारं सम्यक् प्राक्कृतं प्रागालोचितव्यं पश्चात्कृतं च पश्चादालोचितव्यमिति क्रमेण आलोचितं =प्रका-

गुरुके समीप आलोचना करे । प्रमाद आदिके वशसे जहां जैसा शुद्ध या अशुद्ध आहार आदि लिया गया हो वह भी गुरुसे निवेदन करे ।

‘उज्जुप्पन्नो’ पदसे यह सूचित किया है कि कुटिलतारहित बुद्धिवाला ही यथार्थ आलोचना कर सकता है । ‘अणुव्विग्नो’ पदसे क्षुधा आदि परिषहोंका जीतना प्रगट किया है । ‘अव्वक्खित्तेण चेतसा’ पदसे यह सूचित किया है कि एकाग्र-चित्तसे ही अतिचारोंका अच्छी तरह स्मरण हो सकता है ॥८९॥९०॥

‘न सम्म०’ इत्यादि । आगे-पीछे किये हुए अतिचारोंकी सम्यक् प्रकार अर्थात् पहले किये हुएकी पश्चात्-आलोचना न की गई हो तो अतिचारोंका पुनः प्रतिक्रमण करना चाहिए

गता-रहित चित्तथा शुद्धनी समीपे आलोचना करे. प्रमाद आदिने वश थधने व्या भवे शुद्ध या अशुद्ध आहार आदि लेवाना आवेल होय ते पणु शुद्धने निवेदन करे.

उज्जुप्पन्नो शब्दथी अेम सूचित करवाना आव्युं छे के कुटिलतारहित बुद्धिवाला व यथार्थ आलोचना करी शके छे, अणुव्विग्नो शब्दथी क्षुधा आदि परिषहाने उतवानुं प्रकट करवाना आव्युं छे. अव्वक्खित्तेण चेतसा शब्दथी अेम सूचित कथुं छे के एकाग्र-चित्तथी व अतिचारानुं सारी रीते स्मरण थध शके छे. (८९-९०)

न सम्म० इत्यादि. आगण-पाछण करेला अतिचारानी सम्यक् प्रकारे अर्थात् पहिलां ४९

शितं न भवेच्चेदतः तस्य = अतिचारस्य (सम्बन्धसामान्ये षष्ठी) पुनः प्रतिक्रामेत् ।  
 व्युत्सृष्टः = कायोत्सर्गस्थः इदं = वक्ष्यमाणं चिन्तयेत् ॥९१॥  
 तदेवाऽऽह—‘अहो’ इत्यादि ।

मूलम्—अहो<sup>१</sup> जिणेहिं<sup>६</sup> असावज्जा<sup>५</sup>, वित्ती<sup>७</sup> साहूण<sup>८</sup> देसिया<sup>९</sup> ।

मोक्खसाहणहेउस्स<sup>२</sup> साहूदेहस्स<sup>३</sup> धारणा<sup>४</sup> ॥९२॥

छाया- अहो ! जिनैः असावद्या, वृत्तिः साधुभ्यो देशिता ।

मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ॥९२॥

सान्वयार्थः—अहो = आश्चर्य है कि-मोक्खसाहणहेउस्स = मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत साहूदेहस्स = साधुशरीरके धारणा = निर्वाह-स्थितिमात्र के लिए साहूण = मुनियोंको जिणेहिं—तीर्थङ्कर भगवानने असावज्जा = निर्दोष वित्ती = भिक्षावृत्ति- (आचार)देसिया = बताई है ॥९२॥

टीका--अहो = आश्चर्य मोक्षसाधनहेतोः = अपवर्गसिद्धनिमित्तभूतस्य साधुशरीरस्य धारणाय = स्थितिमात्रार्थं साधुभ्यः = मुनीनुद्दिश्य जिनैः = तीर्थङ्करैः, असावद्या = दोषरहिता वृत्तिः = भिक्षालक्षणा देशिता = उपदिष्टा ॥९२॥

मूलम्—णमुक्कारेण<sup>२</sup> पारित्ता<sup>३</sup> करित्ता<sup>५</sup> जिणसंथवं<sup>४</sup> ।

सज्झायं पट्टवित्ताणं<sup>६</sup> वीसमेज्ज<sup>७</sup> खणं<sup>९</sup> मुणी<sup>८</sup> ॥९३॥

छाया—नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम् ।

स्वाध्यायं पठित्वा विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥९३॥

सान्वयार्थः—कायोत्सर्ग में पूर्वोक्त प्रकार से चिन्तन करने के बाद मुणी = साधु नमुक्कारेण = नमस्कार मन्त्रसे पारित्ता = कायोत्सर्गको पार-समाप्त करके जिणसंथवं

और कायोत्सर्गमें स्थित होकर ऐसा (अगली गाथामें कहे जानेवाला विचार करे ॥९३॥

उसी विचार को कहते हैं—‘अहो’ इत्यादि ।

अहो ! यह शरीर मोक्षकी सिद्धिका कारण है अतः इसकी स्थितिके लिए तीर्थङ्कर भगवानने साधुओंको निर्दोष भिक्षा लेनेका उपदेश दिया है ॥९२॥

करेला अतिचाराने। पडेलां अने पाछां करेला अतिचाराने। पाछां आदीयना न करवाभां आवी डोय तो अतिचारानुं पुनःप्रतिक्रमणुं करवुं जेधये, अने कायोत्सर्गभां स्थित थधने जेधये (आगली गाथाभां कडेलाभां आवतारो) विचार करे. (९१)

जे विचार हुवे कडे छे-अहो० इत्यादि.

अहो ! आ शरीर मेक्षनी सिद्धितुं कारण छे, अटवे जेनी स्थितिने भाटे तीर्थंकर लगवाने साधुजोने निर्दोष भिक्षा लेवाने अ उपदेश आये छे. (९२)

लोगस्य उज्जोयगरे' इत्यादि संपूर्ण जिणसंथव-(जिन भगवान् की स्तुती) करित्ता = करके तथा सज्जायं = सज्जाय-कमसे कम मूलशास्त्रकी पांच गाथाओंका स्वाध्याय पढ-विच्चा = पढकर खणं = क्षणभर जितने में दूसरे मुनिराज भी शामिल हो जाते हैं' इस अभिप्राय से कुछ देर वीसमेज्ज = विश्राम करे ॥९३॥

टीका—'णमुक्कारेण' इत्यादि । मुनिः संयतः नमस्कारेण = 'णमो अरिहंताणं' इत्युच्चारणलक्षणेन कायोत्सर्गमिति शेषः, पारयित्वा = समाप्य जिनसंस्तवं "लोगस्स उज्जोयगरे" इत्यादिलक्षणं सम्पूर्णं कृत्वा = विधाय स्वाध्यायं = धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इत्यादिगाथापञ्चकादन्यूनं मूलशास्त्रं पठित्वा क्षणं = क्षणमात्रं 'मण्डलेऽन्यमुनयोऽपि समागत्य संमिलिता भवन्तु' इत्याशयेन विश्रम्येत् विश्रान्तिं कुर्यात् ॥९३॥

१ ३ ६ ४ ५ २  
मूलम्-वीसमंतो इमं चित्ते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।

७ ९ १० ११ ८ १२ १३  
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहु हुज्जा तारिओ ॥९४॥

विश्राम्यन् मुनिः किं कुर्यात् ? इत्याह—

छाया—विश्राम्यन् (मुनिः) इदं चिन्तयेत् हितमर्थं लाभार्थिकः ।

यदि मम अनुग्रहं कुर्यात् साधुर्भवामि तारितः ॥९४॥

विश्राम के समय मुनि क्या करे सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—वीसमंतो = विश्राम करता हुआ लाभमट्ठिओ = कर्मनिर्जराका अभि-लाषी साधु इमं = इस इसी गाथा के उत्तरार्द्धमें कहेजानेवाले-प्रकार हियं = मोक्षप्राप्ति रूप हितके करनेवाले अट्ठं = भावी प्रयोजनको चित्ते = चिन्तन करे, जैसे जइ = यदि-अगर साहु = कोई भी मुनिराज मे = मेरे ऊपर अणुग्गहं कुज्जा = अनुग्रह करें अर्थात् मेरे भागके आहारमें से कुछ आहार ले ले तो मैं तारिओ हुज्जा = इस संसार समुद्रको तैर जाऊं पार कर जाऊं ॥९४॥

'णमुक्कारेण' इत्यादि । मुनि 'णमो अरिहंताणं' पदका उच्चारण करके कायोत्सर्ग को समाप्त करे । फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे' इत्यादि जिन संस्तव पूर्ण करके 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इत्यादि कमसे कम पांच गाथाओंकी मूलशास्त्रकी सज्जाय करके थोड़ी देर विश्राम करे कि जिससे अन्य मुनि भी आकर शामिल हो जावें ॥९३॥

विश्राम करता हुआ मुनि क्या करे सो कहते हैं—'वीसमंतो' इत्यादि ।

णमुक्कारेण इत्यादि. मुनि णमो अरिहंताणं पढतुं उच्चारण करीने कायोत्सर्गने समाप्त करे, पछी लोगस्स उज्जोयगरे इत्यादि जिन संस्तव पूर्ण करीने धम्मो मंगलमुक्किट्ठं इत्यादि ओछाभां ओछी पांच गाथाओंकी मूलशास्त्रकी सज्जाय करे थोड़ी देर विश्राम करे ओछी अन्य मुनि पण्य आवीने शामिल थछं जय (६३)

विश्राम करतं मुनि शुं करे ते कडे छे-वीसमंतो० इत्यादि.

टोका विश्राम्यन् = विश्रान्ति कुर्वाणो लाभार्थिकः = कर्मनिर्जराभिलाषी इदं  
गाथोत्तरार्द्धे वक्ष्यमाणं हितं = मुक्त्यवाप्तिरूपम् अर्थं = भाविप्रयोजनं चिन्तयेत् = विचार  
येत् यदि कोऽपि साधु = मुनिः मम = मदुपरि अनुग्रहं = मया मदर्थं वोपनीतस्पाद्मादेर्ग्र-  
हणलक्षणं कुर्यात् तर्हि अहं तारितः = दुस्तरभवसागरतः समुत्तारितो भवामीत्यर्थः ॥९४॥

एवं विचिन्त्य स पूर्वं स्वभागमन्नादिकं ग्राहयितुं सर्वेषु मुनिषु रत्नाधिकं प्रार्थ-  
येत् । यदि गृह्णीयात्तर्हि सम्यक्, नाङ्गीकुर्याच्चेदेवं निवेदयेत्-“आर्यपादाः ! कस्मैचि-  
न्मुनये भवद्भिः स्वयमेव वितोर्यता”-मिति । अथ रत्नाधिको यथेच्छं दद्यात् । यदि चाऽ-  
दत्त्वा रत्नाधिकः ‘त्वमेव यथेच्छं प्रयच्छे’-ति ब्रूयात् तदा तेन शिष्येण किं कर्तव्यम् ?  
इत्याह-‘साहवो’ इत्यादि ।

२ १ ३ ५ ४  
मूलम्—साहवो तो चियत्तेणं, निमन्तिज्ज जहक्कमं ।

६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३  
जह तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥९५॥

छाया—साधून् ततः चियत्तेणं, निमन्त्रयेद् यथाक्रमम् ।

यदि तत्र केऽपि इच्छेयुः, तैः सद्धिं भुञ्जीत ॥९५॥

पूर्वोक्त प्रकार से चिन्तन करके अपने हिस्से का अशनादिको लेनेके लिये सब  
मुनियों में से रत्नाधिक-दीक्षा में बड़े-मुनिसे पहले प्रार्थना करे, यदि वे लें तो अच्छा

कर्मोकी निर्जरा का अभिलाषी साधु विश्राम करते समय इस मुक्ति रूप इतिके करनेवाले  
अर्थका चिन्तन करे—यदि कोई मुनिराज मुझ पर अनुग्रह करके मेरे भागके अन्न आदिको ग्रहण  
करें तो मैं इस दुस्तर भवसागरसे तिर जाऊँ ॥९४॥

ऐसा विचार करके प्रथम सब मुनियोंमें जो रत्नाधिक (दीक्षामें बड़े) हों उनसे अपना  
भाग ग्रहण करनेकी प्रार्थना करे । यदि ग्रहण करें तो अच्छा ही है । न ग्रहण करें तो ऐसा  
निवेदन करे—‘हे भदन्त ! आप हो किसी मुनिको यह आहार वितरण कीजिए’ फिर रत्नाधिक  
इच्छानुसार देदेवे । यदि वे न देकर यह आज्ञा देवें कि—‘तुम्हो इच्छानुसार देदो’ तो शिष्यको  
क्या करना चाहिए ? सो बताते हैं—‘साहवो’ इत्यादि ।

कर्मेणी निर्जरानो अबिलाषी साधु विश्राम करती अपने अ वा मुक्तिरूप हितना  
करवावाणा अर्थतुं चित्तन करे-जे केई मुनिराज मारा पर अनुग्रह करीने मारा लागना  
अन्न आदिने ग्रहण करे तो हुंआ दुस्तर भवसागरथी तरी ऋ. (६४)

ऐवो विचार करीने पडेवां अधा मुनियोमां जे रत्नाधिक (दीक्षांमां वडा) डोय तेमने  
पोतानो लाग ग्रहण करवाणी प्रार्थना करे. जे ते ग्रहण करे तो साइं, न ग्रहण करे तो  
ऐयुं निवेदन करे-‘हे भदन्त ! आप ज केई मुनिने आंहार वडेथी आपो’ पछी रत्ना-  
धिक इच्छानुसार आपे. जे ते न आपतां ऐवी आज्ञा करे के ‘तमे इच्छानुसार आपी हो’  
तो शिष्ये शुं करवुं जेईऐ ? ते बतावे छे-साहवो इत्यादि.

ही है, अगर वे न लें तो उनसे कहे—‘हे भगवान् ! आपही अपने हाथ से किसी दूसरे सन्त को दीजिये’ । ऐसा कहने पर यदि वे अपने हाथ से किसी को दें तो ठीक ही है, यदि खुद न देकर उसीसे कह दें कि ‘तुमही तुम्हारी इच्छा के अनुसार जो लेवे उसको दे दो’ तब उसे क्या करना चाहिये, सो बताते हैं

सान्वयार्थः—तो=इस प्रकार गुरु महाराजकी आज्ञा प्राप्त होने पर वह साधु साहवो=सब सन्तोंको चियत्तेणं=त्याग-बुद्धिसे अर्थात् उदार चित्तसे जहकमं=रत्नाधिकके क्रमानुसार निमंतिज्ज=निमन्त्रण करे-आहार धामे, जइ=यदि-अगर तत्थ=उनमेंसे केइ=कोई साधु इच्छिज्जा=आहार लेना चाहे तो (उन्हें देकर) तेहिं सद्धि तु=उनके साथ बैठकर भुंजए=खुद भी आहार करे ॥९५॥

टीका—तो=ततः गुरोरादेशाऽनन्तरम् असौ साधून चियत्तेणं = देशीयशब्दोऽ-यम् परमप्रोत्या उदारचेतसेत्यर्थः, यथाक्रमं=रत्नाधिक क्रममनुसृत्य निमन्त्रयेत् = स्वभा-गग्रहणाय प्रार्थयेत्-‘इदं गृहीत्वाऽनुगृह्यता’-मिति वदेदित्यर्थः । यदि तत्र = मुनीनां मध्ये केऽपि मुनय इच्छेयुः = गृहीतुमभिलषेयुस्तदा तेभ्योऽपि वितीर्य तैःसार्द्धं स्वयमपि भुञ्जीत = ‘चपड़-चपड़े’ ति शब्दमकुर्वन्नभ्यवहरेत् ॥९५॥

१ २ ३ ४ ५ १२ ७  
मूलम्—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एगओ ।

८ ९ ६ १० ११  
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिस्माडियं ॥९६॥

छाया—अथ कोऽपि न इच्छेत्, ततो भुञ्जीत एककः ।

आलोके भाजने साधुः, यतम् अपरिशातयन् ॥९६॥

सान्वयार्थः—अह=अथ-यदि कोइ=कोई न इच्छिज्जा = आहार लेना नहीं चाहे तो तओ = फिर साहू = वह साधु एगओ = अकेला-द्रव्यसे स्वयं एक ही, भावसे राग-द्वेष-संग-रहित आलोए = प्रकाशयुक्त-चौड़े मुंहवाले भायणे = पात्रमें जयं = यतनापूर्वक अर्थात् मांडलेके दोषोंको टालकर अपरिस्माडियं = सीथ-कणका बिन्दु-मात्र भी आहार नहीं गिराता हुआ भुंजिज्ज=आहार करे ॥९६॥

गुरुकी आज्ञा मिलनेके अनन्तर प्रसन्न चित्तसे उदारताके साथ दीक्षा में बड़े-छोटेके क्रमसे साधुओंको अपना भाग ग्रहण करने की प्रार्थना करे, अर्थात् ‘यह आहार ग्रहण करने का अनुग्रह कीजिए’ ऐसा कहे । उन मुनियोंमेंसे कोई ग्रहण करने की इच्छा करे तो उन्हें वितीर्ण करके उनके साथ आप भी चपड़-चपड़ शब्द न करता हुआ आहार करे ॥ ९५ ॥

शुद्धी आज्ञा भण्या पछी प्रसन्न चित्तथी उदारतानी साथे दीक्षाभां भोटानाना कभे करीने साधुआने पोतानो लाग अडणु करवानी प्रार्थना करे अर्थात् ‘आ आहार अ ए करवानी अनुग्रह करे’ अम कहे. अे मुनियोंमांथी केअ अडणु करवानी इच्छा करे तो तेभने वडेथी आपीने तेभनी साथे पोते पणु यपउ-यपउ अवाअ कर्था विना आहार करे. (६५)

टीका—‘अह’ इत्यादि । यदि कोऽपि ग्रहीतुं नेच्छेत् तदनन्तरं साधु एककः = द्रव्येण स्वयमेव, भावेन रागद्वेषरहितः आलोके प्रकाशमाने भाजने मशकादिक्षुद्रजन्तवो यथा दृष्टिपथमागच्छेयुस्तदर्थमिति भावः । यत्तं=सयतनं मण्डलदोषभावानुसन्धानपूर्वकम् अपरिशातयन् सिक्थादिकमविकिरन् भुञ्जीत ॥९६॥

२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ११ १०  
मूलम्—तित्तगं च कडुयं च कसायं. अंबिलं च महुरं लवणं वा ।

१२ १४ १३ १५ १६ १७ १  
एय लद्धमन्नद्वपउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥९६॥

छाया—तित्तकं च कडुकं च कषायम्, अम्लं च मधुरं लवणं वा ।

एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं, मधु-घृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥९७॥

सान्वयार्थः—वह आहार यदि—तित्तगं=तीखा कडुयं=कडवा च=और कसायं=कषायला च=और अंबिलं=खट्टा च=और महुरं=मीठा वा=अथवा लवणं=लवणरसयुक्त, इत्यादि प्रकारका कैसा भी हो; किन्तु-अन्नद्वपउत्तं=साधुको न उद्देश करके गृहस्थने अपने लिये बनाये हुए, अथवा-स्वादसुखके सिवाय सिर्फ शरीर-निर्वाहके लिए विधान किये हुए और लद्धं=आगमोक्त विधिसे मिले हुए एयं=इस पूर्वोक्त प्रकारके तीखे आदि अशनादिको संजए=रागद्वेषरहित साधु महु-घयं व=मीठे घी-शक्करकी तरह अर्थात् जिस प्रकार घी-शक्कर युक्त भोजनको रुचिपूर्वक भोगते हैं उसी प्रकार भुंजिज्ज=भोगवे ॥९७॥

टीका—‘तित्तगं’ इत्यादि । संयतः तित्तकं, कडुकं, कषायम्, अम्लं, मधुरं, वा=अथवा लवणं=क्षारम्, तत्तद्रसयुक्तमित्यर्थः । एतत्सर्वमन्नादिकम् अन्यार्थप्रयुक्तं = गृह-

‘अह’ इत्यादि । यदि कोई भो मुनि आहार ग्रहण करने की इच्छा प्रकाशित न करें अर्थात् न लें तो अकेला-रागद्वेषरहित वह साधु ऐसे पात्र में भोजन करे जिसमें प्रकाश पड़ रहा हो । प्रकाश-युक्त पात्रमें अहार करने का विधान इसलिए किया है कि मच्छर आदि सूक्ष्म जन्तु दीख सके । मण्डल दोषोंका विचार करता हुआ सोथ-मात्र भी अन्नादि न बिखेरता हुआ आहार करे ॥ ९६ ॥

‘तित्तगं’ इत्यादि । तीखे, कडुवे, कसायले, खट्टे मीठे अथवा क्षाररसवाले पदार्थ जो गृहस्थने अपने लिए बनाये हैं अर्थात् साधुके लिए न बनाये हों, अथवा स्वाद-सुखके सिवाय

अह० धृत्यादि. जे कोई पक्ष मुनि आहार ग्रहण करवानी धृच्छा प्रकाशित न करे अर्थात् न ले तो अकेला-रागद्वेषरहित ते जेवा पात्रमां भोजन करे के जेमां प्रकाश पडते होय. प्रकाशयुक्त पात्रमां आहार करवानुं विधान अटला माटे क्युं छे के मच्छर आदि सूक्ष्म जंतु देखी शकय. मंडल दोषोको विचार करतां जेक कषु जेटलुं पक्ष अन्न न वेरावा हेतां आहार करे. (६६)

तित्तगं धृत्यादि. तीखा, कडवा, कसायला, पाटा, मीठा, अथवा क्षाररसवाला पदार्थ

स्थैः स्वनिमित्तं सम्पादितं न तु साध्वर्थं शुद्धमित्यर्थः, यद्वा अन्यार्थं = स्वादसुखाद-  
न्यस्त्रै प्रयोजनाय शरीरमात्रनिर्वाहार्थमिति यावत्, प्रयुक्तम् = आगमेन विहितं लब्धं =  
प्राप्तं सत् मधु = शर्करादिमधुरद्रव्यं घृतं = प्रतीतं तद्वत्, यथा मधुघृतभोजने प्रवृत्तिर्जा-  
यते तथाऽन्यान्यपि तिक्तकादीनि तत्तुल्यभावेन भुञ्जीत । उक्तञ्च सङ्ग्रहगाथयोः—

“ वल्लचणगाइउसियं, अन्नं तह तक्कमीसियं जाण ।  
घयपूराइमणुन्नं, सम्मं उभयंपि भुंजई समणो ॥१॥  
उण्हं अन्नमणुण्हं, उण्हाऽणुण्हं करंय-दहिमाई ।  
संजमजत्तनिमित्तं, समभावं भुंजई समणो ॥२॥” इति ।

इति गाथार्थः ॥९७॥

छाया—“वल्लचणकादि उषितं (पर्युषितं), अन्नं तथा तक्रमिश्रितं जानीहि ।

घृतपूरादि मनोज्ञं, सम्यक् उभयमपि भुङ्क्ते श्रमणः ॥१॥

उष्णमन्नमनुष्णम्, उष्णानुष्णं करम्बद्ध्यादि ।

संयमयात्रानिमित्तं समभावं भुङ्क्ते श्रमणः ॥२॥

‘सीयं पिडं पुराणकुम्मासं’ इत्याद्युत्तराध्ययनसूत्रे । आचाराङ्गसूत्रेऽप्ययमर्थोऽ-  
भिहितः । ‘अरसाहारे त्रिरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे’ इत्यौपपातिकसूत्रेऽभय-  
देवस्वरिणैवं व्याख्यातम्—‘अंताहारे’ त्ति अन्ते भवमन्त्यं जघन्यधान्यं वल्लादि । ‘पंताहारे  
त्ति प्रकर्षेणाऽन्त्य वल्लाद्येव भुक्तावशेषं पर्युषितं वा’ इत्यादि । ज्ञातासूत्रेऽप्येवमेव व्या-  
ख्यातम् ॥

अन्य प्रयोजनके लिए अर्थात् शरीरके निर्वाह के लिए यदि आगमानुसार विधिसे प्राप्त हुए हों तो  
उन्हें ऐसे भोगे जैसे घो-साकरका आहार किया जाता है । तात्पर्य यह है कि—साधुको निरवद्य  
अन्त-प्रान्त आदि जैसा आहार मिले उस सबको समभावसे भोगना चाहिए । जैसे संप्रह गाथा-  
ओंमें कहा है—‘एक तरफ छालमें चूरी हुई बाल चने आदिको ठंडा रोटी और एक तरफ

जे गृहस्थे पोताने माटे जनाव्या डोय अर्थात् साधुने माटे न जनाव्या डोय अथवा स्वाद-  
सुख सिवाय अन्य प्रयो नने माटे अर्थात् शरीरना निर्वाहने माटे जे आगमानुसार  
विधिथी प्राप्त थाया डोय तो तेभने जेवी रीते लोगवे के जेम धी-साकरना आहार करवामां  
आवतो डोय. तात्पर्य जे छे के-साधुने निरवद्य अंत-प्रान्त आदि जेवो आहार भणे जे  
जधाने समभावथी लोगवो जेधजे. संप्रह गाथांमां कहुं छे के—

‘जेक तरफ छाशमां लींवेकी वाल यण्णा आदिनी ठंडी रोटीकी अने जेक तरफ  
मनोज्ञ घेवर आदि डोय, जे जेठने जे समभावे लोगवे छे ते श्रमणु कडेवाय छे. (१)  
जरम या ठंडु अन्नादिक अने जे ज प्रकारे जरम या ठंडो दहीने करंयो धत्यादिने जे  
संयमयात्राना निर्वाहने माटे समभावे लोगवे छे ते श्रमणु कडेवाय छे.’ (२) धति (८७)

१ ४ ३ २ ५ ६ ७  
मूलम्-अरसं विरसं वावि, सूइयं वा असूइयं ।

८ ९ ११ १२ १० १३  
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु-कुम्मास-भोयणं ॥९८॥

१४ २० १७ १८ १९ १५  
उप्पणं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं ।

१६ २१ २३ २२  
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजिज्जा दोसवज्जियं ॥९९॥

छाया—अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वा असूचितम् ।

आद्रं वा यदि वा शुक्कं, मंथु-कुल्माष-भोजनम् ॥९८॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहु प्रासुकम् ।

मुहालद्धं मुहाजीवी' भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥९९॥

सान्त्वयार्थः—अरसं=नमक आदि रसरहित वावि=तथा विरसं=अधिक दिनोंकी बनी हुई विरस-वाली सूखी रोटि आदि या पुराने चाँवल आदिका भोजन सूइयं=हींग आदिका बघार (छोंक) दिया हुआ वा=अथवा असूइयं=नहीं बघार दिया हुआ शाक उल्लं=गीला-करंवा, राइता आदि वा=तथा सुक्कं=सूखा-भुने हुए चने भूंगडे-आदि जइवा अथवा मंथुकुम्मासभोयणं=बेरके चूरेका भोजन या कुलथीका भोजन अथवा उइदका बाकुला (यह पूर्वोक्त सब प्रकारका अशनादि) उप्पणं=जो गोचरी के समय शास्त्रमर्यादा से मिल गया वह अप्पं=थोड़ा हो वा=या बहु=बहुत हो उसकी नाइहीलिज्जा=भवहेलना न करे, किन्तु फासुयं=प्रासुक-अचित्त और मुहालद्धं=निष्काम-विना किसी प्रत्युपकारके प्राप्त हुए उस अशनादिको मुहाजीवी=निष्काम-सिर्फ संयम-यात्राका निर्वाह से जीनेवाला अर्थात् निरपेक्ष भिक्षा लेनेवाला साधु दोसवज्जियं = भोजनके संयोजनादि दोषोंका टाल कर भुंजिज्जा = भोगवे ॥९८॥९९॥

टीका 'अरसं' इत्यादि, 'उप्पणं' इत्यादि च । अरसं = लवणादिरसरहितम् अप्राप्त-रसं बालचणकादिनिष्पादितं वा, अपिवा विरसं चिरकालनिष्पादितत्वेन विगत-रसं पूराणौदनादिकं वा, सूचितं = हिङ्गवादि-संस्कृतं वा = अथवा असूचितं = तद्वर्जितम्

मनोज्ञ घेवर आदि हों, उन दोनोंको समभावसे भोगता है वह श्रमण कहलाता है ॥१॥ गर्म या ठंडा अन्नदिक और उसी प्रकारका-गर्म या ठंडा दही करंवाआदिकों जो संयमयात्राका निर्वाहके लिए समभाव से भोगता है । वह श्रमण कहलाता है ॥२॥" इति ॥९७॥

'अरसं' इत्यादि, 'उप्पणं' इत्यादि च । नमकरहित तथा बाल चणक आदि अरस या बहुत पुराना ओदन आदि विरस, हींग आदि द्वारा छोंका हुआ, गीला-करंवा आदि, सूखे भुने हुए चने आदि, बेरका चूर्ण आदि, अथवा कुलथी या उइदके बाकलाका भोजन । ये सब

अरसं इत्यादि, तथा उप्पणं० इत्यादि. मीठाथी रहित तथा वात-यक्षु आदि अरस या अहुं भूने आदि विरस, हींग आदिथी वधारेलुं या न वधारेलुं, लीला करंवा आदि, सूठा-भूलेला यक्षु आदि, आरतुं यक्षु आदि अथवा कण्ठी या अउदना पाकणानुं



अर्द्ध = करम्भादिकं शुष्कं = भर्जितचणकादिकम् । मन्थुकुलमाषभोजनं = मन्थुश्च कुलमाष-  
श्चाऽनयोः समाहारे मन्थुकुलमाषं तद्, भुज्यते यत्तद्भोजनं, मन्थुकुलमाषं च तद्भो-  
जनं चेति विग्रहः, तत्र मन्थुः = बदरचूर्णादिकम्, कुलमाषः = कुलत्थः, यद्वा अर्द्धस्वि-  
न्नमाषः 'उडदबाकुला' इति भाषा प्रसिद्धः । एतत् पूर्वोक्तं सर्वम् उत्पन्नं = शास्त्रमर्याद-  
योपलब्धं, प्रासुकं = निर्जीवं, मुधालब्धं = मन्त्रतन्त्रादिप्रकारमन्तरेण प्राप्तं, तद् यदि  
अल्पं = स्वल्पं सरसमन्नादिकं, वा = अथवा बहु प्रचुरम् अरसमशनादिकम् उपलक्ष्येति  
शेषः, नातिहीलयेत् = न निन्देत् । अल्पीयसि सरसवस्तुनि लब्धे-“कथमेतावतैवोदरपूर्ति-  
र्भवेत्” इति, एवमसारवस्तुनि प्रचुरतरे लब्धे सति “किमनेन प्रचुरतरेणापि निष्प्रयोज-  
नेन” -त्येवंरूपां निन्दां न कुर्यादिति हृदयम् । किन्तु मुधाजीवी = मुधा-व्यर्थं निष्प्रयो-  
जनं शरीरेन्द्रियपुष्टिप्रयोजनविकलं जीवितुं शीलमस्येति सः, संयमयात्रानिर्वाहार्थमेव  
भिक्षाग्रहणशील इति भावः । यद्वा मुधाजीवी = निर्दोषभिक्षाजीवी-जात्याद्यनाविष्करण-  
पूर्वकभिक्षाग्राहक इत्यर्थः, दोषवर्जितं = संयोजनादिमण्डलदोषा यथा न भवेयुस्तथा  
शुद्धीत । 'उत्पन्नं' इत्यनेन शास्त्रमर्यादयैव गीतार्थेनान्नादिकं ग्राह्यमिति सूचितम् ।  
'फासुयं' अनेन सचित्तमचित्तं वेति परीक्ष्य ग्रहीतव्यमिति दर्शितम् । 'मुहालद्धं' इतिप-  
देन दातुरूपकारं विधाय भिक्षाग्रहणे आधाकर्मादयो बहवो दोषाः समापतन्तीति तथा

यदि शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त हुए हों, प्रासुक हों, मंत्र-तंत्र आदिका प्रयोग किया बिना मिले हों,  
थोड़े हों या बहुत हों अर्थात् सरस अन्नादि थोड़ा हो और नीरस आहार बहुत हो तो मुधा-  
जीवी अर्थात् संयमत्राके निर्वाहके लिए जीवन धारण करनेवाला, अथवा निर्दोष अर्थात् जाति  
आदिको न प्रगट करके भिक्षा लेनेवाला साधु उस आहारकी अवहेलना न करे । तात्पर्य यह है  
कि-सरस आहार कम मिले तो ऐसा न कहे कि-‘इतने थोड़े आहारसे उदरपूर्ति कैसे होगी ?  
नीरस आहार अधिक मिले तो ऐसा न कहे कि-‘इस बहुतेरे व्यर्थ आहारसे क्या लाभ ? ।’ इस  
प्रकार आहारकी निन्दा न करे, किन्तु आहारके संयोजना आदि मण्डल दोषों को टाल कर भोगे ।

लोचन, ओ सर्वं ओ शास्त्रोक्त विधिथी प्राप्त थयां डोय, प्रासुक डोय, मंत्र-तंत्र आदिने।  
प्रयोग कर्था विना मण्या डोय, थोडा डोय या वधारे डोय, अर्थात् सरस अन्नादि थोडुं  
डोय अने नीरस आहार वधारे डोय, तो मुधाजीवी-अर्थात् संयमयात्राना निर्वाहने माटे  
लुपन धारण करनारे अथवा निर्दोष अर्थात् जाति आदिने प्रकट कर्था विना भिक्षा लेनारे। साधु  
ओ आहारनी अवहेलना करे नहि, तात्पर्य ओ छे के-सरस आहार ओछो भणे तो ओम  
न कडे के 'आटला थोडा आहारथी उदरपूर्ति' केवी रीते थशे-?' नीरस आहार वधारे भणे  
तो ओम न कडे के 'आ धणु भया व्यर्थ आहारथी शे लाल ?' ओ प्रभाणे आहारनी  
निन्दा न करे, परन्तु आहारना संयोजना आदि मंडल दोषेने टाणीने लोचने।

उत्पन्नं शब्दथी ओम सूचित करवामां आण्युं छे के गीतार्थ साधुओ शास्त्रनी मर्या-  
दा अनुसार न आहार ग्रहण करवो लोचने। फासुयं शब्दथी सचित्त अचित्तनी परीक्षा

नोपादेयमिति प्रकटितम् । 'दोषवज्जियं' इतिपदेन निर्दोषभिक्षाप्राप्तावपि मण्डलदोषवच्चेन सद्दोषत्वं दुर्निवारमिति मण्डलदोषरहितं भोक्तव्यमिति प्रादुष्कृतम् ॥९८॥९९॥

मूलम्—दुल्लहाओ<sup>२</sup> मुहादाई<sup>१</sup>, मुहाजीवी<sup>३</sup> वि दुल्लहा<sup>४</sup> ।

मुहादाई<sup>६</sup> मुहाजीवी<sup>७</sup>, दोवि<sup>८</sup> गच्छंति<sup>९</sup> सुगगइं<sup>१०</sup> ॥१००॥

॥ तिबेमि ॥

छाया—दुर्लभा मुधादातारः, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।

मुधादातारः मुधाजीविनः, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥१००॥

इति ब्रवीमि ॥

सान्त्वयार्थः—मुहादाई = निष्काम-प्रत्युपकारी आशा न रखकर-देनेवाले दुल्लहाओ=दुर्लभ हैं और मुहाजीवीवि=निष्काम-दाताके कार्यकी अपेक्षा न रखकर-निरपेक्ष-लेनेवाले भी दुल्लहा=दुर्लभ हैं, क्योंकि मुहादाई=निष्काम देनेवाले और मुहाजीवी=निष्काम निरपेक्ष लेनेवाले दोवि=ये पूर्वोक्त दोनों ही सुगगइं=मोक्षगतिको गच्छंति=प्राप्त होते हैं । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे जम्बू ! ति = भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने जैसा फरमाया है वैसा ही तुझे बेमि = मैं कहता हूँ ॥१००॥

॥इति श्रीदशवैकालिक सूत्रके पांचवें अध्ययनके पहले उद्देश्यका सान्त्वयार्थ संपूर्ण ॥

टीका—'दुल्लहाओ' इत्यादि । मुधादातारः = प्रत्युपकारानभिलाषिणो दायकाः दुर्लभाः = दुष्प्रापास्तादृशानां विरलत्वात्, मुधाजीवीनोऽपि = दातृकार्यानपेक्ष-

'उप्पन्नं' पदसे यह सूचित किया है कि गीतार्थ साधुको शास्त्रकी मर्यादा के अनुसार ही आहार ग्रहण करना चाहिए । 'फासुयं' पदसे सचित्त अचित्तकी परीक्षा करके ग्रहण करना द्योतित किया है । 'मुहालद्धं' पदसे यह दर्शाया है कि दाता का उपकार कर्के भिक्षा ग्रहण करने से आधाकर्म आदि बहुत से दोष आते हैं, अतः ऐसी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए । 'दोसवज्जियं' पदसे यह प्रगट किया है कि निर्दोष भिक्षा उपलब्ध हो जाने पर भी मण्डल दोष लगनेसे वह भिक्षा अवश्य दूषित हो जाती है; इसलिए उनका परिहार करके ही आहार करना चाहिए ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

'दुल्लहाओ' इत्यादि । प्रत्युपकार ( बदला ) की आशा न रखनेवाले दाता दुर्लभ हैं, और दाताका कार्य न करके भिक्षा ग्रहण करनेवाले साधु भी विरले होते हैं । प्रत्युपकारकी चाह

करीने अदुष्ण करवानुं कडेवाभां आण्युं छे । मुहालद्धं शब्दथी अम दशाववाभां आण्युं छे के दाताने उपकार करीने भिक्षा अदुष्ण करवाथी आधाकर्म आदि प्रणु दोषो लागे छे; तेथी अथी भिक्षा न लेवी न्नेधअे । दोसवज्जियं शब्दथी अम अनाववाभां आण्युं छे के निर्दोष भिक्षा उपलब्ध थतां पणु भंडल दोष लागवाथी अे भिक्षा अवश्य दूषित थध अय छे, तेथी अेने परिहार करीने न आहार करवे न्नेधअे । (९८-९९)

दुल्लहाओ० इत्यादि निष्काम-प्रत्युपकार (बदला) नी आशा न राभनारदाता दुर्लभ छे अने निष्काम-दातानुं कार्यं कथां विना भिक्षा अदुष्ण करनार-साधु पणु विरल न्नेधअे

निरपेक्षभिक्षाग्राहिणोऽपि दुर्लभाः, मुधादातारः मुधाजीविनश्च द्वावपि = दाता भिक्षुश्च उभावप्युक्तविधौ सुगतिं = सिद्धगतिं गच्छतः = प्राप्नुतः । 'मुधादातारः' मुधाजीविनः' इत्यत्र बहुवचनं व्यक्तिविवक्षया । 'द्वावपि' इत्यत्र द्विवचनं तु मुधादातृत्व-मुधाजीवित्वोभयधर्मगतद्वित्वसंख्याविवक्षयेति बोध्यम् ॥ इति ब्रवीमीति प्राग्वत् ॥१००॥

। इति श्री-दशवैकालिकसूत्रस्याऽऽचारमणिमञ्जूषाख्यायां व्याख्यायां  
पञ्चमाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ ५-१ ।

न रखनेवाले दाता और किसीका कार्य विना किये भिक्षा ग्रहण करनेवाला आत्मार्थी साधु, इन दोनोंको मोक्षगतिकी प्राप्ति होती है ।

श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं—हे जम्बू ! चरम जिनेश्वर भगवान् महावीर स्वामीने जैसा उपदेश दिया है वैसा मैंने कहा है ॥१००॥

इति दशवैकालिक सूत्रके पाँचवें अध्ययनके पहले

उद्देशेका हिन्दी-भाषानुवाद समाप्त ॥५-१॥

छे. प्रत्युपकारनी धिष्ठा न राभनार दाता अने कोधनुं कयं कथा विना भिक्षा अडुषु करनार आत्मार्थी साधु, अे अेउने भोक्ष गतिनी प्राप्ति थाय छे.

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीने कहे छे के-हे जम्बू ! चरम जिनेश्वर भगवान् महावीर स्वामीअे अेयो उयदेश आअ्ये छे तेयो न भे कह्यो छे (१००)

इति दशवैकालिकसूत्रना पांचमां अध्ययननो पहले उद्देशाने

गुजरातीभाषानुवाद समाप्त. (५-१)

॥ अथ पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

प्रथमोद्देशकथितपिण्डैषणाया अवशिष्टविधिमाह—‘पडिग्गहं’ इत्यादि ।

मूलम्—पडिग्गहं<sup>१</sup> संलिहत्ताणं<sup>३</sup>, लेवमायाइ<sup>२</sup> संजए<sup>४</sup> ।

दुगंधं<sup>५</sup> वा, सुगंधं<sup>६</sup> वा सव्वं<sup>७</sup> भुंजे<sup>८</sup> न छडुए<sup>९</sup> ॥ १ ॥

छाया—प्रतिग्रहं संलिह, लेपमर्यादया संयतः ।

दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न मुञ्चेत् ॥ १ ॥

सान्वयार्थः—पडिग्गहं = पात्रेको लेवमायाए = लेपकी मर्यादासे अर्थात् जब तक छांछ आदिका लेप लगा रहे तब तक संलिहत्ताणं = अंगुलीसे पोंछकर संजए = साधु दुगंधं वा = अनिष्ट गन्धवाला हो चाहे सुगंधं वा = सुरभिगन्धवाला पदार्थ हो उस सव्वं = सबको भुंजे = भोगवे; किन्तु न छडुए = कुछभी न छोड़े जूठन न डाले ॥१॥

टीका—प्रतिग्रहं = पात्र लेपमर्यादा = लेपं मर्यादीकृत्य यथा लेपसम्बन्धः पात्रे नावतिष्ठेत तथा संलिह पात्रस्थं तक्रादिलेपमङ्गुल्यादिना नशेषं प्रोच्छ्रय संयतः = मुनिः दुर्गन्धम् = अनिष्टगन्धयुक्त-पुरातनगोधूमबर्जरिकावल्लचणकादिनिष्पादितं शीतमुष्णं वाऽ-न्नम्, अम्लतक्रपाचितवल्लचणकचूर्णनिष्पादितं शीतमुष्णं वा शाकविशेषदिकं, पर्युषितत-क्रादिरूपं पानं च, तेषाममनोज्ञगन्धवत्त्वादिति भावः । सुगन्धं । सुरभिगन्धयुक्तं वाः ।

। पांचवाँ अध्ययनका दूसरा उद्देश ।

प्रथम उद्देशमें कही हुई विधिके अतिरिक्त-अवशिष्ट पिण्डैषणाकी विधि इस दूसरे उद्देशमें कहते हैं—‘पडिग्गहं’ इत्यादि ।

आहार करनेके पात्रमें जो लेप लगा रह जाय उसे अंगुली-आदि द्वारा पोंछकर मुनि अमनोज्ञ गन्ध या मनोज्ञ गन्धवाले समस्त अन्न पानको भोगे, उसे छोड़े नहीं अर्थात् सीधे मात्र भी जूठा न डाले । पुराने गेहूँ, बाजरे, बाल, चने आदिकी बनी हुई टंडा या गर्म रोटी आदि अन्न, खड़ी छालकी बनी टंडी या गर्म कढी आदि शाक, पर्युषित ( वासी ) खड़ी छाछ आदि पान, ये अमनोज्ञ गन्धवाले होते हैं । और घेवर पायस आदि, एलची लवंग केसर आदिके मिश्रित

अध्ययन पांचम-उद्देश भीजे.

प्रथम उद्देशमां कडेली विधि उपरांत अवशिष्ट पिण्डैषणाणी विधि आ भीजे उद्देशमां कडे छे—पडिग्गहं इत्यादि.

आहार करवामां पात्रमां जे लेप लागेलेो रडी जय, तेने आंगणी आदि वडे लूछीने मुनि अमनोज्ञ गंध या मनोज्ञ गंधवाणा अथा अन्न पानने लागवे, तेने छोडे नडि, अर्थात् जरा पछु भाडी न राणे. जूना घई, भाजरी, बाल, खण्ड आदिनी अनावेलेी ठंडी या गरम रोटी आदि अन्न, भाटी छाशनी अनेली ठंडी या गरम कढी आदि शाक, पर्युषित भाटी छाश आदि पान, जे अथा अमनोज्ञगंधवाणां डेय छे. अने घेवर, पायस

घृतपूरापायसादि तस्यैलालवङ्गकेसरकूर्पादिमनोज्ञगन्धवच्चादिति भावः । सर्वं = मनोज्ञ-  
मनोज्ञरूपं सकलं भुञ्जीत=न तु मुञ्चेत्-परित्यजेत् नावशेषयेदिति भावः ॥१॥

१ २ ५ ४ ३  
मूलम्-सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोयरे ।

६ ७ ८ ९ १० ११  
अयावयद्वा भुच्चाणं जइ तेणं न संथरे ॥ २ ॥

१२ १३ १४ २० २१  
तओ कारणमुप्पण्ण, भत्तपाणं गवेसए ।

१९ १५ १६ १७ १८  
विहिणा पुव्वउत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥ ३ ॥

छाया—शय्यायां नैषेधिक्या, समापन्नश्च गोचरे ।

अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

ततः कारणे उत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत् ।

विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

सान्त्वयार्थः—सेज्जा = वसति उपाश्रय में नीसीहियाए = आहार करनेके स्थान पर य = अथवा गोयरे = भिक्षाचरीमें समावन्नो = प्राप्त हुआ मुनि अयावयद्वा = जरूरी से कम अर्थात् थोड़ा भुच्चाणं = खाकर खालेके पर जइ = यदि अगर तेणं = उस अश-नादिसे न संथरे = न संस्तरेत् अर्थात् संयमयात्राका निर्वाह के लिए पर्याप्त पूरा न हो तओ = तो कारणं = क्षुधा वेदनीय की शान्ति न होने रूप कारण के उत्पन्ने = उत्पन्न होने पर साधु पुव्वउत्तेण = पूर्वोक्त “संपत्ते भिक्खुकालम्मि” इत्यादिरूप विधी से य = तथा इमेणं = इस उत्तरेणं = आगे कहे जानेवाली “कालेण णिक्खुमे भिक्खु” इत्यादि रूप विधिसे भत्तपाणं = आहार पानी गवेसए = गवेषे अर्थात् भिक्षा लेने के लिए जावे । २।३ टीका—‘सेज्जा’ इत्यादि, ‘तओ’ इत्यादि च । शय्यायां=वसतौ, नैषेधिक्यां=निषदनस्थाने स्वाध्यायभूमिकायामित्यर्थः, गोचरे=भिक्षाचर्यायां च=वा समापन्नः=सम्प्राप्तो मुनिः, उपलब्धमन्नादिकम् अयावदर्थम्=अपरिसमाप्तम् अल्पं=क्षुधोपशमनानर्हमि-

होनेसे मनोज्ञ गन्धवाले होते हैं, उन सबको समभावसे भोगवे ॥१॥

‘सेज्जा’ इत्यादि, ‘तओ’ इत्यादि उपाश्रयमें बैठनेके स्थानमें अर्थात् स्वाध्याय भूमिमें तथा गोचरीमें गए हुए मुनिको अल्प, अर्थात् क्षुधाकी शान्ति न होसकने योग्य अन्न आदि मिला हो और उससे संयमयात्राका निर्वाह न होसके, अर्थात् लाया हुआ आहार पर्याप्त न हो तो

(इधपाठ) आदि, ऐलथी लवींज, केसर आदिथी मिश्रित होपाथी मनोज्ञ गंधवाणां होय छे, ऐ अधाने समभावे लोगवे. (१)

सेज्जा० धत्यादि, तथा तओ० धत्यादि उपाश्रयमां ऐसवाता स्थानमां अर्थात् स्वाध्यायभूमिमां तथा गोचरीमां गऐला मुनिने अल्प अर्थात् क्षुधानी शान्ति न थद्य शक्ये अर्थात् लावेला आहार पूरता न होय, तो ऐवुं कारण उत्पन्न थतां अर्थात् क्षुधावेदनीय शान्त

त्यर्थः संयमनिर्वाहार्थं यावताऽन्नादिकेन भाव्यं तावन्नेति यावत्, भुक्त्वा यदि तेन भोजनेन न संस्तरेत्=संयमयात्रां निर्वोढुं न शक्नुयात् । २।

ततः=तदनन्तरं कारणे=प्रयोजने आर्षत्वात्सप्तम्यर्थे प्रथमा, उत्पन्ने सति=क्षुधावेदनोपशमनाभावे पूर्वोक्तेन="संपत्ते भिक्खकालम्भि" इत्यादिरूपेण अनेन उत्तरेण="कालेण णिक्खमे भिक्खू" इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणेन विधिना=प्रकारेण भक्तपानं गवेषयेत् पुनर्भिक्षार्थं गच्छेदिति सूत्रार्थः । ३।

तमेव त्रिधिसुपदर्शयन् कालयतनामाह-'कालेण' इत्यादि ।

मूलम्—कालेण<sup>२</sup> णिक्खमे<sup>३</sup> भिक्खू<sup>१</sup>, कालेण<sup>४</sup> य पडिक्कमे<sup>५</sup> ।

अकालं<sup>७</sup> च विवज्जित्ता<sup>६</sup>, काले<sup>९</sup> कालं<sup>१०</sup> समायरे<sup>११</sup> ॥ ४ ॥

छाया—कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।

अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

अब भिक्षा लेने की विधी बताते हैं—

सान्वयार्थः— भिक्खू=मुधाजीवी मुनि कालेण=गोचरीके समयसे—जिस देशमें जो समय भोजनका हो उस समयके होनेसे णिक्खमे=भिक्षाके लिये जावे, य=और कालेण=समयसे ही वापस आनेका उचित समय हो जानेसे पडिक्कमे=वापस लौट आवे, च=और अकालं=भिक्षाके अनुचित समयको विवज्जित्ता=छोड़कर काले=उचित समयमें कालं=भिक्षादिक समायरे=आचरे—गोचरीके लिए घूमे ॥ ४ ॥

टीका—भिक्खुः = मुधाजीवी मुनिः कालेन = भिक्षोचितसमयेन यस्मिन् देशे यो गृहस्थानां भोजनसमयः स एव भिक्षुणां भिक्षाकालस्तेनेत्यर्थः निष्क्रामेत् = निर्गच्छेत् ,

ऐसा कारण उत्पन्न होने पर, अर्थात् क्षुधावेदनीयके शान्त न होने पर "संपत्ते भिक्खकालम्भि" इत्यादि पूर्वोक्त विधिसे तथा "कालेण णिक्खमे भिक्खू" इस गाथासे प्रारम्भ करके आगे बताई जानेवाली विधिसे भक्त-पानकी गवेषणा करे, अर्थात् भिक्षाके लिए फिर गमन करे ॥ २ ॥ ३ ॥ उसी विधिको दिखाते हुए कालकी यतना कहते हैं—'कालेण' इत्यादि ।

जिस देशमें गृहस्थोंके भोजनका जो समय हो वही समय भिक्षुको भिक्षाके लिये जाना उचित है, अत एव भिक्षाके लिए उसी समय जाना चाहिए और गोचरीके लिए गए हुवे साधुको ऐसे

न थवाने वीधे संपत्त भिक्खकालम्भि इत्यादि पूर्वोक्त विधि, तथा कालेण णिक्खमे भिक्खू अे गाथाथी प्रारंभ करीने आगण अतावमां आवनारी विधिथी भक्त-पाननी गवेषणा करे अर्थात् भिक्षाने माटे करीथी गमन करे. (२-३)

अे विधिने अतावतां काणनी यतना उडे छे—कालेण० इत्यादि.

अे देशमां गृहस्थाना लेऽननें अे समय होय ते समय भिक्षाने माटे उचित छे. तेथी भिक्षाने माटे ते समये अेवुं लेअे. अने गाथरीने माटे गच्छेला साधुअे अेवा

भिक्षायै इति शेषः; कालेनैव = प्रत्यागमनोचितसमयेनैव, यथा स्वाध्यायप्रतिबन्धो न भवेत् तथा भिक्षां गतस्य साधोः परावर्त्तनसमयो निर्दिष्टस्तेनैवेति भावः। ( कारणे सहार्थे वा तृतीया ) । चकारोऽत्र 'एव'-कारार्थकः' प्रतिक्रामेत् = प्रत्यागच्छेत् । अकालं = भिक्षा-नुचितसमयं विवर्ज्य = परित्यज्य काले = भिक्षोचितवेलायां कालं = लक्षणया तत्फालो-चिनकृत्यं भिक्षादिकं समाचरेत् = भिक्षार्थं क्रामेदित्यर्थः । बहुशः कालशब्दोपादानं 'मुनीनां यथाकालमेव सकलं कृत्यं विधेय'-मिति ध्वनयति ॥ ४ ॥

अकालचारित्वेनाऽलब्धभिक्षो भिक्षुः केनचित्साधुना "भोः ! भिक्षा त्वया लब्धा न वा" इति पृष्टो वदति-"कुतोऽत्र मितम्पचानां हीनदीनानां ग्रामे भिक्षालाभः?" तदाऽसौ अकालचारिणं कथयति-"अकाले" इत्यादि ।

मूलम्-अकाले चरिसी भिक्खू, कालं न पडिलेहिसि ।

अप्पाणं च किलामेसि, संनिवसं च गरिहिसि ॥ ५ ॥

छाया--अकाले चरिसि भिक्षोः, कालं न प्रत्युपेक्षसे ।

आत्मानं च क्लमयसि, संनिवेशं च गर्हसे ॥ ५ ॥

अकालचारी होने के कारण भिक्षा नहीं मिलने पर अतन्तुष्ट हुए साधुको कालचारी साधु पूछता है--हे साधु ! आपको भिक्षा मिली कि नहीं ?, तब वह कहता है--इस कंजूसों के गाम में भिक्षा कहाँ पड़ो है । इस पर वह कालचारी साधु उससे कहता है--

सान्वयार्थः--भिक्खू = हे भिक्षु ! आप अकाले=असमयमें भिक्षाका समय न होनेपर ही चरिसो=गोचरी फिरते हो, च=और कालं=गोचरीका समय न पडिलेहिसो=नहीं देखते, अतः अप्पाणं = आत्माको किलामेसि=किलामना-खेद-पहुंचाते हो च=और संनि-वेशं=गामकी गरिहिसि=निन्दा करते हो । तात्पर्य यह हुआ कि गोचरीका समय हुए विना घूमनेसे साधु भगवानकी आज्ञाका विराधक होता है, और दीनता प्रगट करनेके कारण उसके चारित्रमें मलिनता होती है; अतः जिस देशमें जो भिक्षाका समय हो उसी समयमें साधुको भिक्षाके लिए जाना चाहिये ॥५॥

उचित समय पर लौट आना चाहिए, जिससे स्वाध्याय आदि क्रियाओंमें अन्तराय न पड़े । तथा जो समय भिक्षाके लिए उचित न हो उसका परिहार करके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे उचित समय पर ही भिक्षाके लिए जाना चाहिए । गाथामें बहुत वार काळ शब्दका प्रयोग करनेसे यह आशान प्रगट होता है कि-साधुओंको प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करनी चाहिए ॥ ४ ॥

उचित समये पाछा इरवुं जेधये के जेथी स्वाध्याय आदि क्रियाओंमें अन्तराय न पडे. तथा जे समय भिक्षाने माटे उचित न होय तेना परिहार करीने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे उचित समय पर ही भिक्षाने माटे जवुं जेधये गाथां धरणीवार काल शब्दने प्रयोग करवाथी जे आशय प्रकट थाय छे के-साधुओंके प्रत्येक क्रिया उचित समये जे करवी जेधये. (४)

टीका—हे भिक्षो ! त्वम् अकाले = असमये चरसि = भिक्षार्थं गच्छसि किन्तु कालं = भिक्षोचितसमयं न प्रत्युपेक्षसे = नाद्रियसे, तेन च हेतुनाऽऽत्मानं क्लमयसि = पीडयसि भिक्षालाभाभावेन भ्रमणाधिक्येन चेति भावः । संनिवेशं = ग्रामं च पुनः गर्हसे = निन्दसि । भगवदाज्ञाविराधकत्वेन दैन्यप्रकाशनेन च चारित्रमालिन्यं जायते, ततोऽनुचितकाले भिक्षार्थं न गन्तव्यमिति । ५॥

३ २ ४ १ ६ ५  
मूलम्—सइ काल चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।

७ ८ ९ १० ११  
अलाभु-त्ति न सोइज्जा, तवु-त्ति अहियासए ॥६॥

छाया—सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात्पुरुषकारम् ।

अलाभ इति न शोचेत्, तप इति अधिषहेत् ॥६॥

सान्त्वयार्थः—भिक्खू = साधुको काले = भिक्षाका समय सइ = होनेपर चरे = गोचरोके लिए घूमना चाहिए और पुरिसकारियं = उत्साह पूर्वक घूमनेरूप पुरुषार्थ भी कुज्जा = करना चाहिये, और भिक्षा न मिलनेपर वह अलाभु = आज मुझे भिक्षा नहीं मिली त्ति = इस प्रकार न सोइज्जा = सोच न करे, किन्तु तवु = आज मेरे अनशन ऊनोदरी आदि तप हुआ है त्ति = इस प्रकार सोचकर अहियासए = क्षुधा-परीषहको सहन करे-सन्तुष्ट रहे । तात्पर्य यह है कि—साधुओंको सिर्फ भिक्षाके ही लिए गोचरीमें घूमना नहीं है किन्तु वीर्याचारके लिए भी भगवान्ने गोचरीमें घूमना कहा है ॥६॥

कोई साधु द्वारा असमयमें भिक्षाके लिए जानेवाले दूसरे साधुसे पूछा गया कि—‘हे भिक्षु ! तुम्हें भिक्षाका लाभ हुआ या नहीं?’ तब उसने कहा—‘इन कंगाल कंजूसोंके गाँवमें भिक्षा कहाँ प्राप्त होसकती है?’ तब वह अकालमें गोचरी करनेवालेके प्रति कहता है—‘अकाले०’ इत्यादि ।

हे भिक्षु ! आप असमयमें भिक्षाके लिए जाते हैं, समयका खयाल नहीं रखते । इसी कारण अधिक भ्रमण करने से या भिक्षाके न मिलनेसे तुम अपनी आत्मा को पीडित करते हो, और ग्राम नगर की निन्दा करते हो । अकालमें भिक्षाके लिये गमनरूप भगवान की आज्ञाकी विराधना करने से तथा दीनता प्रगट करनेसे चारित्रमें मलिनता आती है इसलिए अनुचित समय में भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिए ॥२॥

कोई साधु असमयमां भिक्षाने माटे जनारा पीण साधुने पूछथुं के—‘हे भिक्षु ! तमने भिक्षाने लाभ थयो के नही’ त्यारे तेणुं कथुं ‘आ कंगाल कंजूसोना गाभमां भिक्षा क्यांथी प्राप्त थई शके ?’ त्यारे ओ अकाणे गोचरी करनारा साधु प्रत्ये कडे छे—अकाले० इत्यादि ।

हे भिक्षु ! आप असमयमां भिक्षाछे माटे जाओ छे, समयने आल राभता नथी. ओ कारणे वधारे इरवाथी या भिक्षा न भणवाथी तमे तमारा आत्माने पीडित करे छे. अने ग्राम-नगरनी निन्दा करे छे. अकाणे भिक्षाने माटे जवाइपी भगवाननी आज्ञानां



टीका — 'सङ्' इत्यादि । भिक्षुः काले = भिक्षोचितसमये प्राप्ते सति, यद्वा 'सङ्काले' इत्यस्य 'स्मृतिकाले' इतिच्छाया तत्र-स्मर्यन्ते साधवो दातृभिर्दानार्थं यस्मिन् समये तस्मिन्नित्यर्थः, चरेत् = भिक्षार्थं गच्छेत् । पुरुषकारं = पराक्रमम् उत्साहपूर्वकभिक्षार्थभ्रमणलक्षणं कुर्यात् = विदध्यात् । कदाचिदलाभे सति अलाभः = अद्य भिक्षालाभो न संजात इति न शोचेत् = न परितपेत्, किन्तु तपः = अद्य मेऽनश्नावमौदरिकादिरूपं तपः सम्पन्नमिति कृत्वा अधिषहेत् = सन्तुष्येत् । भिक्षाया अलाभेऽपि वीर्यचारो मया सम्यगाराधितः, यतो न केवलमन्नाद्यर्थमेव भिक्षाचरणं भिक्षुणां, किन्तु वीर्याचारार्थमपि भगवता समादिष्टमिति भावार्थः ॥६॥

क्षेत्रयतनामाह—'तहेवु०' इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५  
मूलम्—तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्टाए समागया ।

६ ७ ८ ९ १० ११  
तं उज्जुयं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

छाया—तथैवोच्चावचाः प्राणाः, भक्तार्थं समागताः ।

तेषाम्ऋजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥७॥

सान्वयार्थः—तहेव = उसीप्रकार उच्चावया = उच्च जातिके हंसादिक अवचनीच जातिके कौए आदि पाणा = प्राणी (यदि) भत्तट्टाए = चुगा-पानीके लिए समागया = आये हों—इकट्टे हुए हों—तो तं उज्जुयं = उन प्राणियोंके सामने न गच्छिज्जा = नहीं जावे,

'सङ्काले' इत्यादि । भिक्षु उचित समय प्राप्त होनेपर ही भिक्षाके लिए जावें । उत्साहपूर्वक भिक्षार्थ भ्रमणरूप पुरुषार्थ करें । कभी भिक्षाका लाभ न हो तो ऐसा सोच न करें कि—आज आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, किन्तु ऐसा विचार करके सन्तुष्ट रहें कि आज भिक्षा न मिली तो सहज ही मेरे अनशन आदि तप होगया, अर्थात् भिक्षाका लाभ न होनेपर भी मैंने भली भाँति वीर्याचारका आराधन किया है साधु केवल अन्नादिककी प्राप्तिके लिए भिक्षाचारी नहीं करते किन्तु वीर्याचारकी आराधनाके लिए भी भिक्षाचरी में जाना भगवानने बताया है ॥६॥

(वराधना करवाथी तथा दीनता प्रकट करवाथी आरित्रमां भलिनता आवे छे, तेथी अनुचित समये भिक्षाने माटे जवुं न नेधञ्जि. (५)

सङ् काले० इत्यादि. भिक्षु उचित समय थतां न भिक्षाने माटे जाय. उत्साहपूर्वक भिक्षार्थ भ्रमणरूप पुरुषार्थ करे. डोर्धवार भिक्षाने लाभ न थाय तो जेवो विचार न करे के 'आज मने भिक्षा न भणी.' परंतु जेवो विचार करीने संतुष्ट रहे के—'आज भिक्षा न भणी तो सहेज माराथी अनशन आदि तप थध जयुं. अर्थात् भिक्षाने लाभ न थाथी पणु मे' लक्ष्मीपेठे वीर्याचारनु' आराधन कयुं छे.' साधु केवण अन्नादिनी प्राप्तिने माटे न भिक्षाचारी करता नथी, किन्तु वीर्याचारनी आराधनाने माटे पणु भिक्षाचारीमां जवुं लगवाने पताव्युं छे. (६)

(किन्तु) जयमेव=यतनापूर्वक ही-आसपाससे अथवा अन्य मार्गसे अर्थात् जिस तरह उन प्राणियोंको किसी प्रकारका त्रास न पहुंचे उसीतरह परक्रमे=जावे ॥७॥

टीका—तथैव = तद्वत् उच्चावचाः = तत्र उदञ्चः = उच्चजातीया हंसादयः, अवाञ्चः = नीचजातीयाः काकप्रभृतयः, यद्वा उच्चावचाः = अनेकविधाः “उच्चावचं नैकभेद”मित्यमरात्, प्राणाः = प्राणिनः भक्तार्थम् = अन्न-पानार्थं मार्गादौ समागताः = समायाता भवन्ति चेत् ‘तं’-तेषाम्, आर्षत्वात् षष्ठीबहुत्वे प्रथमैकवचनम्, ऋजुकं = संमुखं न गच्छेत्, तेषामन्नपानान्तरायादिप्रचुरदोषापातात् । तर्हि किं कुर्यात् ? यतमेव = सयतनमेव = यथा तेषां संत्रासो न भवेत्तथा पराक्रामेत् = चरेत् अन्यमार्गेण तत्पार्श्वतो वा गन्तुं यतेतेत्यर्थः, हंसादिभिः प्राणिभिः सर्वतः समाक्रान्ते पथि अन्यमार्गेण, एकदेशावच्छेदेन समाक्रान्ते च पार्श्वतोऽन्यभागेनेति विवेकः ॥७॥

२ ३ ५ ६ ४  
मूलम्—गोयरग्गपविट्टो य, न निसीइज्ज कत्थइ ।

१० ७ ११ १२ ८ ९ ९  
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

छाया—गोचराग्रप्रविष्टश्च, न निषीदेत् कुत्रापि ।

कथां च न प्रबन्धीयात्, स्थित्वा च संयतः ॥८॥

सान्वयार्थः—संजए = साधु गोयरग्गपविट्टो य = गोचरीके लिए गया हुआ कत्थइ = कहींभी न निसीइज्ज = नहीं बैठे, च = और चिट्ठित्ताण व = खड़ा रहकरभी कहं = धर्मकथा न पबंधिज्जा = न कहे ॥८॥

अब क्षेत्रको यतना कहते हैं—तहेवु० इत्यादि ।

हंस-आदि उच्च-जातीय और काक आदि नीच-जातीय प्राणी यदि भोजन पानके लिए रास्ते में आये हों तो उनके सामने न जावें । सामने जानेसे उनके चुगे पानीमें विघ्न पड़ जानेके कारण भक्त-पानकी अन्तराय आदि अनेक दोष लगते हैं अतः यतना पूर्वक, अर्थात् जिससे वे भयभीत न हों उस प्रकार दूसरे मार्गसे या एक किनारेसे गमन करें ।

तात्पर्य यह है कि-अगर समस्त मार्ग हंस कबूतर कौए आदि प्राणियोंसे व्याप्त हो तो दूसरे मार्गसे, और एक तरफ चुगा पानी करते हों तो एक किनारे होकर गमन करना चाहिए ॥७॥

इवे क्षेत्रनी यतना कडे छे—तहेवु० इत्यादि ।

हंस—आदि उच्च-जातीय अनेक कागडो—आदि नीच-जातीय प्राणी जो भोजन पान ने माटे रस्तामां आवेला डोय तो तेनी सामे न जवुं सामे जवाथी तेमने पाणी पीया यणुवा वगेरेमां विघ्न पडवाथी भक्त-पानमां अन्तराय आदि अनेक दोषो लागे छे. अटवे यतनापूर्वक अर्थात् जे रीते तेज्जे भयभीत न थाय जे रीते भीजे भगे या जेक पाणुज्जेथी गमन करवुं. तात्पर्य जे छे के जे आप्पो मार्ग हंस कबूतर या कागडा वगेरे प्राणीज्जेथी भरेला डोय तो भीजे मार्गेथी अने जेक तरफ तेज्जे यणुतां के पाणी पीता डोयतो तेनी पाणुजे थधने गमन करवुं जेधजे. (७)

टीका—‘गोयरग्ग०’ इत्यादि । संयतः=मुनिः गोचराग्रप्रविष्टः सन् कुत्रापि गृहादौ न निषीदेत्=नोपविशेत्, च=अथच स्थित्वा=तिष्ठन् उपविश्य वा कथां=धर्मकथां न प्रबध्नीयात्=ससन्दर्भं वुं नारभेत, किन्त्वेकस्यैव प्रश्नस्य संक्षेपत एकमेव समाधानं कर्तुमर्हति अन्यथा दायकाऽरुचिप्रभृतिविविधदोषप्रसङ्गः ॥८॥

द्रव्ययतनामाह—‘अगलं’ इत्यादि ।

४ ५ ६ ९ ८ ७ २  
मूलम्—अगलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए ।

१० ११ १२ १ ३  
अवलंबिया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गओ मुणी ॥९॥

छाया—अर्गलं फलकं द्वारं, कपाटं वाऽपि संयतः ।

अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ॥९॥

सान्त्वयार्थः—गोयरग्गओ=गोचरीके लिए गया हुआ संजए=इन्द्रियों का संयम रखनेवाला मुणी=साधु अगलं = आगल-भोगल अथवा सकली फलिहं = दोनों किवाडों को रोक रखनेवाला काष्ठ (हुड़ा) को दारं=दरवाजा वावि = अथवा कवाडं = किवाड़को अवलंबिया=पकड़कर या इनका सहारा लेकर न चिट्ठिज्जा=खड़ा न होवे ॥९॥

टीका—गोचराग्रगतः=भिक्षाचरीनिर्गतः, संयतः संयमी मुनिः, अर्गलं = कपाटपट्टद्वयदृढसंयोजकाष्ठादिनिर्मितकीलविशेषं शृङ्खलादि च फलकम् = अवष्टम्भककाष्ठविशेषं, द्वारं = गृहादेर्निर्गमप्रवेशमार्गम्, अपिवा कपाटं = स्वनामप्रसिद्धद्वाराच्छादकदारुफलकविशेषम् अवलम्ब्य = आश्रित्य न तिष्ठेत् ॥९॥

‘गोयरग्ग०’ इत्यादि । गोचरीके लिए गये हुए मुनि किसी के घरमें न बैठें, न खड़े खड़े संदर्भके साथ धर्मकथा कहना अरम्भ करें, । अवसर हो तो एक प्रश्नका एक ही समाधान खड़े २ संक्षेपसे कर दें । बैठनेसे या लम्बी धर्मकथा करनेसे दाताकी अरुचि आदि अनेक दोष होते हैं ॥८॥

अब द्रव्ययतना कहते हैं—अगलं, इत्यादि ।

गोचरोके लिए गये हुए मुनिको आगल, सांकल, फलक (खूंटी आदि) दरवाजा या किवाड़जा सहारा लेकर खड़ा नहीं रहना चाहिए ॥९॥

गोयरग्ग० इत्यादि गोचरीने माटे गयेलेला मुनि कोठाना घरमां न भेसे, जिला-जिला संदर्भ सङ्गित धर्म कथा कडेवाने आरंभ न करे अवसर होय तो अेक प्रश्नतुं अेकच समाधान जिलां जिलां संक्षेपमां करी हे. भेसवाथी या लांणी धर्मकथा करवाथी हातानी अइचि आदि अनेक दोषो थाय छे (८)

हवे द्रव्य-यतना कडे छे—अगलं इत्यादि.

गोचरी माटे गयेलेला मुनिअे आगणो, सांकण, इलक (खूंटी आदि) दरवाजे या कमा-उने आधार लधने जिला रडेवुं न लेधअे (९)

समण० इत्यादि. तथा तमइ० इत्यादि श्रमणु, प्राहणु, कृपणु अने वनीपकने गृह-

६ ९ ८ ७ १० ११ १२  
मूलम्—समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं ।

५ २ ३ ४ १  
उवसंकमंतं भत्तट्टा, पाणट्टा एव संजए ॥१०॥

१३ १४ १५ १६ १७ १९ १८  
तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोयरे ।

२१ २२ २३ २४ २०  
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥

छाया—श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।

उपसंक्रामन्तं भिक्षार्थं, पानार्थमेव संयतः ॥१०॥

तम् अतिक्रम्य न प्रविशेत्, नापि तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।

एकान्तवमक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥११॥

सान्वयार्थः—संजए = साधु भत्तट्टा=अन्नके लिए और पाणट्टा एव=पानीके लिए ही उवसंकमंतं = गृहस्थके घर पर आते हुए समणं=निर्ग्रन्थ मुनिको वावि = अथवा माहणं = ब्राह्मणको किविणं = कृपण वा=अथवा वणीमगं = दरिद्रीभिखारीको (देखकर)तं=उन श्रमणादिको अइक्कमित्तु = लांघकर न पविसे = गृहस्थके घरमें व जावे, नवि = और न चक्खुगोयरे = उनके दृष्टिगोचर-दृष्टिमार्गमें चिट्ठे = ठहरे, (किन्तु) एगंतं = एकान्त स्थानमें-जहां उनकी दृष्टि न पडती हो ऐसी जगह अवक्कमित्ता = जाकर संजए = इन्द्रियों का संयम करता हुआ-चुप-चाप तत्थ = वहां चिट्ठे = खड़ा रहे ॥१०॥११॥

टीका—‘समणं’ इत्यादि, ‘तमइ०’ इत्यादि च । संयतः, गृहस्थद्वारे भक्तार्थमेव पानार्थमेव, एवशब्दस्योभयत्र सम्बन्धः = उपसंक्रामन्तं = समीपमायान्तं यान्तं वा श्रमणादिष्वकं दृष्टेति शेषः । तत्र वनीपकः = याचकविशेषः, अन्यत् सुगमम् । तं = श्रमणादिकम् अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य तस्याग्रतो भूत्वेत्यर्थः गृहस्थगृहं न प्रविशेत् एतावदपि न तेषां चक्षुर्गोचरेऽपि = दृष्टिपथेऽपि न तिष्ठेत् किन्तु स संयत एकान्तं = यत्र तेषां दृष्टिर्न पतेत् तं प्रदेशम् अवक्रम्य = गत्वा तत्र तिष्ठेत् ॥१०॥११॥

पूर्वोक्तविधेरपालने दोषमाह—‘वणीमगस्स’ इत्यादि ।

‘समणं’ इत्यादि, ‘तमइ०’ श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और वनीपकको गृहस्थ के दर्वाजे पर भोजन या पानी के लिए आया देखकर साधु उसे उल्लङ्घन करके गृहस्थके घरमें प्रवेश न करें’ इतना ही नहीं, जहाँ उनकी दृष्टि पडती हो ऐसे स्थान पर भी खडे न हो किन्तु एकान्त प्रदेश में जाकर स्थित होवे, जहाँ उनकी दृष्टि न पहुँचे ॥११॥

ऐसा न करने में दोष कहते हैं—,वणीमनस्स इत्यादि

स्थाना दरवाजा पर भोजन या पाणी ने भाटे आवेला जेभने साधु जेभने आणंजीने गृहस्थना घरमां प्रवेश न करे, जेट्ठुं न नहिं जयां जेभनी दृष्टि पडती होय जेवा स्थान पर पणु जिलो न रहे, किन्तु जेकांत प्रदेशमां जेधने जिलो रहे के जयां जेभनी दृष्टि पडोये नहिं. (१०-११)

जेभ न करवामां दोष कडे छे—‘वणीमगस्स’ इत्यादि.

२ ३ ४ ५ ६ ७  
मूलम्—वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।

८ ९ १२ ११ ९ १०  
अप्पत्तियं सिया हुज्जा, बहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

छाया—वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयोर्वा ।

अप्रीतिकं स्याद् भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥१२॥

पूर्वोक्त विधिके अपालन में दोष बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—(ऐसा न करनेसे) सिया=कदाचित् शायद तस्स=उस वणीमग-  
स्स=श्रमणादि वनीपक पर्यन्तको वा=अथवा दायगस्स=दाताको वा=या उभयस्स=  
दोनों-दाता और याचक-को अप्पत्तियं=अप्रीति-द्वेष या मनमें खेद हो जाता है, वा=  
और पवयणस्स=जिनशासनकी लघुत्तं=लघुता हुज्ज=होती है ॥१२॥

टीका—स्यात् कदाचित् वनीपकस्य=याचकविशेषस्य वा=अथवा तस्य=श्रम-  
णादेः, दायकस्य=दातुर्वा, उभयोः दातृ-याचकयोर्वा अप्रीतिकं=द्वेषः, मनः-खेदो वा  
भवेत्, प्रवचनस्य=जिनशासनस्य लघुत्वं=लघुता वा भवेदिति सम्बन्धः ॥१२॥

कदा गन्तव्य ?—मित्याह—‘पडिसेहिए’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७  
मूलम्—पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।

१२ ९ १० ११ ८  
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

छाया—प्रतिषेधिते वा दत्ते वा, तत्तस्तस्मिन् निवृत्त ।

उपसंक्रमेत् भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥१३॥

कब जाना चाहिये, सो बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—पडिसेहिए=दाताके निषेध कर देने पर वा=अथवा दिन्ने=  
अन्नादिके दिये जाने पर वा=या-दाताके मौन साधने पर तओ=उस स्थानसे तम्मि  
=उन श्रमणादिकोंके नियत्तिए=चले जाने पर संजए=साधु भत्तट्ठा=आहार व=  
अथवा पाणट्ठाए=पानीके लिए उवसंकमिज्ज=जावे ॥ १३ ॥

संभव है, उन्हें उल्लङ्घन करके जानेसे या उनके सामने खड़े रहने से उस वनीपक या दाताको  
अथवा दोनोंको द्वेष तथा खेद उत्पन्न होजाय । तथा प्रवचनकी लघुता होती है । अतः उन्हें  
उल्लङ्घन करके जाना साधु कल्प नहीं है ॥१२॥

कब जाना चाहिए ? सो कहते हैं—‘पडिसेहिए’ इत्यादि ।

संभवित छे तेमने ओण'गीने ज्वाथी या ओमनी सामे ठिला रडेवाथी ओ वनीपक  
या दाताने अथवा ओठिने द्वेष तथा ओद उत्पन्न थई जाय. तथा प्रवचननी लघुता थाय  
छे, ओटले ओमने ओण'गीने ज्वा' ओ साधुने कल्प नहीं. (१२)  
क्यारे ज्वा' ओठिओ ? ते कडे छे—पडिसेहिए० इत्यादि.

टीका—प्रतिषेधिते = दात्रा प्रतिषेधं प्राप्ते वा = अथवा दत्ते अन्नादिके, वाशब्दा-  
द्वातुस्तूष्णीभावावलम्बनाद् विलम्बादिनिमित्तवशाद्वा ततः = तत्स्थानात् तस्मिन् = वनी-  
पकादौ निवृत्ते प्रतिनिवृत्ते सति संयतः भक्तार्थं पानार्थं वा उपसंक्रामेत् = भिक्षां ग्रहीतुं  
गच्छेत् ॥ १३ ॥

१ ४ ३ २ ५ ६ ७  
मूलम्—उत्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।

८ ९ १० ११ १२ १३ १४ २३  
अन्नं वा पुष्पसच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥ १४ ॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भवे भक्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥

छाया—उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।

अन्यद्वा पुष्पसच्चित्तं, तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥

तद् भवेद् भक्तपाणं तु संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

सान्वयार्थः—उत्पलं = नील कमल पउमं = रक्त कमल वावि = अथवा कुमुयं =  
चन्द्रविकासी कमल वा = या मगदंतियं = मालती-मोगरेके फुलको वा = अथवा अन्नं  
= दूसरे भी इसी प्रकारके जो पुष्पसच्चित्तं = सच्चित्त पुष्प हों तंच = उनको भी (अगर)  
संलुंचिया = लौंच करके दए = देवे तो = तं = वह भक्तपाणं तु = आहारपानी संजयाण  
संयमियोंको अकप्पियं = अकल्पनीय भवे = होता है, अतः दितियं = देनेवाली से पडि-  
याइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न कप्पइ = नहीं कल्पता  
है ॥१४॥१५॥

टीका—‘उत्पलं’ इत्यादि ‘तं भवे’ इत्यादि च । उत्पलं = श्यामल-धवल-लोहित-  
भेदेन त्रिविधं कमलम् , अपिवा पद्मं = सूर्यविकासि कमलं कुमुदं = चन्द्रविकासि कमलं

दाताके वनीपक आदिको दान देनेकी मनाकर देने पर, अथवा अन्न आदिके दे देने पर या  
मौन साध लेने पर, अथवा विलम्ब होने आदिके कारणसे जब वह वनीपक आदि उस घरसे  
लौट जाय तब संयमीको भक्त-पानके लिए उस घर में जाना चाहिए ॥१३॥

‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि । दाता नीला सफेद और लाल कमल, सूर्यविकासी कमल

दाताके वनीपक आदिने दान देवानी मनाई कर्या पछी अथवा अन्न आदि आपी  
यूक्या पछी या मौन साधी लीधा पछी, अथवा विलम्ब थवे छत्यादिने कारणे न्यारे के  
वनीपक आदि के घेरथी पाछा इरे त्यारे संयमीके भक्त-पानने भाटे के घरमां जवुं  
लेधके (१३)

वा = अथवा मगदन्तिकां = मालतीपुष्पम्, अन्यद्वा पुष्पसचित्तं = पुष्पेषु सचित्तं पुष्प-  
सचित्तं सचित्तपुष्पमात्रमित्यर्थः, तच्च संलुठ्य = संलिख्य यदि दात्री भक्त-पानं दद्यात्,  
तर्हि तद् भक्तपानं तु संयतानामग्राहं भवेदिति ददतीं प्रत्याचक्षीत-तादृशं = दोषयुक्तं मे  
= मम न कल्पत इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

१ ४ ३ २ ५ ६ ७  
मूलम्-उत्पलं पउमं वावि कुमुयं वा मंगदंतियं ।

८ ९ १० ११ १२ १३ १४  
अन्नं वा पुष्पसचित्तं तं च संमद्विया दए ॥ १६ ॥

१५ २० १६ १७ १८ १९  
तं भवे भक्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।

२१ २२ २५ २४ २६ २३  
दितियं पडियाइक्खे न म कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

छाया—उत्पलं पदमं वाऽपि कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।

अन्यद्वा पुष्पसचित्तं तच्च संमर्धं दद्यात् ॥ १६ ॥

तद् भवेद् भक्तपानं, तु संयतानामकल्पिकम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

सान्वयार्थः—उत्पलं=नील कमल पउमं=रक्त कमल वावि=अथवा कुमुयं=चन्द्रवि-  
कासी कमल वा=या मगदंतियं=मालती-मोगरेके फूलको वा=अथवा अन्नं=दूसरे भी  
इसी प्रकारके जो पुष्पसचित्तं=सचित्त पुष्प हैं तंच=उनको भी (अगर) संमद्विया=पैरों  
आदिसे कुचलकर दए=देवे तो तं=वह भक्तपाणं तु=आहार-पानी संजयाणं=संयमियों  
को अकप्पियं=अकल्प्य भवे=होता है, (अतः) दितियं=देनेवालोसे पडियाइक्खे=कहे कि  
तारिसं=इस प्रकारका आहार मे=मुझे न कप्पइ=नहीं कल्पता है ॥१६ ॥ १७ ॥

टीका—‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि च । उत्पलादिकं संमर्धं=करचरणा-  
दिना तत्संमर्दनं कृत्वा, अशनादि दद्यात् तद् भक्त-पानं तु संयतानामग्राहमित्यादि पूर्ववद्

मालतीका फुल तथा अन्य सचित्त पुष्प तोड कर आहारपानी देवे तो वह संयमियोंके लिए  
प्राह्य नही है इसलिए देनेवालीसे कहे कि ऐसा दोषयुक्त आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥१४॥१५॥

‘उत्पलं’ इत्यादि, ‘तं भवे’ इत्यादि ।

पूर्वोक्त उत्पलादिकोमेंसे किसी सचित्त फूलको मर्दन करके अथवा संघटा मात्र भी

उत्पलं धत्यादि. तथा तं भवे० धत्यादि. जे हाता, नीलुं कइए या लाल कुमण, सूयं-  
विकासी कुमण, अद्रविकासी कुमण, मालतीनुं पुष्प तथा अन्य सचित्त पुष्प तोडीने पछी  
आहार पाणी आपे तीं ते अथभीओने भाटे आद्य नथी. तेथी ते आपनारीने साधु कडे  
के ओवेो दोषयुक्त आहार भने कल्पतो नथी (१४-१५)

उत्पलं धत्यादि, तथा तं भवे० धत्यादि-

पूर्वोक्त कुमण आदिमांथी कैरि सचित्त फूलनुं मर्दन करीने अथवा मात्र संघटन पाणु

व्याख्येयम् । अत्र 'संमर्द्य' शब्देन संमर्दनं यथा कथञ्चित्स्पर्शमात्रमपि गृह्यते, उत्पन्नादि-  
गतसूक्ष्मजीवानां तावताऽपि पीडोत्पत्तेरवश्यम्भावात् । 'संमद्दमाणी पाणाणि बीयाणि  
हरियाणी य' इत्यस्यैव प्रथमोद्देशके समस्तवनस्पतीनां ग्रहणेऽपि पुनरत्रोत्पलादीनां ग्रहणं  
न पुनरुक्तिदोषजनकं, पूर्वत्र सामान्यरूपेणाऽत्र च विशेषरूपेणोपादानादिति बोध्यम्  
१६ १७ ॥

<sup>१</sup> मूलम्—<sup>२</sup>सालुयं वा <sup>३</sup>विरालियं, <sup>४</sup>कुमुयं <sup>५</sup>उत्पलनालियं ।

<sup>६</sup>मुणालियं <sup>७</sup>सासवनालियं, <sup>८</sup>उच्छुखंडं <sup>९</sup>अनिव्वुडं ॥ १८ ॥

<sup>१०</sup>तरुणगं वा <sup>११</sup>प्रवालं. <sup>१२</sup>रुक्खस्स <sup>१३</sup>तणगस्स वा ।

<sup>१४</sup>अन्नस्स <sup>१५</sup>वावि <sup>१६</sup>हरियस्स. <sup>१७</sup>आमगं <sup>१८</sup>परिवज्जए ॥ १९ ॥

छाया—शालुकं वा विरालिकां, कुमुदम् उत्पलनालिकाम् ।

मृणालिकां सर्षपनालिकाम्, इक्षुखण्डम् अनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

तरुणकं वा प्रवालं, वृक्षस्य तृणकस्य वा ।

अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

सान्त्वयार्थः—सालुयं=कुमुदादिका मूल विरालियं=पलासका कन्द साधारण वन-  
स्पतिविशेष कुमुयं=चन्द्रविकासी श्वेत कमल उत्पलनालियं=कमलनाल मुणालियं=कमल-  
तन्तु सासवनालियं=सरसौकी भाजी कान्दव वा=अथवा उच्छुखंडं=गन्ने के टुकड़े, (ये  
सब यदि) अनिव्वुडं=शस्त्रपरिणत-अचित्त न हों तो, (तथा) रुक्खस्स=इमली आदि वृक्षके  
वा=अथवा तरुणगस्स=मधुर तृणादिकोंके वा=और अन्नस्सवि=दूसरे प्रकारके भी हरि-

करके आहार देवे तों तो देनेवालीसे साधु कहे कि ऐसा आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥  
यहां 'मर्दन' शब्द से स्पर्शमात्रका भी ग्रहण होता है, क्योंकि कमल आदिके जीवोंको स्पर्श  
करनेसे भी अवश्य पीडाहोती है । प्रथम उद्देश में 'संमद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणिय'  
इस पदसे ही सब वनस्पतिकायका ग्रहण कर लिया था, यहाँ फिर उत्पल आदिका ग्रहण किया  
है यह पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए, यहाँ विशेष रूपसे निषेध किया है ॥१६॥१७॥

उरीने आहार आपे तो आपनारीने साधु कहे के अवे आहार लेवे भने कल्पते नथी.  
अही 'मर्दन' शब्दथी स्पर्श-मात्रनुं पणु अहणु थाय छे, कारण के कमल आदिना  
जीवाने स्पर्श करवाथी पणु अवश्य पीडा थाय छे. प्रथम उद्देशमां संमद्दमाणी पाणाणि  
बीयाणि हरियाणिय अये पदथी न अथी वनस्पतिकायनुं अहणु करवाभां आण्युं हतुं,  
अही उरीथी कमल आदिनुं अहणु कयुं छे, अये पुनरुक्ति दोष समझवे नहि, कारण  
के पहेलां सामान्यरूपे निषेध कर्यो हतो, अने अही विशेषरूपे निषेध कर्यो छे, (१६-१७)



यस्स = हरित कायके तरुणगं = कौपल पत्ते आदि वा = अथवा पवालं = कर्ची कौपल-  
नहीं खिले हुए पत्ते आदि आमगं = सचित्त हों तो उन्हें परिवज्जए = वरजे नहीं लेवे ॥  
१८ ॥ १९ ॥

टीका—‘सालुयं’ इत्यादि ‘तरुणगं’ इत्यादि च । शालुकं = कुमुदादिमूलं, विरा-  
लिकां = पलाशकन्दं साधारणवनस्पतिविशेषं, कुमुदं = चन्द्रविकासिश्वेतकमलम्, उत्पलना-  
लिकां = कमलनालं मृणालिकां = बिसं भे इति भाषाप्रसिद्धां सर्षपनिकां = सर्षपपत्र शाकं  
सर्षपकन्दलीं वा, एत त्सर्वम् अनिर्वृतम् = शस्त्राऽपरिणतम् । तथा वृक्षस्य = अम्लिकादेः  
वा अथवा तृणकस्य = मधुरतृणादेः, अन्यस्य हरितस्यापि वा हरितकायमात्रस्य तरुणकं  
= तरुणदशाऽऽपन्नं पत्रादिकं, प्रवालं = सुकुमारं पत्रादिकं वा, आमकं = सचित्तं  
परिवर्जयेत् ॥१८॥१९॥

मूलम्-तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं ।

दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २० ॥

छाया—तरुणिकां वा छिवाडीम्, आमिकां भजितां सकृत् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत्, न मे कल्पते तादृशम् ॥२०॥

सान्वयार्थः—तरुणियं = कर्ची-जिसके बीज पके नहीं हों ऐसी वा = अथवा सइं  
= एक वार भज्जियं = भुनी हुई आमियं = सचित्तछिवाडिं = फलीकोदितियं = देने-  
वालीसे (साधु) पडियाइक्खे = कहे कि तारिसं = इस प्रकारका आहार मे = मुझे न  
कप्पइ = नहीं कल्पता है ॥२०॥

टीका—‘तरुणियं’ इत्यादि । तरुणिकाम् = अपरिपक्वबीजाम् अवरित्यक्तत्वक्सं-  
श्लेषावस्थापन्नामित्यर्थः, छिवाडीं = ‘देशीयोऽयं शब्दः मुद्ग चवल तुबरिकादिफलिकां

‘सालुयं’ इत्यादि, ‘तरुणगं’ । कमलका मूल, पलाश (ढाक) का मूल अर्थात् साधारण  
वनस्पतिकी जातिविशेष, तथा सफेद कमल, कमल ‘नाल’ सरसोंके पत्तेकीशाक, गन्धोका सण्ड,  
ये सब यदि शस्त्रसे परिणत न हों तो इनका, तथा—ईमली आदि वृक्षके, मधुर तृण आदिके  
तथा अन्य हरेक वनस्पतिके पत्ते कौपल आदि जो सचित्त हों तो उनका त्याग करना चाहिए  
॥१८॥ १९ ॥

‘तरुणियं’ इत्यादि । जिसके बीज न पके हों ऐसी मुँग, चबला तुअर, (अरहर) आदि  
की फली एक वारभूजी हुई हो तथा सचित्त हो तो देनेवाली बाईसे साधु कहे कि यह लेना मुझे  
नहीं कल्पता है ॥२०॥

सालुयं० इत्यादि, तरुणगं० इत्यादि. कमलानुं मूल, पलाशनुं मूल, अर्थात् साधारण  
वनस्पतिनी जति विशेष, तथा सइंइ कमल, कमलानी नाल, सरसवनां पांडुडानुं शाक,  
शेरडीनी कातणी, ये अथां जे शस्त्रथी परिणत न होय तो येना तथा आंगली आदिनां  
वृक्षनां, मधुर तृण आदि जे सचित्त होय तो येना त्याग करवा जेईये. (१८) (१९)

तरुणियं इत्यादि. जेनां पीज पाक्यां न होय जेवा भग, जोगा, तुवेर आदिनी सींग  
जेकवार भूजेली होय तथा सचित्त होय तो ते आपनारी भाधने साधु कहे के जे लेवी

सकृद्भजिताम् = एकवारं भृष्टां वा = अथवा आमिकां = सचित्तां ददतीं प्रत्याचक्षीत  
तादृशं मे न कल्पत इति ॥२०॥

मूलम्—तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुयं कासवनालियं ।

तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छाया—तथा कोलमणुस्सिन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।

तिलपर्पटकं नीपम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

सान्त्वयार्थः—तहा=उसी प्रकार अणुस्सिन्नं=विना उवाले हुए कोलं=वेर तथा  
वेलुयं=केर या बांसकी कोंपल कासवनालियं=श्रीपर्णीका फल तिलपप्पडगं=तिलपापड़ी  
नीमं=कदम्बका फल ( ये सब यदि ) आमगं=सचित्त हों तो उन्हे परिवज्जए=वर्जे  
॥ २१ ॥

टीका—‘तहा’ इत्यादि । तथा=तद्वत् अनुत्सिन्नं=सलिलानलसंयोगेनाऽनुत्कालि-  
तम् - अववथितमित्यर्थः, कोलं=बदरीफलम् , आमकम्=अशस्त्रोपहतम् , अस्य वेणुकादौ  
सर्वत्र सम्बन्धः, वेणुकं=वंशकरीरं वंशाङ्कुरमित्यर्थः, काश्यपनालिकां=श्रीपर्णीफलम् ,  
अत्र ‘आमग’—मित्यस्य लिङ्गविपरिणामेनान्वयः । तिलपर्पटकं प्रसिद्धमेव, नीपं=कदम्बफ-  
लम् परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

मूलम्—तद्देव चाउलं पिट्टं, वियडं वा तत्तन्निव्वुडं ।

तिल पिट्टं पइ—पिन्नागं. आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥

छाया—तथैव ताण्डुलं पिष्टं, विकटं वा तप्तनिर्वृतम् ।

तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम् , आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

सान्त्वयार्थः—तद्देव=उसी प्रकार चाउलं पिट्टं=चाँवल्लोंका आटा तथा और भी किसी  
तरहका आटा वा=अथवा तत्तन्निव्वुडं=पहले गर्म किया हुआ किन्तु फिर ठंडा होया  
हुआ वियडं=पानी तिलपिट्टं=तिलकुट्टा पूइपिन्नागं = सरसोंकी खल (ये) आमगं = सचित्त  
हों तो परिवज्जए = वरजे ॥२२॥

‘तहा कोल०’ इत्यादि । इसी प्रकार जल और अग्निमें नहीं उवाले हुए वेर सचित्त वाँसके  
अंकुर तथा काश्यपनालिका (गंभारीफल) तिलपापड़ी और कदम्बके फल ये सब यदि सचित्त  
हों तो इनका त्याग करे—ग्रहण न करे ॥२१॥

भने कदपती नथी.

‘तहा कोल०’ इत्यादि. ये प्रमाणे जण अने अग्निमां नहि उकाणेलीं ओर, सचित्त  
वांसना अंकुर तथा काश्यपनालिका (गवार इणी), तिलपापडी अने कदम्बनां इण ने  
सचित्त होय तो येना त्याग करवो—ग्रहण करवां नहि, (२१)

१ ‘नीमं’ इत्यत्र ‘नीपाऽऽपीडेमोवा’ ( प्र०८।१।२३४ ) इति प्राकृतमूत्रेण पश्य मः॥

टीका--‘तहेव’ इत्यादि । तथैव = तेनैव प्रकारेण ताण्डुलं = तण्डुलसम्बन्धि पिष्टं = चूर्णम्, उपलक्षणमेतद्गोधूमादेरपि, वा = अथवा तप्तनिर्वृतं = पूर्वं तप्तं पश्चान्निर्वृतं = शीतलं यत्तत्तथोक्तम्, उष्णोदकं यदा शैत्यापन्नं ततः कालादारभ्य ग्रीष्मे याममश्व-कादूर्ध्वं शीतकाले यामचतुष्टयात्परं, वर्षाकाले च प्रहरत्रयानन्तरं सचित्तं जायते । अत्रेयं सङ्ग्रहगाथा—

“जम्भि समयम्भि उण्हो,—दगं च सीयं भवे तओ पच्छा ।

पंच-उउ-त्तिय-जामा, गिम्हे हेमंत-पाऊसे ॥ १ ॥” इति ॥

छाया—“ यस्मिन् समये उष्णोदकं च शीतं भवेत्ततः पश्चात् ।

पश्चचतुस्त्रिकयामाः, ग्रीष्मे हेमन्त-प्रावृषोः ॥ १ ॥

विकटं = समयपरिभाषया सलिलं, तिलपिष्टं = तिलकुट्टं प्रसिद्धं, पूतिपिण्याकं = सर्षपकल्कम् आमकं = सचित्तं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

मूलम्—कविट्टं<sup>१</sup> माउलिं<sup>२</sup> च, मूलगं<sup>५</sup> मूलगत्तियं<sup>३</sup> ।  
६ ७ ८ ९ १०

आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥ २३ ॥

छाया—कपित्थं मातुलिङ्गं च, मूलकं मूलकर्तिकाम् ।

आमम् अशस्त्रपरिणतं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

सान्वयार्थः— कविट्टं = कैथ-कविठ माउलिं = विजौरा मूलगं = मूला च = और मूलगत्तियं = मूलेके कन्दका टुकड़ा आमं = कच्चा असत्थपरिणयं = स्वकाय परकाय आदि शस्त्रसे परिणत न हुआ हो तो उसे मणसावि = मनसे भी न पत्थए = न चाहे ॥ २३ ॥

‘तहेव’ इत्यादि । इसी प्रकार तत्कालका पीसा हुआ चाँवल गेहूँ आदिका आटा तथा पहले अचित्त होने पर भी कालकी मर्यादा व्यतीत होने पर पुनः सचित्त हुआ जल, तुरतका बना हुआ तिलकुट्ट, तत्काल की सरसों आदिकी खली इन सचित्त वस्तुओंको ग्रहण न करे । गर्म पानीके अचित्त रहनेकी मर्यादा— ठंडा होजाने पर ग्रीष्म ऋतुमें पांच पहर, शीतकालमें चार पहर और वर्षाकालमें तिन पहरकी होती है उसके बाद वह (जल) सचित्त होजाता है । इस विषयमें एक संग्रह गाथा है जो संस्कृत-टीकामें लिखी गई है ॥२२॥

‘कविट्टं’ इत्यादि । कैथ (कविठ) विजौरा नीबू मूला और मूलेके खण्ड यदि अचित्त—शस्त्र-

तहेव० इत्यादि. ये ७ प्रमाणे तत्कालने दणेदेो योभा घटि आदिने आटा, तथा पडेवां अचित्त होवा छतां पष्ण काणनी मर्यादा व्यतीत थतां पुनः सचित्त थयेलुं ७ण, तुरतने अनावेदेो तलकुट्ट, तुरतनी सरसव आदिने जोण ये सचित्त वस्तुयेने पष्ण अडुष्ण न करे. गरम पाणी अचित्त रडेवांनी मर्यादा ठंडु थर अया पष्णी ग्रीष्म ऋतुमां पांथ पडोर, शीयाणांमां थार पडोर अने वर्षाऋतुमां त्रष्ण पडोरनी होय छे, त्यारणाद ये ७ण सचित्त अनी अय छे. ये विषयमां अेक संग्रहगाथा छे ते संस्कृत टीकांमां लपी छे. (२२)

टीका—‘कविट्टं’ इत्यादि । कपित्थं ‘कैथ कविठ’ इति भाषायां, मातुलिङ्गं = बीजपूरकं ‘बिजौरा नींबू’ इति भाषायां, मूलकं = सपत्रं, मूलकर्तिकां = मूलककन्दखण्डं, आमम् = अपकम्, अशस्त्रपरिणतम् = अलब्धस्वपरकायादिशस्त्रयोगं मनसाऽपि न प्रार्थयेत्— एतद्विषयिणीमिच्छामपि न कुर्यादित्यर्थः । ‘आमम्’ इत्यस्य ‘अशस्त्रपरिणतम्’ इत्यस्य च लिङ्गविपरिणामेन ‘मूलकर्तिका’-मित्यत्र सम्बन्धः । मूलकस्याऽनन्तकायत्वात् शस्त्रपरिणतिर्दुष्करेति बोधयितुमेकार्थकस्याऽऽमादिशब्दद्वयस्योपादानम् ॥ २३ ॥

१ २ ३ ४  
मूलम्—तहव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिय ।

५ ६ ७ ८ ९  
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥२४॥

छाया—तथैव फलमन्थून् बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।

विभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

सान्वयार्थः—तहेव=इसी प्रकार फलमंथूणि=बेर आदि फलोंका चूर्ण-चूरा बीयमंथूणि = शालि आदि बीजोंका चूर्ण-चूरा विहेलगं=बहेडा च=और पियालं=रायण अथवा दाख (इन्हें) आमगं=सचित्त जाणिय=जानकर=जाने तो परिवज्जए=वरजे-न ले ॥२४॥

टीका—‘तहेव फलं’ इत्यादि । तथैव=तद्वत् फलमन्थून्=बदरादिचूर्णान्, बीजमन्थून्=फलबीजचूर्णान्, विभीतकं ‘बहेडा’ इति प्रसिद्धं, च=पुनः पियालं=राजादनफलं ‘रायण’ इति भाषाप्रसिद्धम् । यद्वा ‘प्रियाला’-मिति च्छाया, प्रियालां=द्राक्षाम्, आमकं=सचित्तं ज्ञात्वा परिवर्जयेत्, सचित्तं चेन्न गृह्णीयादित्यर्थः । यद्वा ‘जाणिय’ इत्यस्य ‘याँश्चे’-ति च्छाया; याँश्च बीजमन्थून् इत्यन्वयः ॥ २४ ॥

५ ६ ७ ८ ९ १० ११  
मूलम्—समुयाणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावय सया ।

नोयं कुलमइक्कम्म. ऊसटं नाभिधारए ॥ २५ ॥

परिणत न हो तो इन्हें ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए । मूला अनन्तकाय है, अतः उसका शस्त्रपरिणत होना कठिन है इसीसे यहां एक अर्थवाले आमक, और अशस्त्रपरिणत ये दो शब्द दिये हैं ॥२३॥

‘तहेव फलं’ इत्यादि । इसीप्रकार कच्चे बेर आदिका चूरा तथा कच्चे फलके बीजोंका चूरा तथा रायण अथवा दाख ये सचित्त हों तो ग्रहण न करे ॥२४॥

‘कविट्टं’—इत्यादि. केडुं, भीजेरा-लींणु, मूणा अने मूणाना कडडा ने अचित्त-शस्त्र-परिणत न होय तो ते अहणु करवानी छिछा पणु न करवी नेछंये. मूणा अनन्तकाय छे अट्टे ये शस्त्रपरिणत थवे कठिन छे, तेथी अही अेक अर्थवाणा ‘आमक’ अने ‘अशस्त्र-परिणत’ अेवा ये शब्दा आपेदां छे. (२३)

‘तहेव फलं’ इत्यादि. अे प्रकारे और आदितुं यणुं, कणनां भीजेनुं यणुं, तथा अडेडां, रायणु अथवा द्राक्ष अे सचित्त होय तो अहणु करवां नहि. (२४)

छाया—समुदानं चरेद् भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा ।

नीचं कुलमतिक्रम्य, उच्छ्रितं नाभिधारयेत् ॥२५॥

सान्वयार्थः—भिक्षू=साधुको सया=हमेशा उच्चावयं=ऊंच-नीच अर्थात् धनवान् और गरीब कुलं=कुल-घर-में समुयाणं=शुद्ध भिक्षाका अनुसन्धान-पूर्वक चरे = घूमना चाहिए, (किन्तु) नीयं=गरीब कुलं=कुल-घर को अइकम्म=छोड़कर ऊसढं=धनवान्के घर-पर नाभिधारण=नहीं जाना चाहिए ॥२५॥

टीका—‘समुयाणं’ इत्यादि । भिक्षुः सदा = नित्यम् उच्चावयम् = उदक् = उच्चं धनधान्यादिसमृद्धम्, अवाक = अवचं = तद्विकलं कुलं प्रति समुदानं गृहस्थसमुदायसम्बन्धि भैक्ष्यं, न त्वेकस्मिन्नेव गृहे तत्राऽऽधाकर्मादिदोषसम्भवादिति भावः, चरेत् गच्छेत् । नीचं = विभवविधुरं कुलम् अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य परित्यज्येति यावत्, उच्छ्रितं = समृद्धं कुलं नाभिधारयेत् = त गच्छेत् प्रचुरसरसभक्तपानादिलिप्तया निर्धनं विहाय विभवसंपन्नं सदनं नाभिगच्छेत्, किन्तु उभयत्रापि यायादिति भावः । ‘समुयाणं’ इति-पदेनाऽनेकगृ-हतः स्वल्पं-ग्रहणाद् भिक्षाया निर्दोषता सूचिता । ‘उच्चावयं’ इति-पदेन समभावो व्यक्ती-कृतः । ‘नीयं कुलं’ इत्युत्तरार्द्धेन रसलोलुपतापरित्याग आविष्कृत इति ॥ २५ ॥

मूलम्—अदीणा<sup>६</sup> वित्तिमेसिज्जा<sup>७</sup>, न<sup>८</sup> विसीएज्ज<sup>९</sup> पंडिए<sup>१०</sup> ।

अमुच्छिआ<sup>३</sup> भोयणम्मि<sup>२</sup>, मायन्ने<sup>४</sup> एसणारए<sup>५</sup> ॥२६॥

समुयाणं’ इत्यादि । भिक्षु सदा धन-धान्य आदिसे समृद्ध कुलोंमें तथा धन-धान्यहीन कुलोंमें समुदानी भिक्षाके लिए गमन करें । एकही घर से भिक्षा न लें क्योंकि आधाकर्म आदि दोष लगनेकी संभावना है । निर्धन कुलको छोड़कर सरस भक्त-पानकी लालसासे सम्पत्तिशाली कुलमें भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिए ।

‘समुयाणं’ पदसे यह सूचित किया है कि अनेक कुलोंसे थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेनेसेही भिक्षाकी निर्दोषता होती है । उच्चावयं, पदसे समभाव सूचित किया है । ‘नीयं कुलं’ इत्यादि उत्तरार्द्धसे रसलोलुपताका त्याग व्यक्त किया है ॥२५ ॥

‘समुयाणं’ इत्यादि. भिक्षु सदा धन-धान्य आदिसे समृद्ध कुलोंमें तथा धन-धान्यहीन कुलोंमें समुदानी भिक्षाके लिए गमन करें. एक ही घर से भिक्षा न ले. कारण के आधाकर्म आदि दोष लागवाने संभव है. निर्धन कुलमें छोड़ीने सरस भक्त-पानकी लालसाकी सम्पत्तिशाली कुलमें भिक्षाके लिए नहीं जाना चाहिए.

‘समुयाणं’ पदसे यह सूचित किया है कि अनेक कुलोंसे थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेनेसेही भिक्षाकी निर्दोषता संभव है. उच्चावयं शब्दसे समभाव सूचित किया है. ‘नीयं कुलं’ इत्यादि उत्तरार्द्धसे रसलोलुपताका त्याग व्यक्त किया है. (२५)

छाया-अदीनः वृत्तिमेषयेत् , न विषीदेत् पण्डितः ।

अमूर्च्छितो भोजने, मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

सान्वयार्थः- पंडि ए = बुद्धिमान् साधु भोयणम्मि=भोजनमें अमुच्छिओ = गृद्धि-  
लोलुपता-रहित मायन्ने = आहार-पानीकी मात्राको जाननेवाला एषणारए = आहारकी  
शुद्धिमें तत्पर अदीणो=दीनता नहीं दिखलाता हुआ विर्त्ति = भिक्षागोचरी-की एसिज्जा  
= गवेषणा करे, ( किन्तु भिक्षा न मिलने पर) न विसीएज्ज = खेद न करे ॥ २६ ॥

टीका-‘अदीणो’ इत्यादि । पण्डितः=सकलभिक्षादोषज्ञः साधुः भोजने=आहारे  
अमूर्च्छितः=अगृध्नुः मात्राज्ञः=मात्रां=भक्तपानेन स्वकीयोदरपूर्त्तिप्रमाणं क्षुभिमित्तकवैक-  
ल्यप्रशमनैकसाधनप्रमाणं वा जानातीति मात्राज्ञः, प्रमाणाधिकभोजनेन प्रमादादिदोषोद्भ-  
वस्य संभवेन साधूनामाहारप्रमाणमवश्यं विधेयमिति । एषणारतः=उद्गमादिदूषणव्यतिरि-  
च्यमानगवेषणपरायणः, अदीनः=दैन्यरहितः सन् वृत्ति-भिक्षालक्षणाम् एषयेत्=अन्वेष-  
येत्, अलाभे सति न विषीदेत् = न खिद्येत् । ‘अदीणो’ इति-पदेन स्वदैन्याऽऽविष्करणे-  
नाऽऽत्मनोऽधःपतनं शासनलघुता च प्रसज्यते, इति व्यज्यते । ‘न विसीएज्ज’ अनेन  
भिक्षाया अलाभेऽपि स्वात्मप्रसन्नतां न परित्यजेदिति द्योतितम् । ‘पंडि ए’ इत्यनेन  
सर्वथापरिशुद्ध भिक्षाग्रहणयोग्यताऽऽर्बेदिता । ‘अमुच्छिओ’ इतिपदेनाऽऽहारादिलोलुपता

‘अदीणो’ इत्यादि । भिक्षाके समस्त दोषोंका ज्ञाता मुनि आहारमें मूर्च्छा न रखे और आहार  
के परिमाणका ख्याल रखे जितने आहारसे क्षुधावेदनीय उपशान्त होजाय वही आहारक परि-  
माण है ऊससे अधिक आहार करनेसे प्रमाद आदि दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए साधुओं को  
आहारका परिमाण अवश्य करना चाहिए । साधु उद्गम आदि दोषोंको न लगाते हुए दीनताका  
त्याग करके भिक्षाकी गवेषणा करें और भिक्षाका लाभ न हो ‘तो खेद न करे

‘अदीणो’ पदसे यह प्रगट होता है कि दीनता दिखानेसे आत्माका अधःपतन और जिनशा-  
सनकी लघुता होती है । ‘न विसीएज्ज, पदसे यह सूचित किया है कि आहार-लाभ न हो तो  
भी आत्मिक प्रसन्नताका परित्याग न करना चाहिए । ‘पंडि ए’ पदसे सर्वथाशुद्ध भिक्षा ग्रहण

अदीणो० धत्यादि. भिक्षाना अधा दोषानो ज्ञाता मुनि आहारमां मूर्च्छा न राषे अने  
आहारना परिभाषुने ज्याल राषे जेटला आहारथी क्षुधा वेदनीय उपशान्त थध न्यथ ते  
न आहारनुं परिभाषु छे ज्येथी पधारे आहार करवाथी प्रमाद आदि दोष उत्पन्न थाय  
छे, तेथी साधुज्येथे आहारनुं परिभाषु अवश्य करुनुं जेधज्ये. साधु उद्गम आदि दोषो न  
लागवा हेतां दीनतानो त्याग करीने भिक्षानी गवेषणा करे, अने भिक्षानो लाभ न थाय तो  
तेथी जेद न करे.

‘अदीणो’ शब्दथी ज्येभ प्रकट थाय छे के दीनता अताववाथी आत्मानुं अधःपतन अने  
जिनशासननी लघुता थाय छे. न विसीएज्ज शब्दथी ज्येभ सूचित करुनुं छे के आहारलाभ  
न थाय तो पषु आत्मिक प्रसन्नतानो परित्याग न करवेो जेधज्ये. पंडि ए शब्दथी सर्वथा

निराकृता । 'मायन्ने' इत्यनेन निर्दोषसरसभक्तपानादौ प्राचुर्येण दीयमानेऽपि प्रमाणाधिकं न ग्राह्यमिति स्पष्टीकृतम् । 'एसणारए' इति पदेनाऽऽधाकर्मादिसकलभिक्षादोषानुसन्धानेनैव विशुद्धभिक्षाग्रहणं भवितुमर्हतीत्याविष्कृतम् ॥२६॥

मूलम्—बहुं<sup>५</sup> परघरे<sup>१</sup> अत्थि<sup>६</sup> विविहं<sup>२</sup> खाइमसाइमं<sup>३</sup> ।

न तत्थ<sup>१४</sup> पंडिओ<sup>१२</sup> कुप्प,<sup>१३</sup> इच्छा<sup>१५</sup> देज्ज<sup>७</sup> परो<sup>९</sup> न वा<sup>८</sup> ॥२७॥

छाया—बहु परगृहे अस्ति विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।

न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छा दद्यात् परो न वा ॥२७॥

सान्त्वयार्थः—परघरे=गृहस्थके घरमें विविहं = नाना प्रकारका खाइमं = दाख पिस्ता बादाम भादि खाद्य साइमं=एलची लूंग आदि स्वाद्य बहुं=बहुत अत्थि=हैं, (किन्तु) इच्छा=इच्छा-मरजी-है कि परो = गृहस्थ देज्ज-देवे वा =अथवा = न = न देवे । नहीं देने पर तत्थ = उस गृहस्थ पर पंडिओ = बुद्धिमान् साधु न कुप्पे=कुपित न होवे ॥२७॥

टीका—'बहुं' इत्यादि । परगृहे=गृहस्थभवने विविधं = नैकप्रकारं खाद्यं = द्राक्षापिस्ताबादामादिकं, स्वाद्यम् = एलालवङ्गादिकम् बहु = प्रभूतमस्ति, किन्तु इच्छा चेत् परः = गृहस्थः दद्यात् न वा दद्यात्, तत्र=दातरि, यद्वा तत्र=खाद्ये स्वाद्ये तु अदीयमाने सति न कुप्येत्=न क्रुध्येत्—'कीदृशोऽयमविवेकी ? प्रचुरेऽपि बहुविधखाद्यादिके विद्य-

करनेकी योग्यता व्यक्त होती है । अमुच्छिओ पदसे आहार आदिकी लोलुपताका त्याग ध्वनित होता है मायन्ने पदसे यह सूचित किया है कि निर्दोष और सरस आहार अधिक प्राप्त हो रहा हो तो भी प्रमाणसे अधिक नहीं ग्रहण करना चाहिए । एसणारए पदसे यह ध्वनित किया है कि आधाकर्म आदि भिक्षाके समस्त दोषों का अनुसन्धान करने से ही विशुद्ध भिक्षाका ग्रहण होना संभव है ॥२६॥

'बहु' इत्यादि । गृहस्थके घरमे भाँति-भाँतिके खाद्य और भाँति-भाँतिके स्वाद्य विद्यमान रहते हैं, उसकि इच्छा हो तो देवे न हो तो न देवे । यदि न दे तो साधुको ऐसा क्रोध न करना चाहिए कि,—यह कैसा अविवेकी है कि इतना बहुत खाद्य स्वाद्य मौजूद होनेपर भी साधुको नहीं

शुद्ध भिक्षा ग्रहण करवानी योग्यता व्यक्त थाय छे अमुच्छिओ शब्दथी आहार आदिनी लोलुपतानो त्याग ध्वनित थाय छे. मायन्ने शब्दथी अत्र सूचित करवामां आव्युं छे के निर्दोष अने सरस आहार वधारे प्राप्त थछे र्ह्यो होय तो पण प्रमाणाथी वधारे ग्रहण न करवे नोछंअ. एसणारए शब्दथी अत्र सूचित करवामां आव्युं छे के आधाकर्म आदि भिक्षाना अधा होषेतुं अनुसंधान करवाथी न विशुद्ध भिक्षानु ग्रहण संभवित छे (२६) 'बहुं' इत्यादि. गृहस्थना घरमां तरेड-तरेडना आद्य अने लात लातनां स्वाद्य विद्यमान होय छे; ते तेनी इच्छा होय तो आपे अने न होय तो न आपे.ने न आपे तो साधुअे अवेा क्रोध न करवेा नोछंअे के, 'आ केवेा अविवेकी छे के 'आटलां अधां आद्य-स्वाद्य

माने साधवे न ददातीति क्रोधावेशदूषितान्तःकरणो न भवेत् । अत्र 'पंडिष्' इति-पदेन सदसद्विवेकशालित्वं, तेन च मनोविजयित्वमावेतिम् ॥२७॥

एतदेव प्रपठ्यते—'सयणा०' इत्यादि ।

मूलम्—सयणासणवत्त्वं वा, भक्तं पाणं व संजए ।

अर्दितस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खेवि य दीसउ ॥२८॥

छाया—शयनासनवस्त्रं वा, भक्तं पानं वा संयतः ।

अददतो न कुप्येत्, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

पूर्वोक्त विषय को ही विशद करते हुए कहते हैं—

सान्वयार्थः—सयणासणवत्त्वं—शयन-वसति, आसन-पाटलादिक, वस्त्र-चादर आदि वा=अथवा भक्तं=आहार व=तथा पाणं=पानी आदि किसी भी वस्तुके पच्चक्खेवि य=प्रत्यक्ष-सामने पड़ी दीसउ=दीखने पर भो अर्दितस्स=नहीं देते हुए गृहस्थ पर संजए=साधु न कुप्पेज्जा=कोप न करे, (क्योंकि)—“इच्छा देज्ज परो न वा” देवे न देवे गृहस्थकी मरजी है, ऐसा गाथासे संबंध है ॥२८॥

टीका—संयतः शयनासनवस्त्रं=शयनं च आसनं च वस्त्रं चेत्येषां समाहारः, तत्र शयतेस्मिन्निति शयनं वसतिः, आस्यते=उपविश्यतेऽस्मिन्निति-आसनं = पीठफलकादिकं, वस्यते=आच्छाद्यते शरीरमनेनेति वस्त्रं = शाटकादिकं, भक्तं=भोज्यं, पानं=पेयम् अददतः=अप्रयच्छतः, (अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी,) प्रत्यक्षेऽपि दृश्यमाने शयनादौ न कुप्येत्=कोपावेशेन चित्तविकृतिं न कुर्यादिति सूत्रार्थः ॥२८॥

मूलम्—इत्थियं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं ।

वंदमाणं न जाएज्जा, नो अ णं फरुसं वए ॥२९॥

देता यहाँ 'पंडिष्' पदसे सत् और असत्का विवेक प्रगट किया है और उससे मनको जितना सूचित किया है ॥२७॥

इसीका विस्तार पूर्वक कथन करते हैं 'सयणा०' इत्यादि

यदि कोई गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र, भक्त या पान सामने दिखाई देनेपर भी साधुको न दे तो भी साधु क्रोध न करें ॥२८॥

डा०२ होवा छतां पणु साधुने आपतो नथी.' अही' पंडिष् शब्दथी सत् अने असतने। विवेक कथी छे, अने तेथी मनने छतवानुं सूचित कथुं छे. (२७)

अनुं विस्तारपूर्वक कथनकरे छे—सयणा० इत्यादि.

जे कौं गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र, भक्त या पान सामे देभातां होवा छतां पणु साधुने न आपे तो पणु साधु क्रोध न करे. (२८)



छाया - स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, डहरं वा महान्तम् ।

वन्दमानं न याचेत्, नो च तं परुषं वदेत् ॥२९॥

सान्वयार्थः—इत्थियं=स्त्री बावि=अथवा पुरिसं = पुरुष डहरं = छोटा बालक वा= या सहलग्नं = बड़ा-जुवान या बुढ़ा हो वंदमाणं = वन्दना करते हुएको न जाएजा = न जाँचे-उससे भिक्षाके लिए याचना न करे, (और दूसरे समय याचना करने पर यदि किसी कारण वश वह भिक्षा न दे तो) णं = उस गृहस्थके प्रति साधु फरुसं = कठोर वचन नो य = नहीं वए = बोले ॥२९॥

टीका—‘इत्थियं’ इत्यादि । स्त्रियम् अपिवा पुरुषं डहरं=बालकं, ‘देशीयोऽयं शब्दः’ जन्मतः पञ्चदशवर्षं यावत्, वा=अथवा महान्तं=तरुणं स्थविरं वा वन्दमानं=वन्दनां कुर्वन्तं न याचेत्=न-भिक्षेत । वन्दनप्रवृत्तस्य गृहस्थस्य याचनायां चित्तविक्षेपादिना वन्दनान्तरायः, चित्तवैरस्य प्रसङ्गश्च—‘कीदृशोऽयं कुक्षिम्भरिः साधुर्यद्वन्दनसमयेऽपि न धैर्यं दधाति, भिक्षायामेव दत्तचित्तो रङ्कव’—दित्यादि । अन्यदा याचितेऽपि भक्तपानाद्यभावाददाने तं च गृहस्थं परुषं=निष्ठुरवाक्यं न वदेत् मुनिरिति शेषः । यथा व्यर्थैव त्वद्वन्दनचेष्टा, नालं साधुतोषाय, केवलं किंशुककुसुमवद्भाहारमणीयतामात्रमाकलयसी’-त्यादि॥२९॥

मूलम्—जे न वंदे न स कुप्पे, वंदिओ न समुक्खसे ।

१० ११ १२ १३  
एवमन्नेसमाणस्स, सामन्नमणुचिड्ढई ॥३०॥

‘इत्थियं’ इत्यादि । स्त्री, बालक, युवक (जुवान) या वृद्ध, वन्दना कर रहा हो तो उस समय भिक्षाकी याचना नहीं करनी चाहिए । कोई वन्दना कर रहा हो और उससे याचना करे तो वन्दनामें अन्तराय पड़ती है, और गृहस्थके मनमें ऐसा विचार आता है कि-देखो यह साधु कैसा पेटु (पेट भर) है कि वन्दना करते समय भी धीरज नहीं धरता, रंककी तरह केवल भिक्षाकी चिन्ता कर रहा है अन्य समय याचना करने पर भी यदि गृहस्थ भिक्षा न दे तो कठोर वचन न बोले कि—बस रहने दे, तेरी वन्दना वृथा है इससे साधुओंको सन्तोष नहीं हो सकता, तू टेसू (पलाश केसूडा) के फूलकी नाई दिखावटी रमणीयता है (नम्रता) धारण करता है इत्यादि ॥२९॥

इत्थियं० धत्यादि. स्त्री, भाणक, जुवान या वृद्ध वंदना करी रक्षां होय तो ते वपते तेभनी पासे भिक्षानी याचना करवी न जेधये. केध वंदना करी रक्षां होय अने तेभनी पासे याचना करवामां आवे तो वंदनामां अंतराय पडे छे, अने गृहस्थना मनमां जेवा विचार आवे छे के ‘जुयो, आ साधु केवा पेट भरै छे के वंदना करती वपते पणु धीरज धरतो नथी, रंकनी पेटे केवण भिक्षानी चिन्ता करी रक्षी छे.’ भीज समये याचना करतां पणु जे गृहस्थ भिक्षा न आपे तो साधु कठोर वचन न बोले के ‘अस, रहेवा हो, तारी वंदना वृथा छे, तेथी साधुजोने सन्तोष नथी थर् शकतो; तुं केसूडांन कूलनी पेटे हेभाडवानी रमणीयता (नम्रता) धारण करना रे छे,’ धत्यादि. (२६)

छाया—यो न वन्दते न तस्य कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षयेत् ।

एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

सान्वयार्थः—जे=जो गृहस्थ न बंदे=साधुको वन्दना न करे तो से=उस पर न कुप्ये=क्रोध न करे (और) वंदितो=वन्दना किया हुआ न समुक्तसे=गर्बित न होवे—घमंड न करे । एवं=इस प्रकार अन्नेसमाणस्स=जिनशासनकी आराधना करनेवालेके सामन्नं=साधुपना-चारित्र अणुचिट्ठइ=आराधित स्थिर--होता है, अर्थात् मान अपमानमें समान रहनेवाले मुनिको ही सम्यक् प्रकारसे चारित्रकी आराधना होती है ॥३०॥

टीका—‘जे’ इत्यादि । यो गृहस्थः साधुं न वन्दते से = तस्य अवन्दमानस्य न कुप्येत् = कीदृशं विवेकविकलः, यन्मासुपस्थितं साधुमवमन्यते’ इति कृत्वा कोषावेशेन मनो विकृतं न विदध्यात् । वन्दितः = सार्वभौमादिनाऽपि नमस्कृतश्च न समुत्कर्षयेत् आत्मनामिति शेषः, ‘अहमेतादृशो माननीयो जगति, यदेवंविधा नरेन्द्रादयोऽपि मम चरणौ प्रणमन्ती’—त्याद्यभिमानं न कुर्यादित्यर्थः । एवम् = उक्तप्रकारेण अन्वेषमाणस्य = जिनशासनमनुतिष्ठतः साधोः श्रामण्यं = साधुत्वं चारित्रमिति यावत् अनुतिष्ठति = स्थिरीभवति, मानापमानसमानमानसस्यैव साधोनिरतिचारचारित्रं सम्पद्यत इति भावः ॥३०॥

स्वपक्षे चौर्यं निषेधयति—‘सिया’ इत्यादि ।

मूलम्—सिया एगइओ लद्धुं विणिगूहई ।

मामेयं थाइयं संतं, ददट्टणं सयमायए ॥३१॥

छाया—स्यात् एककः लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।

ममेदं दर्शितं सद , दट्टा स्वयमाददीत ॥३१॥

‘जे’ इत्यादि कोई वन्दना न करे तो उसे उसपर कुपित न होना चाहिए कि—यह कैसा अविवेकी है कि सामने उपस्थित साधुका अनादर करता है ?, तथा चक्रवर्ती आदि राजा—महाराजा भी वन्दना करें तो आत्मप्रशंसा (घमंड) न करे की—मैं संसारमें ऐसा माननीय हूँ कि ऐसे राजा महाराजा भी मेरे चरणों में गिरते हैं इस प्रकार जिन-शासनमें स्थित साधुका चारित्र स्थिर (दृढ़) रहता है, अर्थात् सत्कार और तिरस्कार होने पर अन्तःकरणमें विकार न करनेवाले अनगारका आचार निरतिचार पलता है ॥३०॥

जे० इत्यादि. कै। साधुने वंदना न करे तो साधुसे तेना पर कुपित न थपुं अथये के ‘आ केवे अपिवेकी छे के सामे जिलेदा साधुने अनादर करे छे ?’ तथा चक्रवर्ती अ दि राजा-महाराज पणु वंदना करे तो आत्मप्रशंसा (घमंड) न करे के हुं जगतमां अवे। माननीय छुं के अवे। राजा महाराज पणु आरा यशणांमां पडे छे.’ अे शीते जिनशासनमां स्थित अवे। साधुनुं चारित्र स्थिर (दृढ) रहे छे, अर्थात् सत्कार अने तिरस्कार थता पणु अंतःकरणमां विकार न करनारा अनगारने। आचार निरतिचार पणु पले छे. (३०)

अब स्वपक्ष-साधुपक्ष में चोरी का निषेध बताते हैं—

सान्वयार्थः—सिया=कदाचित्-अगर एगइओ=जघन्यप्रकृतिवाला अकेला गोचरी गया हुआ साधु लद्धं=सरस अशनादि पाकर लोभेण=खानेके लोभसे (उसे) विणिगू-हइ=छिपा लेवे-नीरस वस्तुको ऊपर रखकर सरस वस्तुको उसके नीचे दवा रखे, क्योंकि मम=मेरी दाइयं संतं=दिखलाई हुई एयं=इस वस्तुको ददृणं=सरस देखकर सयं=स्वयं-आचार्य आदि खुद आयण=लेले गे अर्थात् मुझे नहीं देंगे या थोड़ी देगे ॥३१॥

टीका—स्यात् = कदाचित् एककः = कश्चिज्जघन्यप्रकृतिः साधुः लब्ध्वा = प्राप्य आहारादिकमिति शेषः लोभेन = उत्कृष्टसरसवस्तुलिप्सया विनिगूहते = संबृणुते-नीरस-वस्तुजातमुपरि कृत्वोत्कृष्टसरसवस्तु समपह्नुते । अपह्नवे हेतुमाह-ममेदमुत्कृष्टं वस्तु 'दाइयं' = दर्शितं सत् दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमेवाऽऽददीत = गृह्णीयात्, न मह्यं दास्य-ति अल्पं वा दास्यतीति भावः ॥३१॥

अपह्नवकरणस्य दोषमाह—'अत्तद्वा' इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ५  
मूलम्—अत्तद्वागुरुओ लुद्धो, बहु पावं पकुव्वइ ।

६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३  
दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥३२॥

छाया-—आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहुपापं प्रकुरुते ।

दुस्तोषकश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥३२॥

पूर्वोक्त आचरण करनेवाले साधु की क्या दशा होती है ? सो बताते हैं—

सान्वयार्थः—अत्तद्वागुरुओ = अपने स्वार्थ साधनमें लगा हुआ लुद्धो = जिह्वाका लोलुपी से = वह साधु बहु = बहुत पावं = पाप पकुव्वई = करता है, य = और (इस भवमें) दुत्तोसओ = असन्तोषी होइ = बना रहता है, च = तथा निव्वाणं = मोक्षको न गच्छइ = नहीं पाता है, अर्थात् अनन्तसंसारी होकर चतुर्गतिमें भटकता है ॥३२॥

टीका—आत्मार्थगुरुकः = आत्मनः अर्थ = प्रयोजनमित्यात्मार्थः स एव गुरुः =

स्वपक्षमें चौर्यका निषेध करते हैं 'सिया' इत्यादि ।

जो क्षुद्रप्रकृतिवाला साधु उत्कृष्ट सरस आहार प्राप्त करके इस विचार से उसे छिपा लेता है कि—मैं इसे दिखा दूंगा तो आचार्य आदि इसे ले लेंगे—मुझे न देंगे अथवा थोड़ासा देंगे ॥३१॥ अत्तद्वा, इत्यादि वह दूसरोंसे छिपाकर सरस आहार करनेवाला स्वार्थ साधनमें समर्थ साधु

स्वपक्षमां चौर्येना निषेध करे छे—सिया इत्यादि.

जे क्षुद्र प्रकृतिवाणे साधु उत्कृष्ट सरस आहार प्राप्त करीने जेवा निचारथी जेने छुपावे छे-हुं जेने अतावीश तो आचार्य आदि जे लछ देखे, भने नही आये अथवा थोड़ी जे आपरी' (३१)

अत्तद्वा० इत्यादि जे भीजथी छुपावीने सरस आहार करनारे स्वार्थ साधनमां समर्थ

प्रधानं यस्य स तथोक्तः स्वार्थसाधनसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा आत्मार्थमेव गुरुः = प्रधानं वस्तु यस्य च तथोक्तः अन्याऽलक्षितोत्कृष्टसरसवस्तुजाताऽऽस्वादकः अत एव लब्धः = मनोरमरसाभिलाषी सन् बहु = प्रचुरं पापम् = आत्ममालिन्यजनकं दुष्कर्म करोति = विधत्ते, स चाऽस्मिन् जन्मनि दुस्तोषकः = अन्तप्रान्ताद्याहारेण दुःसम्पादनीयतोषः—असन्तोषी भवति, निर्वाणं = मोक्षं च न गच्छति = नो पैति ।

‘अत्तद्गुरुओ’ इत्यनेन पुद्गलानन्दित्वं, ‘लुद्धो’ अनेन मायापरत्वं तस्करवृत्तित्वं, च प्रकटितम्, ‘दुत्तोसओ’ इत्यनेन चेप्सितवस्त्वप्राप्तौ सन्तोषाभावः सूचितः ॥३२॥

गुरुसमक्षापहारमुक्त्वा गुरुपरोक्षतोऽपहारकमाह—‘सिया’ इत्यादि ।

१ २ ५ ३ ४  
मूलम्—सिया एगइओ लद्धुं विवाहं पाण-भोयणं ।

६ ७ ८ ९ १० ११  
भद्गं भद्गं भोच्चा विविन्नं विरसमाहरे ॥३३॥

छाया—स्यात् एककः लब्ध्वा, विविधं पान-भोजनम् ।

भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

सान्त्वयार्थः—एगइओ = अकेला पूर्वोक्त स्वभाववाला रसलोलुपी साधु गोचरी गया हुआ सिया = कदाचित्-कोई वस्तु ऐसा भी करे कि विविहं = नाना प्रकारके पाण-भोयणं = आहार-पानीको लद्धुं = पाकर (उसमेंसे) भद्गं-भद्गं = अच्छे-अच्छे सरस आहारको भोच्चा = वहीं कहीं एकान्तमें खाकर विविन्नं = विकृत वर्णवाले बाल चने आदिका बना हुआ तुष आदि जिसमें बहुत हों ऐसे (तथा) विरसं = लवणादि रस सहित अशनादिको आहरे = उपाश्रयमें लावे ॥३३॥

टीका—स्यात् = कदाचित् एककः = कश्चित् रसलोलुपी विविधं पान-भोजनं लब्ध्वा भिक्षाचर्यायामेव यत्र-कुत्रचिदलक्षितप्रदेशे भद्रकं भद्रकम् = उत्कृष्टमुत्कृष्टं बहु

मनोज्ञ रसका अभिलाषी होकर अत्यन्तपापकर्मका उपार्जन करता है । वह इस जन्ममें साधारण नीरस आहारसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता न मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

‘अत्तद्गुरुओ’ इस पदसे पुद्गलानन्दीपन लुद्धो, पदसे मायाचारमें परायणता तथा तस्करवृत्ति (चोरी) और दुत्तोसओ, पदसे अभीष्ट वस्तु न मिलनेपर असन्तोष सूचित किया है ॥३२॥

गुरुसमक्षका अपहार कहकर अब गुरुके परोक्षका अपहार कहते हैं ‘सिया’ इत्यादि ।

साधु मनोज्ञ रसनो अलिखाषी यद्यने अत्यन्त पापकर्मजुं उपार्जन करे छे. ते आ जन्मभां साधारण नीरस आहारथी कदापि सन्तुष्ट न थतां मोक्षने प्राप्त करी शकते नथी.

अत्तद्गुरुओ अने पदथी पुद्गलानन्दीपणं, लुद्धो पदथी मायाचारभां परायणता तथा तस्करवृत्ति (चौर्यवृत्ति) अने दुत्तोसओ पदथी अलीष्ट वस्तु न भणवाथी उपजते असन्तोष सूचित कथी छे. (३२)

गुइ समक्षनो अपहार कहीने छेवे गुइनी परोक्षनो अपहार कहे छे—सिया० ईत्यादि.

विधान्नादिषु प्रशस्तं प्रशस्तमेव घृतपूराऽपूपादिकं भुक्त्वा विवर्णं=विकृतवर्णं बल्लचणका-  
दिनिष्पन्नं तुषादिबहुलं विरसं=लवणादिरसवर्जितमन्नादिकम् आहरेत्=आनयेत् वसता-  
विति शेषः ॥३३॥

एवं करणे किं प्रयोजनम् ? इत्याह—‘जाणंतु’ इत्यादि ।

मूलम्—जाणंतु ता इमे समणा आययद्गी अयं मुणी

संतुद्धो सेवइ पंतं लूहवित्ती सुतोसओ ॥३४॥

छाया—जानन्तु तावत् इमे श्रमणाः आत्मार्थी अयं मुनिः ।

सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोषकः ॥३४॥

वह ऐसा क्यों करता है इसमें कारण कहते हैं—

सान्त्वयार्थः—ता=प्रथम इमे=ये-उपाश्रयमें रहे हुए दूसरे समणा=साधु (मुझे इस प्रकार) जाणंतु=जाने कि अयं=यह मुणी=साधु आययद्गी=मोक्षार्थी-आत्मार्थी है, संतुद्धो जैसा मिला उसीमें संतोष करनेवाला लूहवित्ती=सरस स्निग्धादि आहारकी अभिलाषारहित सुतोसओ=थोड़े आहारसे भी संतोषी है और पंतं=वासी कुसी तथा निस्सार अन्नादिका सेवइ=सेवन करता है ॥ ३४ ॥

टीका—तावत्=निश्चयेन इमे=मानसप्रत्यक्षविषया; उपाश्रयस्थाः श्रमणाः=साधवः अयं मुनिः आत्मार्थी=आत्महितार्थी सन्तुष्टः=यथालब्धसन्तोषी रूक्षवृत्तिः=सरसाऽनभिकाङ्क्षी सुतोषकः=अल्पेनापि परितोषशीलः प्रान्तं=पर्युषितं निस्सारं वाऽन्नादिकं सेवते इति मां जानन्तु ॥ ३४ ॥

कदाचित् कोई रसलोलुपी साधु विविध प्रकारका पान-भोजन पाकर अच्छा भोजन भिक्षाचरीमें ही किसी एकान्त स्थानमें खावे, और बाल चणक आदि अन्त-प्रान्त तथा विनानमक मसालेका ठंडा आहार उपाश्रयमें ले आवे ॥३३॥

ऐसा करनेका प्रयोजन कहते हैं—‘जाणंतु’ इत्यादि ।

ये उपाश्रयमें स्थित साधु मुझे ऐसा समझें कि—‘यह साधु आत्मार्थी है, जैसा मिला उसीमें सन्तोषी है, सरस आहारकी आकांक्षा नहीं करता, थोड़े ही आहारसे सन्तुष्ट हो जाता है और साररहित ठंडा अन्त-प्रान्त आहारका सेवन करता है’ ॥३४॥

कदाचित् कोई रसलोलुपी साधु विविध प्रकारनां पान-लोअन भेजवीने साइं-साइं लोअन भिक्षाचरीमां न केअ अकेअंत स्थानमां आइ ले अने वाल यथा आदि अंत-प्रांत तथा मीडा भरया विनानो नीरस ठंडो आहार उपाश्रयमां लइ आवे (३३)

अभे करवानुं प्रयेअन कडे छे.—जाणंतुं इत्यादि.

आ उपाश्रयमां रडेला साधु भने अवेो भाने के—‘आ साधु आत्मार्थी छे, जेवेो आहार भयेो तमां संतोष भाननारेो छे, सरस आहारनी आकांक्षा करतो नथी थोडा न आहारथी

किमर्थं स्वदोषगोपनमाचरती ? त्याह—‘पूयणट्टा’ इत्यादि ।

१ २ ३  
मूलम्-पूयणट्टा जसोकामी, माणसम्माणकामम् ।

४ ६ ५ ७ ८ ९  
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

छाया—पूजनार्थः यशःकामी, मानसम्मानकामुकः ।

बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च कुरुते ॥ ३५ ॥

उपर्युक्त साधु के दोष बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—पूयणट्टा=वस्त्र-पात्रादिसे सत्कार चाहनेवाला जसोकामी=अपने महत्त्व और प्रसिद्धिका इच्छुक माणसम्माणकामम्=मान-सम्मानका अभिलाषी साधु बहुं=बहुत पावं=पाप मोहनीयादि-को पसवई=पैदा करता है, च=और मायासल्लं=कपटरूप भावशल्यको कुव्वइ=उत्पन्न करता है । तात्पर्य यह है कि-हृदयमें खुचे हुए बाणके अग्र-भागरूप द्रव्य-शल्यकी तरह हृदयमें रहा हुआ यह मायारूप भाव-शल्य मनुष्यको, अनन्त दुस्सह दुःखोंका कारणभूत चतुर्गतिक संसारमें घूमाता हुआ अविचलशान्तिमय सुखसे वञ्चित कर देता है ॥ ३५ ॥

टौका—पूजनार्थः=पूजनं=वस्त्र पात्रा ऽन्न पानादिना सत्कारः स एवार्थः=प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः प्रशस्तवस्तुपभोगार्थीत्यर्थः, अत एव यशःकामी=यशः=स्वमहत्त्वप्रसिद्धि-स्तत्कामयते=इच्छतीति ‘अहो ! अयमेव सः’ इत्येवं प्रशंसावचनाभिलाषीत्यर्थः, मानस-म्मानकामुकः=मानश्च सम्मानश्चेति मानसम्मानौ तयोः कामुक इति विग्रहः, तत्र मानः अभ्युत्थानादिलक्षण आदरः, सम्मानः = गुणोत्कीर्त्तनेन गौरवप्रकटनम् आदरगौरवाभिला-षुक इत्यर्थः । एवं कुर्वन् साधुः किं सम्पादयती ? त्याह बहु = प्रभूतं पापं = दुष्कृतं प्रसूते = जनयति च = पुनः माया शल्यं = माया = शाठ्येन मनोवाक्कायप्रवृत्तिः, सैव

अपना दोष छिपाता क्यों है ? सो कहते हैं—‘पूयणट्टा’ इत्यादि ।

अच्छे-अच्छे वस्त्र पात्र अन्न पान आदिसे अपना सत्कार चाहनेवाला, प्रशस्त वस्तुओंके भोगका लोलुपी, ‘अहो ! यह वहीं है’ ऐसे यशका अभीलाषी मान (आनेपर खड़ा होजाना) तथा सम्मान (गुणगान द्वारा गौरव प्रकट करना) की इच्छावाला साधु बहुत पापोंको तथा कपटरूप मायाशल्यको उत्पन्न करता है । छातीमें चुभकर वहीं दूट जानेवाले द्रव्य-शल्य (तोरकी

संतुष्ट थर्ष जय छे, अने साररहित ठंडा अंत-प्रांत आहारतुं सेवन करे छे, (३४)

पोताना दोष केम छुपावे छे ? ते कहे छे—पूयणट्टा० इत्यादि

सारां-सारां वस्त्र पात्र-अन्न-पान आदिथी पोताने सत्कार आह्वान, प्रशस्त वस्तुओंना-लोगने लोलुपी-अहो ! ये आ ज छे’ येवा यशने अभिलाषी, मान (आवतां ज उभा थर्ष जपु) तथा सम्मान (शुशुगानद्वारा गौरव प्रकट करवुं) नी इच्छावाणे साधु धर्षुं पापोने तथा कपटइय मायाशल्यने उत्पन्न करे छे. छातीमां पेसिने त्पां ज तूटी जनारा

शल्यं = शल्यते = वाध्यते पीड्यते आत्माऽनेनेति विग्रहः, मायालक्षणं भावशल्यं कुरुते = उत्पादयति, हृदयनिखातत्रुटितबाणाग्ररूपद्रव्यशल्यवदिदं मायारूपं भावशल्यं हृदय-स्थितं सत् निरन्तराऽनन्तदुस्सहदुःखकारणीभवत् चतुर्गतिकसंसारे भ्रामयत् अविचलशान्तिमुखाद् दूरतरीकरोति तादृशं साधुमिति भावः ॥ ३५ ॥

मद्यपानप्रतिषेधमाह—‘सुरं वा’ इत्यादि ।

<sup>५</sup> मूलम्—<sup>६</sup> सुरं <sup>७</sup> वा, <sup>९</sup> मेरुं <sup>८</sup> वावि, <sup>१०</sup> अन्नं <sup>११</sup> वा <sup>१२</sup> मज्जगं <sup>१३</sup> रसं ।

<sup>१४</sup> ससक्खं <sup>१५</sup> न <sup>१६</sup> पिबे <sup>१७</sup> भिक्खू, <sup>१८</sup> जसं <sup>१९</sup> सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥

छाया—सुरं वा मेरुं वाऽपि, अन्यद् वा माद्यकं रसम् ।

ससाक्षि न पिबेद् भिक्षुः, यशः संरक्षन् आत्मनः ॥ ३६ ॥

अब मद्यपान का दोष बताते हैं—

सान्त्वयार्थः—भिक्खू = साधु अप्पणो = अपने जसं = संयमको सारक्खं = वचाता हुआ सुरं = गौड़ी माध्वी और पैष्टी, इन तीनों प्रकार की मदिराको वा = ‘वा’ शब्दसे अथवा बारहों प्रकारकी मदिरा को वावि = तथा मेरुं = सरकेको अन्नं वा = और भी दूसरे प्रकारके मज्जगं = मदजनक भंग गांजा अफीम चरस आदि मादक रसं = रस-द्रव्य को ससक्खं = केवली भगवान्की साक्षीसे अर्थात् उनका ज्ञान सर्वव्यापक होनेसे एकान्त में भी न पिबे = नहीं पिये ॥ मदिराके बारह भेद इस प्रकार हैं—(१) महुआ (२) फणस (३) दाख, (४) खजूर, (५) ताड (ताडी), (६) गन्ना = सेरडी, (७) धावडीके फूल, (८) मक्खियोंकी शहद (९) कैठ (कठोती), (१०) मधु (अन्य प्रकारकी शहद), (११) नारियल, ओर (१२) पिष्ट (आटा), मदिरा इन बारह वस्तुओंसे बनती है ॥ ३६ ॥

टीका—भिक्खुः आत्मनः = स्वस्य यशः = संयमं संरक्षन् सुरं = मदिरा, सा च त्रिविधा-गौड़ी, माध्वी, पैष्टी चे’ ति । तत्र गौड़ी = गुडनिष्पादिता, माध्वी = मधु(महुडा

नोंक) की तरह हृदयमें स्थित मायारूप भावशल्य निरन्तर असीम व्यथाका कारण होता है, तथा चतुर्गति संसारमें इधर-उधर भटकता हुआ अविचल शान्तिमय सुखसे उस साधुको वञ्चित (अलग) कर देता है ॥ ३५ ॥

मद्य-पानक निषेध कहते हैं—‘सुरं वा’ इत्यादि ।

जो साधु अपने संयमकी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें मदिरा या सिरका एकान्तमें भी

द्रव्य-शल्य (तीरनी अण्ण) नी पेठे हृदयमां रडेवुं मायाइय भाव-शल्य निरंतर असीम व्यथानुं धारण्य अनं छे, तथा चतुर्गति संसारमां अड्डीं-तड्डीं लटकतां अविचल शान्तिमय सुभथी अे साधुने वांच्यत (रडित) करी नांणे छे. (३५)

मद्यपानने। निषेध उडे छे—सुरं वा० इत्यादि

जे साधु पेताना संयमनी रक्षा करवा धरंछे छे, तेणे मदिरा या सरके अेकान्तमां पाणु

संपादिता, पैष्टी = ब्रीह्यादिपिष्टनिर्वृत्तेति । यद्वा 'पिष्टेण सुरा होइ' इति वचनाद् ब्रीह्यादिपिष्टनिर्वृत्तैव सुरेत्युच्यते । चन्द्रहासाभिधं मद्यमिति वा । मेरकं = सरकानामधेयं मद्यम् । अन्यद्वा माद्यकं = मदजनकं रसम् । मादकत्वेन द्वादशविधमद्यस्य तदितरस्य विजयादेश्च सर्वस्य संग्रहः, तदुक्तमितरत्र मदहेतुद्रवद्रव्यं मद्यमित्यभिधीयते' इति द्वादशविधमद्यानि यथा—

“माध्वीकं पानसं द्राक्षं, खार्जूरं तालमैक्षवम् ।

मैरेयं माक्षिकं टाङ्कं, माधुकं नारिकेलजम् ॥१॥

मुख्यमन्नविकारोत्थं, मद्यानि द्वादशैव च ।” इति ।

एतत्सर्वं सुरादिकं ससाक्षि न पिबेत्, सार्धाभिः केवल्यादिभिः सहेति ससाक्षि

कदापि न पीना चाहिए । मदिरा तीन प्रकारकी है (१) गौड़ी (२) माध्वी और (३) पैष्टी । गुड़से बनाई हुई गौड़ी, महुआसे बनाई हुई माध्वी तथा धान्य आदिके पिष्ट (आटे) से बनाई पैष्टी कहलाती है । 'पिष्टेण सुरा होइ' इस वचनसे यहि जान पडता है कि-धान्य आदिके आटेसे मदिरा बनती है । अथवा पैष्टी मदिरा 'चन्द्रहास' नामकी मदिरा समझनी चाहिए । इनके सिवाय भंग गाँजे आदि और कोई भी नशैली वस्तुका साधुको सेवन नहीं करना चाहिए जैसा कि कहा है—'मदके कारण-स्वरूप पिघले हुए पदार्थको मद्य कहते हैं ।' मद्य बारह प्रकारके समझने चाहिएँ वे ये हैं—

“(१) महुआका, (२) पनसा, (३) दासका, (४) खजूरका, (५) ताड़का (ताड़ी), (६) सठिका, (७) मैरेय-धौ-धावड़ीके फूलका, (८) (माक्षिक मक्खियोंकी शहद) का, (९) टंक (कवीठ-कैथ) का, (१०) मधुका, (११) नारियलका और (१२) पिष्ट (आटे) का बना हुआ मद्य । ये मद्यके मुख्य भेद बारह हैं ।”

कदापि पीवे न जेधजे. मदिरा त्रय प्रकारनी छे, (१) गौड़ी, (२) माध्वी, (३) पैष्टी. गोण-मांथी अनावेदी गौड़ी, महुआंमांथी अनावेदी माध्वी, तथा धान्य आदिना पिष्ट (आटा) मांथी अनावेदी पैष्टी कडेवाय छे. पिष्टेण सुरा होइ जे वचनथी जेम मालुम पडे छे के-धान्य आदिना आटाथी मदिरा अने छे. अथवा पैष्टी मदिरा 'चन्द्रहास' नामनी मदिरा समझवी जेधजे. ते उपरांत बांग, गांजे, भील-भील केध पण केई वस्तुनुं सेवन साधु न करे; जेमके कथुं छे के—

‘मदना कारण स्वप्न पीणजेला पदार्थने मद्य कडे छे’ मद्य बार प्रकारना समझवा, ते नीचे सुजण—

“(१) महुआना, (२) इषुसना, (३) द्राक्षना (४) खजूरना (५) ताडना (ताड़ी), (६) शेरडीना, (७) मैरेय-धावडीनां कूलना, (८) माक्षिक-मधना, (९) टंक (कोठा) ना; (१०) मधुना, (११) नारियेणना, अने (१२) पिष्ट (आटा) ना अनेदो मद्य. जेम मधना मुख्य भेद बार छे.



केवल्पादीनां साक्षित्वं कदापि क्वचिदपि प्रतिरोद्धमशक्यं, तेषां सर्वज्ञत्वात्सर्वदर्शित्वाच्च, तेन एकान्तेऽपि न पिबेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

७ २ १ ३ ४ ५ ६  
मूलम्—पियए एगओ तेणो न मे कोई वियाणइ ।

८ १० ९ १२ ११ १४ १३  
तस्स पस्सह दोसाइं नियडिं च सुणह मे ॥ ३७ ॥

छाया—पिबती एककः स्तेनः, न मे कोऽपि विजानाति ।

तस्य पश्यत दोषान्, निकृतिं च शृणुत मे ॥ ३७ ॥

सान्वयार्थः—तेणो= जो भगवानकी आज्ञाके बिना ग्रहण करनेवाला होनेके कारण चोर साधु एगओ=अकेला, एकान्तमें रहा हुआ अर्थात् अपने सहचर धर्मको भी छोड़ा हुआ 'मे=मेरे-इस मदिरापान-को या मुझे कोई=कोईभी न वियाणइ=नहीं जानता है' (ऐसा समझ कर ) पियए=मदिरा पीता है, तस्स=उस साधुके दोसाईं=संयममें मलिनता पैदा करनेवाले दोषोंको पस्सह=देखो, च=और नियडिं=एक कपटको छिपानेके लिए किये जानेवाले दूसरे कपटको मे=मेरेसे सुणेह=सुनो ॥३७॥

टीका—'पियए' इत्यादि । यः स्तेनः तीर्थङ्करानादिष्वत्येनाऽदत्ताऽऽदायित्वाच्चौरः एककः=एकान्तस्थितः आत्मसहचरं धर्ममपि विहाय वर्तमानः सन् 'न मे=न मां, न मम सुरादिपानं वा कोऽपि विजानाति' इति मत्वा पिबति=गल्-बिलासः संयोगानुकूलव्यापार-विषयं करोति सुरादिकमिति शेषः, तस्य=द्रव्यलिङ्गिनः साधोः दोषान्=संयममालिन्यकारिचेष्टाविशेषान् पश्यत=ज्ञानविषयीकुरुत, च=पुनः निकृतिं=पूर्वकृतकपटावरणाय कपटान्त-

इन सबको केवली भगवानकी साक्षीसे न पिये । केवली भगवानकी साक्षी कभी कहीं नहीं रुक सकती, क्योंकि वे सर्वदर्शी हैं, अतः तात्पर्य यह हुआ कि एकान्तमें भी मद्य न पिये ॥३६॥

'पियए' इत्यादि । हे शिष्य ! भगवान् तीर्थङ्करकी आज्ञाके बिना ग्रहण कहेनेवाला, अत एव चोर, आत्माके सहचर धर्मको भी त्याग कर एकान्तमें स्थित होकर ऐसा समझता है कि—'मुझे या मेरे मदिरा-पानको कोई नहीं जानता' ऐसा जानकर मदिरा-पान करता है, उस द्रव्य-लिङ्गी साधुके संयमको दूषित करनेवाली चेष्टाको (दोषों) को तो देखो ! एक तो मदिरापानका

ये अध्याने डेवणी लगवाननी साक्षीये पीये नडि. डेवली लगवाननी साक्षी कदापि क्यांय डेकाती नथी, कारणु डे ते सर्वदर्शीं छे, अटवे तात्पर्यं अे छे डे अेकांतमां पए मद्य पीये नडि. (३६)

पियए० इत्यादि. हे शिष्य ! लगवान तीर्थंकरनी आज्ञा बिना ग्रहण करनार अेटवे अोर, आत्माना सहचर धर्मने पणु त्यागीने अेकांतमां स्थित वर्धने अेम समजे छे डे—'भार अा मदिरापानने डेअं लणुतुं नथी' अेम समजने जे मदिरापान करे छे ते द्रव्य-लिङ्गी साधुना संयमने दूषित करनारी अेष्टाअे (दोषो) ने तो लुअे ! अेक तो मदिरापा-नने भायाअार, वणी तेने छुपाववा माटे पीअ अनेक भायाअार अने भूषावाद अादितुं

रकरणलक्षणां मायां, प्रथमकपटं सुरापानं, द्वितीयमनृतभाषणेन तत्संगोपनमिति भावः मे  
=मम निरूपयतः सकशात् शृणुत=श्रवणगोचरीकुरुत । गुरुः शिष्यानामन्वय कथयतीति  
भावः ॥३७॥

पूर्वप्रतिज्ञातदोषानुपदर्शयति—‘वड्डई’ इत्यादि ।

मूलम्—<sup>१३</sup>वड्डई <sup>४</sup>सुंडिया <sup>१</sup>तस्स <sup>६</sup>माया <sup>७</sup>मोसं <sup>५</sup>च <sup>२</sup>भिक्षुणो ।

<sup>९</sup>अयसो <sup>८</sup>य <sup>१०</sup>अनिव्वाणं <sup>३</sup>सययं <sup>११</sup>च <sup>१२</sup>असाहुया ॥३८॥

छाया—वर्द्धते शौण्डिका तस्य, माया मृषा च भिक्षोः ।

अयशश्च अनिर्वाणं, सततं च असाधुता ॥३८॥

सान्वयाथैः—तस्स=उस मदिरा पीनेवाले भिक्षुणो=साधुकी सुंडिया=मद्यपान  
संबन्धी आसक्ति माया = कपट च = और मोसं=झूठ अयसो=अपकीर्ति य = तथा अनि-  
व्वाणं = अतृप्ति, ये सब दोष सययं = निरन्तरवड्डई = बढ़ते रहते हैं च=और (आखिर  
उसके) असाहुया-असाधुता हो जाती हैं, अर्थात् वह असाधुपनको प्राप्त हो जाता है,  
यानी चारित्र्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥३८॥

टीका—तस्य=सुरापानिनः भिक्षोः=साधोः सततं=निरन्तरं शौण्डिका=मद्यपानविष-  
यासक्तिः, च = पुनः, माया = निकृतिः, मृषा = असत्यभाषणम्, यद्वा ‘माया मोसं, इत्येकं  
पदं तेन मायया सह मृषा मायामृषा = परप्रतारणपूर्वकमसत्यभाषणमित्यर्थः, च = पुनः,  
अयशः = असद्वृत्तत्वेनाऽपकीर्तिः, अनिर्वाणम् = अनुपशान्तिरतृप्तिः उत्तरोत्तरस्पृहावर्द्ध-  
नात् च = तथा असाधुता = असंयतत्वं साधुचिताचारराहित्येन साधुपदाऽनर्हत्वमित्यर्थः,

मायाचार, फिर उसे लुपानेके लिए दूसरे अनेक मायाचार और मृषावाद आदिका सेवन क्रिया  
जाता है सो मुझसे सुनो, अर्थात् गुरुमहाराज शिष्यको आमन्त्रित करके कथन करते हैं ॥३७॥

पूर्वप्रतिज्ञात दोष कहते हैं—‘वड्डई’ इत्यादि ।

मदिरापान करनेवाला साधु सदा मदिरा पीनेमें ही मग्न रहता है । वह मायाचार करता  
है, मृषा बोलता है, अथवा कपट-सहित झूठ बोलता है । दुराचारी होनेके कारण उसकी अप-  
कीर्ति फैल जाती है । उसको लोलुपता अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है—उसे कभी तृप्ति नहीं  
होती । तथा मुनिके योग्य आचरणसे हीन होनेके कारक वह साधु कहलाने योग्य नहीं रहता,

सेवन करवाभां आवे छे ते मारी पासेथी सांलणी—अर्थात् गुरु महाराज शिष्यने आमंत्रित  
करीने कथन करे छे. (३७)

पूर्वप्रतिज्ञात दोषा कडे छे—वड्डई० इत्यादि.

मदिरापान करनेवाले साधु सदा मदिरा पीनेमें ही मग्न रहते छे ते मायाचार करे छे  
मृषा बोले अथवा कपटसहित झूठे बोले छे. दुराचारी होवाने कारणे तेनी अपकीर्ति फैलाई  
जाय छे, जेनी लोलुपता अधिकाधिक बढ़ती जाय छे, तेथी कदापि तृप्ति थती. नथी. मुनीने

वर्द्धते = वृद्धिं गच्छति ।

‘सुंडिया’ इत्यनेन मद्यपायिनो मद्यासक्तिरपरिहार्या भवतीति सूचितम् । मद्यासक्तौ सत्यां माया मृषा च कदापि तं न विजहाति मायामृषावृद्धौ स्वपरपक्षे निन्दाऽवश्यम्भाविनी निन्दायामपि सत्यां मद्यपानासक्तस्याऽनिवृत्तिः साहचर्यं न मुञ्चति, तथा सति सर्वथा साधुपदानधिकारित्वमुपजायतेऽतः सर्वानर्थमूलं मद्यपानमिति बोध्यम् ॥ ३८ ॥

उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति—‘निच्चुव्विग्गो’ इत्यादि ।

मूलम्—<sup>४</sup>निच्चुव्विग्गो <sup>१</sup>जहा <sup>२</sup>तेणो, <sup>३</sup>अत्तकम्महिं <sup>६</sup>दुम्मई ।

<sup>५</sup>तारिसो <sup>७</sup>मरणंतेऽपि, <sup>९</sup>नाराहेइ <sup>८</sup>संवरं ॥ ३९ ॥

छाया—नित्योद्विग्नः यथा स्तेनः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि, न आराधयति संवरम् ॥ ३९ ॥

सान्वयार्थ—जहा = जिस प्रकार तेणो = चोर अत्तकम्महिं = अपने किये हुए दुश्चरित्रोंसे निच्चुव्विग्गो = हमेशा व्याकुल बना रहता है, उसी तरह तारिसो = मदिरा पीनेवाला वह दुम्मई = दुर्बुद्धि साधु भी नित्य उद्विग्न बना रहता है, फिर वह मरणंतेवि = मरण समय तक भी संवरं = संवरधर्म चारित्रको नाराहेइ = नहीं आराध सकता है, अर्थात् वह साधु जिन्दगीभर चारित्रसे वञ्चित रहता है ॥ ३९ ॥

टीका—यथा स्तेनः = तस्करः आत्मकर्मभिः = स्वकीयदुश्चरितैः नित्योद्विग्नः =

अतः उसकी असाधुता बढ़ती है ।

‘सुंडिया’ पदसे यह सूचित किया है कि शराबीकी शराब पीनेकी आदत छूटनी कठिन होती है । मदिरामें आसक्ति होने पर माया-मृषा मदिरापायोका काना-पीछा नहीं छोड़ती, अर्थात् वह माया-मृषा दोषोंमें तत्पर रहता है । माया और मृषाकी वृद्धि होनेपर स्वपक्ष परपक्षमें निश्चय हो निन्दा होती है और निन्दा होनेपर भी मदिरा पानमें मस्त होकर मदिरा-पान नहीं त्यागता । ऐसी अवस्थामें वह साधु कहलाने योग्य बिलकुल ही नहीं रहता ॥ ३८ ॥

इसी विषयको दूसरी तरहसे कहते हैं—‘निच्चुव्विग्गो’ इत्यादि ।

योग्य आचरण्णथी ङीन ङोवाने कारणे ँ साधु कडेवावाने योग्य नथी रडेते, अेटदे ँनि असाधुता वधे छे ।

‘सुंडिया’ शब्दथी अेम सूचित कथुं छे के शराणीनी शराभ पीवानी आदत छूटवी कठिन ङोय छे । मदिरामां आसक्ति थतां माया-मृषा मदिरापान करनारनेा पीछा छोडती नथी, अर्थात् अे माया-मृषा दोषां तत्पर रडे छे । माया अने मृषानी वृद्धि थतां स्व-पक्ष पर पक्षमां अर निन्दा थाय छे, अने निन्दा थवा छतां पणु मदिरापानमां मस्त थधने ते मदिरापान त्यागतो नथी, अेवी अवस्थामां ते अराअे सा धु कडेवावाने योग्य रडेते नथी ।

अे विषयने णीण रीते कडे छे—निच्चुव्विग्गो० इत्यादि ।

સદા વ્યાકુલઃ ચિત્તોપશાન્તિરહિતો ભવતિ, તાદૃશઃ = સ્તેનસદૃશઃ, યથા ચૌરઃ—‘મદી-યમિદં દુશ્ચરિતં કોઽપિ મા વિદ્યાત્, અન્યથા રાજગૃહીતસ્ય મમ પ્રાણાદ્યપહારો ભવે’ દિતિ ચિન્તયા કદાચિદપિ ચેતસિ નોપશાન્તિ ગચ્છતિ, તથા મદ્યસેવી સાધુરપિ સ્વકીયે દુશ્ચરિતે પ્રકટિતે સતિ પૂજાપ્રતિષ્ઠાદિપ્રતિઘાતશક્ત્યા સ્વકૃત દુષ્કૃતસંગોપનાય નવનવમાયામૃ-પાકલ્પિતવચનરચનાદિનાનાપ્રકારકોપાયમનુસંદધાનો ન જાતુ સંયમસમાધિમધિગચ્છતીતિ ભાવઃ । દુર્મતિઃ=વિપર્યસ્તબુદ્ધિઃ સાધુઃ, મરણાન્તેઽપિ મરણાવધિસમયેઽપિ સંવરં=સર્વસા-વઘવિરતિલક્ષણં ચારિત્રં કદાપિ નારાધયતિ=ન નિષ્પાદયતિ, ચરિત્રસાધકશુદ્ધપરિણામા-ભાવાત્ ।

‘નિચ્ચુલ્લિંગો’ इत्यनेन पापात्मनां नित्यशङ्कितत्वं सूचितम् । ‘दुम्भई’ पदेन व्यसनिनां मतिमालिन्मयवश्यम्भावीत्याविष्कृतम् ॥ ३९ ॥

જैसे चोर अपने कुकर्मोंके कारण सदा व्याकुल बना रहता है अर्थात् उसे सदा यही भय बना रहता है कि मेरे कुकर्मको कोई जान न ले, नहीं तो राजा मुझे पकड़ लेगा और प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा । इस प्रकारकी चिन्तासे चोरके चित्तमें सदा धुक-धुकी (स्व-बली) मची रहती है । उसी प्रकार मदिरा-पान करनेवाले मुनिके मनमें हमेशा असमाधिरहती है कि—कहीं मेरा मदिरा पानका दुराचर प्रगट न हो जाय, नहीं तो मान सम्मान सब मिट जायगा । इस प्रकारकी आशंकासे वह अपने किये हुए दुराचारको छिपानेके लिए मायाचार और असत्य आदि के नये-नये उपाय सोचा करता है । उसकी संयम सम्बन्धी समाधि किसी प्रकार भी नहीं रहती । ऐसा दुर्बुद्धि साधु मृत्युकी अवधिके समय भी सर्वसावधयोगके त्यागरूप संवर की आराधना नहीं करता, क्योंकि उसके वैसे विशुद्ध भाव नहीं होते ।

‘णिचुल्लिङ्गो’ इससे ऐसा सूचित किया है कि पापी सदा सशंक रहता है । ‘दुम्भई’ पद से यह प्रगट किया है कि कुव्यसनीकी मतिमें मलिनता अवश्य आजाती है ॥ ३९ ॥

જેમચોર પોતાના કુકર્મોને કારણે સદા વ્યાકુળ રહ્યા કરે છે, અર્થાત તેને સદા એવો ભય રહે છે કે મારાં કુકર્મને કોઈ જાણી ન લે, નહિ તો રાજા મને પકડી લેશે અને પ્રાણ શુભાવવા પડશે એ પ્રકારની ચિન્તાથી ચોરના ચિત્તમાં સદા ખળભળાટ મચ્યા કરે છે એજ રીતે મદિરાપાન કરનાર મુનિના મનમાં હમેશાં અસમાધિ રહે છે કે—ક્યાંક મારો મદિરાપાનનો દુરાચાર પ્રકટ ન થઈ જાય, નહિ તો સન્માન બધું નાશ પામશે. એ પ્રકારની આશંકાથી તે પોતાના દુરાચારને છુપાવવાને માયાચાર અને અસત્ય આદિના નવા નવા ઉપાયો વિચાર્યા કરે છે. એની સંયમ સંબંધી સમાધિ કોઈ પ્રકારે રહેતી નથી. એવો દુર્બુદ્ધિ સાધુ મૃત્યુની અવધિના સમયે પણ સર્વસાવધયોગના ત્યાગરૂપ સંવરની આરાધના કરતો નથી, કરણુ કે તેના એવા વિશુદ્ધ ભાવ થતા નથી.

નિચ્ચુલ્લિંગો શબ્દથી એમ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કે પાપી સદા સશંક રહે છે. દુમ્મઈ શબ્દથી એમ પ્રકટ કર્યું છે કે દુર્વ્યસનીની મતિમાં મલિનતા અવશ્ય આવે છે (૩૯)

मूलम्—आयरि<sup>२</sup>ए नाराहे<sup>६</sup>इ समणे<sup>५</sup> आवि<sup>४</sup> तारिसो<sup>३</sup> ।

गिह<sup>८</sup>त्था वि<sup>९</sup> णं<sup>१२</sup> गरिहं<sup>१३</sup>ति, जेण<sup>७</sup> जाणं<sup>११</sup>ति तारिसं<sup>१०</sup> ॥४०॥

छाया—आचार्यान् नाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशः ।

गृहस्था अपि तं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४० ॥

सान्त्वयार्थः—तारिसो=उस पूर्वोक्त प्रकारका दुराचारि साधु आयरिए=रत्नाधिकों को अवि य=तथा समणे=साधुओंको भी नाराहेइ=विनय वैभावच्च आदि से नहीं आराध सकता है, जेण=जिस कारणसे गिहत्था वि=गृहस्थ भी णं=उसे तारिसं उस प्रकार का अर्थात् मद्य पीनेवाला जाणति=जानलेते हैं (अतः वे उसकी) गरिहंति=निन्दा करते हैं ॥ ४० ॥

टीका—‘आयरिए’ इत्यादि । तादृशः=पुरोदीरितदुराचारशीलः साधुः आचार्यान् अपिच श्रमणान्=रत्नाधिकान् साधून् ना राधयति क्लृषितान्तः करणत्वादिति भावः येन हेतुनागृहस्था अपि तादृशं=तथाविधं दुराचारिणं जानन्ति तेन हेतुना णं=तं साधुं गर्हन्ते निन्दन्ति, स सकलजननिन्दनीयो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

अकृत्यसेविदोषानुपसंहरन्नाह—‘एवं तु’ इत्यादि ।

मूलम्—एवं<sup>१</sup> तु<sup>२</sup> अगुणपे<sup>३</sup>ही गुणाणं<sup>४</sup> च विवज्ज<sup>५</sup>ए ।

तारिसो<sup>१०</sup> मरणंते<sup>९</sup>वि, नाराहेइ संवरं ॥४१॥

छाया—एवं तु अगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ॥ ४१ ॥

सान्त्वयार्थः—एवं तु=इस प्रकार अगुणपेही=प्रमादादि दोषोंको ग्रहण करनेवाला च=और गुणाणं=ज्ञानादि गुणोंका विवज्जए=त्यागी तारिसो=उस प्रकारका साधु मरणं-तेवि=मरणकालमें भी संवरं=संवर चरित्र की नाराहेइ=आराधना नहीं कर सकता ॥४१

टीका—एवम् = उत्तरीत्या तु अगुणप्रेक्षी = दोषदर्शी प्रमादादिदोषनिरत इत्यर्थः

‘आयरिए’ इत्यादि । ऐसा दुराचारी साधु आचार्य तथा रत्नाधिक श्रमणकी भी आराधना नहीं करता, क्योंकि उसका अन्तःकरण क्लृषित हो जाता है, जिससे कि गृहस्थ भी उस साधुको पहचान लेते हैं और उसकी निन्दा करते हैं । तात्पर्य यह है कि ऐसा साधु सक्का निन्दनीय बन जाता है ॥ ४० ॥

‘एवं तु’ इत्यादि । प्रमाद आदि दोषोंमें लीन, सम्यग्ज्ञान-दर्शनचरित्र तथा क्षान्ति

आयरिए इत्यादि. એવો દુરાચારી સાધુ આચાર્ય તથા રત્નાધિક શ્રમણની પણ આરાધના કરતો નથી, કારણ કે એનું અંતઃકરણ ક્લુષિત થઈ જાય છે, જેથી ગૃહસ્થ પણ આ સાધુને પિછાણી લે છે અને એની નિંદા કરે છે તાત્પર્ય એ છે કે એવો સાધુ સૌને નિંદનીય બની જાય છે. (૪૦)

गुणानां च = ज्ञानदर्शनचारित्र्यलक्षणानां क्षान्त्यादीनां वा विवर्जकः = परित्याजकः गुणा-  
ऽनाराधक इत्यर्थः तादृशो मरणान्तेऽपि संवरं नाराधयतीति व्याख्यातपूर्वं सुगमं चेति ४१  
पूर्वोक्तदोषपरित्यागिनो गुणानाह 'तवं' इत्यादि ।

मूलम्—तवं<sup>५</sup> कुव्वइ<sup>६</sup> मेहावी<sup>३</sup>, पणीयं<sup>७</sup> वज्जए<sup>९</sup> रसं<sup>८</sup> ।

मज्जप्पमायविरओ तपस्सी अइउक्कसो ॥४२॥

छाया—तपः कुरुते मेधावी, प्रणीतं वर्जयति रसम् ।

मद्यप्रमादविरतः, तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥ ४२ ॥

सान्त्वयार्थः—मज्जप्पमायविरओ=जो मद्य और प्रमादसे रहित तपस्सी=तपस्वी  
साधु मेहावी=आगमोक्त मर्यादामें चलनेवाला अइउक्कसो=घमंड नहीं करता हुआ तवं=  
तपस्या कुव्वइ = करता है, (और) पणीयं = स्निग्ध रसं = रसवाले पदार्थ श्री दूध घेवर  
आदिको वज्जए = त्यागता है ॥४२॥

टीका—यः तपस्वी = साधुः मद्यप्रमादविरतः = मादयती = विवेकविकलीकरोत्या-  
त्मानमिति मद्यं = मादरुद्रव्यं, तदेव प्रमादजनकत्वात्प्रमाद इति मद्यप्रमादस्तस्माद्विरत-  
स्तस्माद्विरतस्तद्वर्जक इत्यर्थः, मेधावी = आगमोक्तविध्यनुस्मरणशीलः संयममर्यादाऽव-  
स्थित इत्यर्थः, अत्युत्कर्षः = उत्कर्षः = अहं तपस्वी' त्याद्यभिमानस्तमतिक्रम्य = उल्ल-  
ङ्घ्य = परित्यज्य वर्त्तते इति अत्युत्कर्षः तपःप्रधानगुणाभिमानशून्यः सन् तपः = चतुर्थ-  
भक्तादिकं करोति पुनरपि प्रणीतं = गलत्स्नेहबिन्दुकं गूढस्नेहं वा भोज्यं, स्नेहावगाहं  
कृशरादि, गूढस्नेहं घृतपूरादिकं रसं = घृतदुग्धादिकं वर्जयति = परित्यजति ॥४२॥

आदि गुणोंका त्याग करनेवाला ऐसा साधु मृत्यु समय भी संवरकी आराधना नहीं करता ॥४१  
पूर्वोक्त दोषोंके त्यागीके गुण कहते हैं—'तवं' इत्यादि ।

जो तपस्वी साधु आत्माको विवेक-विकल बनानेवाले शराब से विरत रहते हैं, प्रवचन  
प्रतिपादित संयम-मर्यादामें स्थित हैं, 'संबसे बड़ा तपस्वी मैं हो हूँ' ऐसा तपका दर्प (अभिमान)  
नहीं करते हुए चतुर्थ भक्त आदि तप करते हैं, तथा घेवर आदि प्रणीत भोजनको और घो-दूध  
आदि पुष्टिकर रसों को त्याग देते हैं ॥ ४२ ॥

पक्षे तु धृत्यादि. प्रमाद आदि दोषोभां लीन, सम्भ्यग्-दर्शन-चारित्र्य तथा क्षान्ति आदि  
शुष्णोना त्याग करनार एवो साधु मृत्यु समये पणु संवरनी आराधना करते नथी. (४१)  
पूर्वोक्त दोषोना त्यागीना शुष्ण कहे छे—तवं० धृत्यादि.

ये तपस्वी साधु आत्माने विवेकविकल बनानेवाले शराबकी विरत रहे छे, ते प्रवचन  
प्रतिपादित संयममर्यादां स्थित रहे छे, 'सौथी मोटो तपस्वी हुं छु' एवो तपनेो दर्प  
(अभिमान) न करतां अतुर्थभक्त आदि तप करे छे, तथा घेवर आदि प्रणीत लोअनने अने  
धी-दूध आदि पुष्टिकरक रसोने त्यागे छे. (४२)

१ ६ ५ २  
मूलम्-तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइयं ।

३ ४ ५ ६  
विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्स सुणेह मे ॥४३॥

छाया—तस्य पश्यत कल्याणम् , अनेकसाधुपूजितम् ।

विपुलार्थसंयुक्तं, कीर्त्तयिष्यामि शृणुत मे ॥४३॥

सान्त्वयार्थः—तस्स=उस साधुके अणेगसाहुपूइयं अनेक मुनियोंके वन्दनीय विउलं मुक्ति पदका साधक होनेसे महान् अत्थसंजुत्तं = मोक्षरूप अर्थ-प्रयोजनसे युक्त ऐसे कल्लाणं = कल्याण-संयम को पस्सह = देखो, (और मैं उसके गुणोंका) कित्तइस्सं = वर्णन करूंगा, (तुम) मे = मुझसे सुणेह = सुनो ॥४३॥

टीका—‘तस्स’ इत्यादि । तस्य = उक्त गुणवतः साधोः अनेकसाधुपूजितं = मुनि वृन्दचन्दितं विपुलं = महत् मुक्तिपदसाधकत्वात् , अर्थसंयुक्तम् = अर्थः = मुमुक्षुणां प्रयोजनं मोक्षलक्षणं तेन संयुक्तं = संवलितं तत्फलदातृत्वात् , कल्याणं = नितान्तसुखावहत्वात्संयमं पश्यत = अवलोकयत भो शिष्याः ! इति शेषः । कीर्त्तयिष्यामि = तद्गुणान् वर्णयिष्यामि मे = मम सकाशात् शृणुत = आकर्णयत ॥४३॥

१ २ ३ ४ ५ ६  
मूलम्-एवं तु गुणपेही, अगुणाणं च विवज्जए ।

७ ८ ९ १०  
तारिसा मरणंतेवि, आराहेइ संवरं ॥४४॥

छाया—एवं तु गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः ।

तादृशः मरणान्तेऽपि आराधयति संवरम् ॥४४॥

सान्त्वयार्थः—एवं तु=इस प्रकार गुणपेही = ज्ञानादि गुणोंके ग्रहण करनेमें तत्पर च=और अगुणाणं = प्रमादादि दोषोंका विवज्जय = त्यागी तारिसो = इस प्रकारका साधु मरणंतेवि = मरणान्त समयमें अवश्य, अथवा मरणान्त कष्ट पड़नेपर भी संवरं = चारित्र्यको आराहेइ = आराधता है—नहीं छोड़ता है ॥४४॥

टीका—‘एवं तु’ इत्यादि । एवं तु गुणप्रेक्षी = गुणदर्शी ज्ञानादिगुणोपार्जदत्तचित्त

‘तस्स’ इत्यादि । हे शिष्य ! उस उक्तगुणविशिष्ट साधुके अनेक-मुनि-समूहसे प्रशंसित, मुक्ति पद का साधक होनेसे महान् मोक्षरूपी अर्थसे युक्त अनन्त सुखदाता कल्याण अर्थात् संयमको देखो । मैं उसके गुणोंका वर्णन करूंगा, तुम मुझसे सुनो ॥ ४३ ॥

‘एवं तु’ इत्यादि । इस प्रकार ज्ञानादि-गुणोंके उपार्जनमें लीन, प्रमाद आदि अवगुणोंके

तस्स० धत्यादि हे शिष्य ! उक्तगुणविशिष्ट अथवा साधुना अनेक-मुनि-समूहकी प्रशंसित, मुक्तिपदके साधक अथवा महान्, मोक्षरूपी अर्थकी युक्त, अनन्तसुखदाता कल्याण अर्थात् संयमके लक्ष्ये । हे शिष्य ! तुमको पश्यत करीश, ते तमे सांभलो । (४३)

एवं तु० धत्यादि । अ रीते ज्ञानादि-गुणानां उपार्जनमां लीन, प्रमाद आदि अवगु-

इत्यर्थः अगुणानां च=प्रमादादिदोषानां विवर्जकः = परित्यजनशीलः तादृशः=तथाविधः-  
साधुर्मरणान्ते=मरणसमये अपि=निश्चयेन संवरं=चारित्र्यम् आराधयति=सेवते । यद्वा-मरणा  
न्तेऽपि=मरणसमकालेशोपस्थितावपि संवरमाराधयति न परित्यजतीत्यर्थः ॥४४॥

२ ५ ३ ४ १  
मूलम्-आयरिण आराहेइ, समणे यावि तारिसो ।

७ ८ ९ १२ ६ ११ १०  
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४५॥

छाया—आचार्यान् आराधयति, श्रमणान् अपि च तादृशः ।

गृहस्था अपि तं पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

सान्વયાર્થઃ—તારિસો=પૂર્વોક્ત ગુણવાલા સાધુ આયરિણ=આચાર્યાદિકોંકી અવિ ય  
=ઓર સમણે=સાધુઓંકી મો આરાહેइ = આરાધના કરતા હૈ, જેણ = જિસ કારણસે  
ગિહત્થાવિ=ગૃહસ્થ મો ણં=ઉસે તારિસં-ઉસ પ્રકારકા જાણંતિ = જાનતે હૈ, (અતઃ ઉસકા  
પૂયંતિ=વસ્ત્ર પાત્રાદિસે સમ્માન કરતે હૈ, તથા સાધુ મો ઉસકી પ્રશંસા કરતે હૈ ॥૪૫॥

ટીકા—‘આયરિણ’ इत्यादि । तादृशः = उक्तगुणविशिष्टः साधुः आचार्यान् अज-  
णंश्चाप्याराधयति = स्वकीयसंयमोत्कर्षेणाऽऽचार्यादीन् प्रसादयतीत्यर्थः, येन हेतुना गृह-  
स्थाः तं = साधुं तादृशं = तथाविधं जानन्ति तेन कारणेन पूजयन्ति = वस्त्रपात्रादिपुर-  
स्कारेण मानयन्ति । ‘अपि शब्देन न केवलं गृहस्थाः किन्तु साधवोऽपि पूजयन्ति = प्रशं-  
सन्तीति सूत्रार्थः ॥४५॥

त्याગો એસે સાધુ મૃત્યુ સમય મેં અવશ્ય સંવર=ચારિત્ર-ધર્મકી આરાધના કરતે હૈ । અથવા મૃત્યુકે  
સમાન કષ્ટ ઉપસ્થિત હોનેપરમો વે સંવર કી આરાધના કરતે હૈ, અર્થાત્ ઉસ સમય મો વે સંવરકા  
ત્યાગ નહીં કરતે ॥ ૪૪ ॥

‘આયરિણ’ इत्यादि । ऐसे साधु आचार्योंकी तथा श्रमणोंकी आराधना करते हैं, अर्थात्  
आचार्यादिकोंको अपने संयमकी उत्कृष्टता से प्रसन्न करते हैं, जिससे गृहस्थ भी उन्हें वैनाही  
उत्कृष्ट समझते और सन्मान करते हैं । केवल गृहस्थ हो उनका सन्मान नहीं करते किन्तु साधु  
भी उनकी प्रशंसा करता है ॥ ४५ ॥

જોના ત્યાગી એવા સાધુઓ મૃત્યુ સમયે અવશ્ય સંવર=ચારિત્ર-ધર્મની આરાધના કરે છે.  
અથવા મૃત્યુસમાન કષ્ટ ઉપસ્થિત થતાં પણ તેઓ સંવરની આરાધના કરે છે, અર્થાત્ એ  
સમયે પણ તેઓ સંવરનો ત્યાગ કરતા નથી. (૪૪)

આયરિણ इत्यादि. એવા સાધુઓ, આચાર્યોની તથા શ્રમણોની આરાધના કરે છે.  
અર્થાત્ આચાર્યોદિકને પોતાના સંયમની ઉત્કૃષ્ટતાથી પ્રસન્ન કરે છે, જેથી ગૃહસ્થો પણ  
તેમને જો ॥ જ ઉત્કૃષ્ટ સમજે છે અને તેમનું સન્માન કરે છે કેવળ ગૃહસ્થો જ એમનું  
સન્માન નથી કરત, પરંતુ સાધુઓ પણ એમની પ્રશંસા કરે છે. (૪૫)



मूलम्—<sup>३</sup>तवतेणे <sup>४</sup>वयतेणे, <sup>६</sup>रूवतेणे <sup>५</sup>य <sup>१</sup>जे <sup>२</sup>नरे ।

आयारभावतेणे <sup>८</sup>य, <sup>७</sup>कुव्वई <sup>१०</sup>देवकिव्विसं <sup>९</sup>॥४६॥

छाया—तपःस्तेनो वचस्तेनो, रूपस्तेनश्च यो नरः ।

आचारभावस्तेनश्च, कुरुते देवकिल्बिषम् ॥४६॥

सान्त्वयार्थः—जे = जो नरे = साधु तवतेणे = तपस्याका चोर-दूसरेकी तपस्याका अपनेमें आरोप करनेवाला, वयतेणे = वचनका चोर-दूसरेके व्याख्यानका अपनेमें आरोप करनेवाला, य = तथा रूवतेणे = रूपका चोर-दूसरेके रूपका अपनेमें आरोप करनेवाला, य = और आयारभावतेणे = आचारका चोर-दूसरेके ज्ञानादि आचारोंका अपनेमें आरोप करनेवाला, भावका चोर = जीवादि पदार्थोंका जानकार नहीं होने पर भी अपनेको जानकार बतानेवाला होता है, वह देवकिल्बिसं = किल्बिष नामके देवभवको कुव्वई = करता है, अर्थात् देवलोकमें किल्बिषिक देवपने उत्पन्न होता है ॥४६॥

टीका — 'तवतेणे' इत्यादि । [१] यो नरः = यः साधुः तपःस्तेनः—तपश्चौरः, अत्र चौर्यं परकीयतमोऽपहरणं स्वपूजाद्यर्थं स्वस्मिन्नारोपणम् । स च तपःस्तेनस्त्रिविधो यथा—स्वयमतपस्वी कश्चित्साधुः केनचित् 'तपस्वी भवान् ?' इति पृष्ठः सन् 'अहमस्मि तपस्वी त्वर्थसूचकः प्रथमः (१) । द्वितीयो विनैव तपसा स्वभावाद् रोगादिकारणान्तरवशाद्वा

'तवतेणे' इत्यादि । जो साधु तपके चोर, वचनके चोर, रूपके चोर अथवा आचारके चोर और भावके चोर होते हैं वे देवोंमें उत्पन्न होकरके भी किल्बिष ही होते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि परकी तपस्याको अपनी प्रतिष्ठाके लिए अपनी बताना तपकी चोरी है [१] तपके चोर तीन प्रकारके हैं—

(१) किसी अतपस्वी साधुसे किसीने पूछा—'क्या आप तपस्वी हैं ?' इसके उत्तर में 'हाँ मैं तपस्वी हूँ' ऐसा कहनेवाला तपचोर है ।

(२) विना तपस्या किये रोग आदि किसी कारणसे या स्वभावसे क्षीण शरीरवाले साधुसे

तवतेणे० इत्यादि. जे साधुओ तपना चोर, वचनना चोर, रूपना चोर अथवा आचारना चोर तथा भावना चोर होय छे, तेओ देवोमां उत्पन्न थयने पणु किडिअधी न भने छे.

तात्पर्य अे छे के-परनी तपस्थाने पोतानी प्रतिष्ठाने भाटे पोतानी अतायवी अे तपनी चोरी छे. (१) तपना चोर त्रय प्रकाशना छे.

(१) कोइ अतपस्वी साधुने कोइ पूछे के-आप तपस्वी छे ? तेना उत्तरमां 'हाँ, तपस्वी छु' अेम कडेनार तपचोर छे.

(२) तपस्या कर्था विना रोगादि जेवा कोइ कारणे या स्वभावथी न क्षीण शरीरवाला साधुने कोइ पूछे 'शु' आप अे तपस्वी छे के जेमनी कीर्ति अमे पडेलां सांभणी छे ?

કૃશશરીરઃ સાધુઃ કેનચિત્ 'કિં ભવાનેવ શ્રુતપૂર્વસ્તપસ્વી ?' इति पृष्ठः सन् 'साधवस्तपस्विन एव भवन्ति किमनेन प्रश्नेन ?' इत्युत्तरप्रदः (२) ।

તૃતીયસ્તુ— 'ઉગ્રતપસ્વી ભવાનેવ કિમ્ !' इति केनचित्पृष्ठः सन् स्वख्यातिकामनया केवलं मौनमालम्बते न तु किञ्चित्प्रतिभाषते तेन प्रच्छकोऽधिगच्छति अयं महातपस्वी यतः स्वगुणाख्यानं कर्तुं मनागपि नोत्सहते, पृष्ठोऽपि च प्रतिवचनं न प्रयच्छतीति (३) ।

[२] वचःस्तेनः=वचः=वाक्यं तस्य स्तेनः यथा-‘धर्मदेशनानिपुणतया श्रूयमाणो मुनिर्भवानेव किम् ?’ इति केनचित्पृष्ठः ‘साधवो धर्मदेशनानिपुण एव भवन्ती’—त्यादिवक्ता तूष्णींभूतश्च । अथवा स्वस्य शास्त्रानभिज्ञत्वेऽपि वागाडम्बरमात्रेण परिषदि प्रसादि-तायां सत्यां केनचित्-‘आचाराद्यङ्गोपाङ्गविज्ञो भवान् ’ इति पृष्ठः ‘साधवस्तज्ज्ञा भवन्त्येव’ तिप्रत्यायकः ।

કિસીને પૂછા—ક્યા આપ હી વહ તપસ્વી હૈં, જિનકી કીર્તિ પહેલે હમને સુની હૈ ? એસા પૂછને પર ‘સાધુ તો તપસ્વી હોતે હી હૈં, યહ પ્રશ્ન કરના વૃથા હૈ’ ઇમ પ્રકારકા ઉત્તર દેનેવાલા તપ-ચોર હૈ ।

(૩) ક્યા આપહી ઉગ્ર તપસ્વી હૈં ?’ એસા પ્રશ્ન કરનેપર સ્વકીય કીર્તિકી કામના કરકે કેવલ મૌન સાધ લેનેવાલા—કુછ ન બોલનેવાલા તપચોર હૈ, ક્યોંકિ મૌન સાધનેસે પ્રશ્ન કર્તા યહ સમજ લેતા હૈ કિ—યે બડે ભારી તપસ્વી હૈં કિ અપને ગુણ વર્ણન કરનેમેં તનિક મી પ્રવૃત્ત નહીં હોતે, યહાં તક કિ પૂછને પર મી ઉત્તર નહીં દેતે ।’

[૨] વાક્યકે ચોર કો વચનચોર કહતે હૈં । જૈસે કિસો ને પૂછા—જો ધર્મદેશના દેને મેં અત્યંત નિપુણ સુને જાતે હૈં વે આપ હી હૈં ? ઇસ પ્રશ્ન કે ઉત્તર મેં એસા કહના કિ—‘સાધુ ધર્મ દેશના દેનેમેં નિપુણ હોતે હી હૈં,’ અથવા ચુપ્પી સાધ લેના, અથવા હો તો શાલોસે અનભિજ્ઞ; કિન્તુ વાગાડમ્બરસે પરિષદકો પ્રસન્ન કરને પર કોઈ પૂછે કિ—આપ અંગ ઉપાંગોકો જાનતે હૈં ક્યા એસા પ્રશ્ન કરને પર ‘સાધુ, અંગ ઉપાંગોકે જ્ઞાતા હોતે હી હૈં’ એસા કથન કરને વાલા વચન-ચોર હૈ ।

એમ પૂછતાં ‘સાધુ તો તપસ્વી જ હોય છે, આ પ્રશ્ન કરવો જ વૃથા છે, એવા પ્રકારનો ઉત્તર આપનાર તે તપ ચોર છે.

(૩) ‘શુ’ આપ જ ઉગ્ર તપસ્વી છો ?’ એવો પ્રશ્ન પૂછવામાં આવતાં પોતાની કીર્તિની કામના કરીને કેવળ મૌન સાધનાર-કાંઈ ન બોલનાર પણ તપચોર છે, કારણ કે મૌન સાધ-વાથી પ્રશ્નકર્તા એમ સમજ લે છે—‘એ બહુ મોટા તપસ્વી છે. તેથી પોતાના ગુણ વર્ણન કરવામાં જરા પણ પ્રવૃત્ત થતા નથી, એટલે સુધી કે પૂછતાં છતાં ઉત્તર પણ નથી આપતા.’

[૨] વાક્યના ચોરને વચનચોર કહે છે. જેમ કે, કોઈ પૂછે ‘જે ધર્મદેશના આપવામાં અત્યંત નિપુણ સંભળાય છે તે શુ’ આપ જ છો ?’ એ પ્રશ્નના ઉત્તરમાં એમ કહેવું કે ‘સાધુ ધર્મદેશના આપવામાં નિપુણ જ હોય છે.’ અથવા ચુપકી પકડવી અથવા શાસ્ત્રોથી અન-ભિજ્ઞ હોવા છતાં વાગાડમ્બરથી પરિષદને પ્રસન્ન કરતાં કોઈ પૂછે કે ‘આપ અંગ-ઉપાંગોને જાણો છો કે ?’ એવા પ્રશ્નના ઉત્તરમાં ‘સાધુ અંગ ઉપાંગોના જ્ઞાતા જ હોય છે’ એમ કહે-નાર વચનચોર છે.

[३] रूपस्तेनः=स्वात्मनि परकीयरूपारोपणकारकः, यथा प्रकृष्टरूपवन्तं साधुं समा लोक्य 'किमसौ ज्ञातपूर्वरूपवान् भवानेव?' इतिपृष्ठो वागादिना तदङ्गीकुर्वाणो मौनावलम्बी वा ।

आचारभावस्तेनः=आचारश्च भावश्चेति द्वन्द्वे आचारभावौ, तयोः स्तेनः, तेन-आचारस्तेनः भावस्तेनश्चेति फलितम्, 'द्वान्द्वादौ द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायेन द्वन्द्वोत्तरस्थस्य स्तेनपदस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् । तत्र—

[४] आचारस्तेनः— परकीयज्ञानाद्याचारपञ्चकस्य स्वस्मिन्नारोपयिता, यथा—'श्रूयमाणः क्रियापात्रं भवानेव किम्?' इति केनाप्यनुयुक्तः सन् पूर्ववत्समाधायकः ।

[५] भावस्तेनश्च-भावो=जीवादिपदार्थस्तस्य स्तेनः, सूत्रार्थसन्देहं गीतार्थात् प्रश्नपूर्वकमवबुद्धानन्तरं 'प्रागेवेदं' विज्ञातमस्ति न तु किञ्चिदपूर्वमिदानीं भवन्मुखादाकर्ण्यते' इति प्रतिपादकः । तपःस्तेनादिः देवकिल्बिषं=देवानां मध्ये किल्बिषः=पापः, अतएवा-

[३] पर के रूपका अपनेमें आरोपण करनेवाला रूपचोर कहलाता है । जैसे किसीने पूछा पूर्वज्ञात रूपवान् आपही हैं । इसके उत्तरमें वचनसे स्वीकार करनेवाले अथवा चुप रह जानेवाला रूपचोर है ।

[४] परके ज्ञानादि पाँच आचारोंको अपनेमें आरोपित करनेवाला आचारचोर कहलाता है । जैसे किसी ने पूछा—'क्या सुने जानेवाले उत्कृष्ट क्रियापात्र आपही हैं ? ऐसा पूछने पर पूर्व की भाँति समाधान करनेवाला अर्थात् 'साधु तो क्रियापात्र होते ही हैं' ऐसा कहनेवाले आचार चोर है ।

[५] किन्हीं गीतार्थ मुनिसे सूत्रार्थका सन्देह निवारण करके ऐसा कहे कि यह तो मुझे पहले ही मालूम था, आपके मुखसे कुछभी नवीनता नहीं सुनी जाती' उसे-(जीवादी-पदार्थ) का चोर कहते हैं ।

ऐसे तप आदि के चोर साधु देवताओंमें अस्पृश्य किल्बिष देवके कर्मको उपार्जन करते हैं

[३] परना रूपवान् पोतामां आरोपणु करनार रूपचोर कहेवाय छे. जेभके कोछि पूछे के 'पूर्वज्ञात रूपवान् 'शु' आप ज छे ?' तेना उत्तरमां वचनथी स्वीकार करनार अथवा चुप रहनार रूपचोर छे.

[४] परना ज्ञानादि पांच आचारोंने पोतामां आरोपित करनार आचारचोर कहेवाय छे. जेभ के कोछि पूछे 'शु' सांभणवामां आवता उत्कृष्ट क्रियापात्र आप ज छे ?' जेभ पूछवामां आवतां पडेवांनी पेठे समाधान करनार अर्थात् 'साधु तो क्रियापात्र ज छे' जेभ कहेनार आचारचोर छे.

[५] कोछि गीतार्थ मुनि पासेथी सूत्रार्थना सन्देहनु निवारणु करीने जेभ कहे के 'जे तो हुं पडेवेथी ज्ञातुतो ज हतो, आपना मुजेथी कोछि नवीनता सांभणवामां आवती नथी' तो ते भाव (जीवादि-पदार्थ) ने चोर कहेवाय छे.

ऽस्पृश्यत्वादिधर्मा, तं कुरुते=भावयति-तपःस्तेयादिकर्मणि देवकिल्बिषनामकं भवमुत्पाद-  
यतीत्यर्थः ॥४६॥

मूलम्—ल<sup>२</sup>द्धूणवि<sup>१</sup> देवत्तं, उवन्नो<sup>४</sup> देवकिल्बिसे ।

तत्थावि<sup>५</sup> से<sup>६</sup> न याणाइ<sup>१२</sup>, किं मे<sup>१३</sup> किच्चा<sup>७</sup> इमं फलं<sup>९</sup> ॥४७॥

छाया—लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्बिषे ।

तत्रापि स न जानाति, किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

सान्त्वयार्थः देवत्तं=कुछ क्रियाकलाप करनेसे देवपनेको लद्धूणवि=पाकर भी वह देवकिल्बिसे=किल्बिष-अस्पृश्य जातिके देवोंमें उवन्नो=उत्पन्न होता है, तत्थावि= वहां पर भी से =वह 'किं = क्या कर्म किच्चा = करनेसे मे = मेरे इमं = यह फलं = फल प्राप्त हुआ है' ऐसा न याणाइ = नहीं जानता है, क्योंकि देवलोकमें तीन ज्ञान अव-  
श्य होनेवाले होनेपर भी चोरी आदि प्रबल पापकर्मके प्रभावसे उसके तीव्र ज्ञानावरण का उदय होता है ।

टीका—'लद्धूणवि' इत्यादि । देवत्वं = देवजातिं लब्ध्वा = प्राप्यापि देव किल्बि-  
षे = किल्बिषदेवमध्ये उपपन्नः = संप्राप्तः, तत्रापि सः, 'किं कर्म कृत्वा मे = मम इदं  
फलं संजात'—मिति न जानाति । किञ्चित्क्रियाकरणकलेशेनाऽवश्यम्भाविज्ञानत्रयकदेवत्व-  
जातिलाभेऽपि स्तेयादिपापकर्मप्रभावेण ज्ञानावरणस्य प्रबलोदयेनाऽविशुद्धावधिसद्भावा-  
दिति भावः ॥४७॥

एतावदेव तस्य फलं न, किन्तु ततोऽन्यदपीति तद्दर्शयति—'तत्तोवि' इत्यादि ।

मूलम्—तत्तोवि<sup>२</sup> से<sup>१</sup> चइत्ताणं<sup>३</sup>, लब्धि<sup>५</sup>मही एलमूयगं<sup>४</sup> ।

नरगं<sup>६</sup> तिस्त्रिखजोणिं<sup>७</sup> वा, बोही<sup>९</sup> जत्थ सुदुल्लहा<sup>१०</sup> ॥४८॥

अर्थात् वह साधु देवभव पा करके भी किल्बिष देव होता है ॥ ४६ ॥

'लद्धूणवि' इत्यादि । देवगति प्राप्त करके भी किल्बिष देवोंमें उत्पन्न होकर यह नहीं जानता कि—'मुझे कौन कर्म करनेसे यह फल मिला है ? तात्पर्य यह है कि कुछ कायकदेश करने से वहाँ भवप्रत्ययक अवधि-ज्ञानतक तीन ज्ञान हो जाते हैं, फिर भी चोरी आदि पाप कर्मोंके प्रभाव से ज्ञानावरणका प्रबल उदय होनेके कारण अविशुद्ध अवधि रहता है ॥ ४७ ॥

येवा तप आदिनेो थोर साधु देवताओंनां अस्पृश्य किल्बिषी देवनां कर्माने ७ ॥४६॥  
छे, अर्थात् ये साधु देवलव पाभीने पणु किल्बिषी देव थाय छे. (४६)

लद्धूणवि० इत्यादि देवगति प्राप्त करीने पणु किल्बिषी देवनां उत्पन्न थधने ये नथी  
जणुतो के—'मने क्या कर्मा करवाथी आ इण मज्जुं छे ?' तात्पर्य ये छे के कांछक कायक-  
देश करवाथी लवप्रत्ययिक अवधि-ज्ञान सुधी त्रणु ज्ञान थध जय छे, तो पणु थोरी आदि  
पाप कर्माना प्रभावथी ज्ञानावरणुना प्रबल उदय थयाने कारणे अविशुद्ध अवधि रहे छे. (४७)

छाया—ततोऽपि स च्युत्वा, लप्स्यते एलमूकत्वम् ।

नरकं तिर्यग्योनिं वा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

सान्वयार्थः—से = वह किल्विषी देव तत्तोवि = उस-किल्विष देवभवसे भी चइ-  
त्ताणं = चक्कर मनुष्य भवमें एलमूयगं = बकरेकी तरह अस्पष्ट बोलनेरूप गूगेपनको  
लब्धिही = प्राप्त होगा, (और वहाँ मरकर फिर) नरगं = नरक गतिको वा = अथवा  
तिरिक्खजोणिं = तिर्यञ्च योनिको लब्धिही = प्राप्त होगा कि जत्थ = जहाँ फिर बोही =  
बोधि जिनधर्मकी प्राप्ति होना सुदुर्लभा — महा-मुश्किल है ॥४८॥

टीका—सः = किल्विषदेवः ततोऽपि = किल्विषदेवभवादपि च्युत्वा = प्रच्युत्य  
मनुष्यभवेऽपि एलमूकत्वम् = भाषणश्रवणोभयशक्तिशून्यत्वं, लप्स्यते = प्राप्स्यति. ततो-  
ऽपि मृत्वा नरकं तिर्यग्योनिं वा लप्स्यते, यत्र = मनुष्यादिभवे बोधिः = सम्यक्त्वं सुदु-  
र्लभा = अतिशयेन दुष्प्रापा भविष्यतीति भावः ॥४८॥

उपसंहरन्नाह—‘एयं च’ इत्यादि ।

१ २ ३ ४ ६  
मूलम्—एयं च दोसं ददूणं, नायपुत्तेण भासियं ।

८ ९ १०  
अणुमायंपि मेधावी, मायामोस विवज्जए ॥४९॥

छाया— एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।

अणुमात्रमपि मेधावी, माया-मृषा विवर्जयेत् ॥४९॥

सान्वयार्थः—एयं च = पूर्वोक्त प्रकारके दोसं = दोष-पापको नायपुत्तेण = महावीर  
भगवानने ददूणं = केवल ज्ञानसे देखकर भासियं = फरमाया है, (अतः) मेधावी = कृत्या-  
कृत्यमें कुशल साधु अणुमायंवि = अणुमात्र-थोड़े-भी माया मोसं = कपट और झूठको-विव-  
ज्जए = वरजे-न आचरे ॥४९॥

उक्त चोरीका इतनाही फल नहीं है, किन्तु और भी होता है सो दिखाते हैं—‘तत्तोवि’  
इत्यादि ।

वह किल्विष देव देव-भवसे चक्कर मनुष्य भवमें अज (बकरे) की तरह बोलनेवाला—गूंगा  
होगा, और फिर नरकगति या तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होगा, जहाँ पर बोधि (सम्यक्त्वकी प्राप्ति  
अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४८ ॥

उक्त चोरीका इतनाही फल नहीं है, किन्तु और भी होता है सो दिखाते हैं—‘तत्तोवि’  
इत्यादि ।

ये किल्विषी देव देवलवधी यवीने मनुष्य लवमां अज (अकरा), नी पेडे ओलनार-ओलठो  
थशे, अने पछी नरकगति या तिर्यञ्च गतिने प्राप्त थशे के ज्यां ओधि (सम्यक्त्वकी प्राप्ति)  
अत्यन्त दुर्लभ छे. (४८)

टीका—एतं च पूर्वप्रतिपादितं दोषं = पापं गृहीतेऽपि चारित्र्ये किल्बिषिकदेवत्वा-  
द्यापादकलक्षणं ज्ञातपुत्रेण = ज्ञातः = सिद्धार्थभूपस्तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः = महावीरस्तेन  
दृष्ट्वा = केवलालोकेनाऽऽलोक्य भाषितं = कथितम्-अर्थत उपदिष्टमित्यर्थः, अतः मेधावी=  
कृत्याकृत्यविवेककुशलः, अणुमात्रमपि = स्वल्पमपि मायामृषा = मायामृषावादं विवर्जयेत्=  
संत्यजेत्-नाऽऽचरेदिति भावः ॥४९॥

मूलम्—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहि संजयाण बुद्धाण सगासे ।  
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहि-इंदिए तिव्वलज्जेगुणवं  
विहरिज्जासि-त्तिबेमि ॥५०॥

छाया—शिक्षित्वा भिक्षैषणशोधि, संयतानां बुद्धानां सकाशे ।

तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जागुणवान् विहरेत् इति ब्रवीमि

॥५०॥

सान्त्वयार्थः—बुद्धाण = सकल तत्त्वोंके जाननेवाले संजयाण = मुनियोंके सगासे=  
समीप भिक्खेसणसोहि = भिक्षाके आधाकर्मादि दोषोंकी शुद्धिको सिक्खिऊण = सीख-  
कर तिव्वलज्जेगुणवं = अकृत्याचरणमें अत्यन्त लज्जावान् सुप्पणिहिइंदिए = जितेन्द्रिय-  
एकाग्रचित्तवाला भिक्खु = साधु तत्थ = वहां भिक्षाकी एषणामें विहरिज्जासि = विचरे-  
त्तिबेमि = श्रीसुधर्मास्वामी जंबूस्वामीसे कहते हैं कि जैसा भगवान् महावीर स्वामीने  
फरमाया है वैसाही मैं तेरेसे कहता हूँ ॥५०॥

। इति पांचवे अध्ययनके दूसरे उद्देशका सान्त्वयार्थ समाप्त ॥५-२॥

॥ इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके पांचवें अध्ययनका सान्त्वयार्थ समाप्त ॥५॥

टीका—‘सिक्खिऊण’ इत्यादि । भिक्षुः बुद्धानाम् = अवगतसकलतत्त्वानां, संय-

उपसंहार करते हुए कहते हैं—‘एयं च’ इत्यादि ।

चारित्र्यको अंगीकार करनेके पश्चात् भी किल्बिष-देवत्वकी प्राप्ति आदि दोष ज्ञातपुत्र (सिद्धा-  
र्थनन्दन) भगवान् वर्द्धमान स्वामीने केवल ज्ञानसे जानकर प्रतिपादन किये हैं, इसलिए कार्य  
अकार्यके विवेकी श्रमणोंको अणुमात्र भी माया-मृषावादका आचरण नहीं करना चाहिए, अर्थात्  
मुनि माया-मृषावादका थोड़ा भी सेवन नहीं करें ॥ ४९ ॥

‘सिक्खिऊण’ इत्यादि । भिक्षु तत्त्वके ज्ञानी संयमियोंके समीप आधाकर्म आदि दोषोंके

उपसंहार करतां कहे छे—एयं च० इत्यादि.

चारित्र्यने अंगीकारां पश्ची पणुं किदिग्घ-देवत्वनी प्राप्ति आदि दोष ज्ञातपुत्र (सिद्धा-  
र्थनन्दन) भगवान् वर्द्धमान स्वामीने केवलज्ञानथी ज्ञानीने प्रतिपादन किये छे. तेथी करीने  
कार्य-अकार्यना विवेकी श्रमणोअये अणुमात्र पणु माया-मृषावादनु आचरणु न करवुं लेछिये,  
अर्थात् मुनि माया-मृषावादनु थोडुं पणु सेवन न करे. (४९)

सिक्खिऊण इत्यादि. तत्त्वना ज्ञानी संयमियोंकी समीप आधाकर्म आदि दोषानुं

तानां = संयमवतां सकाशे = समीपे भिक्षैषणशोर्धि = भिक्षागताऽऽवाकर्मादिदोषसंशुद्धि  
दोषज्ञानपूर्वकतत्परिहारविधिमित्यर्थः, शिक्षित्वा = सम्यगभ्यस्य सुप्रणिहितेन्द्रियः = सुवशी-  
कृतेन्द्रियः-एकाग्रचेता इत्यर्थः । तोत्रलज्जागुणवान् = अकृत्याऽऽचरणेऽतीवलज्जाधारकः,  
तत्र = भिक्षैषणविषये विहरेत् = विचरेत् ।

‘संजयाण बुद्धाण’ इतिपदाभ्यां ज्ञानक्रियोभयवद्भ्य एव भिक्षाशुद्धिर्जायत इति,  
‘सुप्पणिहिइंदिए’ इत्यनेन शिष्येण एकाग्रचेतसा भाव्यमिति, तिव्वलज्जागुणवं’ इति पदेन  
लज्जावानेव प्रवचनमर्यादां पालयतीति च प्रकटीतम् । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥५०॥

। इति पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशः समाप्तः ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्गुरु-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-कलित-ललित  
कवापाऽऽलापक-प्रविशुद्ध-गद्य-पद्य-नैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-  
शाहूछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-जैनाशास्त्राचार्य-पद-भूषित-  
कोल्हापुराराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-  
पूज्य-श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीदशवैकालिकसूत्र-  
स्थाऽऽचारमणिमञ्जूषा रव्यायां व्यव्यायां पठुचर्म  
‘पिण्डैषणा’ऽऽ-ख्यमध्ययनं समाप्तम् ॥५॥

—\*—

ज्ञानपूर्वक आहारकी विधीको सम्यक् प्रकार जान करके जितेन्द्रिय होकर तथा अकार्य करनेसे  
तीव्र लज्जा पाते हुए विचरें ॥

‘संजयाण बुद्धाण’ इन दोनों पदोंसे यह ध्वनित किया है कि ज्ञान और क्रिया दोनोंसे  
ही भिक्षाशुद्धि होती है । ‘सुप्पणिहिइंदिए’ पदसे यह सूचित किया है कि शिष्यको एकाग्रचित्त  
होना चाहिए । ‘तिव्वलज्जागुणावं’ से यह प्रदर्शित किया है कि लज्जावान हो प्रवचन प्रतिपादित

ज्ञान भेजनीने, आहारनी विधिने सम्यक् प्रकारे जाणीने, जितेन्द्रिय थडने तथा अकार्य  
करवाथी तीव्र लज्जा पासतां लिखु विचरे.

संजयाण बुद्धाण ओ जेउ शब्दोधी ओम ध्वनित कथुं छे के ज्ञान अने क्रिया जेउथी  
ज भिक्षा-शुद्धि थाय छे सुप्पणिहिइंदिए ओ पदथी ओम सूचित कथुं छे के शिष्ये ओका-  
ग्रचित्त थवुं जाथओ. तिव्वलज्जागुणावं थी ओम प्रदर्शित कथुं छे के लज्जावान ज प्रवचन  
प्रतिपादित अर्थादा (आचार)नुं परिपालन करे छे.

मर्यादा (आचार) का परिपालन करता है ।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे जम्बू ! मैंने भगवान श्रीमहावीरस्वामीसे जैसा-सुना वैसा ही तुमसे कहा है ॥ ५० ॥

इति पांचवे अध्ययनका दूसरा उद्देश समाप्त ।  
इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके 'पिण्डैषणा' नामक पांचवे  
अध्ययनकी 'आचारमणिमञ्जूषा' टीकाका  
हिन्दीभाषानुवाद समाप्त ॥ ५ ॥

—\*—

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीसे कहे छे के छे जम्बू ! मे' लगवान श्रीमहावीर  
स्वामी पासेथी जेवुं सांलज्युं तेवुं ज तमने कछुं छे (५०)

इति पांचमा अध्ययनने पीले उद्देशे समाप्त.  
इति श्रीदशवैकालिकसूत्रना "पिण्डैषणा" नामक  
पांचमा अध्ययननी 'आचारमणिमञ्जूषा'  
टीकाने जगुरातीभाषानुवाद समाप्त. (५)

—x—